भारतीय स्थापत्य

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१५५

भारतीय स्थापत्य

(शास्त्रीय एवं कलात्मक अध्ययन)

लेखक

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, पी-एच० डी०, डी० लिट०

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, अध्यक्ष;

सस्कृत विभाग, पजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६८

मूल्य
१६.००
सोलह रुपये

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रकाशकीय

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में स्थापत्य के प्रति अनुराग पाया जाता है। इसका जीता-जागता प्रमाण विद्यमान सजीव कला-कृतियाँ हैं, जो देश मे सर्वत्र बिखरी हुई हैं। इनमें भारतीय सस्कृति और सभ्यता की अनुपम झाँकी देखने को मिलती है। भारतीयो ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो ही रूपो से इस कला की सतत साधना की। उन्होने स्थापत्य शास्त्र को अत्यन्त पूज्य, उपास्य और अनुकरणीय माना। यही कारण है कि अध्यात्म के उन्मेष से उन्मेषित इस देश की कला-कृतियो के जीवन्त सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। भारत मे इस कला के प्रति पाये जाने वाले प्रेरणामूलक अनुराग की सबसे बडी विशेषता यह है कि मनीषियों ने अपने चिन्तन को शास्त्रीय रूप दिया और शिल्पियों ने उसे साकार रूप प्रदान किया। इस प्रकार कला के प्रति यह उपासना एव साधना परम्परागत रूप से चली आ रही है। प्रारम्भ मे स्थापत्य समाज मे सभी वर्गों का साध्य विषय रहा, किन्तु कालान्तर मे यह अशिक्षित अथवा अल्प शिक्षित शिल्पियो का व्यवसाय बन गया। परिणामस्वरूप कला-कृतियो के निर्माण की शृंखला अटूट रूप से चलती तो रही, किन्तु शास्त्रीय ज्ञान का अभाव लुप्तप्राय सा होता गया।

प्रस्तुत पुस्तक मे भारतीय स्थापत्य का शास्त्रीय और कलात्मक दोनो दृष्टियो से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में भारतीय स्थापत्य के सर्वांगीण रूपों—पुर-निवेश एव नगर-रचना, गृह-निर्माण अर्थात् साधारण जनोचित भवन एव राजभवन, देव-भवन या मन्दिर, प्रतिमा-विज्ञान एव मूर्तिकला, चित्रकला तथा यन्त्र घटना एव शयनासन—का विशद परिचय प्राप्त होता है। आशा है कि पुस्तक भारतीय स्थापत्य के छात्रों, शोधार्थियो तथा स्थापत्य शास्त्र के अन्य सभी जिज्ञासुओ के ज्ञानार्जन मे सहायक सिद्ध होगी।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'

सचिव, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश

प्राक्कथन

भारतीय स्थापत्य एक प्रकार से परिनिष्ठित कला है, जिसमें एकवर्गीय कलाकारों से काम नहीं बनता। इसमें भवन-निर्माता, मूर्ति-निर्माता, चित्रकार तथा इन सबके नेता स्थापक आचार्य सभी की समन्वित साधना अपेक्षित है। परम्परागत शास्त्रीय सिद्धान्त एवं पितृपितामहोपार्जित स्थापत्य कौशल दोनों की समन्वित विभूति से भारतीय स्थापत्य की ज्योति जगी है। अतः भारतीय स्थापत्य का उसके निदर्शनो मात्र के रूप में अध्ययन, अन्वेषण तथा अनुसन्धान करनेवाले पूर्वसूरी गण शास्त्रीय मर्म का समग्र उद्घाटन नही कर सके। समीक्षण अधूरा ही रहा।

इधर दो विद्वानों (रामराज तथा प्रसन्नकुमार आचार्य) ने शास्त्रीय सिद्धातो के उद्घाटन का जो पथप्रदर्शन किया है, उसमें कलाकृतियों के साथ ग्रन्थ-विशेष (अर्थात् मानसार) के कला सिद्धान्तो के स्थापत्य-निदर्शनों की संगति प्रदर्शित न करने के कारण यह दूसरी धारा भी निराधार रही। स्थापत्य के किसी भी शास्त्रीय ग्रन्थ (वह मानसार हो या मयमत, समरांगणसूत्रधार हो या अपराजितपृच्छा) का आदर्श अध्ययन तो तभी सम्पन्न होगा, जब वह शास्त्र एवं कला दोनों की समन्वय-भित्ति पर आधारित हो। विषय बड़ा कठिन है--प्रयास करने में असफलता रहेगी तो अनुसन्धान आगे बढ़ेगा ही नही। कमी जब खटकती है तभी पूर्ति का प्रयास होता है। इसी आशा से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

भारतीय स्थापत्य, जैसा अभी कह आये हैं, शास्त्र भी है तथा कला भी। एक ओर इस महादेश के दोनों पथों पर स्थापत्य की महनीय एवं अद्भुत कलाकृतियो के महान् निदर्शन बिखरे पडे हैं और दूसरी ओर इस विषय के भारतीय साहित्य—वेद, वेदाग (विशेष कर कल्प एव ज्योतिष), इतिहास, पुराण, आगम एव शिल्पशास्त्रीय या वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों तथा प्रतिष्ठा एवं पद्धति से सम्बन्धित ग्रन्थो मे भी पृथुल प्रविवेचन है। प्रथम कलाकृतियाँ हैं, दूसरे कलासिद्धान्त। दोनों के समन्वयात्मक अध्ययन के बिना भारतीय स्थापत्य की आत्मा का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता। परन्तु इस समन्वयात्मक पद्धति का अनुसरण बड़ा ही कठिन है।

स्थापत्य, जैसा हम देखेंगे, एक उपवेद के रूप में प्रकल्पित हुआ। धनुर्वेद, आयुर्वेद एवं गान्धर्ववेद के समान स्थापत्य भी यहाँ के आर्य-साहित्य में परिगणित था। कालान्तर

मे वैदिक मनीषियों, मुनियों एव ऐतिहासिक आचार्यों ने स्थापत्य-शास्त्र पर निष्णात ग्रन्थो की भी रचना की। स्थापत्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता एवं स्थापत्य-कला के पूर्ण कर्मविद्, प्रज्ञासम्पन्न एव शीलसयुक्त स्थपतियों ने ही भारतीय स्थापत्य की विद्यमान, विमुग्धकारी कृतियों की रचना की थी। एक समय था, जब यह कारीगरी द्विजाति ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यों सभी के लिए समान समादरणीय एव उपजीव्य थी। सम्भवतः शापदग्ध विश्वकर्मा के पुत्रो के विधिविलास से यह कर्म-कौशल शूद्रो के हाथ आया। वैदुष्य लुप्त हो गया। लकीर के फकीर ये अपढ़ कारीगर शास्त्र को बहुत दिनो तक जीवित न रख सके। परिणामत स्थापत्य-शास्त्र का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया। लगभग ५०० वर्षों की इस हत-भाग्यता से बेचारा भारतीय स्थापत्य विधुर बना बैठा रहा।

आधुनिक काल के विद्वानो ने भारतीय स्थापत्य को समझने की ओर ध्यान दिया है। डा० क्रैमरिश का 'हिन्दू टेम्पुल' वास्तव में भारतीय प्रासाद के शिल्पशास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर लिखा गया है। डा० भट्टाचार्य ने अपने 'ए स्टडी आफ वास्तु-विद्या आर हिन्दू कैनन्स आफ आर्कीटेक्चर' में प्राचीन भारतीयो की देन का सुन्दर समाहार किया है। डा० मल्लाया ने 'तन्त्रसमुच्चय' का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह भी इस दिशा मे एक स्तुत्य प्रयत्न है। दत्त महाशय के 'टाउन प्लेनिग' से संबन्धित ग्रन्थ भी प्राचीन स्थापत्य कौशल का प्रतिपादन करते है। हमारा यह ग्रन्थ इस शास्त्र के सम्पूर्ण विषयो पर प्रकाश डालता है।

अन्त में इस ग्रन्थ की उपयोगिता के सम्बन्ध मे एक विशेष निवेदन आवश्यक है कि इसमे शास्त्रीय एव कलात्मक दोनो दृष्टियो से विवेचन किया गया है। शास्त्र एव कला दोनो की समन्वित अध्ययन-पद्धति मे मन्दिर, मूर्ति एव आलेख्य विशेष उपकारी हुए है। इन तीनो पर शास्त्र के साथ-साथ कलाकृतियों पर यथासाध्य विश्लेषण किया गया है। ये ही तीन विषय कला के जिज्ञासु छात्रो के भी पठनीय विषय है। अत. यह ग्रन्थ विद्यार्थियों को भी विशेष सहायक सिद्ध होगा—ऐसी आशा है।

—द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

विषय-सूची

द्वितीय पटल (पुर-निवेश)

तृतीय पटल (भवन-निवेश)

अध्याय

विषय	पृष्ठ

चतुर्थ पटल (प्रासाद-निवेश)

विषय | पृष्ठ

षष्ठ पटल (चित्रकला)

सप्तम पटल (यन्त्र-शास्त्र)

परिशिष्ट

प्रथम पटल

स्थापत्य शास्त्र

१

स्थपति एवं स्थापत्य

स्थपति

स्थापकान स्थपतींश्चापि पूजयामि स्वशक्तित ।'

भारतीय वास्तु शास्त्र एव वास्तु-कला म स्थपति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। भोज न अपने समरांगणसूत्रधार' के स्थपति लक्षणम नामक ४४वें अध्याय म स्थपति की योग्यता का बडा ही मार्मिक एव ओजस्वी चित्रण किया है।

स्थपति कैसा होना चाहिए ? उसकी विद्या शिक्षा दीक्षा कैसी होनी चाहिए ? शास्त्राभ्यास एव क्रियाभ्यास म उसे कैसा निष्णात होना चाहिए— न सभी प्रश्नो पर उक्त अध्याय म कहा गया है कि जो व्यक्ति शास्त्र कम-कौशल प्रज्ञा तथा गुणान्वित शील स सम्पन्न एव लक्ष्य (वास्तु विषय) और लक्षण (परिभाषाओं) से युक्त वास्तु विद्या म निष्णात है वही स्थपति का पद प्राप्त कर सकता है।

स्थपति न केवल शास्त्र अर्थात स्थापत्य शास्त्र का ही पण्डित होता है—वरन शास्त्रीय सिद्धान्तो क अनुसार तदनुरूप क्रिया कौशल म भी कुशल होता है। शास्त्र तथा शास्त्रानुसार क्रिया-कौशल के अतिरिक्त स्थपति म अपनी निजी प्रज्ञा (अवसर की सूझ) होना परम आवश्यक है अन्यथा कोरा शास्त्र ज्ञान अथवा तदनुरूप क्रिया कौशल मात्र कम म पूर्ण परिपाक नही उपस्थित कर सकता।

स्थापत्य-कला जब कविता की भाँति अपनी निजी प्रेरणा एव मेधा के द्वारा परिनिष्ठित होती है तभी उसम ज्योति एव जीवन के दर्शन होते हैं।

भारतीय वास्तु-कला के शतश निदर्शन स्थापत्य-कौशल के साथ स्थपति की अपनी निजी विभूति के प्रतीक हैं—यह विज्ञ वास्तु शास्त्रियो से छिपा नही है। शास्त्र क्रिया-कौशल तथा निजी मेधा के अतिरिक्त स्थपति का चौथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है उसका शील अर्थात चरित्र। भारतीय सस्कृति को देखा जाय तो चरित्रवान व्यक्तियो न ही उसे जीवित रखा है। अत सस्कृति के इस अत्यन्त प्रोज्ज्वल अग के विकास एव अभ्युदय म शीलवान स्थपतियो का बडा हाथ रहा है। अतएव शास्त्रज्ञान तदनुरूप कार्यदक्षता तथा निजी प्रतिभा—इन गुणो के साथ-साथ स्थपति का शील कम उपयोगी नही है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत के अद्भुत वास्तु-स्मारक शीलवान् स्थपतियो की कीर्ति-कौमुदी को आज भी प्रकाशित कर रहे है। शीलभ्रष्ट स्थपतियो द्वारा निर्मित भवन, मन्दिर, प्रासाद शीघ्र ही नाशोन्मुख हो सकते है।

आजकल हमारे प्रत्येक कार्य मे सयम एवं नियम, तप एवं तेज, शील और मर्यादा, निष्ठा तथा नीति इन सभी का पद-पद पर ह्रास दिखाई दे रहा है। हमारी पुरातन परम्परा नष्ट एव भ्रष्ट हो चुकी है। अत स्थापत्यकौशल जो इस देश की अत्यन्त अभ्युन्नत सस्कृति एवं सभ्यता का अत्यन्त ओजस्वी अंग था, वह लुप्तप्राय है, अथवा जो कुछ मिलता भी है वह निम्न तथा भ्रष्ट है। प्राचीन भारत मे, विशेष कर पूर्व-मध्यकालीन युग मे भवन-निर्माण कला अत्यन्त उन्नत एव उदात्त तो थी ही, साथ ही साथ बडी ही सुसंयत तथा विशुद्ध वैज्ञानिक कला थी। अस्तु, इस प्रकार स्थपति के विषय मे ऊपर जो चार गुण कहे गये है वे तो सर्वसाधारण रूप से उसमे अनिवार्य होने ही चाहिए।

सृष्टिकर्ता चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि की भाति, इस चतुर्मुखी योग्यता से सम्पन्न स्थपति का कौशल कुछ कम अद्भुत नही। जिन्होने अजन्ता के गुहामन्दिर देखे है, उत्तुग हिमाद्रि पर स्थित कैलास की प्रतिकृति एलोरा का कैलास (दे० पर्सी ब्राउन, भारतीय वास्तु-कला, पृ० ७०) तथा ऐसे ही विभिन्न बिखरे हुए दक्षिण तथा उत्तर के विमानो एव प्रासादो (मामल्लपुरम्, काचीपुरम्, तजौर, भुवनेश्वर, खजुराहो, मोढेरा, कोणार्क आदि) के शतश सुप्रसिद्ध वास्तु-पीठो की वास्तु-विभूतियो को देखा है, वे प्राचीन भारत के निष्ठावान् स्थपतियो की गाथा गाते नही अघाते। 'समरागणसूत्र०' के स्थपति-प्रवचन मे यही मर्म निहित है। अत इन विभिन्न योग्यताओ के साधारण वर्णन के उपरान्त कुछ विशेष विस्तार की आवश्यकता रह जाती है।

शास्त्र

शास्त्रज्ञान स्थपति की प्रथम योग्यता है। शास्त्र से तात्पर्य वैसे तो स्थापत्य-शास्त्र से है ओर स्थापत्य की रूपरेखा एव उसके विस्तार पर हम आगे दृष्टिपात करेगे; परन्तु स्थापत्य अर्थात् शिल्प के अतिरिक्त स्थपति को अपनी बौद्धिक योग्यता के लिए सामुद्रिक, गणित, ज्योतिष तथा छन्द—इन शास्त्रो का भी ज्ञान आवश्यक है (स० सू० ४४. ३)। गणित तथा ज्योतिष के साथ वास्तु-शास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध पर हम आगे प्रकाश डालेगे; छन्द का क्या मर्म है इसे समझना आवश्यक है। जिस प्रकार कविता एव गीत मे (विशेष कर गीत मे) छन्द तथा लय से पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है, उसी प्रकार भवन-निर्माण मे भी प्रत्येक अवयव के सम्यक् मानोन्मान, संस्थान,

निवेश, चेय एवं द्रव्य-संयोजन आदि के घटाव-बढ़ाव से (गीत के आरोहावरोह की तरह) एक नयी रचना की अद्भुत सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त शास्त्रीय योग्यता का पूर्ण प्रतिबिम्ब कला में तभी प्रतिबिम्बित होता है जब छन्द का मर्म स्थपति हृदयगम कर पाता है। इसके अतिरिक्त स्थपति की इस कोटि की योग्यता के अन्तर्गत सिराज्ञान तथा यन्त्रविधि का ज्ञान भी सम्मिलित है (स० सू० ४४.३)। यन्त्रविधान पर आगे हम पूर्णरूप से विचार करेंगे। सिराज्ञान से तात्पर्य वास्तु के विभिन्न अगो एव स्थानों का पूर्ण ज्ञान है। भारतीय वास्तु-परम्परा मे 'वेध'—द्वारवेध, भवनवेध, स्तम्भवेध, तुलावेध आदि वेधों से बचे रहने पर बडा जोर दिया गया है। विशेष विवरण के लिए 'भवन पटल' द्रष्टव्य है। बिना सिराज्ञान के विभिन्न वेधों से बचना दुष्कर है। अत. सिराज्ञान स्थपति की शास्त्रीय योग्यता में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस प्रकार उपर्युक्त शास्त्रो को वास्तु-शास्त्र के अग के रूप मे परिकल्पित करना चाहिए (स० सू० ४४.४)। 'समरागण०' स्थपति की योग्यताओ मे शास्त्र-ज्ञान की योग्यता पर विशेष जोर देता है। स्थपति को अपनी वास्तुक्रिया की प्रसाधना प्रसिद्ध शास्त्रदृष्टांतो से सम्पन्न करनी चाहिए। इसके प्रतिकूल शास्त्र विना समझे बूझे जो स्थपति स्थापत्य-कर्म का ढोंग रचता है वह राजा के द्वारा वध के योग्य है, क्योंकि अशास्त्रज्ञ स्थपति अपने मिथ्याज्ञान से लोगो को अकाल मृत्यु के गाल में कवलित कराता हुआ विचरण करेगा।

अत. ऐसे अशास्त्रज्ञ स्थपति का इस प्रकार राज्य द्वारा प्रतिबन्ध वांछनीय है। क्योंकि अशास्त्रीय वास्तु-कल्पन अधार्मिक है, अशुभ है।

कर्मकौशल

जो स्थपति केवल शास्त्रज्ञ है परन्तु क्रियाकौशल से शून्य है, वह क्रियाकाल में अर्थात् भवन, पुर अथवा प्रासाद के निर्माण-काल मे, युद्धस्थल-गत कापुरुष की भाँति मोह को प्राप्त होता है। अतः वही स्थपति है जो शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ कर्मकौशल में भी निष्णात है। शास्त्रज्ञ स्थपति को कर्मवित् होने के लिए वास्तु-स्थान, उसके निवेश एव मान-उन्मान के ज्ञान के साथ-साथ वास्तुक्षेत्र से सम्बन्धित विभिन्न कर्मों के कौशल मे सिद्धहस्त होना चाहिए। साथ ही लुमालेख (जिनकी सख्या १४ है), गण्डिकाच्छेद (जिनकी सख्या ४ है), वृत्तच्छेद (जिनकी सख्या ७ है)—इनकी रचना का भी पूर्ण कौशल उसे प्राप्त होना चाहिए। इस प्रकार सन्धिकर्म, सन्धानकर्म, ऊपर तथा नीचे की सब प्रकार की चेयविधि आदि की क्रिया एवं रेखाज्ञान मे भी उसे दक्ष होना चाहिए।

वास्तु-कला की इस विदग्धता के साथ इस कला से सम्बन्धित अन्य विभिन्न कलाओं का ज्ञान भी स्थपति के लिए आवश्यक है, जिनका उल्लेख 'समरांगण०' ने इसी 'स्थपति-लक्षण' नामक अध्याय मे किया है (४४. २०–२१)। अर्थात् वास्तु-कला के वैज्ञानिक कौशल के साथ-साथ वास्तु-कर्म की सहायक अन्य कलाओं का कौशल भी आवश्यक है। यह कर्म आठ प्रकार का है—आलेख्य (चित्रकला), लेप्यजात (लेप्यकर्म आदि), दारुकर्म, शय्या-आसन-यन्त्र आदि निर्माण, चेय (चुनाई), पाषाण-कला (मूर्ति-निर्माण कला) एव स्वर्णकला तथा इन दोनो के कर्म-कौशल इन आठो गुणो से युक्त स्थपति ससार मे सम्मान प्राप्त करता है।

इसके प्रतिकूल जो स्थपति केवल कर्मवित् है परन्तु शास्त्रार्थ से अनभिज्ञ है उस स्थपति की उस अन्धे के सदृश दशा है, जो दूसरे का सहारा लेकर डगमगाता हुआ मार्ग मे चलता है। कही पर उसे ठोकर लग सकती है। अत. ऐसे व्यक्ति को प्रधान स्थपति का पद नही दिया जा सकता। अत शास्त्रज्ञता एवं कर्मदाक्ष्य दोनो ही अन्योन्याश्रित हैं, दोनो का होना परमावश्यक है।

प्रज्ञा

भोज द्वारा बताये गये स्थपति के चार गुणो में शास्त्रज्ञता एवं क्रियादक्षता, इन दोनो गुणो पर थोड़ा-सा विवेचन हो चुका है। अब शेष प्रज्ञा एवं शील इन दोनो पर भी कुछ विवेचन आवश्यक है। शास्त्र एव कर्म इन दोनो मे कुशल स्थपति बिना प्रज्ञा के अर्थात् बिना अपनी निजी कल्पनाशक्ति के निर्मद गज के समान है (निर्मद गज की क्या कीमत ?)। क्रियाकाल मे ऐसे सैकडो अवसर आते है, जब अपनी निजी प्रतिभा के बिना स्थपति के लिए शास्त्रीय ज्ञान भी सहायक नही होता। प्रज्ञावान् स्थपति को कार्यकाल मे कभी मोह नही प्राप्त हो सकता। यह वास्तु-कला 'बहुविस्तर', 'गूढार्थ', 'दुरालोक' तथा 'अप्रज्ञेय' मानी गयी है। अत बिना प्रज्ञापोत के इस वास्तु-सागर का सतरण नही हो सकता।

शील

ज्ञानी, वाग्मी तथा कर्मनिष्णात होने पर भी यदि स्थपति शीलवान् नही है तो वह बेकार है। बिना शील के कर्म सिद्ध नही होता है। शील ही उसकी साधना है, तपस्या है और रागात्मिका वृत्ति है, जिसे निष्ठा भी कह सकते है। क्योंकि रोष, लोभ, मोह, राग एवं द्वेष आदि के वशीभूत होकर दु.शील स्थपति कर्म को बिगाड सकता है। अत. वास्तु-कला में दु.शील स्थपति सर्वथा त्याज्य है—यह ऊपर सकेत किया भी जा चुका है।

'समरांगण०' ने शील के महत्व-प्रख्यापन पर बड़ा ही सुन्दर प्रवचन किया है (४४. १९)। वास्तु-कला कविता की भाति सौन्दर्य और रसास्वाद की जननी है। बिना शील के शुभ नही सम्पादित होता। बिना शुभ और कल्याण के सौन्दर्य की सृष्टि भी नहीं हो सकती। अतः शील के धारण मे बुद्धिमान् स्थपति को पूर्ण प्रयत्न करना करना चाहिए।

'समरागण०' ने स्थपति की ज्ञानपरिधि को अत्यन्त व्यापक बताया है। स्थपति की ये योग्यताएँ प्राचीन ग्रन्थों मे लिखित एतद्विषयक सामग्री की ही पूर्ति करती हैं। क्योंकि स्थपति केवल आधुनिक राज नहीं था, उसमे आधुनिक इंजीनियर, ओवरसियर तथा हेड मिस्तरी और टाउनप्लानर इन सभी के गुण विद्यमान थे यह स्पष्ट है।

प्राचीन कारीगरो की चार कोटियाँ थी जिनमे स्थपति मुख्य था। वे चारो कोटियाँ हैं—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक।

१. **स्थपति**—यह प्रधान वास्तु-शास्त्री तथा वास्तु-कलाविद् है जो यज्ञकार्य के आचार्य के समान वास्तु-कार्य मे अपने यजमान रूपी भवनस्वामी का प्रतिनिधित्व करता है। 'समरागण०' ने प्रासाद-निर्माण में स्थपति को कर्ता तथा यजमान को कारक के रूप में (५६.३०३) परिकल्पित किया है। 'मयमत' (अ० ५) मे स्थपति को विश्वकर्मा कहा गया है, वही वहाँ (अ० १२) स्थापक का शिष्य (अनुशिष्य) माना गया है। स्थपति एव स्थापक का यह गहरा सम्बन्ध हिन्दू-स्थापत्य के जिज्ञासु पाठकों के लिए विशेष ध्यान देने योग्य है।

२. **सूत्रग्राही**—यह नाप-जोख करने वाला आधुनिक इजीनियर या ओवरसियर कहा जा सकता है। स्थपति के सदृश ही इसको भी सभी विद्याओ का ज्ञाता होना चाहिए। परन्तु इसकी विशेष योग्यता सूत्र-कौशल है। 'मानसार' के शब्दो मे इसे सूत्रज्ञ, सूत्रग्राही (रेखाज्ञ) होना चाहिए। सूत्रग्राही तक्षक तथा वर्धकि का गुरु कहा गया है।

३. **वर्धकि**—इसको भी सूत्रग्राही के समान शास्त्रो का पण्डित एव वेदज्ञ होना चाहिए। परन्तु इसका अपना विशेष क्षेत्र चित्रकला है। उसे भवनकला एवं मूर्तिकला के रेखा-चित्रो की उद्भावना करनी पड़ती थी। इसकी मानसी सृष्टि—काल्पनिक चित्रो को इष्टका, पाषाण अथवा काष्ठ के द्वारा मूर्त स्वरूप प्रदान किया जाता था। वर्धकि तक्षक का गुरु बताया गया है।

४. **तक्षक**—यह आजकल का बढई है जो अन्य विभिन्न कलाओ एवं शास्त्रो का ज्ञाता होते हुए अपने काष्ठकौशल के लिए प्रसिद्ध था।

स्थपति का पद हिन्दू स्थापत्य में बड़ा ऊँचा था। यहाँ स्थपति के साथ ही स्थापक एवं पुरोहित के स्थानांकन का क्या रहस्य है, इस पर थोड़ा-सा निर्देश आवश्यक है।

यज्ञकार्य में जिस प्रकार यजमान तथा पुरोहित के अतिरिक्त यज्ञकार्य के अधिष्ठाता किसी वरेण्य विद्वान् को ब्रह्मा के रूप में वरण किया जाता था, उसी प्रकार वास्तु-कार्य में भी स्थापक गुरु के तत्त्वावधान में ही कार्य प्रारम्भ होता था। यह स्थापक यजमान (भवनपति) के द्वारा नियुक्त होता था। स्थपति, स्थापक एवं यजमान, इस वास्तु-त्रयी में त्रिदेवों की कल्पना भी इस देश में प्रसिद्ध रही है। स्थपति ब्रह्मा है, यजमान (भवन या मन्दिर निर्माण करानेवाला) विष्णु है तथा स्थापक स्वयं रुद्र है। अब रहा पुरोहित वह साक्षात् बृहस्पति है।

म० सू० (४२ ३२–३७) ने इस परम्परा पर कुछ अन्तर से प्रकाश डाला है। वास्तु-कार्य में आवश्यक बलिदान, शान्तिकर्म आदि जो कर्म विहित हैं वे बिना पुरोहित के सम्पन्न नहीं हो सकते। इसी प्रकार पुरोहित के अतिरिक्त सांवत्सरिक (ज्योतिषी) का भी सहयोग आवश्यक है। अतएव स० सू० का प्रवचन है—"किसी भी वास्तु-निर्माण कार्य के पूर्व वास्तु-यज्ञ आवश्यक है। तदुपरान्त पुरोहित की पूजा करनी चाहिए, अर्थात् भोजन, वसन, द्रव्य-दक्षिणा प्रदान कर उसे सन्तुष्ट करना चाहिए। क्योंकि पुरोहित (स्थापक) की पूजा से साक्षात् ब्रह्मा की पूजा हो जाती है। पुरोहित अर्थात् स्थापक की पूजा के अनन्तर सांवत्सरिक यानी ज्योतिषी को भी यथाविधान सम्मान प्रदान करना चाहिए। सांवत्सरिक की पूजा से साक्षात् बृहस्पति पूजित होते हैं। इन दोनों की पूजा के बाद स्थपति की पूजा करनी चाहिए। स्थपति की पूजा से साक्षात् त्वष्टा विश्वकर्मा पूजित और प्रसन्न होते हैं। वास्तु-कार्य के अधिष्ठातृदेव होने के कारण इस देवता की तुष्टि आवश्यक है जो स्थपति की पूजा से सम्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त स्थपति की ही अधीनता में सब वास्तु-कार्य होता है। वह उसे शुभ अथवा अशुभ कर सकता है, अतः उसको सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए सभी कारीगरों को श्वेत चन्दन लगाकर, श्वेत पुष्पों से अलंकृत कर, वस्त्र आदि देकर प्रसन्न करना चाहिए। कारीगरों के साथ-साथ मजदूरों की भी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिए। स्वर्ण, वस्त्र आदि देकर अथवा मृदु तथा प्यार के वचनों से उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए। एक शब्द में वह सब करना चाहिए जिससे ये कारीगर तथा मजदूर प्रसन्न हों—'सुमनसः स्युः।'

आधुनिक स्थपतियों की सामाजिक हीनावस्था का रहस्य यह है कि ब्रह्मवैवर्त-पुराण (१.१०) के एक वचन के अनुसार स्थपति विश्वकर्मा के नौ शूद्र पुत्रों में अन्यतम माना गया है, यथा—

१—मालाकार (माली) २—कर्मकार (लोहार) ३—शंखकार (शंख बनानेवाला)
४—कुविन्द (जुलाहा) ५—कुम्भकार (कुम्हार) ६—कांस्यकार (बरतन बनाने वाला)

७—सूत्रधार (राज तथा बढ़ई)   ८—चित्रकार   ९—स्वर्णकार (सुनार)

इनमें सूत्रधार (राज तथा बढई) किसी शाप के कारण हीन वर्ण एवं यज्ञकर्म-बहिष्कृत हो गये।

स्थापत्य

स्थपति की योग्यता एवं उसकी विभिन्न कोटियों के विवेचन के उपरान्त स्थापत्य (जो वास्तु-शास्त्र का पर्याय है) का विवेचन आवश्यक है। स० सू० के ४५वें अध्याय में स्थापत्य का विवेचन किया गया है, तदनुसार उसके आठ प्रधान अंग निम्नलिखित हैं—

१. वास्तु-पुरुष विकल्पना—वास्तु-पुरुष का सम्बन्ध पद-विन्यास (साइट प्लान्स) से है। इस पर विशेष विवेचन आगे के भागों (पुर-निवेश तथा प्रासाद रचना) में होगा। यहाँ पर इतना ही संकेत आवश्यक है कि हिन्दू स्थापत्य में वास्तु-पुरुष-विकल्पना (रेखाचित्र एवं पदयोजना—प्लाटिंग आदि की क्रिया) प्रथम स्थान रखती है। कोई भी निवेश—भवन, पुर अथवा प्रासाद बिना इस विकल्पना के प्रारंभ नहीं हो सकता था। प्राचीन वास्तु-पुरुष-विकल्पना अथवा पद-विन्यास-प्रक्रिया का स्थान आजकल रेखाचित्रों (प्लान्स) ने ले लिया है।

२. (क) पुर-निवेश, (ख) द्वारकर्म, (ग) रथ्या-विभाग अर्थात् मार्ग-विनिवेश, (घ) प्राकार-निवेश (रक्षा-विधान), (ङ) अट्टालक-निवेश, (च) प्रतोली-विनिवेश तथा (छ) स्थान-विभाग (जन-भवन, देवतायत, पुरजन-विहार आदि)।

३. प्रासाद (मन्दिर-निर्माण)

४. ध्वजोच्छ्रिति

५. राजवेश्म तथा उससे सम्बन्धित भवन—सभा, अश्वशाला, गजशाला आदि।

६. जन-भवन (जाति एवं वर्ण के अनुरूप वसतियाँ एवं भवन)।

७. यज्ञवेदी, यजमानशाला एवं कोटिहोमविधि।

८. राजशिविर-विनिवेश तथा दुर्ग-रचना।

इस प्रकार 'समरांगण०' के द्वारा वर्णित स्थापत्य के इस अष्टांग में से छः अंगों पर यथावसर समीक्षा होगी। अब रहे दो अंग—ध्वजोच्छ्रिति एवं यज्ञवेदी, यजमानशाला तथा कोटिहोमविधि। इन पर थोड़ा-सा स्थूल रूप से विवेचन आवश्यक है।

ध्वजोच्छ्रिति

ध्वजोच्छ्रिति का अर्थ इन्द्र-ध्वज उत्थान है। प्राप्त वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में

'समरांगण०' ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमे इस इन्द्र-ध्वजोत्थान पर विस्तृत विवेचन है। इसके १७वें अध्याय के लगभग २०० श्लोको मे इस रचना का सागोपाग वर्णन है।

महाभारत (ग्रा० प०, ६४) मे उपरिचर वसु के द्वारा प्रारब्ध इन्द्र-ध्वजोत्थान महोत्सव का वर्णन है। यह महोत्सव ग्रागे चलकर राजाग्रो के द्वारा राष्ट्रीय महोत्सव के रूप मे मनाया जाने लगा। वाल्मीकि-रामायण मे यह ध्वज कई स्थलो पर यत्रध्वज के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ग्रयोध्याकाण्ड (७७, ९) मे भरत के गिरने की उपमा शक्रध्वज-पतन से दी गयी है। इसी प्रकार युद्धकाण्ड मे इन्द्रजित् के नागपाश मे पडे हुए राम-लक्ष्मण की उपमा शिथिल-रज्जु इन्द्रध्वज से दी गयी है।

ग्रत इन्द्र-ध्वजोत्थान एक पुरातन परम्परा है—यह हम समझ सकते है। किसी भी नूतन कार्यारम्भ मे निमित्तावलोकनार्थ एव दुर्गकर्म, प्रासादकर्म, ग्रग्निकर्म, स्थालिकापाक, भक्ष्य-पानादि मे इन्द्रध्वजोत्थान एक आवश्यकीय कृत्य माना गया है—यह स० सू० (१७ १५-१६) का प्रवचन है। किसी शुभ कार्य के प्रारम्भ मे इस ध्वज का उत्थान करने से शुभाशुभ निमित्तो के परिज्ञान द्वारा तत्कार्य के शुभाशुभ का ज्ञान हो सकता है। इस ध्वज के निर्माण से इन्द्र प्रसन्न होते है और उनके साथ ग्रन्य देव भी प्रसन्न होते है, ग्रतएव वास्तु-कार्य की सफलता के लिए उनका यत्र मे भौतिक ग्रावाहन ग्रावश्यक है।

'इन्द्र-ध्वजोत्थान' का राष्ट्रीय महोत्सव दस दिन तक चलता था। इन्द्र-ध्वज का कैसे निर्माण किया जाता था, इसमे कौन-कौन-से अग प्रकल्पित होते थे, यह कैसे उठाया जाता था और कैसे उत्सव के ग्रन्त मे गिराया जाता था, किन-किन अगो पर कौन-कौन देव-पद प्रकल्पित थे—इन सभी पहलुओं पर इस ग्रध्याय मे स-विस्तार विवरण दिया गया है। इसके विविध अगो मे केन्द्रीय दण्ड, पीठ, चित्रित ध्वज तथा स्थान-विशेष, लटकती हुई कुमारिकाएँ (गुडियो के रूप मे), बाहु, रज्जु-षट्क तथा कतिपय यन्त्र (जिनके द्वारा इसका उत्थान एव पतन सम्पन्न होता था) आदि विशेष उल्लेखनीय है।

वास्तु-कार्य में इद्र-ध्वज की परम्परा का क्या ग्रर्थ है? सभवत. स्थपति-कुल भी राजन्य क्षत्रियो की भाँति इन्द्र को ग्रपना इष्ट-देवता मानते थे। इसके ग्रतिरिक्त इन्द्रध्वज भी एक महायन्त्र के रूप मे निर्मित किया जाता था। कहने को यह ध्वज है परन्तु वास्तव में धारागृह ग्रथवा दोलागृह के समान इसे एक वास्तु-कृति समझना चाहिए। इसके विभिन्न अगो के परिशीलन से यह तथ्य स्पष्ट होता है। कुण्य (प्रासाद ग्रथवा मण्डप के गर्भगृह के समान), पीठ, भ्रम, मूलपाद, मल्ल, इन्द्रमाता, कुमारिकाएँ, लटक, सूची ग्रादि प्रधान अंगो तथा मृगाली ग्रादि रचना-विच्छित्तियो से यह एक ग्रगाराकृति रचना प्रतीत होती है। यन्त्र-निर्माण स्थापत्य का एक परम कौशल है जो तक्षक का

विशिष्ट क्षेत्र है। इन विवरणों से तत्कालीन तक्षक-कला की अत्यन्त प्रोन्नतावस्था की सूचना मिलती है।

यज्ञवेदी

अब स्थापत्य के दूसरे अंग, जिस पर विवेचन करने का ऊपर सकेत किया गया है, अर्थात् यज्ञवेदी, यजमानशाला एव कोटिहोम-विधान के सम्बन्ध मे यहाँ इतना ही निर्देश आवश्यक है कि भारतीय वास्तु-कला का जन्म यज्ञशाला के ही क्रोड से हुआ है। यज्ञवेदियो के अति लघु कलेवर से विशाल मन्दिरो का जन्म हुआ है। वैदिक चिति प्रासाद-वास्तु की पूर्वज है, ऐसा सभी वास्तु-विशारदो ने माना है। अत स्थपति के लिए यज्ञशाला एव उससे सम्बन्धित अन्य शालाओ एव यज्ञोपयोगी वेदियो आदि के निर्माण का ज्ञान आवश्यक है; इसमे दो राये नही हो सकती।

म० सू० (४७ अ०) मे वेदी-लक्षण पर जो विचार किया गया है उससे सुतरा सिद्ध है कि यज्ञवेदियो की ही पृष्ठ-भूमि पर प्रासादो की निर्माण-कल्पना की गयी है। पुरातन वेदियो का सम्बन्ध विशेष कर विभिन्न यज्ञो से था। वास्तु-पूजा की वे प्रथम उन्नायिका थी। कालान्तर में किसी भी शुभ अथवा धार्मिक कार्य मे वेदी-रचना एक अनिवार्य अग हो गया। निम्नलिखित तालिका से वेदियो की वास्तु-परम्परा पर थोडा सा प्रकाश पडेगा तथा विज्ञ पाठको को यह भी सकेत मिलेगा कि सभा-वास्तु तथा मण्डप-वास्तु के विकास मे वेदी-रचना ने बडा योग-दान किया होगा।

संख्या	संज्ञा	अवसर	माप	विशेष
१	चतुरस्रा	यज्ञ	९ हस्त (१३½ फुट)	यथानाम, चौकोर
२	सर्वतोभद्रा	देवतास्थापन	८ हस्त (१२ फुट)	भद्रविभूषित
३	श्रीधरी	विवाह	७ हस्त (१०½ फुट)	२० कोणो वाली
४	पद्मिनी	अग्नि कार्य, नीराजन राज्याभिषेक एव शक्रध्वजोत्थान	६ हस्त (९ फुट)	यथानाम, पद्मसस्थान धारिणी, कमलाकृति अर्थात् वर्तुला

स्थापत्य का स्थान

अन्त में स्थापत्यशास्त्र के प्राचीन विद्याओं में स्थानांकन के सम्बन्ध में भी थोड़ा सा उल्लेख आवश्यक है। यह निर्देश किया जा चुका है कि यद्यपि

वास्तु-शास्त्र का परम्परागत विद्यास्थानों में परिगणन नही प्राप्त होता है, किन्तु इससे हम यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि वास्तु-विद्या थी ही नहीं। शुक्राचार्य ने अपने 'नीतिसार' में ३२ विद्याओं में शिल्प-विद्या की भी गणना करते हुए यह कमी पूरी कर दी है। सच तो यह है कि वास्तु-शास्त्र या स्थापत्य-शास्त्र वेद का ही एक अंग था। जिस प्रकार आयुर्वेद ऋग्वेद का, धनुर्वेद यजुर्वेद का, गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद परिगणित है, उसी प्रकार स्थापत्य अथर्ववेद का उपवेद माना गया है। वास्तु-शास्त्र अपने व्यापक स्वरूप में तन्त्रविद्या से सम्बन्धित है। तन्त्र अथर्ववेद का ही उपवेद है। वास्तु-कला यज्ञीय कार्य के रूप मे सनातन काल से परिकल्पित चली आ रही है। अतः वास्तु-शास्त्र का वेदो से दोहरा सम्बन्ध स्थापित होता है, क्योंकि इसका वेदाग-षट्क मे दो वेदागो से सम्बन्ध है; पाँचवाँ वेदाग ज्योतिष तथा छठा कल्प (जिसमे वैदिक याग की मीमांसा है) दोनो ही वास्तुशास्त्र के अनिवार्य सहयोगी हैं (दे० स्थपतिलक्षण, स० सू० ४४.३)। कल्पसूत्रो में परिगणित शुल्वसूत्रो के अन्तर्गत वैदिक याग की वेदी-रचना के नियम एव मान आदि का प्रवचन है। उन्ही नियमो की आधार-शिला पर प्रासाद-निर्माण की प्रक्रिया प्रकल्पित हुई जो भारतीय स्थापत्य का परमोपजीव्य विषय रहा है।

स० सू० का लेखक इस मर्म को पूर्ण रूप से समझता था। अतएव उसमें (दे० पुर-निवेश, अ० १०.७७) चतुर्विध स्थापत्य उपवेद के उल्लेख के साथ-साथ अन्य उपवेदो एव अष्टविध चिकित्सा (आयुर्वेद), सप्तविध धनुर्वेद तथा ज्योतिष का उल्लेख करते हुए इन सभी का मूल आचार्य ब्रह्मा को बताया गया है—

चतुः प्रकारं स्थापत्यमष्टधा च चिकित्सितम्।
धनुर्वेदश्च सप्ताङ्गो ज्योतिषं कमलालयात्॥

वास्तु-शास्त्र या स्थापत्य-शास्त्र भवन-निर्माण कला का प्रतिपादक समझा जाता है और भवन-निर्माण या नगर-रचना एक प्रकार का सासारिक कृत्य (सेक्यूलर ऐक्टीविटी) माना गया है, परन्तु भारतीय संस्कृति में भवन-निर्माण भी धार्मिक कृत्य है। उसमें प्रासाद-रचना (टेम्पिल-आर्किटेक्चर) तो पूर्णरूपेण भारतीय दर्शन का परम मर्म समुद्घाटित करता है। इस पर विशेष प्रकाश प्रासाद-पटल मे डाला जायगा। यही कारण है कि यहाँ के मनीषियो ने जहाँ शब्द-ब्रह्म की कल्पना करके व्याकरण को दर्शन-रूप प्रदान किया, रस-ब्रह्म की कल्पना द्वारा काव्य को लोकोत्तराह्लाद-जनक बताया एवं नाद-ब्रह्म की कल्पना से सगीत को भी ऐहलौकिक पृष्ठ-भूमि से उठाकर पारलौकिक परम रहस्य में परिणत किया; उसी प्रकार इष्टका-पाषाणमय प्रासाद मे पुरुष की कल्पना को स्थायित्व देने के लिए वास्तु-

ब्रह्मवाद की कल्पना की गयी है । ऊपर हम स्थापत्य को तन्त्र-विद्या से सम्बन्धित मान चुके हैं । तन्त्र-विद्या में यन्त्रों का रहस्यमय स्थान है । अतएव किसी भी वास्तु-कार्य में यन्त्र-निर्माण प्रथम प्रक्रिया है । इसी यन्त्र-प्रक्रिया को आधुनिक इन्जीनि-यरी एकमात्र प्लानिंग-स्केच के रूप में अंकित कर पायी है । प्राचीन मत में (दे० 'नारदीय वास्तु-विधान') तो वास्तु-पुरुष-मण्डल (भवन या प्रासाद का नक्शा) एक यन्त्र है जो भवन या प्रासाद का डाइग्राम है । यह यत्र एक प्रकार की रैखिक रचना है जिसके द्वारा परम-सत्ता किसी भी स्थल पर पूजार्थ बांधी जा सके ('यम्' धातु जिससे यत्र शब्द बनता है बन्धनार्थक है) । यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे परिमित भूमि अपरिमित विश्व-शक्ति में परिवर्तित की जाती है । यह अनाम एवं अरूप सत्ता जो इस वास्तु-मण्डल में नियन्त्रित की जाती है उसे वास्तु-पुरुष कहते हैं । इस पर विशेष विचार आगे यथास्थान होगा । यहाँ पर स्थापत्य-शास्त्र के तान्त्रिक एवं यान्त्रिक रहस्य पर स्वल्प प्रकाश डाल दिया गया है ।

२

वास्तु-विद्या का स्वरूप

विस्तार एवं विषय

'समरांगणसूत्रधार' वास्तु-शास्त्रीय पुराण है । उसके प्रथम सात अध्याओ मे वास्तु-विद्या के व्यापक स्वरूप, विस्तार एवं विषयो की पौराणिक शैली मे बड़ी सुन्दर अवतारणा की गयी है । इस ग्रथ मे "महासमागमन" तथा "विश्वकर्मा और उसके पुत्रो का सवाद" इन दो अध्याओ मे प्रतिपादित वास्तु-प्रयोजन एव वास्तु-सृष्टि की ओर सकेत किया गया है। साथ ही भारतीय वास्तु-विद्या के व्यापक स्वरूप की ओर भी सकेत किया गया है। यहाँ 'समरागण'० के "प्रश्न" नामक तीसरे अध्याय की सामग्री का विशेष उपयोग करना है, जिसमे वास्तु-विषयो की जानकारी के लिए विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय ने जिज्ञासा की है। शास्त्र-प्रतिपादन एवं तत्त्व-विवेचन मे प्रश्नोत्तर की प्रणाली इस देश के शास्त्रकारो की एक पुरातन पद्धति है। 'समरागण'० में भी यह पद्धति अपनायी गयी है। पितामह ब्रह्मा से प्राप्त वास्तु-विद्या के प्रथम प्रवक्ता एव आचार्य विश्वकर्मा के द्वारा वास्तु-विषयो अर्थात् अध्याय ३ की जिज्ञासा के समाधान एव उत्तरो मे ही वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ पर वास्तु-विस्तार के विवेचन मे 'समरागण'० की सामग्री के सम्बन्ध मे इतना सकेत और आवश्यक है कि "महदादिसर्ग" नामक चौथे अध्याय, "भुवन कोश" नामक ५वे अध्याय तथा "वर्णाश्रम-प्रविभाग" नामक ७वें अध्याय मे प्रतिपादित सृष्टि-वर्णन, भूगोल एव वर्णाश्रम-व्यवस्था से भी वास्तु-विद्या के विस्तार पर पर्याप्त प्रकाश पडता है । अत क्रमश: वास्तु-विस्तार मे सार्वभौमिक, दार्शनिक, खगोलीय, भौगोलिक तथा स्वातन्त्रिक इन प्रमुख पाँच दृष्टिकोणो से वास्तु-विस्तार का विवेचन किया जा सकता है।

सार्वभौमिक दृष्टिकोण

भारत के सभी विज्ञान अध्यात्म से प्रभावित रहते आये है । वास्तु-ब्रह्मवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण मे वास्तु की विश्वव्यापकता अन्तर्हित है । हिन्दुओं के शब्द-ब्रह्मवाद नाद-ब्रह्मवाद एव रस-ब्रह्मवाद की कल्पना के समान ही वास्तु-ब्रह्मवाद

को दर्शन से अलग नही किया जा सकता है। बिना दार्शनिक दृष्टिकोण के विज्ञान वास्तु-ब्रह्मवाद की कल्पना भी असगत है। सच तो यह है कि भारतीय दृष्टि में विज्ञान अर्ध विज्ञान ही है। बिना धार्मिक एव दार्शनिक उपचेतना के विज्ञान शुष्क-काष्ठ के समान है। बिना अध्यात्म से अनुप्राणित शुष्क विज्ञान जीवन का सहायक न होकर संहारक बन जाता है। हिन्दुओ की वास्तु-कला की प्रतिनिधि एव प्रमुख कृति प्रासाद है। प्रासाद-कला के सिद्धान्त धर्म और दर्शन की महाभावना से नीचे से ऊपर तक अनुप्राणित है। प्रासाद स्वय देव-प्रतिमा है। भूतल पर स्वर्गीय देवत्व का प्रतिष्ठापक यह प्रासाद अपने प्रत्येक अवयवो से, सस्थान, मान, निवेश आदि विभिन्न प्रक्रियाओ से इस तथ्य का एक जीता जागता स्वरूप है।

अस्तु, वास्तु के सार्वभौमिक स्वरूप की समीक्षा मे वास्तु-ब्रह्मवाद की ओर ऊपर सकेत किया गया है। इसका क्या मर्म है ? वास्तु शब्द का मर्म योजना (प्लानिग) है। किसी भी रचना, निर्माण अथवा सृष्टि के पूर्व योजना आवश्यक है। योजना और सृष्टि दोनो सहोदर बहने है। 'समरागण'० (अ० २. ४) मे स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा ने इस जगत् की सृष्टि के पहले वास्तु की सृष्टि की। अत. विश्वव्यापी दृष्टिकोण से विश्व की यह सृष्टि एक योजनापूर्वक रचना है। योजना सृष्टि एव ससार दोनो का मर्म है। सामाजिक एव राजनीतिक क्षेत्र मे भी बिना योजना के काम नही चल सकता। राजा और राज्य की कल्पना देश के शासन की योजना है। वर्णाश्रम व्यवस्था समाज एव व्यक्ति दोनो के जीवन की योजना है। इसी योजना के द्वारा सुनियन्त्रित राष्ट्र, सुसगठित समाज एव सुसस्कृत व्यक्ति का निर्माण होना ह। अत विश्व के एक छोटे भाग इस धरातल के निवेश के लिए 'समरागण'० के अनुसार सरक्षक शासक (राजा पृथु), निवेशकर्ता (प्लानर) अर्थात् स्थपति (विश्वकर्मा) तथा योजना का आधार स्वय धरित्री—इस वास्तु-त्रयी की अवतारणा का यही व्यापक मर्म है। पुराणो मे प्राप्त महाराज पृथु के गोदोहन अथवा भू-समीकरण वृत्तान्त का भी यही मर्म है। ऊबड़-खाबड, ऊँची-नीची भूमियो, सरिताओ ओर पर्वतो, वनो ओर झाड़ियो से आक्रान्त भूमि को निवेशयोग्य बनाने के लिए पृथु ऐसे महान् और कठोर शासक (पृथु को यम का प्रतिनिधि माना गया है) चाहिए। महाराज पृथु के इसी समीकरण ने धरित्री को पृथ्वी बनाया (पृथो इय पृथ्वी)।

दार्शनिक एव पौराणिक दृष्टिकोण को हम न माने तो भी इस तथ्य से किसका वैमत्य हो सकता है कि जब हम घर के निर्माण की योजना बनाते है तो अपने पडोस, स्थान के चतुर्दिक् वातावरण तथा बस्ती आदि का अवश्य विचार करते है। इसी प्रकार जब हम किसी पुर की स्थापना करते है तो उसकी प्राकृतिक स्थिति;

भूमि, जल, वायु, अन्न, वृक्ष आदि जीवनोपयोगी साधनो के साथ-साथ देश विशेष अथवा जनपद विशेष की विशिष्टताओ पर भी ध्यान देते हैं। पुर-निवेश में देश-विशेष एवं जनपद-विशेष की यह परीक्षा जब आगे बढती है तब पुरसमूह राष्ट्र के सम्पूर्ण भूगोल--नदियाँ, पर्वत, समुद्र, वन आदि पर विचार आवश्यक हो जाता है। परन्तु कोई भी देश कितना ही सुसगठित हो, सुनियोजित हो अथवा सुशासित हो, वह अपने पडोसी देशो के प्रभाव से नही बच सकता। अत एक देश की योजना मे दूसरे देशों की योजना सुतरा सम्मिलित हो जाती है। पुर से जब बढे तो राष्ट्रों एव देशो में आये। देश की ओर दृष्टि डाली तो दूसरे देशो तक चले गये। इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-योजना मे दूसरे देशो की योजना का प्रभाव अवश्य पडता है। अन्तर्देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय योजना आगे बढती हुई धरित्री की महायोजना का एक अभिन्न अग बन जाती है। कहानी यही नही समाप्त होती। पृथ्वी (भूलोक) इस बृहत विश्व का एक अति लघु भाग है। सौरमण्डल मे पृथ्वी के परिमाण को हम जानते ही हैं। भूवासियो का जीवन दूसरे ग्रहो द्वारा अनिवार्य रूप से प्रभावित रहता है। ज्योतिर्विद्या इस तथ्य का साक्ष्य प्रदान करती है। अत अन्तर्देशीय अन्योन्याश्रय की भाँति अन्तर्ग्रहीय अन्योन्याश्रय भी सुतरा सगत है। इसी महादृष्टि ने भारतीय वैज्ञानिकों को सनातन काल से प्रभावित किया है। 'समरागण'० मे प्रतिपादित प्रथम सात अध्यायो मे भूलोक के निवासी महाराज पृथु और देवलोक के देवस्थपति विश्व-कर्मा का संगम (अ० १), सागोपाग सृष्टिवर्णन की अवतारणा (अ० ४), महाद्वीपो, द्वीपो, पर्वतो आदि का भूगोल वर्णन, सूर्य आदि नक्षत्रो की स्थितियो एव गतियो का खगोल-वर्णन (अ० ५), युगारम्भ मे मानवता एव देवत्व का सहवास (अ० ६) एव वर्णाश्रम-व्यवस्था की शाश्वत आधारशिलाओं पर निर्मित भारतीय आर्यसंस्कृति के मानव-धर्मो की अभिव्यजना एव सभ्य नागरिक जीवन की सफलता में पुरनिवेश, खेटनिवेश तथा ग्रामादि एव जनपद-विभाग की योजना (अ० ७) का यही मर्म है। वास्तु-शास्त्र की इसी दिव्य दृष्टि को हमने सार्वभौमिक दृष्टिकोण माना है।

दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण

किसी भी वास्तु-निर्माण के पूर्व वास्तु-पद एव उसके अधिष्ठातृ-देव वास्तु-पुरुष का प्रकल्पन वास्तु-शास्त्र का एक अनिवार्य सिद्धान्त है और भारतीय वास्तु-कला की यह एक अविच्छिन्न परम्परा है। पुर, प्रासाद अथवा भवन के निवेश-नियमो मे वास्तु-पद-विन्यास स्थपति की प्रथम योग्यता एव स्थापत्य का प्रथम अंग है। वास्तु-पद-विन्यास का सविस्तर विवेचन आगे किया जायगा। यहा पर वास्तु-पद के अधिष्ठातृ-

देव "पुरुष" की अवतारणा का आशय यह है कि वास्तु-मण्डल के रेखाचित्र में, वास्तु-पुरुष-प्रकल्पन उपलक्षण मात्र है। इसका रहस्य बिना दर्शन के समझ में नहीं आ सकता। वास्तु-विद्या और दर्शन इन दो ज्ञान-धाराओं का यहाँ सगम् होता है और ब्रह्म-समुद्र की ओर द्रुत गति से दोनो का प्रवाह चलता है। हरिवंश (अ० ९) का यह प्रवचन इसी रहस्य का उद्घाटन करता है—"निवेश्य वास्तु में 'पुरुष' की प्रकल्पना से उस पद विशेष की सत्ता का विश्व की सत्ता के साथ ऐकात्म्य स्थापित करना अभिप्रेत है।"

डा० श्रीमती स्टेला क्रेमिश ने अपने 'हिन्दू टेम्पिल' में वास्तु-पुरुष-मण्डल के दार्शनिक दृष्टिकोण की अति विशद अभिव्यंजना की है।

सर्वव्यापी 'विराट पुरुष' अथवा 'पुरुष' निवेश्य पद के साथ एकाकार ही नही तदात्मक भी है। स० मू० के प्रथम श्लोक मे भी इसी रहस्य की अभिव्यजना की गयी है।

ज्योतिष-दृष्टिकोण

वास्तु-शास्त्र का ज्योतिर्विज्ञान एवं गणित से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने बृहत्सहिता में वास्तु-ज्ञान को ज्योतिर्विज्ञान का एक अनिवार्य अग माना है। वास्तु-पुरुष-मण्डल के आध्यात्मिक महत्त्व का जो सकेत अभी किया गया है उसी मे उसके विश्वजनीन एव ज्योतिर्मण्डलीय बीज भी बिखरे पड़े है।

वास्तु-मण्डल पर विभिन्न अधिपति देवो के साथ-साथ नक्षत्र मण्डल के प्रमुख नक्षत्र सूर्य, चन्द्र आदि का भी प्रकल्पन होता है। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहो की गतियो मे ही विश्व की गति एव स्थिति, समय (वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, वार आदि) तथा ऋतुएँ (वर्षा, ग्रीष्म, शीत आदि) निर्भर है। अतः विश्वाकार इस वास्तु-मण्डल पर विश्वनियन्ता नक्षत्रो की स्थिति-गति से किसी प्रकार का अवरोध या विरोध उचित नहीं है। इस दृष्टिकोण से वास्तु-शास्त्र ज्योतिष शास्त्र का एक अग है। क्योंकि वास्तु-शास्त्र मे भी तो भवन-कार्य किस नक्षत्र मे, किस मास मे, तिथि एव वार से प्रारम्भ करना चाहिए, निवेश्य वास्तु का दिक्सामुख्य आदि कैसा होना चाहिए? इन सभी प्रश्नो का वास्तु-मण्डल में ध्यान रखा जाता है। संसार की नश्वरता एव अपूर्णता ज्योतिर्गणनाओ (एस्ट्रोनोमिकल कलकुलेशन्स) तथा भविष्यवाणियो (ऐस्ट्रोलाजिकल फोरकास्ट्स) के कारण है। इन सभी मे कुछ न कुछ "शेष" अवश्य विद्यमान है। विकास-क्रम के लिए "शेष" आवश्यक है। वर्तमान का विकास भूत का "शेष" है। 'शतपथ-ब्राह्मण' (१.७.३ १८—१९) का यही मर्म है। "वास्तु" शब्द "वस्तु"

से निष्पन्न हुआ है। अतः वास्तु में सत्ता के विकास (निवास आदि) एवं शेष दोनों का मर्म छिपा हुआ है।

इसके अतिरिक्त वास्तु-शास्त्र के सभी ग्रंथो मे "आयादि-निर्णय" वास्तु-विद्या का एक अनिवार्य अंग माना गया है। आयादि-निर्णय का अर्थ है कि ज्योतिष शास्त्र मे प्रतिपादित तारा, नक्षत्र, तिथि, वार आदि के साथ-साथ आय, व्यय, अश आदि षड्वर्ग का विचार भवन-निर्माण में आवश्यक है। 'षड्वर्ग' के ये ६ अग वास्तु-विद्या के ६ सिद्धान्त माने गये हैं। इनकी विशेष चर्चा आगे भी की जायगी। इसके अतिरिक्त वास्तु-विद्या और ज्योतिष-विद्या के घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना दूसरे प्रकारो से भी की जा सकती है। "स्थापत्य-लक्षण" (अ० ४४) मे 'समरागण'० ने गणित एवं ज्योतिष तथा सामुद्रिक शास्त्र को स्थापत्य के अष्टागो मे परिगणित किया है। रूप, अक एव प्रमाण का ज्ञान किसी भी वास्तु-निवेश के लिए आवश्यक है। यह ज्ञान गणित से मिलता है। गणित (फलित एव ख-भूगोल) ज्योतिष-विद्या का ही अग है। शुल्व-सूत्रों मे प्रतिपादित वेदी-रचना ही भारतीय वास्तुकला की प्रथम वेदी है। महावीर नामक पूर्व-मध्यकाल के एक प्रसिद्ध ज्योतिषी ने अपने 'गणितसार' मे वास्तु-विद्या और गणित के घनिष्ट सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है (दे० पहले)।

भौगोलिक एव भौगर्भिक दृष्टिकोण

आदर्श नगर की स्थापना के लिए जिस जनपद अथवा देश मे वह नगर स्थित है उस देश की भौगोलिक स्थितियो एव भौगर्भिक विशेषताओ की समीक्षा परम आवश्यक है। नगर-निवेश मे आधुनिक देश-मापन का यही मर्म है। निवेश्य नगर की भौगोलिक स्थितियो के ज्ञान से ही पुर-विशेष की निवेश-योजना बनायी जा सकती है। मानवनिवास के लिए जल-साधन, उर्वरा भूमि, हरे-भरे वन, विस्तृत चराऊ मैदान आवश्यक हैं। साथ ही समतल भूमि तथा पर्वतीय प्रदेश दोनो स्थानो के नगरो की विशेषताएँ अलग-अलग होंगी। समुद्र-तट पर विकसित नगर की विशेषता अपनी निराली होगी। प्राचीन नगरो के विभिन्न भेदों—पुर (राजधानी), नगर, पत्तन, पुट-भेदन (व्यावसायिक नगर, मडी) आदि की आत्मकहानी मे भौगोलिक मर्म छिपा हुआ है। इसी दृष्टि से 'समरागण'० के "भुवनकोश" नामक चौथे अध्याय मे जय की भौगोलिक जिज्ञासा का उत्तर दिया गया है। पुरनिवेश के लिए देश-विदेश के भूगोल का ज्ञान आवश्यक है, जिससे एक देश अथवा राष्ट्र के लिए आवश्यक विभिन्न वर्गीय पुरों की यथास्थान निवेश-योजना बनायी जा सके।

भूमि-परीक्षा में भौगोलिक ज्ञान के अतिरिक्त भौगर्भिक ज्ञान भी उपादेय

है। भूमि की भौगर्भिक परीक्षा की विस्तृत विवेचना 'पुर-निवेश' पटल में द्रष्टव्य है। यहाँ पर इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि यह पृथ्वी वसुन्धरा कहलाती है, इसीलिए इसका नाम रत्नगर्भा है। किस भूमि मे कौन से खनिज पदार्थ पाये जाते है, कौन सी भूमि किस कार्य के लिए विशेष उपयुक्त है, इन सभी प्रश्नो के समाधान के लिए भूमि की भौगर्भिक परीक्षा का वास्तु-शास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भूमि के गन्ध, वर्ण, रस (स्वाद) एव स्पर्श से प्राचीन स्थपति भौगर्भिक परीक्षा कर लेते थे। इस प्रकार वास्तु-विद्या का भूगोल एव भूगर्भ-विद्या के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है। गोदोहन, भू-समीकरण के पौराणिक एव वास्तु-शास्त्रीय (समरागण सू०, अ० १, ७) उपाख्यान सृष्टि के आदि में हमारे पूर्वजों के भूपरीक्षा के भौगोलिक एव भौगर्भिक महा-अनुष्ठानो की सूचना देते हैं।

स्वातन्त्रिक (आर्कीटेक्चरल इटसेल्फ)

वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र के उदघाटन मे "वास्तु" शब्द की जो व्याख्या प्राचीन आचार्यो ने की है वह भी इस सम्बन्ध मे बडी सहायक है। 'मानसार' के अनुसार भूमि, हर्म्य (भवन आदि), यान एव पर्यंक इन चारो का ही वास्तु शब्द से बोध होता है। वास्तु की इस चतुर्मुखी व्यापकता की सोदाहरण व्याख्या करते हुए डा० आचार्य वास्तु-विश्वकोश (पृ० ४५६) मे लिखते है—"हर्म्य मे प्रासाद, मण्डप, सभा, शाला, प्रपा तथा रग ये सभी सम्मिलित है। यान आदिक, स्यन्दन, शिबिका एव रथ का बोधक है। पर्यक मे पजर, मंचली, मच, फलकासन तथा बाल-पर्यक सम्मिलित है। वास्तु शब्द ग्रामो, पुरो, दुर्गो, पत्तनो, पुटभेदनो, आवास-भवनो एव निवेश्य-भूमि का भी वाचक है। साथ ही मूर्तिकला अथवा पाषाणकला वास्तु-कला की सहचरी कही जा सकती है।" अग्निपुराण (अ० १०६, ५-१) तथा गरुडपुराण (अ० ४६) वास्तु शब्द के इस अर्थ का समर्थन करते है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अ० ६५) में भी वास्तु शब्द की व्यापकता का समर्थन पाया जाता है।

'समरागणसूत्रधार' के प्रथम अध्याय मे ही शास्त्रारम्भ के समर्थन की मगलमयी भावना के निदर्शन मे वास्तु-शास्त्र की उपादेयता की अवतारणा करते हुए ग्रथकार का निम्न वचन द्रष्टव्य है—

> देशः पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
> यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम्॥
> वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चयः।
> तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते॥

इन श्लोको मे वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र का पूर्ण आभास प्राप्त होता है।

२

"देश" शब्द जनपद, राष्ट्र, देश के विभिन्न भेदो एवं विभिन्न देशभूमियों का बोधक है। अत. पुर-निवेश मे देशमापन एवं भूपरीक्षण आदि प्रारम्भिक कार्य भी गतार्थ हैं। "पुर" शब्द से नगर के विभिन्न प्रकार, जैसे राजधानी, शाखानगर, पत्तन एवं पुटभेदन आदि सभी बोद्धव्य है। "निवास" शब्द विभिन्न प्रकार के नगरेतर शाखानगर, खेट, ग्राम, पल्ली एवं पल्लिका आदि बस्तियो का बोधक है। "सभा" शब्द में विशिष्ट भवन, मन्त्रशाला, धारापरिषद् आदि गतार्थ है। "वेश्म" शब्द मे विभिन्नवर्गीय भवन, जैसे देवावास (प्रासाद), नृपावास, राज-प्रासाद एवं जनावास तथा इनके बहुसख्यक प्रभेद परिगणित हो सकते है। "आसन" शब्द में विभिन्न प्रकार के आसन, वाहन (दे० 'प्रतिमा' पटल), शय्या आदि सम्मिलित है। वास्तु-शास्त्र के व्यापक विस्तार के सम्बन्ध में 'समरागण०' का यह प्रवचन दिग्दर्शन मात्र है। इसके 'प्रश्न' नामक तृतीय अध्याय की एतद्विषयक सामग्री की समीक्षा का शीघ्र ही अवसर आ रहा है। 'मयमत' के अनुसार वास्तु शब्द का अभिप्राय भूमि, प्रासाद, यान एवं शयन से है। ये ही विषय सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो के प्रधान विषय है। 'समरांगण०' मे यान का तात्पर्य वायुयान से है (दे० 'यन्त्र' पटल)।

यहाँ पर एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। वास्तु-विद्या कला और विज्ञान दोनो है। अत. वास्तु-शास्त्र का विषय एकमात्र सिद्धान्तो का प्रतिपादन ही नही है वरन् उन सिद्धान्तो के अनुरूप वास्तु-कृतियों की रचना भी है और वे रचनाएँ ऐसी होनी चाहिए जिनको देखकर मानव की हृत्तन्त्री में उसी प्रकार का स्पन्दन होने लगे जैसा कि काव्य के रसास्वाद से होता है, मनमयूर उसी प्रकार से नाचने लगे जिस प्रकार एक विदग्ध गायक के सुन्दर गीत से नाचता है। काव्य एव सगीत के रसास्वाद की यह तन्मयता विमुग्धकारिणी वास्तुकला मे भी अवश्य आनी चाहिए। एलोरा के कैलास, अजन्ता के गुहा-मन्दिर एव चित्र आदि प्राचीन वास्तु-स्मारको को हम जब देखते है तो विमुग्ध होकर उनको मानवकृति नही कहते—देवकृति समझते है।

पितामह ब्रह्मा ने विश्व की रचना तो की लेकिन सुन्दर निवेशयोजना का भार विश्वकर्मा को सौंप दिया। कथा है कि (स० सू०, महासमागमन, अ० १) सृष्टि के उपरान्त ससार की योजना का भार महाराज पृथु को सौपा गया। पृथु राजा थे। राजा कलाकार विश्वकर्मा का कार्य नही कर सकता। अतः अपनी इस असफलता को लेकर पृथु पुनः पितामह के पास पहुँचे। पृथ्वी भी अपनी करुण कहानी लेकर पहुँची। दोनों की दुर्दशा देखकर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को बुलाया और विश्व के निवेश

(विशेष कर भूतल के निवेश) का भार सौंपा। विश्वकर्मा ने अभी तक देवपुरियों का निर्माण किया था। ब्रह्मा के इस महानियोग में पूर्ण सफलता के लिए उन्हें सहायकों की आवश्यकता हुई। स्थपतियों की परम्परा अभी पल्लवित नहीं हुई थी, अतः पिता के इस अनुष्ठान में पुत्रों ने हाथ बटाया। विश्वकर्मा ने अपने मानसपुत्रों—जय, विजय, सिद्धार्थ एवं अपराजित को बुलाया और ब्रह्मा के इस नियोग की सूचना दी (दे० स० सू०, अ० २) और भूतल की निवेश-योजना—राजधानी एवं जनपदों के रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के दुर्गों, जनावासों (पुर, नगर, ग्राम, खेटादि) तथा जाति एवं वर्णानुरूप आवास-भवनों और देवप्रतिष्ठा के लिए देवभवनों आदि की रचना में सहायता की याचना की। यह संवाद हिमाद्रि के उत्तुंग शिखरों पर हुआ था। स्वर्ग से भूमि पर उतरने की अवतारणा में विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय ने पिता से इस अनुष्ठान-यज्ञ में आहुति देने के पूर्व अनुष्ठान की सांगोपांग जिज्ञासा के विषय में प्रश्नों की झड़ी लगा दी। इन्हीं प्रश्नों का प्रवचन 'स० सू०' के 'प्रश्न' नामक तीसरे अध्याय में वास्तु-शास्त्र के व्यापक विस्तार को लेकर हुआ है। इस प्रश्न-तालिका को हम अपने अध्ययन के अनुरूप निम्न समूहों में विभाजित कर सकते हैं—

१ औपोद्घातिक—

(क) सार्वभौमिक—सृष्टि—महाभूत एवं नक्षत्र, ग्रहों की गतियाँ, स्थितियाँ, पारस्परिक दूरी, आधार एवं कारण आदि; पृथ्वी के ऊपर और नीचे के लोक।

(ख) सांस्कृतिक—मानव-सभ्यता एवं संस्कृति तथा धर्म के विभिन्न युग एवं उनकी व्यवस्थाएँ—प्रथम उत्पत्ति, प्रथम राजा, प्रथम वर्ण और प्रथम नक्षत्र।

(ग) भौगोलिक—भूमि—आकार, आधार, प्रमाण, विस्तार, परिधि तथा बाहुल्य; पर्वत—संख्या, ऊँचाई, लम्बाई और चौड़ाई; महाद्वीप तथा वर्ष (देश), उनकी सरिताएँ, समुद्र, जन एवं जनपद तथा इन सबकी विशेषता।

(घ) भौगर्भिक—देश एवं देशभूमियों की परीक्षा तथा शब्द, स्पर्श, गन्ध, वर्ण, रस के अनुसार भूमि-परीक्षण तथा निवेश्य वास्तु (पुर, ग्राम, भवन, प्रासाद आदि) की भूमि का चयन।

(ङ) स्थापत्य—विषय, प्राथमिक कृत्य, इष्टकाकर्म, भूमिशोधन (अग्नि, जल तथा वायु से, शल्योद्धार-विधि, दिग्ग्रह, सूत्रण, अधिवासन, मूलपाद, शिलान्यास आदि।

२. पुरनिवेश—विभिन्न-वर्गीय पुरों तथा दुर्गों एवं ग्रामों आदि के निवेशनोचित भूमि के चयन के साथ-साथ राजधानी-निवेशन, प्राकार-विधान, गोपुर-योजना, अट्टाल-

निर्माण, परिखाकर्म, वप्रविधान, पक्षद्वार, अंगद्वार, प्रतोली, रथ्या, चत्वर, क्षेत्र आदि; मार्गविनिवेश—सीमाओ एव क्षेत्रो के साथ-साथ पुर के आभ्यन्तर एवं बाह्य दोनों प्रदेशों मे मार्ग-निवेश; पदविन्यास; इन्द्रध्वज-निवेशन तथा देव-प्रतिष्ठा, जाति एवं वर्ण के अनुरूप जनावास।

३. **भवन-कला**—राजप्रासाद संबन्धी प्रमाण, मान, सस्थान, संख्यान, उच्छ्राय आदि लक्षणो से लक्षित एव प्राकार-परिखा-गुप्त, गोपुर, अम्बुवेश्म, क्रीडाराम, महानस, कोष्ठागार, आयुधस्थान, भाण्डागार, व्यायामशाला, नृत्यशाला, सगीतशाला, स्नानगृह, धारागृह, शय्यागृह, वासगृह, प्रेक्षा (नाटयशाला), दर्पणगृह, दोलागृह, अरिष्टगृह, अन्तःपुर तथा उसके विभिन्न शोभा-सम्भार, कक्षाएँ, अशोकवन, लता-मडप, वापी, दारु गिरि, पुष्पवीथियाँ; राजभवन की किस-किस दिशा मे पुरोहित, सेनानी, ब्राह्मण, ज्योतिषी एव मन्त्री के निवास, जनावास, शालभवन, भवनाग, भवनद्रव्य, विशिष्ट भवन, चुनाई, भूषा, दारुकर्म, इष्टकाकर्म, द्वारविधान, स्तम्भ-लक्षण, छाद्यस्थापन आदि के साथ वास्तुपदो की विभिन्न योजनाएँ; मान, भग एव वेध आदि।

४. **यन्त्रघटना**—(दारुक्रिया से अनुमेय)

५. **प्रासाद-वास्तु**—सस्थान, मान, विन्यास, आकृति, भूषा, शिखर आदि।

६. **प्रतिमा**—यान, परिवार, वर्ण, रूप, विभूषण, वस्त्र, वय, आयुध एव ध्वजाओ के लक्षणो से चिह्नित विभिन्न देवो एव देवियो, यक्षो, गन्धर्वों आदि की प्रतिमाएँ।

७. **चित्रकला**—चित्रक्रिया तथा लेप्यक्रिया।

विश्वकर्मा के ज्येष्ठ पुत्र जय के द्वारा जिज्ञासित इस प्रश्नमालिका में वास्तु-विद्या के सभी अंगो का सन्निवेश हो गया है। इन्ही प्रश्नो का उत्तर 'समरांगण'० की वास्तु-विद्या का विवेचन है। जय के इन प्रश्नों को सुनकर अति हृष्टमानस विश्व-कर्मा कहते हैं —

साधु वत्स त्वया सम्यक् प्रज्ञयातिविशुद्धया।
प्रश्नोऽयमीरितो वास्तुविद्याब्जवनभास्करः॥
स त्वं निधाय प्रश्नानां समुदायममुं हृदि।
वदतो मेऽवधानेन शृणु यद् ब्रह्मणोदितम्॥

'हे वत्स, तुमने अपनी विशुद्ध प्रज्ञा से वास्तु-विद्या रूपी कमल-वन के लिए सूर्य के समान इन प्रश्नो की उद्‌भावना की है। अतः इन प्रश्नो के समुदाय को हृदय में रखते हुए अब इनका उत्तर सुनो, जो ब्रह्माजी ने बताया है।' इस प्रकार इस वास्तु-

विद्या के प्रवर्तक स्वयं पुराणपुरुष ब्रह्मा को मानकर इस विद्या में भी पुरातनता एवं पुण्यशालिता से युक्त शास्त्र-परम्परा की प्रतिष्ठा की गयी है।

वास्तु-विद्या के ग्रथो के विहगावलोकन मे हम देखेगे कि बहुत से ग्रथ शिल्प-शास्त्र के नाम से उल्लिखित किये गये है। 'शिल्प' शब्द का अर्थ सुदर एवं उपयोगी दोनो 'कला' है; परन्तु 'शिल्प-शास्त्र' शब्द इन ग्रथो मे वास्तुशास्त्र के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। परम्परा से प्रचलित जिन ६४ कलाओ का इस देश मे अति प्राचीन समय से उल्लेख एव प्रचार मिलता है, उनमे वास्तु-विद्या को एक कला मे परिगणित किया गया है। सम्भवत. यह परम्परा उस सुदूर अतीत की बात है जब वास्तु-कला का पूर्ण विकास इस देश मे नही हो पाया था। शुक्राचार्य के समय मे वास्तु-विद्या का विस्तार इतना व्यापक हो गया था कि वास्तुकला के महाकलेवर मे सभी प्रधान कलाएँ गतार्थ हो जाती थी। वैसे तो वास्तुशास्त्र का प्रधान विषय भवन-कला, यन्त्रकला, काष्ठकला, भूषण-कला, आसन, सिहासन आदि विधान तथा चित्रकला आदि है। अतएव डा० आचार्य के शब्दो मे "वास्तु-कला मे सभी प्रकार के भवन—धार्मिक, आवासयोग्य, सेनायोग्य तथा उनके उप-भवन एव उपागो, प्रत्यगो आदि का प्रथम स्थान है। पुरनिवेश, उद्यान-रचना, पण्यस्थानो, पोतस्थानो आदि का निर्माण, मार्गयोजना, सेतुविधान, गोपुरविधान, द्वारनिवेश, तोरणविनिवेश, परिखा-खनन, वप्रनिर्माण, प्राकार-विधान, जलभ्रम-योजना, भित्तिरचना, सोपान-निर्माण भी वास्तु शास्त्र के प्रधान अग है। तीसरे, वास्तु-कला मे भवन-उपस्कर अर्थात् फर्नीचर, जैसे शय्या, मजूषा, त्रिविष्टब्ध, पजर, नीड, चटाई, यान, दीप एव मार्ग-दीप-स्तम्भ आदि की रचना भी सम्मिलित है। चौथे, वास्तु-कला मे भूषण-रचना एव वस्त्र-रचना भी सम्मिलित है। देवभूषणो मे मौलि, मुकुट, शिरस्त्रक आदि भूषण, उत्तरीय आदि वस्त्र भी सम्मिलत है। अतः जैसा पहले ही सकेत किया जा चुका है, मूर्तिनिर्माण-कला वास्तु-कला की अभिन्न सहचरी है। लिग, देव-मूर्तियाँ, ऋषि-मुनि आदि की प्रतिमाएँ तथा गरुड, हस आदि के चित्रो का रचनाकौशल इस कला का अभिन्न अग है। वास्तु-रचना, भवन-निर्माण अथवा पुरनिवेश के प्रारम्भिक कृत्यो, जैसे भूमिचयन, भूपरीक्षा, शकुस्थापन, दिक्साम्मुख्य एव आयादि-निर्णय भी वास्तु-शास्त्र के अग है।" परन्तु प्रकृत ग्रथ के लेखक की ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन-जन्य धारणा के अनुसार वास्तु-शास्त्र के निम्नलिखित पाँच प्रमुख विवेच्य एव प्रतिपाद्य विषय है—

१. नगर-रचना २. भवन-निर्माण ३. मूर्ति-कला ४ चित्र-कला तथा ५ यन्त्र-कला। वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र मे शिल्प-शास्त्र तथा चित्र-शास्त्र कवलित हैं। व्यवहारत. प्रथम दो वास्तु-शास्त्र के परम्परागत विषय है। तीसरा

शिल्प-शास्त्र का विषय है तथा चौथा चित्र-शास्त्र का। 'समराङ्गणसूत्रधार' नामक वास्तु-शास्त्र ही ऐसा एकमात्र ग्रन्थ है जिसमे यन्त्र-कला भी वास्तु-शास्त्र का विषय मानी गयी है, यत· कोई भी कृति वास्तु है। चित्रकला भी एक दो ही वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों (दे० स० सू० तथा अपराजितपृच्छा) मे प्रतिपादित है। भवन-निर्माण में जन-भवन, राज-भवन तथा देव-भवन तीनों प्रकार के भवनों का व्यापक क्षेत्र आता है।

अतएव इन प्रमुख वास्तु-शास्त्रीय या स्थापत्य-शास्त्रीय विषयो के अनुरूप हमने इस ग्रन्थ मे ६ पटलो मे इनका प्रतिपादन किया है। भवन को हमने दो स्वतत्र पटलों में विभाजित किया है—जनावास तथा देवावास। प्रारम्भिक पटल स्थापत्य-शास्त्र का सामान्य विवेचन प्रस्तुत करता है तथा अन्तिम पटल परिशिष्टों का है।

३

वास्तु-विद्या की परम्परा

जन्म और विकास

भारतीय वास्तु-विद्या का जन्म वेदांग-षट्क (विशेषत ज्योतिष एवं कल्प) से हुआ है। यत भारतीय वास्तु-कला का आश्रय धर्म रहा है, अत धार्मिक सस्कारों, यज्ञो एव पूजाओ के सम्बन्ध मे आवश्यक भमि-चयन, भू-सस्कार, भूमि के मान और उन्मान (नाप-जोख) एव वेदी-रचना आदि आवश्यकीय अगो के सम्बन्ध मे जो निर्देश तथा विवरण इन सूत्र-ग्रन्थो मे मिलते हैं वे ही कालान्तर मे वास्तु-विद्या के सूत्रपात करने मे सहायक हुए है।

हमारे देश की प्राचीन शास्त्र परम्परा मे जिन-जिन विद्याओ का एक साथ उल्लेख हुआ है उनमे वास्तु-विद्या का उल्लेख नही देख पडता। इससे यह नही कहा जा सकता कि वास्तु-विद्या विद्या-स्थानो मे ही नही मानी जाती थी। आवश्यकता आविष्कारो की जननी कही गयी है, और भवन (निवास) सम्बन्धी आवश्यकता मानवता एव मानव-सभ्यता के साथ-साथ सनातन से सर्वत्र रही है। ऋग्वेद मे ही वास्तु-सम्बन्धी बहुल सकेत हैं जिनसे तत्कालीन वास्तु-विद्या एव वास्तु-कला का सुदृढ अनुमान किया जा सकता है। यही नहीं, सिन्धु घाटी-सभ्यता मे तो वास्तु-कला के विकास की उन्नति के सुदृढ निदर्शन प्राप्त हुए है। अत वास्तु-विद्या का मानव-सभ्यता मे अत्यन्त आवश्यक ज्ञान सनातन से सर्वत्र चला आ रहा है। जब पुराणो और आगमो की उपासना परम्परा पल्लवित हुई तो शिव-पूजा और विष्णु-पूजा की प्रबल धारा हिमाद्रि-उत्तर से दक्षिण सेतुबन्ध रामेश्वर तक बहने लगी।

शिवभक्ति और विष्णुभक्ति, इन दो धार्मिक प्रगतियो के प्रसार द्वारा प्रतिमा-सापेक्ष इस नवीन पौराणिक धर्म के बृहत् विजृम्भण से देश के कोने-कोने मे तीर्थ-स्थानो, शिव-मन्दिरो एव विष्णुमन्दिरो की स्थापना तथा उनका निर्माण प्रारम्भ हुआ। परिणामतः इस पौराणिक धर्म के प्रचार ने वास्तु-कला को चरम उन्नति पर पहुँचा दिया और इस देश के विशाल भू-भाग पर दक्षिणापथ तथा उत्तरापथ इन दोनो प्राचीन भू-खण्डो मे वास्तु-कला के चरमोत्कर्ष के अप्रतिम एव प्रोज्ज्वल निदर्शन मिलने लगे। इस प्रकार

भारतीय वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला का आश्रय धर्म रहा है यह तथ्य हृदयंगम हो जाता है।

वैसे तो वास्तु-विद्या और वास्तु-कला दोनो का प्रवाह एक ही स्रोत से नि.मृत हुआ है, दोनो का सनातन काल से इस देश मे समन्वय रहा है, परन्तु प्रकृत में हम वास्तु-विद्या पर ही विचार करेगे। भारतीय वास्तु-कला की विशेषता पर केवल थोडा-सा दृष्टिपात करना अप्रासगिक न होगा। भारतीय जीवन सनातन से अध्यात्म भावना से प्रभावित रहा है, भारतीय कला इसका अपवाद नही। वास्तु-कला के मर्मज्ञ विद्वान् डा० कुमार स्वामी के शब्दो मे "भारत की सभी देनें उसके दर्शन से अनुप्राणित है। जहाँ तक भारतीय कला की उद्‌भावना का सम्बन्ध है, उसमें कलाकार के मानसिक योग एव प्रारम्भिक धार्मिक सस्कारो का होना अनिवार्य है।" इस कथन से हमारे कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध है कि भारतीय धर्म के कलेवर मे भारतीय दर्शन की आत्मा का निवास है। बिना आत्मा के शरीर निष्प्राण है। बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व केवल अनुमेय है प्रत्यक्ष नही। अत धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यही कारण है कि भारतीय विचारको ने जहाँ शब्द-ब्रह्मवाद अथवा रस-ब्रह्मवाद एवं नाद-ब्रह्मवाद की कल्पना की है, वहाँ उन लोगो ने वास्तु मे भी वास्तु-ब्रह्मवाद की कल्पना करके भारतीय वास्तु-कला मे जीवन-सचार किया है। जड मे चैतन्य की कल्पना ही तो दर्शन का मर्म है। भारतीय वास्तु-कला की इस मौलिक विशेषता को प्राय सभी उद्‌भट वास्तु-शास्त्रियो ने स्वीकार किया है।

वैसे तो मानव-सस्कृति अविच्छिन्न है। वह सार्वभौमिक, सार्वकालिक भी है। परन्तु स्थान, काल एवं जाति विशेष के ससर्ग मे उसमें अपनी विशिष्टता की छापे अवश्य प्रस्फुटित हो जाती है। वास्तु-कला का मानवसभ्यता की कहानी मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राय सभी देशो मे यह कला पनपी। अपने-अपने देशो मे उन देशो के निवासियो ने जैसा इस कला की साधना में, विकास एव अभ्युदय मे योगदान किया वैसा ही स्थान, काल एव जाति विशेष की विशेषताओं से उसमे अवश्य वैशिष्ट्य उत्पन्न हो गया है। पर्सी ब्राउन के शब्दों में ('इडियन आर्कीटेक्चर' पृ० १) "यूनानियो की वास्तु-कला की विशेषता उनकी प्रोज्ज्वल पूर्णता थी। रोमन भवन (निर्माण) अपनी वैज्ञानिक रचना के लिए प्रसिद्ध है। फ्रेंच गोथिक कला में हमें भावुक बुद्धि एव उद्‌भावना के दर्शन होते है। इटली की सर्वतोमुखी उन्नति (वास्तु-कला जिसमे एक थी) में तत्कालीन वैदुष्य की छाप प्रकट रूप से है। इसी प्रकार भारतीय वास्तु-कला की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी अध्यात्म-निष्ठा है। यह प्रकट है कि भारतीय भवन-निर्माण-कला का आधारभूत अध्यवसाय—प्रयोजन भारतीय जनसमाज की धार्मिक चेतना है; अतएव इष्टका में

भारतीय आत्मा का साक्षात्कार करना ही भारतीय वास्तु- कला की सर्वप्रमुख विशेषता कही गयी है।"

वास्तु-विद्या का जन्म वैदिक काल के ही समकालीन हुआ था परन्तु उसका रूप वेदागो के समय में स्थिर हुआ तथा पुराणों और आगमों मे उसका विकास हुआ। आगे चलकर वास्तु-विद्या के आचार्यों ने उसको एक स्वाधीन शास्त्र के रूप मे खड़ा किया और यह शास्त्र शुक्राचार्य के अनुसार 'विद्या-स्थान' के पद को भी प्राप्त हो गया।

परम्परा एवं प्रवर्तक

वैदिक वाड्मय, पुराण एव महाकाव्य तथा बृहत्संहिता (ज्योतिष) एव मानसार आदि शिल्प-शास्त्रीय तथा अन्य विभिन्न प्राचीन ग्रन्थो के परिशीलन मे वास्तु-विद्या के अनेक आचार्यो के नामोल्लेख एव उनके सिद्धान्तो का उल्लेख मिलता है। अत. यह निर्विवाद है कि इस विद्या के मूल प्रवर्तको का जन्म इस देश मे अत्यन्त प्राचीनकाल मे हुआ था। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक विद्या का अपना-अपना अलग जन्मदाता है। विभिन्न दर्शनो के संस्थापको एव प्रवर्तको को हम जानते हैं। विभिन्न धार्मिक, नीति-सम्बन्धी एव आर्थिक तथा राजनीतिक परम्पराओ के प्रवर्तको को भी हम जानते हैं। अत वास्तु-विद्या के मूलप्रवर्तको मे हमे दो नाम विशेष उल्लेखनीय मिलते हैं। वे हैं विश्वकर्मा तथा मय। विश्वकर्मा की कल्पना देवताओ के स्थपति के रूप मे सनातन काल से इस देश मे चली आयी है। अत देवभूमि भारत के इस उत्तरापथ भू-भाग पर विश्वकर्मा का अवतार हुआ—ऐसे बहुत सकेत प्राचीन ग्रन्थो मे मिलते हैं। इस भू-भाग से सम्बन्ध रखनेवाली वास्तु-कला तथा उस कला की विद्या के विभिन्न शास्त्रीय ग्रंथों मे विश्वकर्मा को वास्तु-विद्या का प्रथम प्रवर्तक एव आचार्य माना गया है। श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने भी यह प्रतिपादित किया है कि जहाँ विश्वकर्मा देवताओ का स्थपति था और उसको वसुओ (देवविशेषो) मे परिगणित किया गया है, वहाँ विश्वकर्मा नामक एक मनुष्य भी था जो वास्तु विद्या का प्रवर्तक हुआ और कालान्तर मे स्थापत्य-शास्त्र एव कला मे विश्वकर्मा-स्कूल (परम्परा) का वह जन्मदाता तथा विकासक माना गया (इसके सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य के लिए श्री तारापद की पुस्तक देखिए)।

दैवी संस्कृति के साथ सनातनकाल से इस देश मे आसुरी संस्कृति का समानान्तर रूप मे निर्देश किया गया है। यही नही, सस्कृति के भौतिक क्षेत्र मे असुरो ने देवों की अपेक्षा विशेष उन्नति की थी—यह हमारे पुरातन ग्रथो से स्पष्ट है। ये असुर कौन थे? एतद्देशीय अनार्य जाति के प्रति ब्राह्मण आदि ग्रंथो मे जो असुर आदि शब्दो का प्रयोग पाया जाता है उसको विद्वानो ने इस देश के आर्येतर निवासियों का बोधक माना है।

वास्तव में जिसको हम आसुरी सभ्यता कहते हैं वह भी इसी देश के मूल निवासियों की सभ्यता है। इस सभ्यता की वास्तु-कला के आचार्य का अत्यन्त प्राचीन नाम जो आर्य-ग्रन्थों में मिलता है वह है मय। मय असुर था अत: आसुरी वास्तु-विद्या के मूल प्रवर्तक के रूप में इसे माना गया है और इस प्रकार भारतीय वास्तु-विद्या की यह दूसरी परम्परा मय-स्कूल के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर संकेत करना आवश्यक है कि जिस प्रकार भारतीय आर्यसभ्यता में आर्येतर एतद्देशीय तथा विदेशीय बहुसंख्यक घटक पद-पद पर प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों में भी कालान्तर में पारस्परिक सम्मिश्रण हुआ। एक परम्परा की विद्या में दूसरी परम्परा के आचार्यों के मतों का सम्मानपूर्वक उल्लेख हुआ और पुनः इस महादेश के एक कोने से दूसरे कोने तक स्थापत्य-कौशल का जो प्रोज्ज्वल रूप देखने को मिलता है उसमे देश-भेद होते हुए भी सम्मिश्रण की इस आधारभूत रेखा के सर्वत्र समान रूप से दर्शन होते हैं। दक्षिण की द्राविड-शैली और उत्तर की नागर-शैली, दोनों शैलियों के अपने-अपने सुन्दर निदर्शन होते हुए भी एक-दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव भी कम प्रत्यक्ष नहीं है।

अस्तु, वास्तु-परम्पराओं और प्रवर्तकों संबन्धी इस संक्षिप्त उपोद्‌घात के अनन्तर एक तथ्य की ओर हमें ध्यान देना है कि यद्यपि यहाँ पर दो ही परम्पराओं (दक्षिणी तथा उत्तरी) का संकेत किया गया, फिर भी इस विशाल देश मे कालान्तर मे विभिन्न महाजनपदों मे अपने-अपने क्षेत्रों की विशेषताओं को लेकर और भी बहुत-सी परम्पराएँ पल्लवित हुई, जिनको शैलियों के नाम से पुकारा जाता है। नागर (उत्तरी) और द्राविड (दक्षिणी) शैली का संकेत हो ही चुका है। इन दो शैलियों के अतिरिक्त तीसरी शैली वेसर के नाम से प्रसिद्ध है। 'समरांगण०' मे तो नागर, द्राविड, वेसर की त्रयी के स्थान पर नागर, द्राविड़, वावाट, भूमिज, लाट (लतिन) आदि बहुसंख्यक वास्तु-शैलियों का विवेचन है। इन शैलियों के सम्बन्ध मे हम आगे प्रासाद-वास्तु की समीक्षा में विचार करेंगे। इतना तो निर्विवाद है कि शैलियाँ कितनी ही क्यों न हों प्रधान रूप से भारतीय वास्तु-विद्या की दो ही परम्पराएँ हैं जो ऊपर उत्तरी तथा दक्षिणी परम्परा के नाम से कही गयी हैं।

दक्षिणी परम्परा—इस परम्परा के प्रवर्तक आचार्यों मे निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. ब्रह्मा	४. मातंग	७. अगस्त्य
२. त्वष्टा	५. भृगु	८. शुक्र
३. मय	६. काश्यप	९. पराशर

१०. भग्नजित्	१२. प्रह्लाद	१४. बृहस्पति
११. नारद	१३. शक्र	१५ मानसार

इन नामो का निर्देश-मात्र अभिलषित है। विशेष छानवीन (इन आचार्यो के सकेत आदि एवं सिद्धान्त आदि पर) श्री तारापद ने अपने ग्रंथ मे की है। अत विस्तारभय से उसकी अवतारणा यहाँ समीचीन नही। मत्स्यपुराण एवं बृहत्सहिता मे जिन २५ आचार्यों का निर्देश मिलता है उनमे से बहुसख्यक आचार्य द्राविड़-परम्परा के प्रवर्तक माने जाते है, और कुछ नागर-परम्परा के।

मत्स्यपुराण की निम्न नामतालिका प्रस्तुत है—

१ भृगु	७. नग्नजित्	१३ शौनक	१९ मनु
२ अत्रि	८ विशालाक्ष	१४ गर्ग	२० पराशर
३ वसिष्ठ	९ पुरन्दर या शक्र	१५ वासुदेव	२१. काश्यप
४ विश्वकर्मा	१० ब्रह्मा	१६ अनिरुद्ध	२२ भरद्वाज
५ मय	११ कुमार	१७ शुक्र	२३ अगस्त्य
६ नारद	१२ नदीश (शम्भु)	१८ बृहस्पति	२४ प्रह्लाद
	२५. मार्कण्डेय		

प्रथम १९ नाम मत्स्यपुराण मे तथा बाद के ३ नाम (२०, २१, २२) बृहत्सहिता मे तथा अतिम तीन अन्य साहित्य सन्दर्भो मे उल्लिखित पाये जाते हैं। इनमे बहुतों के ग्रथ भी पाये जाते हैं जिनका हम 'वास्तु वाङ्मय' के स्तम्भ मे उल्लेख करेगे।

उत्तरी परम्परा—आर्य वास्तु-परम्परा के प्रथम आचार्य विश्वकर्मा ने यह विद्या स्वय पितामह ब्रह्मा से प्राप्त की (दे० पीछे का अध्याय)। विश्वकर्मा देवो के स्थपति थे। उनकी गणना वसुओ मे है। परन्तु कालान्तर मे देश के विभिन्न कुशल एव प्रसिद्ध स्थपतियो ने अपने नाम भी विश्वकर्मा के नाम से प्रचलित कर दिये। अतएव जहाँ देवो की वास्तु-विद्या के प्रथम प्रतिष्ठापक विश्वकर्मा है, वहाँ कालान्तर मे इस देश में अन्य कई विश्वकर्मा हुए जिन्होने स्थापत्य-कौशल की परम्परा में योग दिया तथा स्थापत्य-शास्त्र पर ग्रथ निर्मित किये। प्राप्त 'विश्वकर्म-प्रकाश' में विश्वकर्मा उत्तरापथ की वास्तु-परम्परा का प्रथम आचार्य न माना जाकर चौथा या पाँचवाँ या इससे भी अर्वाचीन माना गया है—शम्भु का शिष्य गर्ग, गर्ग का शिष्य पराशर, पराशर का शिष्य बृहद्रथ तथा बृहद्रथ का शिष्य विश्वकर्मा और विश्वकर्मा के शिष्य वासुदेव ने यह ग्रथ सकलित किया—ऐसा इसमें निर्दिष्ट है। अत देव-स्थपति विश्वकर्मा के अतिरिक्त कम-से-कम दो विश्वकर्मा और हुए जो वास्तु-विद्या के आचार्य के रूप मे प्रख्यात तथा ग्रंथ लेखक थे। उनमें एक है उत्तरापथ का और दूसरा है दक्षिणापथ का। 'विश्व

प्रकाश' उत्तरापथ की वास्तु-विद्या का वर्णन करता है तथा 'विश्वकर्मीय शिल्प' दक्षिणापथ की वास्तु-विद्या का वर्णन करता है, लोगों ने ऐसे अनुमान लगाये है। अस्तु, उत्तरी परम्परा (नागर-शैली) के प्रवर्तक आचार्यों मे निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखनीय है —

१ शम्भु	३. अत्रि	५. पराशर	७. विश्वकर्मा
२. गर्ग	४. वसिष्ठ	६. बृहद्रथ	८. वासुदेव

इन नामों की सूचक सामग्री का यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया, क्योंकि यह इस ग्रथ का प्रतिपाद्य विषय नही है। स्वल्प मे निर्देश मात्र ही यहाँ पर संगत है।)

वास्तु-वाङ्मय

दोनों परम्पराओ के प्रवर्तक आचार्यों के ग्रंथो एव सिद्धान्तों के उल्लेख के पूर्व एक ज्ञातव्य तथ्य यह है कि वास्तु-शास्त्र के सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने वाला भारतीय साहित्य मुख्यतया दो प्रकार का है, डा० आचार्य के शब्दों मे आर्कीटेक्चरल वर्क्स अर्थात् वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ तथा नान-आर्कीटेक्चरल वर्क्स अर्थात् अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ। पहली कोटि मे उन ग्रन्थो का समावेश होता है जिनमे अविकल रूप से वास्तु-शास्त्र पर विवेचन किया गया है और दूसरी कोटि के वे ग्रन्थ हैं जो मुख्यतया या तो धार्मिक ग्रथ है, जैसे वेद, वेदाग (कल्प तथा ज्योतिष), पुराण, आगम तथा धार्मिक संस्कार-पद्धतियो, पूजा-पद्धतियों, प्रतिष्ठा-पद्धतियो के ग्रन्थ या कुछ नीति-विषयक ग्रन्थ, जैसे शुक्रनीति और कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि। अत. परम्परानुरूप इन दोनो प्रकार के वास्तु-ग्रन्थो का सक्षेप मे समुल्लेख किया जाता है।

दक्षिणी परम्परा के वास्तु-ग्रन्थ

(क) अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ—

१. शैवागम	३. अत्रि-सहिता	५. तन्त्र ग्रन्थ (दीप्त-तन्त्र आदि)
२ वैष्णव पचरात्र	४. वैखानसागम	६. तन्त्र समुच्चय
७ ईशान शिवगुरुदेवपद्धति		

इनमे आगम-साहित्य अति विशाल है। इसमे वास्तु-विद्या का विवेचन बड़ा ही उत्कृष्ट है। दक्षिणापथ के ये "पुराण तुल्य ग्रन्थ" प्रचलित पुराणो की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं पृथुल हैं। आगमो की सख्या पुराणो की सख्या से डेढ गुनी है। पुराण १८ हैं आगम २८। आगमो में कामिकागम, सुप्रभेदागम, कर्णागम, वैखानसागम आदि विशेष प्रसिद्ध है। डा० आचार्य के मत मे (हि० आ० ई० ए०) कुछ आगमो का वास्तु-विद्या-प्रवचन बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक है, जैसा पुराणो मे भी नहीं

मिलता। किन्हीं-किन्हीं आगमों में वास्तु-विद्या का विवेचन इतना विशाल है कि उनको वास्तु-शास्त्रीय ग्रथ कहें तो अत्युक्ति न होगी। कामिकागम के ७५ पटलों में से ६० पटलो में वास्तु-विद्या का वर्णन है और इसका विवेचन भी अत्यन्त प्रौढ है।

(ख) वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथ---

१. विश्वकर्मीय शिल्प	४. काश्यप-शिल्प (अंशुमद्भेद)	५. शिल्प-सग्रह
२. मयमत	५. अगस्त्य-सकलाधिकार	८. शिल्प-रत्न
३. मानसार	६. सनत्कुमार-वास्तुशास्त्र	९. चित्र-लक्षण

इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथो मे मानसार का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रथ को दक्षिणी परम्परा का प्रामाणिक ग्रथ कहा जा सकता है।

डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने 'मानसार' पर अति गम्भीर एव अभिनव अनुसन्धान किया है। आचार्य महोदय को वास्तव मे आधुनिक वास्तु-विद्या के अनुसधान एव गवेषणा करने वालो मे प्रथम स्थान प्राप्त है। यद्यपि इस दिशा में रामराज (दे० 'एसे आन हिन्दू आर्कीटेक्चर') ने सर्वप्रथम कदम उठाया था।

मानसार मे ७० अध्याय हैं, जिनमे गृह-निर्माण, पुरनिवेश, राजप्रासाद तथा मन्दिर-निर्माण आदि वास्तु-कला के विभिन्न सिद्धान्तो (कैनन्स) के अतिरिक्त मूर्ति-निर्माण-कला तथा 'भूषण-विधान' पर भी विवेचन किया गया है। मानसार की वास्तु-विद्या पर आगे के स्तम्भ (वास्तु-सिद्धान्त) मे सक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

उत्तरी परम्परा के वास्तु-ग्रन्थ

(क) अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ---

१. पुराण (मत्स्य, अग्नि, भविष्य आदि)

२. बृहत्संहिता (ज्योतिष ग्रन्थ, परन्तु वास्तु-सिद्धान्तो का मार्मिक विवेचक)

३. तन्त्र (किरणतन्त्र आदि)

४. हयशीर्ष-पचरात्र

५. विष्णुधर्मोत्तर पुराण (चित्रकला का प्रामाणिक ग्रथ)

६. प्रतिष्ठा-ग्रन्थ (हेमाद्रि तथा रघुनन्दन आदि के)

७ हरिभक्तिविलास

(ख) वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ---

१. विश्वकर्मप्रकाश	३. अपराजितपृच्छा	५. वास्तु-रत्नावली
२. समरांगण-सूत्रधार	४. सूत्रधार-मण्डन	६. वास्तु-प्रदीप आदि

पुराण---पुराणों की वास्तु-विद्या आगमों की वास्तु-विद्या के समान ही महत्त्वपूर्ण है। पुराणो मे मत्स्य और अग्नि मे वास्तु-विद्या का विशेष वर्णन मिलता है। गरुड, नारद, ब्रह्माण्ड, भविष्य, लिंग, वायु तथा स्कन्द पुराणों में भी वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का निरूपण हुआ है।

तन्त्र—तान्त्रिक परम्परा भी पुराणो एव आगमों की परम्पराओं के समान ही अति प्राचीन है। हयशीर्ष-पचरात्र मे वास्तु-विद्या का प्रौढ विवेचन मिलता है, इसमे अग्निपुराण मे प्रतिपादित वास्तु-विद्या का प्रवचन हयग्रीव के मुख से किया गया है। अग्निपुराण एव हयशीर्ष-पंचरात्र की वास्तु-विद्या की समानता को देखकर श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने (पृ० १३८-९) यह निष्कर्ष निकाला है कि अग्निपुराण तथा इस पचरात्र का एक ही स्रोत है, जहाँ से वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो को लेकर इन दोनो में उनका संकलन किया गया है। अग्निपुराण में तान्त्रिक वास्तु-परम्परा के निर्देश मे (दे० अग्नि, ३९वाँ अध्याय) पचरात्र या सप्तरात्र के जिन पचविंशति ग्रन्थो का उल्लेख है वे निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है —

१ हयशीर्ष	तन्त्र	९ सप्रश्न	तन्त्र	१७ कापिल	तन्त्र
२. त्रैलोक्य-मोहन	,,	१०. शाण्डिल्य	,,	१८. तार्क्ष्य	,,
३ वैभव	,,	११ वैश्वक	,,	१९. नारायणिक	,,
४ पौष्कर	,,	१२ सात्य	,,	२० आत्रेय	,,
५ प्राह्लाद	,,	१३. सौनक	,,	२१. आनन्द	,,
६ गार्ग्य	,,	१४. वासिष्ठ	,,	२२. नारसिह	,,
७. गालव	,,	१५ ज्ञानसागर	,,	२३. आरुण	,,
८ नारदीय	,,	१६ स्वायम्भुव	,,	२४. बौधायन	,,

२५ आर्ष तन्त्र

इस नामतालिका के परिशीलन से वास्तु-विद्या के विचारक विद्वानो को यह समझने मे देर न लगेगी कि इनमे से बहुत-सी तन्त्र-ग्रन्थ-सज्ञाओ मे वास्तु-विद्या के प्राचीन आचार्यो की नामावली का निर्देश है, जैसे हयशीर्ष, प्रह्लाद, गर्ग, नारद, विश्वक (मानसार एव शिल्परत्न के विश्वसार, विश्वबोध, विश्वकाश्यप), सौनक, वसिष्ट, कपिल तथा अत्रि। इनमे हयशीर्ष तथा गर्ग उत्तरी परम्परा अर्थात् नागर स्कूल के आचार्य है और शेष द्राविड परम्परा के। इससे यह तथ्य निकलता है कि वास्तु-विद्या की तान्त्रिक परम्परा द्राविड़ शैली तथा नागर शैली दोनो का समिश्रण है।

वास्तु-सिद्धान्त

वास्तु-परम्पराओ एवं उनके प्रवर्तको के साथ-साथ वास्तु-वाङमय के प्रधान ग्रन्थो के निर्देश के उपरान्त यह अध्याय अधूरा ही रह जाता है, यदि हम इन ग्रन्थो में प्रतिपादित प्रमुख विषयो का स्वल्प मे वर्णन न करें। परन्तु वास्तुविद्या और वास्तु-कला भारतीयता-विज्ञान (इन्डोलोजी) का एक अत्यन्त पारिभाषिक (टेकनिकल) विषय है। अत. यहां पर उन सिद्धान्तो की न तो व्याख्या करने का अवसर है और न

स्थान। आगे के प्रकरणों में वास्तु-विद्या के सिद्धान्तों के समुद्घाटन के अवसर पर इस दिशा में अवश्य प्रयत्न होगा। वास्तु-विद्या के इन विभिन्न कोटिक ग्रंथो मे प्राय. सर्वत्र बडे ही विस्तार से वास्तु-विवरण पाये जाते है। अतः सुविधा एवं स्थानाभाव की दृष्टि से इन विभिन्न परम्पराग्रो (पुराण, आगम, तन्त्र, शिल्प-शास्त्र तथा अन्यान्य ग्रन्थो) मे प्रतिपादित प्रमुख सिद्धान्तो का एकमात्र सकेत ही सभव है।

वैदिक वास्तु-विद्या—सर्वप्रथम वैदिक-कालीन वास्तु का दर्शन करना चाहिए। ऋग्वेद-कालीन वास्तु-कला का आभास वैदिक मन्त्रो से प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे 'त्रिधातु शरणम्'—त्रिभौमिक प्रासाद की इच्छा वसिष्ठजी करते है। 'सहस्र द्वार', 'सहस्र स्तम्भो' के प्रशालो का तो बहुत बार सकेत है, पुर एवं भवन के विन्यास की परिष्कृत रूपरेखा पर भी बहुत सकेत हैं। उस समय वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का भी प्रचार था, जिसे प्राय लोग नही मानते हैं। ऋग्वेद-काल मे गृह-निर्माण के अवसर पर जो प्रतिष्ठा-सस्कार या समारोह मन्त्रपाठ के साथ किया जाता था, वह सब आज भी होता है। अतः आगे के प्रत्येक वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों मे जिस वास्तु-पूजा को वास्तु-निर्माण का आवश्यक अग माना गया है वह ऋग्वेद-काल में होती थी ऐसा ऋग्वेद के मन्त्रों को देखने से पता लगता है। ऋग्वेद की असुर-सम्बन्धित सामग्री के परिशीलन मे नग्नजित् तथा त्वष्टा (जो आगे चलकर द्राविड वास्तु-विद्या के आचार्य माने गये) आदि आचार्यो के सकेत भी मिलते हैं। सक्षेप मे वास्तु-पूजा, वास्तु-भूमिचयन, स्तम्भपूजा, द्वार-पूजा आदि वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक सिद्धान्त ऋग्वेद-काल मे प्रचलित थे, जिससे तत्कालीन वास्तु-विद्या का अस्तित्व सिद्ध है। अथर्ववेद में तो वास्तु-विद्या एवं कला का और अधिक विकास पाया जाता है। गृह-निर्माण के सम्बन्ध मे अथर्ववेद की सामग्री द्रष्टव्य है। उस के शाला-सूक्त मे 'द्विपक्षा', 'चतुष्पक्षा', 'षट्पक्षा', 'अष्टपक्षा' तथा 'दशपक्षा' शालाओ का वर्णन है (६, ३, २१) और ये कक्षा-भवन आगे के शाल-भवनो के ही सदृश है। इसके अतिरिक्त और बहुत से वास्तु-विवरण इस वेद मे मिलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों की वास्तु-विद्या—ब्राह्मणो मे वास्तु-विद्या के बहुत सकेत मिलते है। 'शिल्प' शब्द की उत्पत्ति एव उसका प्रयोग प्रस्तर-कला (मूर्तिकला) तथा सगीत-कला के लिए किया गया है। ऋग्वेद-कालीन द्राविड वास्तु-विद्या के आचार्य नग्नजित् का उल्लेख ऊपर किया गया है और वह शतपथ ब्राह्मण (८. १. ४. १०) दारा पुष्ट होता है जहाँ पर राजन्य नग्नजित् के वास्तु-सिद्धान्तों का खण्डन मिलता है। साथ ही उसे नारद का शिष्य बताया गया है। नारद आगे द्राविड़ वास्तु-विद्या के आचार्य माने गये है। श० ब्रा० में एक और महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिसमें श्मशान-विरचन सम्बन्धी आर्य एव अनार्य परम्पराओं पर संकेत है।

सूत्रकालीन वास्तु-विद्या—वास्तु-विद्या के प्रारम्भिक स्वरूप का विकास सूत्र-काल से प्रारम्भ होता है—यह पहले ही कहा जा चुका है। इस काल मे भारतीय वास्तु-विद्या का स्वरूप प्राय. स्थिर हो चला था। गृह्यसूत्रो को देखने से यह निष्कर्ष पुष्ट होता है। वास्तु-कर्म, वास्तु-मगल, वास्तु-होम, वास्तु-परीक्षा, भूमि-चयन (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श भेद से), द्वार एव स्तम्भ-नियम, वृक्षारोपण, दारु-आहरण, पद-विन्यास, वास्तु-विद्या तथा ज्योतिष, वास्तु-काल आदि वास्तु-विद्या के सिद्धान्त आश्वलायन, गोभिल, खादिर, शाखायन, पारस्कर तथा हिरण्यकेशी गृह्य-सूत्रो मे पद-पद पर प्रचुर परिमाण मे प्राप्त होते है। शुल्व-सूत्रो का (जो कल्प-सूत्रो मे परिगणित है) वेदी-निर्माण बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक एव रोचक है। बडे-बडे यज्ञो मे आवश्यक वेदियो की निर्माण-व्यवस्था मे बडा ही सम्य एव सामग्री अपेक्षित होती थी। वेदी-निर्माण के ये वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्त आगे प्रासाद-निर्माण के आधारभूत सिद्धान्त हुए।

महाकाव्य कालीन वास्तु-विद्या—सूत्र-साहित्य के इस सस्कृत एव कर्मकाण्ड-पथ से आगे अब रामायण एव महाभारत के कानन मे विचरण करना है जहाँ वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो के सौरभ-सम्पन्न पुष्पो एव फलो का आस्वादन करके तत्कालीन वास्तु-विद्या के प्रोज्ज्वल रूप का अनुभव किया जा सकता है। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ की वास्तुविद्या-के प्रवर्तन में विश्वकर्मा और मय के निर्देश तो इनमें मिलते ही हैं, साथ ही गृह्य-सूत्रो मे प्रतिपादित वास्तु-विद्या के भी दर्शन होते हैं। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इनमे वास्तु-विद्या एव कला के वैज्ञानिक पक्ष का पूर्ण आभास भी प्राप्त होता है। रामायण मे स्थपतियों के भेद, गृह-प्रभेद (प्रासाद, सौध, विमान, हर्म्य, सभा आदि), भूमि-वर्गीकरण का उल्लेख है; गृह-वर्ग, जैसे 'पद्म', 'स्वस्तिक', 'वर्धमान' तथा 'नन्द्यावर्त' विमान, राजवेश्म, सभा आदि के जो वर्णन आगे के शिल्प-शास्त्रो मे प्रतिपादित है उनके भी दर्शन इनमे होते है। 'पुर-निवेश' की रूपरेखा जो आगे विकसित हुई है, उसके बहुत से सकेत यहाँ द्रष्टव्य है। रामायण का अयोध्या वर्णन इस तथ्य का साक्षी है। द्वार आदि की परम्परा के विकसित बीज भी यहाँ मिलते हैं। इन सब सकेतो से महाकाव्य-कालीन उन्नत वास्तु-विद्या के विषय में दो राये नही हो सकतीं।

बौद्ध-कालीन वास्तु-विद्या—पालि जातको के परिशीलन से बौद्ध-कालीन वास्तु-विद्या की बड़ी सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है। बौद्ध-साहित्य में वास्तु-विद्या एव कला के बहुल निर्देश यत्र-तत्र इतने अधिक हैं कि मालूम पडता है ये ग्रथ वास्तु-विद्या का ही प्रवचन कर रहे है। स्वय बुद्ध भगवान् के उपदेशो में वास्तु-विद्या के प्रवचन प्राप्त होते हैं, जैसा कि पालि-पिटको से प्रतीत होता है। 'चुल्ल बग्ग', 'विनयपिटक', 'महाबग्ग' आदि पालि ग्रथो के परिशीलन से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो

सकती है। तारापद भट्टाचार्य (पत्र० ११६) ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि बौद्ध-कालीन भारत में वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का पर्याप्त विकास हो चुका था। वास्तु-निर्माण सम्बन्धी मागलिक विधान (प्रासादमंगलम्-जातको मे), दारु-चयन, भूमिचयन आदि सिद्धान्तो के निर्देश मिलते हैं, परन्तु विशेषता यह है कि वास्तु-कला-निदर्शक वैज्ञानिक कौशल के सम्बन्ध मे भी कम निर्देश नही हैं। भवनो के वर्गीकरण—प्रासाद, हर्म्य, गुहा, विहार, मण्डप, उध्यायोग के रूप मे तथा प्रासादो की भूमियो के विषय मे भी उल्लेख मिलते हैं। साथ ही आगे के वास्तु-ग्रन्थो के कला-पक्ष के अन्य सिद्धान्तो का स्थिरीकरण भी देखने को मिलता है (दे० तारापद, पत्र० ११६-२०)। इस प्रकार महात्मा बुद्ध के समय वास्तु-विद्या पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकी थी।

अर्थशास्त्र की वास्तु-विद्या—पुराण, आगम, तन्त्र एव शिल्पशास्त्र की वास्तु-विद्या के सिद्धान्तो का हम आगे उल्लेख करेगे। ईसा-पूर्वकालीन कौटिल्य के अर्थशास्त्र की वास्तु-विद्या पर थोडा-सा सकेत यहाँ आवश्यक है। इससे ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्व की वास्तु-विद्या के साधारण सिद्धान्तो के उद्घाटन मे सहायता मिल सकेगी। इसमे वास्तु विद्या के सिद्धान्तो का सुन्दर विकास प्राप्त होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के वास्तु-विद्या-बोधक सूत्रो से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ परम्परागत वास्तु-विद्या को सूत्र-रूप मे सक्षिप्त करते हुए राजनीति के ग्रन्थ मे विषयानुपग से उद्धृत कर इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि उस काल मे वास्तु-विद्या के अनेक मौलिक ग्रन्थ थे। अन्यथा 'वास्तु-हृदय,' 'नवभाग', 'वास्तु-देवता', 'काष्ठक' आदि शब्द कैसे समझे जा सकते थे। अर्थशास्त्र मे विभिन्न प्रकार के भवन-द्वारो की देव-नामावली, जैसे ऐन्द्र, वारुण, याम्य आदि तथा पारिभाषिक शब्द, यथा कपिशीर्ष, इन्द्रकोप, हस्तिनख, कपाटयोग, सन्धि, वीज, गोपुर, तोरण, प्रतोली, विष्कम्भ, आयाम, उच्छ्राय, अस्रि आदि से तत्कालीन वास्तु-विद्या की प्रचुर सामग्री की सत्ता प्राप्त होती है।

सक्षेप मे ईसा पूर्व वास्तु-विद्या की रूपरेखा का निम्न प्रकार से स्थिरीकरण किया जा सकता है —

१ वास्तु-पुरुप-विकल्पन
२ भूमिचयन एव भूपरीक्षण
३. द्वार-सस्थान
४ वृक्षारोपण
५ दारु-आहरण
६. वास्तु-पद (पद-विन्यास)
७. वास्तु-विद्या तथा ज्योतिष
८. वास्तु-फल
९. स्थपति
१०. पाषाणकला तथा मूर्ति-निर्माण-कला
११. शाल-भवन
१२ शकुस्थापन
१३. हस्त के विभिन्न माप
१४ स्तम्भादि-माप-व्यवस्था

१५. गृह-द्रव्य (पाषाण, इष्टका आदि)
१६. भवन-भूषा
१७. प्रासाद-रचना
१८. वास्तु-विद्या की परम्पराएँ (शैलियाँ आदि)

ईसापूर्वीय भारतीय वास्तु-विद्या की इस रूप-रेखा के निर्देशोपरान्त अब कालानुरूप विवेचन की अपेक्षा ग्रन्थानुरूप विवेचन विशेष समीचीन होगा।

बृहत्संहिता—इस ग्रन्थरत्न में वास्तु-विद्या पर बडा ही सुन्दर एव वैज्ञानिक विवेचन है। वराहमिहिर इसके लेखक हैं, जोकि महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नो मे एक थे—ऐसी पुरानी परम्परा है। इस ग्रन्थ में यद्यपि वास्तु-विद्या पर केवल थोडे ही अध्याय मिलते हैं परन्तु उनके अन्तर्गत विवेचन बडा ही मार्मिक है। ५३वें अध्याय (वास्तु-विद्या) मे प्रारम्भिक प्रवचनों—वास्तु-चयन, भूमि-परीक्षा, वृक्षारोपण, दारु-आहरण, पद-विन्यास आदि का विवेचन मिलता है। 'प्रासाद-लक्षण' (५६) मे बीस प्रकार के प्रासादो का वर्णन है, जो मत्स्यपुराण से मिलता-जुलता है, साथ ही वास्तुकला सम्बन्धी इसके वैज्ञानिक विवरण विशेष उल्लेख्य हैं। मन्दिर की भूमि, द्वार, गर्भ-द्वार, चित्रण, प्रतिमा-माप, पीठ-माप, भूमिका-उच्छ्रय आदि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। 'वज्रलेप-लक्षण' (५७) मे सीमेंट के निर्माण तथा अन्य भवन-द्रव्यो पर विवेचन है। इसी प्रकार 'शयनासन-लक्षण' (७६) मे भवन-उपस्कर (फर्नीचर), आसन, शय्या, पर्यंक आदि का विवेचन किया गया है। 'प्रतिमा-लक्षण' (५८) मे पाषाणकला पर विवेचन है। बृहत्संहिता की एक विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ मे लगभग वास्तु-विद्या के सात आचार्यो; गर्ग, मनु वसिष्ठ, पराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित् तथा मय के मतो का उल्लेख मिलता है।

मत्स्यपुराण—पुराणो मे, विशेष कर जिन-जिन महापुराणो मे वास्तु-विद्या के विवरण मिलते है उनका हम पहले ही सकेत कर चुके हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम हम मत्स्य को लेते हैं। इस पुराण मे वास्तु-विद्या पर लगभग आठ अध्याय हैं। २५२वें अध्याय में वास्तु-विद्या के प्रसिद्ध अठारह आचार्यो पर प्रकाश डाला गया है। स्तभमान-विनिर्णय नामक २५५वे अध्याय में स्तम्भो का विवेचन किया गया है। मत्स्य के अनुसार भवन-निर्माण का प्रारम्भ स्तभ-रचना से होना चाहिए। स्तम्भ भवन की सम्पूर्ण योजना एव रचना का आधार है। स्तम्भो को पाँच वर्गो मे रखा गया है—रुचक, वज्र, द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त। इस वर्गीकरण का आधार वास्तु-सौदर्य एवं उपयोगिता है। नवताल-लक्षण (२५८), पीठिका-लक्षण (२६२), लिग-लक्षण (२६३) अध्यायो में प्रस्तर-कला तथा मूर्ति-निर्माण का विवेचन है। प्रासाद-वर्णन (२६९), मण्डप-लक्षण (२७०) अध्यायो मे प्रासाद-वास्तु के विवरण मिलते हैं जो यहाँ आगे प्रासाद-पटल में द्रष्टव्य हैं।

स्कन्दपुराण—इस पुराण के माहेश्वर-खण्ड (द्वितीय भाग) तथा वैष्णवखण्ड (द्वितीय भाग) मे वास्तु-विद्या के वर्णन प्राप्त होते है। डा० आचार्य ने माना है कि मत्स्य के अनन्तर स्कन्द अधिक प्राचीन है। महानगर-स्थापन, स्वर्णशाला, रथनिर्माण, स्थपति-निर्देश, विवाह-मण्डप, चित्र-कर्म आदि के जो विवरण मिलते है, उनसे वास्तु-विद्या के व्यापक विस्तार पर प्रकाश पडता है। वास्तु-कर्म, शिल्प-कर्म का पर्याय हो गया है, अन्यथा रथ-निर्माण आदि तक्षक-कला से सम्बन्धित कर्म वास्तु-कला (भवन-निर्माण-कला) मे कैसे समिलित होते। प्राचीन परम्परा मे वास्तु-कला एव पाषाण-कला (मूर्ति-निर्माण-कला) का घनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु चित्रकला के साथ इसका सम्बन्ध यही पर सर्वप्रथम देखने को मिलता है।

गरुडपुराण—इस पुराण की वास्तु-विद्या के चार अध्यायो में दो अध्याय (४६, ४७) सभी प्रकार के भवनों (मानव एव दैव) तथा दुर्ग-निवेश एव पुर-निवेश का सुन्दर विवेचन करते हैं। गरुडपुराण की अपनी विशेषता है पुर-निवेश तथा उद्यान-भवन (गार्डेन सिटीज)। साथ ही परम्परा के अनुरूप प्रासाद एव प्रतिमा (४५ तथा ४८) पर भी सुन्दर विवेचन है।

अग्निपुराण—इस पुराण मे वास्तु विद्या का बडा ही विस्तृत विवेचन है, जैसा कि अन्य पुराणो मे अप्राप्त है। इस मे वास्तु विद्या पर सोलह (४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ६०, ६२, १०४ तथा १०६) अध्यायो में प्राय सभी अगो पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण मे पाषाणकला (मूर्ति-निर्माण) की प्रधानता है। वास्तु-कला पर केवल तीन तथा मूर्ति-निर्माण पर तेरह अध्याय हैं। डा० आचार्य के मत मे अग्निपुराण का पुर-निवेश (अध्याय १०६) वास्तु-शास्त्रीय एक विशिष्ट देन है। इसी प्रकार से अन्य पुराणो मे भी वास्तु विद्या की प्रचुर सामग्री भरी हुई है जिसका स्थानाभाव से विशेष विवरण नही दिया जा सकता। सक्षेपत. पुराणो की वास्तु-विद्या की निम्न रूपरेखा अकित है जो पूर्ण विकसित कही जा सकती है —

१. वास्तु-विद्या के आचार्य	९ ताल-मान
२ वास्तु-शैलियाँ	१०. प्रतिमा-लक्षण
३. भवन-निवेश	११. दशावतार
४. पुर-निवेश	१२ लिग
५. दुर्ग-निवेश	१३. पीठिका
६. प्रासाद-सन्निवेश	१४. सभा
७. स्तम्भ-मान	१५. मण्डप
८. भवन-द्रव्य–दार्वाहरण	१६. उद्यान-भवन

१७. वापी-निर्माण १६. शैल-मन्दिर
१८. कूप निर्माण २० चित्रकला

आगम वास्तु-विद्या––आगमो के सम्बन्ध मे पूर्व ही निर्देश किया जा चुका है। अतः आगमो का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ लेकर एव उसके अध्यायो का निर्देश मात्र करने से ही उनकी वास्तु-विद्या का अनमान लगाया जा सकता है। कामिकागम आगमवास्तु-विद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जा सकता है। उसमे वास्तु-विद्या पर ५८ पटलों की निम्न विषय-तालिका द्रष्टव्य है––

विषय	पटल	विषय	पटल
१. भूपरीक्षा-विधि	११	२५ द्विशाल-लक्षण-विधि	३७
२ प्रवेशकालविधि	१२	२६ चतुश्शाल-लक्षण-विधि	३८
३ भूपरिग्रह-विधि	१३	२७ वर्धमानशाला-लक्षण	४०
४ भूकर्षण-विधि	१४	२८ स्वस्तिक-विधि	४१
५ शंकुस्थापन-विधि	१५	२९ नन्द्यावर्त-विधि	४२
६ मानोपकरण-विधि	१६	३० पक्षिशालादि-विधि	४३
७. पाद-विन्यास	१७	३१. हस्तिशाला-विधि	४४
८. सूत्र-निर्माण	१८	३२ मालिकालक्षण-विधि	४५
९. वास्तुदेवकाल	१९	३३ लागलमालिका-विधि	४६
१०. ग्रामादि-लक्षण	२०	३४ मौलिकमालिका-विधि	४७
११. विस्तारायाम-लक्षण	२१	३५ पद्ममालिका-विधि	४८
१२ आयादि-लक्षण	२२	३६ नागरादि-विभेद	४९
१३ दण्डकविधि	२४	३७ भूमिलम्ब-विधि	५०
१४. वीथी-द्वारादि-मान	२५	३८ आद्येष्टका-विधि	५१
१५. ग्रामादि-देवता-स्थापन	२६	३९ उपपीठ-विधि	५२
१६. ग्रामादि-विन्यास	२८	४० पादमान-विधि	५३
१७ ब्रह्मदेव-पदाति	२९	४१ प्रस्तार-विधि	५४
१८ ग्रामादि-अगस्थान-निर्माण	३०	४२ प्रासादभूषण-विधि	५५
१९ गर्भन्यास	३१	४३ कण्ठलक्षण-विधि	५६
२० बालस्थापन-विधि	३२	४४ शिखर-लक्षण-विधि	५७
२१ ग्राम-गृह-विन्यास	३३	४५ स्तूपिकालक्षण-विधि	५८
२२ वास्तु-शास्त्र-विधि	३४	४६ नालादिस्थापन-विधि	५९
२३ शाला-लक्षण-विधि	३५	४७ एक-भूम्यादि-विधि	६०
२४ विशेष-लक्षण-विधि	३६	४८. मूर्धनि-स्थापन-विधि	६१

कामिकागम के अतिरिक्त कर्णागम, सुप्रभेदागम, वैखानसागम आदि ग्रन्थों में भी वास्तु विद्या का प्रौढ़ प्रतिपादन प्राप्त होता है। कर्णागम का तालमान बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विवेचन युक्त है। इसमें वास्तु विद्या के लगभग चालीस अध्याय हैं। सुप्रभेदागम की विशेषता संक्षेप-प्रियता है जो वराहमिहिर की बृहत्संहिता के समान संक्षेप में सभी विषयों पर वर्णन करता है। इसमें केवल १५ अध्याय हैं परन्तु विवेचन प्रौढ़ एवं मौलिक है। 'प्रासाद-पटल' में सुप्रभेदागम की विशेष चर्चा द्रष्टव्य है। आगमों की वास्तु-विद्या की रूपरेखा का अलग में अंकन करने की आवश्यकता नहीं। कामिकागम के अगाध वास्तु-सागर की गहराई में प्रायः सभी वास्तु-रत्न प्राप्त हो सकते हैं। उपर्युक्त तालिका से ही विषय वर्गीकरण स्पष्ट है। आगमोक्त वास्तु-विद्या की समीक्षा में यह कहा जा सकता है कि पुराणों की अपेक्षा आगमों का विवेचन न केवल अधिक वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक ही है वरन् सांगोपांग भी है। सम्भवतः ही कोई ऐसा विषय हो जिसकी चर्चा इनमें न हुई हो। इन आगमों की विशेषता यह है कि इनमें शिव की लिंगोद्भव मूर्तियों पर बड़ा ही सांगोपांग वर्णन मिलता है। तालमान की विवेचना इनकी सर्व-प्रमुख देन है। पुराणों में तालमान नगण्य है। इस प्रकार मूर्ति-विज्ञान एवं मूर्ति-कला के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का जैसा समुद्घाटन आगमों में मिलेगा वैसा पुराणों में अप्राप्य है। पुराण प्रतिमा-रूपोद्भावना में वैशिष्ट्य रखते हैं, आगम प्रतिमा-रचना-प्रक्रिया का कौशल सिखाते हैं। अतएव दाक्षिणात्य प्रस्तर-कला में इन आगमों को शिल्पियों की हस्त-पुस्तक (हैंडबुक्स ऐंड गाइडबुक्स) के रूप में माना गया है।

तान्त्रिक वास्तु-विद्या—तन्त्रों के साधना-पथ पर मुड़ने के लिए इतना ही संकेत पर्याप्त है कि जिन तांत्रिक ग्रन्थों का निर्देश किया गया है उनमें वास्तु विद्या का सुन्दर विवरण मिलता है। यहाँ पर विशेष चर्चा नहीं की जा सकती। इस परम्परा के प्रौढ़ एवं अधिकृत ग्रन्थ हयशीर्ष-पंचरात्र पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला ही जा चुका है।

शिल्पशास्त्रीय वास्तु-विद्या—शिल्पशास्त्रीय वास्तु-विद्या की दोनों श्रेणियों (दक्षिणी तथा उत्तरी) के ग्रंथों का निर्देश किया जा चुका है। लेखक के मत में शिल्प-शास्त्रीय ग्रंथों में दो प्रतिनिधि ग्रंथ कहे जा सकते हैं। पहला मानसार और दूसरा

समरांगण-सूत्रधार । विश्वकर्मा-स्कूल का यह प्रामाणिक एवं परिपुष्ट ग्रन्थ है, अतः विश्वकर्म-प्रकाश तथा अपराजितपृच्छा आदि अनेक उत्तरी ग्रन्थो का वास्तव मे यही प्रतिनिधित्व करता है । प्रस्तुत लेखक का वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन विशेष कर समरागण-सूत्रधार का ही अध्ययन है। मानसार की वास्तु विद्या पर डा० आचार्य के ग्रन्थ द्रष्टव्य है। दक्षिणी परम्परा का दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ मयमत है परन्तु मयमत और मानसार मे अत्यधिक समानता के कारण मानसार का ही उल्लेख विशेष उपयोगी है । अतः यहाँ पर दोनों परम्पराओं के इन दो ग्रथो (मानसार एव समरागण) की सक्षिप्त समीक्षा करनी चाहिए।

मानसार—इसके सत्तर अध्यायो में प्रथम आठ अध्याय वास्तुकला के औपोद्घातिक विवेचन से सम्बन्ध रखते है, जिनमे सग्रह (विषयसूची), मान, स्थपति तथा स्थपति के लक्षण, भूमि-चयन, भू-परीक्षा, पद-विन्यास, शकुस्थापन तथा बलिकर्म आदि पर प्रकाश डाला गया है। पुन आगे के ४२ अध्यायो मे (९ से ५० तक) विभिन्न प्रकार के ग्राम, पुर, नगर, दुर्ग के विवरणो के साथ-साथ सन्धि-कर्म, गर्भ-विन्यास, शिलान्यास, स्तम्भ एव स्तम्भावयव, भूमितल (एक से द्वादश तक साधारण भवनो, मन्दिरो तथा राज-भवनो और एक से सत्तरह तक गोपुरो का), विमान, प्राकार, परिखा, गोपुर, मण्डप, शाला, द्वार, प्रागण, तोरण, राजवेश्म, राजप्रकोष्ठ, सिंहासन, मुकुट, रथादि यान तथा भवन-उपस्कर—पर्यंक, शय्या, टेबिल, कुर्सियो, आलमारियो, मजूषा, पिजर आदि के साथ ही मध्यरग, भूषण तथा पोशाक आदि पर विवेचन किया गया है । अन्तिम बीस अध्यायों मे पाषाण-कला (मूर्ति-निर्माण) पर प्रवचन है जिसमे हिन्दू, बौद्ध, जैन मूर्तियो के निर्माण-कौशल के नियमो के साथ-साथ महापुरुषो एव पशुओ और पक्षियो (गरुड आदि) की मूर्तियो की निर्माण-व्यवस्था है। अत इस ग्रन्थ मे वास्तु-कला पर पचास तथा पाषाण-कला पर बीस अध्याय हैं।

मानसार की वास्तु-विद्या की रूपरेखा के निर्देश से ज्ञातव्य है कि इसमे प्रतिपादित वास्तु-विद्या का जो विवरण मिलता है, उसमे प्रौढ दाक्षिणात्य मन्दिर-निर्माण कला के दर्शन होते है। १ से १७ तक की भूमिकाओ (स्टोरीज) वाले गोपुरों की इसी विशिष्टता के कारण श्री तारापद भट्टाचार्य ने इसे मध्य-कालीन (११वी से १५वी शताब्दी के मध्य की) रचना माना है। डा० आचार्य इसे गुप्तकालीन कहते हैं। किन्तु बात यह है कि मानसारीय प्रासाद-कला की दृष्टि से शीघ्रता के साथ यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है। मानसारीय प्रतिमा-कला एक दूसरे ही निष्कर्ष पर ले जाती है, जिससे ऐसी धारणा परिपुष्ट नही हो सकती (दे० लेखक का अँग्रेजी ग्रन्थ 'वास्तु-शास्त्र'', खण्ड द्वितीय) ।

समरांगण-सूत्रधार—उपर्युक्त अनुच्छेदों में भारतीय वास्तु-विद्या के विभिन्न ग्रन्थो की रूपरेखा का जो परिचय प्राप्त हुआ उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तु-विद्या का क्षेत्र शनैः-शनैः व्यापक एव विस्तृत होता चला गया। परन्तु किसी एक ही ग्रंथ में हमे इस विस्तार के दर्शन नहीं होते। किन्हीं में भवन निर्माण एव प्रासाद-निर्माण तक वास्तु-विषय सीमित है, तो किन्हीं में प्रतिमा-निर्माण पर विशेष विस्तार है। कुछ ऐसे भी ग्रथ है, जिनमे चित्रकला तथा तक्षण-कला, रथ इत्यादि तथा दोला आदि पर भी प्रवचन प्राप्त होते हैं। मानसार एव कामिकागम के विस्तृत एव व्यापक वास्तु-विद्या वर्णन मे भी चित्रकला तथा यंत्रकला का सन्निवेश नही है। इस दृष्टि से समरांगण० की देन का हम आभास पा सकते है। परन्तु इस विवेचन मे सर्वप्रथम समरांगण० के प्रतिपाद्य विषयों का अवलोकन ही विशेष समीचीन होगा।

इस ग्रथ मे ८३ अध्याय हैं, लगभग दस हजार पक्तियो में लिखित यही एक ऐसा वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें वास्तु-विद्या के अविकल अगो का सागोपाग विवेचन है। विभिन्न शैलियो के भवनो—साधारण भवन (जनावास-शालभवन), राज-भवन या राज-प्रासाद, देव-भवन (प्रासाद, मन्दिर), विशिष्ट भवन (जैसे सभा-भवन), उपभवन (जैसे गजशाला, वाजिशाला) इत्यादि का वैज्ञानिक, सामाजिक तथा धार्मिक वर्गीकरण एक मात्र इसी ग्रन्थ में प्राप्त होता है। इसका विशेष वर्णन हम 'भवन-पटल' मे करेगे। भवन-वास्तु-विद्या पर इस ग्रन्थ मे लगभग तीन दर्जन अध्याय है। समरागण० का पुरनिवेश बड़ा ही व्यापक है। पुरनिवेश में आजकल के टाउन प्लानर्स रीजनल प्लैनिंग (देश-परीक्षा) पर विशेष जोर दिया करते हैं। उद्यान-नगरों (गार्डेन-सिटीज) की निवेश-प्रक्रिया को लोग "आधुनिक" देन समझते है, परन्तु यहाँ इतना सकेत कर देना असंगत न होगा कि समरागण० के पुर-निवेश मे इन दोनो ही सिद्धान्तों का पूरा ध्यान रखा गया है, जिनका प्रतिपादन 'पुरनिवेश पटल' मे विशेष रूप से किया जायगा।

पुरनिवेश एव भवन-निवेश के व्यापक सिद्धान्तीय दिग्दर्शन के पश्चात् समरांगण० के प्रासाद-वास्तु (टेम्पिल आर्कीटेक्चर) के विषय में इतना सकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि इस विषय का इतना सुन्दर एव विस्तृत निरूपण अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रन्थ का लगभग आधा भाग प्रासाद-रचना पर है। भारत की पूर्व-सकेतित दो प्रमुख शैलियों (उत्तरी अथवा नागर शैली तथा दक्षिणी अथवा द्राविड शैली) के अतिरिक्त उस समय तक विभिन्न जनपदों तथा वास्तु-केन्द्रो में विकसित अन्य शैलियो–जैसे वावाट (वैराट), भूमिज एवं लाट (लतिन) आदि के न केवल बहु-संख्यक प्रासादों का ही इसमें प्रौढ़ प्रतिपादन है वरन् विभिन्न प्रासाद-जातियो के साथ

साथ स्मारकों (मानूमेंट्स) मे प्राप्त विभिन्न प्रासादो, जैसे अजन्ता और एलोरा के गुहा-मन्दिर (समरागण० इन्हे लयन, गुहा-राज आदि नामो से पुकारता है) तथा स्तम्भ-बहुल छाद्य-प्रासाद एव शिखरोत्तम प्रासाद (भुवनेश्वर तथा खजुराहो), बहु-भूमिक प्रासाद (तजौर, मामल्लपुर आदि) आदि अनेक स्मारक-निदर्शन-सूचक प्रासादों—का भी वर्णन मिलता है । इस प्रकार यह ग्रन्थ न केवल मध्य-कालीन वास्तु कला (विशेष कर प्रासाद-वास्तु) का एक प्रामाणिक एव अधिकृत ग्रथ है अपितु उस काल तक की वास्तु-कला की विकसित परम्पराओ का प्रकाशक दर्पण भी है ।

मध्यकाल तक विकसित वास्तु-विद्या के आधे दर्जन प्रधान विषयो मे से तीन (भवन, पुर एव प्रासाद) की तो स्थूल समीक्षा हो चुकी, अब प्रतिमा-विज्ञान पर, जो पुरातन काल से वास्तुविद्या का प्रमुख विषय रहा है, किंचित् विचार कर लेना उपयुक्त होगा । इस ग्रन्थ मे अगस्त्य के सकलाधिकार के समान प्रतिमा विवेचन उतने विस्तृत रूप से नही मिलेगा, यद्यपि इस विषय पर लिखित लगभग १४ अध्यायो मे प्रतिमा-विज्ञान के प्राय सभी प्रधान अगो पर प्रकाश डाला गया है । परन्तु प्रतिमा-विज्ञान के सम्बन्ध मे समरागण० की एक विशेष देन यह है कि यह चित्रकला का बड़ा सुन्दर विवेचन करता है । 'विष्णु-धर्मोत्तर' पुराण, 'चित्रलक्षण' तथा 'अपराजित-पृच्छा' को छोडकर अन्यत्र किसी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ मे चित्रकला-विवेचन अप्राप्त है । प्रतिमा-विज्ञान की व्यापक कल्पना मे हम प्रतिमाओ को दो प्रधान वर्गों मे बाँट सकते हैं—द्रव्य-प्रतिमा (मृन्मयी, लौहमयी, ताम्रमयी, रजत-मयी, स्वर्णमयी, रत्नमयी, गन्धमयी आदि) तथा चित्र-प्रतिमा । वैसे तो अन्य ग्रन्थो मे प्रतिमाओ के वर्गीकरण मे चित्र (आलेख्य) का समावेश पाया ही जाता है, परन्तु चित्र-कला पर सागोपाग वैज्ञानिक वर्णन का कौशल प्राप्त शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो मे इसी ग्रन्थ की विशेषता है ।

लेखक के 'भारतीय वास्तु-शास्त्र' मे समरागण० के व्यापक वास्तु-विषय (स्कोप) पर विशेष प्रकाश डाला गया है, उसी के अनुरूप इस निबन्ध मे यत्रकला पर एक बडा अध्याय है । इस अध्याय मे प्राप्त सामग्री से भारत की विकसित यन्त्र-विद्या का अनुमान लगाया जा सकता है । उपलब्ध वास्तु-शास्त्रीय एव अ-वास्तु-शास्त्रीय दोनों ही प्रकार के ग्रथो मे यत्र-निर्माण पर, यन्त्रो के विभिन्न वर्गों आदि पर कहीं कुछ भी सामग्री नही है । इस दृष्टि से यह ग्रन्थ एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है । यन्त्र विद्या की विशेष समीक्षा 'यन्त्र-पटल' मे द्रष्टव्य है । इस ग्रथ मे यत्रो के साथ-साथ भवन-उपस्कर (फर्नीचर), जैसे शय्या तथा आसन आदि पर भी

एक अत्युपयोगी अध्याय है, जिससे स्थपतियो की विभिन्न कोटियो मे काष्ठकार (बढ़ई, तक्षक अर्थात् स्थपति-कोटि-चतुष्टयी) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है यह सिद्ध होता है।

वास्तु विद्या के इन प्रतिनिधि ग्रन्थो की अति सूक्ष्म समीक्षा के उपरान्त यहाँ पर इतना सकेत और करना है कि पुराणो, आगमो एव तन्त्रो मे वास्तु-विद्या का प्रति-पादन तो चल ही रहा था, साथ ही साथ शिल्प-शास्त्र पर मौलिक ग्रन्थो की रचना भी होती रही। स्थानाभाव से उन सभी ग्रन्थो की यहाँ समीक्षा नही हो सकी। आगे के अध्यायो मे प्राय सभी प्रमुख ग्रन्थो का सकेत मिलेगा। तथापि इन प्रमुख ग्रन्थो मे कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ, जैसे अपराजितपृच्छा, सूत्रधार-मण्डन, श्रीकुमार का शिल्परत्न आदि विशेष स्मरणीय है, जिनमे वास्तु-विद्या का सुन्दर एव सुसस्कृत प्रतिपादन है। अगस्त्य का 'सकलाधिकार' ग्रन्थ प्रतिमा-निर्माण पर बडा ही प्रौढ विवेचन करता है। 'काश्यपीय-शिल्प' अथवा अशुमद्भेद दक्षिणी वास्तु-विद्या का लोक-प्रिय ग्रन्थ है। अर्वाचीन समय मे भी मूर्ति-निर्माता कारीगरो की यह हस्त-पुस्तक (हैन्डबुक) है। 'साउथ इडियन ब्राजेज' मे श्रीयत गगोली लिखते है कि दक्षिण के सभी पाषाण-कोविदो का यह आज भी एक सर्वसाधारण प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है। नवीन जिज्ञासु कला-शिष्यो को आज भी इसके श्लोक कठाग्र कराये जाते है। इसमे मूर्ति-निर्माण एव मूर्ति-मापन आदि के नियम सगृहीत है। ग्रथ भी विशालकाय है। समरागण-सूत्रधार के समान इसमे भी ८३ अध्याय (पटल) है। यहाँ पर स्थाना-भाव से स्वल्प मे भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के विहगावलोकन का प्रयास किया गया है। इस विषय का एक विस्तृत एव व्यापक अवलोकन हमारे अँग्रेजी ग्रन्थ 'वास्तु-शास्त्र' के प्रथम खण्ड मे देखना चाहिए।

द्वितीय पटल

पुर-निवेश

१

नगर-वास्तु

[पूर्व-पीठिका]

इस पटल के विषय-प्रवेश मे यह सकेत कर देना समुचित प्रतीत होता है कि यद्यपि इस पटल का "पुरनिवेश" नाम दिया गया है, तथापि पुर के पर्याय नगर और नगर के भेद पत्तन, पुटभेदन, खेटक, खर्वटक, ग्राम, दुर्ग आदि भी पुर-निवेश के विशाल क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। अत. उनके निवेश सम्बन्धी विशेष नियमो और उनके विकास से सम्बन्ध रखने वाले वास्तुतत्त्व, सामाजिक, राजनीतिक एव धार्मिक घटकों का विवेचन करना इस पटल की पूर्णता के लिए परमावश्यक होगा।

आर्यो का जीवन अत्यन्त सरल था। उनके छोटे-छोटे भवन, छोटे-छोटे ग्राम थे। आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। जब कुछ समय पश्चात् लोगों को शिक्षा, आराधना, व्यवसाय, वाणिज्य तथा अन्य अभीष्ट कार्यो के सम्पादनार्थ किसी ग्राम-विशेष अथवा स्थान-विशेष से सामान्य सम्बन्ध बनाये रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई तो कालान्तर मे वह ग्राम अथवा स्थान महान् नगर के रूप में परिवर्तित हो गया। 'नगर' एव 'नागरिक' दोनो शब्द एक दूसरे के उद्बोधक है। जैसे नागरिक होगे वैसी ही नगर के विकास एव उसकी वृद्धि की सम्भावना होगी। सच तो यह है कि नगर एक प्रकार से नागरिको की सस्कृति एव सभ्यता दोनो का एक जागरूक चित्र होता है। जिस प्रकार के नागरिको की बहुलता एव प्रमुखता होगी, जैसी उनकी रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार, वाणिज्य तथा व्यवसाय होगा, वैसी ही छाप उस नगर पर, जिसके कि वे नागरिक है, अनिवार्य रूप से पडेगी। भारत के प्राचीन प्रसिद्ध नगरो को देखिए; उदाहरण के लिए नालन्दा का विकास गुरु-गृह, मुनि-कुटीर अथवा साधारण साधु-उटज से हुआ था। शनै-शनै. विद्या और विनय, आचार तथा ज्ञान, धर्म और सस्कृति—इन आधार-शिलाओ पर एक महान् नगर—विश्व-विद्यालयीय नगर—यूनिवर्सिटी टाउन का जन्म हुआ।

वेदो मे भी हमे नगर-निर्माण एव नगर-निवेश के प्रोज्ज्वल दर्शन होते है, जिनसे वैदिक काल की नागरिक सभ्यता तथा विकसित रहन-सहन के तरीको पर

पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वैदिक युग काफी सभ्य एवं समृद्ध था—यह तो सभी मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते है। वेदो मे वसति, पुर, दुर्ग एवं भवन सम्बन्धी विभिन्न सकेतो से तत्कालीन वास्तु-विकास के प्रबल प्रमाण प्राप्त होते है। तब नगर-निवेश के नियमों का भले ही सम्यक् प्रचार न हो पाया हो, किन्तु जहाँ तक नगर-निर्माण एवं नगर-विकास का सम्बन्ध है, उसके सुदृढ़ एवं सुस्पष्ट निदर्शनो का अभाव नही है। दत्त महाशय के शब्दो मे (दे० 'टाउन प्लानिग इन ऐशेट इडिया') "निश्चय ही वे लोग जो लौहदुर्गों का निर्माण कर सकते थे, स्तम्भबहुल विशाल भवनो के निवेश मे दक्ष थे तथा सुदीर्घ पुरों का विन्यास कर सकते थे, वे निश्चय ही नागरिक कलाओ के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य नही कहे जा सकते।"

इसके अतिरिक्त वेदिक-इडेक्स के परिशीलन से भी यही तथ्य निकलता है। मैक्डानल तथा कीथ महाशयो के इसी इडेक्स मे वैदिक 'पुर' पर जो प्रकाश डाला गया है वह वैदिक नगरो के विषय मे भी चरितार्थ होता है। परन्तु यह दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि ये दोनो विद्वान् इन पुर-सम्बन्धी बहुल सकेतो के होते हुए भी कहते है—"आन दि होल इट इज हार्डली लाइक्ली दैट इन अर्ली वेदिक टाइम्स सिटी-लाइफ वाज मच डेवेलप्ड।" अर्थात् साराशत यह कहना बहुत कम सभव है कि आदि वैदिक युग मे नागरिक जीवन विकास एव समृद्धि का प्राप्त हो चुका था। वैदिक 'पुर' वाचक शब्दो के पीछे 'पृथ्वी' (चौडे), 'उर्वी' (विस्तृत) 'आयसी' (लौहमय), 'शारदी' (शरद ऋतु-सम्बन्धी), 'शत-भुजी' (शत भित्ति वाले अथवा शत स्तम्भो वाले) ऐसे विपुल सकेतो के होते हुए भी वैदिक जीवन की ग्रामीणता सिद्ध करना कहाँ तक सगत है? वास्तव मे वैदिक जीवन ग्रामीण तो था ही, नागरिक भी कम न था।

ग्राम और नगर—दोनो का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सच तो यह है कि ग्राम तथा नगर का भेद परिमाण मात्र का है। साधारण छोटे-छोटे ग्राम ही कालान्तर में वाणिज्य, व्यवसाय, शिक्षा-स्थल अथवा तीर्थस्थान आदि विभिन्न सस्कृति एव सभ्यता के मूल कारणो के होने से विशाल नगरो मे परिणत हो जाते है। उत्तर-वैदिक काल एव सूत्र-काल मे भी वैदिक सभ्यता की ही प्रबल छाप रही। आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का सुसम्बद्ध इतिहास गौतम बुद्ध के जन्म के समय से, ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व आरम्भ होता है। महात्मा बुद्ध के समय मे भारत मे राजगृह, साकेत, वाराणसी, कौशाम्बी, मथुरा, मिथिला, उज्जयिनी, वैशाली आदि विभिन्न नगरो (दे० राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इडिया, पृ० ८२) के प्राप्त सकेतो से तत्कालीन नगर-निवेश के विकास तथा भारतीय नगरो की प्राचीनता का आभास ही नही पुष्ट प्रमाण भी मिल

जाता है। क्योंकि इन सभी नगरों के विकास की अपनी एक कहानी होगी जो कालान्तर में—बुद्ध के समय सुविकसित एवं समृद्ध नगरों में परिणत हो गये थे। राइस डेविड्स महाशय के मत में नगर-निवेश की रूपरेखा का यद्यपि पूर्ण पता नही प्राप्त होता है परन्तु उत्तुग भित्तियो, परिखाओ एव प्राकारो के वर्णन एव उनके द्वारा सुरक्षित नगरो के विवरणों से अवश्य निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक बड़े-बडे नगरो का निर्माण हो चुका था तथा उनके रक्षार्थ उनके चारो ओर प्राकारो, परिखाओ तथा उत्तुग भित्तियो का निर्माण किया जाता था। दुर्ग-निर्माण तो वैदिक युग में ही काफी सुसमृद्ध हो गया था।

महागोविन्द नामक एक वास्तुविद् ने गिरिव्रज नामक साढे चार मील की परिधि मे एक दुर्ग बनाया था—यह राइस साहब ने लिखा है (दे० बुद्धिस्ट इडिया)। इसके अतिरिक्त बुद्ध के समकालीन प्रसिद्ध राजा बिम्बसार ने राजगृह नगर का तीन मील मे निवेश किया था। इन उपर्युक्त नगरो के सम्बन्ध मे जो चर्चा की गयी है वह 'दिग्घ-निकाय' (१९ ३६) नामक प्रसिद्ध बौद्ध ग्रंथ के निम्न पद्य से सुस्पष्ट है—

दन्तपुरं कालिंगानामस्सकानां च पोतनम्।
महिस्मती अवन्तीनाम् सोवीरानां च॥
मिथिला च विदेहानाम् चम्पा अंगेषु माहिता।
वाराणसी च कासीनाम् एते गोविन्द-मापिता॥

बौद्ध-साहित्य मे यद्यपि नगर-निवेश के नियमो के विपुल विवरण पर्याप्त सख्या मे नही प्राप्त होते है तथापि अन्य वास्तु-सम्बन्धी जो विवरण मिलते है उनसे तत्कालीन नगर-निर्माण-कला एव नगर-निवेश (टाउन-प्लानिंग) के विकास एव वृद्धि का पक्का अन्दाज लगाया जा सकता है। बौद्ध-साहित्य भवन-निर्माण-विवरणो से इतना ओत-प्रोत है कि बहुत से स्थल वास्तु-शास्त्रीय सन्दर्भ से प्रतीत होते हैं। इन स्थलो की सूचना हम पहले ही दे चुके है। बौद्धारामो एव बौद्ध-विहारो की करुणा और शान्ति, अहिंसा और सत्य, सरलता तथा सौजन्य की गाथा गानेवाले इन वास्तु-विवरणो के निर्देश के उपरान्त अब थोडा सा रामायण और महाभारत मे भी भ्रमण करना चाहिए।

रामायण के विषय मे 'सिविक्स एण्ड नेशनल आइडियल्स' नामक पुस्तक में सुश्री भगिनी निवेदिता लिखती है (पत्र ६-७)—"वाल्मीकि के इस काव्य में बहुत सम्भव है अथवा सत्य ही है कि कवि की अपनी अतिप्रिया अयोध्या महानगरी के पूर्व नृपो के पौराणिक आख्यानो के सजीव चित्रो का चित्रण तद्विषयक श्लाघातिशय के कारण तो नही प्रादुर्भूत हुआ (अर्थात् रामायण की रचना का कारण वाल्मीकि की

प्रिय नगरी अयोध्या की प्रशसा है) । अयोध्या तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु के वर्णन मे कवि की रागात्मिका प्रवृत्ति एव तज्जन्य आह्लादातिशय का पूर्ण आभास मिलता है । उत्सवविशेष के अवसरो पर अयोध्या-सौन्दर्य मे कवि विभोर हो जाता है । अयोध्या के प्रासादो, तोरणो एव अट्टो मे कवि अपने को विस्मृत कर देता है । वाल्मीकि की नागरिक-प्रियता अयोध्या तक ही नहीं सीमित है । लका के वर्णन को लीजिए । यहाँ पर कवि की नागरिकता का चरमोत्कर्ष देखने को मिलेगा । हनुमान के प्रति लका-द्वार-रक्षिका लंकिनी के ये वचन "अह हि नगरी लका स्वयमेव प्लवगम" वास्तव मे भारतीय नागरिकता-द्योतक शब्दो मे अपना शानी नही रखते ।"

रामायण मे इतस्तत नगर-विवरणो की इतनी भरमार है जिससे तत्कालीन नागरिक सभ्यता एव नगर-निर्माण-कला के पूर्ण विकास का पता लगता है । डा० आचार्य के शब्दो मे (दे० इडियन आर्कीटेक्चर एकार्डिग ट् मानसार, पृ० १७) "अयोध्या की नगर-निवेश-रूपरेखा मानसारीय तथा अन्य शिल्प-शास्त्रीय ग्रथो मे प्रतिपादित नगर-निवेश के हूबहू समान प्रतीत होती है । रामायण के प्रथम सर्ग (१. ५. १०-१५) तथा तृतीय सर्ग (लकावर्णन) को देखिए ।" हाप्किस महाशय भी यही लिखते है— (दे० जे० ए० ओ० एस०, १३ "नगर") अर्थात् महाभारत एव रामायण मे वर्णित नगर-निवेश के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि वहाँ राजा, राजकुमारो, प्रधान अमात्यो, पुरोहितों तथा सेनानायको के महल तो निर्मित होते ही थे, साथ ही साथ साधारण आवासभवन (जिनमे मध्यम वर्ग के नागरिको के अपेक्षाकृत बडे घरो मे विभिन्न प्रकार तथा प्रागण भी होते थे) तथा इन विशाल प्रासादो के अतिरिक्त विभिन्न सभागृह, स्थानक-मण्डप तथा व्यवसाय-वीथियाँ (स्वर्णकार तथा अन्य विभिन्न कलाकारो की कार्यशालाएँ) भी विद्यमान थी ।

इस प्रकार महाकाव्य-कालीन नगर-विकास एव नागरिक जीवन के अत्यन्त प्रोज्ज्वल रूप के लिए दो राये नही हो सकती । राजेन्द्रलाल मित्र महाशय इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर अपने 'इन्डो आर्यन' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे (दे० पृ० २१-४) लिखते है—"देवायतन, सभा, प्रासाद, शिविर तथा विमान आदि विभिन्न एव विपुल-सख्यक वास्तु-शब्दो को बार-बार इन वर्णनो (अयोध्या वर्णन) मे देखकर किसको उस समय की अत्यन्त विकसित नागरिक वास्तुकला (नगर-निवेश-क्रम) का पूर्णाभास नही प्राप्त होगा ? क्या ये शब्द जो अत्यन्त उदीयमान वास्तुकला के अभिव्यजक है कभी छप्पर वाले मकानों अथवा झोपडियो के लिए भी प्रयुक्त किये जा सकते है ? ऐसे नगर-विवरणो को काल्पनिक अथवा कविकल्पना की उड़ान कहना कहाँ तक न्यायसगत है ?" स्थानाभाव के कारण महाभारत के सम्बन्ध में इतना

ही कहना पर्याप्त होगा कि महाभारतीय कला की भी यही कथा है। द्वारका आदि महानगरियो एवं इन्द्रप्रस्थ आदि अत्यन्त प्रसमृद्ध नगरो के वर्णन से भी उपर्युक्त रामायण-निष्कर्षो की पुष्टि होती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र की प्राचीनता के विषय मे पुष्ट प्रमाणो से विद्वानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि कौटिल्य का समय ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी आता है। अत. रामायण एवं महाभारत के काल की नागरिक सभ्यता एव नगर-जीवन की पुष्टि तथा नगर-निवेशोपक्रम की सुविकसित रूप-रेखा की यथार्थता कौटिलीय अर्थशास्त्र से आपाततः ज्ञात हो ही जाती है। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रथ मे वास्तु सिद्धान्तो एव उनके विवरणों पर लगभग सात अध्याय हैं जिनमें नगर-निवेश (टाउन प्लानिंग) के विवरणो की भरमार तो है ही, साथ ही दुर्ग निवेश, शिविर-गृह एव वास-गृह आदि पर भी अत्यन्त सुसमृद्ध सामग्री मिलती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र की इस विपुल वास्तु-सामग्री का यत्र-तत्र यथोचित स्थानो मे प्रयोग किया जायगा, अत आगे बढना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय पुरो के विकास एव पुर-विषयक वास्तु-कलात्मक सामग्री प्रचुर परिमाण मे प्राप्त होती है जिससे भारतीय पुरो की प्राचीनता तथा तत्सम्बन्धी वास्तु-तत्त्व-विवरणो की सत्यता मे सदेह नही किया जा सकता।

भारतीय नगर-विकास

अभी तक हम नगर-निर्माण एव नागरिक जीवन-सम्बन्धी प्राचीनता के द्योतक विशाल पुरातन साहित्य के कतिपय स्थलो का दर्शन कर रहे थे। अब हम नगर-विकास के कारणो पर थोडा सा ध्यान देगे। नगरो की उत्पत्ति कैसे हुई ? उनके विकास तथा उनकी वृद्धि के कौन-कौन साधन प्रस्तुत हुए ? इन प्रश्नो पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

वैसे तो नगर-विकास को हम दो दृष्टियो से माप सकते हैं। कुछ नगर ऐसे हैं जो अपने आप स्वत विकसित हुए है तथा इसके विपरीत कुछ किसी व्यक्तिविशेष, सस्था-विशेष अथवा व्यवसाय-विशेष के आश्रय मे विकास को प्राप्त हुए। परन्तु ये दोनो मत सर्वांश मे सत्य नही है। सम्भवत कोई भी प्राचीन नगर ऐसा नही जो पूर्णरूप से स्वत विकसित हुआ हो अथवा जो अविकल किसी दूसरे के आश्रय से पनपा हो। प्रत्येक नगर के विकास में अपना-अपना व्यक्तित्व छिपा हुआ है, परन्तु अन्य विकास-घटक भी रहे हैं। बहुत से नगर कुछ ग्राम-समूहों के पारस्परिक आदान-प्रदान, जैसे हट्ट, तालाब, सरिता, मन्दिर, कूप आदि के आश्रय से कालान्तर मे स्वत एक विशाल नगर मे परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार के विकास को हम प्रथम कोटि मे रख सकते हैं। इसके विपरीत किसी राजा की राजधानी के लिए अथवा शिक्षा-

संस्था की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए बड़े-बड़े नगरों के निर्माण प्राचीन भारत के सुन्दर निदर्शन है यह ऐतिहासिको से छिपा नही है। अत. भारतीय नगरो के ऐतिहासिक अनुसधान मे इन दोनो प्रकार के नगरो की कमी नही है। समरागण-सूत्रधार के 'नगरादि सज्ञा' नामक १८वे अध्याय में निम्नलिखित शब्द पुर के पर्यायों मे परिगणित किये गये हैं—

नगर	पुष्कर	सदन
मन्दिर	साम्परायिक	सद्म, साम्परायिक
दुर्ग	निवास	क्षय तथा क्षितिलय

इन पर्यायो मे नगर के विभिन्न श्रेणी वाले विकास-बीज छिपे हुए है। यहाँ पर केवल इतनी ही सूचना आवश्यक है कि सम०सूत्र० वास्तु-शास्त्र का ग्रथ है, कोश नही है जो कि बिना प्रयोजन इन पर्यायो की अवतारणा करता। हमारी समझ में इन पर्यायो मे ग्रन्थकार ने नगर की विविध विकास-परम्पराओ की सूचना दी है। सदन, सद्म, क्षय, निवास, भवनवाची है, अत भवनसमूह साधारण ग्राम के विकास की ओर इगित करते हैं। मन्दिर, दुर्ग एव पुष्कर मे मन्दिर-नगर, दुर्ग-नगर तथा जलाशयवर्ती नगरो का बोध होता है—यह विशेष रूप मे आगे समझ मे आ सकेगा।

भारतीय नगर-विकास की परम्परा मे प्रचलित 'शब्दकल्पद्रुम' के निम्नलिखित पर्यायो का बडा महत्त्व है। इन पुर-पर्यायो के अनुसधान से भारतीय नगर-विकास की अविकल विशेषताएँ दृष्टि के सामने नाचने लगती है, यथा—

हट्टादिविशिष्ट स्थान, बहुग्रामीय व्यवहार स्थान, पुर, पुरी, नगर,
पत्तन, स्थानीय, कटक, पट्ट, निगम, पुटभेदन।

हट्टादिविशिष्ट स्थान—अर्थात् हट्ट, बाजार आदि विशिष्ट स्थान जहाँ हो उस स्थान को भी पुर कहा गया है। परन्तु एक बाजार के स्थान को पुर की सज्ञा कैसे मिली यह प्रथम दृष्टि में जरा कम समझ मे आयेगा। किसी विशेष भूभाग मे पास ही पास चतुर्दिक् छोटे-छोटे गाँव फैले हुए है। ग्रामीणो की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन ग्रामो के केन्द्रस्थान मे एक हट्ट की स्थापना हुई। वही पर सब ग्रामीण किसी दिन-विशेष पर जुटने लगे। दूकाने पहले यो ही आती तथा चली जाती होंगी। कालान्तर मे व्यवसायियो तथा वणिको के व्यापार मे वृद्धि होने से वे ही दूकाने जगम से स्थावर हो गयी—दूकाने बनने लगी। इस प्रकार वह नैमित्तिक हट्ट समय पाकर एक नैत्यिक हट्ट मे परिवर्तित हो गया। पुन वणिको ने अपने आवास-भवन बनाये। सुविधा तथा आकर्षण से और लोगो ने भी वहाँ आवास-भवनो का निर्माण किया। चारो ओर ग्राम बिखरे हुए ही थे। कालान्तर मे सब गाँव तथा

वह केन्द्रस्थित हट्ट मिलकर एक बृहत् नगर में परिणत हो गये। इस प्रकार एक हट्ट से एक पुर का विकास हो गया।

बहुग्रामीय व्यवहार-स्थान—यह शब्द पहले पर्याय हट्टादि-विशिष्ट स्थान के साधारण स्वरूप को व्यापक स्वरूप देने के लिए कोशकार ने लिखा होगा, जिसका तात्पर्य यहाँ लेन-देन से है। बाजार में न केवल लोग खरीदने ही आते होंगे–अपने अर्जित अन्न आदि द्रव्य को बेचने भी आते होंगे, जैसा आजकल भी देहाती बाजारो में देखने को मिलता है। प्रसिद्ध प्राचीन नगर 'सप्तग्राम' ऐसे तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। सप्तग्राम बहुत समय तक एक व्यवसायी केन्द्र—व्यवहार-वीथी रहा, जहाँ दूर-दूर के व्यवसायी आते थे, वाणिज्य करते थे, रहने भी लगे थे। सप्तग्राम तथा वे व्यवसाय-वीथियाँ मिलकर एक विशाल नगर के निर्माण में सहायक हुए।

पुर एवं पुरी—पुर के इन दो पर्याओ की जो गाथा है उसके अन्तस्तल मे कोई विशेष इतिहास तो नही छिपा है, परन्तु सम्भवतः पुरी उस नगर अथवा पुर का नाम है जो अपनी परम्परागत प्रसिद्धि, पावनता एव गौरव की अभिव्यजक होती है। यह प्रसिद्धि अथवा गरिमा किसी तीर्थस्थान, मन्दिर, विद्यापीठ अथवा राजपीठ के कारण प्राप्त होती है। प्राचीन भारत के बडे-बडे नगरो की आत्म-कथा में सबसे बडा योग तीर्थस्थानो, मन्दिरो, राजपीठो, विद्यापीठो अथवा पुण्य-सरिताओ ने दिया है। नालन्दा, तक्षशिला, नैमिषारण्य, नवद्वीप, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र आदि अति प्रसिद्ध प्राचीन पुरियो की गाथा मे एक-एक पर अलग-अलग विशालकाय ग्रथो का निर्माण किया जा सकता है।

पत्तन—पुर-विकास के प्रतीक पाँचवें पर्याय 'पत्तन' की भी यही कहानी है, उसके विकास मे व्यवसाय तथा वाणिज्य यानी मनुष्य की अत्यन्त अनिवार्य आर्थिक आवश्यकता के बीज छिपे हुए है। वाणिज्य-व्यवसाय को अन्तर्देश तथा विदेश मे फैलाने के लिए बडी-बडी सरिताओ तथा समुद्रतटो ने बडा योगदान किया है। ससार के विभिन्न देशों मे सर्वत्र समान रूप से यह देखा गया है कि इस प्रकार के वाणिज्य-केन्द्र कालान्तर मे बड़े-बडे व्यावसायिक नगरो में परिणत हो गये। बहुत पुरानी परम्परा है कि विभिन्न जातियाँ किसी स्थानविशेष पर वाणिज्य के लिए एकत्रित होती थी, पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए विचारविमर्श भी करती थी तथा अपने-अपने माल (कच्चे और पक्के) के लिए सर्वसाधारण दूर-दूर के बाजारो मे व्यापार-विनियोग की योजना बनाती थी। यह स्थान प्राय. किसी बड़ी सरिता के तट पर अथवा समुद्र के किनारे होता था। आधुनिक हावडा-हाट इसका ज्वलन्त उदाहरण है, इसी प्रकार चटगाँव भी है। प्राचीन भारत का बृहत् व्यावसायिक नगर सप्तग्राम भी यही

तथ्य चरितार्थ करता था। 'पत्तन' शब्द की परिभाषा से भी यही निष्कर्ष निकलता है। दक्षिणी परम्परा के 'मयमत' शिल्पशास्त्र मे पत्तन के सम्बन्ध में ऐसा ही लिखा है (१०, २८-२९)—

"पत्तन' उस नगर को कहते थे जहाँ अन्य विभिन्न द्वीपो से आये हुए विभिन्न वस्तु-वर्ग एकत्रित किये जाते थे तथा जहाँ भिन्न-भिन्न जातियो के लोग रहते थे। वहाँ पर वाणिज्य तथा व्यवसाय का विशेष बोलबाला था। क्रय-विक्रय का पूर्ण प्रसार तथा रत्न, धन, धान्य, रेशमी वस्त्र, गन्ध-द्रव्यो का प्राचुर्य पाया जाता था। ऐसा नगर सागर-तट के निकट स्थित होता था।" श्री वेकटराम अय्यर महोदय ने 'टाउन प्लानिग इन ऐशियेट डेकन' नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे पत्तन के निदर्शन मे 'कावेरी-पत्तनम्' नामक प्राचीन नगर का वर्णन किया है। सागरतीर स्थित व्यावसायिक केन्द्र बन्दरगाहो के अतिरिक्त व्यवसायसुलभ मार्गों पर भी प्राचीन भारत मे कई नगर निर्मित हुए। भारत के तक्षशिला नामक प्रसिद्ध नगर का विकास इसी व्यावसायिक सुविधा से सम्पन्न हुआ।

पुटभेदन तथा निगम—सागर तट के समान या उससे भी अधिक सरिताओ के तटो ने भी नगरो के विकास मे बडा योग दिया। भारत मे सरिताओ के तट न केवल प्राचीन विद्यापीठीय नगरो या सभ्यताप्रसार के लिए प्रसिद्ध रहे, वरन् व्यावसायिक नगरों के विकास के लिए भी सर्वोत्तम सिद्ध हुए। प्राचीन काल मे आदान-प्रदान, यातायात, सूचना तथा सवहन आदि के लिए सरिताओं के मार्ग ही एकमात्र अवलम्ब थे। यातायात एव यात्रा (ट्रांस्पोर्ट एण्ड लोकामोशन) के साधन भी सरिताएँ थी यह भी अविदित नही है। इन्ही विशेषताओ के कारण ये सरिताएँ अपने देशविशेष के आन्तरिक व्यवहार, व्यवसाय एव व्यापार की सहायिका तो थी ही, साथ ही ये देश के बहिर्मार्गों के साथ भी सम्पर्क स्थापित करने मे निमित्त बनी, जिससे ससार मे एक देश से दूसरे देशो मे व्यवसाय एव वाणिज्य का प्रसार सम्भव हो सका, तथा कालान्तर मे सरिताओ के तट बडे-बडे नगरो के जन्म देने मे साधन बन सके। हम जानते है कि भारत मे आर्यो के उपरान्त उनके प्रभुत्व एव सभ्यता के प्रसार मे सिन्धु एव गगा ने कितना बडा योगदान किया। सरिताओ ने ही आर्य सभ्यता के प्रसार मे मार्गप्रदान किया। यही कारण है कि व्यावसायिक केन्द्र-स्वरूप विभिन्न बडे नगरो के अलावा प्राचीन भारत के बडे-बडे नगर सरिताओ के तट पर ही निर्मित हुए। ये नगर प्रायः सरिताओ के दक्षिण कूल पर बसाये गये, जैसी कि शास्त्रो की आज्ञा है। आजकल भारत के कुछ नगर, जैसे कलकत्ता आदि, जो इस नियम के अपवाद है उसका कारण उनके स्थापन मे अहिन्दू सस्कृति एव प्रभुता कारण है। सरितातट पर निर्मित नगरो

के लिए पुटभेदन शब्द का प्रयोग किया गया है तथा व्यवसाय केन्द्रो के लिए निगम शब्द का।

'शब्दकल्पद्रुम' के नगरपर्यायो में अभी तक जिनकी समीक्षा नही हो पायी है उनमे केवल तीन और अवशिष्ट हैं—स्थानीय, कटक तथा पट्ट। इन तीनो का रक्षा से सम्बन्ध है; स्थानीय का अर्थ दुर्ग-विशेष है। कटक का अर्थ शिविर स्पष्ट ही है। पट्ट का पार्वत्यप्रदेश अथवा पर्वताकीर्ण मार्ग से सकेत है।

स्थानीय एवं कटक—जैसा पहले हम देख चुके है, इनके सम्बन्ध मे भी विकास सिद्धान्त लागू होता है। सर्वप्रथम राजा की ओर से देश के शासन की सुविधा के लिए विभिन्न उपयुक्त प्रदेशो में सैन्य-शिविर या फौजी पडाव पडे रहते थे। पुनः ये सैन्य-स्थल (मिलिटरी आउटपोस्ट्स) कालान्तर मे नगरों के विकास मे सहायक होने लगे। बहुत से प्राचीन नगर जिनके नामकरण में कटक अथवा कोट जुड़ा हुआ है, वे इस तथ्य के उदाहरण हैं, जैसे स्यालकोट, नगरकोट, मगलकोट आदि। उन विभिन्न नगरो के विकास की यही कहानी है।

मन्दिर तथा विद्यापीठीय नगर—मन्दिर, विद्यापीठ तथा ग्रामो के सम्बन्ध मे अभी तक सकेत मात्र ही हुआ है। इनकी कुछ अधिक विवेचना आवश्यक है। सर्वप्रथम मन्दिर के दर्शन करे। प्राचीन भारत के नगरो के इतिहास पर यदि हम ध्यान दे तो पता चलेगा कि बहुत से प्राचीन नगर मन्दिर-स्थानो के विकास-मात्र है। ससार के अन्य देशो मे भी प्राचीन नगरो की यही कथा है। परन्तु भारतवर्ष मे तो यह कथन कि "टेम्पिल वाज ए सिटी इन मेकिंग" अर्थात् मन्दिर की स्थापना हुई नही कि नगर बस गया, सर्वाश मे चरितार्थ देखा गया है। मन्दिर शब्द 'देवतायतन' का वाचक है, साथ ही उसके दो अर्थ और है—भवन तथा नगर। 'सम-रागण०' ने (१८वाँ अध्याय) नगरपर्यायो मे मन्दिर शब्द का प्रथम उल्लेख किया है यह हम देख चुके है। यह तो वास्तु-शास्त्र की बात हुई। अमरकोश तथा अन्य कोशो मे भी मन्दिर शब्द भवनवाचक है। मन्दिर-नगरो का विकास स्वत. विकसित नगरों मे आता है। मन्दिर शब्द की इस पुरातन वास्तु-परम्परा का प्रभाव तमिल-साहित्य मे भी परिलक्षित होता है। तमिल 'नकर' शब्द न केवल नगर का बोधक है वरन् भवन, मन्दिर, प्रासाद (राजप्रासाद) का भी बोधक है। यह ठीक भी है। प्राचीन भारत मे ही नही, आज भी भारतीयो की जीवन-धारा मे धार्मिक स्थान, पूजा-गृह, सरिता-तट, एकान्त-स्थान, वनप्रान्त, पर्वत-कन्दराम्रो आदि का सदैव विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ के नागरिको के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वे अपने आवासभवनो के निवेश के लिए पावन स्थलो, सुन्दर, स्वस्थ प्रदेशो एव वातावरण

को चुनें। अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे किसी देवतायतन के पूत-पावन भू-भाग के निकट थोड़े से जिज्ञासु एव साधक सज्जनो ने सर्वप्रथम अपने आवासो का निर्माण किया। धीरे-धीरे वह स्थान अपने निजी आकर्षण से एक विशाल तीर्थस्थान या मन्दिर-नगर मे परिणत हो गया। इसके अतिरिक्त मन्दिर यदि सम्यक् प्रकार से सचालित है तो उसके निकट किसी सुरम्य जलाशय, पुष्करिणी अथवा सरिता का होना आवश्यक है। अतः जीवन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ मे जल-पूर्ति की साधन-सम्पन्नता के कारण तथा मन्दिर के सुन्दर, स्वास्थ्य-प्रद एव पावन वातावरण के कारण वहाँ आवास-स्थापन सहज हो जाता है।

इसके अतिरिक्त मन्दिर के देवता की प्रसिद्धि, उसकी वन्द-गरिमा तथा कीर्ति के कारण भी दूर-दूर से लोग दर्शनार्थ आते हैं एव दर्शनार्थियों मे बहुत से आगन्तुक वहीं बसने लगते हैं। मन्दिर के आधार पर नगर का यह विकास धर्माश्रय वश होता था। विद्याश्रय भी इस प्रकार के नगर के विकास मे कम सहायक नही हुए। क्योंकि मन्दिर न केवल तीर्थस्थान के ही कारण प्रसिद्ध थे, वरन् बहुत से मन्दिरो मे वहाँ के पुजारियों के पाण्डित्य, आध्यात्मिक ज्ञानगरिमा तथा उनके पुनीत आचरण के आकर्षण से बहुत से जिज्ञासु वहाँ जाकर रहते थे, ज्ञानार्जन करते थे, कथावार्ता सुनते, पुराण-पारायण करते, योगाभ्यास साधते थे। सच तो यह है कि प्राचीन भारत में ही नहीं, आज भी बहुत अशो मे मन्दिर न केवल ध्यान, पूजा, अर्चा के ही पावन स्थान हैं वरन अध्ययनाध्यापन, चितन एव मनन तथा गवेषण और अनुसधान, साधना और शुश्रूषा के जाज्वल्यमान केन्द्र भी हैं। दत्त महाशय के शब्दो मे बहुत से निदर्शनो मे यह अर्थात् एक मन्दिर छोटे से विश्वविद्यालय का स्वरूप धारण करता था, जहाँ पर विद्वान् पण्डित मन्दिर के बरामदे अथवा सम्मुखस्थित छतदार प्रागण—मण्डप मे एकत्रित होकर जिज्ञासु छात्रो को साहित्य, ज्योतिष, वेद, वेदाग, पुराण तथा अन्य विभिन्न विद्याओ मे शिक्षित तथा दीक्षित करते थे। कालान्तर मे मन्दिर, उसके देवता तथा उनके पुजारी की गरिमा एव ख्याति सुदूर प्रदेशो मे फैल जाती थी जिससे विभिन्न प्रदेशों से लोग आकर देवदर्शन के साथ-साथ ज्ञानार्जन के लिए भी आने के अभिलाषी हो जाते थे।

मन्दिर से एक विशाल नगर बनने की कहानी मे हिन्दू सस्कृति की प्रमुख एव महत्त्वपूर्ण आश्रम-व्यवस्था ने भी बडा साहाय्य प्रदान किया। आश्रम-चतुष्टय में वानप्रस्थाश्रम के अन्तर्गत जब लोग पदार्पण करते थे तो घर छोड़कर किसी निर्जन, पावन एकांत मे जाकर रहते थे। यदि सौभाग्य वश ऐसा स्थान किसी मन्दिर के समीप मे मिल गया तो फिर अहोभाग्य। अत वानप्रस्थाश्रमियो के सान्निध्य से जो

प्रथम छोटे-छोटे उटज बने, वे कालान्तर मे दानवीरों की सहायता से सुन्दर आवास-भवनो मे परिणत हो गये।

इस प्रकार इन विभिन्न कारणो से जब मन्दिर के चारो ओर बस्तियाँ बस गयी तो फिर उनकी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु विभिन्न दूकानो आदि की स्थापना हुई। कालान्तर मे वह स्थान राजाश्रय पाकर वहाँ पर राजपीठ के स्थापन मे भी निमित्त बना। राजप्रासादो का निर्माण भी हो गया। अन्त मे मार्ग, प्रतोली, परिखा, प्राकार, अट्टालक आदि आवश्यक नागरिक वास्तु-उपकरणो की निवेश-क्रिया भी सुतरा सम्पादित की गयी। इस प्रकार वह मन्दिर आगे चलकर एक नगर मे बदल जाता था। इस प्रकार के नगरो के निदर्शन में दक्षिण-भारत का काजीवरम् नगर प्रस्तुत किया जा सकता है।

मन्दिर-नगरो के, विशेष कर दक्षिण-भारत के विषय मे एक बात विशेष उल्लेखनीय यह है कि उनकी 'निवेश-प्रक्रिया' तथा शिल्पशास्त्रो मे प्रतिपादित 'ग्राम-निवेश' अथवा नगर-निवेश प्रक्रिया बिल्कुल मिलती जुलती है। ग्राम या नगर के द्वार एव पक्षद्वार का सादृश्य मन्दिर के गोपुर से, ग्रामीय या नगर के राजमार्ग का सादृश्य मन्दिर-मार्गो से, मगलवीथी या ग्रामीय वृत्ताकार सडको का सादृश्य मन्दिर की प्रदक्षिणा से सुतरा प्रकट है। इसी प्रकार मन्दिर-मण्डप ग्रामीय या नगर-परिषद्-भवन से सादृश्य रखता है। इसी प्रकार मन्दिर के विभिन्न भवनो एव सभा-सदनो, प्रकोष्ठो, प्रागणो, कूप, तडाग, जलाशयो आदि का भी सादृश्य प्रकट है।

ग्राम—पुर-पर्यायो की पृष्ठभूमि पर नगर-विकास का यह प्रसार खूब प्रवृत्त हुआ। परन्तु अभी तक हम विशेष कर ऐसे नगरो के विकास के कारणो का विवेचन कर रहे थे जिनका विकास पूर्व-सूचित विकास की दो कोटियो, स्वत प्रवृत्त तथा परप्रवृत्त मे से प्रथम कोटि से सम्बन्धित था। जहाँ तक दूसरी कोटि का प्रश्न है उसमे पूर्व-प्रतिपादित स्थानीय आदि किलो की स्थापना के कारण नगरो का विकास बताया ही जा चुका है। ऐसे नगर परप्रवृत्त कोटि मे आते है। अब इस प्रसग मे हमे एक दो तथ्यो का उद्घाटन कर दूसरे प्रकरण मे प्रवेश करना है। परप्रवृत्त अथवा स्वत.प्रवृत्त नगरो के विकास मे ग्रामो ने बड़ा योग दिया। इसके अतिरिक्त देश की तत्कालीन शासन-पद्धति एव सुरक्षा-व्यवस्था ने भी उसमे कम योग नही दिया। पाटलिपुत्र आदि बड़े-बडे नगरो की कहानी ग्राम-समूहो मे लिखी गयी है। जैसा हम आगे देखेगे, नगर-विघान तथा ग्राम-विघान के निवेश-नियम प्राय. समान ही है। ग्राम के बृहत् रूप को ही नगर की सज्ञा दी गयी है। राजमार्ग, मगलवीथी अथवा प्रदक्षिणा, चेसबोर्ड की पद्धति के अनुसार विभिन्न वास्तुपद-विभाग (जहाँ पर अपने-अपने व्यवसाय एव पद के अनुरूप आवास-भवनो का वर्गीकरण

किया गया है), तड़ागो, कूपो, देवतायतन आदि की व्यवस्था तथा द्वार-निवेश-नियम ये प्राय. सभी वास्तु-अग ग्राम-निवेश एव पुरनिवेश मे सर्वत्र समान प्रतिपादित हैं। अत. प्रकट है कि ग्राम एव नगर इन दोनो के निवेशोपक्रम एव तत्सम्बन्धी विभिन्न विन्यास के साम्य के कारण ही ग्रामो को नगरो मे परिणत करने, विकसित होने का प्रश्रय मिला। यही कारण है कि पुरातन समय मे जब यातायात एव अन्य आधुनिक साधनो का अभाव था तो राजा लोग (क्योकि प्राचीन समय मे प्राय. माण्डलिक राज्यो का ही प्राधान्य था) प्राय किसी सुविधा-पूर्ण ग्राम मे अपना महल बनाकर रहते और वहाँ से उस ग्राम के चतुर्दिक् स्थित अन्य बहुत से ग्रामो के शासन-सचालन, कर-एकत्रीकरण एव रक्षार्थ दुर्ग की स्थापना करते थे। इस प्रकार थोड़े ही समय मे वह ग्राम राजपीठ होने के कारण विशाल नगर मे परिणत हो जाता था। भारत-वर्ष के प्राचीन नगरो के उदय की यह एक सामान्य कथा है।

नगर-प्रभेद

यद्यपि गत प्रकरण मे पुर-पर्यायो की समीक्षा से विभिन्न नगर-विभेदो का कुछ आभास प्राप्त हो चुका है। परन्तु शिल्पशास्त्रो मे नगर एव ग्राम तथा दुर्ग के जो वर्गीकरण दिये गये है उन सब का समुद्घाटन कर देना आवश्यक होगा। पीछे के प्रकरणो मे यह बार-बार कहा गया है कि नगर और ग्राम का भेद आकार-भेद है न कि प्रकार-भेद। तथापि यह अधिक सगत होगा यदि ग्राम एव नगर का विवेचन अलग-अलग प्रकरणो मे किया जाय, क्योंकि स्थापत्य-शास्त्र की यही परम्परा है।

पूर्व प्रकरण मे पूर्णरूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि नगर-विकास की भिन्न धाराओं—स्वरूपो, आकृतियो एव श्रेणियो के अन्तस्तल मे नगर-विशेष के विकास की विशेषताओं के कारण ही नगर के विभिन्न विभेद परिलक्षित होते है। प्रत्येक नगर की अपनी एक निजी वैयक्तिकता होती है जिसकी छाप उसके कलेवर पर पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है। किसी सरितातट पर पनपे नगर की वैयक्तिकता किसी पार्वत्य-प्रदेश अथवा उपत्यका-भूमि मे उत्थित नगर की वैयक्तिकता से सुतरा विभिन्न होगी ही। इसी प्रकार देवतायतन की छाया मे विकसित अथवा किसी आश्रम, उटज, कुटीर अथवा कुलगृह से विकसित नगर की विशेषता भी उस नगर से, जो किसी सागर-वेला पर विकसित हुआ है अवश्य भिन्न होगी।

भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के परिशीलन से नगरो के निम्न प्रभेद देखे गये है—

१—पुर	४—कुब्जक	७—दुर्ग
२—नगर	५—पत्तन	८—खेट
३—नगरी	६—राजधानी	९—खर्वट

१०–शिविर (सेनामुख, स्कन्धावार)	१३–कोट्मकोलक
११–स्थानीय	१४–निगम
१२–द्रोण-मुख	१५–मठ या विहार

१. **पुर**—पुर भी नगर का पर्याय है, परन्तु परम्परा से जिन नगरों के अर्थ में प्राचीन साहित्य में पुर शब्द का प्रयोग किया गया है वे डा० आचार्य के शब्दो में विशाल नगर के बोधक हैं। उदाहरणार्थ त्रिपुर तथा महापुर (यजुर्वेद तथा ब्रह्मांड पुराण द्रष्टव्य है)।

२. **नगर**—नगर के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमे इसकी शब्द-व्युत्पत्ति पर ध्यान देना है। नगर नग (न गच्छतीति नग) से सम्भवत: सम्पन्न हुआ है। जिस प्रकार एक नग (पर्वत) मे पाषाण-शिलाओ के कारण दृढता एवं स्थायित्व होता है, उसी प्रकार ऐसी बस्ती, जिसमे पक्के मकान हो तथा जिसकी दीवारें तथा छते विशेष कर पाषाण-शिलाओ अथवा तप्त इष्टकाओं से निर्मित हो, उसको नगर कहा गया है।

३. **नगरी**—नगर का पर्याय मात्र है। नगरी मे प्राचीनत्व के कारण उसकी प्रसिद्धि मे धर्माश्रयता प्रधान है। मोक्ष-दायिका सात पुण्य-पुरियो के नाम से हम परिचित ही हैं।

४. **कुब्जक**—यह भी नगर का ही नाम है परन्तु कामिकागम (२०.२५) के अनुसार यह महानगरो के किसी कोण-विशेष पर निविष्ट एक सुन्दर बस्ती है जहाँ पर लोग अवकाश के दिनो मे महानगर से आकर रहते हैं अथवा मकान बना लेते हैं। यह एक "सुबर्ब" होता है अथवा महानगर के अत्यन्त समीप एक ग्राम-विशेष का नागरिक उप-करणो एव सभारो से विकसित स्वरूप।

५. **पत्तन (तथा पुट-भेदन)**—'समरांगण०' मे पत्तन के सम्बन्ध मे यह प्रवचन है–"उपस्थान भवेद् राज्ञा यत्र तत् पत्तन विदु", जहाँ पर राजाओ का उपस्थान हो अर्थात् ग्रीष्मकालीन अथवा शीतकालीन राजपीठ हो उसे पत्तन कहते है। परन्तु 'समरागण०' की यह परिभाषा परम्परागत शिल्पशास्त्रो एव व्यावहारिक साहित्य सदर्भो के अनुकूल नही जँचती, ऐसी शका उठ सकती है। परन्तु अमरकोश के नगर-पर्यायो की टिप्पणी (मणिप्रभा) मे लिखा है—"जहाँ राजा के नौकर आदि बसते है उसके पत्तन, पुटभेदन, ये दो नाम है।" जहाँ राजा के नौकर रहते है वह स्थान राजा का उप-स्थान हो ही सकता है। वही उप-स्थान यदि व्यवसाय तथा वाणिज्य का केन्द्र हो तो पुटभेदन के नाम से पुकारा जाता है–"बहुस्फीतवणिग्युक्त तदुक्त पुटभेदनम्" (स० सू०, १८वाँ अध्याय)। अत. पत्तन एव पुटभेदन की समरांगणीय साहचर्य-परम्परा प्रचलित पर-म्परा से वैषम्य नही रखती। मानसार मे पत्तन की जो परिभाषा दी है तथा मनुष्यालय-

चन्द्रिका में पत्तन पर जो प्रवचन है इन दोनो को मयमतीय परिभाषा के साथ मिलाने पर जिस निष्कर्ष पर हम पहुँचते हैं उसके अनुसार पत्तन एक प्रकार का बृहत् वाणिज्य-बन्दरगाह है, जो किसी नदी या सागर के किनारे स्थित होता है तथा जहाँ पर प्रधान रूप से वणिक्गण निवास करते है। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र के परिशीलन से पत्तन के दो रूप प्राप्त होते हैं—पत्तन तथा पट्टन (जो प्राय पत्तन का ही विकृत रूप सामान्य रूप से समझा जाता है)। इनका रूप पूर्व निर्दिष्ट पत्तन-विशेषताओ से ही प्रभावित है।

६. **राजधानी**—इसका विशेष विवरण भारतीय वास्तु-शास्त्र (पृ० १०२-३) में पढ़िए।

७. **दुर्ग**—स्पष्ट है।

८. **खेट**—खेट के सम्बन्ध मे 'समरागण०' मे (दे० पुर-निवेश, अध्याय १०) जो निर्देश हे उसका साराश यह है कि नगर, खेट एव ग्राम तीनों के निवेश में खेट बीच का है—नगर से छोटा परन्तु गाँव से बडा। इसी लिए श्री कुमार ने अपने शिल्प-रत्न मे लिखा है—

ग्रामयोः खेटकं मध्ये राष्ट्र-मध्ये तु खर्वटम्।

अर्थात दो ग्रामो अथवा ग्रामसमूह के मध्य मे एक समृद्ध लघु-काय नगर खेटक नाम से पुकारा जाता है तथा राष्ट्रो के मध्य मे उसी को खर्वट की सज्ञा दी गयी है। खेट (नगर) की इस साधारण विशेषता के साथ दूसरी विशेषता यह है कि इस नगर की आबादी विशेष कर शूद्रो तथा कर्मकारो की होती है। इस तथ्य का पुष्टीकरण मयमत की निम्नलिखित परिभाषा से प्रकट है—

शूद्रैरधिष्ठितं यन्नद्यचलावेष्टितं तु तत्, खेटम्।

अर्थात् जो शूद्रो से अधिष्ठित हो तथा नदी और पर्वत से आवेष्टित हो उसे खेट कहते हैं। खेट की तीसरी विशेषता यह है कि उसका प्राकार मृन्मय होता है—"पासुप्राकार-निबद्ध खेटम्", "खेटानि धूलिप्राकारोपेतानि" (दे० कौटिल्य-अर्थशास्त्र, अ० २२ पृ० ५६, टिप्पणी)। अत निश्चित हे कि खेटक मे केवल शूद्र लोग रहते थे। आज भी देहातो की बस्तियो की ओर ध्यान दीजिए। खेडो, खेरो के नाम से प्रसिद्ध छोटे-छोटे ग्रामो मे प्राय निम्न जाति के लोग रहते है।

९. **खर्वट**—खर्वट (नगर) की मुख्य विशेषता यह है कि वह पार्वत्य प्रदेश पर होता है।

१०. **शिविर**—इसकी विस्तृत समीक्षा आगे के अध्याय 'दुर्ग-प्रभेद' मे की गयी है।

११. स्थानीय——स्थानीय नामक नगर को चाणक्य ने दुर्ग कहा है। ८०० ग्रामो के मध्य मे स्थानीय नामक दुर्ग-विशेष की स्थापना करने के लिए अर्थशास्त्र का आदेश है। 'स्थानीय' के शब्दार्थ पर यदि हम ध्यान दे तो वाच्यार्थ के साथ-साथ वास्तु-शास्त्रीय परम्परा मे उसके विकसित स्वरूप के मर्म को समझ सकते है। वाच्यार्थ एक मात्र लोकल हुआ, स्थानीय से लोकल तथा "फर्टीफाईड टाउन" इसकी सर्व-साधारण विशेषता है। परन्तु इसमे एक इतिहास भरा हुआ है। प्राचीन काल मे जब आधुनिक साधनो का अभाव था तो राज्यसत्ता एव राज्यव्यवस्था सदैव एक सी स्थिर नही रहती थी। अत आवश्यकतानुसार राजा लोग अपने-अपने स्थानीय हेड-क्वार्टर स्थापित करते रहते थे, बदलते रहते थे। अतएव कालान्तर मे इस प्रकार के नगर-विशेष की सज्ञा ही स्थानीय पड गयी। आगे चलकर जब शान्ति एव सुरक्षा में स्थिरता आयी तो फिर स्थानीय नगरो मे सुरक्षाहेतु एव कर-एकत्रीकरणार्थ राज्य की ओर से कोई उच्च राज्याधिकारी रहने लगा। आधुनिक भारत मे कमिश्नरियो के लिए हम स्थानीय शब्द का प्रयोग कर सकते है।

१२. द्रोणमुख——द्रोणमुख एक प्रकार का आपणक नगर है। यहाँ व्यवसायियो का आना-जाना लगातार रहता है। इसकी स्थिति किसी नदीतट पर अथवा सरिता-सगम अथवा सागर-वेला पर बतायी गयी है। इसका दूसरा नाम द्रोणीमुख भी है। श्री कुमार के अनुसार यह नगर एक प्रकार का बन्दरगाह है जहाँ पर जहाज आते-जाते है और विश्राम लेते है (शिल्परत्न, अ० ५)।

१३ कोट्मकोलक——यह एक प्रकार का आरण्यक नगर है। पर्वतो के मध्य मे भी इसकी स्थिति हो सकती है।

१४. निगम——इस नगर की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमे विशेष कर कला-कार, कारीगर, शिल्पी लोग रहते है। यह बडे ग्राम एव नगर के बीच की बस्ती वाला नगर, कसबा कहा जा सकता है।

१५. मठ अथवा विहार——मठ या विहार उन विद्यास्थानो, विश्वविद्यालयीय नगरो की सज्ञा है, जिनकी महत्ता एव गरिमा से विद्वत्समाज परिचित है। वैसे तो मठ या विहार उस स्थान को कहते है जहाँ छात्रो के आवास एव अध्ययन के स्थान हो। परन्तु कालान्तर पाकर, जैसा कि नगर-विकास के प्रकरण मे निर्देश किया जा चुका है, ये ही छोटे-छोटे गुरु-गृह, कुलपति-कुटीर, छात्रावास, भिक्षु-उटज बड़े-बडे नगरो के आकार मे परिणत हो गये। ऐसे विश्वविद्यालयीय नगर आज भी पाये जाते है। कैम्ब्रिज, आक्सफोर्ड, वाराणसी, प्रयाग आदि विभिन्न आधुनिक विश्वविद्या-लयीय नगरो को कौन नही जानता? प्राचीन भारत में ऐसे नगरो मे केवल दूर-

दूरागत छात्र ही नही रहते, पढते, अनुसन्धान एवं गवेषणा करते, ब्रह्मचर्य पालन करते थे, वरन् विभिन्न जिज्ञासु लोग भी आकर इनकी छाया में रहते, चिंतन, मनन एवं भजन करते, शान्ति पाते थे। विभिन्न सम्प्रदायो के भिक्षु-वृन्द, परिव्राजक-गण, साधु-टोलियाँ भी यहाँ विचरण करती थी। बडे-बडे धर्मों के आचार्य अपने-अपने धर्म-चक्रों का श्रीगणेश भी करते थे। बड़े-बडे दार्शनिको ने इनमे अपने दर्शनो की रचना की। ऐसे नगरो में खाद्य एव पेय का पूर्ण प्रबन्ध होता था। शान्ति का साम्राज्य, तपस्या और साधना का वातावरण, सुविद्या एव सादगी का आदर्श सर्वत्र विराजमान रहता था। भारत की महान् सभ्यता एव संस्कृति के निर्माण मे इन नगरो ने बडा योगदान किया। काशी, सारनाथ, नालन्दा और तक्षशिला के इतिहास की गाथा के समुज्ज्वल पृष्ठ, भारतीय सभ्यता की गौरव-गाथा को कौन नही स्वीकार करेगा ?

हैवेल साहब ने प्राचीन भारतीय विश्वविद्यालयीय नगरो के सम्बन्ध मे अपनी पुस्तक 'इंडियन आर्कीटेक्चर' मे कहा है कि ऐसे नगरो के विकास मे भारतीय संस्कृति की आधार-भूत विशेषता ब्राह्मणाधिवास अथवा आश्रम-व्यवस्था ने जो प्रश्रय दिया वह ठीक ही है। उनके शब्दो मे जब ब्राह्मण लोग आर्य-संस्कृति एव सभ्यता के संरक्षक बने तो उनके निवास-आश्रम अथवा अधिवासीय ग्राम (ब्राह्मणाधिवास, दे० हर्षचरित) एक विश्वविद्यालयीय नगर मे परिणत हो जाते थे। क्योकि उनकी विद्वत्ता एव पाण्डित्य की कीर्ति को सुनकर हजारो की तादाद मे शिष्यमण्डली उनसे शिक्षा-ग्रहण करने के लिए आती थी।

ग्राम–प्रभेद

नगर और ग्राम मे साम्य होते हुए भी पर्याप्त भेद था, और है। जहाँ ग्राम अकृत्रिम एव प्राकृतिक है वहाँ नगर कृत्रिम तथा मानवकृत है। जहाँ ग्राम के विकास मे नैसर्गिक विकास के दर्शन होते है वहां नगर के विकास मे, उसकी विवृद्धि मे मनुष्य-प्रदत्त कृत्रिमता का पुट पद-पद पर परिलक्षित होता है। ग्रामो की इस सर्व-साधारण विशेषता के अतिरिक्त कौटिलीय अर्थशास्त्र की एक दूसरी परम्परा है, जिसके अनुसार ग्रामो का विकास भी नैसर्गिक आवश्यकताओं एव साधनो के अतिरिक्त सैन्य-सचालन अथवा शासन की सुविधा के आधार पर भी हुआ। इस सम्बन्ध मे ग्राम-निवेश एव ग्राम-निर्माण के विषय मे कौटिल्य के निम्न प्रवचन दिये जाते हैं (दे० कौ० अर्थ०, अ० २२वां)—

"ग्राम, जिनमे कि प्रत्येक मे कम से कम सौ शूद्र अथवा कृषक परिवार तथा अधिक से अधिक ऐसे पाँच सौ परिवार हों, स्थापित किये जायँ। प्रत्येक की सीमा

एक कोस से दो कोस की हो। इनके रक्षार्थ अपनी-अपनी स्थित्यनुरूप पारस्परिक रक्षा का प्रबन्ध हो। सीमा का पार्थक्य अथवा निर्धारण किसी नदी, पर्वत, वन, वाल्बाकृति दीर्घ, कन्दरा, पुल अथवा विशेष वृक्ष, जैसे शाल्मली, शमी अथवा क्षीरवृक्ष आदि से सम्पादित किया जाय। इन ग्रामो के रक्षार्थ ८०० ग्रामो के बीच स्थानीय दुर्ग, २०० के बीच द्रोणमुख दुर्ग तथा १० ग्रामो के बीच मे सग्रहणदुर्ग की स्थापना की जाय।"

चाणक्य के इन आदेशो से राजा के लिए ग्रामो की स्थापना करना कृत्रिम हो जाता है। ग्राम-निवेश की इस कृत्रिमता के अन्तस्तल में जो रहस्य है उस पर प्रथम ही सकेत हो चुका है। राजपीठीय नगरो--राजधानियो को सकीर्ण होने से बचाने के लिए आबादी के कुछ अशो को, नये-नये गाँवो का निर्माण करके, वहाँ भेजना अथवा विदेशियो को इन नव-निविष्ट ग्रामो मे रहने के लिए प्रोत्साहित करना--ये ही प्राय. इन कृत्रिम ग्रामो की रचना के हेतु है।

ऐसे ग्रामो के विकास के सम्बन्ध मे जो एक और सकेत है वह है सैन्य-सचालन-प्रयोजन। इसकी पुष्टि 'दत्त-प्रदत्त उम्माग जातक' (दे० टी० पी० इन ऐशेंट इडिया, पृ० १९८) की एक कथा से हो जाती है। युद्ध-प्रस्थान के लिए उद्यत एक राजा ने अपने मत्री को आज्ञा दी कि वह प्रस्थान-पथ पर ग्रामो का निर्माण करे। मन्त्री ने वैसा ही किया तथा राजा से निवेदन किया--"महाराज ! अब विलम्ब न करे। सात-सात योजनों की दूरी पर मैंने आपकी आज्ञानुसार ग्रामो का निर्माण करा दिया तथा उनमें विश्राम स्थान आदि के साथ-साथ भोजन-वस्त्र, आभूषण, यान, अश्व, गज आदि सभी आवश्यक वस्तु-सभारो का विन्यास एव प्रबन्ध कर दिया है।" अत. प्रकट है कि ग्राम-विकास का कारण, जहाँ स्वत उदय होना तो सर्वसाधारण रूप से था ही, और भविष्य मे भी होगा, वहाँ इस नैसर्गिक विकास के अलावा दूसरी कोटि राजनीतिक एव सैनिक कारणो के योग की भी है। कौटिल्य के उपर्युक्त प्रवचन के परिशीलन से प्रतीत होता है कि ग्रामो के प्रादुर्भाव के इस साकेतिक समीक्षण के उपरान्त उनकी आबादी की विवेचना आवश्यक है। चाणक्य ने लिखा है कि ग्रामो की आबादी के अविरल अग कृषिजीवी शूद्र है, इसका पोषण मार्कण्डेय-पुराण के निम्न वचन से भी होता है--

तथा शूद्रजनप्राया सुसमृद्धकृषीवला।
क्षेत्रोपयोगभूमध्ये वसतिर्ग्रामसंज्ञिका॥

परन्तु ये निर्देश पूर्ण सत्य के द्योतक नही है। इनकी आशिक सत्यता मे दो राये नही हो सकती, परन्तु आदिम शिल्प-ग्रन्थो मे इसके विपरीत प्रमाण मिलते है

जिससे यह स्पष्ट है कि शूद्रेतर जातियाँ एवं ब्राह्मण आदि भी ग्राम के प्रमुख निवासी होते थे। बाण ने "ब्राह्मणाधिवास" नामक ग्राम का हर्षचरित में वर्णन किया है। इस परम्परा की पुष्टि में मयमत का वचन विशेष रूप से द्रष्टव्य है (दे० अ० ६)। इसके परिशीलन से ज्ञात होता है कि ग्रामों में शूद्रेतर उत्तमवर्गी ब्राह्मणों की बस्तियाँ होती थी। विभिन्न-सख्यक ब्राह्मण-भवनों के अनुरूप ही उत्तम, मध्यम तथा अधम ग्रामों का सख्यान किया जाता था।

इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि मयमत आदि प्राचीन शिल्प-शास्त्रों मे प्राचीन भारतीय जीवन की उस झलक के दर्शन होते हैं, जब भारतीय जीवन अधिकाश ग्रामीण था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भारत का नागरिक जीवन अत्यन्त विकास को प्राप्त हो चुका था। अत नागरिक चाणक्य यदि ग्रामो मे शूद्र आदि निम्न श्रेणी के लोगों की बस्ती का सकेत करता है तो विशेष आश्चर्य की बात नही। ग्रामों की आबादी की इस साधारण समीक्षा के उपरान्त ग्राम-प्रभेद पर प्रकाश डालने के पूर्व एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। जहाँ पर आज भी प्राचीन नगरों के परकोटों के भग्नावशेष विद्यमान है वहाँ ग्रामों के प्राकारों की शायद ही कही उपलब्धि होती हो। इसके दो कारण है। एक तो ग्रामों का निर्माण साधारण, तत्तद्देशीय मृत्तिका, काष्ठ, घास-फूस आदि से सम्पन्न होता था, अर्थात् ग्रामों के भवन मृन्मय होते थे, अत. उनमें स्थायित्व के तत्त्व कहाँ रह सकते थे ? ग्रामों के पुराने मकान गिरते गये, नये बनते गये। अत प्राचीन ग्रामों के भग्नावशेष खण्डहरों में अथवा भूगर्भ में विलीन रूप से प्राप्त होते है जो खुदाई करने से अध्ययन अथवा खोज में कुछ भी सहायक नही बन सकते। दूसरा कारण यह है कि ग्रामों की प्राकार-प्रक्रिया पुस्तकों तक विशेष सीमित रही, प्रयोग में वह पूर्णरूप से नही पनप सकी। ठीक भी है, प्राकारादि-निवेश-प्रक्रिया तो कृत्रिम अधिक है, नैसर्गिक कम। ग्रामों के विन्यास के आधारभूत सिद्धान्तों की समीक्षा मे स्वत प्रवृत्त ग्रामों के विकास की ओर पाठकों का ध्यान पूर्व ही आकर्षित किया जा चुका है। अत स्वत प्रवृत्त ग्रामों में प्राकार आदि सन्निवेश सर्वसाधारण हो ही नही सकता। यत्र-तत्र एक-दो ग्रामों की यह विशेषता हो सकती है। उसी विशेषता से सम्भवत प्रभावित होकर मानसार आदि शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों मे नगर-निवेश के सामान्य नियमों, प्राकार-परिखा आदि प्रक्रिया का समान रूप से ग्रामों के सन्निवेश में भी उल्लेख किया गया है।

यह पूर्व ही सकेत किया जा चुका है कि मानसार, मयमत आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रथो मे नगर, दुर्ग तथा ग्राम के निवेश एवं विभिन्न अगो के विन्यास मे प्रकार का अन्तर नही, आकार का ही अन्तर है। तीनो ही सुरक्षित स्थान बताये गये हैं। हाँ

जहाँ दुर्ग-निवेश का प्रमुख उद्देश्य रक्षार्थ सैन्यावास था वहाँ ग्रामो एवं नगरो के निर्माण का प्रयोजन आवास-स्थापन था। यहाँ पर यह स्मरण रहे कि ग्रामो, नगरो एव दुर्गों की इस सामान्य निवेश-प्रक्रिया का प्रवर्तन बहुत दिन तक नही चला। भले ही सक्रान्ति-कालीन यह व्यवस्था रही हो, परन्तु जब सुव्यवस्था एव शान्ति के दिन आये तो परकोटा आदि का विन्यास ग्रामो की बस्तियो मे विलीन हो गया।

ग्राम-विकास एवं ग्राम-निर्माण के सम्बन्ध मे इस सक्षिप्त पर्यालोचन के उपरान्त अब क्रमप्राप्त ग्राम-प्रभेद की विवेचना करनी चाहिए। मानसार के अनुसार ग्रामों के निम्नलिखित आठ भेद हैं—दण्डक, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर, कार्मुक तथा चतुर्मुख। मानसार की इस ग्राम-प्रक्रिया अथवा ग्राम-वर्गीकरण का आधार तत्तद् ग्रामो की आकृति-विशेष है।

मयमत के अनुसार भी ग्रामो के भेदो की सख्या आठ है, परन्तु उनमे मानसारीय सख्या-साम्य के साथ-साथ पूर्ण सज्ञा-साम्य नही है—दण्डक, स्वस्तिक, प्रस्तर, प्रकीर्णक, नन्द्यावर्त, पराग, पद्म तथा श्रीप्रतिष्ठित।

इस प्रकार मानसार एव मयमत के ग्रामाष्टक मे केवल निम्नलिखित पाँच सामान्य ग्राम हैं—दण्डक, नन्द्यावर्त, पद्म अथवा पद्मक, स्वस्तिक तथा प्रस्तर। मयमत की इस ग्राम-भेद-तालिका के सम्बन्ध मे दूसरी विशेषता यह है कि इस वर्गीकरण का आधार मानसार के अनुरूप आकृति आदि नही है वरन् एकमात्र "मार्ग-योजना" ही है।

अस्तु, अब आगमो और पुराणो के उल्लेख पर भी विचरण करे और देखे कि उनमे कितने ग्राम भेद मिलते है? आगमो की वास्तु-शास्त्रीय देन अपूर्व है। कामिकागम के मत मे ग्रामो को हम पन्द्रह भेदो मे विभाजित कर सकते है। निम्न-निर्दिष्ट भेद-पुज के परिशीलन से प्रतीत होगा कि मानसार तथा मयमत के ग्राम-भेदो के सम अथवा साधारण, विषम अथवा असाधारण दोनो भेदो के ग्यारह प्रभेदों (५ साधारण, ३ असाधारण—मयमत, ३ असाधारण—मानसार) के अतिरिक्त चार और नये नाम द्रष्टव्य है—

१—दण्डक	६—प्रस्तर	११—श्रीप्रतिष्ठित
२—सर्वतोभद्र	७—कार्मुक	१२—सम्पत्कर
३—नन्द्यावर्त	८—चतुर्मुख	१३—कुम्भक
४—पद्म अथवा पद्मक	९—प्रकीर्णक	१४—श्रीवत्स
५—स्वस्तिक	१०—पराग	१५—वैदिक

इन विभिन्न ग्रामो के निवेश-नियमो के आधारभूत विषय जो स्थापत्य-ग्रन्थो मे मिलते हैं, वे है—

१–आकार (चतुरस्र, वृत्त, आयत, खड्ग, अष्टास्र, धनुषाकृति आदि-आदि)
२–पदविन्यास (स्थण्डिल, चण्डित अथवा परमशायिक आदि पद-विशेष)
३–मार्ग-विनिवेश
४–रथ्या-महारथ्या-विनिवेश
५–मार्ग-रथ्या-महारथ्या के वाम अथवा दक्षिण ओर भवन-विनिवेश
६–केन्द्र-सन्निवेश-देवतायतन आदि
७–द्वार-गोपुर-विनिवेश
८–प्राकार-परिखा-विनिवेश
९–विभिन्न देवो के देवतायतन-निवेश
१०–विभिन्न-वर्णोचित-वसति-सन्निवेश
११–तडाग, पुष्कर, वृक्ष आदि का विन्यास

इस अति विकसित निवेश-परम्परा को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि ग्रामो की यह निवेश-योजना शास्त्रीय अधिक है, व्यावहारिक बहुत कम । यह तो एक समृद्ध नगर की निवेश-योजना प्रतीत होती है। इसका क्या रहस्य है? प्राचीन शिल्प-ग्रन्थ ग्रामो, नगरो एव दुर्गो मे वास्तुकला की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नही मानते, अतएव ऐसा प्रतिपादन मिलता है । अन्यथा ऐतिहासिक अनुसंधान मे ग्राम-निवेश की यह रूपरेखा शायद ही मिल सके। शास्त्रीय दृष्टि से इन विभिन्न-कोटिक ग्रामो की विशेषताओ पर थोडी सी समीक्षा कर लेनी चाहिए।

पूर्वोक्त १५ ग्राम-भेदो की सविस्तर समीक्षा हमारे भारतीय वास्तु-शास्त्र (पृ० ११७–१९) मे द्रष्टव्य है। इनमे से कतिपय प्रसिद्ध प्रकारो के रेखाचित्र भी द्रष्टव्य है (दे० वही)। इनके नामो से इनकी आकृति आदि का अनुमान हो जाता है, यथा दण्डक—दण्डाकार, नन्द्यावर्त—आनन्द भवन, स्वस्तिक—स्वस्तिकाकार, पद्मक—पद्माकार, प्रस्तर—शय्याकार (इसमें आगामी विस्तार एव प्रसार का बडा प्रश्रय रहता है), कार्मुक—धनुषाकार, चतुर्मुख—चतुरस्राकार, प्रकीर्णक—चामराकृति, पराग—मकडी के जाले की भाँति, कुम्भक—कुम्भाकार अर्थात् गोल।

इन पन्द्रह भेदो मे अन्तिम सात भेदो के जो विशेष विवरण मयमत एव विशेष कर कामिकागम मे मिलते है उनमे मार्गो की विस्तृत सख्या का निर्देश है। अत. प्रथम विशेषता हुई बहुमार्ग-योजना, दूसरी विशेषता यह है कि उत्तरी मार्गों की सख्या पूर्वी मार्गों की अपेक्षा कही अधिक है । इस उत्तरदिग्वर्तिनी बहुमार्ग-विन्यास-योजना का कोई आधारभूत सिद्धान्त होना ही चाहिए। इसके सम्बन्ध मे यह द्रष्टव्य है कि

ग्राम पूर्व से पश्चिम की ओर विशेष प्रसारित किये जाते हैं, अतः पूर्व-पश्चिम मार्ग विशेष लम्बे होने ही चाहिए। इस विनिवेश का वैज्ञानिक आधार यह है कि इस देश में, जहाँ वायु विशेष कर दक्षिणोत्तर अथवा उत्तर-दक्षिण बहता है, वह यहाँ के खुले मकानों के सम्मुख धूल न उड़ा सके और द्वार बन्द करने की आवश्यकता भी न पड़े जिससे पवन-सचार रुक जाय। आधुनिक नगर-निवेश के वैज्ञानिक दिक्साम्मुख्य विनियोग में इस दृष्टिकोण को विशेष अभिनिवेश प्रदान किया जाता है। यह पुरातन समय में भी इस देश की ग्राम-विन्यास-प्रक्रिया की विशेषता थी—यह सुतरां प्रकट है। अत भारतीय वास्तु-शास्त्र की मौलिकता कितनी गम्भीर है यह विद्वान् पाठक समझ सकते हैं।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध वास्तु-शास्त्री हैवेल महोदय की समीक्षा पठनीय है—"अनेक पीढ़ियों के पुंजीभूत अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय ग्रामों की ये विभिन्न निवेश-प्रक्रियाएँ रक्षा, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुगमता एवं सरलता के लिए अत्यन्त उपादेय हैं। ग्राम-योजना के पूर्वाभिमुखी होने से यह निश्चित हो जाता है कि उस ग्राम के मुख्य मार्ग प्रात से लेकर साय तक सूर्य की रश्मियों से निरोग एवं प्रकाशित रहें तथा इससे महामार्गों के ग्रामीण रथ्याओं (जो विशेष कर उत्तर-दक्षिण दौड़ती हैं) के साथ पारस्परिक कटाव से शीतलपन का पूर्ण आनन्द सुगम हो जाता है।"

दुर्ग-प्रभेद तथा दुर्ग-निवेश

नगर-प्रभेद तथा ग्राम-प्रभेद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त दुर्ग-प्रभेद पर कुछ प्रकाश पड़ना चाहिए। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि भारतीय वास्तु-शास्त्रीय विवरणों में नगर, ग्राम एवं दुर्ग तीनों की निवेश-पद्धतियों में कोई मौलिक भेद नहीं है। अब प्रश्न यह है कि भारतीय प्राचीन नगरों का यह वैलक्षण्य अथवा उनकी यह विशेषता कि उनके चारों ओर परिखा, प्राकार आदि की निवेश-पद्धति सर्व-साधारण रूप से आवश्यक ही नहीं अनिवार्य थी, इसका क्या रहस्य है? न केवल प्राचीन भारत में ही, वरन् ग्रीस, रोम आदि पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में ऐसी ही व्यवस्था थी। अत असन्दिग्ध है कि प्राचीन पुरों एवं ग्रामों की इस सामान्य विशेषता (चतुर्दिक् प्राकार-योजना) के अन्तस्तल में तत्कालीन जीवन-दशा का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। प्राचीन युग में जब शासन-पद्धति तथा शासन-व्यवस्था के वे सुन्दर केन्द्रीय साधन उपलब्ध नहीं थे, जिन से किसी विशाल भू-भाग पर शासन की सुव्यवस्था, शान्ति-रक्षा (उपद्रवों, अराजकता तथा लूटमार के मूलोच्छेदन) का प्रबन्ध किया जा सके, विभिन्न बस्तियाँ, चाहे वे

ग्राम हों अथवा नगर, अपनी-अपनी रक्षा का उत्तरदायित्व स्वय ही सँभालती थी। अतएव बड़े-बड़े नगरो एवं राजधानियो की तो बात ही क्या, छोटे-छोटे ग्रामो एवं पुरो के लिए भी यह निवेश-पद्धति सामान्य रूप से अनिवार्य थी। अत यह कहना असंगत न होगा कि पूर्वीय तथा पाश्चात्य दोनो ही ओर के देशो मे आर्य-जीवन से सम्बन्धित इस प्रकार नगर-निवेश-पद्धति की एक सामान्य पुरातन व्यवस्था थी।

पुरातन साहित्य मे प्राय. सर्वत्र प्राप्त नगर-वर्णनों मे (यथा रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथो मे) इस उपर्युक्त तथ्य के द्योतक नगर-निवेश के ज्वलन्त निदर्शन उपलब्ध होते हैं। अतः यह ठीक ही था कि नगर दुर्ग के रूप में और दुर्ग नगर के रूप मे सामान्य रूप से प्रचलित एव सन्निविष्ट होते थे। वैदिक वाङमय के परिशीलन से भी पता चलता है कि उस सुदूर अतीत मे "पुर" शब्द का अभिधेयार्थ दुर्ग-सदृश बस्ती था। शब्दकल्पद्रुम मे भी सम्भवत. इसी तथ्य के परिणामस्वरूप परिशिष्ट मे लिखा है—

पुरं दुर्गमधिष्ठानं कोट्टो स्त्री राजधान्यपि।

अर्थात् पुर का अर्थ दुर्ग, अधिष्ठान, कोट्ट तथा राजधानी है। इन पर्यायो की समीक्षा का आधार-भूत सिद्धान्त रक्षा की सुव्यवस्था है एव तदनुरूप प्राकार-परिखादि सन्निवेश प्रक्रिया के कारण ही इनमे पारस्परिक पर्याय-साम्य प्रदर्शित किया गया है। नगर, ग्राम एव दुर्ग की सुरक्षा सम्बन्धी यह सामान्य परम्परा इन्ही तक सीमित नही रही। नगरों की तो बात ही क्या, मन्दिरो के भी चारो ओर प्राकार आदि सन्निवेश का अनुगमन बहुत समय तक इस देश मे, विशेष कर दक्षिण भारत के मन्दिरो मे किया गया। मन्दिरो से तथा विद्यापीठो से नगरो के विकास-पर पूर्व प्रकरणो मे पूर्ण प्रकाश पड चुका है।

दुर्गाकृति नगरो के निवेश अथवा नगराकार दुर्गो के विन्यास की परम्परा के अतिरिक्त कालान्तर मे एक और पद्धति पनपी। वह यह कि नगर के अभ्यन्तर प्रदेश मे अथवा किसी कोण पर अथवा नगर से कुछ दूरी पर दुर्गो का सन्निवेश होने लगा। मध्यकालीन राजधानियो के जो निदर्शन आज भी शिष्ट है, उनमे इस पद्धति के पूर्ण दर्शन होते हैं। जयपुर को लीजिए, इस मध्यकालीन राजधानी के उत्तर-पश्चिम कोण पर दुर्ग का निवेश हुआ है। महाभारत तथा रामायण मे इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, लंका, अयोध्या, द्वारका आदि के वर्णनो से भी प्रकट है कि ये नगर तथा नगरियाँ पहले दुर्ग, पुन. कालान्तर मे विस्तार एव प्रसार की बहुमुखी आवश्यकताओ से महानगरियो एव महानगरो के रूप मे परिणत हो गयी। राजस्थान के नगरो की भी यही कथा है। चित्तौड पहले एक किला था

कालान्तर मे वह नगर हो गया। बात यह है कि दुर्गाकार नगरो की प्रथम विन्यास-योजना कालान्तर मे बढती हुई आबादी तथा अन्य विविध आवास-आवश्यकताओं के कारण असफल हो गयी। अत किला भीतर रह गया और बस्तियाँ चारो ओर निर्मित होने लगी। यह कहना ठीक ही होगा कि यद्यपि प्राचीन भारत मे प्रत्येक नगर सुरक्षित दुर्गाकृति नगर था परन्तु यह दुर्ग सर्वदा के लिए नगर का सम-विस्तृत तो नही हो सकता था। अत समय पाकर वह नगर के अभ्यन्तर रह गया अथवा नगर के किसी कोणविशेष पर स्थित रह गया।

दुर्ग-निवेश की यह परम्परा अर्वाचीन नही कही जा सकती। महाभारत के शान्ति पर्व (दे० अ० ८६) मे लिखा है—'षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।' अत यह परम्परा भी प्राचीन है। अभी तक दुर्गाकृति नगरो, नगराकार दुर्गो अथवा नगराभ्यन्तर दुर्गो के सम्बन्ध मे जिस निवेश-पद्धति की मीमासा हो रही थी उसका सम्बन्ध प्राकार-परिखादि-विनिवेश सम्बन्धी कृत्रिम पद्धति से है। परन्तु वास्तव मे दुर्गविनिवेश की दो पद्धतियाँ शास्त्रो मे पायी जाती हैं—अकृत्रिम तथा कृत्रिम।

अकृत्रिम दुर्ग-प्रक्रिया का अर्थ यह है कि इस प्रकार के दुर्गो के विन्यास के लिए प्रकृति स्वयं उपादान उपस्थित करती है। अर्थात् प्राकार-विधान, परिखाखनन तथा वप्रविन्यास आदि कृत्रिम सुरक्षा-साधनो के अतिरिक्त दैवकृत अथवा प्रकृति-प्रदत्त उपादानो से भी दुर्गो की व्यवस्था होती है। इसके लिए कौटिल्य के निम्न प्रवचन उल्लेख्य हैं—

चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं देवकृतं दुर्गं कारयेत्। अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं प्रास्तरं गुहां वा पार्वतं निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं खंजनोदकं स्तम्बगहनं वा वनदुर्गम्। तेषां नदीपर्वतदुर्गमजनपदा रक्षास्थानं धान्वनवनदुर्गमटवी-स्थानम्॥

अर्थात् राज्य की चारो सीमाओ पर सुरक्षार्थ प्रकृति-प्रदत्त साधनो के द्वारा दुर्ग-व्यवस्था अनिवार्य रूप से करनी चाहिए। इस व्यवस्था के विभिन्न रूपो मे कही जलदुर्ग (सरिता के मध्य-प्रदेश की स्थलभूमि अन्तर्द्वीपीय स्थान पर अथवा उस मैदान पर जिसके चारो ओर निम्न स्थल मे अवरुद्ध जल भरा हो) का विन्यास करना चाहिए। कही पर्वतीय दुर्ग की व्यवस्था सम्पादित करनी चाहिए। यह भी दो रूपो मे हो सकती है; जिसके चारो ओर पर्वत हो, अथवा पर्वतीय उपत्यका भूमि से जिसकी स्थिति हो, और वह चारो ओर से छोटी-छोटी पहाडियो से घिरी हो। तीसरी व्यवस्था है मरुदुर्ग (धान्वन) की। यह या तो निरुदक बन्य प्रदेश के मध्य मे स्थित हो अथवा उस भूमि पर स्थित हो जिसकी जमीन मरु-क्षार से ऊषर बन गयी हो। चौथी

व्यवस्था वन-दुर्ग की है। इस व्यवस्था मे भी दो विकल्प है—खंजनोदक तथा स्तम्ब-गहन। प्रथम का अर्थ है वह दलदली अरण्य-भूभाग जो झाडियों से तथा वन-वृक्षो से घिरा हो। दूसरे का अर्थ आरण्य घेरा है जिसे बडे-बडे उत्तुग वृक्ष तथा उनके नीचे झाडियाँ घेरे हुए हो। प्राय प्राचीन शिल्प-शास्त्रों मे अकृत्रिम दुर्ग-प्रक्रिया के ही उल्लेख मिलते है। मयमत तथा मानसार, दोनो ग्रन्थो मे अकृत्रिम तथा कृत्रिम दुर्गों की मिश्रित व्यवस्था है। दुर्ग-नगरो अथवा नगराकार दुर्गो की जो व्यवस्था थी वह तो परिखा-प्राकार-वप्रादि विनिवेश-विन्यास-विनियोजना से अलकृत होकर कृत्रिम पद्धति की निदर्शक है। परन्तु भोजराज को यह श्रेय है कि इन्होंने दुर्ग-निवेश की दोनो पद्धतियो, कृत्रिम तथा अकृत्रिम की विवेचना की है। भोज के 'युक्ति-कल्पतरु' के परिशीलन से यह पता चलता है।

मानसार की दुर्ग-निवेश-पद्धति का साराश यह है कि दुर्गो को हम प्रथम निम्न-लिखित आठ वर्गो मे बाँट सकते है—

शिविर	स्थानीय	सविद्धार्थक,	निगम
वाहिनीमुख,	द्रोणक,	कोलक,	स्कन्धावार

फिर इन आठो प्रकारो का दुर्ग-वर्ग अपनी स्थिति के अनुरूप निम्नलिखित सात उपवर्गों मे बाँटा गया है —

पर्वतीय दुर्ग (गिरिदुर्ग),	मिश्रदुर्ग,	जलदुर्ग,
ऐरिणदुर्ग,	वनदुर्ग,	देवदुर्ग	पकदुर्ग

गिरि-दुर्ग के पुन तीन भेद किये गये है—अपनी स्थिति के अनुरूप वह दुर्ग पर्वत-शिखर पर स्थित है, अथवा उसकी स्थिति पर्वत की उपत्यका मे है, अथवा वह पर्वत की समीपस्थ ढालू भूमि पर है। फलत इनको पर्वतावृत, पर्वत-मध्य अथवा पर्वत-समीपक सज्ञा क्रम मे दी जा सकती है।

मानसार की इस दुर्ग-वर्गीकरण-प्रक्रिया मे कृत्रिम दुर्गो एव अकृत्रिम दुर्गो, दोनो का ही समिश्रण है। परन्तु भोज-प्रदत्त दुर्ग-पद्धति (युक्तिकल्पतरु) मे कृत्रिम दुर्गो एव अकृत्रिम दुर्गो के दो दुर्ग-वर्ग पृथक्-पृथक् समुपस्थापित किये गये है जो कि मानसार की परम्परा नही है। जो कृत्रिम दुर्ग है वे ही अपनी स्थिति के अनुरूप पुन. अकृत्रिम दुर्ग मे परिवर्तित हो जाते है जहा प्रकृति-प्रदत्त उपादानो का बाहुल्य होता है।

'समरागण०' मे दुर्गों की सख्या छ है—जलदुर्ग, पकदुर्ग, वनदुर्ग, ऐरिणदुर्ग, पर्वतीय दुर्ग तथा गुहा-दुर्ग, जिनमे पर्वतीय दुर्ग सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रवचन मे प्राकृतिक उपादानो से परिपुष्ट अकृत्रिम दुर्गों का वर्ग-षट्क दृष्टिपथ मे आता है और उसी ओर भोज ने पाठको का ध्यान आकर्षित किया है। इसका क्या समाधान है? हमारी समझ मे यहाँ

भोज ने भले ही कृत्रिम-अकृत्रिम भेद द्वारा दुर्गों के प्रभेद पर प्रकाश न डाला हो परन्तु कृत्रिम दुर्ग, जो नगर-निवेश की सामान्य पद्धति से निविष्ट होते थे, उन पर पिष्टपेषण अभिप्रेत नही था।

दुर्ग-भेदो के विभिन्न वर्गो की विवेचना से हम इस तथ्य पर पहुँच चुके है कि भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थो के अनुसार दुर्ग के निम्न भेद हैं, जिनको हम कृत्रिम दुर्ग (अर्थात् दुर्ग-नगरो) तथा अकृत्रिम दुर्ग (सैन्य प्रयोजन-रक्षार्थ निविष्ट) इन दो भेदो से निम्न रूप में विभाजित कर सकते हैं—

(अ) कृत्रिम दुर्ग—दुर्ग-नगर

१—शिविर	३—वाहिनीमुख	५—सविद्धक	७—निगम
२—स्थानीय	४—द्रोणक	६—कोल्क	८—स्कन्धावार

(आ) अकृत्रिम दुर्ग (प्रकृति-प्रदत्त उपादानो से)

१—पर्वतीय दुर्ग—	(क) प्रान्तर	(ख) गिरिसमीपक	(ग) गुहा-दुर्ग
२—जल-दुर्ग—	(क) अन्तर्द्वीपीय	(ख) स्थल-दुर्ग	
३—धान्वन-दुर्ग—	(क) निरदक	(ख) स्थल-दुर्ग	
४—वनदुर्ग—	(क) खाजन	(ख) स्तम्ब-गहन	
५—मह्रीदुर्ग—	(क) पारिघ	(ख) पक	(ग) मृद्दुर्ग
६—नृदुर्ग—	(क) सैन्य-दुर्ग	(ख) सहायदुर्ग	
७—मिश्रदुर्ग—(पार्वत-वन्य)			
८—देवदुर्ग			

जहाँ तक दुर्ग-नगराष्टक का सम्बन्ध है वह तो नगर-प्रभेद के प्रकरण मे प्रतिपादित किया जा चुका है। अब अकृत्रिम दुर्गाष्टक अपने अवान्तर भेदो सहित विवेचनीय है।

१. पर्वतीय दुर्ग—

(क) प्रान्तर—यह पर्वत के शिखर-प्रदेश पर स्थित होता है, इसमे प्रवेश-मार्गो की रचना गुप्त मार्गो से, जो अन्तर्मार्गाकार (सबटेरैनियन टनेल्स) होते है, सम्पन्न की जाती है। देवीपुराण (७२, ११५-१६) के अनुसार यह बडा ही मांगलिक एव प्रशस्त दुर्ग बताया गया है। चित्तौडगढ़ तथा लका के दुर्ग इसके निदर्शन हैं।

(ख) गिरिपार्श्वक—यह पार्वत्य दुर्ग है जो पर्वत की समीपस्थ ढालू भूमि पर स्थित होता है। बूंदी का किला इसका निदर्शन है।

(ग) गुहादुर्ग—यह भी पार्वत्य दुर्ग है जो पर्वत की उपत्यका भूमि पर स्थित होता है तथा जिसके चारों ओर पर्वत श्रेणियाँ होती है। जयपुर तथा उदयपुर इसके निदर्शन हो सकते है।

२. जलदुर्ग—जहाँ पर चतुर्दिक् प्रवाहमय जल से सुरक्षित स्थान दुर्ग का काम देता है। इसके भी दो भेद है—

(क) अन्तर्द्वीप--जिसके दोनो ओर नदी बहती हो अथवा वह सागर के मध्य मे हो, इसी को शुक्राचार्य ने नदी-दुर्ग माना है (दे० अ० ४)। यह एक प्रकार का अन्तर्द्वीपीय नगर है जिसके सुन्दर निदर्शन आधुनिक बम्बई, प्राचीन लका, श्रीरगम्, कावेरीपत्तनम् है।

(ख) स्थलदुर्ग—इस दुर्ग की स्थिति उस प्रदेश पर वाछित है जो उच्च स्थल पर हो तथा जिसके चारो ओर अप्रवाही गम्भीर जलराशि हो। यह जलदुर्ग का अवान्तर भेद है।

३. मरुदुर्ग (धान्वन)—यह दुर्ग रेगिस्तान के मध्य मे होता है और इसके चारो ओर पाँच योजन तक जलाभाव रहता है। इसके भी दो भेद है—(क) निरुदक तथा (ख) ऐरिण।

प्रथम निरुदक मरुदुर्ग उस दुर्ग को कहेगे जो मरुभूमि से आच्छादित हो और जहाँ पर जल, वृक्ष तथा सस्य का पूर्णअभाव हो।

द्वितीय ऐरिण मरुदुर्ग उस भूमि के मध्य मे स्थित होता है जो समन्तात् क्षार जल मे ऊपर बन गयी हो। इन दोनो भेदो का मर्म यह है कि प्रथम दुर्ग की भूमि बालुका अथवा ककडो के कारण ऊषर है तथा दूसरे मे क्षारीय जल हेतु है। जहाँ प्रथम मे किसी प्रकार के पौधो की स्थिति अनुमेय नही वहाँ दूसरे मे ऐसी भूमि के अनुकूल पौधो, झाडियो तथा शिलाओ की स्थिति आवश्यक है। राजस्थान की बहुत-सी राजधानियों के दुर्ग इन्ही दोनो कोटियो मे आते है।

४. वनदुर्ग—वह दुर्ग है जिसके चारो ओर लगभग एक योजन तक घने जगल हो। इसके दो भेद है—(क) खाजन तथा (ख) स्तम्ब-गहन।

प्रथम दुर्ग के चारो ओर उन वृक्षो के जगल होने चाहिए जो लघु तथा कँटीले हों, वहाँ पर झाडियाँ हो, गुल्म हो तथा जलाभाव न हो। भूमि दलदली हो। दूसरे मे चारो ओर शाल-सदृश ऊँचे वृक्षो की गहनता हो तथा वहाँ पर जलाभाव न हो। मत्स्यपुराण तथा मनु के अनुसार इसको वार्क्ष कहते हैं।

५. महीदुर्ग—इस दुर्ग की तीन कोटियाँ है—

(क) पारिघ—पारिघ के प्राकारों तथा वप्रों, रैम्पार्ट्स एव पारापेट्स की रचना

मृत्तिका, शिलाओं अथवा इष्टकाओं से की जाती है। इसकी भित्तियों की ऊँचाई चौड़ाई से दुगुनी होती है तथा भित्तियाँ स्वभावतः बहुत चौड़ी होती हैं जिससे सतरी लोग उन पर निगरानी के लिए टहल सकें।

(**ख**) **पंकदुर्ग**—ऐसे भूमिप्रदेश से सुरक्षित हो जो पंकिल, क्षारीय अथवा सैकत मृत्तिका से भरा हो।

(**ग**) **मृद्दुर्ग**—वैसे तो इसका विन्यास सामान्य रूप से किया जाता है। विशेषता, जैसा इसके नाम से ही संकेत है, यह है कि इसकी दीवारें मिट्टी की बनी होती हैं। आधुनिक भरतपुर का विख्यात किला इसका निदर्शन है।

६. **नृदुर्ग**—इसके दो भेद हैं—सैन्यदुर्ग, सहायदुर्ग।

(**क**) **सैन्यदुर्ग**—इसमें बहुमुखी सेना के द्वारा रक्षाविधान दुर्ग के भीतर और बाहर दोनों जगह सदैव कतारें बाँधकर करने का आदेश है।

(**ख**) **सहायदुर्ग**—अथवा मित्रदुर्ग का अभिप्राय है मित्र-राजा, जो संक्रान्ति-काल में सहायता देकर रक्षा का कार्य करते है।

७. **मिश्रदुर्ग**—इसकी सुरक्षा-व्यवस्था पर्वतदुर्ग तथा वनदुर्ग की मिश्रित परिपाटी है।

८. **देवदुर्ग**—इस दिव्य एवं अलौकिक दुर्ग के सम्बन्ध में दत्त महाशय ने अपने ग्रन्थ में निम्न अवतरण दिया है—

ब्रह्मराक्षसवेताल-भूत-प्रेत-गुहैरपि ।
शिलावर्ष-प्रवृष्टिभिरालोक्यावेशनिर्गमे ।
मंत्रतंत्रादिसायकैरक्तं तद् देवदुर्गकम् ॥

इस अवतरण के अनुसार देवदुर्ग उसे कहेंगे जिसके प्रवेश-द्वारों की रक्षा देवों, दानवों, वेतालों, भूत-प्रेतों के द्वारा होती है। साथ ही इनके द्वारा अवसर आने पर शिलासघात, घनघोर वृष्टि तथा आँधी-तूफान आदि की अवतारणा से भी यह दुर्ग शत्रुओं के लिए अगम्य हो जाता है।

शिल्परत्न के अनुसार उस दुर्ग को दिव्यदुर्ग कहेंगे जिसकी भित्तियों पर इन्द्र, वासुदेव, गुह, जयन्त, वैश्रवण, अश्विनौ, श्रीमन्दिर, शिव, दुर्गा, सरस्वती की स्थापना हो। मनु के अनुसार (अ० ७ श्लोक ७२) यह देवदुर्ग एक प्रकार का पार्वत्य दुर्ग ही है जिसकी रक्षा देवगण करते हैं। कैलास पर्वत इसका निदर्शन हो सकता है। 'समरागण०' के अनुसार इन सभी दुर्गों में पर्वतीय दुर्ग सर्वश्रेष्ठ एवं प्रशस्त है।

अन्त में 'दुर्ग-नगर' के निवेशन पर मय मुनि का निम्न प्रवचन (म० म०, अ० ९) अवलोकनीय है। इतनी व्यापक, ओजस्वी एवं समृद्ध दुर्ग-नगर-परिभाषा अन्यत्र दुर्लभ है—

"जहाँ पर जल, अन्न तथा अस्त्र-शस्त्रो की अक्षय निधि हो, जिसके चारों ओर बड़े-बड़े उत्तुग साल वृक्षो की भरमार हो, सम्पूर्ण दुर्ग के चारो ओर प्राकार एवं परिखाएँ हो तथा रक्षार्थ अनेक द्वार निविष्ट हो। जिसकी उत्तुग भित्तियाँ कम से कम १२ क्यविक ऊँची हो और जिस पर 'वाच-टावर्स' अवलोकन तथा सैन्य-टोलियों से सुशोभित हों। दुर्ग प्रदेश मे भी जल की कमी न हो, मार्ग दुष्प्रवेश्य एव एकान्त निर्जन वन के सघन पथो के समान छन्न तथा छायामय हो। द्वारो पर गोपुर हों, मण्डप हो। चढने के लिए यत्र-तत्र गुप्त सीढियाँ हो। दुर्ग के सभी द्वारो के दानो कपाटो मे चार चार लौह अथवा काष्ठ-अर्गलाएँ हो जिनके कोणकील हस्त-प्रमाण से कम न हो। द्वार-प्रमाण दुर्ग-नगरानुरूप हो। इस दुर्ग-नगर मे विभिन्न जातियो के लोगो की अधिकता पायी जाती है। चतुर्दिक् शिविर सन्निविष्ट रहते है। राजवेश्म तथा सैन्यशालाएँ, दुर्गाभ्यन्तर प्रदेश मे सन्निविष्ट की जाती है। दुर्ग-नगर के लिए यह अनिवार्य है कि धान्य, चावल, तल, लवण, औषधि, लोह और इन्धन आदि सभार बहु परिमाण मे एकत्रित किये जायें, जो समय पर काम आ सके। इस प्रकार दुर्ग दुर्गम, दुर्लंघ्य तथा दुरवगाह होना चाहिए।"

शिविर—शिविर को हमने क्षणिक-दुर्ग माना है। 'समरागण०' के अनुसार शिविर-निवेश स्थापत्य के अष्टागो मे आठवा अग है। यह एक प्रकार की छावनी है। इसकी विस्तृत समीक्षा भारतीय वास्तु-शास्त्र (पृ० १२६-३१) मे पठनीय है।

[उत्तर–पीठिका]

इस प्रकरण की पूर्व-पीठिका मे हम पुरो अर्थात् नगरो के विषय मे विविध ज्ञातव्य वस्तुओं का निरूपण एव वर्णन कर आये है। नगर, नागरिक एव नागरिकता के सिद्धान्तों के आधार पर नगरो की प्राचीनता, नगरो का विकास, नगरो के भेद, नगरो के लघु-कलेवर ग्राम, उनके विभिन्न भेद, नगराकार दुर्गो अथवा दुर्गाकृति नगरो इत्यादि की समीक्षा से ज्ञानार्जन के साथ मनोरजन भी होता रहा है। अब क्रम-प्राप्त सर्वप्रथम नगर-निवेश के सास्कृतिक प्रयोजन की मीमासा और किंचित् विचार कर लेना अत्यावश्यक है।

पूर्व-पीठिका मे हमने नगरो के विकास के कारणो का सम्बन्ध भौगोलिक, आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक एव शिक्षार्थ आदि घटको से घटित किया है। नागर-शैली के विवेचन मे चारुता की महत्ता और उसकी देन के विषय मे हम प्रासाद-पटल मे विशेष विवेचन करेंगे। यहाँ पर इतना ही सकेत पर्याप्त होगा कि बडे-बड़े सुन्दर भवनो, प्रासादो, मण्डपो तथा सभाओ का निर्माण नगर की सौन्दर्य-वृद्धि के लिए साधारण

स्थानों में निर्मित उन भवनो की अपेक्षा विशिष्ट रूप से सम्पन्न करना चाहिए। स० सू० का नगर-प्रासादो के सम्बन्ध में यह प्रवचन है—"नगराणामलंकारहेतवे समकल्पयत्", अतः "चारुता" की यह विशेषता नगरो तक ही सीमित नही है, वात्स्यायन के अनुसार नागरिको के लिए भी परमावश्यक है। भारत की प्राचीन ६४ कलाओं में बहुत-सी ऐसी कलाएँ हैं जिनका उपभोग केवल एक समृद्ध नगर मे ऐश्वर्यसम्पन्न नागरिक ही कर सकते हैं (चौसठ कलाओ की सूची भा० वा० शा० (पृ० १३२–३४) मे द्रष्टव्य है) ।

नगर-निवेश के सिद्धान्तो की इस भूमिका मे चौसठ (या ६७) कलाओं की अवतारणा का क्या मर्म है—इस पर थोड़ा सा सकेत आवश्यक है। इनमे बहुत सी कलाएँ नागरिक हैं, जो साधारण ग्रामीण वातावरण मे नही पनप सकती। कलाओं के विकास का आधार एक सभ्य एवं समृद्ध मानव की सौन्दर्य-भावना है। इस सौन्दर्य-भावना का सम्बन्ध बहुत कुछ उसके यौवन से है। यौवन तथा सौन्दर्य ने ही सनातन काल से विभिन्न कलाओं की उपासना एवं सेवन के लिए उपयुक्त क्षेत्र प्रदान किया है। वात्स्यायन के कामसूत्र मे प्रतिपादित इन कलाओं के जन्म एवं विकास का सम्बन्ध पुरुषार्थ-चतुष्टय के अर्थ एव काम की तृप्ति से है। काम भी उतना ही सनातन एव सत्य है जितना धर्म एव मोक्ष। अतः इन कलाओं ने नागरिक सभ्यता एव नगरो के विकास में अत्यधिक सहायता प्रदान की— यह हम समझ सकते हैं।

प्राचीन शिल्प-शास्त्रियो ने वास्तु-कला—भवन-निर्माण-कला—वास-वसति-विज्ञान के सम्बन्ध मे जो "वास्तु" शब्द का वाच्यार्थ भूमि, हर्म्य, यान एव पर्यंक किया है, उसमे से प्रथम दो भूमि तथा हर्म्य को लेकर नगर-निवेश—वसति-विन्यास—ग्राम-निवेश एव पुर-निवेश (टाउन प्लानिंग) जैसे नागरिक शास्त्र का जन्म हुआ। क्योंकि भूमि और हर्म्य ही नगर-शरीर के सार्थक अग है। भूमि आधार है, हर्म्य आधेय। बिना भूमि के नगर का निवेश कहाँ ? बिना हर्म्य अर्थात् भवन, प्रासाद, राजप्रासाद, मण्डप, सभा, शाला आदि के नगर के कलेवर की पुष्टि कहाँ ?

वैसे तो आजकल वास्तु-शास्त्र का प्रचलित अर्थ भवन-निर्माण कला है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से एव शास्त्रीय पद्धति से बिना नगर निर्माण-नियमो के ज्ञान के भवन-निर्माण का प्रश्न ही नही उठता। भवनो के निर्माण-योग्य स्थान का दूसरा नाम नगर है। अत. साराश यह है कि वास्तु-शास्त्र का नगर-निवेश प्रमुख अग है, और प्रधान विवेचनीय विषय है।

अब क्रमप्राप्त नगर-निवेश के क्षेत्र अर्थात् उसके विभिन्न अंगो की विवेचना की जायगी। पुन. आगे नगर-निवेश के व्यापक सिद्धान्तो एव नियमो की समीक्षा करनी होगी, जिससे नगर-निवेश की सामग्री को हम समझ सके।

निम्न तालिका में स्थूल दृष्टि से नगर-निवेश के प्राय. सभी अंगो का समावेश हो जाता है—

१—देश-मापन
२—भूमि-सग्रह—भूमि-चयन
३—दिक्-परीक्षा
४—पद-विन्यास—वास्तु-पद-विभाजन अर्थात् निवेश्य स्थल का विभिन्न भागो मे विभाजन और वर्गीकरण, विभिन्न पद्धतियाँ–प्राचीन तथा अर्वाचीन
५—नगर की अभिवृद्धि के लिए शान्तिक एव बलिकर्म-विधान
६—मार्ग-विन्यास
७—प्राकार-परिखा-वप्रादि-विन्याम-योजना एव उसमें अट्टालक, कपिशीर्षक, चरिकादि-विन्यास तथा द्वार एव गोपुर-विधान
८—भवन-निवेश
९—मण्डप-विधान (मन्दिर-देवतायतन)
१०—राजवेश्म
११—आरामोद्यान, पुष्प-वीथिकाएँ, पुरजन-विहार तथा सर्वसाधारण भवन आदि
१२—गर्हित पुर का वर्जन।

ये ही विषय आगे के स्तम्भो का कलेवर निर्माण करेगे।

देश-चयन एवं भू-परीक्षा

देश-चयन—प्रकृति, जनपद एव जलवायु को दृष्टि मे रखकर देश-भूमि-चयन किया जाता है। राजधानी-नगर के निवेश के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्र कहते है (प्र० अ०)—"उस सुरम्य एव समतल भू-प्रदेश पर राजधानी-नगर का निवेश करना चाहिए, जो विविध प्रकार के विटपो, लताओ और पौधो से आकीर्ण हो, जहाँ पर पशु-पक्षी तथा जीव-जन्तुओ की पूर्ण सम्पन्नता हो, जहाँ पर खाद्य एव जल की पूर्ण सुलभता हो। जहाँ पर चारो ओर हरियाली, बाग-बगीचे, जगल के प्राकृतिक सौन्दर्य दर्शनीय हों। जहाँ पर समुद्रतट पर गमनशील नौकाओ के यातायात द्वारा उनका सचार दृष्टिपथ में रहता हो और वह स्थान पर्वत से बहुत दूर न हो।"

शुक्राचार्य के इन औपोद्घातिक वचनो के निर्देश के उपरान्त राजा भोज के भूमि-चयन-विषयक वचनो को देखना चाहिए—

"जिस भू-प्रदेश की गोद में चारो ओर बड़ी-बडी शिलाओ वाली पर्वत-श्रेणियाँ हो और जिन पर सुन्दर सुरम्य कुंजो, गुल्मो, लताओ तथा विटपो की शोभा दर्शनीय हो और जिनमें सतत धातु-स्यन्दन होता रहता हो, जहाँ पर सुन्दर नदियाँ बह रही हो, जिनके तटो पर चित्र-विचित्र विटपो की छाया जल मे देखी जाती हो, जिनका जल स्वादु हो, जो स्नान, वहन और तरण के लिए क्षम एवं सुखद हों।" पर्वत-सामीप्य एव नदी की सुविधा की ओर ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। अब वनो का विचार करे—"राजधानी-स्थल के पास विविध पुष्पों-फलो से लदे हुए वनो की भरमार हो और सदैव बसन्त की बहार रहती हो, कोकिलों की कलरव ध्वनि, भ्रमरो का गुजन सदैव कर्ण-कुहरो में पीयूष की वर्षा करता हो। हो सकता है किसी स्थान पर सरिताएँ न हो तो फिर पुष्करिणियो (झीलो) तथा तड़ागों की दर्शनीय छटा हो, जिनमे खूब अटूट जलराशि हो और जिनमे कमल खिले हों और भँवरे गुजार कर रहे हों।" अब खाद्यान्न की प्रचुरता के लिए भोजराज कहते है—"बिना खाद्य-व्यवस्था के बस्ती कहाँ पनपेगी। अत जहाँ पर सस्य-निष्पादक क्षेत्रो की खूब भरमार हो, इनकी सीमाएँ विभक्त—सम हो, ऊबड़-खाबड़ प्रदेशों में न हो, इनकी जमीन सुगन्धित हो, शीतल हो। साथ ही ईंधन तथा गृह-प्रयोज्य काष्ठ आदि के लिए बिना काँटे वाले बड़े-बड़े वृक्षों की भी कमी न हो। राजधानी के लिए इसी प्रकार की भूमियाँ प्रशस्त है।"—स० सू०, अ० ८।

भू-परीक्षा—भूमिचयन मे जहाँ उस स्थान के उर्वर, सुन्दर, स्वस्थ एव सुविधा-युक्त वातावरण को ध्यान मे रखना आवश्यक है, वही यह भी देखना है कि भूमि भवन-निर्माण के उपयुक्त है कि नही? अत. सभी शिल्प-शास्त्रो मे भू-परीक्षण पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। भू-परीक्षण-विधान को हम दो भागो मे बाँट सकते है—एक भूस्थल-परीक्षा, दूसरे मृत्तिका-परीक्षा।

जो मानसार, मयमत आदि प्रमुख शिल्पीय ग्रथो एव पुराणो मे भू-परीक्षा-विधान पर प्रकाश डाला गया है उसका साराश यह है कि उसकी औचित्य-अनौचित्य परीक्षा मे वर्ण, गध, स्वाद, आकृति, दिङ्मुखता (डाइरेक्शन), ध्वनि, स्पर्श आदि सभी दृष्टियों से उसकी उपयुक्तता जाँचनी चाहिए। भू-स्थल समतल हो, उसका प्रवाह पूर्वाभिमुख हो, बायी से दाहिनी ओर प्रवहमान जलस्रोत हो, मृत्तिका का प्राचुर्य हो तथा पुरुषभर नीची खुदाई से जल प्राप्त हो सकता हो एव समशीतोष्ण जलवायु हो।

भू-परीक्षा मे विविध भूमियों की भी परीक्षा अनिवार्य है। भूमि के साधारणतया तीन भेद हैं—जागल, अनूप तथा साधारण। पुन. इन तीनो भू-प्रदेशो मे प्राप्त नाना भेदोपभेद बतलाये गये है (दे० भा० वा० शा०, पृ १४०–४१)। इसके अतिरिक्त

गन्ध, वर्ण, स्वाद, स्पर्श एवं ध्वनि-भेद से भू-परीक्षा के जो विवरण स्थापत्य-शास्त्र में समान रूप से पाये जाते हैं उनसे प्राचीन भारत की भू-परीक्षा कितनी वैज्ञानिक थी, यह अनुमान आजकल के भूगर्भ-विद्या-विशारद (जियोलोजिस्ट) कर ही सकते है।

भू-परीक्षा के इस प्रकरण को हमने दो भागो मे बाँटा है—भूस्थल-परीक्षा तथा मृत्तिका-परीक्षा। भूस्थल-परीक्षा के सम्बन्ध मे कुछ निर्देश हो चुका है, अब आगे मृत्तिका-परीक्षा की अवतारणा की जाती है। परन्तु भूमि-चयन के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण छूटा जा रहा है। वह है भूमि-प्लवन, 'नेचुरल प्रोक्लिविटीज आफ दी ग्राउड', अर्थात् 'डेक्लिविटी टुवर्डस वन डाइरेक्शन आर दी अदर।'

मृत्तिका-परीक्षा—मृत्तिका-परीक्षा के विभिन्न उपायो पर प्राय सभी शिल्पीय ग्रन्थों मे प्रकाश डाला गया है, उनके अन्तस्तल मे एक ही आधार-भूत सिद्धान्त है—वह है भूमि की कठोरता। जो भूमि कठोर नही है वह भवन-निर्माण, मन्दिर-रचना, प्रासाद-विन्यास अथवा राजप्रासाद रचना के लिए कैसे उपयुक्त हो सकती है? इसी रहस्य के उद्घाटन के लिए मयमत के चौथे अध्याय मे, मानसार के चतुर्थ तथा पचम अध्यायो मे, काश्यपीय-शिल्प के प्रथम भाग मे, राजवल्लभ एव मत्स्यपुराण के अपने-अपने अध्यायों मे विशेष प्रकाश डाला गया है, जिसके वास्तु-तत्त्व-समीक्षात्मक स्वरूप का प्राय सभी ग्रथो मे उल्लेख किया गया है और जिसकी एक प्रकार से सर्व-साधारण प्राचीन परम्परा-सी स्थापित हो गयी हैं। मृत्तिका-परीक्षा के लिए हलकर्षण भी एक प्रकार से सामान्य अग रहा है। निवेश्य भूमि को जोतवा देने से जो शुभ-निमित्तक अथवा अशुभ-निमित्तक वस्तुएँ निकलती है उससे भी भूमि की प्रशस्तता-अप्रशस्तता का ज्ञान हो जाता है।

'समरागण०' के अनुसार मृत्तिका-परीक्षा के विभिन्न प्रकारो मे निम्न प्रक्रियाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

प्रथम प्रक्रिया—निर्वाचित भूमि के मध्य मे एक हाथ गहरा गड्ढा खोदना चाहिए, फिर गड्ढे से पूरी मिट्टी निकाल कर उसी मिट्टी से उसको भरना चाहिए। यदि मिट्टी गड्ढा भरने से बच जाय तो श्रेष्ठ, पूरी पूरी भर जाय तो मध्यम और कम पड़ जाती है तो अधम समझनी चाहिए।

दूसरी प्रक्रिया—गड्ढा खोदकर उसकी मिट्टी निकाल दी जाय, फिर उसमे मिट्टी के बजाय पानी भरना चाहिए। पानी भरकर सौ कदम चलना चाहिए। पुन लौट आने पर यदि पानी जितना था उतना ही रहे तो श्रेष्ठ, कुछ कम हो जाय (आधा) तो मध्यम और बहुत कम हो जाय (चौथाई अथवा और अधिक) तो निकृष्ट समझना चाहिए। 'समरागण०' की इस प्रक्रिया मे मत्स्यपुराण-प्रक्रिया की छाप है, परन्तु मय

मुनि ने इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे और भी कठोरता दिखायी है । उनके अनुसार गड्ढे मे सायकाल पानी भरा जाय, तब दूसरे दिन प्रातः उसकी परीक्षा करनी चाहिए । यदि उसमे प्रातः भी कुछ पानी के दर्शन हो जायँ तो उसे अत्युत्कृष्ट भूमि समझना चाहिए, इसके विपरीत गुण वाली भूमि अनिष्ट-दायिनी तथा वर्ज्य है । मयमत के विचार से मृत्तिका-परीक्षा की इस प्रक्रिया द्वारा सम्भवत यह निर्देश मिलता है कि भूमि के निर्वाचन में उसकी कठोरता एव स्थिरता तो देखनी ही चाहिए साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि वह भूमि उर्वरा अथवा जल-निर्भरा है कि नही । जलाभाव वाली अथवा जलन्यून पृथ्वी आवास के अयोग्य होती है ।

तीसरी प्रक्रिया—जमीन मे गड्ढा खोदकर वर्णानुसार (ब्राह्मण की शुभ्र, क्षत्रिय की रक्त, वैश्य की पीत, शूद्र की कृष्ण) पुष्पमालाएँ रखी जायँ, जिस वर्ण की माला न सूखे उस वर्ण वाले के लिए वह भूमि कल्याण-युक्त होगी ।

चौथी प्रक्रिया—खोदे हुए गड्ढे की चारो दिशाओ मे चारो वर्णों के अनुरूप (ब्राह्मणों के लिए पूर्व, क्षत्रियों के लिए दक्षिण, वैश्यों के लिए उत्तर, शूद्रो के लिए पश्चिम) दीपक जलाकर रखना चाहिए । जिस दिशा की ओर रखा हुआ दीपक देर तक जले उस दिशा वाले वर्ण के लिए वह भूमि प्रशस्त होगी । 'समरागण'० की इस प्रक्रिया पर भी मत्स्य-पुराण की छाप है । मत्स्यपुराण (दे० २२७वाँ अध्याय) मे लिखा है कि कच्चे दीपक में घी भरकर पुन उसमे चार बत्तियाँ जलाकर चारो दिशाओ की ओर सकेत करते हुए खोदे हुए गड्ढे मे रख देनी चाहिए, फिर उनसे शुभाशुभ देखना चाहिए ।

मृत्तिका-परीक्षा की इन प्रक्रियाओ मे प्रथम दो वैज्ञानिक तथा अन्तिम दो पौरा-णिक समझ पडती हैं । प्रथम दोनों प्रक्रियाओ का वैज्ञानिक रहस्य यह है कि प्रथम प्रक्रिया झिरझिरी जमीन को मकान बनाने के लिए उपयुक्त नही बतलाती तथा दूसरी भूमि के ढीलेपन की ओर संकेत करती है । दोनो ही तरह की जमीनें भवन-निर्माण के लिए उचित नही है यह तो आधुनिक इंजीनियर भी स्वीकार करते है ।

दिक्-सामुख्य साधन

भूमि-चयन और मृत्तिकापरीक्षा पर प्रकाश पड़ चुका । अब नगर-निवेश-मर्मज्ञ के लिए यह भी आवश्यक है वह निर्वाचित स्थल-विशेष की दिक्परीक्षा एव तदनुसार उस स्थान का दिङ्निर्माण सम्पादन करे । प्राचीन काल में दिशाज्ञान के लिए आजकल के समान यत्रो की कमी नही थी । तत्कालीन स्थापत्य-कोविद इस सम्बन्ध मे जिस प्रक्रिया का आश्रय लेते थे वह भी कम वैज्ञानिक नही थी । शंकुस्थापन से यह कार्य सम्पादन किया जाता था । शंकुस्थापन का प्रयोजन डायलिंग के सिद्धान्तो और

दिशामापन की प्रक्रिया दोनो से सम्बन्धित है। शंकु विशिष्ट वृक्षों की लकड़ी से निर्मित किया जाता है, इसकी लम्बाई २४, १८ अथवा १२ अगुल हो सकती है। इसकी चौडाई (आधार पर) ६, ५ अथवा ४ अगुल हो। शकु को केन्द्र मानकर एक वृत्त खीचा जाता है जिसके व्यास का परिमाण शंकु की दुगनी लम्बाई के बराबर होता है। इस पर दो चिह्न अकित किये जाते हैं जहाँ पर शकु-छाया मध्याह्न के पूर्व तथा उपरान्त वृत्त की परिधि पर पडती है, जो रेखा इन दोनो बिन्दुओ को मिलाती है वह पूर्व-पश्चिम रेखा है। पुन प्रत्येक पूर्वीय तथा पश्चिमीय बिन्दुओ से एक वृत्त बनाया जाता है जिसका व्यास उन दोनो की दूरी का होता है और अन्तर्भेदी बिन्दु उत्तर तथा दक्षिण की सूचना देते हैं। इसी प्रक्रिया से अन्य दैशिक कोणो की रचना होती है।

इस प्रकार इस विधान से दिशाज्ञान-सम्पादन किया जाता है। अब डायलिग के सिद्धान्तो के विषय की विवेचना मे इतना सकेत पर्याप्त है कि प्रत्येक बारहों महीने प्रत्येक १० दिन के तीन-तीन हिस्सो मे बाँटे जाते हैं और उनकी बढती-घटती से इन महीनो के विभिन्न भागो की गणना की जाती है। वास्तुशास्त्रीय समीक्षा मे शकुस्थापन-विधान की उपयोगिता पर विवेचन इसलिए किया गया है कि वास्तु-कला मे भवन, पुर, ग्राम अथवा विभिन्न आवास-स्थलो का दिक्साम्मुख्य परम्परागत शास्त्रीय नियमो का उल्लघन न कर सके। भवन का सामुख्य पूर्वदिङ्मुख हो अथवा पश्चिमोत्तर दिशा की ओर यही तो इस देश की सनातन व्यवस्था है। दक्षिण दिक्-साम्मुख्य अमगल माना गया है।

अन्त मे भूमिसग्रह, भूमिचयन, भूमिशोधन अथवा भू-परीक्षा कहिए, उसकी इतनी समीक्षा के उपरान्त इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वास्तुतत्त्व के आधार-भूत सिद्धान्तो की ओर एक दो शब्दो मे और भी ध्यान आकर्षित कर दिया जाता है। भूमिचयन अथवा भूमि-परीक्षण के हम दो आधारभूत सिद्धान्त मान सकते हैं। एक सामाजिक दृष्टिकोण तथा दूसरा भूगर्भिक दृष्टिकोण। प्रथम दृष्टिकोण पर आगे विशेष रूप से विचार करेंगे, जिसमे नगर के रेखा-चित्र निर्माण के साथ-साथ नगर के मध्य मे आवास-स्थलो, सभा-भवनों, मदिरो, राजभवनो, पुरजन-विहारो आदि के विन्यास की योजना सम्मिलित है, नगर-सुधार अथवा नगर विस्तार-योजनाओ को भी बनाने की सामग्री प्रस्तुत है। दूसरे दृष्टिकोण (जियोलोजिकल सर्वे) पर इस प्रकरण मे समुचित सामग्री की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया ही गया है। इसके अनुसार नगर-निवेश के पूर्व यह पता लगाना आवश्यक होता है कि भूमि उर्वरा है या नही, उसमे भवन-स्थायित्व की सामर्थ्य है या नही ? उसके पास जीवन की विभिन्न आवश्य-कताओ—भोजन, आच्छादन, कृषि तथा व्यवसाय आदि के साधन के साथ-साथ भवनो-पयोगी सामग्री सुगमता से प्राप्य है या नहीं ? यदि किसी नगर का निवेश किसी सरिता-

तट पर अथवा सागरतट पर करना है तो वहाँ पर नगर की ओर के गिराव-फिसलाव की तो सम्भावना नही। नगर निवेशक वास्तु-कलाविद् को यह भी ध्यान देना होता था कि उस नगर के मार्ग-विन्यास (आभ्यन्तरिक तथा बाह्य दोनों) से सचार-सौकर्य, यातायात, आवागमन तथा दूसरे नगरो से सम्बन्ध-स्थापन आदि की सुविधा है या नही। जल-व्यवस्था की सुविधा पर भी पूर्ण ध्यान रखने की अत्यन्त आवश्यकता होती ही थी।

जीवन की इन विविध आवश्यकताओं के साथ-साथ तत्कालीन एवं तद्देशीय राज्य-व्यवस्था तथा राजनीतिक परिस्थितियो का भी नव-निर्मित नगर पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह भी विचारने की बात होती है। इसी हेतु नगर के आकार-प्रकार, उसकी परिखा तथा वप्र आदि का विन्यास व्यवस्थित करना आवश्यक माना जाता था। नगर की वासभवन-विनियोजना मे परम्परागत वर्णानुकूल बस्तियो का निर्माण और नव-निवेश्य नगर की आर्थिक, ऐतिहासिक तथा कलात्मक सम्पन्नता, पादपारोपण, उद्यान-व्यवस्था आदि का पूर्ण ध्यान रखना होता था। इस प्रकार प्राय. इन सभी दृष्टि-कोणो से नगर-निवेश की प्रक्रिया सम्पादित करनी चाहिए। प्राचीन भारत मे भी शास्त्रीय पद्धति तथा कलात्मक ज्ञान विद्यमान था—इसका अनुमान पूर्वोक्त सक्षिप्त विवेचन से भली भाँति लगाया जा सकता है।

पद-विन्यास

पद-विन्यास पुर-निवेश एव भवन-निवेश दोनो की प्रथम प्रक्रिया है। वास्तुकला एवं वास्तु-विद्या का जन्म वेदी-रचना से प्रादुर्भूत हुआ—यह हम जानते ही हैं। 'वास्तु' का सम्बन्ध 'पुरुष' और 'पद' से पहले हुआ, शास्त्र और कला से बाद मे। किसी धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रारम्भ मे भूमिचयन आवश्यक है। जिस भू-खण्ड पर वैदिक यज्ञ आदि सम्पन्न होते थे उसे वास्तु-पद कहा जाता था। वैदिक यज्ञो के लिए वेदी-रचना एक आवश्यक अग है। वेदी-रचना वास्तु-पद पर होनी चाहिए। उसका एक अधिष्ठाता देवता भी होना चाहिए जिसकी सज्ञा वैदिक साहित्य मे "वास्तोष्पति" है। वास्तु-प्रतिष्ठा का जो वैदिक मन्त्र प्राचीन काल मे प्रचलित था वह आज भी प्रचलित है। मानव ने सनातन काल से सहायक देवों की कल्पना की है। जल-देवता, वन-देवता, गृह-देवता आदि से सरक्षा पाने की यह भावना चिरतन काल से प्रचलित है। अतएव किसी भी सस्कार अथवा धार्मिक कृत्य की सरक्षकता एवं सफलता के लिए उस सस्कार एव कृत्य के अधिष्ठाता की आवश्यकता है। वास्तु-कार्य इस देश में धार्मिक कार्य के रूप में प्रकल्पित हुआ, अतएव स्थपति के अतिरिक्त स्थापक आचार्य, भवन-स्वामी यजमान तथा

ज्योतिषी पुरोहित—ये तीनों मिलकर वास्तु-कार्य के प्रारम्भ में वास्तु-पद के अधिष्ठाता देव वास्तु-पुरुष एव विभिन्न वास्तु-पदो के अधिपति देवो का आवाहन करते हैं। अतएव वास्तु-पूजन किसी भी भवन-कार्य का एक अनिवार्य अग हो गया है।

वास्तु-पद एवं वास्तु-पुरुष की इस प्राचीन परम्परा पर इस उपोद्घात के उपरान्त वास्तु-शास्त्र में इसका क्या महत्त्व है यह समझना आवश्यक है। सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथवर्ती वास्तु-सिद्धान्तो के विवेचन मे वास्तु-पद-विन्यास को प्रथम स्थान दिया गया है। भवन-कार्य निवेश-योजना एव निर्माण-प्रक्रिया दोनो ही है। आजकल भवन की निवेश-योजना इजीनियर लोग करते हैं। प्राचीन स्थपति राज और इजीनियर दोनो ही था। अत. वास्तु-पद-विन्यास को हम एक मोटे ढग से भवन का रेखाचित्र समझ सकते है। इस पद-विन्यास का विशेष सम्बन्ध नगर-गत विभिन्न स्थानो एव दिङमुखो मे निवेश्य देवालयो, राजालयो, विद्यालयो, सभालयो, वर्णानुसार भवनो, कर्मानुसार कार्यालयो एव कर्मचारियो की बस्तियो की सन्निवेश-व्यवस्था से ही नही है वरन् पुर-मार्गों का सन्निवेश भी इस पद-विन्यास का एक अग है।

अत शास्त्रो मे नगर-निवेश के प्रारम्भिक पर्यवेक्षण के उपरान्त इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय पर विवेचन है और उसका सम्बन्ध धार्मिक तथा पौराणिक रीति मे किया गया है (जैसा कि आगे एतत्सम्बन्धी समीक्षा से प्रकट होगा)। तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से इसका नगर-गत भवन-निवेश प्रक्रिया से सम्बन्ध होने के कारण भू-परीक्षा एव भू-मापन के उपरान्त वास्तु-पद-विन्यास का अवसर आता है। पुरनिवेश मे वास्तु-पद-विन्यास-प्रक्रिया से निवेश्य पुर के विभिन्न मार्गों, उपमार्गो आदि की योजना के साथ-साथ पुर की विभिन्न निवेश-योजनाओ—राजवेश्म, देवतायतन, जनावास के स्थान-विभाग प्रकल्पित किये जाते हैं। इसी प्रकार भवन अथवा प्रासाद के वास्तु-पद-विन्यास मे उस के पद (प्लाट) एव उस पर प्रतिष्ठित विभिन्न भवनाग अथवा प्रासादाग अपने उपागो के साथ परिकल्पित किये जाते हैं। अत पद-विन्यास यथार्थत निवेश्य भूमि का विभाजन है। यह विभाजन कैसे किया जाय ? उसके कितने प्रकार है ? उसकी अन्य व्यवस्था क्या है—इन्ही सब का उत्तर वास्तु-पद-विन्यास-प्रक्रिया है।

वास्तु-पद-विन्यास एव वास्तु-पुरुष प्रकल्पन 'समरागण०' के अनुसार अष्टाग-स्थापत्य का प्रथम अग है। सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रथो मे भारतीय वास्तु-विद्या की इस अनिवार्य परम्परा का उल्लेख किया गया है। निवेश्य भूमि को प्रथम विभिन्न-सख्यक चौकोर पदो मे विभाजित किया जाता है। मानसार के अनुसार (अ० ७) इस विभाजन की ३२ पद्धतियाँ हैं, इनके अनुसार निवेश्य भूमि को विभिन्न सख्यक वर्गों मे विभाजित किया जाता है। इनकी सज्ञाओ का आधार उन वर्गो की सख्या है जिसमे यह निवेश्य

स्थल विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग-पद्धति की इस प्रकार सयोजना की गयी है कि विभाज्य टुकडो की संख्या विभाज्य वर्ग की क्रमिक सख्या की प्रतिनिधि होती है। जैसे ८१ पद वाले वास्तुपद मे १० आयताकार समानान्तर रेखाएँ तथा १० (ट्रान्स-वर्स) रेखाएँ यदि हम खीचे तो इस पद में ८१ टुकडे निकलेगे। वे सभी वर्ग होगे अत. उनकी अपनी सम्पूर्ण सख्या से इस वास्तुपद का नाम '८१ पद वाला वास्तु-विन्यास' हुआ। ८१ पद वास्तु-पद का परिशिष्टस्थ रेखाचित्र इस तथ्य को स्पष्ट करता है।

इसी प्रकार दो से लगाकर ३२ प्रकार के वास्तुपद अथवा पुर-मानचित्र, भवन-मान-चित्र, प्रासाद-मानचित्र तैयार हो सकते हैं। इन्ही रेखाचित्रो को आधार मानकर वास्तु-कार्य प्रारम्भ किया जाता था। इन वास्तु-पद-योजनाओ को आजकल की भाषा मे 'साइटप्लान्स' के नाम से पुकारा जा सकता है। इनमे से एक आदर्श प्लान लेकर हमें इसकी सविस्तर समीक्षा करनी है जिससे भारतीय वास्तु पद-विन्यास-प्रक्रिया समझने मे सुबोध हो जाय।

वास्तु-पद मे, जैसा कि परिशिष्टस्थ रेखाचित्र मे आगे सकेत किया गया है उसमे ८१ वर्ग-टुकडे हैं। इनमे से प्रत्येक की सज्ञा "पद" कही गयी है और उसका एक अधिष्टाता देव प्रकल्पित किया गया है। यह पद-विन्यास आधुनिक भवन-रेखा चित्र (हाउस-प्लान) अथवा पुर-रेखाचित्र (टाउन-प्लान) के सदृश प्राचीन स्थपतियो के लिए निवेश-योजना मे बडी ही सुगमता एव सुविधा प्रदान करना था। उदाहरण के लिए इस पद-विन्यास मे अथवा किसी भी पद विन्यास-पद्धति मे केन्द्रस्थान का स्वामी ब्रह्मा होता है। अत उसे ब्रह्मपद की सज्ञा दी गयी है। अत. यदि शास्त्र मे ऐसा निर्देश मिले कि ब्रह्म-पद पर अमुक भवनाग का निवेश करना चाहिए, तो सीधी भाषा मे उसका अर्थ होगा कि ८१ पद वाले खण्ड मे नवपदिक ब्रह्मपद पर निर्माण अभिप्रेत है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पद विन्यास के अपने-अपने पदो के स्वामी देवो के सकेत से यह सम्पूर्ण पद-व्यवस्था सहज बोधगम्य हो जाती है। निवेश्य भूमि की चार प्रधान दिशाओ एव चार उपदिशाओ तथा केन्द्र एव मध्यभाग मे कहाँ पर कैसा निवेश करना है—क्या छोड़ना है—यह सब बडा ही बोधगम्य बन जाता है। पदविन्यास की प्रक्रिया मे पददेवो के सम्बन्ध मे एक दो शब्दो को और समझ लेना चाहिए। पदिक अथवा पदभुज का सकेत एक वर्ग के अधिपति देव से है। द्विपदिक अथवा द्विपदाधीश का अर्थ उस देव से है जो दो वर्गो का स्वामी है। इसी प्रकार षट्पद-भुज अथवा षट्पदाधीश का सकेत ६ वर्गों के स्वामी से है।

प्रधानतया वास्तुपद-देवो को हम दो कोटियो मे बाँट सकते हैं—अन्तः सश्रयदेव (वर्ग के मध्य तथा मध्यकोण के पदो के स्वामी-देवता), बहिः सस्थदेव (वर्ग के बाहर

के देवता)। स० सू० के अनुसार प्रत्येक वास्तुपद-विन्यास में (विशेष कर ६४, ८१ तथा १०० पद वाले मे) ४५ देव विहित हैं जिनकी एकाशीति-पदवास्तु में निम्न रूप से प्रतिष्ठा प्रतिपादित की गयी है—

अन्तःस्थ देव

क—केन्द्राधिपति—	१–ब्रह्मा	नवपदिक	६
ख—मध्यस्थ देव—	२–अर्यमा (पूर्व)	षट्पदिक	
	३–विवस्वान् (दक्षिण)	,,	
	४–मित्र (पश्चिम)	,,	
	५–पृथ्वीधर (उत्तर)	,,	२४
ग—मध्यस्थ कोणो के देव—	६–सविता	एकपदिक	
	७–सावित्री	,,	
	८–जय	,,	
	६–इन्द्र	,,	
	१०–यक्ष्मा	,,	
	११–रुद्र	,,	
	१२–आप	,,	
	१३–आपवत्म	,,	

बहिःसंस्थ देव

१४–अग्नि	१५–पर्जन्य	* १६–जयन्त	१७–इन्द्र
१८–रवि	१६–सत्य	* २०–भृश	२१–नभ
२२–अनिल	२३–पूषा	* २४–वितथ	२५–गृहक्षत
२६–यम	२७–गन्धर्व	* २८–भृगराज	२६–मृग
३०–पितृगण	३१–दौवारिक	* ३२–सुग्रीव	३३–पुष्पदन्त
३४–वरुण	३५–असुर	* ३६–शोष	३७–पापयक्ष्मा
३८–रोग	३६–नाग	* ४०–मुख्य	४१–भल्लाट
४२–सोम	४३–चरक	* ४४–अदिति	४५–दिति

३२×८=४०

योग ८१

टि०–१—इनमे पुष्पांकित देवता द्विपदाधीश हैं। अर्थात् जयन्त, भृश, वितथ, भृग-राज, सुग्रीव, शोष, मुख्य तथा अदिति—ये आठ देवता बहिःसंस्थ तो हैं ही, भीतर घुसकर एक-एक पद का और भोग करते हैं—प्रभुता रखते हैं।

टि०—२—भीतरी १३ तथा बाहरी ३२ इन ४५ देवों के अतिरिक्त चरकी, विदारी, पूतना तथा पापराक्षसी ये चार ऐशान्य, आग्नेय, नैर्ऋत्य एव वायव्य कोणो मे क्रमशः स्थित बतायी गयी है। इन का स्थान-मात्र है, पदभोग नही। अस्तु, परिशिष्टस्थ रेखा-चित्र से इन सभी की स्थिति समझ मे आ सकती है।

वास्तु-पद-प्रयोग—'समरांगण०' के अनुसार (अ० १३, ३–५) एकाशीति पद वाले वास्तु-पद पर वर्णियो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) के भवनो के साथ-साथ राजा का प्रासाद एव भूपतियो के आधिपत्य-प्रतीक देवता स्वर्गपति इन्द्र के प्रासाद (इन्द्र-स्थान) का निर्माण करना चाहिए। देव-प्रासादो (विभिन्न देवो एव देवियो के मन्दिरो) तथा उनके सवृत (सयुक्त) अथवा विवृत (पृथक्) दोनो प्रकार के मण्डपों के निर्माण मे 'शतपद-वास्तु' का प्रयोग करना चाहिए। ग्रामो, पुरो एव उनके विभिन्न भेदो के साथ-साथ राजाओ के शिविरो के लिए ६४ पद वाला वास्तु-पद बनाया जाता है। अन्य शिल्प-ग्रन्थों मे वास्तु-पद-प्रयोग कुछ भिन्न है। मानसार मे प्रासाद-मन्दिर के लिए भेकपद अर्थात् ६४ पद वाला वास्तु-पद बताया गया है।

वास्तु-पुरुष—प्रमुख वास्तु-पदों एव उनके अधिपति देववर्गों के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब उन सबके अधिष्ठातृ-देव वास्तु-पुरुष की भी वास्तु-प्रतिष्ठा की चर्चा होनी चाहिए। 'समरागण०' के अष्टाग-लक्षण नामक ४५वे अध्याय के अनुसार वास्तु-पुरुष विकल्पन स्थापत्य का प्रथम अग है, अत: निवेश्य-पद पर वास्तु-पुरुष-प्रतिष्ठा स्थपति की प्रथम योग्यता है। वास्तु-पुरुष समस्त पद का स्वामी है। वास्तु-पुरुष का नामानुसार पुमाकृति मे प्रकल्पन करना चाहिए (म० सू०, १४. १)। उसकी वास्तु-आकृति वक्र बतायी गयी है और पृष्ठ उठा हुआ, अतः उसकी इस प्रकार से प्रतिष्ठा करनी चाहिए कि उसका समस्त निवेश्य-पद पर विन्यास हो सके। इस प्रकार विभिन्न पदो के अधिपति देव वास्तु-पुरुष के विभिन्न अगो के अधिपति बन जाते है अथवा वास्तु-पुरुष रूपी प्रकाण्ड तरु की वे सब (ब्रह्मा) स्कन्ध, बडी और मोटी शाखाएँ (अर्यमादि ४ देव) एव क्षुद्र शाखाएँ (अन्य देव) मात्र है। वास्तु-पुरुष एव वास्तु-पद-देवो की इस भावना मे वैदिक सूक्ति की "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"—महाभावना का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है।

अस्तु, वास्तु-पुरुष के विभिन्न अगो पर भावित देवो की कल्पना ही वास्तु-पुरुष-मण्डल प्रकल्पना है। अगानुरूप देव-स्थिति की चर्चा भा० वा० शा०, पृ० १५५–५७ में पठनीय है।

विभिन्न-वर्गीय देवो की प्रतिष्ठा एवं वास्तु-पुरुष की इस प्रकल्पना मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मर्म निहित है। हिंदुओ के सभी कृत्य देव-भावना से अनुप्राणित है। देव-

भावना—"शिव-भावना" कल्याण–सुख–ऐश्वर्य की भावना की प्रतीक है। प्रकृति का यह विशाल साम्राज्य ही देव-राज्य है। प्रकृति के द्वारा प्रस्तुत एव प्रदत्त ऐश्वर्य को हम किस प्रकार से भोग कर सकते है; इसीलिए यह सब विधान एव विधेय प्राचीन वास्तुकारो ने प्रस्तुत किये है।

कोई भी निवेश्य (भवन, पुर अथवा प्रासाद) जब तक दिक्-साम्मुख्य के आधार-भूत सिद्धान्त का पूर्ण अनुगमन नही करता, तब तक वह सुख एव कल्याण का विधायक नही बन सकता। अतएव हमारे पारदर्शी शिल्पी शास्त्रकारो ने (जिनमे वास्तु-शास्त्रकार भी सम्मिलित है) दिक्-साम्मुख्य के सम्पादनार्थ इस प्रक्रिया को धार्मिक रूप देकर अनिवार्य वास्तु-कृत्य बना दिया है। मानव-जीवन मे, विशेष कर भारतीय आर्य-जीवन मे सूर्य की उपासना अथवा सूर्य-रश्मियों के स्वच्छन्द समुपभोग के लिए पहले से ध्यान रखा गया है। सूर्य-रश्मियो का स्वच्छन्द उपभोग तभी मिल सकता है जब हम अपने प्रत्येक निवेश्य को पूर्वाभिमुखीन कर सके। दिक्साम्मुख्य अथवा पूर्वा-भिमुखत्व की इस अनिवार्य परम्परा ने ही वास्तु-शास्त्र मे वास्तु-पदो की सृष्टि की। सूर्य की विभिन्न जीवनोपयोगी रश्मियों का वैज्ञानिको ने पता लगाया है। हमारे पूर्वजो ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका से इन जीवन-दायक रश्मियो का बहुत पहले ही पता लगा लिया था, अतएव उन्होने सूर्य-रश्मियो के निर्बाध सेवनार्थ मनुष्यों की तीन प्रधान आवश्यकताओं मे प्रमुख आवश्यकता आवास को इस प्रकार से नियत्रित कर दिया जिससे यह रश्मिभोग सहज एव नैसर्गिक बन जाय। पद-विन्यास का स्थूल रूप में यही मर्म है।

पद-विन्यास के सम्बन्ध मे एक और तथ्य रह गया है, वह उपर्युक्त सिद्धान्त का एक प्रकार से सहायक सिद्धान्त है। दिक्-सामुख्य के साथ-साथ भवन के प्रत्येक पद का इस प्रकार से निवेश हो कि वह स्वच्छन्द उपभोग का साधक बन सके। अतः इस पद-विन्यास मे प्रकल्पित वास्तु-पुरुष के जो मर्म बताये गये है उनका पीडन कदापि नहीं होना चाहिए। अर्थात् मर्मस्थानों पर दरवाजे, दीवारे आदि नही बनाने चाहिए। वास्तु-पुरुष के छ महामर्म है—मुख, हृदय, नाभि, मूर्धा तथा स्तन। जो उसकी नसे (सिरा, वश, अनुवश, सम्पात आदि) है उन्हे मर्म कहा गया है। इनको पीडन से बचाना चाहिए। भवन के किस अग अथवा किस द्रव्य-विशेष या रचना-विशेष के पीडन से कौन-कौन अशुभ परिणाम आपतित होते है—इनके सविस्तर विवरण इस अध्याय मे दिये गये हैं—उनका विस्तारभय से उल्लेख न कर अन्त मे इतना ही सकेत पर्याप्त है कि भवन के प्रत्येक निवेश एव उसकी प्रत्येक रचना का रेखाचित्र मे पहले ही विचार कर लेना चाहिए।

मार्ग-विनिवेश

पुर-निवेश मे स्थापत्य का परम कौशल मार्ग-विनिवेश है। मार्गों का निवेश न केवल पुर की विभिन्न-वर्गीय आवास-मालिकाओ के विभाजन के लिए ही आवश्यक है वरन् नगर के जनपद के साथ सम्बन्ध-स्थापन के लिए भी वह कम उपादेय नही है। तीसरे, मार्ग-विनिवेश का परम प्रयोजन दिक्-साम्मुख्य वास्तु-कला के आधारभूत सिद्धान्त के अनुरूप प्रत्येक बस्ती के लिए सूर्य-किरणों का उपभोग एव प्रकाश तथा वायु का स्वच्छन्द सेवन भी कम अभिप्रेत नही है। चौथे, मार्गों का विनिवेश इस प्रकार हो कि प्रधान मार्ग पुर के मध्य से जाते हो। प्रधान या राजमार्गो पर ही नगर के केन्द्र-भवन, राजहर्म्य, सभा, मण्डप, देवतायतन एवं प्रधान पण्यवीथी (बाजार) निविष्ट किये जाते है। पाँचवे, मार्ग-विनिवेश मे सचार-सौकर्य के लिए मार्गों की चौडाई आदि भी कम अपेक्षित नही है। मार्गो की कितनी सख्या हो—यह तो पुर पर आश्रित है। एक राजधानी-नगर की मार्ग-सख्या साधारण नगर की मार्ग-सख्या से सहज ही अधिक होगी। शुक्राचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् सुबहून् कल्पयेन्नृपः।

वास्तु-पद-योजना एव मार्ग-विनिवेश का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है—इस तथ्य का सकेत किया ही जा चुका है। मार्गों मे पहला स्थान राजमार्ग का है। इसका निवेश पद के मध्यवश पर बताया गया है। इसकी चौडाई का प्रमाण ज्येष्ठ, मध्य एवं कनिष्ठ त्रिविध पुर-प्रभेदो के अनुसार २४, २०, १६ हस्त (३६, ३०, २४ फुट) क्रमशः होना चाहिए। इसका विस्तार पूर्ण होना चाहिए जिससे पदातियो, विशेष कर चतुरगिणी सेना, राजसी जुलूस तथा नागरिको के सुविधापूर्ण सचार मे किसी प्रकार की रुकावट न हो। यह केन्द्रमार्ग, जिसकी सज्ञा राजमार्ग है, पक्का बनाना चाहिए (काश्म-शर्कर)। राजमार्ग के उपरान्त महारथ्याओ का अवसर आता है। वैसे तो शाब्दिक अर्थ से ये मार्ग रथ आदि यानो के सुविधापूर्ण सचार के लिए बनाये जाते थे—परन्तु वास्तव में महारथ्याओ का तात्पर्य उन महामार्गों से है जो नगर को जनपद से जोडते थे। 'समरागण०' के अनुसार एक आदर्श पुर मे कम से कम दो महारथ्याएँ अवश्य होनी चाहिए जो पुर के बाहर जनपद-महा-मार्गों मे अनुस्यूत हो जायँ। इन दोनो महारथ्याओ की चौड़ाई का प्रमाण १२, १० तथा ८ हस्त (१८, १५, १२ फुट) ज्येष्ठ, मध्यम एव कनिष्ठ पुर-प्रभेद से क्रमश बताया गया है। वास्तु-पद-विन्यास की प्रक्रिया के अनुसार इनकी स्थापना उपान्तस्थ वंश पर प्रतिष्ठित की गयी है।

राजमार्ग एव दो महारथ्याओ की निवेश-योजना के उपरान्त चार यान-मार्गों की योजना आवश्यक है, जिससे पुर के अभ्यन्तर प्रदेश मे भी यानो का सचार हो सके।

परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यद्यपि इनकी संज्ञा यान-मार्ग है, परन्तु इनकी चौड़ाई का प्रमाण केवल ४ हस्त (६ फुट) ही उत्तम, मध्यम एवं अधम पुरो में बताया गया है। प्राचीन नगरियो के जो निदर्शन आज भी देखने को मिलते हैं उन सब में राजपथ के अतिरिक्त अन्य पथो की संकीर्णता देखकर इस छोटे प्रमाण पर आश्चर्य नही हो सकता। प्राचीन नगर दुर्गो की भाँति निविष्ट होते थे। अतः रक्षा के इस परम प्रयोजन के कारण सम्भवतः स्थानाभाव से यह क्षुद्र प्रमाण परिकल्पित किया गया है। इस मार्ग की प्रतिष्ठा पद-मध्य-गत प्रतिपादित की गयी है। सतोष इस बात का है कि 'समरागण०' ने इन मार्गो मे पदातियो का सचरण कठिन न हो जाय अतः यह निर्देश किया है कि प्रत्येक यानमार्ग के दोनो तरफ जघापथ बनाने चाहिए। इनको हम आज की भाषा मे फुट-पाथ कह सकते है और इनकी क्रमिक चौडाई तीन, ढाई, दो हस्त है। इस प्रकार एक राजमार्ग, दो महारथ्याओ, चार यान-मार्ग तथा आठ जघापथ, कुल १५ मार्गो की निवेश-योजना के उपरान्त, अब पुर के केवल दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्गो का निर्देश शेष रह जाता है। इनको 'घटामार्ग' नाम से पुकारा गया है। 'घटामार्ग' नाम सम्भवत. हाथियो के घटो से हो गया है। इनकी योजना के सम्बन्ध मे यह बताया गया है कि ये प्राकार-भित्ति (परकोटा) से मिले हुए हो। इस प्रकार ये नगर की बस्ती के चारो ओर फैले होते है। घटामार्ग राजमार्ग के समान ही सर्वगुणसम्पन्न बतलाये गये हैं।

इस प्रकार १७ मार्ग हुए। जैसा कि पहले सकेत किया जा चुका है, ये मार्ग पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर को चलते है। ऊपर की मार्ग-निवेश-योजना पूर्व से पश्चिम समझनी चाहिए। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर को भी ये मार्ग निविष्ट करने चाहिए। इस प्रकार पुर के मार्गो की सख्या चौतीस हुई। ये प्रमुख चौंतीस मार्ग है, इनके अतिरिक्त नगर के अभ्यन्तर प्रदेशो मे एक बस्ती को दूसरी से पृथक् करने के लिए सूर्य-रश्मियो के स्फुट प्रकाश, समीर के स्वच्छन्द उपभोग एव यातायात की सुविधा की दृष्टि से समरागण० के अनुसार इतस्तत. रथ्याओ एव उपरथ्याओ का भी निवेश अनिवार्य है। इनमे से जो बडी है उनकी चौडाई राजमार्ग की चौड़ाई से आधी होनी चाहिए और जो छोटी है उनकी चौथाई। इस प्रकार जहाँ राजमार्ग, महारथ्याएँ एव यानमार्ग तथा घटापथ पुर की बाह्य निवेश योजना के आधार है, वहाँ ये रथ्याएँ एव उपरथ्याएँ पुर के आन्तरिक निवेश मे सहायक बनती है। ये ही उपमार्ग पुर को मुहल्लो मे बाँटते है। मार्ग-निवेश की इस प्रणाली के निदर्शन मे महाराज जयसिह (जो स्वय ज्योतिषी भी थे) की बसायी हुई राजस्थान-मूर्धन्या राजधानी नगरी जयपुर है।

मार्ग-निवेश की विभिन्न पद्धतियो का शास्त्र मे वर्णन पाया जाता है। मानसार, मयमत, अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार एवं पुराण (देवी तथा ब्रह्माण्ड) आदि ग्रथों मे इस

सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी भरी पडी है। 'समरांगण०' की मार्ग-नामावली की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अब अन्य ग्रन्थो की मार्ग-नामावली देखनी चाहिए। रामराज अपने 'एसे आन आर्कीटेक्चर' मे लिखते हैं—वह मार्ग जो ग्राम अथवा नगर के चर्तुदिक जाता है उसको 'मगलवीथी' नाम से पुकारा गया है। इसी प्रकार 'राजपथ' उस मार्ग का नाम है जो पूर्व से पश्चिम जाता है। जिस मार्ग की दोनो सीमाओ पर द्वार हो उसे 'राजवीथी', जिसके बीच मे सन्धियाँ अर्थात् मिलनपथ हो उसे 'सन्धिवीथी' तथा दक्षिण ओर जाने वाले मार्ग को 'महाकाल' कहते हैं। मयमत की नामावली भी विलक्षण है। पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाला दण्डाकार मार्ग महापथ है, उसमें से जो ब्रह्मपद (केन्द्र) के पास होता है उसे 'ब्रह्मवीथी' कहते हैं। ब्रह्मवीथी ही मय के अनुसार मार्ग-विन्यास-योजना का नाभिकेन्द्र है। ब्रह्मवीथी के दायें-बाये जाने वाला मार्ग राजवीथी कहा गया है जिसकी सीमाओ पर द्वार-विधान आवश्यक है। यान-संचार के लिए विन्यस्त मार्गो की सज्ञा 'रथमार्ग' है। मगलवीथी और रथमार्गों को 'नाराचपथ' भी कहा जाता था और उनका पक्का (कुट्टिमित) होना अनिवार्य था। मगलवीथी की आनुषगिक वीथी को 'जनवीथी' कहा जाता था। नगर के अभ्यन्तर प्रदेश मे छोटे-छोटे अन्य कई मार्ग होते थे उनको 'वामन-पथ' नाम से पुकारा गया है।

ध्यान देने की बात है कि मयमत एव मानसार आदि प्राचीन शिल्प-ग्रन्थो मे जो सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, पद्मक, वर्धमानक, प्रस्तर, चतुर्मुख आदि ग्रामों एवं पुरो के निवेश-विवरण है उनका आधार मार्ग-विन्यास है। मार्गो की सख्या और उनके दिक्-साम्मुख्य एव उन पर निविष्ट भवनो की रूपरेखा मे ही पुर-विशेष अथवा ग्राम-विशेष की सज्ञा प्रकल्पित की जाती थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पुर-निवेश-योजना का प्राण मार्ग-विन्यास है। मयमत (९ वाँ तथा १० वाँ अध्याय) के अनुसार नगर का 'दण्डक' नाम उसके एक मात्र पूर्वाभिमुखी दण्डाकार मार्ग के कारण रखा गया है। यदि उसी नगर मे दूसरा मार्ग दण्डाकार उत्तराभिमुखी भी है और पूर्वाभिमुखी को काटता है तो उसे 'कर्तरी-दण्डक' नाम से पुकारना चाहिए। कर्तरी-दण्डक मे यदि एक भवन-मालिका के अतिरिक्त दो भवन-मालिकाएँ (पूर्व से पश्चिम की ओर) विन्यस्त है, तो उसकी सज्ञा 'बाहु-दण्डक' है जिसकी चार प्रधान दिशाओं पर चार द्वार होते हैं। उत्तराभिमुखी मार्ग के ऊपर दो से अधिक भवन-वीथियाँ विन्यस्त की जायँ तो उस दण्डक-नगर को 'कुटिकामुख-दण्डक' नाम से पुकारना चाहिए। दण्डक-नगर का निवेश यदि पूर्व-पश्चिम तीन मार्गों तथा उत्तर-दक्षिण तीन मार्गो पर किया जाय तो उसे 'कलका-बन्ध-दण्डक' नाम देना चाहिए। नगर-प्रभेद राजधानी वह नगर है जिसमें मार्ग-विन्यास के साथ राज-प्रासाद की प्रमुखता रखी गयी है। इसी प्रकार स्वस्तिक, भद्रक

आदि अन्यवर्गीय नगरों एव ग्रामों की मार्ग-विन्यास-योजना है। स्वस्तिक मे ६ मार्ग उत्तर से तथा ६ पूर्व से जाते है। भद्रक में केवल ४ मार्ग इन्ही दिशाओ से जाते हैं। भद्रमुख, भद्रकल्याण, महाभद्र, सुभद्र आदि भद्र-प्रभेदो की भी यही गाथा है। जयाग, विजय तथा सर्वतोभद्र नगर-प्रभेद राजधानी-नगर है, जिनमें मार्ग-विन्यास के साथ राज-प्रासाद की प्रमुखता रखी गयी है। जयाग मे नौ-नौ मार्ग पूर्व-पश्चिम एव उत्तर-दक्षिण जाते है। विजय मे बारह-बारह और सर्वतोभद्र मे ग्यारह-ग्यारह मार्ग जाते है।

मानसार एव कामिकागम के दण्डक, नन्द्यावर्त, सर्वतोभद्र, प्रस्तर, चतुर्मुख, कार्मुक, पद्मक, स्वस्तिक आदि पुर-प्रभेदो एव ग्राम-प्रभेदो मे कार्मुक एव पद्मक को छोडकर प्रायः सभी पुरो की मार्ग-विन्यास-प्रक्रिया का आधार आयताकृति निवेश है। पद्मक की नामानुसार कमल के समान आकृति होती है और कार्मुक भी धनुषाकृति होता है।

इन प्राचीन पुरो के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि प्राय केन्द्रीय मार्गों मे दो ही प्रमुख बडे मार्ग होते थे, जिनको ब्रह्मवीथी तथा महाकाल-वीथी नाम से पुकारा जाता था। ये दोनो नगर-मार्ग जनपदीय मार्गो से मिले होते थे। ये ही मार्ग नगर एव ग्रामो की लडी को जोड़ते थे। इन्ही मार्गों पर वाणिज्य एव सेना का सचार होता था तथा इन्ही की सहायता से शासन-व्यवस्था एव रक्षा भी सम्पादित की जाती थी। दूसरे, इन मार्गों मे 'डायागोनल स्ट्रीट्स' का जो आधुनिक मार्ग-विन्यास मे सर्वसाधारण रूप से प्रचलन है, प्राय उसका उल्लेख नही है। प्रत्येक नगर के दो प्रधान पथ ही नगर एव जनपद दोनो का काम देते थे। यद्यपि इस नियम का अपवाद भी था। पर्वतीय प्रदेशो पर निविष्ट नगरो, राजधानियो अथवा दुर्गों मे सचार-सुविधा एव सौकर्य के लिए डायागोनल स्ट्रीट्स अनिवार्य हो जाती हैं। राजस्थान की महानगरियो एव दुर्ग-नगरो मे मार्ग-विन्यास की यह विशेषता आज भी विद्यमान है। विजयनगर आदि दाक्षिणात्य नगरो मे भी मार्ग-विन्यास का यह क्रम देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त नगर-विशेष अथवा ग्राम-विशेष की आकृति भी इस नियम का अपवाद उपस्थित करती है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त विभिन्न मार्गों मे वर्तुलाकृति नन्द्यावर्त मार्गो का उद्गम केन्द्र स्थान से होता है।

मार्ग-विस्तार—'समरागण०' मे वर्णित विभिन्न श्रेणियो और नामो वाले मार्गों के विस्तार का सकेत हो चुका है। उनमे राजमार्ग की चौडाई सर्वाधिक है। राजमार्ग शब्द से राजा का मार्ग नही समझना चाहिए, वह मार्गो का राजा है (पाणिनि ने उसे 'पथाम् राजा' कहा है)। देवी पुराण मे राजमार्ग की चौडाई दस धनुष (६० फुट) बतायी गयी है, जिससे पदातियो, गजो, अश्वो एव यानो के सचार मे किसी प्रकार का व्याघात न पहुँचे। शुक्राचार्य महानगरियो एव राजधानियो में छोटी-छोटी सडको,

पद्याओं एवं वीथियों के निर्माण का निषेध करते हैं। क्योंकि उनमे नगर की स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं सज्जा मे व्याघात पहुँच सकता है। मार्गों का निवेश इस प्रकार हो कि उनकी प्राकृतिक स्वच्छता सदैव सम्पन्न होती रहे। विष्णु-सहिता (२३ अध्याय) में प्रवचन है कि चन्द्र एवं सूर्य की किरणो तथा पवन का सचार सुकर होना चाहिए जिससे मार्ग शुद्ध रहे—"पन्थानश्च विशुध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः।" कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मार्ग-विन्यास पर प्रचुर सकेत हैं परन्तु शुक्राचार्य का राजमार्ग विधान कौटिल्य की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण है। उत्तम, मध्यम एव कनिष्ठ भेद से राजमार्गो की चौडाई ४५, ३०, २२½ फुट होनी चाहिए। ब्रह्माण्डपुराण मे देवीपुराण के ही सदृश मार्ग-विन्यास प्रवचन है। देवीपुराण के अनुसार दिशामार्ग १३५ फुट चौडे होने चाहिए और ग्राम-मार्ग—जनपद-मध्यमार्ग १२० फुट चौडे। सीमा-मार्ग की चौडाई ६० फुट और राजमार्ग की भी इतनी ही होनी चाहिए। इसी प्रकार शाखा-रथ्या ३२ फुट, उपरथ्या ४½ फुट और छोटी गलियाँ केवल ३ फुट, जघापथ ४ फुट तथा दो गृहो का अन्तर ३ फुट बनाया गया है।

पद्या (फुट-पाथ)—'समरागण०' के मार्ग-विन्यास मे हमने देखा कि यान-मार्गों के दोनो ओर जघापथो का निवेश अनिवार्य है। यान-मार्गों पर पदातियो के सचार के लिए पद्याओं का होना परमावश्यक है। आधुनिक मार्ग-विन्यास में ये फुट-पाथ प्राय सभी बडी सडको के दोनो ओर निविष्ट होते हैं। प्राचीन भारत की मार्ग-विन्यास-योजना मे पद्याओं का अभाव नही था।

मार्ग-चतुष्पथ—प्राचीन मार्ग-विन्यास मे भी मार्ग-सगमो पर विशेष अन्तर प्रदान करके वहाँ पर कोई न कोई सुन्दर वास्तु-कृति रचकर उसकी शोभा बढ़ायी जाती थी। तिराहो और चौराहो पर भी किसी न किसी वास्तुकृति के योग से ये सगम सुन्दर बनाये जाते थे। नन्द्यावर्त आदि वर्तुलाकार नगरो के मार्ग-सगम अठराहो (मार्गाष्टक) का निर्माण कर देते थे। हरिवश (विष्णु पर्व, अ० ८८ तथा ८९) मे द्वारवती के मार्ग-सगम का बडा ही सुन्दर वर्णन है। नगर की ८ बडी सडको का जहाँ पर सगम पडता था वहाँ १६ क्रास सेक्शन बनते थे जिनके अन्तरावकाशो पर सुन्दर सन्निवेशो से पुर-शोभा प्रकल्पित की जाती थी। अग्निपुराण (अ० ६५) में निर्देश है कि ऐसे मार्गान्तरावकाशों पर सभावृक्षो अथवा सभा-मण्डपो का निर्माण करना चाहिए। इन चौराहो पर पण्यशालाओ, चत्वरो, जलस्रोतो (फव्वारो ?) का निवेश किया जाता था जिन्हे आजकल हम सभी महानगरियो के चतुष्पथो की भव्य विशेषता के रूप मे पाते हैं। चतुष्पथो पर दीप-स्तम्भो का विन्यास भी प्रचलित था। यदि ये चौराहे पुर-केन्द्र मे होते थे तो किसी देवालय-

कृति से इनकी सुषमा बढ़ायी जाती थी। यह सब तभी होता है जब चौराहो की निवेश-व्यवस्था मे भवन-मालिका का और चतुष्पथ मे प्रचुर अवकाश का ध्यान रखा जाय।

इन चतुष्पथो के सम्बन्ध मे एक मार्मिक तथ्य की ओर निर्देश मिलता है जिससे आधुनिक मार्ग-सचार की वाम-पार्श्व गमन व्यवस्था प्राचीनो के समय मे भी प्रचलित थी–ऐसा स्पष्ट हो जाता है। विष्णुपुराण (भाग ३ अ० १२) में लिखा है—"अपसव्य न गच्छेत देवागारचतुष्पथान्"–अर्थात् देवालय या चौराहे से अपसव्य (अपने वाम भाग से) नही चलना चाहिए। यह तभी सभव है जब पदाति-वृन्द सड़क के बाये चले। चतुष्पथो की यह वास्तु द्वारा सज्जा जहाँ धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनीतिक (भी क्योकि इन्ही सभावृक्षो के नीचे बैठकर पुरवासी अपने नगर की राजनीति एव अन्य विषयो पर विचार-विमर्श करते थे) दृष्टिकोणो से बडी उपादेय थी, वहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी इसकी उपादेयता कम नही थी। पदातियो की आँखो को चलते समय यत्र-तत्र सुषमा के दर्शन से बड़ा आराम मिलता था। इसके अतिरिक्त बडे मार्गो के दोनो ओर शोभा एव छाया हेतु सुन्दर वृक्षो का आरोपण किया जाता था। आम्र-वीथियाँ तथा माधवी-लताएँ विशेष रूप से लगायी जाती थी। सम्भवत इसी तथ्य के अनुरूप नगर के मध्य-अवकाश मे राज-वेश्म का निवेश अभिप्रेत होता था, जैसा कि सभी वास्तु-शास्त्रियों का आदेश है। राज-प्रासादो की वास्तु-शोभा दर्शनीय होती थी, उनमे निविष्ट उद्यान, पुष्पवीथियाँ, तोरण, लता-मण्डप, कमल-पुष्कर आदि के दर्शन से पथिको के नेत्रो को बडा सुन्दर पाथेय मिलता था।

मार्ग की नालियाँ—'समरागण०' ने साफ लिखा है (अ० १०. ५२) कि पुर में जलभ्रमों का निर्माण आवश्यक है। उनका प्रमाण दो हस्त (३ फुट) अथवा एक हस्त (डेढ फुट) होना चाहिए। शिलाओ अथवा उनके अभाव में काष्ठ-पट्टिकाओ से ही सही सदैव उनको ढककर रखना चाहिए। शुक्रनीति मे भी नालियो की व्यवस्था के लिए प्रवचन है (शु० नी० सा० अ० १) जिसमे यह भी निर्देश है कि मार्गों का मध्य कूर्म-पृष्ठ के समान प्रोन्नत होना चाहिए। श्रीयुत अय्यर महोदय अपनी पुस्तक (टाउन प्लानिंग इन ऐन्शेंट डेकन, पृ० ६१-२) मे लिखते है कि पुराने समय मे जल-निर्माण की व्यवस्था का सम्बन्ध नालीचक्रो से प्रारम्भ होकर पुर की परिखाओ से जाकर मिलता था। अय्यर महोदय के मत मे मार्गों पर कूड़ाघरो का भी प्रबन्ध रहता था। अस्तु, इन सब विवरणो से यह निष्कर्ष निकालना असगत न होगा कि प्राचीन पुर-निवेश में आजकल की प्रोन्नत मार्गविन्यास-प्रक्रिया के प्रचुर दर्शन प्राप्त होते है।

पुर-आवास (जाति-वर्णाधिवास)

प्राचीन एव मध्यकालीन भारत के नगरों के आवासों का क्या स्वरूप था, इस महत्व-पूर्ण विषय का दर्पणवत् प्रतिबिम्ब वास्तु-सन्निवेश-सम्बन्धी निर्देश प्रदान करते है। प्राचीन भारत का आर्य-जीवन वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत मानवीय सिद्धान्तो से अनुप्राणित था, अत. नगर के आवास के स्वरूपनिर्धारण मे वर्णाश्रम-व्यवस्था का आधार माना जाता था। ब्राह्मणो की बस्ती के लिए नगर का एक प्रमुख एव विशिष्ट स्थान नियत था। इसी प्रकार अन्य वर्णों के पद सुरक्षित थे। पुर के मध्य मे राजभवनो के साथ-साथ जनभवनो—सभा, पुरजनविहार, पुरदेवता-भवन आदि को संरक्षण प्राप्त था। अत· नगर की बस्ती की रूपरेखा मे जाति एव वर्ण का प्राधान्य था। अतएव समरागण० ने पुर की बस्ती के लिए 'जाति-वर्णाधिवास' शब्द का प्रयोग किया है—जातियो एवं वर्णों के अनुसार पुर की बस्तियाँ—आवास-भवनमालिका या मुहल्ले विन्यस्त होते थे। इसके अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीयता, अतर्देशीय व्यवस्था एव वाणिज्य का यद्यपि सर्वथा अभाव नही था, तथापि आजकल के समान उनका प्राधान्य नही था। अत निर्विवाद है कि आजकल के समान औद्योगिक क्षेत्र तथा वाणिज्यकेन्द्र, जैसे मुद्राशालाएँ, कर्मशालाएँ, वाष्प-यन्त्रागार आदि व्यावसायिक भवनो के निवेश का प्रश्न नही उठता था। रेलगाडी आदि आधुनिक यातायात के साधनाभाव मे रेलवे-स्टेशनो आदि की निवेश-योजना की समस्या भी न थी। विभिन्न-देशीय दूतावासो के बृहत् विस्तार का भी प्रश्न नही उठता था। राजधानी के नगर मे देश-विदेश के राजदूत राज-भवनो मे ही सुरक्षित शालाओ मे रहते थे।

अत: निष्कर्ष निकलता है कि जाति-वर्णानुरूप नगर की आवास-योजना उस काल के लिए सर्वथा उपयुक्त थी और उसके द्वारा सामाजिक सगठन एव सुखद जीवन भी सम्पन्न था। 'जाति-वर्णाधिवास' एक प्रकार से आजकल की जोनिंग व्यवस्था के सदृश ही था, अन्तर केवल प्रकार का था, आकार का नही। सहयोगिता, सहकारिता, सह-व्यवसाय, साहचर्य, पारस्परिक आदान-प्रदान एवं विचार-विमर्श के लिए एक ही वर्ण, जाति एव व्यवसाय (पेशे) के लोग यदि एकत्र रहें तो अधिक सगत है और जीवन भी अधिक सुखद तथा शान्तिमय बन सकता है। खिचड़ीनुमा मिली-जुली बस्ती कभी भी उपादेय नही बन सकती और न सामाजिक जीवन को सुसंयत, सुसगठित बना सकती है। भारत के प्राचीन स्थपति इस मर्म को समझते थे, अतएव जाति-वर्णानुरूप आवास व्यवस्था का पुरातन समय से ही इस देश में प्रचार रहा। प्राचीन भारत के इतिहासज्ञों से भारत का सहयोगात्मक जीवन छिपा नहीं है। यहाँ यह भी संकेत आवश्यक है कि महानगरियो मे इस प्रकार का जाति-वर्णा-

धिवास सभव नही था, अतएव नगर के प्रमुख पद छोटे-छोटे नगरो के रूप मे परिणत हो जाते थे, जिससे पारस्परिक आदान-प्रदान, व्यवहार, व्यवसाय एवं सहयोगिता में किसी प्रकार की अडचन न पडे ।

'समरागण०' के पुर-आवास का स-रैखिक चित्रण एव वर्णन 'भारतीय वा० शा०' पृ० १६८–६६ मे द्रष्टव्य है । यहाँ पर इतना ही बतलाना है कि यद्यपि विभिन्न वर्णों एवं वर्गों के समुदायो का दिशानुरूप (पदानुरूप) आवास-विभाजन है तथापि वैश्य-वृन्द (सामान्य दैनिक आवश्यक वस्तुओं के विक्रेता), चिकित्सक (सभी लोगो के काम आने वाले) तथा पुलिस एव फौज (सभी की रक्षा करने वालों) का सभी दिशाओं एवं उपदिशाओं मे निवेश अभीष्ट है । विशेष ध्यान देने की बात इस आबादी मे यह है कि यहाँ पर विभिन्न वर्गों की बस्तियाँ न तो धर्माश्रय है और न राजाश्रय । आगे अन्य ग्रथों की एतद्विषयक सामग्री की तुलनात्मक समीक्षा मे हम देखेंगे कि नगर की बस्ती का प्रधान केन्द्रबिन्दु राज-निवेश है अथवा कोई केन्द्रीय देवतायतन सभा या मण्डप । 'समरागण०' की इस नगरावास-विन्यास-योजना को हम पूर्णरूप मे जातिवर्णाधिवास के रूप मे ले सकते हैं । शुक्राचार्य का भी यही मत था—"सजातीय-गृहाणा समुदायेन पक्ति ।"

'समरागण०' के पुर-आवास का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वह अग्निपुराण से मिलता-जुलता है । अग्निपुराण के भी पुर-आवास-विन्यास मे राजवेश्म का निर्देश नही है । जाति एव वर्ण के अनुरूप पेशेवर पुर-आवास ही अग्निपुराण को भी अभीष्ट है । नगर की बस्ती का जाति-वर्णानुरूप विन्यास नगर-निवेश का सर्वप्रसिद्ध सिद्धान्त होते हुए भी इसकी अन्य कई विभिन्न परिपाटियाँ प्रचलित थीं जिनका थोडा सा निर्देश आवश्यक है । कोटिल्य के अर्थशास्त्र में नगर की बस्ती का आधार मार्ग-विनिवेश था । नगर-मापन एव खाई से परिवृत भूमि की प्रकल्पना के उपरान्त पश्चिम से पूर्व तथा दक्षिण से उत्तर तीन-तीन गजमार्गों (बडी सडको) का निवेश करना चाहिए । पुन मध्य मे उत्तराभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख नवपदिक राज-निवेश करना चाहिए । राज-भवन को निवेश-बिन्दु मानकर उत्तर से अन्य बस्तियों का निवेश प्रारम्भ करना चाहिए । दुर्ग अथवा नगर के सम्बन्ध मे जिस आबादी का सक्षिप्त स्वरूप हमे 'अर्थशास्त्र' मे देखने को मिलता है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि उस सुदूर अतीत मे भी भारत का नगर-निवेश अति समृद्ध एव वैज्ञानिक था । कौटिलीय नगर-निवेश मे धार्मिक कर्मकाण्ड अथवा तत्प्रतीक पद-विन्यास का बिल्कुल वर्णन नही, अत. नगर-निवेश की "सैक्यूलर प्लानिंग" एक मात्र आधुनिक ही नही कही जा सकती ।

कौटिल्य के नगर-आवास (दे० भा० वा० शा०, पृ० १७३) मे मार्ग-निवेश एवं राज-निवेश का प्रथम स्थान है। पद-विन्यास का इस निवेश-पद्धति मे कोई निर्देश तक नही। प्रजातन्त्रवादी शुक्राचार्य नगर-आवास का प्रारम्भ 'सभा' से करते है। राजधानी-नगर के मध्य मे 'सभा-भवन' का सर्व-प्रथम न्यास मन्त्रणा-विधि की प्रतिष्ठा का परिचायक है। राज-भवन की स्थापना सभा-भवन के मध्य में बतायी गयी है--"राजगृह सभामध्यम्।"

शुक्राचार्य की नगर-आवास की तालिका न देकर इतना ही इंगित करना पर्याप्त होगा कि शुक्र के अनुसार आबादी की निवेश-योजना मे पद एव प्रतिष्ठा सर्वाधिक महत्त्व रखती है। जितना ही अधिक प्रतिष्ठित वर्ग होगा उतना ही अधिक सान्निध्य उसका राजमहल मे होगा। आबादी काफी खुली होनी चाहिए। राज-प्रासाद से कम से कम १५० फुट का फैसला छोडकर ही प्रतिष्ठितो की आबादी प्रारम्भ होनी चाहिए। सैन्य-विन्यास मे भी प्रतिष्ठा का माध्यम अनुकरणीय है। नगर की इन विभिन्न बस्तियों मे जो सर्वसाधारण विशेषता है वह यह कि इनमे पद-विन्यास का क्रम नही पाया जाता है। अत पद-विन्यास पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नगर-आवास का एक उदाहरण देकर हम इस स्तम्भ से अग्रसर होंगे।

विभिन्न आचार्यो के पुर-आवास सम्बन्धी केन्द्र-बिन्दुओ पर हम दृष्टिपात कर चुके हैं। शुक्र की सभा एवं कौटिल्य का राजवेश्म पुर-आवास के केन्दबिन्दु थे। आचार्य मय का केन्दबिन्दु है आपण, अर्थात् पण्यवीथियाँ। ब्राह्मपद आदि सभी देव-पदो पर विभिन्न आपणो एव पण्यवीथियो का न्यास बताया गया है।

इस प्रकार मयमतानुसार नगर के आवास-विन्यास के मध्यावकाश के चतुर्दिक् बाहर की ओर बने हुए मार्गों पर प्रतिष्ठित नौ अन्तरापणक-वीथियों के वर्णन के उपरान्त आभ्यन्तरिक मार्गो पर उन पण्यवीथियों का निवेश अभिप्रेत है जहाँ पर बहुमूल्य रत्न, सोना-चाँदी, रेशमी वस्त्र एव रस, आसव तथा मजिष्ठा, मसाले, मधु, घृत, तैल आदि वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। मयमतानुसार नगरावास मे देवमन्दिरो का भी पूर्ण विवरण है, जिसका सकेत देवतायतन नामक दूसरे स्तम्भ मे होगा। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि भयमत सभी जातियो एव वर्गों की भवनमालिका के लिए सभी दिशाओं में स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार का निर्बाध जातिवर्णाधिवास अन्यत्र अप्राप्य है। हाँ, जहाँ तक चण्डालो और धोबियों की बस्तियो (कुटीरो) का प्रश्न है, वे पुर के पूर्व में प्रधान आवास मे लगभग दो सौ दण्ड की दूरी पर बतायी गयी है, जो एक प्रकार से पुर-समीपस्थ शाखानगर अथवा पुर-पार्श्वस्थ ग्राम के रूप मे परिकल्पित हो सकती है।

जाति-वर्णाधिवास का यह निर्बाध क्रम मयमत के ग्राम-आवास-विन्यास मे भी पाया जाता है। यद्यपि मयमत के पुर-आवास की अपेक्षा ग्राम-आवास मे जाति-वर्णाधिवास के क्रम के लिए भी पूर्ण सकेत है तथापि मय का आवास-स्वातन्त्र्य के प्रति विशेष आग्रह दिखाई पडता है। वास्तु-शास्त्रीय इसी उदारता से प्रसिद्ध दृष्टि महानगरो का उदय हुआ। मयमत के ग्राम-विन्यास का भी आधार पद-विन्यास है। ८१, ६४ अथवा ४६ पद वाले वास्तु-पद-प्रकल्पन के उपरान्त ग्राम को पुन. ब्राह्म, दैविक, मानुष एवं पैशाच इन चार पदो मे विभक्त करना चाहिए। ब्राह्मपद पर ब्रह्मा का मन्दिर निर्मित करना चाहिए तथा दैविक एव मानुष पदो पर ब्राह्मणो की आवास-मालिका प्रतिष्ठित होनी चाहिए। शिल्पियो तथा कर्मकारो के आवास के लिए पैशाच पद अभिप्रेत है। इसी प्रकार नगर-जीवन के सुसंस्कृत एव सुसम्पन्न नानाविध उपकरणो--सभामण्डप, आश्रम, राजवेश्म, वापी, तडाग, पुष्पोद्यान आदि सभी उदात्त भवनो का ग्राम-विन्यास मे भी आदेश है। इसके अतिरिक्त पशु-शालाओ के पद सुरक्षित थे। वैश्यो, शूद्रो, तेलियो, नापितो, राजो, कारीगरो, मछुओ, गाडीवानो आदि के ग्रामीय आवास-विन्यास पुर-आवास के ही अनुरूप है। धोबियो और मेहतरो के आवास यथापूर्व ग्राम के बाहर विहित थे।

ग्राम के इस अत्यन्त समृद्ध विन्यास (मय मत, ९वाँ अध्याय) को पढकर यह कहना सर्वथा सगत ही है कि यह तो पुर-आवास से भी बढ गया है। इसका क्या रहस्य है? प्राचीन भारत मे ग्राम ही आवास-केन्द्र थे। स्वच्छन्द जीवन के लिए ग्राम ही सर्व-विध सुविधा प्रदान करते थे। नगरो का निर्माण या तो राजनीतिक परिस्थितियो अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओ के कारण ही हुआ। अत आज-कल की तरह नगरो की भरमार नही थी। प्राचीन काल के ग्राम आधुनिक नगरो से कम न थे। अन्यथा ग्रामीय आवास का इतना सुन्दर एवं सुसमृद्ध स्वरूप देखने को न मिलता। यह मत सत्य नही है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मार्कण्डेय-पुराण के अनुसार तो ग्रामो मे केवल शूद्र अथवा कृषक ही रहते थे। प्राचीन काल मे तथा पूर्व मध्य काल मे भी ऐसे बहुसख्यक निर्देश मिलते है एव प्रमाण प्राप्त होते है जिससे यह धारणा गलत साबित होती है। महाकवि बाणभट्ट के ब्राह्मणाधिवास ग्राम का सकेत किया ही जा चुका है। मयमत (दे० ९वाँ अध्याय) के अनुसार उत्तम ग्राम के तीन भेद है--उत्तमोत्तम वह जहाँ पर १२,००० ब्राह्मण रहते है, उत्तम-मध्यम वह जहाँ पर १०,००० ब्राह्मण रहते है, उत्तमाधम मे ८००० ब्राह्मण रहते है। ग्रामो की यह ब्राह्मण बस्ती एव उनकी संख्या पूर्वप्रतिपादित मत का समर्थन करती है।

मानसार एवं मयमत के अनुसार विभाजित विभिन्न-वर्गीय ग्रामों की विशेषता में आवास के प्रकार-भेद का ही मूलाधार है।

इस प्रकार पुर-बस्ती एवं पद-विन्यास एक दूसरे के आधाराधेय हैं। इसे आज कल की 'जोनिंग' प्रक्रिया के रूप मे देखा जा सकता है। वास्तव मे बात यह है कि प्राचीन नगर-निवेश एवं आधुनिक नगर-निवेश दोनों एक ही हैं।

देवतायतन, मण्डप, आरामोद्यानादि—पुरजन-विहार

देवतायतन

पुर-निवेश की बहुमुखी योजना मे पुर मे देवतायतन-विधान प्राचीन पुर-निवेश का अति महत्त्वपूर्ण अग है। वास्तु-शास्त्र के सभी ग्रन्थों में इस विषय की अवतारणा की गयी है। 'समरागण०' मे भी इस विषय की पूरी सामग्री है। ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व लिखे गये कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी नगर मे निवेश्य देवतायतनो एव देवो पर प्रवचन मिलते है। अत. यह परम्परा काफी प्राचीन है—इसमें सन्देह नही।

देवतायतन-निर्माण एव देव-पूजा की परम्परा, यद्यपि जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, काफी प्राचीन है, तथापि देवो का विकास एककालिक नही है। जो देव दो हजार वर्ष पूर्व विशेष उपास्य थे वे ही कालान्तर मे दूसरे देवो से पीछे रह गये और दूसरो ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। विभिन्नकालीन वास्तुग्रंथों मे जो एतद्विषयक सामग्री मिलती है उससे देवो एव देवियो के उदय-अस्त की एक रोचक कहानी बनती है।

देवतायतन न केवल नगर के मध्य अथवा अभ्यन्तर ही निविष्ट किये जाते थे, उनकी एक बडी संख्या पुर के बाह्य प्रदेश मे निवेशनीय कही गयी थी। आज भी यत्र-तत्र विशेष कर, ग्रामो में जो मन्दिर देखने को मिलते है वे ग्राम के बाहर ही प्रतिष्ठित है। यह ठीक भी है, 'समरागण०' मे नगर-मध्य के देवतायतनो मे ब्राह्म मन्दिर ही विशेष उल्लेखनीय है, अन्य देवो के मन्दिर पुर के बाह्य भाग मे निविष्ट होने चाहिए—ऐसा आदेश है। ब्राह्म मन्दिर का यह सकेत बडा महत्त्वपूर्ण है। 'समरागण०' के पुर, देवतायतन आदि की तालिका एव उसके तारतम्य का परिशीलन भा० वा० शास्त्र मे देखिए।

पुर-निवेश मे 'समरागण०' की देवतायतन-व्यवस्था मे एक दो बाते विशेष ज्ञातव्य हैं, पुर के सभी गृहस्वामियो के लिए ग्रन्थ का पहला आदेश यह है कि लक्ष्मी और वैश्रवण (कुबेर) की प्रतिमाएँ प्रत्येक भवन के प्रमुख द्वार पर अवश्य निविष्ट करनी चाहिए। अग्निपुराण का भी ऐसा ही निर्देश है। नगर एव नागरिको के अभ्युदय के लिए यह अनिवार्य व्यवस्था है। दूसरा ज्ञातव्य यह है कि शिवलिगो की स्थापना

नगराभ्यन्तर मे वर्जित है। उनको नगर के बाह्य एकान्त स्थान पर प्रतिष्ठापित करना चाहिए। ये लिगस्थान नगर की पश्चिम दिशा मे हो, श्मशान एव श्मशानस्थ लिगो की प्रतिष्ठा के लिए नगर की दक्षिण दिशा बतायी गयी है। तीसरे, मातृकाओ, यक्ष-गण, शिव-गण एव भूतसंघ के मन्दिर नही बनाने चाहिए। उनकी प्रतिष्ठा चबूतरों पर उचित है। यह परम्परा देश के प्रत्येक नगर, ग्राम एव कसबे मे आज भी वैसी ही पायी जाती है।

देवतायतन-निवेश के सम्बन्ध मे 'समरागण०' का एक महत्त्वपूर्ण प्रवचन यह है कि एक ही देव के बहुत से मन्दिर नही बनाने चाहिए। इस नियम का उल्लघन अनर्थकारक है (अ० १० . १३५-४०)। रुद्र, सोम अथवा ब्रह्मा के एक-एक प्रासाद होने पर यदि दूसरे और विनिर्मित होते है तो ब्राह्मणो को पीड़ा प्राप्त होती है। अग्नि एव बृहस्पति के अधिक मदिरो से पुरोहितो एव ज्योतिर्विदो को भय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कुबेर, इन्द्र, वरुण तथा यम के अधिक प्रासादो की रचना से राजा को भय होता है। स्कन्द (कार्तिकेय) के अधिक मन्दिरो से सेनापति एव सेना को पीडा निश्चित है। प्रजापति एव विष्णु के अधिक प्रासादो से यजमान एव स्थपति दोनो बन्धन एव नाश को प्राप्त होते है। इसी प्रकार अन्य देवो की गाथा है।

देवतायतन-प्रतिष्ठा नगराभिमुख अनिवार्य है। पुर से दूर दिशाओं मे भी यदि कोई मन्दिर प्रतिष्ठित है तो उसे भी नगराभिमुख होना चाहिए। नगर से देवो का पराङमुख होना निषिद्ध है। यदि गलती से देव-पराङमुखता बन गयी है तो फिर उसकी शान्ति-विधि करना अनिवार्य है। परन्तु यह विधान केवल पूजा के देवो के सम्बन्ध मे है। जो आलेख्यवर्ती (चित्रित) देव है या जिनका मात्र-चित्रण ही प्रयोजन है उनकी सम्मुखता अथवा पराङ्मुखता पर ध्यान देने की आवश्यकता नही। इस सम्बन्ध मे 'समरागण०' का दूसरा आदेश यह है कि जिन देवालयों की प्रतिष्ठा पूर्व दिशा मे हो उनके मुख पश्चिम की ओर हो, जो पश्चिम मे हो उनके मुख पूर्व की ओर करने चाहिए। परन्तु दक्षिण दिशा मे स्थापित देवो के मुख उत्तर की ओर नही होने चाहिए (अ० १० ११२-१३)।

पुर के भीतर और बाहर इसी प्रकार की देव-स्थिति प्राय सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रथो मे निर्दिष्ट है। अन्तर केवल इतना है कि इन विभिन्न ग्रथो मे विभिन्न देववर्ग देखने को मिलते है अथवा किन्ही मे कुछ देवो के प्रति विशेष अनुराग दिखाई पड़ता है और किन्ही मे कुछ का कम।

देवतायतन-प्रतिष्ठा के सास्कृतिक महत्त्व पर सकेत किया जा चुका है। इनका व्यावहारिक महत्त्व भी कम न था। प्राचीन काल एव मध्य काल के मदिर महाविद्यालयो

एव विश्वविद्यालयो का तो काम देते ही थे, साथ ही जनता की धार्मिक जिज्ञासा के पूर्ण समाधाता थे। मन्दिर के पुजारी शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ एव ज्योतिर्विद हुआ करते थे। पुराणो के पारायण, कथा-वार्ता, भजन, सकीर्तन, प्रवचन एव पाठ की दैनिक व्यवस्था थी। जिज्ञासु धार्मिक जनता मन्दिरो मे जाकर कथा सुनती, भजन-सकीर्तन मे भाग लेकर उपास्य देव की भक्ति-तन्मयता मे विभोर होकर अपने को कृतकृत्य करती थी। ये मन्दिर नगर की शिक्षा-दीक्षा, धर्म एव भक्ति, अध्यात्म एव चिंतन, योग एवं वैराग्य के जीते-जागते सांस्कृतिक केन्द्र थे। नगर के जिज्ञासु छात्र विद्वान् पुजारियों के अन्तेवासी बनकर वेद, शास्त्र, पुराण एव काव्य का अध्ययन करते थे। उत्सव विशेष पर न केवल नगर वरन् उस जनपद-विशेष के समीप के ग्रामो की जनता भी आती, महोत्सव मे भाग लेती और आनन्द मनाती थी। एक शब्द मे देवतायतन, हिन्दू-जीवन के अभिन्न अग थे। पुर-निवेश मे देवतायतन-प्रतिष्ठा की इसी परम्परा को कतिपय वास्तु-शास्त्रीय ग्रथों मे मण्डप-विधान के नाम से पुकारा गया है। मण्डप-विधान अथवा देवतायतन-प्रतिष्ठा वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से एक ही चीज है। "मण्डप" शब्द उस सुदूर अतीत की ओर इगित करता है जब पूजा-वास्तु वेदी-रचना एव यज्ञशाला तक ही विकसित था। कालान्तर मे वैदिक 'सदस्' से मण्डपो की आकृति विकसित हुई—इस पर हम प्रासादवास्तु की चर्चा मे विशेष निवेदन करेंगे।

आराम-उद्यानादि

प्राचीन नगरो की सर्व-प्रमुख विशिष्टता—देवतायतन-विन्यास पर इस स्तम्भ के पूर्वार्ध मे विवेचन किया गया। अब आधुनिक नगरो की सर्वप्रमुख विशिष्टता उद्यान, पुरजन-विहार आदि विहार-भूमियो के विन्यास के सम्बन्ध मे विवेचन किया जाता है। उद्यान-नगर अर्वाचीन नगर-निवेश का परम आवश्यक विषय है। नगर-निवेश के इस अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्त का अनुगमन प्राचीन नगर-निवेश पद्धति मे हम दो दृष्टिकोणों से देख सकते है—एक अकृत्रिम (प्राकृतिक) तथा दूसरा कृत्रिम। जहाँ तक अकृत्रिम दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, उस पर पिछले प्रकरण मे (दे० भूमि-चयन एव भू-परीक्षा) कतिपय सकेत किये ही जा चुके है। एक-आध और सकेत आवश्यक है। स० सू० के 'भूमि-परीक्षा' नामक ८वे अध्याय मे पुर-निवेश के लिए जिस हरे-भरे वातावरण की अवतारणा की गयी है उसका साराश यह है कि उन्ही हरी-भरी जगहो पर नगर-प्रतिष्ठा करनी चाहिए जिनकी प्राकृतिक सुषमा जलचर, नभचर एव थलचर प्राणिजातियो के लिए आकर्षक हो। जलाशय (वापी, तड़ाग आदि) तो हों ही, घने वृक्षो की छाया भी कम न हो, साथ ही साथ दूर्वा-घास, विविध वनौष-

घियो–मुज (मूज), कुरुन्द एवं कुश आदि की भी वहाँ भरमार हो। वाहनों (अश्व आदि) के लिए सुखद एव मिथुनो (हस-हमिनी, चकवा-चकवी आदि) के लिए रतिप्रद वह स्थान हो। नगर की उद्यानारोपण-व्यवस्था का आश्रय नगर के मन्दिर थे। नगर के उद्यान और नगर के मन्दिरों का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। देवतायतन-प्रतिष्ठा के अनिवार्य अग देव-पूजा मे पुष्पो की अनिवार्यता से सभी परिचित है। अतः पुष्पोद्यान देवतायतन के अनिवार्य अग थे। इस दृष्टि से जहाँ अर्वाचीन नगरो का विन्यास एक मात्र नगर की शोभा एव स्वच्छन्द वायु-सेवन के लिए होता है वहाँ प्राचीन नगरोद्यानो का साक्षात् एव पारस्परिक सम्बन्ध मन्दिरो से था। उद्देश्य मे भेद है न कि निवेश मे। यही नही, उद्यानो के बधु तडाग, पुष्कर, वापी, कासार प्राचीन नगरो के विभिन्न अग थे जिनका आजकल के नवीन नगरो मे सर्वथा अभाव है। सुरम्य कानन, कमलाकर कासार, सुनिर्मित एव सुफुल्लित तडाग किसी भी नगर की शोभा-वृद्धि के लिए पर्याप्त साधन हैं। प्राचीन नगर-निवेश मे इनकी अनिवार्यता पर काफी सकेत किया जा चुका है।

विविध आरामोद्यान-विन्यास के लिए प्राचीन पुर-निवेश की प्राकारादि-प्रक्रिया भी प्रचुर साधन उपस्थित करती थी। पुर के प्राकारादि विन्यास पर आगे के स्तम्भ मे विशेष समीक्षा होगी। प्राकारादि विन्यास की परिखाएँ अभिन्न अग थी जो कि जल-पूरित रहती थी। उस जलराशि के द्वारा सिचित या नम भूमि पर उद्याना-रोपण के लिए अविरल साधन थे।

स० सू० (दे० १०. २१–२४) का निम्न प्रवचन इस उपर्युक्त तथ्य का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार नगर के परकोटे की तीन विस्तृत एव गम्भीर परिखाओ की खुदाई के बाद उनको पूर्ण रूप से साफ कर उनके तल को चारो ओर से शिलाओ के द्वारा बाँध कर (अर्थात् पक्की चुनाई से परिखाओ को मजबूत बनाकर) उनमे जल-राशि भर देनी चाहिए और इधर-उधर फव्वारो (ग्राहो के मुखो से निकलती हुई जलराशि) एव आरोपित कमल-कुजो से उनकी सुषमा बढ़ा देनी चाहिए। यही नही, नगराभि-मुखी परिखाओ के कूलो पर पुष्पो के सौरभ से मत्त भ्रमरो वाले फूलो के पेडो के बगीचो के विन्यास से उन प्रदेशों को इतना मोहक बनाना चाहिए जिससे लोग आ-आकर वही पर बैठने और विहार करने के लिए समुत्सुक हो। परिखाओ के चतुर्दिक् बाह्य भागो पर ऐसी झाड़ियों का आरोपण करना चाहिए जो कँटीली हों और जिनमे लताएँ एव गुल्म भी यत्र-तत्र सटे हो।

इस प्रवचन से प्राचीन नगरो मे उद्यानो के विन्यास पर दो राये नही हो सकती। इसके अतिरिक्त प्राचीन पुर-निवेश में राज-वेश्म का स्थान सदैव पुर-मध्य मे कल्पित

होता था। पुर-केन्द्र में ब्राह्म-मन्दिर की प्रतिष्ठा पर बार-बार संकेत किया जा चुका है। अत दोनो ही निवेशो (राजवेश्म एवं ब्राह्म-मन्दिर) का आरामोद्यान अनिवार्य अग था। भौतिक सम्यता एव सस्कृति के ज्वलन्त प्रतीक भारतीय राज-वेश्म रहे हैं। राजवेश्मो की छटा उत्तुग शिखर, स्फीत प्रागण, विशाल शालाओ, चित्र-विचित्र नाना मण्डप, वितान, वापी, पुष्पवीथी, अशोकवनिका, धारागृह (प्रणाल, प्रवर्षण आदि, दे० आगे यन्त्र पटल) के बहुविध निवेश की पर्यालोचना आगे भवन पटल के "राजवेश्म" प्रकरण में की जायगी। अत. पुर-मध्यवर्ती कृत्रिम उद्यानों, आरामों, पुष्पवाटिकाओं एव फव्वारो का निवेश प्रत्येक प्रमुख नगर का अभिन्न अग था।

इस प्रकार कृत्रिम एवं अकृत्रिम दोनो प्रकार के काननों एव उद्यानो की विनियोजना पर जो समीक्षा हुई उससे यह निष्कर्ष निकला कि प्राचीन पुरो मे आरामोद्यान-निवेश पुर-निवेश की अनिवार्य प्रसाधना थी। सत्य तो यह है कि सनातन काल से इस देश मे मानव प्रकृति के सान्निध्य मे तन्मय रहा। जल एव पादप, पर्वत एव सरिता इस चतुर्मुखी ब्राह्मी सृष्टि मे से ही प्राचीन आर्यों ने अपनी सभी रचनाओ की परिकल्पना की। वृक्ष-पूजा इस देश की अति प्राचीन एव पुनीत परम्परा है। वट, पिप्पल, आमलक, निम्ब, बेल, कदली——ये वृक्ष भारत के किस जनालय मे शोभित नही होते ? ऐसा कौन घर है जहाँ की स्त्रियाँ वर्ष मे किसी-न-किसी दिन इन पुनीत पादपों की अर्चना के लिए सम्भार नही जुटाती हो ? अत. प्राचीन पुर ही क्या, ग्राम, खेटक, निगम, पल्ली एव पल्लिकाओं मे भी पादप-पुजो का पद-पद पर दर्शन होता था। हिन्दुओं के दैनिक जीवन मे पादपों का अनिवार्य धार्मिक साहचर्य है। बिना पादपों के हिन्दू-जीवन अपूर्ण है। प्रात उठते ही निम्ब की दतुअन चाहिए। स्नानोत्तर पूजा के लिए विविध पुष्प चाहिए। नैवेद्य के लिए फल चाहिए। आतप-त्राण के लिए विशाल वृक्षो की छाया चाहिए। गोवृन्द एव अन्य पशु-समूह की अकृत्रिम शालाएँ वृक्षो के अधोभाग थे। प्राचीन जनावासो के निर्माण मे उस पद पर, जिस पर गृह निर्मित होता था, पादपारोपण अनिवार्य था। विश्वकर्म-प्रकाश का निम्न वचन इस तथ्य की पुष्टि करता है—"आदौ वृक्षाणि विन्यस्य पश्चाद् गृहाणि विन्यसेत्।" शाल-भवनो के निवेश मे भवनोद्यान-विन्यास की पूर्ण सुविधा थी——यह हम भवन पटल मे विशेष रूप से प्रतिपादित करेंगे।

इसके अतिरिक्त प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत मे आजकल की सी जल-कल-व्यवस्था तो थी नही, अत वापी, कूप, तडाग आदि जलाशयो का निर्माण किसी भी आवास के लिए अनिवार्य था। राज्य की ओर से सर्वसाधारण जलाशयो का निर्माण होता ही था, वैयक्तिक रूप से भी इस प्रकार के निर्माण के लिए धार्मिक प्रोत्साहन था। इष्टापूर्त की धार्मिक परम्परा मे मानव की जलीय आवश्यकता के आविष्कार का मर्म

छिपा है। इष्ट से यज्ञ एव पूर्त से वापी, कूप, तडाग, देवतायतन-निर्माण अभिप्रेत है। अतः बड़े-बडे तालाबों के निर्माण से एव उनके कूलो पर प्रकाण्ड पादपो के आरोपण से तथा उसी की परिधि मे देवालय की स्थापना से वह पूरा क्षेत्र आजकल के पुर-विहारों के ही समकक्ष था, जहाँ पर लोग न केवल देव-दर्शन, जल-मज्जन एव पादपच्छाया-सेवन का ही आनन्द लेते, वरन् अपने-अपने अवकाश के समय आकर बैठते-उठते, बातें करते, शास्त्र-चर्चा, धर्म-चर्चा, कथा-वार्ता भी करते थे। आरामोद्यानादि-विन्यास प्राचीन भारतीयो के "पादपारोपण" की धार्मिक कल्पना के ही प्रतीक हैं। आजकल हम पादपारोपण पर विशेष जोर देने लगे हैं, प्राचीनों की तो आस्था थी कि एक पादप के आरोपण से एव उसके सिचन एव सवर्धन से दस पुत्रो का उत्सव सम्पन्न होता है —

दशपुत्रसमः तरुः ।

अत यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उद्यान-नगर आजकल की ही विभूति नही है। प्राचीन समय मे ग्राम उद्यान-नगर के रूप में होते थे।

रक्षा-संविधान

प्राचीन भारत की पुर-निवेश योजना का सर्वाधिक घटक प्राकारादि-विनिवेश था। आर्यो ने सनातन काल से प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण मे अपने तीन-चौथाई जीवन का उपक्रम बाँधा। विद्याध्ययन के लिए प्रकृति के उदात्त एव विस्तृत वातावरण में सरितातट, वन का एकान्त भाग, ग्राम अथवा नगर से दूर किसी देवतायतन, मठ, विहार, मण्डप, उटज अथवा आश्रम का चयन—एव गार्हस्थ्य-जीवन के उपरान्त वानप्रस्थ एव सन्यास के लिए भी इसी प्रकार के एकान्त एव प्राकृतिक स्थानो के प्रति अनुराग—आर्यों की प्रकृति-प्रियता एव स्वच्छन्द जीवन के परिचायक है। पुन: नगर एव ग्राम ऐसे विपुल आवास-स्थानो को चहारदीवारियों से घेरकर उनकी विभिन्न उपादानों से दृढता एव अभेद्यता का सम्पादन करते हुए सूचित करते थे कि नागरिक जीवन का रहस्य क्या हो सकता है? प्राकारादि-विनिवेश राजधानी-नगर अथवा एक महानगर की ही व्यवस्था होती तो भी सहज बोधगम्य थी, परन्तु मानसार आदि शिल्प-शास्त्रो मे ग्रामो के लिए भी प्राकारादि-विनिवेश अपेक्षित बतलाया गया है। अतः यह कहना असगत न होगा कि प्राकारादि-योजना का श्रीगणेश सर्वप्रथम राजधानी-नगरो मे प्रारम्भ हुआ होगा। कालान्तर मे जब राज्यसत्ता का सार्वभौमिक स्वरूप विच्छिन्न हो गया तो फिर शायद ही ऐसा कोई नगर बचा हो जिसका राजघराने से

सम्बन्ध न रहा हो, अथवा किसी मण्डलाधिपति का वह हेड-क्वार्टर न रहा हो। अतएव यह परम्परा एक सामान्य परम्परा के रूप में हो गयी। नगर के रक्षा-सविधान की यह समीक्षा मध्य-युग को दृष्टि में रखकर की गयी है। सुदूर अतीत में जब आर्य जाति ने अपनी प्रभुता की स्थापना के लिए इतस्ततः अभियानों का श्रीगणेश किया तथा अपने प्रसारार्थ वे पशुधन के लिए उपयुक्त प्रदेशो की खोज में निकले, तो जहाँ-जहाँ वे गये, अपनी एवं अपने पशुओ, विशेष कर गौओं की रक्षा के लिए गोत्रो की स्थापना की। ये ही गोत्र, गौओ के बाड़े अपने दलपति आर्यों के नाम से तथा कालान्तर में आर्य-कुल अथवा आर्य-परिवारो के नाम से विख्यात हुए। गोत्र छोटी-छोटी बस्तियाँ थी जिनका मुखिया अपने नाम से उनकी सज्ञा चला देता था। इन्हे प्राचीन ग्रामो का लघु स्वरूप कहा जा सकता है। अत. बहुत सम्भव है कि उस अतीत की यह गोत्र-व्यवस्था कालान्तर में प्राकारादि-विनिवेश योजना के जन्म एव विकास मे कारण बनी। सच तो यह है कि प्राचीन नगरो की निवेश-योजना एक प्रकार की सैनिक-योजना की ओर इगित करती है। सैन्य-प्रधान निवेश से तत्कालीन नागरिक जीवन को आक्रांत नही समझना चाहिए। तथ्य यह है कि भारत एव भारतेतर पश्चिम के प्राचीन नगरो (उदा० फ्लोरेंस, स्पार्टा आदि) की भी तो यही व्यवस्था थी, जिनमे वप्रो, परिखाओ एव प्राकार-भित्तियों ने प्रमुखता प्राप्त कर रखी थी। यहाँ पर दुर्गाकृति नगरो की इस सन्निवेश योजना की भूमिका में एक सकेत और आवश्यक है। यद्यपि प्राचीन एव मध्यकालीन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो मे नगर-निवेश का यह दुर्गाकार एक सामान्य स्वरूप था और रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में नगरो का जो वर्णन है उसमे भी यही सर्वसाधारण रूप-रेखा देखने को मिलती है। नगर-निवेश के विकास का यह द्वितीय सोपान था, जब 'दुर्गनगर' नाम-मात्रावशेष रह गये और उनकी जगह उन नगरो ने ले ली जो बाहर से नगर, परन्तु भीतर से (मध्य मे) दुर्ग थे। यद्यपि सभी नगर सुरक्षा से सम्पन्न थे, परन्तु नगर एव दुर्ग दोनो एक स्वरूप—एकाकार अथवा तदात्मक एव तद्रूप नहीं थे। उदाहरण के लिए जयपुर और झांसी को देखिए। झांसी में किला उसके मध्य भाग में है। जयपुर का किला नगर के एक बाह्य कोण पर स्थित है। शनै-शनै विकास का क्रम आगे बढता गया। नगर की रक्षा का सविधान नगर के समीपस्थ शिविर-स्थलों, छावनियों ने ले लिया जो आज भी प्राय सभी महानगरो की सामान्य रक्षा-व्यवस्था का साधन है।

नगरो के प्राकारादि-निवेश पर इस ऐतिहासिक उपोद्घात के उपरान्त अब हमें इसके वास्तु-शास्त्रीय विभिन्न अगो की विवेचना करनी है। समरागण० के अनुसार (अ० १०. १–२) नगर के रक्षार्थ प्राकारादि-निवेश के निम्नलिखित प्रधान अग है—

१—वप्र एवं परिखा, २—प्राकार, ३—द्वार एव गोपुर, ४—अट्टालक, ५—रथ्या

प्राकारादि-विन्यास मे इन प्रधान अगो के अतिरिक्त वास्तुशास्त्रीय परम्परा में कपिशीर्षक (कँगूरे), काण्डवारिणी (छालदीवारी), चरिका (प्राकार-भित्ति का आरोहण-मार्ग) अथवा प्राकारो पर विन्यस्त मार्ग-वीथी (जिसको पाणिनि ने देवपथ कहा है) आदि भी उपाग है जिनकी विस्तृत समीक्षा आगे की जायेगी।

वप्र एवं परिखा—नगर के रक्षा-सविधान—प्राकारादि-निवेश का प्रारम्भ वप्र से होता है। वप्र-भूमि की परिकल्पना के लिए पुर के चारों ओर परिखाएँ (१, २ या ३) खोदी जाती हैं। 'समरांगण०' तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी चारो ओर तीन-तीन परिखाओ का खनन निर्दिष्ट है। पारिखेयी (खाई वाली) भूमि की व्यवस्था नगर-मापन का प्रथम अग है। परिखाओ का खनन एवं वप्र-भूमि का निर्माण सयुक्त कार्य है। परिखाओ के खनन से निकली हुई मिट्टी के द्वारा ही वप्र-भूमि की रचना की जाती है। विभिन्न ग्रन्थों मे परिखाओ के विभिन्न परिमाण दिये गये हैं। 'समरागण०' के अनुसार घण्टा-मार्ग के, जो पुर के चारों ओर जाता है, समानान्तर पारिखेयी भूमि का विन्यास अभिप्रेत है। जो प्रमाण घण्टा-मार्ग का होता है उसी प्रमाण मे वप्र-भूमि का प्रमाण परिकल्पित है। अतः घण्टा-मार्गानुरूप वप्र-भूमि का परिमाण नगर के ज्येष्ठ, मध्यम एव कनिष्ठ भेद से २४, २० तथा १६ हाथ (३६, ३०, २४ फुट) की चौड़ाई मे विहित है।

इस प्रकार वप्र-भूमि के विन्यास के उपरान्त पुर की महारथ्या के आनुषगिक विस्तार-परिमाण से तीन-तीन परिखाओं की खुदाई करनी चाहिए। इस प्रकार उत्तम, मध्यम एव अधम भेद से परिखाओं की चौडाई १२, १०, ८ हाथ (१८, १५, १२ फुट) निकलती है। परिखाओं की गहराई विभिन्न आचार्यों के मत मे अलग-अलग बतायी गयी है। शुक्राचार्य के अनुसार परिखा की गहराई चौडाई से आधी होती है। कौटिल्य के अनुसार परिखाओ की चौडाई १४, १२ तथा १० दण्ड है और गहराई पौन अथवा आधी होनी चाहिए। इस प्रकार एवं प्रमाण से परिखाओ के खनन के उपरान्त जो मिट्टी निकले उसको गो-वृषभों के पैरों से खुँदवाकर (गोश्रीव-पदताडित) पूर्ण मिट्टी के तीन-चौथाई भाग अथवा आधे भाग से वप्र का निर्माण करना चाहिए। वप्र की ऊँचाई गज-पृष्ठ (हाथी की पीठ) के बराबर बनानी चाहिए। पुनः अवशेष मृत्तिका से पुर के उन प्रदेशो को, जो निम्न हैं, समतल कर देना चाहिए।

इस प्रकार परिखा-खात की सफाई के बाद उसका तल पूर्णरूप से पक्की ईंटो अथवा पाषाण-शिलाओ से पक्का बना देना चाहिए। पुनः इसको जल से भरना

चाहिए। जल-पूरण-व्यवस्था पुर के गम्भीर जलाशयों से पाइप-लाइन के द्वारा सम्भवतः सम्पादित की जाती थी अथवा नगर के समीप बहने वाली सरिता से। इस प्रकार जल-पूरित परिखा के दोनों ओर दो प्रकार के पादपों का आरोपण करना चाहिए जिसका उल्लेख पिछले स्तम्भ "देवतायतन एव आरामोद्यानादि" मे किया जा चुका है।

दत्त महाशय के मत मे इन जल-पूरित परिखाओ मे कमल लगाये जाते थे, जिससे नगर की शोभा बहुत बढ जाती थी। इनमें मगरमच्छ (ग्राह) भी छोड़ा जाता था जिससे शत्रुओ को इन परिखाओ को पार करने में बाधा पड सके (दे० महाभा० शा० प०, अ० ६६, "आपूरयेच्च परिखा नक्रझषाकुलाम्")।

प्राचीन पुरों की ये परिखाएँ न केवल पुर की रक्षा-व्यवस्था के लिए महत्त्वपूर्ण थी वरन् नगर की जल-नि.सारण (ड्रेनेज) की व्यवस्था के लिए भी उपयोगी थी (दे० देवीपुराण, अ० ७२, "खातिकारचित कार्यप्रणालीभिः समन्वितम्")। दूसरे, जैसा ऊपर निर्देश किया गया है इनकी खुदाई से प्राप्त मिट्टी के द्वारा नगर को समतल बनाने मे इनसे बड़ी सहायता मिलती थी। तीसरे, संकट के समय में इनके द्वारा पुर को प्लावित किया जा सकता था जिससे शत्रु को उस पुर-विजय का कोई लाभ न प्राप्त हो सके तथा वह स्वय सकटापन्न हो जाय।

प्राकार—परिखाओ एव वप्रों के उपरान्त नगर के रक्षा-सविधान का तीसरा अग प्राकार-विनिवेश है। प्राकारो का विन्यास वप्रों की पृष्ठभूमि पर परिकल्पित किया जाता है। प्राकार का साधारण अर्थ उत्तुग मोटी दीवार है जो पुर के चारो ओर विन्यस्त की जाती है। प्राकारो की रचना भारी पाषाण-शिलाओ से की जाती थी। अतएव ये दीवारे (परकोटे) अभेद्य बन जाती थी। आज भी प्राय सभी पुरातन राजधानी-नगरों के भग्नावशेषो मे हमें इन परकोटों के दर्शन होते है। राजस्थान की महानगरियो मे आज भी ये प्राकार अपनी प्राचीन स्मृति को स्थिरता प्रदान कर रहे है। इनकी ऊँचाई का प्रमाण भा० वा० शा०, पृ० १८८ मे द्रष्टव्य है।

प्राकारो की रचना में उसके दो उपाग और उल्लेख्य है—कपिशीर्षक (कँगूरे) तथा काण्डवारिणी (छालदीवारी))। कपिशीर्षको के विन्यास से प्राकारो की शोभा ही नही सम्पन्न होती है वरन् प्राकारो पर विरचित चरिका (सचारपथ) पर सचरण के लिए अन्तरावकाशो पर सहारा भी मिलता है। प्राकारों की विन्यास-प्रक्रिया के संबन्ध मे विशेष इंगित यह है कि वैसे सर्वसाधारण रूप से प्राकारो की सख्या एक पुर

के लिए एक ही अभिप्रेत थी परन्तु पाटलिपुत्र महानगरी मे तीन-तीन प्राकार-भित्तियाँ बनायी गयी थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे प्राकारो की सख्या एक से अधिक सम अथवा विषम निर्दिष्ट है। अत महामात्य चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य की इस महानगरी मे अर्थशास्त्रानुरूप तीन प्राकार-भित्तियाँ सहज बोधगम्य हो जाती है। प्राकारो की ऊँचाई मे भी विभिन्न ग्रन्थो के विभिन्न मत है। देवीपुराण (अ० ७२) तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण (श्रीकृष्ण-ज०, अ० १०३) मे प्राकार-भित्तियो की ऊँचाई का परिमाण अत्यधिक होने के कारण ग्राह्य नही है। प्राकारो की अत्यधिक ऊँचाई पुर मे स्वच्छन्द समीरण के प्रवाह को ही नही रोकती वरन् पुर के स्वरूप-सौन्दर्य मे भी एक कृत्रिम विषमता उपस्थित करती है। अतएव समरागण० का साफ आदेश है कि १७ हाथ से अधिक ऊँचे प्राकार न बनाये जायँ। शुक्राचार्य भी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते है। शुक्र के अनुसार प्राकार-भित्तियो की ऊँचाई उतनी रहनी चाहिए जिससे शत्रु एव दस्यु उनका लघन न कर सके।

अट्टालक—प्राकारादि-विन्यास का चौथा अग अट्टालक है। प्राकार-भित्तियों पर सौ-सौ हाथ (१५० फुट) के अन्तरावकाशो पर चारो दिशाओ मे अट्टालकों का निवेश करना चाहिए। अट्टालको को गोपुर-द्वारा के समान ही भव्याकृति प्रदान की जाती थी। प्राचीन भारतीय वास्तु-कला के अप्रतिम निदर्शन गोपुरो की भव्याकृति पर प्रसगानसार आगे समीक्षा होगी। यहाँ पर इतना ही सकेत पर्याप्त है कि प्राचीन स्थपति जहाँ पुर के रक्षा-सविधान के लिए इन विभिन्न रचनाओ के निवेश मे दक्ष थे वहाँ वे कला मे सौन्दर्य के सन्निवेश के लिए भी सदैव सावधान रहते थे। इनकी रचना के सम्बन्ध मे समरागण० का निर्देश है कि प्राकारो की ऊँचाई के परिमाण मे इनका विस्तार अपेक्षित है तथा इनको द्विभौमिक बनाना चाहिए। इनका न्यास चरिका (प्राकार पर प्रतिष्ठित सचरण-मार्ग) के ऊपर होना चाहिए। इनके निर्गमो का प्रमाण इनके विस्तार का आधा वाञ्छित है। इस प्रकार प्राकारो के न्यास एव उनकी वास्तु-भूषाओ (कपिशीर्षक एव काण्डवारिणी) के विन्यास के उपरान्त अट्टालको के सन्निवेश से जो प्राकार के ऊपर स्वत. अनायास ही एक दिव्य एव अलौकिक वास्तु-कृति निष्पन्न होती है उसी को चरिका के नाम से पुकारा गया है। इस ऊपरी सडक पर बीच बीच मे द्वार होने चाहिए। ऊपर चढने एव नीचे उतरने के लिए सुखारोह सोपान होने चाहिए। इसकी सुन्दरता के लिए इस पर वेदिकाओ, निर्यूह आदि वास्तु-भूषाओ के साथ-साथ इतस्तत सर्वत्र छोटे-छोटे कँगूरो का भी विनियोग करना चाहिए। इसी चरिका को पाणिनि और कौटिल्य ने "देवपथ" के नाम से पुकारा है।

गोपुर-द्वार—प्राकारादि-विनिवेश का पाँचवाँ अंग गोपुर-द्वार अथवा द्वाराट्टालक है। परिखाओं, वप्रो, प्राकारों, अट्टालको के निर्माण के अनुरूप नगर के महाद्वारो का भी निर्माण अभिप्रेत है। आज भी प्राचीन अथवा मध्यकालीन महानगरियो (राजधानियो) में महाद्वारो की भव्य रचना देख पडती है। पाटलिपुत्र के वर्णन मे मेगस्थनीज ने उस प्राचीन महानगरी के ६४ महाद्वारो एव प्राकार-भित्ति पर प्रतिष्ठित ५७० अट्टालको का उल्लेख किया है। आज भी राजस्थान की जयपुर महानगरी मे हम ऐसे ही महाद्वारो की सुषमा देख सकते है। इस महादेश के विभिन्न भागो मे बिखरे हुए प्राचीन ऐतिहासिक नगरो के भग्नावशेषो मे इन उत्तुग एव विस्तीर्ण महाद्वारो के सर्वत्र समान रूप से दर्शन होते है। मानसार एव मयमत आदि दाक्षिणात्य वास्तु-शास्त्रीय परम्परा के प्रतिनिधि-ग्रन्थो मे महाद्वारो का गोपुरो के नाम से वर्णन किया गया है। गोपुरो की वास्तु-आकृति बडे-बडे भवनो एव प्रासादो से भी भव्य एव दर्शनीय है। दक्षिण के मन्दिरो की प्रमुख विशेपता गोपुर-निवेश है। इन गोपुरो मे बहुसख्यक भूमियो (मजिलो, १ से १७ तक) एव अट्टालको के सन्निवेश से इनका वास्तु-सौन्दर्य भारतीय स्थापत्य की उज्ज्वल कीर्ति का अप्रतिम निदर्शन है।

गोपुर शब्द की कैसे निष्पत्ति हुई—यह कहना नितान्त अशक्य नही है। शब्द-कल्पद्रुम के अनुसार यह 'गुप्' (रक्षणे) धातु से निष्पन्न हुआ है। अतएव गोपुर-विधान भी मन्दिर अथवा नगर की रक्षा-विधान का एक महत्त्वपूर्ण अग है। इसी परम्परा से हमने भी इसे प्राकारादि-विनिवेश का पाँचवा अग माना है।

यहाँ पर यह निर्देश आवश्यक है कि समरागणसूत्रधार मे नगर के प्राकारादि-विनिवेश मे विभिन्न द्वारो एव महाद्वारो का उल्लेख तो है परन्तु उनको गोपुरो के नाम से नही पुकारा गया है। चाणक्य के अर्थशास्त्र मे भी द्वारो के लिए 'गोपुर' शब्द का प्रयोग नही है। कौटिल्य ने इन महाद्वारो का द्वाराट्टालक नाम से वर्णन किया है। अतः लेखक की धारणा है कि गोपुर-द्वारो अथवा 'गोपुर' बहुभूमिक भवनो का विशेष सम्बन्ध पूजा-वास्तु से है। जन-वास्तु के प्रतिष्ठापक एव प्रतिनिधि ग्रंथ समरांगण० ने सम्भवतः इसी हेतु नगर-द्वारो को गोपुर-द्वारो के नाम से नही पुकारा। हाँ, हम आगे देखेंगे (भवन-पटल, राजवेश्म) कि राजवेश्म (जो प्रासाद-मन्दिर के समान ही परिकल्पित है) मे प्रमुख द्वारो को गोपुर-द्वारो के नाम से कहा गया है। अस्तु, यह निर्विवाद है कि प्राकार का 'गोपुर' द्वाराट्टालक है जिसको स० सू० मे केवल द्वारो अथवा महाद्वारो के नाम से उल्लिखित किया गया है।

इस ग्रन्थ मे भी इन महाद्वारो की विशिष्ट रचना विहित है जिसे हम आगे "प्रतोली" के वर्णन में दिखलायेंगे।

समरांगण० मे पुर-द्वारो के तीन वर्ग है—महाद्वार, वक्त्रद्वार एव पक्षद्वार। नगर के महाद्वारो की संख्या इसमे १८ है। प्रत्येक दिशा में तीन-तीन बडे-बड़े पुर-फाटको का निर्माण करना चाहिए। "मार्ग-विनिवेश" के पिछले प्रकरण में हमने देखा कि पुर के बहुविध मार्गों मे पूर्व से पश्चिम एक राजमार्ग तथा दो महारथ्याएँ विन्यस्त की जाती हैं। इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर भी ये बनायी जाती हैं। अतः राजमार्ग एव महारथ्या दोनो पर ही महाद्वारो का विन्यास अभिप्रेत है—प्रत्येक दिशा मे तीन महाद्वार (एक राजमार्ग पर तथा दो-दो महारथ्याओं पर) होने से चारों ओर बारह हुए। इनकी चौड़ाई ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ पुर-प्रभेद से राजमार्ग पर ९, ८, ७ हाथ (१३$\frac{1}{2}$, १२, १०$\frac{1}{2}$ फुट) तथा ६, ५, ४ हाथ (९, ७$\frac{1}{2}$, ६ फुट) महारथ्या पर प्रतिपादित की गयी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक राजधानी-नगर मे इस प्रकार के महाद्वारों की संख्या केवल चार है जिनको दिशानुरूप ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य एव सैनापत्य (क्रमश: उत्तर, पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिम) की संज्ञा दी गयी है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थो में भी द्वार-निवेश के विभिन्न मत प्रचलित हैं जिनका उल्लेख प्रासगिक नही।

इन महाद्वारो के अतिरिक्त समरांगण० मे दूसरी कोटि के द्वारों को वक्त्रद्वार के नाम से कहा गया है। वक्त्रद्वार महाद्वारो के ही समीप निविष्ट होते है तथा उनका विनिवेश राजमार्ग एव महारथ्याओं पर ही अभिप्रेत है। विशेषता यह है कि महाद्वारो में प्रतोली (भौमिक-भवन) एक अनिवार्य वास्तु-कृति है। प्रतोली के प्राकारादि-विन्यास-व्यवधान से महाद्वार सदैव दबे रहते हैं, केवल उनकी शोभा ही विशेष द्रष्टव्य है। अतः यातायात एवं अन्य मार्ग-व्यापारो के लिए महाद्वारो की ही परिधि मे वक्त्रद्वारो—मुखद्वारो की परिकल्पना वाछित है। तीसरी कोटि के द्वारों को पक्षद्वार कहते हैं। रात्रि के समय जब महाद्वार एवं मुखद्वार बन्द हो जाते है तो ऐसे समय प्रवेश अथवा निर्गम के लिए पक्षद्वार ही काम आते हैं।

प्रतोली—हमने अभी ऊपर संकेत किया है कि महाद्वारों पर प्रतोली-भवनों का विन्यास वाछित है। "प्रतोली" शब्द का क्या अभिप्राय है—इसकी कुछ समीक्षा आवश्यक है। वैसे तो अमरकोश में प्रतोली को रथ्या (सड़क) माना गया है, डा० आचार्य ने भी अपने महाकोश में प्रतोली शब्द के निर्वचन में 'द्वारमार्ग अथवा क्षुद्र अट्टालक या नगर का प्रमुख मार्ग' आदि अर्थ दिये हैं। परन्तु हिन्दी,

राजस्थानी और गुजराती भाषा मे "पौरी" शब्द बड़े फाटक के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह "पौरी" "प्रतोली" का ही तद्भव शब्द प्रतीत होता है, यथा

प्रतोली→ पओली→ पउलि→ पौरी

समरांगणसूत्रधार मे प्रतोली न तो एक मात्र महाद्वार है और न रथ्या, यह एक त्रिभौमिक (त्रितल) भवन-विन्यास है जिसका निवेश महाद्वारो पर ही अभिप्रेत है। अतः लेखक के मत मे प्रतोली उस विशिष्ट महाद्वार को कहेगे जिस पर भवन-विन्यास अनिवार्य है। स० सू० का प्रतोली-विषयक निर्वचन इस मत का समर्थक है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र मे प्रतोली शब्द का प्रयोग किया है तथा उसके विन्यास की दिशा मे केवल इतनी ही सूचना मिलती है कि वह अट्टालकों के बीच में निविष्ट की जाती थी। अतः कौटिल्य के अनुसार उसे द्वार कहा जाय अथवा प्राकार-भित्ति पर अट्टालक-सदृश दूसरी भवन-भूषा——यह असन्दिग्ध रूप मे नही कहा जा सकता। परन्तु यह असदिग्ध है कि जिस प्रकार गोपुर-द्वारो एव साधारण महाद्वारो मे वास्तुकलात्मक भेद है उसी प्रकार प्रतोली एवं द्वारो मे भी है। प्रतोली-महाद्वारो एवं गोपुर-महाद्वारो की ये दोनो परम्पराएँ वास्तु-विद्या की दो प्राचीन परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है—गोपुर दक्षिण वा० वि० एव प्रतोली उत्तरी वा० वि० का। प्रतोली की दूसरी विशिष्टता यह है कि इस पर हर्म्य का निवेश भी अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त भूषाओं, चन्द्रशालाओ एव गवाक्षों का इसके प्रकोष्ठो मे न्यास करना चाहिए। साथ ही इस प्रतोली-भवन मे विभिन्न प्रकार के यत्र एव शस्त्रास्त्रो का संभार भी रहना चाहिए, क्योकि पुर के रक्षाविधान का ही तो यह अग है। व्यालजाल, शतघ्नी आदि शस्त्र एव यन्त्रो का न्यास न केवल पुर की शोभा के लिए है अपितु उसकी रक्षा के लिए भी अभिप्रेत है।

प्राकारादि-विनिवेश का अन्तिम अवशिष्ट अग "रथ्या" है, रथ्याओ पर पिछले प्रकरण (दे० मार्ग-विनिवेश) मे यथोचित विवेचन हो चुका है। अतः इस स्तम्भ को यहाँ समाप्त कर पुर की विभिन्न आकृतियो एवं उनके अपालन से गर्हित पुरो के प्रादुर्भाव पर विवेचन करना आवश्यक है।

पुर-आकृति एव गर्हित पुर

पुर-आकृति——समरांगणसूत्र० ही पुर का सर्व-प्रशस्त आकार चतुरस्राकार मानता है। सत्य तो यह है कि प्राचीन परम्परा मे चतुरस्राकार ही न केवल सर्वश्रेष्ठ माना गया है वरन् वह पूर्ण भी समझा गया है। वास्तु-निवेश मे चतुरस्राकार की यह परम्परा वैदिक यज्ञवेदी की पावनता एवं उसके आकार का अनुगमन करती है। यज्ञ-

वेदी की ही आधारशिला पर भारतीय स्थापत्य का भव्य भवन खड़ा हुआ है। चतुरस्र (चौकोर) आकार की मीमासा मे इतना ही संकेत आवश्यक है कि इसमें मानव-जीवन की पूर्णता निहित है और इसमे सस्थान की पूर्ण अभिव्यक्ति भी प्रतिष्ठित है। कोई भी संस्थान जो चौकोर नही वह पूर्ण नही--इस सत्य को हम सब समझ सकते हैं। चार वेद, चार वर्ण, चार आश्रम, चार अवस्थाएँ, जिस प्रकार ज्ञान, मानवता, मानव-पुरुषार्थ एव मानव-विकास की प्रतीक हैं, उसी प्रकार वास्तु-रचना मे चार अस्रों (चतुरस्र) का महत्त्व है। अतएव भोज ने (युक्तिकल्पतरु तथा स० सू०--दोनो मे) पुरो के चतुरस्र-विनिवेश पर विशेष आग्रह दिखाया है। यही कारण है कि जहाँ मयमत, मानसार आदि ग्रथो ने पुर की प्रतिष्ठा मे ८१, ६४, ४९ आदि जिस किसी भी वास्तु-पद का विन्यास प्रतिपादित किया है, वहाँ समरागण० ने पुर-निवेश मे ६४ पद-वास्तु का ही उल्लेख किया है। ६४ पद-वास्तु चतुरस्रा-कृति का आदर्श साइट-प्लान है।

ऊपर सकेत किया गया है कि नगर के शास्त्र-निर्दिष्ट सस्थान के प्रतिकूल जो सस्थान प्रमादवश प्रकल्पित किये जाते हैं वे ही अप्रशस्त-संस्थान गर्हित पुरों के जनक बनते है। परन्तु इसमे शास्त्रों का एकमत नही, जहाँ समरागण० चतुरस्र सस्थान को सर्वोपरि मानता है वहाँ मयमत (अ० १०) से चतुरस्र, आयतास्र, वृत्त, वृत्तायत एवं गोलावृत--सभी आकृतियों मे पुर-निवेश हो सकता है। देवीपुराण (अ० ७२) मे भी विभिन्न पुर-आकृतियाँ देखने को मिलती है--जिनमें त्र्यस्र एव दीर्घ भी हैं। अग्नि एव मत्स्य पुराणो के पुर-आकृति विषयक प्रवचन स० सू० के निकट पहुँचते हैं। परन्तु जहाँ अग्निपुराण मे अर्धचद्राकृति की निन्दा है वहाँ मत्स्य मे उसकी बड़ी प्रशसा की गयी है। नदीतट के नगरो के लिए यह आकार विशेष उपयुक्त है। काशी की अर्धचद्राकृति से हम परिचित है। भविष्योत्तर-पुराण मे समरागण० के अनुरूप दीर्घ एव चतुरस्राकार पुरो की ही उपादेयता स्वीकार की गयी है। दीर्घाकार पुर ऐश्वर्य, सुख, शान्ति एवं स्थायित्व प्रदान करते है। चतुरस्राकार मे चतुर्वर्गों (धर्मार्थ-काम-मोक्ष) की सिद्धि होती है। त्र्यस्र नाशकारक है तथा वर्तुल बरबाद कर देता है।

गर्हित पुर

"चतुरस्र" आकृति के प्रतिकूल जो साधारणतया संभाव्य आकृतियाँ है उनमें निविष्ट पुर गर्हित पुर के नाम से समरागण द्वारा वर्णित है। समरागण (१०, ५३-६६) की दृष्टि मे गर्हित पुर की निम्नलिखित संज्ञाएँ हैं —

१—छिन्नकर्ण २—विकर्ण ३—वज्राकृति ४—सूचीमुख
५—वर्तुल ६—व्यजनाकार ७—चापाकार ८—शकटद्विसम
९—द्विगुणायतसम्थ १०—विदिक्स्थ ११—भुजगकुटिल

छिन्नकर्ण—जिस नगर के कर्ण ही छिन्न हो गये हो वह क्या कभी प्रशस्त माना जा सकता है। ऐसे कनकटे अर्थात् चतुरस्राकारहीन पुर मे रहने वाले सदैव सकटमय जीवन से आक्रान्त रहते है। चोरो का भय, रोग, व्याधि एव शत्रु-आतंक सदैव वहाँ पर व्याप्त रहते हैं।

विकर्ण—छिन्नकर्ण के भाई विकर्ण की भी यही करुण कहानी है। ऐसे नगर के तथाकथित नागरिक ईर्ष्या, द्वेष, सतानाभाव एव अल्पायु के हमेशा शिकार रहते हैं।

वज्राकृति—वज्राकार मे सम्भवत अष्टास्र–अठकोने नगर का अभिप्राय है। जिस नगर के इतने कोने है उस नगर के निवासी सदैव यदि कोना ही झाँकते रहते हो तो आश्चर्य की क्या बात है। स्त्री-दासता, विषरोग, षडयन्त्र आदि इस नगर की विशेषता है। अग्निपुराण (अ० १०६) मे भी यह आकृति अप्रशस्त कही गयी है।

सूचीमुख—सूची (सुई) के समान आकृति वाला (अर्थात् बहुत लम्बा हो चौड़ा बिल्कुल नही)। इस पुर मे दुर्भिक्ष एव व्याधि का विशेष बोलबाला रहता है।

वर्तुल—गोलाकृति पुर को समरागण ने अप्रशस्त पुरो मे माना है। समरागण ने, जैसा कि हम पूर्व प्रतिपादित कर चुके है, चतुरस्राकृतिक ही सर्वश्रेष्ट माना है, वर्तुलाकृति उसे मान्य नही। ऐसे गोल नगर मे रहनेवाले नागरिकों के लिए सभी कुछ गोल है। दरिद्रता, अल्पायु आदि परिणाम स्वत संभव है।

इसके विपरीत ब्रह्माण्ड (अ० ७२) एव कालिका (अ० ८४) पुराण वर्तुलाकृति पुर को प्रशस्त मानते हैं।

व्यजनाकार—व्यजन का अर्थ पखा है। ऐसी आकृति के नगर मे झूठो की प्रमुख बस्ती बतायी गयी है। यहाँ के निवासी वात-रोग से विशेष पीडित रहते है। शरीर की वात-व्याधि के अनुरूप यहाँ के निवासी चचल-चित्त भी रहते है। कालिकापुराण (अ० ८४) ने भी इस आकृति को गर्हित माना है और दृष्टान्त रूप यह उल्लेख किया है कि दानवराज बलि की राजधानी शोणितपुर अपनी व्यजनाकृति के कारण ही नाश को प्राप्त हुई।

चापाकृति—धनुषाकार पुर की प्रशसा पर हम पूर्व सकेत कर आये है तथा अर्धचन्द्राकृति (धनुषाकृति) के निदर्शन में पुण्यपुरी वाराणसी का बखान भी कर आये है। परन्तु यह समझ मे नही आता कि समरांगण ने इसे गर्हित क्यो माना है?

अग्निपुराण इसे सर्वाधिक प्रशस्त मानता है। इसी प्रकार कालिकापुराण ने इसे बड़ा प्रशस्त स्वीकार किया है तथा दृष्टान्त भी दिया है कि इक्ष्वाकुओं की नगरी अयोध्या की कीर्ति का कारण उसकी धनुषाकृति है। धनुष शौर्य एव वीर्य का प्रतीक है। परन्तु समरांगण के अनुसार ऐसे नगर के निवासी स्वयं षण्ढ एवं उनकी स्त्रियाँ दुश्चरित्र होती हैं।

शकटद्वयसमाकार—दो गाड़ियो को खड़ा करने पर जो आकार बनता है उसे "शकटद्वयसमाकार" कहा गया है। ऐसी आकृति वाले पुर मे रहनेवालो को रोग, शोक, अनल एव चोर से भय विद्यमान रहता है। यही नही, आरम्भ से ही ऐसे पुर के वासियो की सिद्धियाँ समाप्त हो जाती है। विप्रो को भय समुपस्थित होता है तथा कुटुम्बियो में भेद भी उत्पन्न होने लगता है अर्थात् उनमे परस्पर कलह रहता है। साथ ही पौरजनो एव उनके स्वामी (राजा) के हाथी-घोडो का क्षय भी होता है।

द्विगुणायतसंस्थ—आयताकार पुर को भी चतुरस्राकार कोटि मे ही माना जाता है परन्तु यदि वह द्विगुणायत (जिसकी लम्बी समानान्तर रेखाएँ चौडाई से दुगुनी हो) होता है तो अप्रशस्त माना गया है। ऐसा पुर रक्षा करने मे असमर्थ होता जाता है, बलवान् शत्रुओ के आक्रमण से वह पददलित होता है एव वे ही उस पुर के भोगी बनते है।

विङ-मूढ—पद-विन्याम के विवेचन के अवसर पर पद के दिक्-सामुख्य की ओर पूर्ण रूप से संकेत किया जा चुका है। कोई वास्तु-कृति कोणदिशास्थित नही होनी चाहिए। चार दिशाओ एवं चार उपदिशाओ में ही निवेश विहित है। अत ऐसा पुर निन्दित है। इसमे निर्योग (शान्ति एव सुख) का सतत अभाव रहता है। जननाश, अग्निदाह, स्त्रीकृत भय विशेष उल्लेखनीय है।

भुजंगकुटिल—यह उस पुर की सज्ञा है जिसकी आकृति सर्प के समान टेढ़ी-मेढी बन गयी हो। इस पुर के निवासी सदैव शस्त्रो (युद्ध के प्रतीक), अनिल (आँधी आदि), पिशाचो, अग्नि, भूत (प्रेतबाधा), यक्ष आदि के भय से ग्रस्त रहते है। वे रोगी भी रहते है और उनका जीवन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। समरागण के इन गर्हित पुरो के वर्णन के उपरान्त कतिपय और भी पुर की अप्रशस्त आकृतियाँ हैं जिन पर थोडा सा सकेत आवश्यक है। वैसे तो समरागण का यह प्रवचन सांगोपांग है एवं एतद्विषयक इतने विस्तृत विवरण अन्यत्र अप्राप्य हैं तथापि कुछ नाम-भेद से उनका भी दिग्दर्शन यहाँ अभीष्ट है।

मत्स्यपुराण (अ० २०७) पुर की "यवमध्याकृति" निन्दित मानता है । कालिकापुराण (अ० ८४) मे "मृदगाकृति" पुर की निन्दा के प्रतिपादन के साथ साथ यह भी उदाहरण-स्वरूप उल्लेख है कि रावण की सोने की नगरी लंका अपने मृदगाकृति निवेश से मिट्टी में मिल गयी ।

आधुनिक नगर-निवेश में प्राचीन नगर-निवेश की देन

आधुनिक नगर-निवेश—आधुनिक नगर-निवेश-कला के अनुसार इस कला का एकमात्र उद्देश्य किसी नये नगर के निर्माण हेतु योजना बनाना ही अभिप्रेत नही है, वरन् निर्मित नगरों के सुधार, प्रसार, विस्तार एवं संहार आदि द्वारा किस प्रकार उसको नये ढग की नयी आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु सन्निविष्ट एव सुनिर्मित किया जाय जिससे रहने के सभी साधन एव सुख उपलब्ध हो सकें—यह भी अभीप्सित होता है । नगर-निवेश के समय उस प्रान्त अथवा जनपद को, जिसमे वह नगर आता हो, दृष्टि मे रखना आवश्यक होता है । आधुनिक नगर-निवेश की भाषा में इसे "रीजनल प्लानिग" कहते हैं । सच तो यह है कि नगर-निवेश (टाउन-प्लानिग) रीजनल प्लानिग का ही एक अग है । यद्यपि यह प्राचीन शिल्प-शास्त्रों मे शाब्दिक रूप मे नही प्रतिपादित किया गया, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्राचीनों का भी इस ओर ध्यान अवश्य था । समरागण तो देश-निवेश अथवा राष्ट्र-निवेश के अन्तर्गत ही नगर-निवेश को मानता है । इसी उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर आजकल हम सर्वत्र बडे-बड़े नगरो के सुधारार्थ मास्टर-प्लान का सुमधुर गान प्रायः प्रति दिन सुनते हैं । बात यह है कि ज्यों-ज्यों आबादी बढती जाती है, कारखानो और उनमें काम करनेवालो की सख्या बढ़ती जा रही है, त्यो-त्यो नगरो के विपुलतम प्रसार की आवश्यकता ही नही, अनायास अवकाश भी मिलता जाता है । अतः मास्टर-प्लान के लिए यह आवश्यक है और यहीं पर मास्टर-प्लान की प्रतिभा की परीक्षा भी है कि उन प्लानों में वर्तमान-कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तो पूर्ण अवसर हो ही, साथ ही भविष्य की परिवर्तनशील परिस्थितियो के अनुसार भी उनमे यथोचित गुजाइश हो । अत. आधुनिक नगर-निवेश के लिए जिन विशेषताओं की अनिवार्यता सभी को मुक्तकंठ से स्वीकार होगी वे निम्न रूप से अंकित की जा सकती है—

१—यथोचित एवं उपयुक्त विन्यास-योजना
२—नगर की अपनी वैयक्तिकता
३—विपुल वायुसंचारार्थ खुली जगहें
४ आवादी की असंकीर्णता

५–विस्तृत मार्ग

६–अच्छी स्वच्छता

७–प्रचुर जल-कल-व्यवस्था

८–पूजा, शिक्षा, क्रीडा तथा मनोरजन के उपयुक्त स्थानों की यथोचित स्थिति

९–जन-पुरीषालय तथा नालियो की सुव्यवस्था

१०–घृणित, असुन्दर एव अदर्शनीय दृश्य का अभाव, जैसे धूम, धूलि तथा शोरगुल

११–सुविधापूर्ण तथा सस्ते यातायात के साधन

१२–जोनिग—विभिन्न कार्यों एवं आवश्यकताओ के लिए विभिन्न आवासो की रचना

१३–नगर-सचालन का सुन्दर शासन-प्रबन्ध

१४–नागरिको का उसमे अनुकूल सहयोग तथा सतोष।

अत स्वयसिद्ध है कि नगर के प्रमुख घटक, जिन पर उसका नगरत्व आश्रित है वे है उसके १–निर्माण, २–खुली जगहे तथा ३–यातायात के साधन। इनमे जहाँ तक नगर के निर्माणो का सम्बन्ध है वे, जैसा हमने पूर्वपीठिका मे प्राचीन नगरो के विकास के प्रकरण मे देखा, नगर की स्थिति मे प्रभावित है। नगर की यह स्थिति किसी मैदान मे है या पठार पर है अथवा पर्वत की उपत्यका मे ? उसकी भूमि समतल है अथवा विषम-तल ? उस स्थान का वातावरण किसी धार्मिक स्थान अथवा ऐतिहासिक स्मारक से प्रभावित तो नही ? अथवा उस स्थान की कोई महत्ता तो नही है—ये सभी स्थितियाँ नगर के निर्माण मे पूर्ण प्रभाव डालती हैं। निर्माण मे निर्मित स्थान—भवन, मार्ग आदि तथा अनिर्मित स्थान—खुली जगहें, इन दोनो की दृष्टि से आधुनिक नगर के निम्नलिखित अवयव विशेष उल्लेखनीय हैं—

१–भवन

अ–प्रासाद, हर्म्य, निकुंज—समृद्धो के भवन

आ–साधारण जनावास—फ्लैट्स—जन-वास-वीथियाँ

इ–दरिद्र-बस्तियाँ

२–व्यापार-मालिका

३–औद्योगिक भवन–कार्यालय तथा मिल

४–सस्था-भवन—विद्यालय, महाविद्यालय, पुस्तकालय

५–चिकित्सालय, रसायनशालाएँ, स्वास्थ्यशालाएँ

६–सर्वसाधारण-स्थान—नगर-सभा-भवन, न्यायालय, विश्वविद्यालय, रेलवेस्टेशन

७–हाट-बाजार

८–मनोरंजन के स्थान—प्रेक्षागृह, नाट्यशालाएँ, चित्र-गृह, स्टेडियम, संतरण-जलाशय

९–पार्क, उद्यान, पुष्प-मण्डप, लतावितान

१०–मार्ग, जलकल, रेल

११–वायुयान-विराम एव पोत-स्थान

१२–दाह-स्थान ।

आधुनिक नगर-निवेश के नियमो मे भी प्रथम स्थान भूमि-चयन आदि को ही दिया गया है। इस माप मे भौगोलिक, भौगर्भिक तथा जलवायु-परिस्थितियो के साथ-साथ वहाँ की आर्थिक स्थिति, राजनीतिक परिस्थिति, यातायात के साधन, आबादी, व्यापार-वाणिज्य एव व्यवसाय, सांस्कृतिक कार्यकलाप, प्रसार, स्थानीय सुधार आदि का पर्यवेक्षण करना पडता है। नगर-निवेश की इस प्रारम्भिक परीक्षा मे मानचित्रो की उपयोगी सहायता लेनी चाहिए। बिना मानचित्रो के समीचीन सन्निवेश की सागोपाग समीक्षा नही बनती। भूमि, भूमि-प्रभुता, भूमि-सीमा, जनपद, मार्ग, प्राकृतिक साधन—वन, सरिता, पर्वत, खाने, जलवायु, उपज, कृषि, व्यापार, व्यवसाय आदि को दृष्टि मे रखकर इस परीक्षा मे तत्पर होना चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिक युग मे परम्परागत मानचित्रीय व्यवस्था के अतिरिक्त वायुयानीय परीक्षणविधि परमोपयोगी है। वायुयानीय पर्यवेक्षण से आजकल के युग मे किसी भी स्थान के मानचित्र-निर्माण मे बडी सुगमता मिल सकती है, विशेष कर ऐसे स्थानो के लिए जहाँ प्राकृतिक स्थान विपुल होते हुए पहले कभी मानवावास न रहा हो। मध्यकालीन वास्तु-ग्रथ अपराजितपृच्छा मे वायुयानीय पर्यवेक्षण पर पूर्ण सुझाव दिया गया है।

नगर-निवेश की पद्धति 'फार्मल' तथा 'इन्फार्मल' दोनो प्रकार की हो सकती है। प्रथम का अभिप्राय रैखिक (ज्योमेट्रिकल) है—यह खाका आयताकार हो सकता है अथवा वृत्ताकार, अथवा दोनो का मिश्रण। आधुनिक जगत् के महान् नगरो के रेखा-चित्रो को यदि हम देखे तो पता लगेगा कि इन विशाल नगरो का विकास अपनी स्थानीय भौगोलिक विशेषताओ के कारण इतना विस्तृत एवं सुसमृद्ध हो सका है। यूरोप के पेरिस, लन्दन, बर्लिन, मास्को आदि बड़े-बड़े महानगरो के निवेश-मण्डलीकरण ने मकड़ीजाल के स्वरूप को धारण कर लिया है। इसके विपरीत न्यूयार्क, एथेन्स, वाशिगटन आदि महानगरो के निवेश मे आयताकृति का स्वरूप अब भी स्थिर है।

प्राचीन पुरों के समान आधुनिक नगरो को हम अपनी प्रयोजन-विशेषताओं अथवा कार्य-व्यापारो के अनुरूप विभिन्न वर्गों मे बाँट सकते है—औद्योगिक, व्यापारिक, विद्यापीठीय, राजपीठीय, स्वास्थ्य-सम्बन्धी, अवकाश-यापनीय आदि । आधुनिक नगर-निवेश की सर्व-प्रमुख विशेषता है वर्गीकरण (जोनिग) । इस जोनिग-पद्धति का उद्देश्य यह है कि किस प्रकार से नगर की शोभा-सम्पन्नता, सौन्दर्य, नागरिको की सुविधा आदि के साथ-साथ नगर की उपयोगिता, स्वच्छता, सुरक्षा की वृद्धि हो सके । किसी नगर की जोनिग के लिए उसके विभिन्न विभाग-क्षेत्रो, जैसे बस्ती तथा खुली जगह, यातायात साधन के केन्द्र—मार्ग, रेलवे लाइने, जल-मार्ग, वायुक्षेत्र के साथ-साथ आमोद-प्रमोद के स्थान—पार्क, उद्यान और पुरजन-विहार इन सभी की व्यवस्था को दृष्टि मे रखना पडता है । इस प्रकार एक शहर के विभिन्न विभागो के सुव्यवस्थित एव सुन्दर सन्निवेश के द्वारा उसके निर्माण, सुधार अथवा विस्तार को जोनिग कहते हैं । इस जोनिग-प्रक्रिया के सहारे आधुनिक वास्तु-शास्त्रियो के मतानुसार नगर-निवेश सुसम्पन्न हो सकता है । इस प्रक्रिया के अनुसार नगर को प्रथम जोनो में बाँट दिया जाता है, भविष्य के लिए आवश्यकीय स्थलो को भी परिगणित कर लिया जाता है तथा पुन: उन सबकी उपयोगितानुरूप व्यवस्था की जाती है । साथ ही गृहो की सख्या तथा उनकी ऊँचाई आदि की व्यवस्था भी आवश्यक होती है, अन्यथा आबादी के सकीर्णता-दोषो से कैसे बचाव हो सकेगा ? जोनिग के अगो पर थोडा सा संकेत किया गया है परन्तु यदि थोड़ा-सा और विस्तार करे तो जोनिग-पद्धति के अनुसार आधुनिक नगर के अभीप्सित निम्न वर्ग आवश्यक हैं—

१—सरकारी तथा अर्ध-सरकारी इमारतो के वर्ग

२—वाणिज्य-वीथी-वर्ग

३—शिक्षा-निकेतन तथा प्रयोगशालाओ के वर्ग

४—औद्योगिक स्थानों के वर्ग

५—आवास-मालिका के वर्ग

६—क्रीडा-क्षेत्र-वर्ग ।

आधुनिक नगर-निवेशको के सम्मुख सबसे बडी समस्या आधुनिक महानगरो में विकसित एव अधिक रूप से पल्लवित स्लम-समस्या (गरकी) का निराकरण है । अत: संक्षेप में यहाँ इतना ही उल्लेखनीय है कि चूकि आजकल नगर-निवेश के आन्दोलन में विशेष कर नगरों का सुधार ही अभिप्रेत है, अतः उनके नवनिर्माण एवं सुधार को दृष्टि मे रखकर निम्न योजनाओं को कार्यान्वित करना विशेष अभीष्ट होता है —

१–भवन-योजना
२–प्रसार-योजना
३–सुधार तथा विकास योजना
४–मार्ग-प्रसार तथा विस्तार योजना
५–नवीन मार्ग-निर्माण
६–स्लम-सुधार-योजना
७–स्लम-सहार

प्राचीन नगर-निवेश की देन––इस प्रकरण के पूर्वार्ध मे आधुनिक नगर-निवेश की व्यापक आवश्यकताओ एवं तदनुरूप व्यापक सिद्धान्तो की साधारण समीक्षा के उपरान्त अब क्रमप्राप्त प्राचीन नगर-निवेश के कतिपय उन सिद्धान्तो का निर्देश करना है जिनके अनुगमन एव अनुवर्तन से हम आधुनिक नगर-निवेश को विशेष उपादेय एव सफल बना सकते है। प्राचीन एव अर्वाचीन समाज एव सस्कृति मे बड़ा अन्तर है। विज्ञान की उन्नति ने समाज एव सस्कृति मे कायाकल्प कर दिया है। अतः ऐसे समाज के अनुरूप नगर-निवेश मे प्राचीनो के बहुत से नगर-निवेश-नियम व्यर्थ सिद्ध हो रहे है। नगर-निवेश के प्रमुख घटक प्राकारादि विन्यास का आधुनिक नगर-निवेश मे कोई स्थान नही रह जाता है। देवतायतन-निवेश के प्रति आजकल प्राय. सभी अ-धार्मिक राष्ट्रो का कोई अभिनिवेश हो ही नही सकता। मार्ग-विन्यास, आरामोद्यानादि-विनिवेश मे भी पर्याप्त परिवर्तन की आवश्यकता है।

आधुनिक जटिल जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओ के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय, पारस्परिक राजनीतिक आदान-प्रदान एव राजनीतिक, सास्कृतिक तथा व्यावसायिक सम्बन्धो के साथ-साथ राष्ट्रीय उद्योग-धन्धों तथा अर्थ-प्रवहणियो, सरकारी कार्यालयो के स्थान-विभाग के लिए आधुनिक नगर-निवेश मे, विशेष कर महानगरो एव राजधानी-नगरो के निवेश में पर्याप्त ध्यान देना अनिवार्य हो गया है। यही नही, आधुनिक नगर-निवेश मे, विशेष कर भारतवर्ष ऐसे प्राचीन देश मे (जहाँ दीर्घ-कालीन पारतन्त्र्य के कारण आधुनिक विज्ञान एव उद्योग के अनुरूप बहुत कम नगर-सुधार अथवा नगर-सहार हुए है), नवीन नगर-निवेश की उतनी जटिल समस्या नही जितनी प्राचीन नगरो के सुधार की। अत· आधुनिक नगर-निवेश के व्यापक कलेवर मे नगर-निर्माण, नगर-सुधार एव नगर-सहार–– तीनो ही अनायास समाविष्ट है। आधुनिक नगर-निवेश की इसी त्रिगुणात्मक सृष्टि के लिए हमे यहाँ पर विवेचन करना है।

नगर-निर्माण––भारतवर्ष मे नगर-निवेशको को जिस आधारभूत सिद्धान्त को दृष्टि में रखने की आवश्यकता है उसके सम्बन्ध मे इतना ही निर्देश है कि नगर-निवेश व्यापक भारतीय सस्कृति एव विशाल भारतीय जीवन के अनुरूप हो। पश्चिमी नगर-निवेश की जो रूपरेखा विकसित हुई है उसका पूर्ण रूप से अनुगमन इस देश के

लिए उपादेय एवं सफल नहीं हो सकता । हमारी रहन-सहन, आचार-विचार, भोजन-भजन, परिधान एवं पान तथा परिवार एव कुटुम्ब आदि वैसे ही नहीं हैं जैसे पाश्चात्यों के, अत. कोई भी नगर-निवेश जो इन सास्कृतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक घटकों का विचार नही रखता वह कल्याणकारक नही बन सकता । इसके अतिरिक्त भौगोलिक वातावरण—भूमि, जल, वायु, ऋतु, वृक्ष, पुष्प, शाक, फल आदि भी तो सभी देशों के एक समान नही । अतः नगर-निवेश मे सास्कृतिक एवं सामाजिक घटको के अतिरिक्त भौगोलिक परिस्थितियो का ध्यान भी आवश्यक है ।

चिरन्तन काल से इस देश मे मानव का प्रकृति-सान्निध्य प्रसिद्ध रहा है । सरिता, के कूल, पर्वत की उपत्यकाएँ, अरण्य के एकान्त प्रदेश—विद्यार्जन, तपश्चरण एवं दर्शनानुसन्धान आदि के लिए इस देश को प्राचीनो ने सदैव चुना । इसके अतिरिक्त इस देश की आबादी का बहुत बडा भाग ग्राम हैं । अत. ग्राम-सुधार के लिए नवीन नगर-निवेश मे किसी-न-किसी समृद्ध ग्राम को निवेश-बिन्दु मानकर नव-नगरों की सृष्टि की जा सकती है । अतः जैसा पूर्व ही प्रदिपादित किया जा चुका है (दे० ग्राम-प्रभेद) भारत के राष्ट्रीय नगर-निवेश का प्रारम्भ गाँवो से करना चाहिए । विभिन्न महानगरो के समीप समृद्ध ग्रामो को चुनकर उनका शाखा-नगर के रूप मे यदि हम निवेश करे तो बहुत बडी समस्या हल हो सकती है ।

(अ) **शाखा-नगर**—इतस्ततः फैले हुए समृद्ध ग्रामो के चुनाव से एव वहाँ के सुलभ एव कम खर्चीले उपायो से अत्यावश्यक आधुनिक यातायात, सूचना, प्रसार एव शिक्षा के साधन समन्वित कर "शाखानगरो" के रूप मे निवेश करने से हम द्रुतगति से नव-नगर-निवेश का राष्ट्रीय कार्य बढा सकते है । इस प्रकार प्राचीनो का "शाखानगरीय" सिद्धान्त (दे० भा० वा० शा०, "नगर-प्रभेद" अ० ३, पु० नि० पू० पी०) आधुनिक नगर-निवेश के लिए बडा उपादेय सिद्ध हो सकता है । पश्चिमी देशों ने भी इस सिद्धान्त को अपनाया है । लन्दन, न्यूयार्क, बर्लिन, लेनिनग्राड, मास्को आदि महानगरों मे प्राय प्रचुर-सख्यक शाखा-नगर देखने को मिलते है । शाखा-नगरो की द्रुतगति से स्थापना तभी सम्भव है जब हम एक ऐसी नगर-निवेश-धारा बनायें जिसके अनुसार वे लोग जिनका नगर से साक्षात् सम्बन्ध नही है, नगर मे रहने के अधिकार से वंचित कर दिये जायँ । ऐसे लोगो में सेवामुक्त, राजन्य, नवाब, मुसाहिब, जमीन्दार, ताल्लुकेदार आदि का समावेश होता है जो अनायास ही अपने मनोरम शाल-भवनो को बनाकर शाखानगरो की स्थापना मे सहयोग दे सकते है । मत्स्यपुराण (अ० २१७) का यही मर्म है । प्राचीनो का यह "शाखा-नगर" शब्द बड़ा ही मार्मिक है । महानगर को यदि हम प्रकाण्ड वृक्ष का तना मानें तो उसके चतुर्दिक् फैले

हुए छोटे-छोटे नगर शाखानगर हुए। शब्दकल्पद्रुम ने प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय इसी दृष्टि के अनुरूप "शाखानगर" की यह परिभाषा की है—

मूलनगरेऽसम्मितस्य जनौघस्य स्थानाय मूलनगरस्य समीपे अङ्के वा यदन्यत् पुरं नगरान्तरं क्रियते तत् शाखानगरं मूलनगरस्य तरुस्थानीयस्य शाखेव।

इस प्रकार शाखानगर न केवल नगर की आबादी की बाढ को ही रोकेंगे और यदि आकस्मिक सक्रान्ति के समय ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तो प्रधान नगर की आबादी को आत्मसात् करने में ही समर्थ न होंगे, वरन् उस महानगर के प्रसार मे भी सहायक बन सकेंगे। इसी सिद्धान्त को और आगे बढाइए तो शाखा-नगरो के 'पल्लव-ग्राम' की शृखला भी बाँधी जा सकती है जो कालान्तर मे नगर एव जनपद को जोडने मे ही नही कृतकार्य होगी वरन् नगर के आधुनिक सुलभ साधन-सुविधापूर्ण यातायात, सूचना एव शिक्षा तथा आमोद-प्रमोद के विभिन्न उपकरण—प्रेक्षागृह, नाट्यशाला, चित्रगृह आदि सर्वत्र समान रूप से सब के लिए सुलभ कर देगी। इस प्रकार की नगर-निवेश योजना किसी भी राष्ट्र के प्रजातन्त्रात्मक राज्य के सचालन के लिए परमोपयोगी हो सकती है। नगर एव जनपद (नगर को छोडकर अवशेष देश 'जनपद' के नाम से अभिहित है—"नगर वर्जयित्वान्यत् सर्वं जनपदः स्मृत।" स० सू० १८-७६) दोनो को जोडने का यही परम साधन है, जो जनतन्त्र का साध्य है।

(आ) केन्द्र-निवेश—इस शाखानगरीय व्यापक सिद्धान्त के अतिरिक्त नव-नगर-निवेश के सम्बन्ध मे एक दो और तथ्यो का सकेत आवश्यक है। शाखानगरों के रूप मे नवीन नगरो का निवेश-बिन्दु केन्द्रस्थ कोई तरु-वीथी अथवा प्रकाण्ड वृक्ष, तडाग अथवा सभामण्डप (जो आजकल के टाउनहाल के रूप मे परिकल्पित किया जा सकता है, 'प्रजातन्त्र' मे टाउनहाल ही सबसे बडा टेम्पिल—प्राचीनो का देवतायतन है) अथवा पुरजनविहारोद्यान होना चाहिए। ये सभी प्रकृति-सुलभ हैं। विशेष व्यय-साध्य भी नही हैं। अत. बडी-बडी कृत्रिम इमारतो के स्थान पर इन स्वल्प-व्यय-साध्य निवेशो के द्वारा हम कार्य प्रारम्भ कर सकते हैं।

(इ) पद-विन्यास—आधुनिक नगर-निवेश की रूपरेखा मे जोनिग-प्रक्रिया के सिद्धान्त की समीक्षा अभी पहले हो चुकी है। आधुनिक नगर की यह जोनिग-पद्धति प्राचीनों के "पद-विन्यास" के सिद्धान्त का ही आधुनिक संस्करण है। दुर्भाग्यवश हमारे देश के बहुसख्यक नगरो एव महानगरो में पद-विन्यास का सर्वथा अभाव पाया गया है। अत. नव-नगरो के निवेश मे आवासो की दृष्टि से पद-विन्यास का पूर्ण विचार रखना होगा। इस पद्धति का प्रयोजन यह है कि नगर को विभिन्न पदो मे बाँटकर

प्रत्येक पद पर जो आवास हो उसमें रहने वाले समान-धर्मा एव समान-कर्मा के साथ-साथ सतीर्थ एव सजातीय भी हो। भले ही प्राचीनों की वर्णाश्रम-पद्धति के अनुरूप यह विभाजन न हो, परन्तु यदि पद-आवास मे एक-वर्गीयता हो तो उससे सहयोगिता, सहकारिता एवं पारस्परिक आदान-प्रदान, व्यवहार एव बरताव मे स्फूर्ति तथा प्रेरणा अवश्य हो सकती है। इसी को आजकल की भाषा में 'कोलोनिजेशन' के नाम से पुकारा जाता है—मजदूर-कालोनी, टीचर-कालोनी, सैक्रेटेरियट-कालोनी आदि। प्राचीनों का पद-विन्यास वर्णाश्रम-व्यवस्था से अनुप्राणित था। आधुनिक नगर-निवेश मे उसे एकवर्गीयता की आधारशिला पर खड़ा किया जा सकता है, जो जनतन्त्र के लिए बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है, तथा जिससे सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा भी मिल सकती है।

(उ) शाल-भवन—केन्द्र-निवेश एव पद-विन्यास के सिद्धान्तो के अनुगमन के साथ-साथ मार्ग-विनिवेश पर कुछ समीक्षा आवश्यक थी, परन्तु प्राचीन एव नवीन दोनो की पद्धतियो मे कोई विशेष अन्तर नही है। उसमे नगरानुरूप परिवर्तन एव सस्करण सर्वदा किये जा सकते हैं। परन्तु आजकल की सकटापन्न परिस्थिति मे एक महत्त्वपूर्ण समस्या नवीन-गृह-निर्माण-योजना है। प्राय. बडे-बडे नगरों की नगर-पालिकाएँ इस ओर बहुद्रव्य-साध्य भवन-मालाओं का निर्माण कर रही हैं। विभिन्न राज्य-सरकारे भी वार्षिक बजटो मे इस कार्य के लिए धन सुरक्षित कर रही हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि इस महादेश की महती जनसख्या के निवासार्थ पक्के मकानो के निर्माण मे बहुत बड़ी रकम चाहिए जो साध्य नही है। अत समरागण के शाल-भवनो का, जिनके निर्माण मे उस प्रकृति-सुलभ भवन-सामग्री की ही प्रधानता रहती है, जो स्थान-स्थान पर सुविधा से पायी जाती है, अगीकरण हमारी राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति मे योग दे सकता है। जैसा हम आगे 'भवन' पटल मे इन शाल-भवनो की समीक्षा मे देखेंगे, इन भवनो मे सुलभ वन्य पेड़ो की लकडी से ही विभिन्न भवनाग—स्तम्भ एव छते आदि विनिर्मित हो सकते है। साथ ही लकड़ी की छते पक्की छतो की अपेक्षा उष्ण-प्रधान देश के निवासियो के वासयोग्य भी विशेष है। शाल-भवनो के रेखाचित्र तथा अन्य ज्ञातव्य पर विशेष समीक्षा करने का यह अवसर नही है। कम ऊँची सीलिंग वाली भवनमालाएँ राष्ट्रीय जीवन को ही समाप्त कर देगी, उनको अपनाना आत्मघात है।

नगर-सुधार एव नगर-सहार—नगर-सुधार का कार्य नगर-सहार पर आश्रित है। महानगरो की उपकण्ठ भूमियो पर शाखा-नगरो के स्थापन से ही नगर-सुधार नहीं सम्पन्न हो सकता। नगर के भीतर सकीर्ण पथायो, जर्जर भवन-वीथियों, अस्वच्छ

बस्तियों, मजदूरो के संकीर्ण कुटीरों का जब तक संहार नही किया जाता तब तक नगर-सुधार कैसे हो सकता है ? अतः नगर-सहार नगर-सुधार के लिए आवश्यक है। नगर-सहार द्वारा नागरिकों को जो क्षति उठानी पड़ेगी उसके बदले नव-वसति-निवेश के लिए शाखानगरो का निर्माण अपनाया ही जा सकता है, साथ ही प्राचीनो के कतिपय नियम भी कार्यान्वित किये जा सकते हैं।

नगर की आबादी के नियमन का मत्स्यपुराणोक्त नियम बतलाया जा चुका है। देवीपुराण के अनुसार प्रकृतियो (निम्नवर्गीय जनता—मेहतर, धोबी आदि) के निवास नगर के बाह्य भाग पर विन्यस्त करने चाहिए। सार्वभौम जन-तन्त्रवाद मे यद्यपि प्रत्येक देशवासी का राजनीतिक अधिकार समान है, परन्तु मानवता कभी भी एक समान नही पनप सकती। वश (हेरेडिटी), वातावरण, व्यवसाय (पेशा) आदि के आधारभूत घटकों की पृष्ठ-भूमि पर पनपी मानवता समान-धर्मी कैसे हो सकती है ? अत यदि नगर-निवेश को सुसस्कृत एव सुनियोजित बनाना है तो कोई-न-कोई आन्तर-योजना स्वीकार करनी ही पड़ेगी। नगर के बाह्य भाग पर विन्यस्त इन शाखानगरीय बस्तियों को सभी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए जिससे किसी को असतोष न रहे, शिकायत की गुजाइश न रहे। देवीपुराण के अनुरूप ही आचार्य मय का भी मत है। नगर के बाह्य भाग पर प्रतिष्ठापित ऐसे उपनगरो की सज्ञा प्राचीनो ने "बाहिरिका" दी है। नगर-सुधार मे प्राचीनों का एक दूसरा अनुगमन हम यह कर सकते है कि विभिन्न नगरो के विभिन्न प्रयोजनो के स्वरूप-निर्धारण पर विशेष ध्यान दिया जाय। चाहे जिस किसी भी नगर को हम विश्वविद्यालयीय नगर अथवा व्यावसायिक नगर नही बना सकते। सभी नगरो मे मिलो की स्थापना कदापि आज्ञापित नही हो सकती। प्राचीनो के पुर-प्रभेद नगर, पत्तन, पुटभेदन, खेट, खर्वट, निगम का यही रहस्य था कि नगरो का निवेश नगर-प्रयोजन पर आधारित रहता था। हम भी अपनी नगर-निवेश-धारा के अनुसार यह निश्चित कर ले कि किसी राज्य-विशेष मे कौन-से नगर किस प्रयोजन का विशेष सम्पादन कर सकते है, उन्ही की आधार-शिला पर नगर-सुधार-प्रसार प्रारम्भ करना चाहिए।

अन्त में एक निर्देश यह है कि नगर-निवेश एक कला है। कला मे चारुता का सन्निवेश अनिवार्य है। अत. नगर-निवेश मे चारुता के लिए केन्द्र, चतुष्पथ एवं चारों दिशाओ एवं चारों उपदिशाओ मे किसी-न-किसी वास्तु-भूषा की अवश्य संयोजना करनी चाहिए। केन्द्र में तडाग, पुष्करिणी अथवा उद्यान या पुर-जन-विहार या देवतायतन या फिर टाउनहाल ही सही, रखना चाहिए। मार्ग-चतुष्पथो पर कोई-न-कोई नगरानुरूप भव्याकृति होनी चाहिए। पुर की आठो दिशाओ में पुर-द्वारो के समान

कोई-न-कोई वास्तु-भूषा प्रदान करनी चाहिए। बम्बई की शोभा इंडिया गेट है। अतः इस किंचित्कर संकेत से विज्ञ आधुनिक नगर-निवेशक घटाव-बढ़ाव कर इस दिशा में अवश्य कृतकार्य हो सकते हैं।

उपसंहार

पूर्व-पीठिका की आधार-शिला पर प्रतिष्ठापित एवं उत्तर-पीठिका के विभिन्न नागरिक उपकरणों की भव्याकृतियों से प्रद्योतित नगर-निवेश का जो स्वरूप विकसित किया गया है उसके उपसंहार में केवल इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि नगर-निवेश में जहाँ विभिन्न भौतिक उपकरणों—पद-विन्यास, मार्ग-निवेश, रथ्या-विभाग, स्थान-विभाग, देवतायतन एवं रक्षा-संविधान तथा आकार-विधान आदि के द्वारा उसके भव्य कलेवर का निर्माण होता है, वहाँ उस पार्थिव कलेवर में सांस्कृतिक ज्योति-पुंज के प्रकाश में उसका आध्यात्मिक कलेवर निष्पन्न होता है। कोई भी मानव-आवास जब तक सहयोगिता, साहचर्य एवं सहकारिता के उदात्त मानवीय व्यापारों के सहारे नहीं प्रतिष्ठित है, तब तक उस मानव-आवास की उन्नति असंभव है। इसी को नागरिकता कहते हैं। नागरिकता के भावों का उदय ही महानगरों की सृष्टि है। नागरिकता ही आधुनिक जनतन्त्रवाद की जननी है। अतः जनतन्त्रात्मक समाज की सुरक्षा के लिए नागरिकता के भावों की दिनंदिन वृद्धि होनी चाहिए।

नगर-निवेश के सांस्कृतिक पक्ष के इसी दृष्टिकोण से हमने उत्तर-पीठिका के विषय-प्रवेश में नागरिक सभ्यता से सम्बन्धित अथवा नागरिकता की प्रतीक विभिन्न सांस्कृतिक कलाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया था। यद्यपि विभिन्न-वर्गीय नगरों—जैसे विद्यापीठीय नगरों, व्यावसायिक नगरों, राजपीठीय नगरों, स्वास्थ्य-पीठों आदि की अपनी-अपनी संस्कृति एवं वैयक्तिकता अलग होती है। तथापि इन सभी में जो एक सामान्य विशेषता रहती है उसे ही नागरिकता कहते हैं। वास्तव में नगर नागरिकों का प्रतीक है तथा विभिन्न युगों की सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक वैज्ञानिक और औद्योगिक नवचेतनाओं एवं जागृतियों के ही अनुरूप नगरों का भी विकास होता है। नगर, नागरिकों एवं नागरिकता के स्थावर महाचित्र हैं। साहित्य यदि समाज का दर्पण है तो नगर भी नागरिकों के मन-मुकुरों के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। नगर-विकास मानव-सभ्यता के विकास की खुली पुस्तक है, अतः मानव-सभ्यता के विकास के इस महासोपान के निर्माण में, रक्षण एवं संवर्धन में प्रत्येक नागरिक के योग-दान की अनिवार्यता पर दो रायें नहीं हो सकती।

भारत के प्राचीन नगर-निवेश की जो रूपरेखा प्राचीनों ने निर्मित की उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति सर्वत्र समान रूप से पायी जाती है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वाल्मीकि

की रामायण, बाण की कादम्बरी आदि सभी प्राचीन साहित्यिक स्रोतो मे, प्राचीन भग्नावशेषो की एक सामान्य परम्परा पर प्रकाश पडता है। अत आधुनिक नगर-निवेश का, देश एव समाज की विभिन्न नैसर्गिक एव अनैसर्गिक परिस्थितियो एव प्रवृत्तियो के अनुरूप, स्वरूप-स्थिरीकरण परमावश्यक है। विगत प्रकरण (प्राचीनो की देन) मे नगर-निवेश के कतिपय प्राचीन सिद्धान्तो का दिग्दर्शन किया गया है। उनके अपनाने से एव आधुनिक नगर-निवेश के उदीयमान अनुकूल निवेश-सिद्धान्तो के भी आदान से हम एक अपनी पद्धति निर्माण कर सकते है, जिसमे अपनी आत्मा की रक्षा करते हुए शरीर की भूषा मे आधुनिक उपकरणो के द्वारा सयोग एव समावेश भी कर सकते है। भारतीय नगर-निवेश की जो पद्धति निर्मित हो उसमे भारतीय आत्मा के अक्षुण्ण रक्षण की ओर पूर्ण अवकाश हो तथा वह पद्धति सच्ची हो (अपनी सस्कृति के प्रति), कल्याण-दायिका हो (अपने वर्तमान के लिए) तथा सुन्दर हो (दूसरो के अनुकरण के लिए) और अपने सुख के लिए भी। 'सत्य शिव सुन्दर' का यही मर्म है।

तृतीय पटल

भवन-निवेश

१

जन-भवन

जन्म और विकास

प्राचीन भारतीय स्थापत्य मे भवन-निवेश अर्थात् जनावासो या जन-वसतियो की रूपरेखा कैसी थी, इसके सम्बन्ध मे बहुत कम विचार किया गया है। यह हम पहले ही कह आये है कि भारतीय स्थापत्य का प्रमुख विकास प्रासादो अर्थात् देव-भवनो के रूप मे सम्पन्न हुआ। प्रासाद-स्थापत्य ने ही भारतीय स्थापत्य का प्रधान कलेवर निर्माण किया है. परन्तु यह सर्वांश मे न तो सत्य है और न व्यावहारिक रूप से समीचीन। मानव-सभ्यता के विकास मे, विशेष कर भारतवर्ष मे, आध्यात्मिक और भौतिक दोनो पक्षो के प्रति यद्यपि समान रूप से अभिनिवेश नही दृष्टिगोचर होता तथापि भौतिक पक्ष पूर्णरूप से अछूता रहा—यह धारणा ठीक नही। बात यह है कि सभ्यता के विकास मे रहन-सहन के तरीको के विकास का एक महत्वपूर्ण स्थान है, उसमे भी भवन-विन्यास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार एक सभ्य अथवा असभ्य किवा अर्धसभ्य मानव की प्रत्यभिज्ञा उसके परिधान पर आश्रित है उसी प्रकार देश-विशेष अथवा समाज-विशेष अथवा मानव-विशेष की वसति-योजना पर भी उस देश की, उस समाज की अथवा उस मानव की सभ्यता किवा असभ्यता आश्रित है। वसति अथवा भवन मानव का स्वर्ग है, वह उसका शरण है, प्रकृति के असह्य आक्रमणो के निवारण के लिए वही उसका सर्वप्रथम कवच है, अतएव वह सदन है, सद्म है, निकेतन है और अजिर है। वास्तु-शास्त्रो मे अथवा भाषा-कोशो मे भवन के नाना पर्यायो मे मानव की वसति की रूपरेखा, विशेषता एव महत्त्व की यही कहानी छिपी हुई है। सूर्य के विभिन्न पर्याय है परन्तु प्रात कालीन सूर्य के लिए हम भास्कर शब्द का प्रयोग नही करते और न मार्तण्ड शब्द का ही प्रयोग करते है। ऐसे अवसर पर अशुमाली शब्द विशेष सगत होता है। अत प्राचीनों की परम्परा मे विशेषकर सस्कृत वाङ्मय मे जो एक ही शब्द के अभिधेय के लिए नाना शब्दो अर्थात् पर्यायो का प्रचलन है, वह इसी सत्य का द्योतक है कि उस पदार्थ का पूरा इतिहास उनसे ज्ञेय है। भवन के नाना पर्याय है उनमे निम्नलिखित पर्यायों का अवलोकन कीजिए जिससे आपको भवन का पूरा इतिहास प्रत्यक्ष प्रकट हो जायगा —

आवास	प्रतिश्रय	सद्म
सशय	आलय	सदन
नीड	गृह	निकेत
शरण	आगार	क्षय
निलय	सस्थान	मन्दिर
लयन	निधन	धिष्ण्य
ओक	वसति	भवन
गेह	वेश्म	उदवसित

इस सूची की तुलनात्मक समीक्षा हम आगे प्रासाद-स्थापत्य मे करेगे। यहाँ पर केवल इतना ही सूच्य है कि इन गृह-पर्यायों मे नीड, शरण, संश्रय, अयन, निलय आदि सज्ञाएँ भवन के विकास के इतिहास पर बडा प्रकाश डालती है।* अस्तु,

भारतीय भवन-स्थापत्य के सम्बन्ध मे हमने जो ऊपर के अनुच्छेदो मे उपोद्घात किया है उस सम्बन्ध मे यह सूचित करना है कि स्थापत्य के निदर्शन तभी चिर-काल तक सुरक्षित रह सकते है जब कि उनका निर्माण ऐसे द्रव्यो (पाषाण-शिलाओ अथवा पक्वेष्टकाओ आदि) से सम्पन्न हुआ हो, जो शीघ्र ही विनाशोन्मुख न हो। भारतीय भवन-स्थापत्य के ऐतिहासिक स्मारकों मे वे ही निदर्शन प्राप्त होते है जिनको हम देव-भवन के रूप में उपश्लोकित करते है। अत भले ही भारतीय स्थापत्य मे कला की दृष्टि मे आवास-भवन न भी प्राप्त होते हो, तो उससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि भवन-निर्माण-कला का यहाँ पर कोई शास्त्र नही था। यद्यपि प्राचीन ग्रथो (जैसे मानसार, मयमत आदि शिल्प-शास्त्रीय ग्रथों तथा पुराण, आगम आदि धार्मिक ग्रथो) मे जो भवन-कला प्रतिपादित की गयी है उसका सम्बन्ध विशेष कर पूजा-वास्तु से है तथापि भवन-निर्माण-कला की पोषक सामग्री के लिए प्रचुर प्राचीन संकेत है जिनसे इस पक्ष का भी पूर्ण समर्थन होता है। आगे हम तुलनात्मक समीक्षा में यह देखेगे कि हमारी प्राचीन सस्कृति मे भवन-रचना भी प्रासाद-रचना के

* इस सम्बन्ध में 'अमरकोश' (२, २, ५–६ भी द्रष्टव्य है—

गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्।
निशान्तपस्त्य—सदनं भवनागार—मन्दिरम्॥
गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः।
वासः कुटी द्वयोः शाला सभा संजवनंत्विदम्॥

समान प्रचलित थी और वह इस देश के जलवायु एवं जनपद तथा जनो के लिए सर्वथा उपयुक्त थी। अतः यह आक्षेप कि भारतीय सिविल आर्कीटेक्चर, सेक्यूलर आर्कीटेक्चर की परम्परा नही विकसित कर सके—बिल्कुल असत्य है। धाराधिप महाराज भोज के समरांगण-सूत्रधार नामक वास्तु-शास्त्र में जिन भवन-रचनाओ के सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है उनमें देव-वास्तु और जन-वास्तु तथा राज-वास्तु तीनो के अलग-अलग दर्शन होते है। समरागण की यह अपनी परम्परा नही है, यह भारत की संस्कृति के सर्वथा अनुरूप विभाजन है। यहाँ के प्रासाद अर्थात् देवमन्दिरो की रचना मे मानव-वसति अथवा मानव-भवन का न तो अनुकरण है न आधार, अतः जैसा हम देखेंगे (दे० प्रासाद-स्थापत्य) प्रासादों के जन्म एवं विकास की जो नाना कल्पनाएँ वर्तमान ग्रन्थों मे देखी जाती हैं वे कल्पना ही है। प्रासाद का प्रादुर्भाव वैदिक वेदी से हुआ है और वही मौलिक तत्त्व उसके समस्त कलेवर मे सदैव वर्तमान रहा। राज-प्रासादों के जन्म मे जैसा हम आगे देखेंगे यहाँ की नागर-कला और उससे भी पूर्व नाग-कला और उससे भी पूर्व विमान-कला प्राचीन सभा-भवनो (जिनका वर्णन रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो में पाया जाता है) की देन है। अब रहे जन-भवन, उनके विकास में जैसा पीछे सकेत किया गया है, प्राचीन समय मे देश, काल एव जलवायु आदि के मौलिक घटको के द्वारा यह वसति-विन्यास सर्वत्र अपनी-अपनी विशेषताओ सहित पनपा। अत. इस विषय के विवेचन मे हम आगे के एक अध्याय की विशेष अवतारणा करेंगे।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट आभास मिला होगा कि भारत के स्थापत्य मे भवन-विकास की तीन मौलिक धाराएँ स्फुटित हुई—देव-भवन, राज-भवन एवं जन-भवन। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ है और निवेश-योजनाएँ भी। तदनुरूप हम भवन-स्थापत्य को तीन प्रधान खण्डो मे विभाजित करेंगे—जनसाधारणोचित-भवन, राज-वेश्म तथा प्रासाद। यह हम पहले ही सूचित कर चुके है कि इन तीनो निवेशों की अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् परम्पराएँ पल्लवित हुईं, अत जहाँ हम उनकी विन्यास-प्रक्रिया के नाना सिद्धान्तो की समीक्षा करेंगे वहाँ उनके जन्म एव विकास पर भी एक उपोद्घात उपस्थित करेंगे। जन-भवन का निवेश एवं राज-भवन का निवेश एक दूसरे से (यद्यपि कुछ अंशो मे अवश्य समान है) सर्वथा विलक्षण है। विस्तार, आयाम मे विपुल विभेद तो स्वाभाविक ही है, रचना एव रचना-विच्छित्तियो मे भी बड़ा भेद है। हमने देखा कि प्राचीन भारतीयों के नगर-विकास मे जहाँ मन्दिरो ने बडा योग दिया वहाँ राज-पीठो—राज-वेश्मो का भी कम योग नही रहा। अत. राज-वेश्म-निवेश एक प्रकार का नगर-निवेश था। अतः यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से भवन-स्थापत्य के दो ही मौलिक प्रकार है—जन-भवन तथा देव-भवन। परन्तु इस देश मे प्राचीन काल मे आजकल

जैसा जनतन्त्रवाद तो था नही जिससे जन-भवनों की एक सामान्य परम्परा पल्लवित हो सकती। प्राचीन भारत की संस्कृति में राजा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था, वह पाँचवाँ लोकपाल था। इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम—इन चार लोकपालो से हम परिचित ही हैं, परन्तु राजा पाचवाँ लोकपाल था यह तो शास्त्र-सत्य ही नही व्यवहार-सत्य था। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल मे राज-महल ही राजपीठ थे, अतएव उनका निवेश एक भवन मे नही होता था। सात-सात भवनो मे उनका विन्यास हुआ करता था। राज-भवनो की इस कक्ष्या-परम्परा पर हम आगे कुछ निर्देश करेंगे।

भूतल पर प्रथम भवन का जन्म (शाल-भवन की कहानी)

समरांगण-सूत्रधार मे भूतल पर प्रथम भवन के जन्म अथवा मानव-आवास के प्रथम विन्यास का बडा ही अति रंजनात्मक शैली मे वर्णन किया गया है (दे० महदेवाधिकार, अ० ६)। बहुत प्राचीन समय की वार्ता है, भारतवर्ष में लोग घने जगलो मे, सरिताओं के कूलो पर, पर्वतो के शिखरो पर अथवा उनकी उपत्यकाओ मे रहते थे। एक बार उन लोगो ने देवलोक मे प्रवेश किया और वहाँ वे देवो के साथ विचरण करते हुए प्रख्यात विमानाकृति दिव्य कल्पवृक्षो के नीचे विहार करने लगे और उन्ही की छाया मे रहने लगे। मानवो और देवो का यह साहचर्य या सहवसति बहुत दिन तक चलती रही। कालान्तर मे इन क्षुद्र मानवो को अपनी मर्यादा विस्मृत हो गयी और उन्होने देवो की अवज्ञा करना प्रारम्भ कर दिया। अत देवो ने भी मानवो के प्रति अपनी उदारता मे सकोच किया और उन्हे 'पुनर्भूमिको भव' की दशा मे परिणत कर दिया। स्वर्ग से मानव पुन भूमि पर उतर आये। उनको अपनी इस दशा पर बडा विषाद हुआ। जब देवो के साथ देवलोक मे कल्पवृक्ष की छाया मे वे रहते थे, तब उनके विहार एव ऐश्वर्य के सभी साधन समुपस्थित थे। आहार, विहार की कोई कमी न थी। एक ही ऋतु थी (वसन्त), एक ही वर्ण था (ब्राह्मण); सभी सुन्दर थे, सुन्दरियो की भी कमी न थी। सर्वत्र सुन्दर साम्राज्य था। वहाँ पर खेट, नगर, ग्राम, पुर आदि की न तो कोई आवश्यकता थी न किसी के अधिराज्य अथवा उसकी प्रभुता की ही कल्पना थी। सभी स्वतन्त्र थे। अब मानवो द्वारा देवो के प्रति जो अवज्ञा हुई उसी का परिणाम मानवो और देवो का पार्थक्य था। मानवो की दिवगम शक्ति और दिव्यभाव लुप्त हो गये। अस्तु, सर्वप्रथम दैवी कृपा से उनकी प्राण-रक्षा के लिए पर्पटक (एक वृक्ष, सम्भवत पकडी) का प्रादुर्भाव हुआ, उसी से उन्होने अपनी प्राण-रक्षा की। जहाँ तक निवास की आवश्यकता थी, वहाँ अब वृक्षो की छाया मे वे वास करने लगे। दैव-दुर्विपाक से यह पर्पटक भी विलीन हो गया और भूतल पर शालि-तण्डुलों का प्रथम उदय हुआ।

वे खाने मे बडे ही सुस्वादु थे। इस भय से कि ये शालि-तंडुल भी पर्पटक के समान विलीन न हो जायँ, उन लोगों ने इनको जमा करने की विधि सोची। जमा करने की यह मानवीय मनोवृत्ति वास्तव में अच्छी साबित न हुई। यह एक प्रकार का मन का विकार था। इसी विकार से अन्य विकारो को उत्पन्न होने मे देर न लगी। लोभ की इस मनोवृत्ति ने मात्सर्य एव ईर्ष्या आदि का दुष्कर परिणाम सुलभ कर दिया। इसी लोभ ने कालान्तर मे मन्मथ के जन्म के लिए उर्वरा भूमि उत्पन्न की और मानवो का स्त्रियो के प्रति सहज आकर्षण प्रारम्भ हो गया। यही से द्वद्व अथवा मिथुन की परम्परा मानवों मे भी पल्लवित हुई। द्वद्व ही क्लेश और दु ख का घर है। अत उनके जीवन-रक्षण के एकमात्र साधन शालि मे भी विकार उत्पन्न हो गया। पहले वह तुषरहित था, अब वह तुष से (भूसी से) युक्त बन गया। सत्त्वगुण का वह एक मात्र अधिराज्य समाप्त हुआ। मनुष्यो की पुण्यश्लोकता समाप्त हुई, अमरता भी विलुप्त हुई। उनके शरीर रोग और शोक मे आकुल हो गये, तुषधान्य के सेवन से उनमें मलप्रवृत्ति का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ। अब तुषधान्य भी विनष्ट हो गया। कन्दमूल छोडकर और कोई उदर-पूर्ति का अवलम्ब नही रहा। एक ऋतु के स्थान पर छ ऋतुएँ हुई। जाडा और गर्मी आदि आधिदैविक क्लेशों के साथ व्याघ्र-सर्प आदि के दु खों की भी कमी न रही। इस प्रकार मानव अपनी रक्षा के लिए कृत्रिम-गृहो की रचना की ओर अग्रसर हुए। शिला-खण्डो से उन्होने कृत्रिम-भवनो की रचना प्रारम्भ कर दी और शिलाओ से ही वृक्षो को काट-काट कर उन गृहो की छावनी तैयार की। कल्पद्रुमो का विमानाकार उन्हे याद था अत. उसी आकार मे उन्होंने अपने शाल-भवन (शाखा-भवन अथवा छाल-भवन) निर्मित किये। भूतल पर भवन-जन्म की यही कहानी है।

इसी प्रकार भवनोत्पत्ति के आख्यान पुराणो मे भी पाये जाते है। मार्कण्डेय (अ० ४६) तथा वायु (अ० ८) पुराण समरांगण के इसी आख्यान के प्रतीक है। इस कथानक का साराश यह है कि मानव-भवन का प्रथम माडेल वृक्ष था। मत्स्यपुराण मे भी इसी तथ्य का उद्घाटन है (दे० ७,८३-१२०)। उसमे शाल-भवनो के शाल शब्द की निष्पत्ति प्रकृति पर शाखाओ का परिणाम प्रकीर्तित की गयी है। शाखाओ के लम्बे, चोडे, तिरछे, नीचे, ऊपर एव परस्पर छादन से यह छायमय आवास शाल-भवनो के नाम से विश्व में विश्रुत हुए।

शाल-भवन अपने मौलिक रूप मे घास-फूस का घर था, जहाँ पर गौ आदि पशुओ को रखा जाता था। आगे चलकर वनस्पतियो के विन्यास मे शालाओं का एक मण्डप अथवा छायानिकेतन-विन्यास विकसित हुआ और कालान्तर में इन भवनो ने स्थापत्य-कला के सयोग से जन-भवन के परिष्कृत रूप मे पदार्पण किया।

शाल-भवनो की इस देन की बहुत पुरानी परम्परा है। अथर्ववेद के 'शालासूक्त' मे इन शाल-भवनो के सर्वप्राचीन विन्यास-विवरण प्राप्त होते है। 'एक-पक्षा', 'द्वि-पक्षा' आदि शालाओ के निर्देश से तत्कालीन विविध-वर्गीय शालाओ की परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। भवन के एक विशेष स्थान की सज्ञा शाला के रूप मे प्रचलित थी यह हम जानते है। मन्त्रशाला, यज्ञशाला, पाठशाला, वाजिशाला, गजशाला, पाकशाला आदि शब्द इसी परम्परा के परिचायक हैं। शालाओं का विन्यास कैसे होता था अथवा शालाओं के स्थापत्य मे कालान्तर मे कौन-कौन से कलात्मक घटक प्रादुर्भूत हुए, उनकी क्या विशेषता थी, उनके कौन-कौन-से प्रकार थे——इन सब प्रश्नो के समाधानार्थ आगे की अवतारणा है। यहाँ हमे देखना है कि मानव-भवन का प्रथम विन्यास वृक्षो के काष्ठ से सम्पन्न हुआ और वृक्षो ने ही उसके विन्यास का आदर्श भी समुपस्थित किया। कल्प-सूत्र-साहित्य मे आवास-भवनो की विन्यास-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे काफी प्रवचन है। इन प्रवचनो को वास्तु-प्रतिष्ठा का नाम दिया गया है। आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रो मे आवास-भवनो की वास्तु-प्रतिष्ठा में केन्द्र-स्तम्भ के प्रथम विन्यास का आदेश है। केन्द्रस्तम्भ-विन्यास की ही पृष्ठभूमि पर पूर्ण भवन की रचना बतायी गयी है। भारतीय स्थापत्य के अन्तर्गत भवन-विन्यास की परम्परा मे केन्द्र-विनिवेश की एक सुदृढ सस्था है, जिस पर प्राचीन प्रकाश सूत्र-ग्रन्थो से प्राप्त होता है। वृक्षो के आरोहात्मक आकार मे भवन-रचना का आदर्श चित्र दर्शनीय है। केन्द्र मे उसका तना और चारो ओर उसकी शाखाएं। इसी आकृति ने विमान-भवनो की सृष्टि मे सहायता प्रदान की। आगे हम देखेंगे कि भवन की शैलियाँ, भवन के केन्द्र-स्तम्भ मे प्रादुर्भूत हुई। इन केन्द्र-स्तम्भो का विभाजन मानसार जैसे प्रतिष्ठित शिल्पग्रन्थ मे वृक्षो के काण्ड की सज्ञाओ से किया गया है। मानसार मे भवन के पाँच प्रधान केन्द्र-स्तम्भ ब्रह्मकान्त, विष्णुकान्त, रुद्रकान्त, शिवकान्त तथा स्कन्दकान्त नाम से निर्दिष्ट है। इनमे कान्त शब्द काण्ड का बोधक है। भारतीय स्थापत्य-शास्त्रो मे द्वारो के चौखटो को शाखाओ के नाम से पुकारा गया है। यही नही, द्वार-चौखट पर जो पुराने समय मे लिंटल लगता था उसका नाम उदुम्बर था। उदुम्बर एक वृक्ष है।

साराश, मानव-सभ्यता मे मानव के आवास के लिए वनस्पति ने प्रथम उपकरण प्रदान किया। वृक्षो की पूजा से हम परिचित ही है। यह सस्था अत्यन्त प्राचीन है। मानव-सभ्यता के विकास मे वनस्पति-ससार और पशु-ससार का बडा योग रहा है। पशुओं ने (दे० गोधन) मानव को आर्थिक, अर्थात् कृषि, व्यवसाय आदि के लिए सहायता प्रदान की और वनस्पतियों ने उसके आवास की रचना की। पुराणो के आख्यान, वेदो के सूक्त, सूत्रो के आदेश इसी मर्म का उद्घाटन करते है।

भवन-विकास

हम पहले संकेत कर चुके हैं कि भारतीय स्थापत्य मे अदेवहेतुक भवनो के उदाहरण नही प्राप्त होते, इससे यह अनुमान लगाना अथवा निष्कर्ष पर पहुँचना कि भारतवर्ष मे देवतानुपयोगी (सिविल आर सेक्यूलर) भवनो की निर्माण-परम्परा कलात्मक ढग से नही पनप सकी, सत्य नही है । बात यह है कि इस देश की सभ्यता का 'सादा जीवन उच्च विचार' सनातन काल से जीवन-दर्शन रहा है । इसी के फलस्वरूप भारतीयो ने अपने आवास-भवनो की ओर विशेष अभिरुचि नही दिखायी । तथापि जैसा हम पहले देख आये हैं, आर्यों की नगर-निवेश संस्था बड़ी ही सुव्यवस्थित, परिष्कृत एव समृद्ध थी । यह एक प्रकार से सिविल आर्कीटेक्चर की बहुत बडी पोषक सामग्री है । इसी के अनुरूप भवन-विन्यास भी सुव्यवस्थित, परिष्कृत एव समृद्ध संस्था के रूप मे विकसित हुआ, इसमे दो राये नही हो सकती । यह निश्चित है कि भारतीयों ने भवन-विन्यास में तीन व्यवस्थाओं का अवलम्बन किया—साधारण आवास-भवन (पापुलर रेजिडेन्शल हाउसेज), विशिष्ट भवन—राज-भवन (पैलेसेज) तथा विमान एव प्रासाद (टेम्पिल) । इनमे राज-हर्म्यों एव देव-प्रासादो पर हम आगे सविस्तर समीक्षा करेंगे । परन्तु एक-दो तथ्य यहाँ उद्घाटनीय है, मानसार आदि शिल्पशास्त्रो में तथा कामिक आदि आगमो मे जिन भवनों का वर्णन हे उनमे इस प्रकार का कोई विशिष्ट विभाजन प्राप्त नही होता । इन ग्रन्थो मे सभी भवन विमान-भवन हैं अथवा शाल-भवन । सभी एक ही प्रक्रिया मे प्रतिपादित हैं । भूमिकाओ का न्यास इनकी सर्वाधिक विशिष्टता है । इन ग्रन्थो मे भी यद्यपि शाल-भवनो के नाम बतलाये गये हैं तथापि वे शालाएँ बहु-भौमिक (अनेक मंजिली) विमान-भवन ही समझनी चाहिए । राज-प्रासादों के विवेचन मे मानसार मे विशिष्ट सामग्री है, परन्तु उस ग्रन्थ के परिशीलन से भारतीय सभ्यता की विशाल रूपरेखा के अनुरूप एव तत्सम्बन्धी विशिष्ट आवश्यकताओ के अनुरूप हमारे देश मे जो व्यवहार मे तीन प्रकार की भवन-संस्थाएँ प्रवर्तमान थी उनकी विद्यमानता का प्रमाण नही मिलता । प्राप्त शिल्प-ग्रन्थो में समरांगण-सूत्रधार ही वास्तु-शास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है जिसमे इस प्रकार के त्रिविध भवनो का बखान हुआ है । समरांगण की इस परम्परा मे पुराणो ने प्रथम प्रेरणा प्रदान की है । पुराणो मे शाल-भवनो के जन्म की जिस सामग्री का हमने संकेत किया है उसी का विकास इस मध्यकालीन कृति मे पूर्णरूप से दर्शनीय है । इस ग्रन्थ मे एक-शाल से लगाकर दश-शाल भवनो का वर्णन है, जिनकी संज्ञाओं के अद्भुत, समीचीन एवं असमीचीन, सभी प्रकार के स्वरूप देखने को मिलेंगे। अत समरांगणकालीन शाल-भवन के विकास का अनुमान हम लगा सकते हैं । प्राचीन भग्नावशेषो मे भवन-सम्बन्धी जो विन्यास-कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमे भी शाल-

भवनो के स्वरूप का दर्शन दुर्लभ नही है। मार्शल आदि विद्वानो ने (दे० तक्षशिला की खुदाई) इस तथ्य का उद्घाटन किया है। अस्तु, शाल-भवनो के विकास मे इस प्राक्कथन के उपरान्त सर्वप्रथम हमे शाल-भवन की व्याख्या अथवा उसका रूप समझ लेना चाहिए, क्योंकि तुलनात्मक समीक्षा मे शाल-भवन की यह प्रामाणिक व्याख्या ही उसकी विशेषताओ के अकन मे, और उसके अन्य आवास-भवनों से तारतम्य की परीक्षा में सहायक होगी।

शाल-भवनो मे चतुश्शाल भवन ही सर्वाधिक विख्यात हैं। इसी हेतु समरागण-सूत्रधार मे भी यद्यपि एक-शाल से लेकर दश-शाल भवनो का वर्णन है तथापि शाल-भवनों की अवतारणा मे चतुश्शाल का प्रथम निर्देश है। वास्तव मे चतुश्शाल ही आदर्श भारतीय भवन था, जहाँ आँगन के चारो ओर प्रकोष्ठो का विन्यास सर्वत्र समान रूप से देखा जाता है। अत: चतुश्शाल उसे कहेगे जो एक चौकोर, विशाल एव स्फीत प्रागण के चतुर्दिक् सस्थानो से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार मोटे तौर से आँगन के तीन ओर सस्थानो से त्रिशाल, दो ओर से द्विशाल तथा एक ओर से एकशाल भवन विनिर्मित होते है। ये ही चार आदर्श-भवन (माडेल) है, जिनके परस्पर सयोजन से पचशाल, षट्शाल, सप्तशाल, अष्टशाल, नवशाल तथा दशशाल भवन विन्यस्त होते हैं। आगे के स्तम्भ मे हम इन सब पर विशेष विवेचन करेगे और देखेगे कि इन्ही शाल-भवनो मे भारत के उदीयमान राज-महलो के विभिन्न प्रागणों (कोर्ट्स) के निवेश की परम्परा भी भासित होती है। शाल-भवन की इस व्याख्या मे हमने देखा कि इस भवन की सर्व-प्रमुख विशेषता आँगन है, वही निवेश का केन्द्र है तथा व्यवहार (कूप, वापी आदि) का विधायक। इन भवनो मे भूमिकाओं का न्यास वर्जित है, अन्यथा प्रागण स्वय कूप बन जाते है और निवासी कूपमडूक। अब आइए, मानसार आदि ग्रन्थो की शाल-भवन-विन्यास-प्रक्रिया की ओर। मानसार (दे० अ० ३६) शाल-भवन की निम्न व्याख्या करता है —

शालायाः परितोऽलिन्दं पृष्ठतो भद्रसंयुतम्।
पुरतो मण्डपोपेतम् . . . . ।
एकानेकतलानां स्यात् चुल्लीहर्म्यादिमण्डितम्॥

अर्थात् शाल-भवन के चारो ओर अलिदो का (बरामदो का) विन्यास होना चाहिए, पीछे भी भद्रो की योजना होनी चाहिए, सम्मुख मण्डप भी हो सकता है, इसके ऊपर एक से लगाकर अनेक भूमियाँ विनिर्मित हो सकती है और वे चुल्ली एव हर्म्य आदि से मण्डित हो सकती है। डॉ० आचार्य (दे० स्थापत्य-विश्वकोश, पृ० ४८५) के अनुसार शालाओ का मानसार मे षड्वर्गीय विभाजन किया गया है—

दण्डक, स्वस्तिक, मौलिक, चतुर्मुख, सर्वतोभद्र तथा वर्धमान। इनमे बड़े-बड़े हाल अथवा सभा-भवन मन्दिरो का काम देते थे और कमरो के निर्माण के कारण कुछ निवासों के रूप मे काम आते थे। इनमे भूमिकाएँ भी बनायी जा सकती थी और ये शाल-भवन एक तल से लगाकर द्वादश तलो तक ऊपर उठ सकते थे। अस्तु, मानसार के इस शाल-प्रवचन मे इस उदीयमान शालास्थापत्य को दृष्टि मे रखकर डा० आचार्य कहते हैं कि (दे० हिन्दू आर्कीटेक्चर इन इंडिया एब्राड, पृ०१११) ये शाल-भवन नव-वर्गीय नृपो के लिए विहित हैं। डा० साहब का यह मन्तव्य वास्तव मे तथ्योद्घाटक है। मानसारीय शिल्प-शालापरम्परा जन-भवन से सर्वथा विपरीत है, इसका विन्यास विमानों और प्रासादो से विशेष अनुगत है। इन भवनो की शाला-संज्ञा का रहस्य यह है कि इनमे एक शाला से लेकर दस शालाओं तक की निर्मितियों के संकेत हैं। अलिन्द और भद्र इन दो प्रमुख विन्यासो का भी संकेत होने से शाल-भवन की रूपरेखा रक्षित है। अत: लेखक के विचार मे मानसारीय यह शाला-परम्परा शाल-भवनो के विकास का एक प्रकार मे महान् परिष्करण अथवा संस्करण है। कामिकागम के निम्न प्रवचन मे भी मानसारीय इसी परम्परा के दर्शन होते हैं —

एकद्वित्रिचतुःसप्तदशशालाः प्रकीर्तिताः ।
तदूर्ध्वं त्रित्रिवृद्धया यावदिष्टं प्रगृह्यताम् ।
ता एव मालिका प्रोक्ता मालावत् क्रियते यथा ॥

यहाँ पर शालाओं की कतार को मालिका के नाम से पुकारा गया है। अतएव इन भवनो मे शाल-भवन के विन्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विन्यास-प्रकार विद्यमान हैं, अर्थात् माला के समान भवनो के विन्यास से शालाएँ बनती हैं, उन्ही को इस ग्रन्थ मे मालिका-भवन के नाम से भी कहा गया है और मालिका बहुभूमिक विमान की वर्ग-माला है। अत पूर्वप्रतिपादित निष्कर्ष ठीक ही उतरता है। परन्तु कामिकागम में विष्णुधर्मोत्तर के समान एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रवचन है जिससे मानसारीय शाल-भवनो के निर्माण मे शिला-प्रयोग इस निष्कर्ष का सुदृढ प्रमाण है कि मानसार के ये शाल-भवन राज-हर्म्य हैं अथवा देवतायतन, परन्तु जन-भवन कदापि नही। कामिकागम स्पष्ट उद्घोष करता है—

शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे न कारयेत् ।

समरांगण० की यह मान्यता कि शाल-भवन साधारण-जनोचित वास ही प्रकल्प्य हैं न कि मन्दिर, 'वास्तु-विद्या' से भी समर्थित होती है (दे० ८. १–३)। यहाँ पर प्रश्न यह है कि मानसारीय एवं आगमग्रन्थीय इस शाला-विकास के अन्तस्तल में कौन-सा रहस्य है, जब कि इनको हम जन-वास्तु से दूर देव-वास्तु मे परिणत होते हुए पाते हैं।

पुराणो मे ही (दे० मत्स्य २५६.३५ तथा स्कन्द, वैष्णवखण्ड, द्वि० २५.३-२६) इस परम्परा का विकास प्राप्त होता है और उसके आधारभूत पूर्व-कालीन पूजा-वास्तु मे उपकारक शालाओ की संस्था ने योगदान किया। यज्ञ मे मण्डपों का विन्यास एक पुरातन वास्तु-कृति है। विश्राम-शालाओं, धर्म-शालाओ, दान-शालाओ, व्याख्यान-शालाओ जैसी धार्मिक सस्थाओ से हम परिचित ही है। लौकिक सस्थाओ मे नाट्य-शालाओं तथा नृत्य-शालाओं की प्राचीन सस्था से भी हम परिचित हैं। अत इन्ही के गर्भ मे जो शालाओ का आनुषगिक विकास विमान-भवनों अथवा प्रासाद-भवनो के समकक्ष दिखाई पड़ता है वह बोधगम्य बन सकता है। मानसार तथा कामिकागम दक्षिणी वास्तु-विद्या तथा दाक्षिणात्य स्थापत्य के प्रतिनिधि ग्रन्थ होने के कारण शालाओ के इस विकास का दर्पणवत् प्रतिविम्ब प्रदान करते है। इसके अतिरिक्त प्राचीन पुरातत्वीय सामग्री मे प्राप्त नाना शिला-लेखो एव दान-पत्रो मे भी शालाओ की यह धर्मप्रियता विद्यमान है। अत यहाँ पर निष्कर्ष मे यही सूचित करना अभिप्रेत है कि जनवासोचित शाला की प्रमुख विशेषता आँगन है और देवावासो अथवा राजोचित हर्म्यों के निवेशोचित शालाओं मे भूमिकाओ का वैशिष्ट्य एव नाना विच्छित्तियो के साथ शिला आदि द्रव्यो का सयोग विशेष वाछित है। अतएव यह विन्यास शालाओ के एक दूसरे ही विकास की ओर हमें ले जाता है। यह एक प्रकार का बहिरंग विकास है। शालाओं का अन्तरग विकास अभी हमे देखना है जिसकी हम आगे अवतारणा करेगे।

प्रकार एव प्रभेद

भूतल पर प्रथम भवन के जन्म की कहानी मे शाल-भवन की कहानी की इस एक-रूपता को दृष्टि मे रखकर ऊपर हमने शाल-भवन एव उसके विकास के सम्बन्ध मे कुछ चर्चा की। अब इस स्तम्भ मे हमे भारतीय भवन-विकास की विविध धाराओ का विह-गावलोकन करना है। पहले सकेत किया जा चुका है कि समरागण० मे तीन प्रकार के भवनो के विकास पर विशेष प्रकाश प्राप्त होता है—जनभवन, राजभवन तथा देवभवन। यह सर्वथा समाजशास्त्र एव सामाजिक जीवन के अनुरूप ही है। वास, रक्षा एव पूजा इन्ही तीन प्रधान मानवीय व्यापारो के अनुरूप प्राचीन शिल्पशास्त्रो मे वास-भवनों, दुर्गो एव देवतायतनो के वर्णन मिलते हैं। परन्तु, जैसा ऊपर सकेत है, मान-सार एव मयमत आदि प्रसिद्ध शिल्प-ग्रन्थों मे भवन की यह विभाजक पद्धति अप्राप्त है। इसका क्या कारण है? बात यह है कि लोकधर्म बडा कठोर है, उसकी छाप शास्त्रो पर पडती ही है। सनातन काल से यहाँ के लोग प्रकृति के अनावृत वातावरण की ओर विशेष आकृष्ट रहे हैं। जीवन भी बडा सरल था। साधारण मृन्मय एवं

काष्ठमय भवनो की रचना से ही वे अपने निवास की आवश्यकता की पूर्ति कर लेते थे। जीवन सादा जरूर था पर विचार ऊँचे ही रहे, अतः संस्कृति की उन्नति में बाधा नही पहुँची।

भारत के तत्त्ववेत्ताओं के निवास अरण्य-कुटीरो मे थे। आश्रमो मे ही भारतीय अध्यात्म, ज्ञान एव विज्ञान का उदय हुआ। अत साधारण-जनोचित भवनो के विन्यास की ओर इन लोगो ने एक प्रकार से बहुत कम ध्यान दिया। शिल्प शास्त्रो के रचयिता इन्ही आश्रम-निवासी मुनियो-ऋषियो मे से थे। अत. जहाँ देव-भवनो के विन्यास मे इन आचार्यो ने विशद सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया, नाना शैलियो का निर्माण किया, विभिन्न-जातीय विमान एव प्रासाद-मालाओ का गुम्फन किया, वहां साधारण जनोचित भवनों के विन्यास को एक प्रकार से विस्मृत ही कर दिया। कल्प-सूत्र ग्रन्थो मे यह कमी अवश्य पूरी की गयी। परन्तु वहाँ पर यह पक्ष एक प्रकार से अविकसित ही रहा।

इस कमी को देखकर आधुनिक स्थापत्य-समीक्षको का यह आरोप समझ मे आ सकता है कि भारतवर्ष मे जन-स्थापत्य (सिविल आर्कीटेक्चर) का विकास नगण्य रहा। परन्तु यदि ध्यान से हम देखे (जैसा पुर-निवेश के सम्बन्ध मे हमने सूचित किया है) तो स्पष्ट हो जायगा कि यह अग भी कितना अधिक विकास को प्राप्त हुआ। बात यह है कि मानसार आदि कतिपय शिल्पीय ग्रन्थों के विवरणों को देखकर तथा जन-वास्तु के स्मारको की अनुपलब्धि से ऐसी धारणा लोगो ने बना ली। इसके अतिरिक्त शिल्पशास्त्र-सम्बन्धी जो वर्तमान समीक्षाएँ हुईं उनमें भी इस सत्यान्वेषण की ओर न तो विशेष ध्यान दिया गया और न वस्तु-स्थिति पर प्रकाश ही डाला गया। डॉ० आचार्य ने मानसारीय जिन ६८ प्रकार के भवनो की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है उसमे पुराण-प्रतिपादित एव आगमप्रशसित प्रासादो (देव-भवनो) एव विमानो के विवरण सामने रखे। यह सत्य है कि मानसार, मयमत आदि शिल्प-ग्रन्थो मे एकतल से लेकर द्वादशतल तक के इन विमान भवनो का विनियोग देवो के साथ-साथ ब्राह्मणो, क्षत्रियो (राजन्यो) एव वैश्यो के लिए भी बतलाया गया है, किंतु वह एकमात्र उपोद्घात है। ब्राह्मण कब इन बहुभूमिक विमानो में रहे? क्षत्रिय राजन्यो (राजाओ) के विमान-भवन भी साधारणजनोचित भवन नही हो सकते।

राजा भोज द्वारा विरचित 'समरागणसूत्रधार' वास्तु-शास्त्र भारतीय शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो मे इस दृष्टि से मूर्धन्य है जिसमे यह कमी पूरी तरह दूर कर दी गयी है। इसका शीर्षक ही इस तथ्य का उद्भावक है। समरांगणसूत्रधार का अर्थ है--"सम्यञ्चि अराणि समराणि, (तथा भूतानि) अङ्गणानि (येषा भवनानामित्यर्थः), तेषा सूत्र-

धार."; अथवा "समराणि सयुक्तानि अङ्गणानि येषा (शालभवनानामित्यर्थः) तेषां सूत्रधारः।" अत स्पष्ट है कि जिन भवनो के विन्यास में आँगन प्रधान निवेश-बिन्दु है तथा जिसके चारो ओर (या तीन ही ओर या दो ही ओर अथवा एक ही ओर) भवन-प्रकोष्ठों का विन्यास विशेष वाञ्छित है ऐसे भवनो का शिल्पी यह ग्रन्थ भारतीय वास्तु-शास्त्र का प्रतिपादक है। अत. इस ग्रन्थ की देन का मूल्यांकन हम कर सकते है। देव-भवनो पर परम्परागत शिल्प-ग्रन्थो मे काफी विचार हो ही चुका था। जन-भवनो के विन्यास को वैज्ञानिक रूप देना था। अतः इस आधारभूत प्रेरणा ने ही सम्भवत. इस महाग्रन्थ की रचना करायी। अस्तु, इस ग्रन्थ मे जन-भवनो की आवश्यकतानुरूप शाल-भवनो के रूप मे भवन-स्थापत्य के सिद्धान्तो की विवेचना की गयी है और इस विषय पर लगभग पन्द्रह अध्यायो मे यह जन-भवन-वास्तु प्रतिपादित किया गया है, जिसकी समीक्षा मे आगे हम विशेष विचार करेंगे। पूर्व-प्रतिपादित इस ग्रन्थ की मौलिक देन मे जहाँ जन-भवनो का यह विस्तार किया गया है वहाँ राज-भवन पर भी अलग से तीन-चार अध्यायो की अवतारणा की गयी है।

तीसरी भवन-कोटि जिसकी सज्ञा हमने देव-भवन अथवा प्रासाद के रूप मे निर्धारित की है उस पर तो आधे ग्रन्थ से भी अधिक मे प्रतिपादन है। लगभग पाँच हजार पंक्तियों में इस ग्रन्थ मे प्रासाद-स्थापत्य पर सभी दृष्टियो एव सभी शैलियो का प्रतिपादन किया गया है—यह हम प्रासाद-स्थापत्य मे देखेगे। इस प्रकार समरागण० की दिशा में भवनों के निम्न प्रकार इस ग्रन्थ मे प्रकल्पित किये गये है—

१—शाल-भवन, २—राज-वेश्म, ३—प्रासाद

शाल-भवनो के प्रकारो एव प्रभेदो का उल्लेख हम पहले कर चुके है, अर्थात् शाल-भवनो का वैसे तो आदर्श-भवन चतुश्शाल है परन्तु त्रिशाल, द्विशाल एव एकशाल भवन भी प्रमुख शाल-भवनो के रूप मे परिगणित किये जा सकते है और इन्ही के पारस्परिक सयोजन से पच-शाल से लेकर दश-शाल तक के शाल-भवनो की निष्पत्ति होती है। अस्तु, इस स्तम्भ को यही समाप्त कर शाल-भवनो के मनोरम विवरण को देखना चाहिए।

२

शाल-भवन

शाल-भवनो के प्रमुख प्रभेदो पर पहले सकेत किया गया है, तदनुसार चतुश्शाल, त्रिशाल, द्विशाल तथा एकशाल—ये सभी भवन एकदेशीय विन्यास है जिन्हे आजकल की इजीनियरिंग भाषा मे 'वन स्पान स्ट्रक्चर' कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त आगे के जो शाल-प्रभेद है, जैसे पचशाल आदि, वे वास्तव मे एक इकाई योजना नही माने जा सकते। केन्द्रीय प्रागण को केन्द्र-बिन्दु मानकर केवल चार ही कमरे बनाये जा सकते है। इस निर्मिति को चतुश्शाल के नाम से पुकारा जायेगा। यदि इसमे हम एक, दो या तीनो दिशाओ को छोड दे, या उनको खुला रखे तो क्रमश त्रिशाल, द्विशाल एव एकशाल भवन विन्यस्त होगे। इन भवनो के विन्यास मे प्राचीन भारत के गृह-नियोजन (हाउस प्लानिग) पर भी कुछ प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए त्रिशाल भवन अथवा द्विशाल भवन लीजिए, तो उससे मार्गाभिमुख भवनो के सम्मुख हरियाली (लान) और उद्यान स्वत. निविष्ट हो जाते है और यही क्रम आधुनिक भवन-विन्यासो मे, विशेष कर पश्चिम मे देखने को मिलता है। आधुनिक भवन-स्थापत्य मे केन्द्रीय प्रागण का कोई महत्त्व नही। पीछे छूटी हुई भूमि और आगे का अवकाश, इन दोनो के साथ-साथ यदि दोनो पार्श्वों मे भी कुछ अन्तरावकाश मिल जाय तो ऐसा भवन-विन्यास बडा मनोरम, स्वास्थ्ययुक्त है, इसमें पुष्पोद्यान, फलोद्यान, शाकवीथी, पाकालय आदि के लिए पूरी-पूरी जगह मिल जाती है। प्राचीनो के इन शाल-भवनो मे (विशेष कर त्रिशाल और द्विशाल मे) ऐसी सुविधा अनायास हस्तगत होती है।

शाल-भवन संयोजन—शाल-भवन के प्रमुख अगो पर हम आगे भवन-विन्यास अथवा भवन-निवेश में विशेष विचार करेगे। इस स्तम्भ मे उन भवनागो का थोड़ा-सा ज्ञान अपेक्षित है। शाल-भवन के प्रमुख अग अलिन्द तथा भद्र एवं भूषाएँ हैं, उन्हीं के सयोजन से शाल-भवनो की नाना रचनाएँ निष्पन्न होती है। वास्तु-शास्त्रीय परिभाषा में इनको अलिन्द-प्रस्तार, भद्र-प्रस्तार के नाम से पुकारा जाता है। भवनों के अन्य अंगों में प्राग्रीव, वीथी, निर्यूह तथा गवाक्ष आदि भी महत्त्वपूर्ण है, उनके विविध सयोजन से भी नाना शाला-प्रकार निष्पन्न होते हैं। अस्तु, सर्वप्रथम हम समरांगण० की दिशा में शाल-भवनो के संयोजन पर विवेचन करेगे। पुन: अन्य ग्रन्थो की सामग्री से इस विषय

की प्रौढ समीक्षा मे प्रवृत्त होंगे। हमने शाल-भवनो के दस वर्गों का सकेत किया है। वे दस वर्ग निम्न प्रकार से निष्पन्न होते हैं, परन्तु एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुश्शाल—इन चारो पर हम पहले ही प्रवचन कर चुके हैं अत यहाँ पर अवशेष वर्गों का दर्शन अपेक्षित है—

भवन	संयोजन				
पचशाल—	१–द्विशाल	+	त्रिशाल		
	२–चतुश्शाल	+	एकशाल		
षट्शाल—	१–द्विशाल	+	एकशाल	+	त्रिशाल
	२–त्रिशाल	+	त्रिशाल		
	३–द्विशाल	+	चतुश्शाल		
सप्तशाल—	१–दो त्रिशाल	+	एक एकशाल		
	२–एक एकशाल	+	एक द्विशाल	+	एक चतुश्शाल
	३–त्रिशाल	+	चतुश्शाल		
अष्टशाल—	१–भीतरी चतु०	+	बाहरी चतु०		
	२–दो त्रिशाल	+	एक द्विशाल		
नवशाल—	१–दो सदृश चतु०	+	एक एकशाल		
	२–दो असदृश चतु०	+	एक एकशाल		
	३–त्रिशाल	+	त्रिशाल	+	त्रिशाल
दशशाल—	१–दो सदृश चतु०	+	एक द्विशाल		
	२–तीन सदृश त्रिशा०	+	एक एकशाल		
	३–दो सदृश त्रिशा०	+	एक चतुश्शाल		

इस सयोजन के अन्तस्तल में जो वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्त (जिस पर हम एक सामान्य सकेत कर चुके है) अन्तर्हित है वह यह है कि शाल-भवनो की इस वर्ग-माला के प्रथम चार प्रकार (एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल, चतुश्शाल) रूप-निर्माण के अनुरूप गुरु और लघु के प्रस्तार से नाना वर्गों एवं उपवर्गों में प्रकल्पित होते हैं तथा शेष (अर्थात् पचशालादि दशशालान्त) प्रथम चार मौलिक प्रकारों की पारस्परिक सयोजना से सम्पन्न होते हैं। वास्तुशास्त्र मे गुरु से 'भित्ति' और लघु से 'अलिन्द' लिया जाता है। इसी सिद्धान्त की वास्तु-मण्डन के निम्न प्रवचन में बड़ी ही सुन्दर एवं वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है—

एकद्वित्रिचतुःशालं गृहं प्रस्तारतो भवेत्।
पञ्चादि दशशालान्तं तेषां संयोगतो मिथः॥

गृहाणां पञ्चशालानां षड्विधा योजना मता।
नवधा रसशालानां सप्तशाले शिवोन्मिता॥
अष्टशाले तिथिमिता नवशालेऽष्टभूमिता।
योजना दशशालायां त्रयोविंशतिधा मता॥

यहाँ पर 'रस' शब्द से षट् सख्या का अभिप्राय है, शिव से ग्यारह सख्या का बोध समझना चाहिए। तिथि से अभिप्राय पन्द्रह सख्या का है, अष्टभूमिता अठारह सख्या का निर्देश करती है। वास्तु-मण्डन के अनुमार अब हम पचशालादि दशशालान्त भवनों के सयोजन पर दृष्टिपात करेंगे। गणित की प्रक्रिया अपनाने से यह सयोजन बड़ा ही सुबोध हो सकेगा। अत. एकशाल से लेकर दशशाल भवनों को हम १ से लगाकर १० सख्या मान ले, जैसे एकशाल के लिए १, द्विशाल के लिए २, त्रिशाल के लिए ३ इत्यादि। यह सयोजन गणित-प्रक्रिया मे पूर्णरूप से कल्पनीय हो जाता है। निम्न प्रक्रिया द्रष्टव्य है; जिसमे पचशाल के ६, षट्शाल के ९, सप्तशाल के ११, अष्टशाल के १९, नवशाल के १८ तथा दशशाल के २३ सयोजन-प्रभेद है—

भवन	सयोजन	
पचशाल—	(१) ४+१	(४) २+२+१
	(२) ३+२	(५) १+१+१+२
	(३) ३+१+१	(६) १+१+१+१+१
षट्शाल—	(१) १+१+१+१+१+१	(६) ३+३
	(२) १+१+१+१+२	(७) ४+१+१
	(३) १+१+२+२	(८) ४+२
	(४) २+२+२	(९) ३+१+१+१
	(५) ३+२+१	
सप्तशाल—	(१) १+१+१+१+१+१+१	(७) ३+२+२
	(२) २+१+१+१+१+१	(८) ३+३+१
	(३) २+२+१+१+१	(९) ४+१+१+१
	(४) २+२+२+१	(१०) ४+२+१
	(५) ३+१+१+१+१	(११) ४+३
	(६) ३+२+१+१	
अष्टशाल—	(१) १+१+१+१+१+१+१+१	(४) १+१+२+२+२
	(२) १+१+१+१+१+१+२	(५) २+२+२+२
	(३) १+१+१+१+२+२	(६) ३+१+१+१+१+१

(७) ३+२+१+१+१
(८) ३+२+२+१
(९) ३+३+१+१
(१०) ३+३+२
(११) ४+१+१+१+१
(१२) ४+२+१+१
(१३) ४+२+२
(१४) ४+३+१
(१५) ४+४

नवशाल—
(१) ४+४+१
(२) ४+३+२
(३) ४+१+१+१+१+१
(४) ३+३+३
(५) ३+३+२+१
(६) २+२+२+२+१
(७) १+१+१+१+१+१+१+१+१
(८) २+१+१+१+१+१+१+१
(९) २+२+१+१+१+१+१
(१०) २+२+२+१+१+१
(११) ३+१+१+१+१+१+१
(१२) ३+२+१+१+१+१
(१३) ३+२+२+१+१
(१४) ३+२+२+२
(१५) ३+३+१+१+१
(१६) ४+२+१+१+१
(१७) ४+२+२+१
(१८) ४+३+१+१

दशशाल—
(१) २+२+२+२+१+१
(२) २+२+२+२+२
(३) ३+३+३+१
(४) ४+३+१+१+१
(५) ४+४+२
(६) १+१+१+१+१
१+१+१+१+१
(७) २+१+१+१+१+१+
१+१+१
(८) २+२+१+१+१+१+१+१
(९) २+२+२+१+१+१+१
(१०) ३+१+१+१+१+१+१+१
(११) ३+२+१+१+१+१+१
(१२) ३+२+२+१+१+१
(१३) ३+२+२+२+१
(१४) ३+३+१+१+१+१
(१५) ३+३+२+१+१
(१६) ३+३+२+२
(१७) ४+१+१+१+१+१+१
(१८) ४+२+१+१+१+१
(१९) ४+२+२+१+१
(२०) ४+२+२+२
(२१) ४+३+२+१
(२२) ४+३+३
(२३) ४+४+१+१

शाल-भवनों की गृह-संयोजना में पचशालादि दशशालान्त संयोजन पर ऊपर निर्देश किया गया है जो पाठको के लिए काफी सुबोध है। एकशाल तथा चतुश्शाल भवनो के प्रस्तार की क्रमप्राप्त समीक्षा अब आवश्यक है, परन्तु इस प्रस्तार के प्रवचन एवं परिसख्यान के प्रथम हमें इन भवनो के प्रमुख प्रभेदो पर थोडा-सा दृष्टिपात कर लेना चाहिए। उनकी विस्तृत समीक्षा का आगे भेद-प्रभेद के शीर्षक मे अवसर आयेगा। समरागण० की दिशा में एकशाल भवनो की सख्या १०८ है जिनकी संज्ञाएँ ध्रुव, धन्य, जय आदि हैं। द्विशाल भवनो की सख्या ५२ है जिनके प्रमुख ६ भेद है—सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड, वात, चुल्ली तथा काच। त्रिशाल भवनो की सख्या ७२ है, जिनमें हिरण्यनाभ, सुक्षेत्र, चुल्ली तथा पक्षघ्न प्रमुख है। चतुश्शालो की सख्या २५६ है जिनकी सज्ञाओं का उल्लेख आगे होगा। इसी प्रकार पचशालादि दशशालान्त भवनो की बड़ी-बडी सख्याएँ तथा विचित्र नाम है। अस्तु, यहाँ पर इन भवनो के प्रभेदो का एक मात्र संकेत वाछित है। विस्तार-भय से यहाँ केवल एकशाल तथा चतुश्शाल भवनों के प्रस्तार का ही विशेष उल्लेख किया जायगा जिससे यह पद्धति भी पाठको की समक्ष में आ जाय।

एकशाल भवन-प्रस्तार—एकशाल गृह के प्रस्तार मे लघु और गुरु के चार प्रतीक होते है और चतुश्शाल गृहो मे ये प्रतीक (सेम्बल) आठ होते हैं। हम पहले ही यह बता चुके है कि लघु का अर्थ अलिन्द है और गुरु का भित्ति। साधारणतया इन प्रतीकों से शाला की परिधि के स्वरूप का ज्ञान होता है और साथ ही दिशाओं की ओर भी सकेत मिलता है। उदाहरण के लिए 'ऽऽऽऽ' यह चार गुरुओ का प्रस्तार है, इसमे न केवल भवन की चौहद्दी पर ही संकेत है वरन् उसकी दिशाओ का भी पूर्ण प्रत्यय प्राप्त होता है। वास्तु-शास्त्र की परिभाषा में इनको 'शाला ध्रुवांक' के नाम से कहा गया है। इनमे प्रथम अंक पूर्व, द्वितीय दक्षिण, तृतीय पश्चिम तथा चौथा उत्तर दिशा का बोध कराता है, साथ ही भवन-कला की दृष्टि से इस प्रस्तार से यह भी सकेत मिलता है कि इस भवन मे केवल एक ही अलिन्द है और वह भी दक्षिण की ओर। यहाँ पर एक शाल के प्रस्तार में यह भी निर्दिष्ट है कि एक रूप मे जिस प्रकार चार गुरु हो सकते है उसी प्रकार चार लघु भी हो सकते हैं। निम्नलिखित चार गुरुओ का प्रस्तार द्रष्टव्य है—

१ ऽ ऽ ऽ ऽ	७. ऽ । । ऽ
२. । ऽ ऽ ऽ	८. । । । ऽ
३. ऽ । ऽ ऽ	९. ऽ ऽ ऽ ।
४. । । ऽ ऽ	१०. । ऽ ऽ ।
५. ऽ ऽ । ऽ	११. ऽ । ऽ ।
६. । ऽ । ऽ	१२. । । ऽ ।

१३. ऽ ऽ । ।
१४. । ऽ । ।
१५. ऽ । । ।
१६. । । । ।

इस प्रस्तार का सक्षेप यह है कि इस चार गुरुओ के प्रस्तार मे १, ४, ६, ४ तथा १ क्रमश अलिन्दाभाव, एक अलिन्द, २ अलिन्द, ३ अलिन्द तथा ४ अलिन्द सूचित करते है तथा इस प्रस्तार मे १६ गृहो की सूचना तो स्वत ही बोधगम्य है।

चतुश्शाल गृह-संयोजन—एकशाल मे चार से अधिक प्रतीक नही रह सकते थे, परन्तु चतुश्शाल मे ये प्रतीक आठ तक पहुँचते हैं जिनकी सज्ञा प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ प्रमुख दिङमुखो के लिए तथा पचम, षष्ट, सप्तम एव अष्टम विदिङ्मुखो के लिए (दक्षिण–पूर्व, दक्षिण–पश्चिम, उत्तर–पश्चिम तथा उत्तर–पूर्व) समझनी चाहिए। चतुश्शाल के इस प्रस्तार का विशेष सम्बन्ध अलिन्द से है। इस प्रस्तार के सम्बन्ध मे एक दूसरी सूचना यह आवश्यक है कि यह हम पहले ही बता चुके है कि लघु का अभिप्राय अलिन्द है, अत एकशाल भवन अथवा चतुश्शाल भवन के विन्यास मे यदि एक ही दिशा मे दो अलिन्दो के निवेश का प्रयोजन है तो उनकी सज्ञा भद्र और अभद्र नाम से कही जाती है। भद्र से प्रथम अलिन्द और अभद्र से उसके आगे का दूसरा अलिन्द बोधित होता है। हम पहले ही सूचित कर आये है कि चतुश्शाल भवनो की सख्या २५६ है, तदनुरूप चतुश्शाल के ८ गुरुओ के प्रस्तार मे वह संख्या निम्नलिखित कल्पित होती है—

१. ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
२. । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
३. ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
४. । । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
५ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
६. । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
७ ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
८ । । । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
९ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ
१०. । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ
११ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ
१२ । । ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ
१३. ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ
१४. । ऽ । । ऽ ऽ ऽ ऽ
१५ ऽ । । । ऽ ऽ ऽ ऽ
१६ । । । । ऽ ऽ ऽ ऽ
१७. ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
१८. । ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
१९ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
२०. । । ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ
२१. ऽ ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ
२२ । ऽ । ऽ । ऽ ऽ ऽ
२३. ऽ । । ऽ । ऽ ऽ ऽ
२४. । । । ऽ । ऽ ऽ ऽ
२५ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ
२६ । ऽ ऽ । । ऽ ऽ ऽ
२७ ऽ । ऽ । । ऽ ऽ ऽ
२८. । । ऽ । । ऽ ऽ ऽ
२९. ऽ ऽ । । । ऽ ऽ ऽ
३० । ऽ । । । ऽ ऽ ऽ

३१ S I I I I S S S
३२ I I I I I S S S
३३. S S S S S I S S
३४ I S S S S I S S
३५ S I S S S I S S
३६ I I S S S I S S
३७ S S I S S I S S
३८ I S I S S I S S
३९. S I I S S I S S
४० I I I S S I S S
४१ S S S I S I S S
४२ I S S I S I S S
४३ S I S I S I S S
४४. I I S I S I S S
४५. S S I I S I S S
४६. S S I I S I S S
४७. S I I I S I S S
४८ I I I I S I S S
४९. S S S S I I S S
५० I S S S I I S S
५१. S I S S I I S S
५२. I I S S I I S S
५३. S S I S I I S S
५४ I S I S I I S S
५५. S I I S I I S S
५६ I I I S I I S S
५७ S S S I I I S S
५८ I S S I I I S S
५९. S I S I I I S S
६०. I I S I I I S S
६१. S S I I I I S S
६२. I S I I I I S S
६३. S I I I I I S S

६४ I I I I I I S S
६५. S S S S S S I S
६६ I S S S S S I S
६७ S I S S S S I S
६८. I I S S S S I S
६९ S S I S S S I S
७०. I S I S S S I S
७१. S I I S S S I S
७२ I I I S S S I S
७३. S S S I S S I S
७४. I S S I S S I S
७५ S I S I S S I S
७६. I I S I S S I S
७७. S S I I S S I S
७८ I S I I S S I S
७९ S I I I S S I S
८०. I I I I S S I S
८१ S S S S I S I S
८२ I S S S I S I S
८३ S I S S I S I S
८४ I I S S I S I S
८५ S S I S I S I S
८६. I S I S I S I S
८७ S I I S I S I S
८८ I I I S I S I S
८९ S S S I I S I S
९० I S S I I S I S
९१. S I S I I S I S
९२. I I S I I S I S
९३ S S I I I S I S
९४. I S I I I S I S
९५ S I I I I S I S
९६. I I I I I S I S

९७	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
९८.	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
९९	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१००.	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१०१.	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१०२.	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१०३.	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१०४.	।	।	।	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
१०५	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ
१०६	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ
१०७	ऽ	।	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ
१०८.	।	।	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ
१०९	ऽ	ऽ	।	।	ऽ	।	।	ऽ
११०.	।	ऽ	।	।	ऽ	।	।	ऽ
१११.	ऽ	।	।	।	ऽ	।	।	ऽ
११२.	।	।	।	।	ऽ	।	।	ऽ
११३.	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	ऽ
११४.	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	ऽ
११५.	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	।	।	ऽ
११६.	।	।	ऽ	ऽ	।	।	।	ऽ
११७.	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	।	ऽ
११८.	।	ऽ	।	ऽ	।	।	।	ऽ
११९.	ऽ	।	।	ऽ	।	।	।	ऽ
१२०.	।	।	।	ऽ	।	।	।	ऽ
१२१.	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	ऽ
१२२.	।	ऽ	ऽ	।	।	।	।	ऽ
१२३.	ऽ	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ
१२४.	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ
१२५.	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	ऽ
१२६.	।	ऽ	।	।	।	।	।	ऽ
१२७.	ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ
१२८.	।	।	।	।	।	।	।	ऽ
१२९.	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३०.	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३१.	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३२.	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३३	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३४.	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३५	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३६	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३७	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३८.	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१३९.	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।
१४०	।	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१४१.	ऽ	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१४२	।	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१४३.	ऽ	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१४४.	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।
१४५.	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१४६.	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१४७.	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१४८.	।	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१४९.	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१५०-१.	।	ऽ	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१५२.	।	।	।	ऽ	।	ऽ	ऽ	।
१५३.	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।
१५४.	।	ऽ	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।
१५५	ऽ	।	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।
१५६.	।	।	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।
१५७.	ऽ	ऽ	।	।	।	ऽ	ऽ	।
१५८.	।	ऽ	।	।	।	ऽ	ऽ	।
१५९.	ऽ	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।
१६०.	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।
१६१	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	।
१६२.	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	।
१६३.	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	ऽ	।

१६४. । । ऽ ऽ ऽ । ऽ ।
१६५. ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।
१६६ । ऽ । ऽ ऽ । ऽ ।
१६७. ऽ । । ऽ ऽ । ऽ ।
१६८ । । । ऽ ऽ । ऽ ।
१६९ ऽ ऽ ऽ । ऽ । ऽ ।
१७०. । ऽ ऽ । ऽ । ऽ ।
१७१. ऽ । ऽ । ऽ । ऽ ।
१७२. । । ऽ । ऽ । ऽ ।
१७३ ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ।
१७४ । ऽ । । ऽ । ऽ ।
१७५ ऽ । । । ऽ । ऽ ।
१७६. । । । । ऽ । ऽ ।
१७७ ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ।
१७८. । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ।
१७९. ऽ । ऽ ऽ । । ऽ ।
१८०. । । ऽ ऽ । । ऽ ।
१८१ ऽ ऽ । ऽ । । ऽ ।
१८२ । ऽ । ऽ । । ऽ ।
१८३. ऽ । । ऽ । । ऽ ।
१८४. । । । ऽ । । ऽ ।
१८५ ऽ ऽ ऽ । । । ऽ ।
१८६. । ऽ ऽ । । । ऽ ।
१८७. ऽ । ऽ । । । ऽ ।
१८८. । । ऽ । । । ऽ ।
१८९. ऽ ऽ । । । । ऽ ।
१९०. । ऽ । । । । ऽ ।
१९१. ऽ । । । । । ऽ ।
१९२. । । । । । । ऽ ।
१९३. ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । ।
१९४ । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ।
१९५. ऽ । ऽ ऽ ऽ ऽ । ।
१९६. । । ऽ ऽ ऽ ऽ । ।

१९७ ऽ ऽ । ऽ ऽ ऽ । ।
१९८. । ऽ । ऽ ऽ ऽ । ।
१९९. ऽ । । ऽ ऽ ऽ । ।
२०० । । । ऽ ऽ ऽ । ।
२०१ ऽ ऽ ऽ । ऽ ऽ । ।
२०२. । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ।
२०३ । । ऽ । ऽ ऽ । ।
२०४ ऽ ऽ । । ऽ ऽ । ।
२०५. ऽ ऽ । । ऽ ऽ । ।
२०६ । ऽ । । ऽ ऽ । ।
२०७ ऽ । । । ऽ ऽ । ।
२०८ । । । । ऽ ऽ । ।
२०९ ऽ ऽ ऽ ऽ । ऽ । ।
२१०. । ऽ ऽ ऽ । ऽ । ।
२११. ऽ । ऽ ऽ । ऽ । ।
२१२. । । ऽ ऽ । ऽ । ।
२१३ ऽ ऽ । ऽ । ऽ । ।
२१४. । ऽ । ऽ । ऽ । ।
२१५ ऽ । । ऽ । ऽ । ।
२१६. । । । ऽ । ऽ । ।
२१७. ऽ ऽ ऽ । । ऽ । ।
२१८. । ऽ ऽ । । ऽ । ।
२१९ ऽ । ऽ । । ऽ । ।
२२०-१ । । ऽ । । ऽ । ।
२२२ । ऽ । । । ऽ । ।
२२३. ऽ । । । । ऽ । ।
२२४ । । । । । ऽ । ।
२२५ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । ।
२२६ । ऽ ऽ ऽ ऽ । । ।
२२७ ऽ । ऽ ऽ ऽ । । ।
२२८. । । ऽ ऽ ऽ । । ।
२२९ ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ।
२३०. । ऽ । ऽ ऽ । । ।

२३१.	S I I S S I I I	२४४	I I S S I I I I
२३२.	I I I S S I I I	२४५.	S S I S I I I I
२३३.	S S S I S I I I	२४६.	I S I S I I I I
२३४.	I S S I S I I I	२४७.	S I I S I I I I
२३५.	S I S I S I I I	२४८.	I I I S I I I I
२३६.	I I S I S I I I	२४९	S S S I I I I I
२३७	S S I I S I I I	२५०.	I S S I I I I I
२३८.	I S I I S I I I	२५१.	S I S I I I I I
२३९.	S I I I S I I I	२५२.	I I S I I I I I
२४०.	I I I I S I I I	२५३.	S S I I I I I I
२४१.	S S S S I I I I	२५४.	I S I I I I I I
२४२.	I S S S I I I I	२५५.	S I I I I I I I
२४३.	S I S S I I I I	२५६.	I I I I I I I I

चतुश्शाल के आठ गुरुओं के प्रस्तार की इस रूपरेखा के अनन्तर इसका सारांश क्या है---यह थोडा सा ज्ञातव्य है। हमने यह पहले ही सकेत किया है कि चतुश्शाल भवनो की सख्या २५६ है, वह इस प्रस्तार से पूर्णरूप से बोधगम्य है। यह सख्या भद्रों के विन्यास से उत्पन्न होती है। हर एक शाल-भवन में जिस किसी भी भद्र-सख्या का सयोजन वाछित नही। वास्तु-शास्त्रीय नियमो के अनुसार विभिन्न-वर्गीय शाल-भवनों में एक नियमित भद्र सयोजना विहित है। चतुश्शालो मे यह भद्र-सख्या एक से आठ तक जाती है और दशशालो मे एक से बीस। चतुश्शाल के इन आठो भद्र-विन्यासो के निम्न योग देखने चाहिए---

विभद्र	१	त्रिभद्र	५६	षड्भद्र	२८
एकभद्र	८	चतुर्भद्र	७०	सप्तभद्र	८
द्विभद्र	२८	पचभद्र	५६	अष्टभद्र	१

योग=२५६

अब यहाँ पर दो प्रश्न उपस्थित होते हैं---एक तो भद्र शब्द का अर्थ और दूसरे इन विविध भद्र-सयोजनो से जो विविध चतुश्शाल भवन विन्यस्त होते हैं उनकी संज्ञाएँ क्या हैं? पहले हम दूसरे प्रश्न को लेते हैं। दो सौ छप्पन संख्याओ के चतुश्शाल भवनों का यहाँ पर पूर्णरूप से विवरण न तो विशेष सहायक ही है और न समीचीन। हाँ, मनोरजन अवश्य हो सकता है परन्तु स्थानाभाव से थोड़े से नामों का दिग्दर्शन ही अधिक उपयुक्त है। उदाहरणार्थ---

एक-भद्र—प्रागायत, प्राग्विलग्न, जय आदि ; **द्विभद्र**—ईर, सुनीथ, आग्नेय, द्वीप, आप्य आदि, **त्रिभद्र**—ऐन्द्र, विलोम, आयाम, वघ, एकाक्ष आदि, **चतुर्भद्र**—कृत, अर्चायिन, पौष्ण, उद्‌गत आदि; **पंचभद्र**—कानल, लोलुप, जिह्म, प्रगाल आदि, **षड्भद्र**—किन्नर, कोस्तुभ, हर्म्य, धार्मिक, निषध, वसु आदि; **सप्तभद्र**—भाण्डीर, वैसह, प्रस्थ, प्रतान, वामुल, कट आदि, **अष्टभद्र**—सर्वतोभद्र (दे० इसका उलटा विभद्र)।

अब प्रथम प्रश्न को लेते हैं, भद्रा अथवा भद्र को समरांगण० में मूषा के नाम से भी कहा गया है और मूषा का अर्थ एक प्रकार से भित्तिगत वातायन है। परन्तु डॉ० आचार्य ने भद्र के अर्थ में 'ए मोल्डिंग, ए टाइप आफ पोर्टिको-----' लिखा है। यहाँ पर शाल-भवनों के विन्यास में भद्र का अभिप्राय न तो मोल्डिंग अर्थात् रचना-विच्छित्ति से और न पोर्टिको से है जो भवन के अलिन्द के भी आगे विन्यस्त होता है। भद्र रचना-विच्छित्ति न होकर एक ऐसी रचना है जिसका एकमात्र प्रयोजन प्रकाश एवं वायु के सुख-संचारार्थ है। चूंकि समरांगण में भद्र शब्द को मूषा का एक प्रकार से पर्याय माना गया है, अतः मूषा शब्द की थोड़ी-सी समीक्षा आवश्यक है। मूषा वास्तव में स्वर्णकारों का उपकरण है जिसमें सोना-चाँदी रखकर सुनार लोग शोधन करते हैं। इसकी आकृति सिलिंड्रिकल अर्थात् सीपीदार होती है। अतः इसका तना गोल और दूसरी ओर खुला होता है इस प्रकार गवाकार इसे समझना चाहिए। प्राचीन भवनों के विन्यास में प्राचीन स्थपति दीवारों में इसी आकार में वातायन बनाते थे। उत्तर प्रदेश में जो ग्रामीण भवन मिलते हैं उनके निदर्शनों में यह परम्परा एक प्रकार से विलुप्त हो गयी परन्तु उडीसा में यह अब भी विद्यमान है। भुवनेश्वर एवं पुरी तथा कोणार्क के स्थापत्य-निदर्शनों को देखने के लिए जब मैं उडीसा गया तो यह आकृति अब भी देखने को मिली। सारांशतः मूषा एक प्रकार से आजकल की खिड़की समझी जा सकती है। ठक्कुर फेरु ने (दे० वास्तुसार, प्राकृत श्लोक ६७) मूषा की परिभाषा में—"जालियनाम मूषा" कहा है और इसके टीकाकार भगवानदास जैन ने मूषा की छोटा दरवाजा व्याख्या की है। अस्तु, इस प्रकार इस भद्र-योजना से प्राचीन काल के घरों में वातायनों की व्यवस्था पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। मूषा और भद्रा एक ही है। इस पर समरांगण० का प्रवचन है—

मूषां भद्रा इति प्राहुस्तत्संख्यामवधारयेत् ।
यावन्मूषं भवेद् वेश्म तावद्भद्रं तदुच्यते ।। (१९, ३०)

एकशाल भवन की रूपरेखा का हम कुछ आभास करा चुके हैं। चतुश्शाल भवनों की रूपरेखा से हम अब अपरिचित नहीं रहे। अतः पूर्णता के लिए अन्य शाल-भवनों के भेद-प्रभेदों की ओर भी थोड़ा-सा दृष्टिपात कर लेना चाहिए। इन शाल-भवनों

की विशेषता शालाओ का न्यास है। शालाओ के कुछ पारिभाषिक नाम है, जैसे हस्तिनी, महिषी, गावी तथा अजा। द्विशाल भवनो के ६ प्रमुख प्रभेद इनमे से दो-दो के संयोग से निष्पन्न होते हैं, जैसे हस्तिनी और महिषी के सयोग से सिद्धार्थ, महिषी और गावी से यमसूर्य। इसी प्रकार अन्य दण्ड, वात, चुल्ली और काच की गाथा है। ऊपर द्विशाल भवनों की ५२ सख्या का निर्देश आ चुका है जो मूषा, वीथिका, अलिन्द आदि के सयोजन से अथवा प्रस्तार से इन ६ के ५२ भेदो मे प्रकल्पित होती है—सिद्धार्थ के वसुधार, सिद्धार्थक, कल्याणक आदि ११ प्रभेद, संहार, काल, यम, कराल, विकराल आदि ११ यमसूर्य के प्रभेद; प्रचण्ड, चण्ड, उद्दण्ड, दण्ड आदि ११ दण्ड के प्रभेद; मरुत्, पवन, अनिल, प्रभंजन, घनारि आदि ११ वात के प्रभेद, रोग, चुल्ली, अनल, भस्म चार चुल्ली प्रभेद तथा छल, काच, कुलघ्न, विरोधी चार काच-प्रभेद। इनमें नामानुसार प्रथम भेद-प्रभेद तो प्रशस्त है और दूसरे प्रभेद-पंचक अप्रशस्त।

त्रिशाल के चार प्रमुख प्रभेदो—हिरण्यनाभ, सुक्षेत्र, चुल्ली तथा पक्षघ्न का ऊपर सकेत किया जा चुका है तथा यह भी निर्देश किया गया है कि इनके प्रभेदो की सख्या ७२ है। वे प्रत्येक की १८-१८ सख्या से ७२ हुए। इनमे प्रथम— हिरण्यनाभ और सुक्षेत्र के भेद प्रशस्त माने गये है और अन्तिम दोनो के अप्रशस्त। हिरण्यनाभ यथार्थनाम स्वर्ण का है अतः इसके अठारहो प्रभेद स्वर्ण के एक प्रकार से पर्याय है, जैसे जाम्बूनद, रुक्म, हेम, कनक, काचन, सार, चामीकर आदि। इसी प्रकार सुक्षेत्र के १८ प्रभेदो मे नाग, सूर्यप्रभ, केसरी, हरि, सारस, कुंजर, मेघमाल, धारासार आदि नाम हैं। चुल्ली के प्रभेदो मे भुजगम, निर्जीव, विहग, नकुल, पन्नग, सर्प, कोप, भगन्दर आदि अत्यन्त अमांगलिक नामो का निर्देश है। पक्षघ्न भी अपने नामानुरूप राक्षस, देवारि, विघ्न, शोषण, शार्दूल आदि नामो से भयंकर है।

पंचशालादि दशशालान्त शाल-भवनो के सम्बन्ध मे ऊपर यह निर्देश किया गया है कि वे इन्ही प्रमुख चार—चतुश्शाल, त्रिशाल, द्विशाल तथा एकशाल भवनों के संयोजन से निष्पन्न होते हैं। यहाँ प्रस्तार प्रत्यक्ष अवलबनीय नही है। गृह-सयोजन ही प्रधान घटक है। तदनुरूप पचशाल आदि शाल-भवनो की संख्या बहुत लम्बी हो जाती है। पचशाल की समवेत सख्या १०२४ है जिसमें गृह-सयोजन से २८ प्रभेद प्राप्त होते हैं। गृह-सयोजन की प्रक्रिया मे पंचशाल के दो विन्यास निम्नप्रकार से निष्पन्न होते हैं—

(क) द्विशाल + त्रिशाल के संयोजन से

१—हेमकूट	३—श्रियावह	५—सदादीप्त	७—सदादोष
२—स्वर्णशेखर	४—महानिधि	६—चित्रभानु	८—निर्विघ्न

(ख) चतुश्शाल + एकशाल के संयोजन से

१–सुदर्शन	६–सुनाभ	११–नन्द	१६–प्रहर्षण
२–सुरूप	७–योग्य	१२–पुण्डरीक	१७–घोप
३–सुन्दर	८–विनोद	१३–भद्र	१८–सुघोषण
४–शोभन	९–सुखद	१४–रुचिर	१९–नन्दिघोप
५–सुप्रभ	१०–नन्दन	१५–रोचिष्णु	२०–श्रीपद्म

मृषा-संयोजन से जो १०२४ प्रभेद प्रादुर्भूत होते हैं उनमे यहाँ केवल इतना ही निर्देश है कि यहाँ पर भद्रों की सख्या १ से १० तक जाती है, जैसे विभद्र १, एकभद्र १०, द्विभद्र ४५, त्रिभद्र १२०, चतुर्भद्र २५२, पंचभद्र २१०, षड्भद्र २१०, सप्तभद्र १२०, अष्टभद्र ४५, नवभद्र १० तथा दशभद्र १। अस्तु, षट्शालादि दशशालान्त शालाओं के भद्रप्रभेद का विस्तार न करके केवल यहाँ उनके कुछ प्रमुख नाम तथा अलग-अलग भद्र-सख्या का ही सकीर्तन अभीष्ट है। षटशाल भवनो मे भद्र-विस्तार एक से १२ भद्रो तक है, सप्तशाल मे १४ भद्रो तक, अष्टशाल मे १६ भद्रो तक, नवशाल मे १८ भद्रों तक तथा दशशाल मे २० भद्रो तक। इस भद्र-विस्तार से इन पाँचो शाल-भवनो की सख्या सख्यातीत हो जाती है, जैसे षट्शाल की भद्रविन्यास-संख्या ४०९६, सप्तशाल की १६३८४, अष्टशाल की ६५५३६, नवशाल की २६२१४४ तथा दशशाल की १०४८५७६। इस प्रस्तार से तो शाल-भवनो की प्रभेद-मालिका के शुभ तथा अशुभ प्रकारो की सख्या १४ लाख से अधिक पहुँचती है। इसका क्या रहस्य है? इस पर हम इस स्तम्भ के अन्त मे कुछ समीक्षा करेगे। यहाँ पर पहले क्रमागत षट्शाल तथा सप्तशाल भवन-प्रभेदो का कुछ नाम-सकीर्तन कर ले।

षट्शाल भवन

(द्वि० + एक० + त्रि०) पकजांकुर, श्रीगृह, धनेश्वर, कांचन-प्रभ—४ भेद।
(द्वि० + चतु०) त्रैलोक्यानन्दक, विलासचय, सुखद, श्रीप्रद—४ भेद।

टि०—द्विशाल और चतुश्शाल भवनो के इस सयोजन के अतिरिक्त एक दूसरा भी सयोजन है, जिसमें सर्वतोभद्र, वर्धमान, नन्द्यावर्त, रुचक तथा स्वस्तिक—इन पाँच प्रमुख चतुश्शाल भवनो के साथ जब सिद्धार्थ आदि द्विशाल भवनों का सगम होता है तो निम्नलिखित २० प्रभेद और प्राप्त होते है—

१–श्रीपद	४–श्रीभाजन	७–मूर्तिभूषण	१०–श्रीकृत
२–श्रीवास	५–मूर्तिमण्डन	८–श्रीमुख	११–श्रीकर
३–श्रीभूषण	६–मूर्तिमान्	९–श्रीधर	१२–श्रियांकर

१३–श्रियावास	१६–धनपाल	१६–धन
१४–श्रीयान	१७–धननाथ	२०–भूतिभाजन
१५–श्रीमुख	१८–धनप्रद	(वर्ध० प्रभे०)

सप्तशाल भवन (ए०+द्वि०+चतु०)

१–श्रीप्रदायक	२–श्रीपद	३–श्रीप्रद	४–श्रीमाल

(पच प्रमुख चतुश्शालो के साथ)

१–श्रीपद	६–श्रीवर्धन	११–श्रीशैल	१६–श्रीनाभ
२–श्रीफल	७–श्रीसगम	१२–श्रीखण्ड	१७–श्रीप्रिय
३–श्रीस्थल	८–श्रीप्रसग	१३–श्रीषण्ड	१८–श्रीकान्त
४–श्रीतन्	९–श्रीमार	१४–श्रीनिधन	१९–श्रीमत
५–श्रीपर्वत	१०–श्रीभार	१५–श्रीकुण्ड	२०–श्रीप्रदन्त

(चतु०+त्रि०-के कुछ मिश्रित सयोजन से)

१–श्रीवत्स	६–श्रीनिवास	११–श्रीस्थावर	१६–श्रीधर
२–श्रीवृक्ष	७–श्रीभूषण	१२–श्रीकुम्भ	१७–श्रीकरण्डक
३–श्रीपाल	८–श्रीमण्डन	१३–श्रीममद्गक	१८–श्रीभाण्डागार
४–श्रीकण्ठ	९–श्रीकुल	१४–श्रीनन्द	१९–श्रीनिलय
५–श्रीवास	१०–श्रीगोकुल	१५–श्रीहृद	२०–श्रीनिकेतन

इसके अनन्तर शिल्प-ग्रन्थो मे इस भेद मालिका का विराम देखा जाता है, अतः हम भी विराम लेते है। आगे के अष्टशालादि भवनो का एकमात्र भद्र-सयोजन ही बतलाया गया है, उनकी अगणित नामावली का निर्देश करके व्यर्थ विस्तार उचित नही समझा गया, परन्तु अभी इनकी समीक्षा बाकी है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट है, इन शाल-भवनो की सख्या सयोजन एव प्रस्तार से १४ लाख से भी अधिक हो जाती है। अत एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है; क्या यह वास्तु-कर्म मे सम्भाव्य है ? जैसा कि हमने वास्तु-शास्त्र अर्थात् भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के विषय एव विस्तार में देखा, इस शास्त्र का ज्योतिष-शास्त्र से बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक इजीनियरिंग भी गणित की (जो ज्योतिष-शास्त्र का प्रधान अग है) सहायता के बिना पगु है। अत प्राचीन भारत के स्थापत्य-कौशल में गणित का ज्ञान एव विज्ञान परम आवश्यक था। वास्तु एक प्रकार से नियोजन है जो प्रथम मानसी सृष्टि के द्वारा कल्पना रूप मे उद्भावित किया जाता है, पुन. उसे कर्मकौशल के द्वारा मृत्तिका, काष्ठ, शिला अथवा पक्की ईंटो मे अनूदित किया जाता है। ब्रह्मा

ने भी प्रथम मानसी सृष्टि की थी, विश्वकर्मा ने उसे पार्थिव रूप प्रदान किया। अतएव विभिन्न वास्तु-कृत्यो मे मानसी योजना प्रथम स्थान रखती है। आज भी हम भवन के निर्माण के पूर्व उसका नक्शा पहले बनवाते है। प्राचीनो का शुभ और अशुभ सम्बन्धी विचार बडा ही कठोर था। भवन की शुभ व्यवस्था करने के लिए, उसकी मगलमयी रचना के लिए, किस पद पर कौन-सी रचना शुभ है और किस पद पर अशुभ, किस दिशा मे कौन-सा विन्यास समीचीन है तथा किस दिशा मे असमीचीन, इत्यादि व्यवस्थाओ के लिए भी सभी वास्तु-कृत्य स्थपति के मानस-पटल मे पहले ही अंकित हो जाना चाहिए और उसको नक्शे पर क्रमबद्ध करके उसी के अनुसार क्रिया मे परिणत करना चाहिए। यही वास्तविक मर्म है जिसके द्वारा ऐसी परिनिष्ठित मगलमयी रचना सम्पन्न होती थी। गुरु और लघु के प्रस्तार से प्राचीन स्थपति इस शुभाशुभ व्यवस्था का परिज्ञान कर लेते थे।

इसके अतिरिक्त स्थापत्य-शास्त्र विज्ञान और कला दोनो है। विज्ञान आधुनिक परिभाषा में आदर्शात्मक (नार्मेटिव) एव व्यवहारात्मक (पाजिटिव) दोनो है। अतः स्थापत्य-शास्त्र मे जो 'नार्म्स' अर्थात् आदर्श प्रस्तुत किये जाते है उनका आशय एक प्रकार से आदर्श उपस्थित करना है। कर्म मे, क्रिया मे विज्ञ एवं कुशल स्थपति अपनी-अपनी आवश्यकताओ और प्रेरणाओ से उन आदर्शो का अनुगमन करते है और कर्मकौशल सम्पादन करते हैं।

भारतीय स्थापत्य मे दिक्साम्मुख्य (दिशा का सामना) का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। चतुश्शाल के प्रस्तार मे हमने जो गुरु एव लघु के विन्यास से नाना प्रभेद प्राप्त किये उनसे स्थपति के लिए यह सहज बोधगम्य हो जाता है कि किस दिशा में शाला का विन्यास विहित है और किस दिशा मे अलिन्द का। यह हम लिख ही चुके हैं कि शाल-भवनो का प्रमुख अग शाला है, वह सदैव गुरु के नीचे रखी जाती है और शालेतर अलिन्द, भद्र, वीथी आदि लघु के नीचे। शाल-भवनो का गुरु-लघु प्रस्तार जो हमने पीछे देखा उसमे हमे दीवार में मूषा किस स्थान पर निविष्ट करनी चाहिए यह ज्ञात होता है। वह एकमात्र भद्र-प्रस्तार था। उसी प्रकार से अलिन्द, वीथी आदि के भी प्रस्तार करने होते है जिनसे इन विन्यासों की शुभाशुभ व्यवस्था का परिज्ञान प्राप्त होता है। अत. इस मानस अभ्यास (मेंटल जेम्नास्टिक) से स्थापत्य-शास्त्र और उसके द्वारा विकसित एव पूर्ण स्थापत्य-कला मे अति महत्त्वपूर्ण दिक्साम्मुख्य सिद्धान्त की रक्षा होती है। इन प्रस्तारो से यह सर्वाधिक फलप्रद विधान माना गया है।

अन्त मे शाल-भवनो की सज्ञाओं पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। हमने देखा कि बहुत-से प्रभेद पर्यायमाला के रूप मे दिखाये गये है—इसका क्या रहस्य है? बात यह है कि स्थापत्य-शैलियो का विकास सांस्कृतिक एव राष्ट्रीय चेतनाओ से तो सम्पन्न होता ही है साथ ही जनपदीय सस्कारो, व्यवहारों एव श्रुतियो तथा अनुश्रुतियो के द्वारा भी यह विकास कम प्रभावित नही रहता। धर्म की चेतना और उसका प्रमुख प्रभाव स्थापत्य पर सुदीर्घ काल से रहता आया है। वास्तव में भारतीय स्थापत्य धर्म के क्रोड से ही उत्पन्न हुआ है। अतः जिस प्रकार मानसार आदि शिल्प-ग्रन्थों मे भवनो के नाम जनपदो, पर्वतो के साथ-साथ देवो के नामो के आधार पर रखे गये हैं, उसी तरह यहाँ पर शुभ और अशुभ प्रभेदो के अनुरूप क्रमश शुभ (मंगलमय) तथा अशुभ (अमागलिक अथवा विनाशकारी) नामो से वर्णन हुआ है। क्योंकि इन शाल-भवनो की विन्यास-प्रक्रिया का मौलिक आधार शुभाशुभ व्यवस्था है जिसका निर्धारण प्रस्तार से किया जाता है। आज भी हम अपने गृहो को शुभ नामो से पुकारते है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा स्थापित विद्यापीठ तथा वहाँ के अन्य अधिष्ठानो के नाम शान्तिनिकेतन, श्रीनिकेतन आदि है। ये नाम इन शाल-भवनो में विद्यमान है—यह हम देख ही चुके है। आगे हम देखेंगे कि प्रासादों—देवमन्दिरो के कैसे-कैसे मगलमय नाम होते हैं। यहाँ पर मगलमय भवनों के नाम मागलिक है और अमगलमयो के अमागलिक। भारतीय स्थापत्य मे कुछ नाम सर्वप्रशस्त एव सर्वविख्यात है, जैसे सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक आदि। ये नाम नगरो, भवनो, प्रासादो, सभी के लिए आये है। अतएव शाल-भवनो मे मूर्धन्य चतुश्शाल भवन के इस भवन-स्थापत्य मे भी ये ही पाँच नाम अधिक प्रसिद्ध है।

३

भवन-निवेश एवं भवन-रचना

विशेषता एवं वर्गीकरण

भवन-निवेश का सर्वप्रथम अंग वास्तु-पदों का प्रकल्पन है। इस सम्बन्ध में हम पहले (दे० पुर-निवेश) प्रतिपादन कर चुके हैं। उस दृष्टि से भवन-विन्यास का प्रथम अंग वास्तु-विन्यास है। यह विन्यास एक प्रकार से पूर्ण धार्मिक कृत्य के रूप में सनातन काल से इस देश में प्रवर्तमान है। आजकल भवन-निवेश में सर्वप्रथम कृत्य भवन की रूपरेखा का निर्माण अभीप्सित होता है। इसी को हाउस-प्लान के नाम से पुकारा जाता है। हाउस-प्लान व्यक्तिगत इच्छा अथवा रुचि पर आश्रित नहीं रहता। विभिन्न नगर-पालिकाओं के विभिन्न भवन-नियम अथवा 'बिल्डिंग बाइलाज़' होते हैं जिनकी कसौटी पर ये हाउस-प्लान जाँचे जाते हैं। प्राचीनों ने भी भवन-निवेश में बहुत से ऐसे ही नियम निर्धारित कर रखे थे और उनको धर्म की आड़ में पूर्णरूप से पालन करने के लिए प्रत्येक भवन-निर्माता के लिए अनिवार्य कर रखा था। अतः इस अध्याय में भवन-निवेश के सामान्य स्वरूप का उद्घाटन करते हुए हम प्राचीनों के भवन-निवेश सम्बन्धी नियमों एवं उपनियमों का निर्देश करेंगे।

भवन-निवेश के वास्तु-पद तथा दिक्साम्मुख्य, दो आधारभूत सिद्धान्तों की समीक्षा हो चुकी। अब भवन की सुन्दर योजना के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक सिद्धान्तों का विवेचन होना चाहिए। इन्हीं को सुन्दर भवन एवं उसके सुखद वास का नियामक एवं विधायक माना जाता है। वैयक्तिकता, दृढ़ता तथा सौन्दर्य—ये ही भवन के प्रमुख गुण हैं। भवन न केवल भवन-वासी की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है वरन् अपना स्वरूप भी तदनुरूप प्रदर्शित करता है। एक आवास-भवन देव-भवन से बिल्कुल पृथक् रूप में दिखाई देना चाहिए। देव-भवन की आकृति एवं जन-भवन की आकृति एक-दूसरे से विलक्षण होनी चाहिए। इसी प्रकार सभा-भवन, सैन्य-सस्थान अथवा अन्य साधारण भवन भी अपने-अपने स्वरूप को अवश्य प्रकट करते हुए दिखाई देने चाहिए। वास्तु-कला में इसी को 'कैरेक्टर' के नाम से पुकारा जाता है। चूँकि प्राचीन भारत में भवन की आवश्यकताएँ परिमित थीं, अतः आजकल के विविध भेदों वाले रूपों की प्रकल्पना नहीं हुई थी। अतएव प्रधान रूप से तीन ही प्रकार के भवन-निवेश पाये जाते हैं — आवास-भवन, राज-भवन तथा देव-भवन।

भवन-स्वरूप के अनन्तर उसकी दृढता पर भी विचार आवश्यक है। भवन कई पीढियो तक रहने के लिए बनता है, अत उसके निर्माण मे दृढता सम्पादन का पूर्ण विचार आवश्यक है। भवन की तीसरी विशेषता उसका सौन्दर्य है। सौन्दर्य एकमात्र बाह्य दर्शन पर ही आश्रित नही, उसका सम्बन्ध अन्तरग सुविधा से भी है। भवन-निर्माण एक कला है। कला तभी निखरती है जब उसमे 'सुन्दर' का सन्निवेश होता है, परन्तु वह कला जिसमे 'सुन्दर' के साथ 'शिव' का समन्वय नही वह भी सत्य नही बन सकती। अत भवन न केवल हमारे नेत्रो के लिए आकर्षक हो वरन् जीवन के लिए सुखदायक और मगलमय हो। भवन के आकार, स्वरूप, वर्ण आदि के सम्यक् सयोजन एव भवनांगो के सुन्दर निर्माण पर ही भवन-निवेश पूर्णरूप से अधिष्ठित होता है। अत भवन-निवेश मे प्राचीनो के तीन प्रमुख सिद्धान्त है जिनको पारिभाषिक शब्दो मे इस प्रकार कहा जाता है—

१—छन्द-व्यवस्था, २—मान-व्यवस्था, ३—आय-व्यय-व्यवस्था।

छन्द

छन्द का साधारण अर्थ हम समझते है, उसका विशेष सम्बन्ध कविता से है। जिस प्रकार कविता मे छन्द के द्वारा सौन्दर्य प्रकट होता है जो कानो को ही सुखदायक प्रतीत नही होता वरन् चित्त को भी आह्लादित करता है। यही छन्दोव्यवस्था सगीत मे लय के नाम से पुकारी जाती है। आरोह-अवरोह के द्वारा सगीत का परिपाक होता है—सगीतज्ञो की कसौटी इसी पर आश्रित है और सगीत की गेयता भी। वास्तु-कला मे छन्द की अवतारणा का अभिप्राय भवन-रचना मे एक प्रकार का सुन्दर एव परिनिष्ठित परिपाक प्रस्तुत करना है। छन्द भवन की रचना को सयोजित करता है। इसको आजकल की इजीनियरिंग भाषा मे "डिस्पोजीशन आफ ए स्ट्रक्चर" अथवा "व्यू आफ ए स्ट्रक्चर" कहते है और उसी से भवन का खाका और आकाश के अनन्त अवकाश सम्बन्धित होते है जिसे "पर्सपेक्टिव व्यू" कहते है।

वास्तु-शास्त्र मे मौलिक छन्दो की सख्या ६ है, जिनको **मेरु, खण्डमेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट** तथा **नष्ट** के नाम से पुकारा जाता है। इन्ही मौलिक छन्दो से ३६ उप-छन्द भी निकलते है। संगीत के ६ मौलिक रागो को हम जानते ही है और यह भी जानते हैं कि उन्ही से ३६ रागिनियो की उद्भावना सगीत शास्त्र में की गयी है। काव्य में भी कुछ छन्द मौलिक है और आगे के अनेक छन्द एक प्रकार से उपछन्द ही है। इस प्रकार वास्तु-कला, काव्य-कला और सगीत-कला अपने मौलिक रूप मे किस प्रकार परस्पर समान हैं—यह हम अनुभव कर सकते है। चूंकि वास्तु-शास्त्र मे छन्दो का सम्बन्ध भवन के आकार से है, अत. आकार की रचना और उसका कला-प्रदर्शन

भवन-निर्माण-कला का प्रथम कौशल है। इन छन्दो की विस्तृत व्याख्या यहाँ पर स्थानाभाव से अभीप्सित नही है, हमारे 'वास्तु-शास्त्र' ग्रन्थ (अँग्रेजी) मे यह विषय पठनीय है। साधारण सकेत के लिए मेरु-छन्द का आकार पृथ्वी का आकार है, अथवा अपराजितपृच्छा के शब्दो मे "मेरुपम शरावस्यैव चाकृति" अर्थात् मेरु का आकार पृथ्वी प्रदान करती है और सादृश्य मेरु पर्वत तथा आकृति शराव (मिट्टी का कसोरा)। बहुत से भारत के प्राचीन मन्दिर इसी छन्द के परिचायक है। खण्ड-मेरु अपने नामानुसार अर्धगोल रूप का प्रदर्शन करता है। यदि हम वृत्त को बीच से काटे तो जो आकृति दिखाई पडेगी उसे खण्ड-मेरु समझना चाहिए। इसी प्रकार पताका-छन्द पताका के आकार मे अधिष्ठित होता है। इस छन्द मे स्तम्भो का न्यास विशेष सुगम होता है। फतेहपुर सीकरी के दीवानेखास का सिंहासन-स्तम्भ पताका-छन्द का निदर्शन है। सूची-छन्द कीर्तिस्तम्भ, दीपस्तम्भ आदि के निर्माण मे सहायक होता है। दिल्ली का कुतुबमीनार तथा ताजमहल के चारो मीनार इसी छन्द के निदर्शन है। जहाँ तक उद्दिष्ट और नष्ट की व्याख्या है, वास्तव मे वे स्वाधीन छन्द नही है। वे इनके घटक हो सकते है क्योकि पूर्वोक्त चारो छन्द वास्तु अर्थात् स्ट्रक्चर के रूप का निर्माण करते है। वास्तु के नाना रूपो को वास्तु-शास्त्रियो ने इन्ही चारो के रूपो मे परिणत कर रखा है। उद्दिष्ट और नष्ट रूप-निर्माण की प्रक्रियाओ के सूचक मात्र है और इनका उपयोग प्रस्तारो मे किया जाता है। उदाहरण के लिए '।।।।' इस प्रस्तार मे उद्दिष्ट के द्वारा हम यह बता सकेगे कि चार गुरुओ के प्रस्तार का यह १६वॉ रूप है। इसी प्रकार यदि हम इस प्रश्न को उलट दे और यह पूछे कि चार गुरुओ के प्रस्तार का १६वॉ क्रम क्या होगा, तो नष्ट की प्रक्रिया से हम यह बता सकेगे कि यह १६वॉ रूप '।।।।' है। विशेष विवरण पूर्वोक्त ग्रन्थ में देखिए। अस्तु, स्थापत्य मे इस छन्द के द्वारा जहाँ पर रचनाओ के रूपो का निर्माण निष्पन्न होता है वहाँ छन्द-बन्ध से जिस प्रकार सगीत मे अथवा कविता मे लय उपस्थित होती है, उसी प्रकार वास्तु-कला मे भी इन छन्दो के द्वारा एक प्रकार का कृति-समन्वय सम्पन्न होता है। स्थापत्य की इस निष्ठा के लिए मान-योजना बडी सहायक है। अत मान-मर्म स्थापत्य का दूसरा अति महत्त्वपूर्ण अग है।

मान-योजना

भारतीय स्थापत्य मे मान का बहुत महत्त्व है। मन्दिर हो या प्रतिमा, यज्ञवेदी हो या शाला, भवन हो या पुर; सभी को 'मेय' होना आवश्यक है—"यच्च येन भवेद् द्रव्य मेय तदपि कथ्यते"— मेय वास्तव में भारतीय स्थापत्य का प्राण

है। जब तक मान-योजना के द्वारा मन्दिर अथवा प्रतिमा नही निर्मित होती है तब तक न वह मन्दिर है न वह प्रतिमा —

प्रमाणे स्थापिता देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति हि । (स० सू० ४०, १४)

भवन मे मान-योजना के महत्त्व पर इस औपोद्घातिक संकेत के उपरान्त भारतीय मान-योजना के सम्बन्ध मे कुछ विचार करना आवश्यक है। मान-योजना को शिल्प-शास्त्र में 'हस्त-लक्षण' (दे० म० सू०, ९वाँ अ०) कहा गया है। हस्त की महत्ता पर स० सू० का प्रवचन है (दे० अ० ८, १-४)—"हस्त ही समस्त प्रकार के वास्तु का (निर्माणार्थ पदो-प्लाट्स का) हेतु (कारण) है। बिना हस्त के कोई भी निर्माण सम्भव नही। यह सभी कर्मों का आधार है। मान, उन्मान एव विभाग आदि अनिवार्य वास्तु-योजना के अगों के निर्णय करने मे एकमात्र सहायक हस्त ही है।" भवन तथा भवन-गत प्रतिमा एव प्रतिमा-गत समस्त प्रकार की मान-व्यवस्था, जैसे परिधि, उदय (ऊँचाई), विस्तार तथा लम्बाई का एकमात्र हस्त ही साधन है। यह हस्त जिसे गज कहिए या फुट कहिए, ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का माना गया है। आजकल के गज को गिरह मे बाटते है, फुट को इचो मे तथा सेन्टीमीटरों मे। प्राचीन हस्त, जिसको आधुनिक नाप में डेढ़फुटा कह सकते है, निम्न प्रकार से अपनी विभिन्न नाप मालिका मे विभाजित था—

८ रेणु	= १ बालाग्र	८ यवमध्य	१ ज्येष्ठ अगुल
८ बालाग्र	= १ लिक्षा	७ यवमध्य	= १ मध्यम अगुल
८ लिक्षाए	= १ यूका	६ यवमध्य	१ कनिष्ठ अगुल
८ यूकाएं	= १ यवमध्य	२४ अगुल	= १ हस्त

हस्त-विभाजन—हस्त मे २४ अगुल होते है। इसकी विविध सज्ञाओं का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ पर इसकी विभाजन-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिए। इसमे तीन-तीन अगुल पर एक-एक पर्वरेखा करने से आठ पर्वरेखाएँ बनती है। चौथी पर्वरेखा पर आधा हस्त होता है। प्रत्येक पर्वरेखा पर पुष्प का चिह्न बनाना चाहिए। मध्य भाग से आगे के पाँचवे अगुल के दो भाग, आठवे अगुल के तीन भाग तथा बारहवे अगुल के चार भाग करने चाहिए। इस प्रकार से प्राचीन हस्तो का निर्माण होता था। स्थपति के लिए उपयुक्त अन्य माप-दण्डों पर इस अध्याय के अन्त मे उल्लेख किया जायगा।

हस्तनिर्माण-काष्ठ—हस्त का निर्माण जिस किसी भी वृक्ष की लकड़ी से नहो हो सकता। हस्त की लकडी खदिर (खैर), अजन, वश (बाम) आदि वृक्षो से लेनी चाहिए। पुन यह लकडी श्लक्ष्ण (चिकनी तथा सुन्दर), हीरदार(लम्बी-सर्पाकृति), मनोरम तथा सारवत् (पुष्ट) होनी चाहिए। गाँठ वाली (ग्रथिल), छोटी

(लघु), जली हुई (निर्दग्ध), पुरानी (जीर्ण), फटी (विस्फुटित), कमजोर (अदृढ़) तथा कोटराक्रान्त (पशु-पक्षियों के कोटरों वाली, खोखली) दारु (लकड़ी) हस्त-निर्माण के लिए अच्छी नहीं होती (म० सू०, ६, १०-१२)।

त्रिविध हस्तसंज्ञाएँ—हस्त के ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन भेद हैं, इनके नाम क्रमश: 'प्रशय', 'साधारण' एवं 'शय' अथवा 'मात्राशय' हैं। हस्त २४ अगुलों का होता है। जिस हस्त का प्रत्येक अगुल ८ यवों के परिमाण से प्रकल्पित हो उसे ज्येष्ठ अथवा 'प्रशय' हस्त कहा गया है। इसी प्रकार जिस हस्त के अगुल सात यवों से प्रकल्पित हो वह मध्यम अथवा 'साधारण' हस्त के नाम से पुकारा जाता है। तीसरी कोटि के हस्त (कनिष्ठ, 'शय' अथवा 'मात्राशय') के प्रत्येक अगुल ६ यवों से प्रकल्पित होते हैं।

किस हस्त से कौन-कौन प्रकारों की माप करनी चाहिए इसके लिए यह ज्ञातव्य है—

प्रशय का प्रयोग—पुर, खेट या ग्राम के निवेश मे विभाग, आयाम, विस्तार, परिखा, द्वार, रथ्या (छोटी सडके), मार्ग (बडी सडके), सीमाक्षेत्र, वन, उपवन, देशांतर-विभाग, मार्ग-माप-योजना, क्रोश, गव्यूति आदि के प्रमाण मे तथा प्रासाद (मन्दिर), सभा, भवन-निवेश मे प्रशय का प्रयोग करना चाहिए।

साधारण का प्रयोग—नलों की ऊँचाई, मूलपाद (नींव आदि), भूमि के नीचे के जलोद्देश, दोला, धारा-यन्त्र, पात-यन्त्र (आधुनिक नल) तथा यन्त्र आदि, गुहा-मदिर (शैलखात), सुरग तथा पगडण्डी आदि मे साधारण हस्त का प्रयोग होता है।

शय अथवा मात्राशय हस्त का प्रयोग—आयुध, धनुष का दण्ड, बाण, शय्या, आसन, कूप, वापी, शिल्पियों के औजार, हाथी, घोडे, मनुष्य, नौका, छाता, ध्वजा, बाजे (आतोद्य), गगरी (इक्षुयन्त्र), रसोई के बरतन, ढोल तथा नल्वदण्ड मे शय का प्रयोग करना चाहिए।

मानवर्ग

पुरातन वास्तु-परम्परा मे जिन-जिन मानों एव मापो का प्रयोग होता था उसका निर्धारण निम्न तालिका मे द्रष्टव्य है—

(विशेष सकेत यह है कि इन सभी मापो की इकाई अगुल थी)

१	अगुल	=	१ मात्रा	६	अगुल	=	चौथाई हस्त
२	,,	=	१ कला	७	,,	=	१ दिष्टि
३	,,	=	१ पर्व	८	,,	=	१ तूणि
४	,,	=	१ मुष्टि	९	,,	=	१ प्रादेश
५	,,	=	१ तल	१०	,,	=	१ शयताल

१२ अगुल	-	१ वितस्ति	८४ अगुल	-	१ व्याम तथा पुरुष
१४ ,,	-	१ पाद	९६ ,,	-	१ चाप तथा नाडीयुग
२१ ,,	-	१ रत्नि	१०६ ,,		१ दण्ड
२४ ,,	-	१ अरत्नि	३० धनुष	-	१ नल्व
४२ ,,	-	१ किष्कु	१००० ,,	-	१ क्रोश

२००० धनुष - १ गव्यूति
४ गव्यूति - १ योजन

गणना (अंकसंख्या)—गणना का मान में महत्त्वपूर्ण स्थान है अत समरागण० ने अन्त में निम्न 'गणना' पर भी प्रवचन किया है। २० सख्याओ मे सम्पूर्ण गणना (गणित) का समावेश निम्न तालिका से स्पष्ट होता है—

१	एक	१	११	खर्व	१००००००००००
२	दश	१०	१२.	निखर्व	१०००००००००००
३	शत	१००	१३	शकु	१००००००००००००
४	सहस्र	१०००	१४	पद्म	१०००००००००००००
५	अयुत	१००००	१५	अबुराशि	१००००००००००००००
६	नियुत	१०००००	१६	मध्यम	१०००००००००००००००
७	प्रयुत	१००००००	१७	अन्त्य	१००००००००००००००००
८.	अर्बुद	१०००००००	१८	पर	१०००००००००००००००००
९.	न्यर्बुद	१००००००००	१९	अपर	१००००००००००००००००००
१०	वृन्द	१०००००००००	२०	परार्ध	१०००००००००००००००००००

कालसंख्या—

पलक गिरना	—	१ निमेष	१५ अहोरात्र		१ पक्ष
१५ निमेष		१ काष्ठा	२ पक्ष		१ मास
३० काष्ठा		१ कला	२ मास		१ ऋतु
३० कला		१ मुहूर्त	३ ऋतु		१ अयन
३० मुहूर्त	-	१ अहोरात्र	२ अयन	-	१ वर्ष

अन्य मान—हस्त के साथ-साथ लगभग सात प्रकार के और सूत्र शिल्पियो के सहायक थे। यह परम्परा जैसी प्राचीन एव मध्यकाल मे थी, वैसी ही आज भी है। शिल्पी के योग्य जिन आठ प्रकार के सूत्रों का सकेत किया गया है उनकी जिज्ञासा मे निम्न श्लोक समुद्धृत किया जाता है—

सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं कार्पासकं स्यादवलम्बसञ्ज्ञम् ।
काष्ठं च सृष्टयाख्यमतो विलेख्यमित्यष्टसूत्राणि वदन्ति तज्ज्ञाः ।।

सूत्रविदो ने आठ प्रकार के सूत्र माने हैं—

१—दृष्टिसूत्र—एकमात्र नजर फेर कर चुनाई आदि का अन्दाजा लगाना कि ठीक जा रही है या टेढ़ी-मेढ़ी ।

२. हस्त—(गज)

३ मूंज की डोरी

४. सूत की डोरी

५. अवलम्ब—(जिसे राज लोग माहुल कहते हैं)

६. काष्ठ (काठकोना)—(जिसे राज लोग गुनियाँ कहते हैं)

७ सृष्टि—(रेवल)

८. परकाल

टि०—यह मान-योजना भवन-मान-योजना है । प्रतिमा-स्थापत्य एव चित्र-स्थापत्य मे इस विषय की विशिष्ट सामग्री तत्तत् पटलो मे देखनी चाहिए ।

आय-व्यय-व्यवस्था

किसी भी भवन-रचना के लिए आय-व्यय-व्यवस्था एक अनिवार्य वास्तु-सिद्धान्त है । यह एक प्रकार का गणित है जिसकी गणना मे आय, व्यय, ऋक्ष (नक्षत्र), योनि, तिथि, वार एव व्यय का भी ज्ञान होता है । इसकी पारिभाषिक सज्ञा "आयादि षड्वर्ग" के नाम से प्रसिद्ध है । सभी शिल्प-ग्रन्थो मे इस व्यवस्था पर विवरण है परन्तु दो ग्रन्थो की व्यवस्थाएँ विशेष प्रचलित हैं—एक मानसारीय तथा दूसरी तन्त्रसमुच्चय की । तन्त्रसमुच्चय और मानसार की व्यवस्थाओ मे विषमता भी है, परन्तु वास्तु-विद्या, मनुष्यालयचन्द्रिका, शिल्परत्न आदि मे जो इस विषय की मीमासा है वह तन्त्रसमुच्चय की व्यवस्था से साम्य रखती है । समरागणसूत्रधार का आय-व्यय-विवेचन मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है । तथापि पूर्वोक्त प्रतिज्ञा के अनुरूप पहले हमे मानसार और तन्त्रसमुच्चय के अनुसार इस व्यवस्था के सूत्रो का उद्धरण करना है ।

मानसारीय व्यवस्था—

आय	शेष है	$\frac{\text{ल०} \times \text{८}}{\text{१२}}$	का
व्यय	,,	$\frac{\text{चौ०} \times \text{६}}{\text{१०}}$	,,
रिक्षा	,,	$\frac{\text{ल०} \times \text{८}}{\text{२७}}$	,,

योनि	शेष है	$\frac{\text{चौ०}\times 3}{8}$	का
वार	,,	$\frac{\text{ऊँ०}\times 9}{7}$	,,
तिथि	,,	$\frac{\text{ऊँ०}\times 6}{30}$	,,
अंश	,,	$\frac{\text{ऊँ०}\times 4}{9}$	,,

तन्त्रसमुच्चयीय व्यवस्था—

योनि	शेष है	$\frac{\text{पे०}\times 3}{8}$	का
व्यय	,,	$\frac{\text{पे०}\times 3}{14}$	,
अथवा	,,	$\frac{\text{पे०}\times 3}{10}$	,,
आय	,,	$\frac{\text{पे०}\times 8}{12}$	,,
ऋक्षा	,,	$\frac{\text{पे०}\times 8}{27}$	,,
तिथि	,,	$\frac{\text{पे०}\times 8}{30}$	,,
वार	,,	$\frac{\text{पे०}\times 8}{7}$	,,
वायम	,,	$\frac{\text{पे०}\times 8}{27}$	,,

टि०—ल० से लम्बाई, चौ० से चौडाई तथा ऊं० से न केवल ऊँचाई वरन् परिधि तथा मोटाई भी निर्देश्य है। पे० से पेरिमिटर समझना है।

इन सूत्रों में विशेष ज्ञातव्य यह है कि हर एक अंक समूह का निर्देशक है। योनि का अंक ८ ध्वज, धूम, सिंह, कुक्कुर, वृष, खर, गज तथा वायस का प्रतिनिधि है। आय का अंक अर्थात् १२ सिद्धि आदि का प्रतिनिधित्व करता है और व्यय का अंक ईश्वर आदि १४ गणों का निर्धारक है। ऋक्ष २७ नक्षत्रों का बोधक है और तिथि से

३० तिथियाँ (कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की) वेद्य है। वार—रवि, चन्द्र आदि ७ दिनों का बोधक है।

यह आयादि-षड्वर्ग एक प्रकार का वास्तु-सिद्धान्त है, जिसके अन्तस्तल में भवन के दिक्साम्मुख्य के सम्यक् ज्ञान का मर्म अन्तर्हित है, अर्थात् भवनगत प्रत्येक निवेश सम्यक् मान एवं द्रव्य से स्थापना योग्य होना चाहिए। पुनः शिव-भावना तथा देव-भावना एवं नक्षत्र-मण्डल का अधिराज्य—ये सभी किसी भी भारतीय चेतना के अधिनायक हैं, अतः इनका परिपालन आवश्यक है। नक्षत्र, तिथि, वार आदि की शुभाशुभ व्यवस्था का ज्ञान भी वाञ्छनीय है।

स्थापत्य-शास्त्र के इन विभिन्न मौलिक सिद्धान्तों की समीक्षा से स्पष्ट है कि भवनों की, विशेष कर शाल-भवनों की निवेश-प्रक्रिया में ये सभी सिद्धान्त अपनाये जाते थे। यहाँ पर शाल-भवनों के विभिन्न अंगों की ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई आदि के सम्बन्ध में थोड़ा-सा निर्देश करना है। स्थापत्य-शास्त्र में यह मान-योजना वर्णानुसार घटती-बढ़ती है। राजाओं के भवनों, ब्राह्मणादि विशिष्ट वर्णों तथा मन्त्री, सेनापति आदि उच्चाधिकारियों के भवनों में जो योजना विहित है वह निम्न वर्णों के भवनों में नहीं प्रयोज्य होती है। भारतीय स्थापत्य का सर्वप्रशस्त आकार चतुरस्राकार है। ऊँचे वर्णों के भवनों का चतुरस्राकार ही विहित है। इस आकार के अनुरूप जो लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई बतलायी गयी है वह क्रमशः अनुगत होती है। यहाँ भवन-निवेश के सम्बन्ध में एक-दो तथ्यों का और निर्देश करने के उपरान्त भवन-निवेश के नियमों और उपनियमों पर आयेंगे।

भवन-निवेश को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं—एक बाहरी और दूसरी भीतरी। मानादि योजना, छन्द-व्यवस्था, आयादि-षड्वर्ग, भवनांगों की रूपरेखा तथा उनके प्रकार—ये सभी भवन के बाहरी निवेश के घटक हैं। परन्तु, भीतरी निवेश भी बड़ी सावधानी से करना चाहिए। इसी को आधुनिक स्थापत्य में प्लैनिंग के नाम से पुकारा जाता है। 'प्लैनिंग' का तात्पर्य यह है कि 'हाउस' होम बन जाय, अर्थात् भवन आकार में ही भवन न हो वह व्यवहार में अपना घर हो जाय। बरामदा, बैठक, शयनकक्ष, पाकशाला, भोजन-शाला, भाण्डागार, पूजागृह, स्नान-गृह, सोपान, विश्रामशाला, अतिथिशाला, शिशु-शाला, पुरीषालय कहाँ-कहाँ पर निवेश्य हैं और किस तरह से निवेश्य हैं, जिससे भवनवासी को पूर्ण सुख-सुविधा और आराम ही न मिले वरन् स्वतन्त्रता एवं एकान्त का भी अनुभव हो।

भवन के भीतरी निवेश के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण विचार द्वार-विन्यास है। कमरों में दरवाजा कहाँ होना चाहिए—इस विषय पर 'भवनांग' में हम विचार करेंगे।

भीतरी निवेश के अन्य विचारो में आजकल की भाषा मे प्रास्पेक्ट, रूमीनेस, फर्नीचर-व्यवस्था, सफाई, अवकाश, सचार आदि भी बडे ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनका पालन भवन-निर्माता को अवश्य करना चाहिए। उदाहरण के लिए घर मे भोजनालय यदि पाकशाला के समीप नही है तो पाकशील महिला तथा पाक-भोक्ता मनुज दोनो के लिए अत्यन्त कष्टकारक है। इसी प्रकार भवनगत कमरो के विन्यास मे यह पहले ही विचार करना आवश्यक है कि उनकी योजना फर्नीचर-व्यवस्था के अनुगत होगी कि नही। भवन-निवेश के इस प्रकरण में हमें आदर्श भवनो के कुछ निदर्शनो पर विचार करना वाछित था परन्तु आगे (दे० 'आधुनिक भवन-निवेश मे प्राचीनो की देन') हम इस पर कुछ सकेत करेंगे। अब प्रतिज्ञात भवन-नियमो पर थोडा-सा दृष्टिपात करना है।

भवन-नियम (बिल्डिग बाइलाज)

यहाँ पर भवन-नियमों के सम्बन्ध मे यह बतलाना है कि भारतीय स्थापत्य-शास्त्र मे ये नियम कही एक स्थान पर नही लिखे गये है। लेखक ने इतस्तत बिखरे हुए कतिपय निर्देशो एव आदेशो को एकत्रित कर आधुनिको के मनोरजनार्थ 'बिल्डिग बाइलाज' का एक सग्रह बना रखा है, उसी से कुछ अश यहाँ पर उद्धृत किये जाते है। भवन के नियमो मे भवनगत सस्थानो के न्यास के साथ-साथ भवन-निवेश मे निर्माण प्रारम्भ आदि के शुभ अवसरो का दिग्दर्शन मात्र ही यहाँ अभीष्ट है। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि आधुनिक स्थापत्य मे बिल्डिग बाइलाज़ का मूल्याकन एक मात्र राजनीतिक अथवा सामाजिक व्यवस्था के रूप मे किया गया है। प्राचीनो ने इन नियमो को धर्म की प्रभुता मे ले जाकर इनको धर्मादेश के रूप म वर्णित किया है। आजकल हम बाइलाज का उल्लंघन बडी होशियारी से कर लेते है। प्राचीनो की पद्धति मे धर्म के कारण यह असम्भव था।

काल—वैशाख, श्रावण, मार्गशीर्ष, पौष तथा फाल्गुन मासो मे ही भवन-निर्माण आरम्भ करना चाहिए। इसी प्रकार पक्ष की द्वितीया, पचमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी, त्रयोदशी तिथियाँ निर्माण-प्रारम्भ के लिए विशेष प्रशस्त हैं। इस सम्बन्ध मे भवन-निर्माता को ज्योतिषी के द्वारा आय, व्यय, अश, तारा, नक्षत्र आदि का विचार करवा लेना चाहिए जिससे प्रशस्त मुहूर्त मे भवन-कार्य प्रारम्भ हो सके।

पद—समरागण० मे निवास-भवनो के लिए ४१ पदो का विधान किया गया है जो पेशे के अनुसार है। ऐसा विधान अन्य किसी भी शिल्पग्रन्थ मे अप्राप्त है। बात यह है कि समरागणसूत्रधार वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ ही एकमात्र वास्तव मे जन-स्थापत्य

(पापुलर अथवा सेक्यूलर या सिविल आर्किटेक्चर) का प्रथम सुव्यवस्थित सस्थापक है। निम्न तालिका द्रष्टव्य है —

१–चतुरस्र	राजा	१५–क्षुरोपम	गणाचार्य	२९–पशुप्रतिम	कैदी
२–शय्याकार	पुरोहित	१६–शक्तिमुख	व्रजाध्यक्ष	३०–विश्रावी	कलवार
३–दीर्घ	कुमार	१७–कूर्मपृष्ठ	माली	३१–श्वभ्राभ	मजदूर
४–वृत्तायत	सेनापति	१८–मदश	दर्जी	३२–युगल	नापित
५–शम्बूकाकार	वाहकगण	१९–व्यजनोपम	वाजिपोषक	३३– ?	कोषरक्षक
६–मम	अन्तःपुर	२०–शरावाभ	तक्षण	३४–त्रिकुष्ट	} वह्निजीवी
७–शकटाकार	वैश्य	२१–स्वस्तिक	वंदि-मागध	३५–पचकुष्ट	
८–भगसस्थान	वेश्या	२२–पणवाभ	{ वेणु तूर्य	३६–परिच्छिन्न	मानोपजीवी
९–दर्पणाभ	सुनार	२३–मृदगाभ	के वादक	३७–स्वस्तिक	चैत्य
१०–वज्रतम	नगरगोष्ठिक	२४–विशर्कर	रथी	३८–श्रीवृक्षप्रतिम	
११–शखसस्थान	पुत्राभिलाषी	२५–कबन्धप्रतिम	नीच,चाडाल	३९–वर्धमान	वृक्ष, यज्ञवाट
१२–छिन्नकर्ण	महामात्र	२६–यवप्रतिम	धान्यजीवी	४०–सेडीपद	गणिकाएँ
१३–विकर्ण	बहेलिया	२७–उत्सग	श्रमण	४१–नरपद	चोर
१४–शंखाभ	काने	२८–गजदतक	हस्त्यारोही		

वर्णानुरूप पद-व्यवस्था भी स्थापत्य-शास्त्र मे विहित है, परन्तु उसका विवरण यहाँ पर व्यर्थ है। इसी प्रकार वर्णानुरूप भवन-द्वारो और वास्तु-द्वारो की निवेश-व्यवस्था पर प्रचुर प्रवचन है। यह भी ज्ञातव्य है कि ये भवन-नियम विशेष कर आधुनिको की दृष्टि मे धार्मिक अथवा पौराणिक प्रतीत होते है, परन्तु निम्नलिखित कुछ नियम पठनीय हैं जिनमे लौकिक व्यवस्था पर भी प्रकाश पडता है—

भूमिका-न्यास—शूद्रो के लिए साढे तीन मजिल का भवन ही विहित है, उसमे अधिक भूमि का न्यास निषिद्ध है। इसी प्रकार वैश्यो के घरो मे साढ़े पाँच, क्षत्रियो के लिए साढे छः, ब्राह्मणो के लिए साढे सात भूमिकाओ से अधिक निर्माण निषिद्ध है। राजाओ तथा महाराजाओ के भी भवन साढ़े आठ भूमिकाओ से अधिक नही बनाने चाहिए। देव-भवनों मे यथेच्छ भूमिका-सख्या हो सकती है।

द्वार-निवेश—गृह-मध्य के बीच द्वार-निवेश अनुचित है। आमने-सामने के दोनो दरवाजे एकाकार मे नही बनाने चाहिए। ऊपर के तल के दरवाजो के नीचे नीचे के तल के दरवाजे होने चाहिए।

भवन-निवेश—निवास-भवन मे शालाओ के साथ-साथ अलिन्दो का होना आवश्यक है।

रचना-विच्छित्तियाँ तथा चित्रण—सिंहकर्ण तथा कपोत आदि रचनाएँ निवासभवन में नही होनी चाहिए। इसी प्रकार भवनो मे कौन से चित्र चित्रणीय है और कौन से अचित्रणीय, इसका भी पूर्ण विधान है (दे० आगे का अध्याय—'भवन-भूषा')।

भवन-वेध—भवन के निवेश मे मार्गवेध, शृगाटकवेध अथवा दूसरे भवन से वेध, द्वारवेध, वृक्षवेध से बचना चाहिए (विशेष विवरण आगे के अध्याय—'भवन-दोष' मे देखिए)।

वीथी-निवेश—भवन के दोनो ओर वीथियाँ वर्जित है—एक ही ओर विहित है।

भवन-रचना

भवन-निर्माण निवेश तथा रचना (प्लानिग एड कन्स्ट्रक्शन) दोनो ही है। पहले का सम्बन्ध विशेष कर शास्त्र से है, दूसरे का कला से। अत इस स्तम्भ मे दो विषयो की विशेष समीक्षा होगी—भवन-द्रव्य तथा भवन की चुनाई। अभी यहाँ पर जन-भवनो के द्रव्यो का विशेष वर्णन करना है, अत यह ज्ञातव्य है कि प्राचीनो के भवन-निर्माण का प्रमुख द्रव्य काष्ठ था। मृत्तिका, शिला आदि की यहाँ पर विशेष व्याख्या वाछित नही है। शाल-भवनो के निर्माण मे यद्यपि मृत्तिका का भी कम प्रयोग नही था तथापि उसकी शास्त्रीय व्याख्या भवन-निर्माण के प्रसग मे विशेष वाछित नही। वह तो सर्व-सुलभ द्रव्य था। हाँ, मृन्मयी मूर्तियों के निर्माण मे आवश्यक मृत्तिका की परीक्षा और चयन बडे ही वैज्ञानिक ढग से वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित है। वह भी अप्रासगिक होने से यहाँ उल्लेख्य नही है। अस्तु, द्रव्य के प्रकरण मे हम यहाँ पर केवल एक ही द्रव्य—काष्ठ का समीक्षण करेगे, जिससे प्राचीनो की द्रव्य-परीक्षा का पूर्ण आभास प्राप्त हो सकेगा। प्रतिमा-स्थापत्य एव प्रासाद-स्थापत्य मे ऐसे द्रव्यो की समीक्षा करने का अवसर मिलेगा ही।

द्रव्य—काष्ठ—सभी शिल्प-शास्त्रो मे भवनोचित काष्ठ के सग्रहणार्थ 'वन-प्रवेश' या 'काष्ठ-आहरण' के नाम से प्रवचन प्राप्त होते है। समरागण के वन-प्रवेश नामक अध्याय मे वन से किस प्रकार, किस तिथि मे, किन-किन वृक्षो मे काष्ठ आहरण करना चाहिए—यह बडे ही वैज्ञानिक ढंग से विवेचित किया गया है। प्राय ऐसी ही व्यवस्था विश्वकर्म-प्रकाश, मत्स्यपुराण, बृहत्सहिता आदि में भी प्रतिपादित है। यहाँ पर वन से भवनोचित काष्ठ लाने के लिए सर्वप्रथम विचारणीय विषय वन-प्रस्थान-मुहूर्त है अर्थात् शुभ नक्षत्र, तिथि, वार मे ही वन-प्रवेश विहित है। वन मे प्रवेश करने के बाद वृक्षो के लिए बलिदान—भोज्य एव पान देना आवश्यक है और छेत्ता (काटने वाले) को उपवास रखना आवश्यक है। पुन. उसे काष्ठ की परीक्षा करनी चाहिए कि वह काटने योग्य है या नही। बाल यानी नये और वृद्ध यानी पुराने वृक्षो का काष्ठ त्याज्य है। बाल-वृद्ध-परीक्षा

में वृक्षों का वर्ण, स्वाद, बल्कल सहायक होते हैं। प्रायः शाल-वृक्षों का काष्ठ भवनोचित प्रशस्त माना जाता है अतः समरागण में शाल-वृक्ष की अवस्था ३०० वर्षों की बतायी गयी है और जब तक वह ६६ वर्ष की अवस्था नहीं प्राप्त कर लेता तब तक भवनोचित काष्ठ के लिए उसे काटना समीचीन नहीं।

निम्नलिखित वृक्षों को *त्याज्य* बताया गया है—

१—श्मशानस्थ	१०—अप्रशस्तभूमिगत	१९—भ्रमर-सर्पादि का आश्रय
२—ग्राममार्गस्थ	११—गर्त मे स्थित	२०—पक्षिदूषित
३—तडागतटवर्ती	१२—वक्र	२१—मकड़ी के जाले से ढका
४—चैत्य या समाधि पर स्थित	१३—रूक्ष	२२—जन्तुभक्षित
५—आश्रमस्थित	१४—जला हुआ	२३—गजक्षत
६—क्षेत्रस्थित	१५—भग्न-शाख	२४—मार्गचिह्न
७—उपवन सीमान्तर्गत	१६—एक-द्विशाख	२५—रोगपीडित
८—विषमस्थलवर्ती	१७—अन्याधिष्ठित	२६—अतिबृहत्स्कन्ध
९—निम्न भूमिस्थित	१८—विद्युतक्षत	२७—अकालपुष्पफल वाला आदि

इसी प्रकार वे पेड जो काँटेदार, स्वादुफलप्रद अथवा क्षीरद्रुम और गन्धद्रुम हैं वे भी भवन-काष्ठ के लिए त्याज्य हैं। कर्णिकार, धव, प्लक्ष, कपित्थ, विषमच्छद, शिरीष, उदुम्बर, अश्वत्थ, शेलु, न्यग्रोध, चम्पक, निम्ब, आम्र, कोविदार, व्याधिघात आदि वृक्ष भी गृहकाष्ठ के लिए अप्रशस्त हैं।

वृक्ष-परीक्षा का अभिप्राय यह था कि ऐसे वृक्षों से लकडी लानी चाहिए जो दृढ हो और बहुत दिनो तक भवन के भार सहने मे समर्थ हो। शाल-भवनों के खम्भे, छतें, धरनें, दरवाजे आदि लकडी से ही बनते थे। अत. मजबूत काष्ठ का ही विनियोग वाछित था। इसके लिए खदिर, बीजक, शाल, मधूक, शाक, शिशपा, सर्ज, अर्जुन, अजन, अशोक, कदर, रोहिणी, विककत, देवदारु, श्रीपर्णी आदि वृक्ष उपयोगी बतलाये गये हैं। यदि वृक्ष के छेदन मे रुधिर निकले, अथवा वृक्ष मे कम्पन और शब्द प्रतीत हो, मधु, क्षीर आदि बहने लगे तो ऐसा वृक्ष नही काटना चाहिए। इसके विपरीत वह वृक्ष जिससे श्याम-स्नेहान्वित रस टपकने लगे, मूलों के कटने के बाद काफी दूर पर गिरे, कूजन करे अथवा वायु निकाले और उसका पतन पूर्व की ओर अथवा उत्तर की ओर हो तो वह बड़ा ही प्रशस्त वृक्ष है। इसी प्रकार के और बहुत से दर्शन-अदर्शन के द्वारा वृक्ष की शुभाशुभ परीक्षा की जाती थी।

चुनाई (चयनविधि)—*समरागण० के ४१वे अध्याय (चयनविधि) मे चुनाई की* कला का बड़ा ही वैज्ञानिक एव पारिभाषिक वर्णन देखने को मिलता है। इस ग्रन्थ को छोडकर अन्य शिल्प-ग्रन्थो मे चुनाई की प्रक्रिया का वैज्ञानिक उद्‌घाटन अप्राप्त है। अत. समरांगण की यह देन बडी महत्त्वपूर्ण है।

चय को डॉ० आचार्य ने 'प्लिथ' कहा है जो वास्तव मे अशुद्ध है। चय का यहाँ तात्पर्य चुनाई (मैंसनरी) से है। हिन्दी मे चुनाई को कही-कही चेजा कहा जाता है, जिसका अर्थ 'ब्रिकलेइङ्ग' अथवा रहा है। ग्रन्थ मे चुनाई की प्रक्रिया के उपपादन के प्रथम चुनाई के निम्नलिखित २० गुणो का वर्णन है, जिनको देखकर पाठक को यह निष्कर्ष निकालने मे देर न लगेगी कि चुनाई की इस प्रकार की सफाई प्राचीनो ने तो कही लिखी नही है, अर्वाचीन स्थापत्य-शास्त्र मे भी चुनाई के इतने गुण कही भी सम्भवत उपलब्ध न हो सकेंगे।

चयन के गुण

१—सुविभक्त	११—अकुब्ज
२—सम	१२—अपीडित
३—चारु	१३—समानखण्ड
४—चतुरस्र	१४—ऋज्वन्त
५—असम्भ्रान्त	१५—अन्तरंग
६—असंदिग्ध	१६—सुपार्श्व
७—अविनाश्य	१७—सधिसुश्लिष्ट
८—अन्यवर्हित	१८—सुप्रतिष्ठित
९—अनुत्तम	१९—सुसंधि
१०—अनुद्‌वृत्त	२०—अजिह्म

चयन-दोष

इन बीस गुणो का अभाव ही बीस दोषों की सृष्टि करता है—"एतेषा वैपरीत्येन दोषाणामपि विंशति" (स० सू० ४१ ४)। चुनाई मे किसी प्रकार की असावधानी नही बर्दाश्त की जा सकती। मान के अनुसार हस्त-कौशल की पराकाष्ठा चुनाई है। अत. चुनाई के दोष से बचने के लिए प्राचीनो ने भयावह दण्ड-विधान बना रखा है। उदाहरण के लिए दक्षिणी भित्ति यदि अपनी दिशा से बहिर्मुख हो जाती है तो गृहस्वामी के लिए यह अनर्थकारक है। व्याधि-भय निश्चित है। इसी प्रकार पश्चिमी भित्ति के बहिर्मुख हो जाने से धनहानि तथा दस्यु-भय निश्चित समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य दिशाओं की दीवारो का भी निर्देश है, उनके कर्णों को भी अपनी दिशा से बहिर्मुख नही होना चाहिए।

इससे यह ज्ञात होता है कि चुनाई में 'डिस्प्रपोर्शन' ही नहीं अप्रशस्त है वरन् यदि चुनाई द्वारा भवनगत निर्माणों में कोई गलती हो जाती है तो वे भवन सदैव के लिए अमांगलिक बन जाते हैं। इसका विस्तृत विवरण हमारे 'वास्तु-शास्त्र' प्रथम ग्रन्थ में मिलता है। अभी तक हम चुनाई के सामान्य सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डाल सके हैं। ग्रंथकार यही विराम नहीं लेता, चुनाई कैसे करनी चाहिए; इसकी पूर्ण प्रक्रिया चित्र के समान सामने लाकर उपस्थित करता है (दे० स० सू०, ४१. २१-२६)। इसी प्रकार आगे का सन्दर्भ (दे० २७-३३) भी पठनीय है।

अर्थात् "चुनाई करते समय आच्छादन अर्थात् गारा बहुत नहीं देना चाहिए और न ईंटों को एक दूसरी से बिल्कुल सटा देना चाहिए। जो ईंटें बराबर न हो उनको बसूली से छाँटकर बराबर कर लेना चाहिए। चुनाई में ऐसी सफाई होनी चाहिए कि साहुल के फेंकने पर चुनाई का कोई भी भाग उसको स्पर्श न कर सके। इसके अतिरिक्त दीवार की चुनाई के प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त में दृष्टिसूत्र से उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिए, अर्थात् चुनाई जब एक-दो फुट उठ चुकी हो तो साहुल तथा दृष्टि इन दो सूत्रों से उसके सभी भागों पर परीक्षण कर लेना चाहिए कि कहीं वह टेढ़ी-मेढ़ी तो नहीं जा रही है। वैसे तो एक कमरे की रचना में चारों ओर की दीवारों को एक साथ उठाना चाहिए, लेकिन जब चार या पाँच फुट तक का तल उठ गया हो तो फिर चारों ओर की एक साथ चुनाई बन्द कर देनी चाहिए और पाट बाँधकर एक-एक दीवार की चुनाई करनी चाहिए, क्योंकि ऊपर की चुनाई साथ-साथ करने से बड़ी कठिनता हो जायगी। चूंकि सभी दीवारों का पारस्परिक समन्वय रखना है अतः इस ऊपरी चुनाई में दीवार के दोनों ओर रचक (दाढ़ा) छोड़ देना चाहिए।"

इस प्रवचन को पढ़कर भी आजकल के विशेषज्ञ कहे जानेवाले लोग (जिनमें बड़े-बड़े नामधारी पुरातत्त्वविद्, ऐतिहासिक, कलासमीक्षक भी सम्मिलित है—(दे० आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेन्स के टेकनिकल साइंस सेक्शन के सभापतियों के भाषण) अपने इन प्राचीन शिल्पशास्त्रों को मनगढ़ंत और कपोलकल्पित अथवा अव्यावहारिक समझते हैं और अपना अज्ञान इन ग्रन्थों पर थोपते हैं।

४

भवनांग, भवन-भूषा तथा भवन-दोष

भवन-निवेश प्रकरण मे भवन के नाना अगो पर हमने निर्देश किया है। यहाँ उनकी सविस्तर समीक्षा आवश्यक है। वैसे तो भवन के अगो मे शाला और अलिन्द ही प्रधान है परन्तु यहाँ पर जिन भवनागो पर विचार आवश्यक है वे है द्वार तथा स्तम्भ।

द्वार

समरागणसूत्रधार मे द्वार पर विस्तृत विवेचन है। द्वार-निवेश भारतीय स्थापत्य का अति महत्वपूर्ण अग है। इस विषय पर सूत्र-ग्रन्थो मे भी बडी सुन्दर समीक्षा है। यहाँ सक्षेप मे प्रथम द्वारागो पर विचार कर लेना चाहिए। द्वार को प्रवेशन, निर्गम आदि कई नामो से पुकारा जाता है। इसकी चौखट के ऊपर जो लकडी अथवा निर्मिति होती है उसको 'उदुम्बर' कहते है। इसी उदुम्बर अथवा लिंटल के नीचे द्वार की स्थापना होती है। दोनो दीवारो का यह मध्यावकाश देहली के नाम से पुकारा जाता है। इसका दूसरा नाम कपाटाश्रय है। द्वार के अन्य घटको अर्थात् पल्लो को द्वारपक्ष, कपाटपुट, पक्ष, पिधान, वरण, द्वारसवरण तथा दोनो पल्लो को मिलाकर कपाटयुगल कहते है। द्वार का तीसरा अग कलिका अथवा अर्गला है जो दोनो दरवाजो को बन्द करने मे सहायक होती है। इसके तीन नाम और है—अर्गलासूची (यदि इसका आकार बडा है), परिघा (पुर-द्वारो तथा गोपुर-द्वारो की अर्गला) तथा फलीह जिसे गजवारण भी कहते है। इसके अतिरिक्त प्राचीन कला मे फलक, जाल, तोरण, सिहकर्ण आदि विन्यास भी द्वार के अग माने गये है।

द्वार-चौखट के घटको मे सात प्रमुख अग उल्लेख्य है—पेद्यापिण्ड-चतुष्टय, उदुम्बर, द्वारशाखा, रूपशाखा, खल्वशाखा, वाह्यमडला तथा भारशाखा। उदुम्बर के सम्बन्ध मे हम बता ही चके है। शाखाओ का अभिप्राय 'साइट फ्रेम्स' से है। इनके कुछ पारिभाषिक नाम भी है—देवी, नन्दिनी, सुन्दरी, प्रियानना, भद्रा।

इस प्रकरण मे मन्दिरो एव नगरो के गोपुर-द्वारो अथवा महाद्वारो एवं पक्ष-द्वारों का वर्णन अभिप्रेत नही (यद्यपि द्वार, दरवाजा और फाटक दोनो ही है), अत भवनोचित द्वारो की लम्बाई चौडाई और ऊँचाई तथा उनकी स्थिति के साथ-साथ उनकी भूषा और उनके वेध आदि का विचार अवशेष है।

द्वार-प्रमाण—साधारण नियम यह है कि दरवाजे की चौड़ाई से दुगनी ऊँचाई होनी चाहिए। वास्तव मे यह बडा ही वैज्ञानिक माप-विधान है, परन्तु यहाँ पर यह सावधानी होनी चाहिए कि चौड़ाई चार फुट या कम-से-कम साढे तीन फुट से कम न हो। आजकल के दुफुटे चौड़े एक पल्ले वाले दरवाजो का यह माप-दण्ड नही हो सकता। प्राचीन आचार्य बड़े दूरदर्शी थे, अत. उन्होने विश्वकर्मप्रकाश तथा बृहत्संहिता मे द्वारो की ऊँचाई चौड़ाई से तिगुनी निश्चित की है। समरांगण मे द्वार की ऊँचाई आदि के सम्बन्ध मे जो आदेश है वह और भी वैज्ञानिक है (दे० २८, १-७)—"द्वार का विस्तार गृह के विस्तार के अनुसार कल्पनीय है। मान लीजिए कि गृह अर्थात् कमरे का विस्तार १८ हाथ है तो दरवाजे का विस्तार १८ अगुल होगा, और इस प्रकार जो ऊँचाई निकले उसके आधे से चौडाई करनी चाहिए। चूंकि द्वार ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रभेदो मे विभाजित हो सकते हैं, अत. तीनो की अलग-अलग ऊँचाई और चौडाई बनानी चाहिए। यह नियम इसलिए रखा गया है कि जितनी ही ऊँची इमारते होगी उतने ही ऊँचे उनके दरवाजे होगे (दे० २४ अ० 'द्वारपीठ भित्तिमानादिक' भी)। निष्कर्ष यह है कि समरागण० द्वार की ऊँचाई चौड़ाई के दुगने से अधिक मानता है।

द्वार-स्थिति—किस दिशा का दरवाजा किस पद पर प्रतिष्ठित करना चाहिए, यह द्वार-स्थिति का विचारणीय विषय है। जहाँ कही दरवाजा नही लगाया जा सकता, परन्तु यहाँ पर यह विधान विशेष कर वर्णानुरूप विहित है। जहाँ तक पदानुरूप विधान है उस सम्बन्ध मे निम्न प्रवचन पर्याप्त है—

> पूर्वद्वार तु माहेन्द्रं प्रशस्तं सर्वकामदम्।
> गृहक्षतं तु विहितं दक्षिणेन शुभावहम्।
> गन्धर्वमथवा तत्र कर्तव्यं श्रेयसे सदा॥
> पश्चिमेन प्रशस्तं स्यात् पुष्पदन्तं जयावहम्।
> भल्लाटमुत्तरे द्वारं प्रशस्तं स्याद् गृहेशितुः॥

समरांगण मे चार विशिष्ट द्वार-कोटियो का भी वर्णन है—उत्सग, हीनबाहु, पूर्णबाहु तथा प्रत्यक्षाय। इनमे उत्सङ्ग वास्तु एव भवन के एकदिक् द्वारो को कहेगे जो मांगलिक माने गये हैं। हीनबाहु यथानाम निन्दित है, इसमे वास्तु-प्रवेश से भवन वाम पडता है अतः यह निवेश त्याज्य है। वास्तु-प्रवेश से भवन जहाँ दक्षिण है उसे पूर्णबाहु नामक द्वार कहते हैं और वह पूर्ण सिद्धियो का प्रवर्तक भी है। वास्तुद्वार का विनियोग जहाँ भवन-पृष्ठाश्रित है उसे प्रत्यक्षाय कहेगे। अतएव वामावर्त प्रवेश सिद्ध हुआ। यह भी दूसरी कोटि के समान अप्रशस्त है।

द्वार-स्थिति के सम्बन्ध मे यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि द्वार को मध्य मे कभी भी नही रखना चाहिए। यह 'सेक्यूलर प्लानिग' की विशिष्टता है—

मध्ये द्वारं न कर्तव्यं मनुजानां कदाचन।
मध्ये द्वारे कृते तत्र कुलनाशः प्रजायते॥

ऊपर के द्वारो की स्थिति नीचे के द्वारो की स्थिति के ऊपर ही होनी चाहिए ऐसा हम पहले ही लिख चुके है।

द्वार-गुण—द्वार के गुण द्वार की बनावट, उसके उचित उच्छ्राय आदि तथा उसमे प्रयुक्त दृढ एव स्निग्ध काष्ठ के साथ-साथ उसकी आकृति आदि से सम्बन्ध रखते है, अत. स० सू० (३६.३५-३६) में इन सब गुणो का समाहार निम्न प्रकार से है—

वह सुस्थित, चतुरस्र, कान्त, स्वद्रव्ययोजित, ऋजु, स्वकीय-दिग्भागशील, नह्रस्व, न-अत्युच्च, न-अल्प, न-कुब्ज, अपिडित, न-बहिर्गत, न-अध्मात, न-कृश, न-मध्यगत, न-अन्तरकुक्षिक, न-विद्रुत तथा न-सक्षिप्त होना चाहिए। ये ही उसके गुण है।

द्वार-दोष—द्वार-गुणो के विपरीत द्वार-दोष है, जैसे—कृश, विकृत, अत्युच्च, कराल, शिथिल, पृथु, वक्र, विशाल, उत्तान, स्थूलाग्र, ह्रस्वकुक्षिक, स्वपादचलित, ह्रस्व, हीनकर्ण, मुखानत, पार्श्वग, सूत्रमार्गभ्रष्ट। म० सू० ४८. ७३-७४ मे यह भी प्रवचन है कि दरवाजा बन्द करने पर यदि शब्द हो तो द्वार अप्रशस्त है। अपने आप जो दरवाजा बन्द हो जाता है वह भी अमागलिक है।

द्वार-भूषा—दरवाजो पर किसी-न-किसी चित्र के द्वारा उसकी शोभा बढाना एक अत्यन्त प्राचीन परिपाटी है। प्राय प्राचीन भवनो मे, विशेष कर मन्दिरो मे यह परम्परा सर्वत्र विद्यमान है। सादा दरवाजा वर्जित है। अतएव बृहत्सहिता, मत्स्यपुराण, सभी शिल्प-ग्रन्थों मे द्वार-भूषा पर प्रचुर प्रवचन प्राप्त होते है। समरागण मे भी यह वर्णन विद्यमान है. परन्तु यह ज्ञातव्य है कि द्वारो की भूषा का विशेष विधान देवालयो के द्वारो के लिए है। जो भूषा देवमन्दिरों मे विहित है वह निवास-भवनो मे आवश्यक नही। समरागणसूत्रधार के 'अप्रयोज्य-प्रयोज्य' नामक अध्याय में यही आशय विशदीकृत है। स्थापत्य मे भूषा-विन्यास का विषय बडा आवश्यक है। केवल दरवाजे ही नही, भित्तियाँ, सभाएँ, गुफाएँ, देवतायतन, शय्याएँ, पजर, आसन, यान, भाण्ड, अलंकार, छत्र, पताका सभी भूषा-योग्य हैं।

निम्न चित्रण द्वारो पर (विशेष कर भवन-द्वारो पर) विशेष प्रशस्त है—

१—कुलदेवता—परन्तु उसकी आकृति एक हाथ से अधिक नहीं होनी चाहिए।

२–दो प्रतिहार अर्थात् द्वारपाल––ये अलकृत, वेत्रदण्ड हाथों मे लिये हुए हो तथा खड्ग आदि धारण किये हुए, रूपसम्पन्न, विचित्राम्बर-भूषणधारी हो।

३–धात्री––वह बौनी और कुब्जा हो, साथ-साथ सखियो से परिवारित तथा विदूषको एव कचुकियो से अनुगत हो।

४––शख तथा पद्मनिधि––जो अपने मुखो से रत्नो और स्वर्णमुद्राओ को उगल रहे हो।

५–अष्टमगला––जो शख और मत्स्य की माला पहने हुए द्वार-मण्डल के मध्य मे विराजमान उत्तम गजो से स्नान करायी जा रही हो।

६–लक्ष्मी––पद्मासना, पद्महस्ता, स्वलकृता हो।

७–सवत्सा धेनु––जो स्वच्छ मालाओ से विभूषित हो।

द्वार-वेध––द्वार-वेध का तात्पर्य प्रकाश एव वायु के मार्ग मे रुकावट डालना है। अत यह एक प्रकार से भवनो के दिक्साम्मुख्य की अत्यन्त विकसित एव प्रौढ परम्परा पर आश्रित है। सूर्यकिरणो के स्वच्छन्द उपभोग तथा वायु के सचार मे जो बाधा हो सकती है वही दोष वेध के नाम से भारतीय-स्थापत्य मे कहा गया है। 'वेध' पारिभाषिक सज्ञा है, इसका बडा भारी विस्तार है। भवन के अगो से इसका सम्बन्ध नही बल्कि भवन के निकट नाना स्थानो के निवेशो एव वस्तुओ से हो सकता है।

वास्तु-शास्त्रो में एक सामान्य वेध-वर्गीकरण भी मिलता है। वह सप्तविध है–– तलवेध, कोणवेध, तालुवेध, कलापवेध, स्तम्भवेध, तुलावेध तथा द्वारवेध। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध द्वारवेध से है, अन्य वेधो का सकेत हम आगे 'भवन-दोष' मे करेगे। द्वारवेध मे द्वार-निर्मिति-दोष भी होता है जो सर्वथा वर्ज्य है। द्वार चत्वर, रथ्या ध्वजा, वृक्ष, पक, नाली, कूप, देवता आदि से यदि विद्ध है तो अनर्थकारी है। यहाँ पर इतना ही विशेष निर्देश अभीष्ट है कि द्वारवेध बचाना बडा कठिन है। अत वेधक वस्तु से दूर हटकर द्वार का निवेश अभीष्ट है। जो वस्तु वेधक हो रही हो (अर्थात् बीच मे पड़ रही हो) उससे भवन की ऊँचाई का दूना अवकाश छोड़ देने पर यह वेध शान्त हो जाता है। अतएव यह नियम प्राय सभी शिल्पग्रन्थो ने एक मत से स्वीकार किया है कि "भवन की ऊँचाई से दुगुना अवकाश (अर्थात् द्वार से उसके वेध तक) छोड़ देने पर वेध नही रहता।"

स्तम्भ

भवन का दूसरा प्रमुख अग स्तम्भ है, परन्तु भारतीय परम्परानुसार स्तम्भो की सुषुमा मन्दिरो के स्तम्भो में आवश्यक है। भारतीय-स्थापत्य में मन्दिर, गोपुर और स्तम्भ ये ही सर्वोपरि सुन्दरतम कला-कृतियाँ है। अशोक की लाटे एक प्रकार से स्तम्भ ही है। कुतुब की मीनार और ताजमहल की मीनारे भी एक प्रकार के स्तम्भ है। रामेश्वरम् की

प्रदक्षिणा में वर्तमान स्तम्भावली का साम्य कहाँ मिलेगा ? स्थापत्य में भवन की इसी महत्ता के कारण स्तम्भो के नाम पर शैलियो का नामकरण हुआ है। यह प्रथा भारत मे ही नहीं प्राचीन यूनान तथा रोम मे भी पूर्णरूप से प्रचलित थी। अत भवन-विन्यास मे स्तम्भ-रचना कितनी महत्त्वपूर्ण है यह हम जान सकते हैं। मनुष्य के शरीर मे पैर कितने उपकारी है यह जीवन-दर्शन किसको अविदित है। अत भवन का दर्शन स्तम्भ पर टिका हुआ है। हम यह पहले ही सकेत कर चुके है कि प्राचीनतम भवन-निर्माण के जो निर्देश (दे० सूत्रग्रन्थ) मिलते हैं उनसे सिद्ध होता है कि स्तम्भ ही भवन का प्रथम अग है। स्तम्भ को केन्द्रबिन्दु मानकर भवन-रचना की जाती थी।

समरागणसूत्रधार मे चार प्रकार के निवास-भवनोचित भवन-स्तम्भो का वर्णन किया गया है। वे है पद्मक, घटपल्लवक, कुबेर तथा श्रीधर। इन चारो की पारस्परिक विशिष्टता यह हे कि इनमे से प्रथम दो यद्यपि आकृति मे सदृश है परन्तु निर्माण की मौलिक प्रेरणा मे भेद रखते है, नामानुसार पहला पद्म की बनावट मे और दूसरा घट तथा पल्लवो की बनावट मे दिखाया जाता है। गुप्तकालीन स्तम्भो की घटपल्लव विच्छित्तियाँ (रचना) भारतीय स्थापत्य की अनुपम निधि है और गुप्त कला के उद्दाम प्रवाह की द्योतिका भी। अन्तिम दोनों के माडेल अथवा आदर्श वास्तव में पद्मक ही है परन्तु उनकी आकृति पहले दोनो से भिन्न है। क्योकि पद्मक और घटपल्लवक की आकृति अष्टास्र (अष्टकोण) है और कुबेर की षोडशास्र तथा श्रीधर की गोल।

स्तम्भांग—मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता तथा किरणतन्त्र मे स्तम्भ के अगो की निम्न लिखित आठ सख्या प्रतिपादित है, परन्तु समरागण के परिशीलन से स्तम्भ के अगो एव उपागो की सख्या लगभग ३४ प्रतीत होती है। यहाँ पर निर्देशमात्र अभीष्ट है। विशेष विवरण हमारे 'वास्तु-शास्त्र' ग्रन्थ मे द्रष्टव्य है।

मत्स्यपुराणादि ग्रन्थो के स्तम्भांग

१–वाहन, २–घट, ३–पद्म, ४–उत्तरोष्ठ, ५–बाहुल्य, ६–भार, ७–तुला, ८–उपतुला।

समरांगणसूत्र० के स्तम्भांग

१–स्तम्भकोटि, २–प्रणालिनी, ३–प्रतिपालन, ४–स्तम्भमूल, ५–मसूरक,
६–उत्कालक, ७–कुम्भिका, ८–स्तम्भपिण्ड, ९–पत्र, १०–रसना, ११–जघा।

उपांग–

१–तलपट्ट, २–बाहुल्य, ३–हीरग्रहण, ४–प्रवेशन, ५–त्रिकण्ट, ६–लम्बित,
७–अर्धचन्द्र, ८–खल्व, ९–तुम्बिका, १०–लम्बिका, ११–कण्टक, १२–पत्रजाति,
१३–पद्मपत्री, १४–मेढ्र, १५–तुला, १६–जयन्ती, १७–सचिपाल, १८–जयन्तिका,
१९–प्रतिमोक, २०–तिर्यह, २१–वेदिका, २२–जाल, २३–रूप, २४–कण्ठ आदि।

स्तम्भ-निर्माण में इन अंगों एवं उपांगों के साथ कला-कृतियों एवं विच्छित्तियों का विन्यास एवं चित्रण बड़ा ही परिष्कृत कर्म माना गया है। स्तम्भ की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के अनुरूप इन अंगों का किस मानक्रिया में विभाजन होना चाहिए इन सभी प्रश्नों पर शिल्प-ग्रन्थों में विशद विवेचन है, परन्तु स्थानाभाव से यह विवरण अधिक नहीं लिखा जाता है। अंत में यह भी सूचित करना आवश्यक है कि मानसार आदि ग्रन्थों में स्तम्भों की जो नामावली निर्दिष्ट है वह इस नामावली से पृथक् है, क्योंकि ये भवन-स्तम्भ हैं और वे विमान-स्तम्भ। विमान और भवन में कितना अन्तर है यह हम पहले बता चुके हैं। मानसार में स्तम्भों के पाँच प्रकार वर्णित हैं—ब्रह्मकान्त, विष्णुकान्त, रुद्रकान्त, शिवकान्त तथा स्कन्दकान्त। पहला चतुरस्र, दूसरा अष्टास्र, तीसरा षोडशास्र अथवा गोल, चौथा पचास्र तथा पाँचवा षडस्र। मानसार का यह विभाजन आकारानुरूप है परन्तु प्रमाण तथा भूषा आदि की दृष्टि से रखकर इस ग्रन्थ में पुनः स्तम्भों का विभाजन चित्रकर्ण, पद्मकान्त, चित्रस्तम्भ, पालिकास्तम्भ तथा कुम्भस्तम्भ—इन पाँच प्रकारों में किया गया है। अतः इस उत्तर विभाजन में स्तम्भों की संज्ञाएँ समरांगण के भवन-स्तम्भों से साम्य रखती हैं, जैसे पद्मकान्त तथा कुम्भस्तम्भ (मान०) पद्मक तथा घटपल्लवक (स० सू०) से। मत्स्यपुराण अपने स्तम्भों को रुचक, वज्र, द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त के नामों से कहता है।

अन्य भवनांग

यह पहले ही कहा गया है कि भवन के प्रधान अंग शाला तथा अलिन्द हैं। इन दोनों का परस्पर निवेश—शाला के व्यास का आधा अलिंद होता था। इन दो प्रमुख अंगों के साथ भवन का गर्भ, उसका प्रवेश तथा प्रवेश-प्रकोष्ठ भी कम प्रधान नहीं है। शाला अथवा कमरे के बिना घर ही नहीं कहा जा सकता, इसी के आधार पर इन जन-भवनों का नामकरण हुआ है। अलिन्द, जिसको आजकल बरामदा कह सकते हैं, शाल-भवनों का एक अति महत्वपूर्ण अंग है। गर्भ-गृह मानव-भवन में आंगन के नाम से कहा गया है। उसमें जो जलाशय हो वह ढँका रहना चाहिए। भवन का प्रवेश-द्वार प्राचीन नगर-निवेश की एक सामान्य परम्परा के अनुरूप एक प्रकार का जटिल विन्यास कहा जा सकता है, जिसमें भवन की रक्षा-व्यवस्था एक प्रकार से अनिवार्य थी। प्रवेश-द्वार देहली का अंग था और दो बड़े पल्ले (जिनको द्वारपक्ष अथवा कपाटपुट अथवा वर्ण या पिधान भी कहा जाता था) अर्गला अथवा कलिका के विन्यास से बन्द होते थे। पुर-द्वारों पर, जिनको प्रतोली या पौरी के नाम से पुकारा जाता था, न केवल रक्षा व्यवस्था ही बड़ी विशद रहती थी वरन् उनका निर्माण भी बड़ी कुशलता से होता था। प्राचीन भारत के स्थापत्य में भवन के प्रमुख अंग द्वार पर तोरण-विन्यास भी

बहुत ही आवश्यक समझा जाता था। तोरणो के नाना प्रकार थे, जैसे पुष्प-तोरण, रत्न-तोरण तथा हेम-तोरण, और इनकी एक रचना-विच्छित्ति सिह-कर्ण के नाम से पुकारी जाती थी। नागरी लिपि के 'ठ' के आकार मे इसे बनाया जाता था।

आजकल की भाषा मे भवन के प्रमुख अगो—कमरा, बरामदा, अन्त पुर आदि पर कुछ निर्देश हो चुका, अब मूषा अथवा भद्रा अथवा परिसर पर थोड़ा सकेत आवश्यक है। क्योकि इन्ही के न्यास से (जो एक से लगाकर बीस प्रभेदो मे परिगणित किया जा चुका है—दे० चतुश्शालादि भवन) शाल-भवनो के नाना प्रकार निष्पन्न होते है। वैसे तो मूषा का अर्थ हमने वातायन (खिडकी) माना है परन्तु बरामदा भी यदि वह छोटा है तो वह तथा छोटा दरवाजा एक प्रकार से बडी खिडकी ही है। ऐसे छोटे द्वार प्राचीन भवनो की विशिष्टता थी। अत ऐसे दरवाजो के प्रदेश को भी यदि मूषा, भद्रा और परिसर के नाम से पुकारे तो अनुचित न होगा। समरागण० का यह प्रवचन यहाँ पर स्मरणीय है—"अलिन्दशालयोर्मध्ये या स्यान्मूषेति सा स्मृता।" यहाँ पर 'या' का तात्पर्य 'कर्णशाला' से है। शाल-भवनो के अन्य अगों मे भित्ति एक प्रकार का सामान्य अग है परन्तु पट्ट भी वैसा ही है जिसे आजकल 'बीम' कहा जा सकता है। पट्ट और स्तम्भ तथा वातायनो के साथ-साथ मण्डप एव वीथी भी प्राय सभी भवन-निवेशो मे होती है। शाल-भवनो का जो वर्णन समरागण मे मिलता है उसके अनुसार भवन-निवेश के शाला आदि अनिवार्य अगो के साथ निम्नलिखित विशिष्ट अग भी उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक थे—

महानस	धारागृह	क्रीडागार
द्वारकोष्ठ	उद्यान	विहारभूमि
दर्पणगृह	जलोद्यान	अमेध्य भूमि आदि

भवन-रचना के प्रधान अगो का तो ऊपर कुछ उल्लेख हुआ, परन्तु उपागो की एक बहुत बडी सूची है जिसका उल्लेख हमारे वास्तु-शास्त्र प्रथम ग्रन्थ मे अवलोकनीय है। फिर भी उनमे से कुछ की समीक्षा सक्षेप मे आवश्यक है। प्रत्येक भवन मे सोपान का होना आवश्यक था। यह प्राय काष्ठमय था, अत निश्रेणी (नसेनी) के नाम से पुकारा जाता था। खिडकियो को वातायन, अवलोकन आदि के नाम से पुकारा जाता था। प्राचीन भवनो की एक विशेषता यह थी कि प्रत्येक छत मे एक छिद्र होना था जिसकी सज्ञा उलूक थी। छतो पर छज्जे होते थे जिनको विटक के नाम से पुकारा जाता था और उनके अनुषग निर्माण (साइड प्रोजेक्शस) जैसे वितर्दिका, निर्यूह, वलीक आदि नामो से पुकारे जाते थे। प्रत्येक घर मे नाली होती थी जिसको जलनिर्गम अथवा उदकभ्रम

नाम से पुकारा जाता था।* अस्तु, अन्त में भवनांगों के विवेचन के अवसर पर भवन की विच्छित्तियो का भी कुछ वर्णन आवश्यक था परन्तु यहाँ पर हम पुन. पाठकों को उस आधार-भौतिक तथ्य का स्मरण कराना चाहते है कि समरागण में भवन-वास्तु प्रासाद-वास्तु से सर्वथा पृथक् प्रतिपादित किया गया है। अत भारतीय स्थापत्य की नाना भवन-रचना-विच्छित्तियाँ वास्तव मे प्रासाद-वास्तु की शोभा है। इसलिए ये विच्छित्तियाँ जन-वास्तु मे वर्ज्य हैं। सिंहकर्ण, कपोतालि, घटा, कर्ण, अर्धपक्ष, ध्वज, छत्र, कुमार, पक्षिराज, समरालपल्ली, पत्रावलियाँ आदि प्रासाद की यदि शोभा है तो भवन के दूषण। हाँ, मरालपाली के निर्देश भवन-वास्तु मे भी अवश्य निर्दिष्ट किये गये हैं।

भवन-भूषा—भवन की भूषा का आश्रय भवन की विच्छित्तियाँ है, उन पर कुछ निर्देश हो चुका हे। अत इस स्तम्भ मे हमे भवन-भूषा के सम्बन्ध मे उस आधारभौतिक तथ्य का उद्घाटन करना है कि कौन-कौन से चित्रण जनवास्तु मे विहित है और कौन-कौन देववास्तु मे। अत. अप्रशस्त भूषा का अभाव ही भवन की भूषा है। मानवोचित भवनो की भूषा पर हम कुछ निर्देश द्वार-भूषा मे कर आये है। वास्तव मे द्वार-भूषा ही भवन की भूषा है परन्तु भारतीय स्थापत्य मे जो अगणित निदर्शन प्राप्त होते है उनमे ऐसे चित्रण प्राप्त होते हैं जिनकी मीमासा एक ग्रन्थ का विषय है। खजुराहो, भुवनेश्वर कोणार्क, मदुरा आदि प्रसिद्ध मन्दिर-पीठों पर जो चित्रण देखने को मिले हैं उनमे बहुसंख्यक बडे ही अश्लील चित्रण है। उनका क्या मर्म था और उनका क्या रहस्य था—इस विषय का उद्घाटन यहाँ पर अभिप्रेत नही है। आगे प्रासाद-स्थापत्य मे इसकी समीक्षा करने का कुछ प्रयत्न होगा। यहाँ पर यथासकेत कौन-सी योज्यायोज्य व्यवस्था भवन-वास्तु मे समरागण ने (दे० अ० ३४) प्रस्तुत की हैं उसकी सक्षेप मे अवतारणा करनी है। तदनुरूप समरागण मे राजाओं, सेनापतियों

* प्राचीन भारत के मकानों की छतें प्रायः छायी जाती थीं जो यहाँ के जल, वायु एवं जनपद के सर्वथा अनुरूप थीं। इन्हें छाद्य विन्यास के नाम से पुकारा जाता था। समरांगण की देन में छाद्य विन्यास के चार प्रमुख भेद थे—भूत, तिलक, मण्डल तथा कुमुद। इनका पारस्परिक भेद इनकी अपनी-अपनी ऊँचाई थी। भूत कम ऊँचा तथा कुमुद सर्वोच्च। छाद्य के अतिरिक्त भवन का दूसरा अति महत्त्वपूर्ण अंग तल था। तल का निर्धारण अथवा उसका उद्घाटन एक पारिभाषिक विषय था जो विस्तार के आनुषंगिक होता था—विस्तार हस्त मे चार हस्त जोड़ने से भवन का तल उद्घाटित होता था।

तथा ब्राह्मणादि वर्णों के भवनो में तथा सभाओ में, देवकुलो में अथच शय्याओं, आसनों, भाजनों, आभरणों, छत्रो, ध्वजाओ तथा पताकाओ मे कौन से चित्र योज्य हैं, कौन से अयोज्य—सभी पर विवेचन किया गया है। यहाँ पर हमे यह देखना है कि मानव-वास्तु में कौन से चित्रण अप्रयोज्य है और कौन से प्रयोज्य। मानव-वास्तु मे दैत्य, ग्रह, तारा, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पितर, प्रेत, सिद्ध, विद्याधर, नाग, चारण, भूतसघ, प्रतिहार, प्रतीहार्या, आयुध, अप्सराएँ, दीक्षित, व्रती, पाखण्डी, नास्तिक, भूखे, रोगी, कैदी, घायल, पागल, नपुसक, नगे, बहरे, दोलाएँ, गजबन्धन, देवासुरसग्राम, राजाओ के युद्ध, प्राणियुद्ध, मृगया रौद्र, अद्भुत, करुण, भयानक, बीभत्स आदि रस, कँटीले वृक्ष एवं गृध्र, उलूक, कपोत, श्येन, वायस आदि पक्षी, हाथी, घोडे, भैंस, ऊंट, बिल्ली, गदहा, वानर, सिंह, व्याघ्र, तरक्षु, वराह, जम्बुक आदि पशु—ये सभी प्रयोग के योग्य नही है। जो प्रयोग के योग्य है उनमे बहुतो की योजना पर हम द्वार-भूषा मे वर्णन कर आये है। यहाँ पर उनके अतिरिक्त भूषाओ पर थोडा-सा निर्देश किया जाता है।

गृह-वास्तु मे फलवृक्ष, पुष्पवृक्ष, पत्रावलियो, लताओ का बाह्य एव आभ्यन्तर भित्तियो मे चित्रण प्रशस्त माना जाता है। इसी प्रकार हस, कारण्ड, चक्रवाक आदि पक्षी विमिनीपत्रो पर विहार करते हुए प्रदर्शनीय हैं। चित्र-विचित्र आभरण एव अबर पहने हुए रतिक्रीडापरा नारियाँ छोटे-छोटे खेलने हुए कुमारो के साथ प्रदर्शनीय है। ऐसे वृक्ष जिनकी शाखाएँ खूब बढी-चढी हैं, उनमे नवीन पत्तो की कमी नही है तथा जो छाया, पुष्प एव फल के देने वाले है तथा चम्पक, अशोक, पुन्नाग, आम्र, तिलक, आदि वृक्षो से भी जो उद्यान की भूमियाँ शोभित है और जिनमे कोकिलाएँ कूक रही है तथा भ्रमर मधुर गुजार कर रहे है उनकी योजना गृह-वास्तु मे निश्चित है। अपने-अपने चिह्नो से चिह्नित ऋतुओ तथा अपने-अपने उपकरणो से सुशोभित दीर्घिकाएँ, पानभूमियाँ, प्रेक्षा-सगीतभूमियाँ भी बडी ही प्रशस्त मानी गयी है तथा उनका चित्रण भी योज्य के अन्तर्गत है। इसी प्रकार पजरस्थ चकोर, शुक, सारिका तथा मयूर आदि पक्षी भी शोभन-योजना के अन्तर्गत हैं।

भवन-दोष

भवन-दोष के तीन प्रधान विषयो पर हम पिछले प्रकरणो मे दृष्टि-पात कर चुके हैं। वे हैं वेध, त्रुटिपूर्ण रचना (डिफेक्टिव मैसनरी) तथा गृह-वास्तु मे अप्रयोज्य। जहाँ तक वेध का प्रश्न है वह द्वार मे ही सीमित नही है। वेध भारतीय स्थापत्य मे वह महा असुर है जिसकी बाँहे बड़ी लम्बी है अत किसी भी भवनाग को वह कवलित कर सकता है। इसलिए उससे दूर रहने की प्रबल प्रेरणा

भारतीय शिल्प-ग्रन्थो मे सर्वत्र समान रूप से पायी जाती है । अत इसके सम्बन्ध मे विशेष निर्देश प्रायः सभी भवनागो के निवेश मे फैले हुए है । उदाहरण के लिए दो-चार वेधो का यहाँ सकीर्तन पर्याप्त होगा । पीछे हम सप्तविध वेध की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कर आये है । घर की भूमि कही सम कही विषम, द्वार के सामने कुम्भी, कुएं या दूसरे घर का रास्ता है यह तो यह 'तलवेध' है । घर के कोने यदि बराबर नही है तो 'कोणवेध' समझिए । एक ही खण्ड मे पीठे नीचे ऊँचे हो तो उसको 'तालुवेध' जानिए । द्वार के ऊपर की पटरी पर मध्य भाग मे पीठा आये तो 'शिरवेध' बनता है । घर के मध्य भाग मे एक खम्भा हो अथवा अग्नि या जल का स्थान हो तो इसे हृदय-शल्य अथवा स्तम्भवेध के नाम से पुकारा गया है । घर के नीचे या ऊपर के खण्ड मे पीठे न्यूनाधिक हो तो 'तुलावेध' होता है । इन सब वेधो के अपने-अपने कुफल भी है जिनका विस्तार अनावश्यक है ।

वेध के अनन्तर भग का नम्बर आता है । इस पर समरागण० मे चार अध्यायो की अवतारणा हुई है (दे० अ० ४२, ४३, ४६ तथा ४७) । सम्भवत ऐसा भग-दोष वर्णन अन्यत्र अप्राप्य है । 'भग' का सम्बन्ध गृह-रचना के नाना अगो एवं उपागो से है । प्राचीन स्थापत्य परम्परा मे भग-दोष-जन्य व्याधियो एव कुपरिणामो का बडा ही विशद वर्णन है । सभी भगो की यहाँ पर अवतारणा व्यर्थ है, एक-दो उदाहरण पर्याप्त है । तोरण-भग विशेष रूप से यहाँ पर वर्णनीय है । ग्रन्थ यहाँ तक कहता है कि तोरण-भग राष्ट्र-भग का निर्देश करता है । इसी प्रकार अन्य भगो की गाथा है । द्वार-भग पर तो एक अध्याय (दे० ४३वाँ) ही पूरा का पूरा लिखा गया है ।

समरागण के भवन-दोषो मे कपोत-प्रवेश बडा ही विचित्र दोष है । भवन मे कदाचित् यदि इसका प्रवेश हो जाय तो बडा ही अमागलिक माना गया है । कपोत को ग्रन्थ ने कालमूर्ति, पापमूलकरण्डक, विहगापसद, कृष्णचारी विहगम माना है और इसकी चार जातियाँ मानी है—श्वेत, विचित्रकण्ठ, विचित्र तथा कृष्णक । भवन मे कपोत-प्रवेश पर शान्तिक विधान ही मे काम नही चलता वरन् भवन-स्वामी को क्रमश. अपनी सम्पत्ति का एक चौथाई, दो चौथाई, तीन चौथाई अथवा फिर पूरा का पूरा भाग ब्राह्मणो को दान कर देने का आदेश है । आजकल की सभ्यता मे यह आदेश कैसे समझ मे आ सकता है, परन्तु ग्रन्थकार ने तो तपोधन मुनियो को इसमे साना है—यह इन्ही मुनियो की व्यवस्था बतायी गयी है ।

अभी तक हम भवन के ऐसे दोषो पर विचार करते रहे जिनका आधुनिक दृष्टि मे धार्मिक महत्व विशेष है परन्तु स्थापत्यात्मक कम । किंतु कलात्मक दोषो के सम्बन्ध मे भी बहुत से विषयों पर ग्रन्थो मे प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है । कलात्मक अथवा

रचनात्मक दोषो मे वे ही दोष विशेष संकीर्तित किये गये है जिनका सम्बन्ध पद-विन्यास अथवा दिक्साम्मुख्य के नियमों के उल्लघन, भवनांगहीनता, अप्रशस्त चेय अथवा अनुचित द्रव्य-सयोग आदि से है। शालाओ की बडी सख्या पर हमने संकेत किया है। उनमें गुरु—लघु प्रस्तार के द्वारा हम अप्रशस्त न्यासो का पता लगा सकते है। इसी प्रकार कतिपय गृह-दोषो का सकीर्तन भवनागो के अनुचित विन्यासो के द्वारा सदोष भवनो के नाम से किया गया है, जैसे—

१–गृह-सघट्ट—एक ही भित्ति मे दो शालाओ का न्यास

२–वलित, चलित, भ्रान्त तथा विसूत्र—वलित-मुखविनिष्क्रान्त, चलित-पृष्ठनिष्कान्त, भ्रान्त, दिङमूढ, विसूत्र, कर्णहीन कहे गये है।

३–खादक—अन्यपृष्ठस्थितद्वार

४–विकोकिल—प्रत्यङ्गविशाल–गृह

५–मछत्र—बाह्योदक

६–सकक्ष—उभयोदक

७–सपरिक्रम—सावश्याय

८–सप्रभ—मुख, पृष्ठ, पार्श्व मे एक ही अलिन्द वाला

९–हीनबाहु—दे० द्वारप्रभेद

१०–प्रत्यक्षाय ,,

११–भिन्नदेह ,,

१२–छिन्नवास्तुक

१३–सक्षिप्त—यथानाम चारो ओर जिसमें चुनाई सक्षिप्त हो

१४–मृदगाकृति—अन्तसक्षिप्त, मध्यविस्तृत चेयवाला

१५–मृदुमध्य—आद्यन्त विस्तृत मध्यसक्षिप्त ,, ,,

कही-कही पर अलिन्दो के अनुचित विनिवेश से भी भवन-दोष हो जाता है, जैसे अलिन्द से शाला नीची नही होनी चाहिए, अथवा यदि एक भवन मे एक ही अलिन्द निवेश्य है तो उसे घर के सामने अथवा दक्षिण पार्श्व मे करना चाहिए, अन्यथा दोप निश्चित है। इसी प्रकार अलिन्द की एक विशेष कोटि हलकालिन्द है जिसका अनुचित विनिवेश बड़ा ही अप्रशम्त माना गया है। अस्तु, इसी प्रकार के अन्य नाना भवन-दोष है, जैसे भित्ति-दोष, स्तम्भ-दोष, तुला-दोष, द्वार-दोष आदि आदि। भवन-दोषो मे मर्मपीडन भी बड़ा ही अप्रशस्त माना गया है। मर्मपीडन का सम्बन्ध वास्तु-पदों से है, इस पर कुछ सकेत पीछे किया जा चुका है। अस्तु, अन्त मे निम्नलिखित भवन-दोषो की एक अतिलघु सूची यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

१–उच्चछाद्य	६–नष्टसूत्र	११–तुलातल	१६–विनष्ट
२–छिद्रगर्भ	७–शल्यविद्ध	१२–अन्योन्यद्रव्यविद्ध	१७–स्तम्भभित्तिक
३–भ्रमित	८–शिरोगुरु	१३–कुपदप्रविभाजित	१८–भिन्नशाल
४–वमितमुख	९–भ्रष्टालिन्दकशोभ	१४–हीनभित्तिक	१९–स्यक्तकण्ठ
५–हीनमध्य	१०–विषमस्थ	१५–हीन-उत्तमाग	२०–निष्कन्द
	२१–मानवर्जित	२२–विकृत	

उपसंहार

भवन-स्थापत्य के जिन तीन प्रमुख निवेशो की प्रतिज्ञा की गयी थी उनमे साधारण जनोचित वास-भवनो के निवेश पर जो स्वल्प मे यहाँ चर्चा हुई, उससे यह पता लगाना कठिन नही कि प्राचीन भारत की स्थापत्य-परम्परा मे जन-वास्तु (सिविल आर्कीटेक्चर अथवा पापुलर आर्कीटेक्चर) की भी एक विकसित पद्धति थी। अत प्रश्न उपस्थित होता है कि प्राचीनो से आधुनिक भवन-निवेश की समस्या को सुलझाने मे हमे कुछ पथप्रदर्शन मिल सकता है या नही। वास्तव मे भवन निवेश की जिस प्रक्रिया का हमने अभी तक चित्रण किया वह हमारी एक प्रकार से सास्कृतिक निधि है और साथ-ही-साथ इस देश के भौगोलिक वातावरण एव धार्मिक परम्पराओ के भी सर्वथा अनुरूप है। किसी भी जन-भवन के निवेश मे वहाँ के जनपद की विशेषताओ का मूल्याकन निवेशकर्ता स्थपति के लिए प्रथम कर्तव्य है। आजकल हम जिस शैली मे अपनी भवन-समस्या हल कर रहे है वह हमारे देश के भूगोल के बिल्कुल विपरीत है। हमारा देश उष्ण-प्रधान, कृषि-प्रधान तथा प्रकृति-प्रधान देश है। हमारे देश का अध्यात्म अरण्य-कुटीरो से विकसित हुआ। इस देश की सस्कृति मे आश्रमो की देन कितनी बड़ी थी, सरिताओ के कुल कितने महत्त्वपूर्ण थे, वृक्षो की छाया ने कितना योगदान किया—यह सब हम जानते है। फिर भी अनजाने-से, भूले-से, बेसुध हम मानव-जीवन की इस अनिवार्य आवश्यकता के हल करने मे अपना मुख पूर्व से हटाकर पश्चिम की ओर ले जाते है। उष्ण-प्रधान देश में नौ-नौ, दस-दस फुट ऊँचे एकभूमिक भवन क्या कभी सुखदायक एव जीवनोपयोगी साबित हो सकते है? ककरीट स्लेप क्या हमारे लिए, हमारे जलवायु को देखकर, कभी भी स्वास्थ्यवर्धक बन सकता है? अत धनाभाव से उत्पन्न यह अत्यन्त सकीर्ण एव अन-पकारक भवन-व्यवस्था की समस्या हल करने के लिए हमे प्राचीनो से भी कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भवन-स्थापत्य मे प्राचीनो की छाद्य-व्यवस्था (जिसमे षड्-दारुक आदि दारुमयी रचना विशेष अभिप्रेत है) के अनुकरण से हम इन छोटे-छोटे भवनो को भी जनपद एव जलवायु के अनुकूल बना सकते है। हाँ, जहाँ तक ऐसे भवनो की रचना का प्रश्न है जिनका सम्बन्ध वास न होकर व्यवसाय से है, जैसे राजकार्यालय,

मुद्राशालाएँ, यान-विरामस्थल आदि–आदि नाना पब्लिक प्लेसेज, उनकी छतों में भले ही हम ककरीट स्लेप का उपयोग करे परन्तु वास-भवन (जब कि उन्हे ऊँचाई पर अर्थाभाव के कारण ले जाने मे हम असमर्थ है) मे छाद्य-व्यवस्था ही समीचीन है। अत: जिस प्रकार से पुरनिवेश मे प्राचीनो के बडे ही उपकारक न्यासो, जैसे शाखानगर आदि आदि, की देन पर हम लिख आये हैं, उसी प्रकार भवन-निवेश मे समरागण० के ये शाल-भवन बड़े उपकारक हो सकते है और हमारी राष्ट्रीय भवन-समस्या को सुलझा भी सकते है। इनकी सविस्तर समीक्षा हमारे 'वास्तुशास्त्र' प्रथम ग्रन्थ मे द्रष्टव्य है।

५

राज-वेश्म

विभाजन

हमने भारतीय भवन-स्थापत्य की तीन कोटियाँ निश्चित की है—साधारण भवन, विशिष्ट भवन तथा असाधारण भवन। साधारण भवन का तात्पर्य साधारण-जनोचित वास-भवनो से है। विशिष्ट भवनो का तात्पर्य राजा आदि विशिष्ट व्यक्तियों, वणियो एव अधिकारियो के भवनो से ही नही है वरन् विशिष्ट कार्यो के लिए निर्मित भवनो से भी है, जैसे अश्वशालाएँ, गजशालाएँ, सभाएँ, यज्ञशालाएं आदि। भवन की तीसरी कोटि देव-भवन है जिसकी पारिभाषिक सज्ञा हमने प्रासाद मानी है। वह न विशिष्ट भवन है और न साधारण भवन, वह असाधारण भवन है यह हम आगे देखेंगे। यद्यपि प्रासाद शब्द परम्परा से राजाओं और देवो दोनो के भवनो के लिए प्रयोक्तव्य माना गया है—"प्रासादो देव भूभुजाम्"—परन्तु समरागण एव मत्स्यादि पुराणो मे प्रासाद शब्द का अभिप्राय देवमन्दिर से ही है। इसी मर्म के अनुरूप समरागण-सूत्रधार ने राज-भवनो के वर्णन मे राज-प्रासाद का शीर्षक न देकर 'राजनिवेश' एव 'राजगृह' नामक राज-भवनो (पैलेसेज) के निवेश मे दो अध्यायों की अवतारणा की है। राज-भवनो के निवेश मे तीन प्रधान परम्पराएँ है—राजपीठ, निवास-भवन तथा विलास-भवन। अतएव इस ग्रन्थ मे इन तीनो के अनुरूप दो अलग-अलग अध्याय लिखे गये है। राज-निवेश नामक पद्रहवे अध्याय मे ऐसे राज-भवनो के निवेश का वर्णन किया गया है जो निवास-भवन के साथ-साथ राज-भवन भी है। राज-गृह नामक ३०वे अध्याय मे जिन राज-भवनो का वर्णन है वे राजपीठ नही है, वे सामान्य निवास-भवन तथा विशिष्ट विलास-भवन है।

राजपीठीय राज-भवन—राजपीठीय राजभवन की निवेश-प्रक्रिया के सम्बन्ध मे पहले कुछ सामान्य तथ्यों पर सकेत करना आवश्यक है। यह राजपीठीय राजभवन राजधानी नगर अथवा दुर्ग का एक प्रमुख ही नही अनिवार्य सर्वप्रधान अग था। अत इसका निवेश नगर की रचना के आनुषगिक होता था। दूसरे, राजपीठीय राजभवन की जो निवेश-प्रक्रिया शिल्प-शास्त्रो मे वर्णित है वह अत्यन्त सर्वसाधारण, सर्वकालीन एव सुदृढ सस्था के रूप मे इस देश मे प्रकल्पित हुई और उसकी परम्परा उत्तर मध्यकाल में भी, यहाँ तक कि मुगलो के राजभवनों मे भी विद्यमान रही। जिस प्रकार

हमने भारतवर्ष की पुरनिवेश-पद्धति को बहुत प्राचीन काल से एक सामान्य रूप में अपरिवर्तनीय संस्था के रूप मे देखा, उसी प्रकार से यह राजभवन भी एक अति प्राचीन निवेश-परम्परा है। हम देखेगे कि वाल्मीकि–रामायण मे वर्णित राज-भवनो से लेकर दिल्ली या आगरा के किलो में निविष्ट राज-भवन प्राय एक ही परम्परा के अनुगामी हैं। इस परम्परा के अनुसार प्रत्येक राजपीठीय राज-भवनो मे कक्षाओ (कोर्ट्स) का होना आवश्यक ही नही अनिवार्य था। आस्थान-मण्डप, अन्त पुर आदि कक्षाओ के नाम से हम परिचित है। दीवानेआम और दीवानेखास की उत्तरमध्यकालीन राजभवनो की परम्परा से भी हम परिचित हैं। अस्तु, इस किंचित्प्राय उपोद्घात के अनन्तर अब हमे राज-निवेश अर्थात् उस राज-भवन (रायल पैलेस) की समीक्षा करनी है जो किसी महानगर अथवा राजधानी नगर की शोभा ही नही वरन् अनिवार्य अग था। समरांगण इस राज-निवेश नामक अध्याय के प्रतिज्ञा वाक्य मे ही इस तथ्य की ओर सकेत करता है। अर्थात जब पुरनिवेश के प्रमुख अगों, जैसे मार्ग-विनिवेश तथा चतुर्दिक् प्राकारादि विन्यास एव विभिन्न पदो पर भीतरी और बाहरी दोनो देव-वर्गो अर्थात् देवतायतनो की प्रतिष्ठा का निवेश सम्पन्न हो गया तो फिर उस नगर के केन्द्र मे पश्चिम की ओर हटकर तथा उत्तराभिमुखीन मैत्र पद वाले चतुरस्राकार प्रदेश पर राज-निवेश प्रारम्भ करना चाहिए। यह हम पहले ही सकेत कर चुके है (दे० प्रथम पटल) कि कोई भी रचना अथवा सृष्टि द्विविध विन्यास है—मानसी एव कलामयी। ब्रह्मा ने भी पहले मानसी सृष्टि की पुन भौतिकी, आधिदैविकी आदि। इस भौतिकी सृष्टि मे उन्हे एक कलाकार अर्थात् विश्व-कर्मा की सहायता लेनी पडी। तदनुरूप आज भी हम जब कभी कोई रचना–नगर-रचना या भवन-रचना प्रारम्भ करते है तो पहले उसकी योजना बनाते है। किसी भी निर्माण का मूल अग योजना है। अत इस अध्याय मे उस समय की परिस्थितियों—राजनीतिक, सामाजिक आदि के अनुरूप राजभवन की (जो कि एक राजपीठ भी है) कौन-कौन आवश्यकताएँ है, उन सबको दृष्टि मे रखकर इस राजपीठीय राजभवन की रूपरेखा निर्मित की गयी है। राजभवन का यह रेखाचित्र एक प्रकार का नगर-रेखा-चित्र है। यहाँ पर दूसरा तथ्य यह उद्घाटनीय है कि राजभवन का मान पुर के मान का आनुषगिक था। एक महानगर अथवा राजधानी नगर का सामान्य मान उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ है। पुन. नगर-प्रभेद के अनुरूप मान-प्रभेद भी है। इसी सामान्य सिद्धान्त के अनुसार इस राजभवन का समरागण मे उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ, त्रिविध भेद से प्रकल्पन किया गया है। अर्थात् उत्तम पुर मे उत्तम राजभवन तथा मध्यम पुर मे मध्यम राजभवन और कनिष्ठ पुर मे कनिष्ठ राजभवन। इन तीनो की छोटाई-बड़ाई यथानिर्दिष्ट मान-योजना पर आश्रित है।

मानसार मे भी राजगृह नामक एक अलग से अध्याय है और उसमें भी राज-भवन को उत्तम, मध्यम, अधम, त्रिविध रूप मे विभाजित किया गया है। विभिन्न राजाओं की प्रतिष्ठा के अनुरूप, जैसे चक्रवर्ती, महाराज (अथवा अधिराज), महेन्द्र (अथवा नरेन्द्र), पार्ष्णिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टभाज, प्राहारक तथा अस्त्रग्राही—राज-प्रासादो को भी नव वर्गों मे वर्गीकृत किया गया है और इन नवों-वर्गों का पारस्परिक विभेद विस्तार पर आश्रित है।

राज-निवेश के सामान्य सिद्धान्तो के इस उपोद्घात में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि यह नगर के मध्य मे प्रतिष्ठित होने पर भी अपनी निजी रक्षा-व्यवस्था से सम्पन्न होना चाहिए, अर्थात् प्राकार और परिखाओ से इसे भी गुप्त करना चाहिए और प्राकारादि-विन्यास के नाना घटको एव विविध रचना-विच्छित्तियो से इसे पूर्णरूप से अलकृत भी करना चाहिए। समरागण का यह स्पष्ट आदेश है कि राजभवन का निवेश बडा ही मनोरम एव आकर्षक हो। बात यह है कि किसी भी महानगर अथवा राजधानीनगर की शोभा प्राचीन काल मे और मध्यकाल मे भी राजभवन ही थे। यद्यपि इस विशाल देश के दोनो भूभागो पर मध्यकाल मे प्रोत्तुग एव विशाल विमानो तथा प्रासादो के उदय से भी नगर की शोभा सम्पन्न होती थी परन्तु पूजा-वास्तु की यह अतिरजना अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही कही जायेगी। महाकाव्यो मे राजभवनो के जो सुन्दर वर्णन मिलते हैं उनमे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि राजभवन ही प्राचीन नगर की शोभा थे। इस प्रकार राजभवन की जो रूपरेखा निर्मित हुई उसमे अभी बहुत कमियाँ प्रतीत होती हैं। सर्वप्रथम हमे द्वारो की ओर मुडना चाहिए। पीछे (दे० पुर-निवेश) हम द्वारो के कुछ प्रकारो पर सकेत कर चुके हैं। पुर-द्वार के समान राज-भवन के भी तीन प्रकार के प्रमुख द्वार होते हैं जिनमे गोपुर-द्वारो का प्रथम स्थान है। गोपुरो की छटा आज भी हमारी महती कलानिधि है। अत गोपुर-द्वारो के द्वारा एक भवन-विशेष मे आकर्षण तथा मनोरमता उत्पन्न करने के लिए प्राचीनो की परम आस्था प्रतीत होती है। मन्दिरो के गोपुर-द्वार मन्दिरों की महिमा है। राज-भवनो के गोपुर-द्वार भी उनकी गरिमा है। अत. राजभवन मे गोपुर-द्वारो का निवेश सर्वथा अभीष्ट माना गया है। यहाँ पर एक पारिभाषिक तथ्य यह है कि भारतीय स्थापत्य मे द्वार-प्रतिष्ठा पद-प्रतिष्ठा पर आश्रित है। वास्तु-द्वार तथा भवन-द्वार एक ही नही है। उदाहरण के लिए यदि राजभवन मे वास्तु-द्वार उत्तर की ओर है तो भवन-द्वार पूर्व की ओर। गोपुर-द्वारों के अतिरिक्त दो प्रकार के और द्वार है—महाद्वार तथा पक्षद्वार। इन महाद्वारो की प्रतिष्ठा राजगृह के विस्तृत पद पर चारो प्रमुख दिशाओ मे महेन्द्रादि नामो से महीधरादि पदो पर करनी चाहिए। पक्षद्वारो का प्राय. विदिशाओ मे विधान है। यहाँ पर यह आशय

भ्रान्त न होगा कि सम्भवत राजभवनो मे दो ही प्रकार के द्वार थे—महाद्वार तथा पक्षद्वार। गोपुरो का विन्यास महाद्वारो पर ही होता था। चारो प्रधान दिशाओं में जब इस प्रकार के चार महाद्वार अपने गोपुरो की छटाओ मे सुसज्जित खडे होते थे तो वे बडे ही आकर्षक तथा सुन्दर प्रतीत होते थे। पक्षद्वारो का एक बडा उपयोग था। राज-निवेश कोई छोटे-मोटे फासले पर तो होता नही था, अत महाद्वारो से आने-जाने मे बडी असुविधा हो सकती थी, अत बीच-बीच मे छोटे-छोटे द्वारो के न्यास से यह कमी पूरी की जाती थी।

राजनिवेश के नाना अग

राज-निवेश की वास्तु-शास्त्रीय रूपरेखा का यहाँ पर विशेष विवेचन न कर हम यह बतलाना चाहते है कि राज-निवेश के कौन-कौन से अग तथा उपाग थे जिनके द्वारा राजा का शासन कार्य तथा जीवन-यापन दोनो चलते थे। समरागण की निम्न सूची देखकर हम इस बृहत् निवेश का कुछ अनुमान लगा सकते है, परन्तु यहाँ पर यह स्मरण रहे कि यह राजनिवेश पद-निवेश का पूर्ण अनुसरण करता है। राजभवन के निवेश मे परमशायिक पद-विन्यास (८१ पदवास्तु) का अनुवर्तन होता है। अत ये जितने भी निवेश है वे किसी-न-किसी पद-देवता से सम्बन्धित है। चूंकि यह राजभवन एक बडा ही विस्तृत निवेश है अत इसी निवेश मे राजा के व्यक्तिगत निवास (राजमहल) के अतिरिक्त पुरोहितो, मन्त्रियो, सेनापतियो के घरो के साथ ही मन्त्रणागृह, अश्वशाला, गजशाला, शस्त्रशाला आदि आवश्यक निवेशो और राजभवनोचित नाना उपकरणो, जैसे धारागृह, लतागृह दारुशैल, वापी, पुष्पवीथी आदि का भी निर्माण वाछित था। प्रधान राजमहल के अतिरिक्त और भी राजमहल उसी निवेश के अग होते थे जहाँ पर राज-कुमारियो, राजकुमार और राजमाताओ आदि के निवास का विधान था। अस्तु, इस विश्लेषण के अनन्तर अब राजनिवेश की पूरी सूची देखनी है। पहला नम्बर राजमहल का है जिसकी प्रतिष्ठा मैत्र पद पर करनी चाहिए। इस प्रकार के राजमहल की सज्ञाओ मे परम्परागत कतिपय प्रशस्त नामो का ही सकीर्तन हुआ है, जैसे पृथ्वीजय, श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र तथा मुक्तकोण। हमारा यह अनुमान है कि यह प्रतिष्ठा निवासहेतुक नही, यह शासनहेतुक है और यही पर दरबार लगता था, दूसरे, राजाओं के दूत यही रहते थे और अन्य राजा लोग भी आकर यही ठहरते थे और आनन्द लेते थे। राजा का अपना निवास दूसरा ही होता था, यह स० सू० १५, १८ से पूर्ण स्पष्ट है। पूरी सूची प्रस्तुत करने के पूर्व यहाँ पर यह भी बता देना आवश्यक है कि राजा का अन्तपुर यद्यपि प्राकारपरिखागुप्त पूर्ण राजभवन का ही एक अग था तथापि उसे भी प्राकार-परिखागुप्त तथा गोपुरद्वारोपशोभित बनाना चाहिए—ऐसा निर्देश है। अस्तु, यहाँ

पर निवेशों के पदों का प्रकीर्तन न कर (पद रेखाचित्र में द्रष्टव्य हैं) नाम मात्र के निर्देश से भी हमारा बड़ा ज्ञानार्जन हो सकेगा।

१–गेह
२–धर्माधिकरण
३–कोष्ठागार
४–मृग-पक्षिस्थान
५–महानस
६–आस्थानमण्डप (सभाजनाश्रय)
७–भोजनस्थान
८–वाद्यशाला
९–वन्दिगृह
१०–चर्मायुध
११–स्वर्णरूप्यादिकर्मान्त
१२–गुप्ति
१३–प्रेक्षागृह
१४–सगीतगृह
१५–रथशाला
१६–गजशाला
१७–वापी
१८–अन्त पुर
१९–क्रीडालय
२०–दोलालय
२१–कुमारीभवन
२२–रानियों के उपस्थान
२३–अरिष्टागार
२४–अशोकवनिका
२५–स्नानगृह
२६–धारागृह
२७–लतागृह
२८–दारुगिरि
२९–वापी
३०–पुष्पवीथी
३१–पुष्पवेश्म
३२–यन्त्रकर्मान्त
३३–पानगृह
३४–कोष्ठागार
३५–आयुधशाला
३६–तीसरा कोष्ठागार (भाण्डागार)
३७–उलूखल
३८–शिलायन्त्र
३९–व्यायामशाला
४०–नाट्यशाला
४१–चित्रशाला
४२–औषधागार
४३–गजशाला
४४–गोशाला
४५–क्षीरगृह
४६–पुरोहितगृह
४७–अभिषेकमण्डप
४८–दानशाला
४९–अध्ययनशाला
५०–शान्तिगृह
५१–चामरच्छत्रधाम
५२–मन्त्रवेश्म
५३–मन्दुरा
५४–राजपुत्रवेश्म
५५–विद्याधिगमशाला
५६–राजमाता का घर
५७–शिविकागृह
५८–शय्यागृह
५९–आसनगृह
६०–कमलवन
६१–पितृव्य-भवन
६२–मातुल-भवन
६३–सामन्त-भवन
६४–देवकुल
६५–होराज्योतिर्विद्गृह
६६–सेनापतिवेश्म
६७–सभा

इस सूची को देखकर यह पता लगाना बड़ा कठिन है कि इनमें कौन-से निवेश वासोचित थे और कौन-से शासनोचित। अत यह कहना अनुचित न होगा कि प्राचीन परम्परा मे राजभवन एक प्रकार से शासन और निवास—दोनों के मिश्रण थे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि राजभवन की रूपरेखा का यह एक प्रकार से विकसित रूप है। मानसार मे राजनिवेशों के अगों की सूची चालीस-बयालीस से अधिक नहीं

है परन्तु यहाँ पर ड्योढी सख्या देखने को मिलती है अत. राजभवन का यह विकास महत्त्वपूर्ण है। परन्तु एक विशेष निर्देश यह है कि तीन या चार मानसारीय निवेश समरांगण के राजनिवेशो मे उपलब्ध नही होते, जैसे मेषयुद्धमण्डप, कुक्कुटमण्डप। अर्थात् जहाँ पर राजा लोग बैठकर मेष-युद्ध तथा कुक्कुट-युद्ध देखा करते थे, इनका समरांगण के निवेशों मे अभाव है। इसके अतिरिक्त कारागार भी समरांगण मे नही है। जिससे समरांगण-कालीन एव मानसार के समय का कुछ आभास हम पा सकते है।

राज-निवेश की कक्ष्या परम्परा

हम पहले ही कह चुके है कि राजनिवेश नगर-निवेश अथवा दुर्गनिवेश के समान एक सुसम्बद्ध तथा अपरिवर्तनीय पद्धति से सनातन से इस देश मे देखा गया है। हमारा प्राचीन साहित्य इस पर प्रमाण भी उपस्थित करता है। रामायण, हर्षचरित (दे० राजभवन वर्णन), कादम्बरी (दे० तारापीड का राजमहल वर्णन) आदि सभी पुरातन ग्रन्थो मे जैसी राजनिवेश की रूपरेखा प्राप्त होती है उसमे कक्ष्या या अजिरो (कोर्टस) का अनिवार्य साहचर्य है। इन कक्ष्याओ की सख्या एक ही थी ऐसा नही कहा जा सकता लेकिन कक्ष्याएँ अनिवार्य थी। अधिक-से-अधिक सात और कम-से-कम तीन तो विख्यात ही है। कादम्बरी मे वर्णित तारापीड के राजहर्म्य मे सात कक्ष्याएँ (अजिर) थी परन्तु हर्षचरित मे वर्णित हर्ष के राज-प्रासाद मे केवल तीन ही कक्ष्या है। वाल्मीकि ने दशरथ के महल मे पाँच और राम के महल मे तीन कक्ष्याओं का निर्देश किया है। अस्तु, प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कक्ष्याओ के सम्बन्ध मे हमारे वास्तु-शास्त्र क्या कहते है। मानसार मे जिस राजभवन के निवेश का वर्णन किया गया है उसको प्रधानतया दो उपनिवेशो मे विभाजित किया गया है—अन्तश्शाला तथा बहिश्शाला। सम्भवत. यह विभाजन मुगलो के राजमहलो का प्रतिबिम्ब तथा प्रतिष्ठापक भी है क्योंकि मुगलो के राजमहलो के विभाजन दीवानेखास (अन्तश्शाला) और दीवानेआम (बहिश्शाला) से हम परिचित ही है। यद्यपि मुगल-स्थापत्य और मुगल-कला की समीक्षा करने वाले विद्वानो ने सदैव परशिया की ओर अपना मुह रखा परन्तु वास्तव मे सत्य कुछ दूसरा ही है। आगे हम देखेगे कि मुगल-स्थापत्य मे जिन-जिन प्रधान कला-विच्छित्तियो को विद्वान् फारस की देन मानते है वे वास्तव में हिन्दू स्थापत्य की ही कला-विच्छित्तियाँ है और हिन्दू स्थपतियो की ही देन है (दे० वितान एव लुमा)। इसी प्रकार पठानो और मुगलो के हवा-महल जहाज-महल आदि राजनिवेश वास्तव मे फारस से लादकर नही लाये गये हैं वरन् हमारे शास्त्रो मे प्रतिपादित राजोचित विलास-भवन ही है। अस्तु, सारांश यह है कि राजनिवेश का विभाजन अन्तश्शाला और बहिश्शाला के रूप में अवश्य ही वैज्ञानिक एवं सुविधापूर्ण

प्रतीत होता है। महाराज भोज के द्वारा विरचित इस ग्रन्थ मे राजनिवेश के कक्ष्यानुरूप विभाजन का अभाव बडा खटकता है। इसके अन्तराल मे क्या रहस्य है—कुछ समझ में नही आता। यह तो बिल्कुल सीधी बात है कि जब प्राचीन राजभवन निवास और शासन दोनो के लिए ही काम आते थे तो फिर अन्तश्शाल निवासार्थ और बहिश्शाल राजकर्मार्थ उपयोज्य होना चाहिए। अत लेखक के मत मे समरागण० की यह त्रुटि शास्त्र-त्रुटि नही है। यदि हम ग्रन्थ का ठीक तरह से परिशीलन करे तो ऐसा पता चलता है कि पद-विन्यास के पाश मे फँसकर बेचारा ग्रन्थकार इस आधारभूत तथ्य को भूल गया। तथापि दो-चार जो और निर्देश मिलते है उनसे पता चलता है कि यह राजनिवेश कम-से-कम पाँच कक्ष्याओ का अवश्य होना चाहिए, दो बाहरी, दो भीतरी तथा एक मध्य मे। यह मध्य ब्रह्मस्थान के नाम से पुकारा गया है और यही पर अशुभ वेश्म तथा असुखावह निवेश विहित बताये गये है —

विमुञ्चेद् ब्रह्मण. स्थानमिन्द्रध्वजयुतं नृणाम् ।
तत्राशुभानि वेश्मानि निवेशाश्चासुखावहाः ॥

उपर्युक्त निर्देशो के विषय मे समरागण मे निम्न प्रवचन परिशीलनीय है—"शाला-परिक्रमोपेत"—स० सू० १५, १८। राजभवनो के निवेश के सम्बन्ध मे एक दूसरा अति महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि प्राचीन काल मे राजभवनो का निवेश देव-भवनो के निवेश के समान ही कल्पनीय था। समरागण ने भी इस परम्परा पर सकेत किया है—"इत्यास्पद सुरपदास्पदकल्पमाद्यम्"—स० सू० १५, १८। बात यह है कि प्राचीन काल मे राजा भी एक देवता था। तीन प्रकार के देवो मे राजा नरदेव था। देव, नृदेव (राजा) तथा भूदेव (ब्राह्मण) ये तीन देव थे। राजा को पाँचवाँ लोकपाल कहा जाता था। यही कारण है कि अमरकोश ने प्रासादो को देवो और राजाओ दोनो के लिए माना है—"प्रासादो देवभूभुजाम्"। यही कारण है कि प्राचीन भारत के राज-निवेश और मन्दिरनिवेश प्राय एक ही समान पनपे। आज भी बडे-बडे मन्दिर-नगरो की जो व्यवस्था और उनके देवता का जो आधिराज्य एव प्रभुता है उससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि दोनो मे यह साम्य तथाकथित नही है बल्कि प्राचीन सस्कृति के अनुसार सहज विकास को प्राप्त हुआ है। राजनिवेश के सामान्य स्वरूप पर हमने थोडा-सा विचार किया परन्तु आगे हम राज-प्रासाद और देव-प्रासाद के कला-साम्य पर भी विचार करेगे। पहले हम राजभवनो की समीक्षा कर ले।

राजगृह-प्रभेद

हम पहले ही कह चुके है कि समरागण मे पहले (दे० अध्याय १५) राज-निवेश अर्थात् "दि प्लैनिंग आफ रायल पैलेस" पर प्रवचन है तथा दूसरे अध्याय (दे० अ०

३०) में राज-भवनों के विविध प्रभेदों का वर्णन है। तदनुरूप अब राजगृहों पर कुछ विवेचन कर्तव्य है। राजगृहों के प्रमुख दो ही भेद हैं—एक निवास-भवन तथा दूसरा विलास-भवन। इस अध्याय में पहले निम्नलिखित निवास-भवन के दस प्रभेदों पर तथा पुन. पाँच विलास-भवन के प्रभेदों पर विवरण प्रस्तुत किये जाते हैं —

निवास-भवन

१—पृथ्वीजय	२—मुक्तकोण	३—सर्वतोभद्र	४—श्रीवत्स	५—शत्रुमर्दन
६—अवनिशेखर	७—भुवनतिलक	८—विलासस्तवक	९—कीर्तिपताक	१०—भुवनमण्डन

विलास-भवन

१—क्षोणीभूषण	२—पृथ्वीतिलक	३—श्रीनिवास
	४—प्रतापवर्धन	५—लक्ष्मीविलास

जहाँ तक इन भवनों के वास्तु-तत्त्व की समीक्षा का विषय है उसके मौलिक घटकों पर हमें यहाँ विचार करना है। राजभवनों की जो कला मध्यकाल में विकसित हुई वह लाट-शैली का प्रभाव था। लाट-शैली के सम्बन्ध में हम आगे (दे० प्रासाद-स्थापत्य-शैलियाँ) विवेचन करेंगे, यहां पर इतना ही निर्देश्य है कि 'लाट' प्राचीन गुजरात को कहते थे, वहाँ मध्यकाल में एक अति अलङ्कृत शैली का विकास हुआ जो आगे चलकर लाट-शैली के नाम से पुकारी गयी। इस शैली में भवनों का भूमिका-विन्यास एवं शिखर-कर्म बड़ा ही विशद एवं अलंकृत था। इसके बाह्य चित्रणों से भवन की सुषमा में चार चांद लग जाते थे। वास्तुशास्त्र की पारिभाषिक भाषा में इन चित्रणों में वितान, जिनकी संख्या २५ है, तुम्बिनी आदि ७ लुमाएँ, सिंहकर्ण, राजासन, मत्तवारण तथा मदला आदि विशेष रूप से संकीर्त्य हैं। इनमें से वितान और लुमा पर कुछ कहना अभीष्ट है। लुमा और वितान एक-दूसरे के पूरक हैं। लुमा को कहीं-कहीं पर लुपा के नाम से पुकारा गया है (दे० रामराज, 'एसे आन हिन्दू आर्कीटेक्चर,) जिसे हम आजकल डोम-स्थापत्य कहते हैं और जिसका बड़ा ही सुन्दर प्रदर्शन मुगल स्थापत्य में देखा गया है, वह वास्तव में फारस की चीज नहीं है, वह भारतीय वितानों की ही परम्परा है। वितान यथानाम एक प्रकार की कैनोपी है जो मध्यकालीन डोमों के रूपों में निर्मित होते थे और उनके घटकों और अंगों में लुमा-चित्रण अनिवार्य था। ये लुमाएँ एक प्रकार के [पुष्प-रचना-विन्यास थे। समराङ्गण० में निम्नलिखित २५ प्रकार के वितान और ७ प्रकार की लुमाओं का वर्णन है —

२५ वितान

१–कोलाबिल	६–पुष्पक	११–शखकुट्टिम	१६–कुमुद	२१–पुरारोह
२–हस्तिताल	७–भ्रमरावली	१२–शखनाभि	१७–पद्म	२२–विद्युन्मन्दार
३–अष्टपत्र	८–हंसपक्ष	१३–सपुष्प	१८–विकास	२३–कोल
४–शरावक	९–कराल	१४–शुक्ति	१९–गरुडप्रभ	२४–नयनोत्सव
५–नागवीथी	१०–विकट	१५–मन्दार	२०–पुरोहत	२५–वृत्तक

सप्तविध लुमा

१–तुम्बिनी	४–शान्ता
२–लम्बिनी	५–कोला
३–हेला	६–मनोरमा

७–आघ्माता

अन्त मे एक प्रश्न का समाधान आवश्यक है। विद्वानो मे यह विवाद है कि राजहर्म्य की अनुकृति प्रासाद मे है या प्रासादो (मन्दिरो) की अनुकृति राजहर्म्य है। इस विवाद का मौलिक समाधान करने की अपेक्षा वास्तु-तत्त्वो मे समाधान करना विशेष उचित है। हमारे मत मे राजभवन के विकास मे तीन प्रधान रचनाएँ प्रभाव रखती है। पहली को हम शालाओं के नाम से पुकार सकते है, दूसरी को सभाओ के तथा तीसरी को मन्दिरो के नाम से। जहाँ तक पहली दो रचनाओं का प्रश्न है, वे विवादग्रस्त नही है क्योंकि सभा-भवन का विन्यास (दे० महाभारत) तथा शाल-भवनो (दे० पुराण) की परम्परा अति प्राचीन है। मन्दिर की रचना तो विवादग्रस्त है ही। अत वह अनुकरण है अथवा अनुकार्य यही मीमासा करनी है। सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि राजभवन इन तीनो रचनाओ का मिश्रण है। शालभवनो के दो प्रमुख अगो—शाला और अलिन्द के बिना कोई भी प्रासाद-प्रभेद नही प्रकल्पित होता। अथवा जैसा ऊपर की समीक्षा मे सिद्ध है कि राजनिवेश मे अन्तश्शाला और बहिश्शाला दोनो का विनियोग तीन से शुरू कर सात कक्ष्याओ तक एक अति प्राचीन परम्परा है। वह परम्परा प्राचीन शाल-भवनो की ही देन है। चतुश्शालादि दशशालान्त जिन भवनो की रूपरेखा हमने देखी उसमे शालाओ की दीर्घता से अथवा अनेकता मे अलिन्द एव आँगन भी अधिकाधिक हो गये। शालभवन की यह विशेषता राजमहलो की प्रमुख विशेषता बनी। अलिन्द-न्यास से कक्ष्या-विन्यास सुतरा सम्पन्न हो जाता है। इन राजभवनो के सभी प्रकारो मे चार से कम अलिन्द किसी के नही है। अत. अलिन्द के सामने खुली हुई कक्ष्या का होना आवश्यक है। बृहत्संहिता की टीका में अलिन्द शब्द की जो व्याख्या मिलती है उससे मुगल राजभवनों की कक्ष्याओ की हिन्दू परम्परा का समर्थन प्राप्त होता है।

अलिन्द की व्याख्या देखिए—"अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बाह्ये या गमनिका जालकावृतागण-सम्मुखा क्रियते" अर्थात् अलिन्द शब्द से जालकावृत (लैटिसकवर्ड) उस मार्ग का अभिप्राय है जो दीवार के बाहर आँगन तक फैला है। अत अलिन्द और कक्षयाएँ तथा शालाएँ ही राजहर्म्य के प्रमुख अग थे। परन्तु इन अगो के विन्यास मे सभा-स्थापत्य ने बडा योग दिया। सभा-स्थापत्य बडा ही प्राचीन है, इसको 'हाल आर्किटेक्चर' के नाम से पुकार सकते है। इसकी प्रमुख विशेषता स्तम्भ-विन्यास है। सभाओ के जीवन स्तम्भ थे। वैसे तो हमारी सभ्यता मे—"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा.—" प्रसिद्ध है परन्तु हमारे स्थापत्य मे—"न सा सभा यत्र न सन्ति स्तम्भा.—" "विशेष सगत प्रतीत होता है। इन राजभवनो की कला मे स्तम्भ-विन्यास प्रमुख अग है। अत राजभवन की रचना मे सभाभवन की देन निर्विवाद है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजभवनो मे गोपुरो की सयोजना तथा शिखरो की भूषा अथवा वितानों और लुमाओ की सजावट कब से प्रारम्भ हुई। वास्तव मे कोई भी ऐसा स्थापत्य निदर्शन नही प्राप्त होता जिसमे इस प्रकार की सुन्दर कलाकृतियाँ, जो राजभवनो मे यहाँ पर प्रतिपादित है वे साक्षात्करणीय हो सके। पुरातत्त्वीय खुदाई मे तथा अन्य भग्नावशेषो मे जो राजनिवेशो के चित्रण प्राप्त होते है उनमे इस अलकृत चित्रण का सर्वथा अभाव है। प्राचीन पाटलिपुत्र के राजहर्म्य का वर्णन मेगस्थनीज के वृत्तान्तों मे प्राप्त होता है। यद्यपि वह काष्ठमय था तथापि प्रचुर चित्रणो का आकार था। भवन-द्रव्य कोई हो परन्तु भवन-भूषा विशेष कर राजभवन भूषा का यह ऐतिहासिक साक्ष्य कम-से-कम दो हजार वर्ष से भी दूर जाता है। यही नही, रामायण तथा महाभारत मे वर्णित राजभवनो मे भी जो चित्रण प्राप्त होते है वे भी अलकार-प्रधान है तथा महाद्वारो, गोपुरो, अट्टालको, प्रासादो, विमानो आदि की नाना वास्तु-विच्छित्तियो एव वास्तु-भूषाओ के ये निदर्शन बडे महत्त्वपूर्ण है। अत यह कहना कि राजभवनो मे यह अलंकृत योजना मन्दिरो की देन है, सर्वथा असगत नही। इस प्रकार राजभवन शालभवनो, सभाभवनो एव देवभवनो तीनो का मिश्रण है—यह भी कथन असगत नही। परन्तु भारतीय स्थापत्य मे जो मन्दिर-निदर्शन प्राप्त होते है वे प्राय मध्यकालीन कृतियाँ है। अथच राजभवनो के जो चित्रण अथवा चित्रण-सदर्भ प्राप्त होते है वे अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन है। तो फिर राजहर्म्य मन्दिर का अनुकरण है कि अनुकार्य यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। इसका समाधान कैसे हो। इस सम्बन्ध मे हमारे निजी कुछ विचार है जिन पर विशेष विवेचना 'प्रासाद-पटल' मे होगी।

मन्दिर के दो भेद है— प्रासाद तथा विमान। प्रासाद—हिन्दूमन्दिर राजहर्म्य का न तो अनुकार्य है न अनुकरण, परन्तु विमान राजभवन के अवश्य अनुकार्य है।

विमानो की परम्परा प्रासादो की परम्परा से भी पुरानी है। विमानो की रचना दक्षिणी शिल्प-विद्या की कला है जिसे असुरो और नागो ने पल्लवित, पुष्पित एव फलित किया था । नाग बडे तक्षण-कला-विशारद थे । स्थापत्य मे अलकृत चित्रण सम्भवत. उन्ही ने प्रदान किया । नागो की प्रिय कला विशेष कर पाषाण-कला थी। पाषाण-कला मे मानव-वास निर्माण इस देश मे बहुत दिनो तक निषिद्ध रहा, "शिलास्तम्भं शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्"—की परम्परा मे हम परिचित ही हैं। परम्परा का यह रहस्य मन्दिरो को राजभवन का अनुकरण कभी नही स्वीकार कर सकता । तारापद भट्टाचार्य ने (दे० 'ए स्टडी आफ वास्तुविद्या') मन्दिर को राजभवन का अनुकरण माना है, जो वह सर्वथा भ्रान्त है । मन्दिर या प्रासाद का जन्म वैदिक वेदिका से हुआ परन्तु राजभवन का जन्म नगर के गढ़ से हुआ । हम यह पहले ही कह आये हैं कि राजभवन न केवल निवास था बल्कि शासन-पीठ भी, परन्तु प्राचीन युग मे तो वह सैन्यावास भी था । यही घटक राज-निवेश मे सदैव वर्तमान रहे । कालान्तर पाकर जब सुन्दर-सुन्दर विशाल प्रासाद एव प्रोत्तुग विमान बनने लगे, तब राजभवनो मे भी कुछ रचनाएँ मन्दिरो से ली गयी, क्योकि राजा भी एक प्रकार से समाज मे देवता की प्रतिष्ठा के समान ही बडा प्रतिष्ठित व्यक्ति माना जाता था ।

६

विशिष्ट भवन

(सभा, मण्डप, वाजिशाला तथा गजशाला)

पीछे हमने मानव-वास्तु को तीन प्रमुख विभाजनों में बाँटा था—जन-भवन, राज-भवन तथा विशिष्ट भवन। विशिष्ट भवनों का तात्पर्य उत्तमोत्तम अथवा अदभुत भवनों से नहीं है। इनका यहाँ पर तात्पर्य उन भवनों से है जिनका विभाजन अन्य भवनों के साथ नहीं हो सकता। वाजिशाला, गोशाला, गजशाला आदि भवन तो पशुशालाएँ हैं, वे भला क्या विशिष्ट हो सकते है। परन्तु यह ग्रन्थ चूँकि भारतीय स्थापत्य निदर्शनों की एक मात्र मीमांसा न कर स्थापत्य-शास्त्रों की महती देन का मूल्यांकन करना है। अतः उन ग्रन्थो में कुछ भवन ऐसे वर्णित हैं जिनका न तो जनभवनों के साथ वर्गीकरण हो सकता है और न राजभवनों तथा देवभवनों के साथ। अतः ऐसे भवनो को हमने विशिष्ट भवनों की संज्ञा प्रदान कर इस अध्याय की अवतारणा की है। वैसे तो विशिष्ट भवनों की एक लम्बी सूची है परन्तु शिल्प-ग्रन्थों में चार ही भवन-विन्यास प्रमुख हैं जिनको विशिष्ट भवनों में हम स्थान दे रहे हैं। ये है—सभा, मण्डप, वाजिशाला तथा गजशाला। भारत के प्राचीन साहित्य और प्राचीन पुरातत्त्व—दोनों में ही शालाओं के प्रचुर संकेत है, जैसे नाट्यशाला, रंगशाला, यज्ञशाला। परन्तु इन निकेतनों के स्थापत्य की दृष्टि से स्थापत्य ग्रन्थों में वर्णन नहीं मिलते। मानसार में मध्यरंग के नाम से एक अध्याय है (दे० ४७वाँ) जिसमें मध्यरंग अर्थात् थियेटर रचना पर स्वल्प वर्णन है। यहाँ पर इस मध्यरंग की विशेषता में इतना ही उल्लेख्य है कि इसके स्तम्भे (अघ्रिपाद) बहुत छोटे होते थे। यद्यपि नाना स्तम्भांगों, जैसे मसूरक, वेदी, मंच, कुट्टिम, उपपीठ आदि से वे अवश्य विन्यस्त होते थे। उनकी भूषा का प्रवचन भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वाजन, मुष्टिबन्ध और लुमा (पा) ओं का स्तम्भ-भूषा में संकीर्तन है। भद्रों, क्षुद्रनासियों का भी विधान बताया गया है और व्याली तथा मकर के चित्रण से उसकी सुषमा को और भी निखारने का आदेश है। अस्तु, इस एक उदाहरण से इतना ही संकेत पर्याप्त है कि उपर्युक्त चार भवनों के ही विशेष विवरण प्राप्त होने से उनको हमने विशिष्ट भवनों की कोटि में रखा है। क्रमशः इनकी समीक्षा होगी।

सभा

सभा का निवेश, जैसा पूर्व ही संकेत हो चुका है, एक बड़ी ही प्राचीन रचना है। हमारे धार्मिक साहित्य में जैसे अथर्व वेद, तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण छान्दोग्य-उपनिषद् आदि में सभाओं के निर्देश आये हैं। इन अति प्राचीन वैदिकयुगीन सभा-भवनों के विन्यास में दो ही प्रधान उपकरण थे—स्तम्भ तथा वेदियाँ। यह एक प्रकार का द्वार, भित्ति आदि से विरहित स्तम्भ-प्रधान निवेश था और प्राचीन सभा-भवन की यह रूपरेखा सर्वदा वर्तमान रही। हाँ, आगे चलकर जैसा हम अभी देखेंगे, द्वारों और भित्तियों की प्रकल्पना से इन भवनों को अन्य भवनों के सादृश्य में लाने की भी परम्परा पल्लवित हुई। सम्भवतः यह प्रभाव राजनीतिक था। सभा राजनिवेश का भी एक प्रधान अंग थी जिसको आजकल की भाषा में हम दरबार के नाम से पुकारते हैं। सभा के राजनिवेश में एक दूसरा विकास मन्त्रि-परिषद् या मन्त्रशाला के रूप में हुआ, वह स्थान एक प्रकार से गुप्त एवं गोप्य स्थान था अतः उसमें भित्तियों और द्वारों की रचना आवश्यक थी।

महाभारत में सभाओं के बहुत सुन्दर वर्णन मिलते हैं। महाभारत का एक पर्व ही 'सभा-पर्व' के नाम से विख्यात है जिसमें इन्द्र-सभा, यम-सभा, वरुण-सभा, कुबेर-सभा तथा ब्रह्म-सभा के वर्णन हैं और उन सभा-भवनों में प्राचीन वैदिक सभा की रचना–प्रसृति ही देखने को मिलती है। गणराज्यों में सभा-भवनों की एक नवीन परम्परा विकसित हुई। तत्कालीन सभा-भवनों में न केवल राजनीतिक चर्चा अथवा व्यवहार निर्णय (जुडीशियल ट्रन्जेक्शन्स) ही सम्पन्न होते थे वरन् वाणिज्य वार्ताओं के लिए भी वे स्थान विशेष उपयुक्त समझे जाते थे। सभाभवन के विकास का तीसरा सोपान वह था जब सभा-भवनों में मनोरंजन—द्यूत, आमोद, वादविवाद तथा विभिन्न प्रतियोगिताएँ पल्लवित हुई। वास्तव में सभा-भवन धार्मिक चर्चा के लिए भी विशेष उपयुक्त होते थे जहाँ पर व्याख्यान दिये जाते थे और पुराण पढ़े जाते थे।

अस्तु, सभा-भवनों के इस अल्प उपोद्घात के अनन्तर सभा-स्थापत्य तथा सभा-भवनों के विभिन्न प्रकारों पर ध्यान देना है। समरांगण० में नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा, भाविता, दक्षा, प्रवरा तथा विदुरा—इन आठ सभाओं का वर्णन प्राप्त होता है। ऊपर की समीक्षा के अनुरूप सभा-विकास की सभी परम्पराएँ इस सभा-वर्गीकरण में प्राप्त होती हैं। जहाँ तक इनके वास्तु-विन्यास का प्रश्न है अर्थात् स्तम्भ-बहुलता, वह केवल प्रथम पाँच में विहित मानी गयी है। इन पाँचों सभा-भवनों में ३६ स्तम्भों का विन्यास बताया गया है। अतः वैदिक सभाओं की छाप इन सभा-भवनों में स्पष्ट है परन्तु अन्तिम तीन सभाओं—दक्षा, प्रवरा तथा विदुरा में स्तम्भों का सर्वथा अभाव है।

यह उस सभा-विकास का द्योतक है जब सभाएँ राजनीतिक निवेशों का भी अंग बन गयी थी। उसी के अनुरूप इन सभाओ मे स्तम्भ-राहित्य तथा भित्ति एव द्वार प्रकल्पन विशेष उपयुक्त माना गया। दक्षा की विशेषता अलिन्द विन्यास, प्रवरा की विशेषताद्वार-संयोजना तथा विदुरा की विशेषता द्वारो के साथ प्राग्रीव-विन्यास है।

मण्डप

मण्डपो की परम्परा विशेष कर पूजा-वास्तु से सम्बन्ध रखती है परन्तु जन-वास्तु मे भी इनका योग है। अत हमने यहाँ पर भी इनका स्मरण किया। आज भी हम अपनी देहाती भाषा मे 'मडइया' डालकर रहने की वार्ता करते है। यह मडइया वास्तव मे मण्डप का अपभ्रश है। जिस प्रकार अरण्यो मे कुटियो और कुटीरो तथा आश्रमो का विकास हुआ इसी प्रकार क्षेत्रो, उद्यानो, सरिताकूलो, तडागतीरो तथा सागर-वेला पर मण्डपो का विकास हुआ। इन मण्डपो की रचना-कला सभा-भवनो से आयी। एक-दो मृन्मय अथवा काष्ठमय स्तम्भो के न्यास से एव ऊपर की छावनी वन्य शाखाओ अथवा तालपत्रो से सम्पन्न कर छोटे-मोटे काम चलाऊ मण्डपो का आज भी विन्यास हम देखते है। मण्डप का दूसरा अपभ्रश मडवा है। मडवा छाने की प्रथा प्राय: सर्वत्र विद्यमान है, विशेष कर यज्ञोपवीत तथा विवाह के अवसर पर माडव अथवा मडवा का छादन एक अनिवार्य प्रथा है। इसमे भी स्तम्भ और छाद्य दोनो आवश्यक हैं। चूंकि यह एक प्रकार का क्षणिक निवेश है अत. स्तम्भ का स्थान कोई भी काष्टपट्टिका ग्रहण करती है और छादन मे वन्य वनस्पतियाँ। परन्तु विशेषता यह है कि इस मण्डप मे थनी तो चारो ओर रहती है परन्तु केन्द्र-स्तम्भ बीच मे होता है जहाँ पर सस्कारभूमि होती है। यह व्यवस्था हमको उस अतीत का पुन. स्मरण कराती है जब सूत्रग्रन्थों में सस्कारप्रोक्त विशेष अथवा भवन-प्रारम्भ के कार्य केन्द्रस्तम्भ से प्रारम्भ होते थे। मानसार के मण्डप-विधान नामक २४वे अध्याय मे तीन मण्डप-कोटियो का वर्णन है—जनपदोचित भवन, समुद्र वेला अथवा सरिताकूल अथवा तडागतट या पुष्करिणी पर विनिर्मित अवकाशीय भवन (पहली कोटि); राजनिवेश के नाना भवन-विन्यास (दूसरी कोटि) तथा मन्दिरो के नाना भवन (तीसरी कोटि)। राज-प्रासादो के नाना निवेशो को मण्डप के नाम से पुकारने की प्रसिद्ध परम्परा थी, जैसे अभिषेक-मण्डप आदि। मन्दिरो मे भी नाना मण्डप होते ही हैं, जैसे पुष्पमण्डप। परन्तु विवाह-मण्डप, जल-मण्डप, धान्यमण्डप, गन्धमण्डप आदि मण्डपो के साथ मार्गो पर विन्यस्त विश्राम-मण्डप के विन्यासो मे मानव-वास्तु की परम्परा निश्चित है—यह निष्कर्ष असगत न होगा।

अश्वशाला

समरांगण-सूत्रधार में अश्वशाला पर जैसा प्रौढ़, पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक विवेचन मिलता है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। समरांगण की यह महती देन है। अश्वशाला का निर्माण राजनिवेश का प्रमुख अंग था। प्राचीन काल में और मध्यकाल में भी घोड़े न केवल एक मात्र राजयान, सैन्य-अभियान-साधन थे वरन् वे राजाओं और समृद्धों पर हावी थे। यह हावीपन अथवा मनोरंजन आज भी वर्तमान है। घुड़दौड़ में कितने बनते और बिगड़ते हैं यह हम जानते ही हैं। घोड़ा प्राचीन भारत का सर्वाधिक महिमामय तथा प्रशस्त पशु था। अतएव घोड़े का शास्त्र भी बना जिसको हम शालिहोत्र के नाम से पुकारते हैं। घोड़ों पर कवियों ने काव्य भी लिखा है। महाकवि श्रीहर्ष का अश्व-वर्णन बड़ा सुन्दर है। भूषण ने शिवाजीबावनी के साथ वाजिबावनी भी यदि लिखी होती तो कैसा अच्छा होता ? परन्तु यह कमी आधुनिक काव्य-धारा में पूरी हो गयी (दे० कानपुर के केशव कवि द्वारा रचित वाजिबावनी)।

अस्तु, अश्वशाला के स्थापत्य को हम चार निम्नलिखित भागों में विभाजित कर सकते हैं —

१—अश्वशाला-निवेश (सांगोपांग)

२—अश्वशाला में उपकरण

३—अश्वों को बाँधने की व्यवस्था तथा स्थान शब्द की पारिभाषिकता

४—अश्वशाला के सहायक उपभवन

शाला-निवेश—शाला का निवेश भवन के गंधर्व अथवा पुष्पदन्त पद पर भवनांगण में होना चाहिए। अश्वशालाओं के उत्तम-मध्यम-अधम प्रभेद से तीन सामान्य प्रकार हैं। उत्तम की रचना १०० अरत्नि अर्थात् १५० फुट के विस्तार में करनी चाहिए। मध्यम की एक सौ बीस फुट तथा कनिष्ठ की ६० फुट। अश्वशाला-विन्यास के सम्बन्ध में यह आदेश है कि इसका निवेश ऐसे स्थान पर हो कि अश्व-स्वामी जब अश्वशाला से निकले तो घोड़े उसकी बायीं तरफ रहें। यतः अश्वशाला, जैसा पहले भी सूचित किया गया है, राजनिवेश का एक अंग होती थी अतः इसका विधान अन्तःशाला अथवा अन्तःपुर के दक्षिण में विहित है, जिससे अन्तःपुर में प्रवेश करने के अवसर पर राजा को इनका हिनहिनाना दायीं ओर से सुन पड़े—यह बड़ा प्रशस्त माना जाता था। अश्वशाला का प्रधान प्रवेश-द्वार पूर्व अथवा उत्तर में निविष्ट किया जाता था और उस मुखद्वार पर तोरण की रचना भी आवश्यक होती थी। अश्वशाला में कम से कम चार शालाएँ अवश्य होती थीं और उनकी छत पर प्राग्रीवों की भी भूषा होती थी। अश्वशाला की ऊँचाई १५ फुट और चौड़ाई १२ फुट से कम नहीं होती थी।

इसकी दीवारो पर नागदन्तो का होना आवश्यक था । इसके अतिरिक्त अश्वशाला के प्रमुख आभ्यन्तर स्थानो मे यवसस्थान, खादनकोष्ठक तथा पादबन्धनकीलक विशेष उल्लेख्य हैं। ये सभी निवेश एक प्रकार से परिष्कृत कला-कृतियाँ थी । यवसस्थान का तात्पर्य घास रखने का स्थान है, इसका निर्माण लकडी से होता था अतएव यह काष्ठ-मयी कला-कृति थी और इसका विन्यास ब्रह्मकोण पर विहित था। इसके निर्माण मे घातकी, अर्जुन, पुन्नाग, ककुभ आदि वृक्षो की दारु लगायी जाती थी। इसकी ऊँचाई कम से कम ३ किष्कु होती थी। किष्कु ४२ अगुल का होता है। खादनकोष्ठक यथानाम घास खाने की अथवा दाना खाने की एक प्रकार से नाँद है, इसका परिमाण लम्बाई चौडाई मे ३ हाथो से कम न होना चाहिए। अच्छे घोडो को बाँधने के लिए बहुमूल्यक रस्सियो की आवश्यकता होती थी। घोडे के पाँचो अगो को पचागी के नाम से पुकारा जाता था । पचागीनिग्रहार्थ तीन-तीन खूटो (कीलक) का स्थान-स्थान पर आगे-पीछे कल्पन किया जाता था । पुन. एक सुगुप्त खूटा भी रहता था। यह सुगुप्त कीलक सर्वप्रमुख कीलक माना जाता था।

अश्वशाला के संभार—अश्वशाला के सभारो की बडी लम्बी सूची है। पहले तो अश्वशाला मे अग्नि का रहना आवश्यक है। अग्नि का स्थान दक्षिण-पूर्व मे विहित है। माहेन्द्री दिशा मे जलकुम्भ की स्थापना प्रशस्त है। यवस का स्थान पहले ही ब्राह्मी दिशा मे बताया जा चुका है। वायव्य कोण मे औदूखल का निवेश आवश्यक है। इनके अतिरिक्त निःश्रेणी, कुश, फलकावृत कूप, कुद्दाल, उद्दाल, गडक, शुक्तयोग, खुर-कचग्रहणी, शृग, परशु, नाद्य, प्रदीप, आदि अश्वशाला के उपयोगी सम्भार एव सग्रह माने गये है । अश्वशाला के सभारो मे उपकरणो की तीसरी सूची मे हस्त-वासी, शिला, दीप, दर्वी, फाल, जूते, चित्रविचित्र पिटक, नानाविध वस्तियाँ आदि आदि भी विहित हैं।

अश्वस्थान—समरागण वास्तव मे हमारे प्राचीन स्थापत्य का एक जीता-जागता मैनुअल है। चुनाई का हम अध्ययन कर चुके है। अश्वशाला मे वही बात देखने को मिलेगी। यहाँ पर एक मनोरजक सकेत यह है कि जहाँ पर घोड़े बाँधे जाते थे उनकी पारिभाषिक सज्ञा स्थान थी जिसको आजकल हम थाना कहते है, थाने से घोटा आ रहा है, यह थाना वास्तव में स्थान की पारिभाषिक सज्ञा मे आज भी चल रहा है। अश्वशाला वास्तव मे इसी स्थान-वल्लरी का निवेश है । अश्वशाला का स्थापत्य कैसा होता था इससे हमारे राजदरबारी कवि भी पूर्णरूप से परिचित थे। रघुवश मे (दे० पचम सर्ग)—"दीर्घेष्वमी नियमिता. पटमण्डपेषु" से भी स्थानो की इसी पर-म्परा पर प्रकाश पड़ता है। ये स्थान अलकृत होते थे और इनके आयाम तथा विस्तार

में एक किष्कु तथा तीन किष्कु क्रमश. होते थे । इनका विन्यास पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होता था और इनको इस तरह से बनाया जाता था कि इनका मुखभाग ऊँचा तथा अधोभाग नीचा होता था । इनकी आकृति चौकोर होती थी ।

जहाँ तक घोड़ो के बाँधने की प्रक्रिया का सम्बन्ध है वह भी कम मनोरंजक नही है । ग्रन्थ का प्रथम निर्देश यह है कि अश्वशाला के चारो तरफ चारो कोनो मे चार-चार हाथ का अवकाश छोड देना चाहिए, तभी घोड़ो के बाँधने की व्यवस्था करनी चाहिए । दूसरा निर्देश यह है कि घोडो को परस्पर इतना दूर अवश्य रखना चाहिए जिससे वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सके और सुविधा से खड़े हो सके । चूँकि दिक्साम्मुख्य सभी भवनो की प्रमुख विशेषता रही है, अतः अश्वशाला मे भी इसका पूर्ण अनुगमन आवश्यक माना गया । अत इस सम्बन्ध मे यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि शाला का दिक्साम्मुख्य अश्वो का दिक्साम्मुख्य नही हो । उदाहरण के लिए शाला का दक्षिणाभिमुख होना प्रशस्त है परन्तु अश्वो के लिए वही अप्रशस्त है । घोडों को सदैव पूर्वाभिमुख बाँधना विहित है क्योकि यही दिशा घोड़ो के सभी कार्यो के लिए सर्वाधिक प्रशस्त मानी गयी है—स्नान, परिधान, भूषा, पूजा, शान्तिक आदि सभी कर्म इसी दिशा मे करने चाहिए । यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि ये आदेश एक मात्र धार्मिक नही है, इनका सम्बन्ध स्थान की सफाई से है । प्रात कालिक सूर्य की किरणो का सुखद सचार एव उपभोग प्राणिजात के लिए अनिवार्य है । अत घोडो को इस तरह से बाँधना चाहिए जिससे वे इस प्राकृतिक देन का उपभोग कर सके और दीर्घजीवी बन सके । इसीलिए अश्वशाला का दक्षिणाभिमुखी न्यास भी प्रशस्त माना जाता था परन्तु अश्वो का न्यास उस शाला मे वह्निपद पर विहित था, क्योकि वह्नि को घोडो की आत्मा कहा गया है । उसके द्वारा अध्यासित दिग्विभा मे अश्व अजर और बहुभोक्ता बनाया गया है । इसी प्रकार अन्य दिशाओ की गाथा है ।

अश्वशाला में भेषजागार—इसमे अस्पताल भी आवश्यक है । ग्रन्थ का यह जोर देकर कहना है कि रुग्ण अश्व को एक मिनिट के लिए भी स्वस्थो के साथ नही रखना चाहिए क्योकि बहुत जल्दी स्वस्थ भी रुग्ण हो सकते है । घोड़ो की बीमारी प्रायः छूत की बीमारी होती है । अतः अश्वशाला के लिए एक ऐसे अस्पताल की आवश्यकता है जिसमें कम से कम चार निवेश हो—भेषजागार (दवाओ के रखने का स्थान), अरिष्टागार (जहाँ पर घोडियाँ बच्चे देगी), व्याधिभवन (अर्थात् रुग्ण अश्वो के लिए सिकरूम) तथा सर्व-सभार-वेश्म, अर्थात् जहाँ पर औषधियो के अतिरिक्त नाना प्रकार के नमक, तैल तथा वर्तियाँ सुरक्ष्य समझी जाती थीं ।

इन चारो आयतनों का निवेश अश्वशाला के ही निकट वांछित है तथा इनका निर्माण दृढ़ 'सुधाबन्ध-दृढकुड्य'—होना चाहिए। इनके दरवाजे भी बडे-बडे तथा प्राग्रीवादि रचनाओ से शोभित होने चाहिए। इन चारो को एक दूसरे मे सम्बद्ध रखना चाहिए—विशाल (विभाजन) नही करना चाहिए—सुगम ही रहने देना चाहिए।

गजशाला——अश्वशाला के सदृश गजशाला पर प्रवचन नहीं प्राप्त होते। स० सू० (दे० ३२वा अ०) मे निम्नलिखित ७ गजशाला के प्रभेद वर्णित है —

सुभद्रा	सुभोगदा	चतुरस्रा	तथा
नन्दिनी	भद्रिका	वर्षणी	प्रमारिका

समरांगण मे गजशाला के निर्माण के लिए बहुत बडे पद की आवश्यकता पर प्रवचन है जो ठीक ही है, हाथियो को एक दो हाथ के थानो मे थोडे ही थामा जा सकता है। अत ——"कल्प्या प्रासादवद् भागा.।" अतएव इन सातों प्रकार की गजशालाओं की पारम्परिक विशेषताएँ एकमात्र वास्तुतत्त्वों—अलिन्द, प्राग्रीव, कर्णप्रासाद आदि—के द्वारा है, इनके विन्यास-भेद से इनका भी विभेद समझना चाहिए।

कुछ अन्य निवेश——जलाशय

'अपराजितपृच्छा' मे कूपों, वापियो तथा कुण्डो एव तड़ागो के निवेश पर भी स्थापत्य-प्रवचन है अत इन पर भी एक-दो शब्दो में कुछ विचार अप्रासगिक न होगा। वैसे तो पौराणिक परम्परा के पूर्त-धर्म से हम परिचित ही है और वापी, कूप, तडाग आदि के साथ-साथ देवतायतन-प्रतिष्ठा इस पूर्त-धर्म का प्रधान अग था। तो भी आजकल की संस्कृति के अनुरूप ये कृत्य भी कम भौतिक (सेक्यूलर) नही है। प्राचीनो ने इन अनिवार्य मानवीय निवेशो को धर्म का रूप देकर एक प्रकार से सुनियन्त्रित कर रखा था परन्तु हम अपनी अनियन्त्रितता से इस उदात्त सस्था को धीरे-धीरे तिलाजलि दे रहे है। वापियो तथा कूपो की भले ही अब नगरो मे आवश्यकता न रही हो परन्तु ग्रामो मे उनकी आवश्यकता मे दो राये नही हो सकती। अत यदि हम जनोचित निवेशो मे इनका भी परिगणन करे तो अनुचित न होगा।

कूप——'अपराजितपृच्छा' मे निम्नलिखित दस कूपो का वर्णन किया गया है——

१—श्रीमुख	६—चूडामणि
२—विजय	७—दिग्भद्र
३—प्रान्त	८—जय
४—दुन्दुभि	९—नन्द
५—मनोहर	१०—शकर

टि०—पहला चार हाथ के प्रमाण से निर्मेय है। पुन एक-एक हस्त की वृद्धि से अन्य नवो कूपो का निर्माण प्रतिपादित है—इस प्रकार अन्तिम प्रकार शकर त्रयोदश-हस्त हुआ। ये सभी कुएँ गोल बनते थे। इस प्रमाण के विपरीत कूपिकाएँ होती थी जिनका दो हस्त प्रमाण विशेष विहित है।

वापियाँ—निम्नलिखित चार वापियाँ अपने लक्षण सहित वर्णित की गयी है—

	संज्ञा	लक्षण
(१)	नन्दा	एक मुख वाली तथा तीन कूट वाली
(२)	भद्रा	दो ,, ,, छः ,,
(३)	जया	तीन ,, ,, नव ,,
(४)	विजया	चार ,, ,, बारह ,,

कुण्ड—यह एक प्रकार का जलाशय अवश्य है परन्तु इसकी जो महिमा अपराजित-पृच्छा ने गायी है वह तो बडी मनोरजक है—दे० सूत्र ७४.१२-३१। तथापि कुण्ड भी लौकिक प्रयोग मे अवश्य आते थे अत. उनका भी निर्देश यहाँ आवश्यक है। भद्रक, सुभद्रक, नन्द तथा परिघ नामक चार कुण्ड देवतायतनो के सम्मुख निवेशित किये जाते थे। इनमे भद्रक चौकोर, सुभद्र यथानाम भद्रसयुत, नन्द तथा परिघ मध्यभिट्टक कहा गया है। इन सभी कुण्डो में चार-चार दरवाज़े सगवाक्ष निवेश्य बताये गये है। प्रवेश और निर्गम के अनेक निवेश प्रतिपादित है, कर्ण पर चतुष्किका का न्यास बताया गया है। मध्य के भिट्ट को श्रीघर रचना के रूप मे निर्मित करना चाहिए। उसके मध्य मे जलशायी नारायण अथवा वराहावतार विष्णु की प्रतिमा रखनी चाहिए। भद्र पर एकादश रुद्रो की प्रतिष्ठा तथा द्वारो पर दुर्वासा, नारद, विविध गणनायक, क्षेत्रपाल भैरव, उमा-महेश्वर, कृष्ण-शकर (दण्डपाणि) आदि अनेक देवो का भी सकीर्तन है और इस प्रकार से कुण्डो का माहात्म्य यद्यपि धार्मिक विशेष है तथापि इनका लौकिक उपयोग भी सर्वविदित है। अपराजितपृच्छा मे 'चतु कुण्ड वाराणसी' के रूप मे इन कुण्डो की कल्पना की गयी है जिसका विशेष विवरण यहाँ पर देना व्यर्थ है।

तड़ाग—सर, महासर, भद्रक, सुभद्र, परिघ तथा युग्मपरिघ—ये छ तडाग-प्रकार है। यहाँ पर परिघ और युग्मपरिघ की व्याख्या में अपराजित का उन्मेष है कि जिस तालाब पर बगुलो का एक ही स्थल हो वह परिघ कहलाता है और जहाँ पर दो स्थल हों उसे युग्मपरिघ जानो। सर अर्धचन्द्राकार, महासर वृत्ताकार, भद्रक चौकोर तथा सुभद्र भद्रसयुत बताया गया है। इनके पालि-दैर्ध्य के सम्बन्ध मे तीन कोटियाँ निर्दिष्ट हैं—उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। अतः ज्येष्ठ तडाग का पालि-दैर्ध्य पचास हाथो का, मध्यम का उससे आधा और कनिष्ठ का केवल बारह हाथ विहित है।

७

भवन-सज्जा

उपस्कर (फर्नीचर आदि)

प्राय सभी शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो मे 'शयनासन' का वर्णन भी एक अनिवार्य अध्याय होता है। प्रासाद की सच्ची सज्जा मूर्ति है, बिना उसकी प्रतिष्ठा के प्रासाद पूर्ण नही। प्रासाद (मन्दिर)-वास्तु के अग्रिम प्रकरण पर प्रवचन करने के उपरान्त हम प्रासाद की सज्जा मूर्ति-निर्माण-कला का वर्णन करेंगे, परन्तु पीछे के दोनो पटल-प्रकरण अर्थात् जन-भवन एव राज-भवन मानव-वास है। अत मानव-वासोचित भवन-सज्जा पर कुछ प्रतिपादन आवश्यक है। आजकल की परम्परा मे भवन-रचना भवन-सज्जा (फर्नीचर आदि) बिना अपूर्ण है। फर्निश्ड हाउस तथा फर्निश्ड बँगलो के सुख एव आराम से हम परिचित है। प्राचीनो ने इस दशा मे भवन की सज्जा के नाना उपकरणो मे कोन-कौन-सी परम्पराएँ प्रतिष्ठापित की थी—इस पर विचार आवश्यक है। अतएव इसी दृष्टिकोण से इस अध्याय की अवतारणा यहाँ पर भवन-वर्णन के साथ आवश्यक समझी गयी।

शयन-आसन

समरागण-सूत्रधार मे इस विषय पर केवल एक ही अध्याय (दे० शयनासनलक्षण, २६वाँ) है जिसमे यथानाम शयन अर्थात शय्या एव आसन (आजकल की कुर्सी) पर ही विशेष विचार किया गया है। परन्तु अन्त मे कघा, पादुका, दर्वी आदि उपकरणो पर भी सकेत मात्र है। समरागण की यह कमी मानसार मे पूरी की गयी है। यत प्राचीन शिल्पी चार वर्गो मे विभक्त ',—स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक एव वर्धकि। स्थपति प्रधान कलाकार है तथा सबका आचार्य है। वह सभी कलाओं का विशारद है, परन्तु अन्य तीन अपने-अपने क्षेत्र के विशेषज्ञ है—सूत्रग्राही नाप-जोख करने वाला अर्थात मानविद्, तक्षक पाषाणकोविद अर्थात् मूर्तिनिर्माता और वर्धकि आजकल का बढ़ई जो काष्ठकार है। अत वर्धकि की कला के अनुरूप इस ग्रन्थ मे लगभग ५ अध्यायो मे, 'रथलक्षणम्' (४३), 'शयनविधानम्' (४४), 'सिहासनलक्षणम्' (४५), 'तोरणविधानम्' (४६) तथा 'मध्यरग-विधानम्' (४७)—इस विषय की अवतारणा की गयी है, जिनमे रथ आदि यानो, शय्याओ, सिहासनो के साथ-साथ दीप-स्तम्भ, व्यजन, दर्पण, दोलाओ, मजूषाओ, पजरो आदि के वर्णन प्राप्त होते है। इन सबकी

आगे यथावसर समीक्षा करेंगे। पहले हम समरांगण की सामग्री का अवलोकन करेंगे। समरांगण के इस अध्याय में जिन विषयों का वर्णन है उनमे शयनासन-कर्म के आरम्भ का समय, शयनासन के निर्माण में उपयुक्त वृक्षों की लकडी, शयनासन में सोने के जडाव की प्रशस्ता, नृपादि श्रेष्ठजनो की शय्या का प्रमाण, शय्या के अगो की रचना, एक द्रव्यजा शय्या का प्राशस्त्य अथच मिश्रद्रव्यजा, द्विद्रव्यजा अथवा त्रिद्रव्यजा शय्या का अप्राशस्त्य, शय्या में दारुसंधानविधि, शय्या मे उपलक्षित मध्यव्रण (छेद आदि) की दुष्टता, शय्या-निर्माण-कौशल, शय्या के ६ प्रकार छिद्रो के लक्षण एव फल आदि विषयो के साथ-साथ आसन के निर्माण में उसके अगो के विधान और अलकारो के निवेश आदि पर विवरण प्रस्तुत किये गये है।

अस्तु, इस विश्लेषण के अनन्तर अब हम समरांगणीय शयनासन-विधान पर एक-दो तथ्यो की प्रस्तावना करेंगे।

शयनासनोचित दारु—चन्दन, तिनिश, अर्जुन, तिन्दुक, साल, शाक, शिरीष, असन, धन, हरिद्रु, देवदारु, स्यन्दन, ओक, पद्मक, श्रीपर्णी, दधिपर्ण, शिशपा आदि शुभ वृक्षो की लकड़ी से शयनासन का निर्माण उचित है। गृहोचित दारु के आहरण मे जिन वृक्षों की त्याज्यता पीछे बतायी गयी है वह त्याज्यता शयनासन-कर्म मे भी अभिप्रेत है।

शयनासन के निर्माण मे स्वर्ण, रजत आदि का प्रयोग—प्राचीन काष्ठकर्म में धातुओ अथवा हाथी के दाँतो के जडाव की बडी ही प्रशस्त, प्रचलित एव उदीयमान परम्परा थी। तदनुरूप इस ग्रन्थ मे यह निर्देश किया गया है कि कुशल कलाकार को शय्या-निर्माण मे सोने, चाँदी, हाथीदाँत अथवा पीतल के बँधाव पर अवश्य अभिनिवेश रखना चाहिए।

शय्या प्रमाण—राजशय्या के तीन प्रमाण हैं—उत्तम १०८, मध्यम १०४ तथा अधम १०० अंगुल; राजकुमारो की शय्या का प्रमाण ९० अगुल; राजामात्य ८४ अंगुल; सेनापति ७८; पुरोहित ७२; अथच ब्राह्मणादि वर्णों की शय्याओ के प्रमाण पर यह आदेश है कि ब्राह्मण की शय्या ७० तथा अन्य वर्णो की क्रमश. २-२ अंगुल कम—क्षत्रिय ६८, वैश्य ६६, शूद्र ६४ की हो। इस सम्बन्ध मे यह भी निर्देश है कि प्रत्येक शय्या की चौड़ाई लम्बाई से आधी हो अथवा यो कहिए कि जो चौड़ाई करनी हो उससे लम्बाई दुगुनी हो। प्राचीनों के इस शय्या प्रमाण से यह सूचित होता है कि लम्बाई और चौडाई का यह अनुपात बड़ा ही सुखदायक था अर्थात् यदि शैय्या की चौड़ाई चार फुट है तो उसकी लम्बाई आठ फुट जरूर होनी चाहिए और इससे यह भी सूचित है कि आजकल की दो फुट अथवा ढाई फुट चौड़ी शय्या प्राचीनो की समझ के बाहर थी।

शय्यांग—स्थापत्य की भाषा में शय्या के अंगों में उत्पल, ईषादण्ड, कुण्य तथा पाद, आजकल की भाषा मे पाटी, सेरवा, मचवा आदि हैं। ग्रन्थ मे यह भी प्रतिपादित है कि शय्यागो को काष्ठ की पच्चीकारी, पत्रलताओ, पक्षियों की भूषा के द्वारा सम्पन्न करना चाहिए—"सपत्रकलिकापत्र-पुटग्रासविभूषित."। यहाँ पर यह भी ध्यान देना है कि प्राचीनो के मत में शय्या-विधान मे एक ही वृक्ष की लकडी प्रशस्त मानी गयी है। तीन भिन्न-भिन्न दारुओ से घटित शय्या स्वामी का वध करती है—"त्रिदारुघटितायां तु स्वामिनो नियतो वधः।"

शय्याव्रण—स्थापत्य-शास्त्र का आदेश है कि आसन अथवा शय्या ग्रन्थिकोटरवर्जित बनानी चाहिए और वह सब प्रकार से पुष्ट, दृढ तथा स्थिर होनी चाहिए। साथ-ही वह सुश्लिष्ट तथा वर्णशालिनी भी होनी चाहिए। उसकी लकडी मे व्रणो (छिद्रों) का पूर्ण रूप से अभाव होना चाहिए। प्राचीनो ने इन व्रणो को ६ वर्गों मे विभाजित किया है—निष्कुट, कोलदृक्, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक तथा बन्धक। इन छिद्रों के आकारो का भी वर्णन किया गया है, साथ-ही-साथ दुःखद परिणामो का भी निर्देश है। निष्कुट मे अर्थक्षय, कोललोचन में कुलविद्रव आदि। ग्रन्थ का यह प्रवचन पठनीय है जिससे प्राचीनो का प्रत्येक कार्य कितना प्रशस्त था और उनकी कितनी गहरी जानकारी थी यह पूर्ण रूप से समझा जा सकता है (दे० स० सू०, २९. ६०–३५)।

समरागण के शय्या-निर्माण के इन विवरणो से उस काल की काष्ठकला कितनी पारिभाषिक एवं प्रशस्त थी यह हम समझ सकते हैं। मानसार का शयन-विधान भी प्राय. ऐसी ही पद्धति प्रस्तुत करता है। मानसार में शय्याओ के दो प्रधान उपवर्ग हैं—बालपर्यक तथा पर्यक। बालपर्यक की चौडाई ११ से २५ अंगुल तक की हो सकती है। अत बालपर्यक के ८ प्रभेद हुए, अर्थात् ११ अगुल मे यदि हम दो-दो अगुल की बढती करे तो २५ अगुल का बालपर्यक ८वाँ भेद हुआ। इसी प्रकार पर्यक के ९ प्रभेद प्रतिपादित हैं और उसकी चौडाई २१ से २७ अगुल तक जाती है, अर्थात् २१ से दो-दो अगुल की बढती से ३७ अगुलो तक ९ प्रभेद निष्पन्न होते हैं। मानसार के शय्या-विधान मे दो महत्त्वपूर्ण सकेत प्राप्त होते हैं—एक तो शयनपादो (मचवो) मे पहियों (कास्टर्स) की योजना तथा दूसरे शृखलायुक्त आन्दोल (अर्थात् स्विंग्स)। चूँकि पादों की संख्या ४ होती है अतः वह चार शृखलाओ के द्वारा निष्पन्न किया जाता था। मानसार की दूसरी विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में पादों के कुछ पारिभाषिक नाम भी निर्दिष्ट हैं—जैसे कुम्भपाद, वज्रपाद, पद्मपाद तथा सिंहपाद। शयनासनों के निर्माण में भूषण-विधान का इसमें भी निर्देश है।

आसन एवं सिंहासन

समरागण के अनुसार आसन के निर्माण मे शयनोचित दार का ही चयन होना चाहिए। आसनो के अगो मे इस ग्रन्थ मे पुष्कर, सूदहस्त, फलक तथा मूलक—का वर्णन है। विशेष विवरण प्रस्तुत नही किये गये हैं तथा कंकत आदि अन्य सज्जोपकरणो पर भी विशेष विस्तार नही किया गया है। मानसार में आसन का वर्णन सिंहासन के नाम पर किया गया है। सिंहासन यथानाम उस आसन को कहेंगे जिसमे सिंह की प्रतिमा बनी हो। सिंहासन सबके बैठने की चीज नही है, यह केवल राजाओ के लिए ही उचित है। इन सिंहासनो का विशेष कर राजाओं के अभिषेक के समय प्रयोग किया जाता था। अतएव राजोचित सिंहासनो के कई उपवर्ग वर्णित है—मगल, वीर तथा विजय आदि। राजाओ के अतिरिक्त देवों के भी सिंहासन की परम्परा से हम परिचित हैं। अत देवानुरूप सिंहासनो के भी उपवर्ग हो सकते हैं—नित्यार्चन, नित्योत्सव, विशेषार्चन तथा महोत्सव। सिंहासनो के इन वर्गों एव उपवर्गों के अतिरिक्त निम्नलिखित १० प्रभेदो का भी वर्णन किया गया है और उनके प्रयोक्ताओ पर भी प्रतिपादन है। निम्न तालिका देखिए —

आसन	आसक	आसन	आसक
पद्मासन	शिव अथवा विष्णु	श्रीबन्ध	पार्ष्णिक तथा पट्टधर
पद्मकेसर	अन्य देव, चक्रवर्ती राजा	श्रीमुख	मण्डलेश
पद्मभद्र	महाराज	भद्रासन	पट्टभाज
श्रीभद्र	अधिराज तथा नरेन्द्र	पद्मबन्ध	प्रहारक
श्रीविशाल	नरेन्द्र तथा पार्ष्णिक	पादबन्ध	अस्त्रग्राही

रथ—मानसार में इस विषय पर वर्णन मिलता है। अध्याय के प्रारम्भ मे रथचक्र पर बड़ा ही विस्तृत एव पारिभाषिक वर्णन प्राप्त है। रथ का चक्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग है। इस चक्र के नाना अगो, जैसे कुक्षि, अक्ष, शिखा अथवा दन्त, छिद्र तथा कील आदि पर सविस्तर वर्णन है। रथ-निर्माणोचित वृक्षो का भी वर्णन किया गया है, विस्तार व्यर्थ है। रथ का निर्माण आधार तथा उपाधार दो लकड़ियो पर अभीप्सित है। पुन. उस पर प्रोत्तुग रचना जिसमे बहुसख्यक भद्रो (बालकनियो) का विन्यास विहित है वे सभी भूष्य हैं। मानसार के रथ में ६ तल हो सकते है, परन्तु ज्यो-ज्यो तल ऊँचे होते जाये त्यो-त्यो उनकी ऊँचाई कम होती जानी चाहिए। रथो के नाना आकार होते थे। आकारानुरूप रथो के निम्नलिखित सात उपवर्ग बताये गये हैं—नभस्वद्भद्रक, प्रभजनभद्रक, निवातभद्रक, भवनभद्रक, पृषद्भद्रक, इन्द्रक-

भद्रक तथा अनिलभद्रक । पहला चौकोर, दूसरा षट्कोण, तीसरा दो भद्रो वाला, चौथा तीन भद्रो, पाँचवाँ तथा छठा १० भद्रो और ७वाँ बारह भद्रो वाला बताया गया है । अस्तु, रथ-निर्माण में भी प्रयोजनानुरूप उसके कई अन्य विवरण भी बताये गये है । जैसे—नित्योत्सव रथ मे पाँच पहियें, महोत्सव मे ६ से १० तक पहियें होने चाहिए, उसी प्रकार रथ की वेदियो (प्लेटफार्म) का भी क्रम है ।

तोरण

तोरण के ऊपर हम पीछे कह चुके है । पत्रतोरण, पुष्पतोरण, रत्नतोरण, चित्रतोरण आदि तोरण पाषाण एव काष्ठ दोनो से ही निर्मेय है । अतः उन पर विशेष विस्तार यहाँ ठीक नही ।

भवनोचित अन्य उपस्कर

मानसार मे भूषणलक्षण-विधान नामक ५०वे अध्याय मे भूषणो की दो प्रमुख सामान्य कोटियाँ मानी गयी है—अगभूषण तथा बहिर्भूषण । किरीट, कुण्डल, कंकण, केयूर, हार, मेखला, नूपुर आदि भूषणों का सम्बन्ध मानव अथवा देव (स्त्री एव पुरुष दोनो के लिए) से सम्बन्धित है । आगे प्रतिमा-निर्माण मे हम इस अग पर विचार करेंगे । यहाँ पर भवनोचित (जिसमे देवभवन भी सम्मिलित है) उन उपकरणो पर विचार करना है जिनको मानसार ने बहिर्भूषण के नाम से उपश्लोकित किया है । इन बहिर्भूषणों मे—दीपदण्ड, व्यजन, दर्पण, मंजूषा, दोला, तुला, पजर तथा नीड आदि की अवतारणा की गयी है । इन पर थोडा-सा प्रतिपादन आवश्यक है ।

दीपदण्ड—इसके दो प्रकार—स्थावर अथवा अचल तथा जंगम अथवा चल है । उनके नाना आकार चौकोर, अठकोण आदि विहित है । इनकी वेदिका की आकृति पद्माकृति होती थी । इनके मान एव इनकी विच्छित्तियो पर भी विवरण प्रस्तुत किये गये है । दीपदण्ड लोहे अथवा लकडी के बनाये जाते थे ।

व्यजन-दण्ड— व्यजन भी दीपदण्ड के समान बनाये जाते थे । इनके दण्ड तो लकड़ी अथवा लोहे के होते थे, परन्तु उनका व्यजन-भाग सम्भवत. चर्म का बनाया जाता था ।

दर्पण—इसके नाना प्रमाण निर्धारित किये गये है । यह प्राय. सुवृत्त अर्थात् गोल बनाया जाता था और इसके किनारे कुछ उठे होते थे और उसका रिम रेखाओं से रजित रहता था । दर्पण तो बडा ही प्रोज्ज्वल होता था, परन्तु उसके पिछले भाग पर लक्ष्मी आदि देव अथवा देवी का चित्र अवश्य रहता था ।

मंजूषा—यह आजकल के बक्स के समान बोद्धव्य है । लकडी अथवा लोहे की नाना

आकृतियो मे यह बनायी जाती थी। इनमें एक से लगाकर तीन कोष्ठ होते थे। इनके प्रभेदों मे पर्णमजूषा, तैलमजूषा, वस्त्रमंजूषा आदि के विधान है।

दोला तथा तुला——इस पर भी वर्णन प्राप्त होते है। परन्तु पजर अथवा नीडो के निम्न प्रभेद बडे मनोरजक है। मान-पुरस्सर निम्नतालिका देखिए —

पंजर अथवा नीड		मान
मृगनाभि विडाल पजर		१——२ हस्त
शुक	,,	९–२३ अगुल
चातक	,,	७–२३ ,,
चकोर	,,	,, ,,
मराल	,,	,, ,,
पारावत	,,	,, ,,
नीलकठ	,,	२५–२३ ,,
कुजरीय	,,	५–२१ ,,
खजरीट	,,	७–२३ ,,
कुक्कुट	,,	१५–३१ ,,
कुलाल	,,	१५–३१ ,,
नकुल	,,	११–२७ ,,
तित्तिरि	,,	७–२३ ,,
गोधा	,,	९–२५ ,,
व्याघ्र	,,	१½–३½ हस्त

चतुर्थ पटल

प्रासाद-निवेश

१

प्रासाद एवं विमान

(लोक-व्यवहार तथा शास्त्रीय अर्थ)

विषय-प्रवेश

हिन्दू प्रासाद भारतीय वास्तु-शास्त्र एव भारतीय वास्तु-कला का मुकुटमणि ही नही, सर्वस्व है। भारतीय स्थापत्य की मूर्तिमती विभूति हिन्दू-प्रासाद है। यहाँ का स्थापत्य यज्ञवेदी मे प्रारम्भ होता है और मन्दिर की शिखर-शिखा पर समाप्त होता है। प्रासाद शब्द मे "प्रकर्षेण सादनम् (चयनम्)" की ही तो परम्परा है, जो सर्वप्रथम वैदिक चिति के कलेवर-निर्माण मे प्रयुक्त हुई और वही कालान्तर मे हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की पृष्ठभूमि बनी। मानव-सभ्यता के विकास की आध्यात्मिक, आधिदैविक एव बौद्धिक, मानसिक तथा काल्पनिक आदि विभिन्न सास्कृतिक प्रगतियों मे वास्तु-कलात्मक कृतियाँ एक प्रकार से सर्वातिशायिनी स्मृतियाँ है। ये कृतियाँ इष्टका-पाषाण आदि चिरस्थायी द्रव्यो से आबद्ध होकर युग-युग तक इस सांस्कृतिक विकास का परम निदर्शन ही नही प्रस्तुत करती है वरन् प्राचीन सास्कृतिक वैभव का प्रत्यक्ष इतिहास भी उपस्थित करती है। प्रत्येक देश एव जाति की वास्तु-कृतियो मे तत्कालीन जाति एव देश की विशेषताओ की छाप रहती है। भारतीय वास्तु-कला की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी अध्यात्म-निष्ठा है। यहाँ पर वास्तु-कला (जो विशेष कर मन्दिर-निर्माण मे पनपी, वृद्धिगत हुई और मन्दिर के उत्तुग शिखर के समान ऊँची उठी) का आधारभूत अध्यवसाय-प्रयोजन भारतीय जन-समाज की धार्मिक चेतना एव विश्वास को मूर्त्त स्वरूप प्रदान करके उनके प्रतीकत्व का कल्पन ही नही है, वरन् इस देश के दर्शन एव पुराण मे प्रतिष्ठापित तत्त्वो के रहस्यो का विजृम्भण भी है। यहाँ के मन्दिरो के निर्माण मे जन-समाज की धार्मिक उपचेतना की महती निष्ठा मे देवमिलन की भावना ही सर्वप्रधान है। मन्दिर का पीठ, उसका कलेवर एव उसका आकार एव विस्तार तथा उपसहार सभी इस भावना के प्रतीक है। प्रासाद-वास्तु के विकास में हम देखेंगे कि जिस पूजा-भावना से हमारे पूर्वजो ने पाषाण-पट्टिकाओ से तथा आरण्यक वनस्पतियो की वन्दनवार एव मण्डपो से अलकृत पूजा-गृहो की निर्माण-परम्परा का प्रचार किया था, वही भावना सर्वदा जागरूक रही अथवा वृद्धिगत होती रही।

मानव-देव-मिलन की कथा एकागी नहीं है। मानव देव से मिलने के लिए ऊपर उठता है तो उठते हुए मानव को देव ने सदैव चार पग आगे आकर छाती से लगाया है। प्रासाद-वास्तु की रूप-रेखा मे दोनो तत्त्व चित्रित है। प्रासाद के उत्तुग शिखर में देवत्व की खोज मानव के प्रयास की प्रतीक है और जहाँ पर यह प्रासाद-शिखर बिन्दु मे अवसान प्राप्त करता है वही मानव-देव-मिलन है अथवा मानवता का देवत्व में विकास है या मानवता एव देवत्व की एकता स्थापित होती है। हिन्दू-स्थापत्य के सर्वस्व हिन्दू-प्रासाद के इस सर्वांगीण दृष्टिकोण के अतिरिक्त एक धार्मिक-व्यावहारिक दृष्टिकोण भी है जो जन-धर्म की आस्था का परिचायक है और जिसकी परम्परा पुराणो की पुण्य-भूमि पर पल्लवित हुई है। मन्दिर-निर्माण वापी, कूप एव तडागादि-निर्माण के समान पूर्त-धर्म की सस्था है। व्यावहारिक रूप से परोपकारार्थ भी यह धर्मार्थ समझा गया। प्राय सभी धर्माचार्यों ने परोपकारार्थ-निर्मित प्रपा (प्याऊ) एवं तडागादि की महिमा गायी है। सूत्र-ग्रन्थो में तो इस सस्था का बडा ही गुणगान है। हिन्दू-धर्मशास्त्रो में वर्णित प्रतिष्ठा और उत्सर्ग का माहात्म्य इस पुरातन सस्था का पक्का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत प्रासाद-वास्तु को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमे सर्वप्रथम उसकी पृष्ठ-भूमि के उन प्राचीन गर्तो एव आवर्तो का अन्वेषण करना है जिनके सुदृढ एव सनातन, दिव्य एव ओजस्वी, कान्त एव शान्त स्कन्धो पर हिन्दू-प्रासाद की बृहती शिलाओ का न्यास हुआ है। हिन्दू प्रासाद हिन्दू सस्कृति, धर्म एव दर्शन, प्रार्थना, मन्त्र एव तन्त्र, यज्ञ एव चिन्तन, पुराण एव काव्य, आगम एव निगम का पुजीभूत मूर्त्त रूप है। भारतीय प्रासाद-रचना लौकिक कला पर आधारित नही है। सत्य तो यह है कि प्रासाद स्वयं लौकिक नही, वह अलौकिक एव आध्यात्मिक तत्त्व की मूर्तिमती व्याख्या है। यह मूर्ति-मान् आकार ऐसे ही नही उदय हो गया। शताब्दियों की सास्कृतिक प्रगतियो के सघर्ष से जो अन्त मे उपसहार प्राप्त हुआ वही हिन्दू-प्रासाद है। इसकी पृष्ठभूमि के प्रविवेचन मे हमने अलग से एक ग्रन्थ का निर्माण किया है जिसमे भारतीय सस्कृति के विकास की नाना परम्पराओ—श्रौत, स्मार्त, पौराणिक, आगमिक तथा दार्शनिक आदि की देन का मूल्याकन करते हुए श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपादित भारतीय धर्म की आत्मा से उद्भावित एव भारतीय दर्शन की महाज्योति से उद्दीपित हिन्दू प्रासाद की व्याख्या मे जिन नाना पृष्ठभूमियो के दर्शन किये है उनमे वैदिकी, पौराणिकी, राजाश्रया एव लोकधर्मिणी का विशेष उल्लेख है। इस पृष्ठभूमि के मूल्यांकन मे कलात्मक, दार्शनिक एव धार्मिक तीनो दृष्टियों के उन्मेष से लेखक का यह उपोद्घात एतद्विषयक प्रथम अनुसन्धान है। यह सब हमारे हिन्दू-प्रासाद (चतुर्मुखी पृष्ठभूमि) में द्रष्टव्य है। इस विषय-प्रवेश में

पाठको का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना है कि भारत का स्थापत्य अदेव-हेतुक बहुत कम रहा है। भारतीय स्थापत्य का मुकुटमणि किंवा उसकी सर्वातिशायिनी कला अथवा उसका मूर्त्तिमान् स्वरूप (शरीर एव प्राण) हिन्दू-प्रासाद है। हिन्दू संस्कृति की लोकव्यापिनी यह प्रोज्ज्वल पताका है। हिन्दू-प्रासाद मानव-कौशल की पराकाष्ठा ही नही, देवत्व की प्रतिष्ठा का भी परम सोपान है। सागर एवं बिन्दु, जड एवं चेतन, आत्मा एव परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या में हिन्दू शास्त्रकारो ने कलम तोड़ रखी है। हिन्दू स्थपतियो ने भी अपनी छेनी और बसूली आदि सूत्राष्टक (दे० पीछे) से वही कमाल दिखाया है। क्रान्त-दर्शी मनीषी कवियो (ऋषियो) ने अपनी वाणी से जिस अध्यात्म-तत्त्व के निष्यन्द मे छन्द-बन्ध एव वर्ण-विन्यास के द्वारा जिस लोकोत्तर भावाभिव्यजन का सूत्रपात किया है वही परिणाम प्रख्यात स्थपतियो की इन महाविभूतियो मे भी पाया गया है। इष्टका एव पाषाण की इस रचना मे धर्म एव दर्शन ने प्राण-सचार किया है। अत इस मौलिक आधार के मूल्यांकन बिना हिन्दू-प्रासाद की वास्तु-शास्त्रीय अथवा वास्तु-कलात्मक व्याख्या अथवा विवेचना अधूरी है।

भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म से अनुप्राणित रहा। जीवन की सफलता में लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा पारलौकिक नि.श्रेयस ही सर्वप्रधान लक्ष्य रहा। पारलौकिक नि श्रेयस की प्राप्ति मे नाना मार्गों का निर्देश है। प्रार्थना, मन्त्रोच्चारण, यज्ञ, चिन्तन-ध्यान, योग-वैराग्य, जप-तप, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा, देव-दर्शन, देवालय-निर्माण—एक शब्द में इष्ट और पूर्त (इष्टापूर्त) की विभिन्न सस्थाओ एव परम्पराओ ने सनातन काल से इस साधना-पथ पर पाथेय का काम किया है। मानव-सभ्यता की कहानी मे मानव की धर्म-पिपासा एव अध्यात्म-जिज्ञासा ने उसे पशुता से अपने को आत्मसात् करने से बचाया है। प्रत्येक मानव का बौद्धिक स्तर एक-सा नही, उसका मानसिक क्षितिज भी एक-सा विस्तृत नही। उसकी रागात्मिका प्रवृत्ति भी एक सी नही। उसका आध्यात्मिक उन्मेष भी सर्व-समान नही। अत मानवो की विभिन्न कोटियो के अनुरूप, साध्य पारलौकिक नि.श्रेयस की प्राप्ति मे नाना साधना-पथो का निर्माण हुआ। मार्ग अनेक अवश्य है, लक्ष्य तो एक ही है। यह लक्ष्य है देवत्व-प्राप्ति। संसार मानवता एवं देवत्व के पार्थक्य का कोलाहल है। इस कोलाहल का शब्द उस दिव्य स्वर्ग मे नही सुनाई देता जहाँ मानव-देव मिलन है। ससार-यात्रा एवं मानव का ऐहिक जीवन दोनो ही उस परम लक्ष्य की प्राप्ति की प्रयोगशाला है। देश-काल की सीमाओं ने यद्यपि इस लक्ष्य की ओर जाने के लिए अगणित मार्गों का निर्माण किया है, परन्तु विकासवाद की दृष्टि से देव-पूजा, देव-प्रतिष्ठा एव देवालय-निर्माण भारत की सर्वाधिक प्रशस्त, व्यापक एव सर्व-लोकोपकारी संस्था साबित

हुई है। तपोधन महर्षियो एव ज्ञान-धन ज्ञानियो से लेकर साधारण से साधारण विद्या-बुद्धि वाले प्राकृत जनो—सभी का यह मनोरम एव सरल साधनापथ है।

इसी मौलिक उन्मेष मे लेखक ने हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठभूमि की उद्भावना की। इसमे "वैदिकी" का तात्पर्य हिन्दू-प्रासाद की मौलिक भित्ति, वैदिकचिति के महत्त्व का मूल्याकन है। हमने प्रासाद की समीक्षा के लिए तीन दृष्टियो—कलात्मक, दार्शनिक एव धार्मिक—पर ऊपर संकेत किया है। वैदिकी से हमें प्रासाद की कलात्मक प्रकृति का कुछ आभास प्राप्त हो सकता है। दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से हम आगे के अध्याय मे कुछ विवेचन करेगे परन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से पुनः दो अवान्तर शाखाएँ प्रस्फुटित होती हैं; एक तो पौराणिक-धर्म मे प्रतिपादित पूर्त-व्यवस्था—देवालय, कूप, तडाग, वापी आदि के निर्माण की परोपकारार्थ (धर्मार्थ) परम्परा तथा दूसरी इसका जनसमाज, विशेष कर राजाओ, समृद्ध एव सम्पन्न व्यक्तियो पर प्रभाव तथा उनके आश्रय से इस सस्था का दैनन्दिन विपुल प्रसार और उसके द्वारा प्रासाद-निर्माण का लोकोत्तर उत्थान। इन दोनो दृष्टियो की समीक्षा में हमने उपर्युक्त ग्रन्थ मे "पौराणिकी" अर्थात् पूर्त-धर्म के द्वारा प्रासाद-निर्माण की प्रेरणा, "राजाश्रया" अर्थात् राजाओ के द्वारा सरक्षण-प्रदान, जिससे भव्यातिभव्य बहुद्रव्यापेक्ष प्रासादो का निर्माण हो सका, तथा "लोकधर्मिणी" अर्थात् तीर्थयात्रा के माहात्म्य के द्वारा उद्भावित एव उपश्लोकित नाना पावन क्षेत्रो पर प्रासादो की प्रतिष्ठा एव उदय आदि की विभावना की है।

अस्तु, अन्त मे प्रासाद की पृष्टभूमि के इस औपोद्घातिक निर्देश के उपरान्त प्रकरण की अवतारणा मे इतना ही सूच्य है कि यद्यपि प्रासाद-कला की समीक्षा मे अर्वाचीन समय में बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये हैं परन्तु उनमें शास्त्रीय दृष्टिकोण का अभाव है। इस ग्रन्थ में शास्त्रीय दृष्टिकोण से ही प्रासाद की कलात्मक मीमासा अभिप्रेत है। तदनुरूप प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास के साथ-साथ प्रासाद की नाना शैलियो एव उसके निवेश के सिद्धान्तो एव प्रासाद-निवेश के अन्य सहायक निवेशो—मण्डप, जगती आदि पर भी नयी-नयी उद्भावनाएँ की गयी है और अन्त मे भारतीय प्रासाद-कला का केन्द्रानुरूप अथवा राजाश्रयानुरूप एक विहगम दर्शन भी किया गया है और अन्त मे यह भी प्रयास किया गया है कि शास्त्रो में प्रतिपादित प्रासाद-स्थापत्य के सिद्धान्त और कला-कृतियो मे कहाँ तक समन्वय की प्रतिष्ठा हो सकी है। किसी भी शिल्प-ग्रन्थ का अध्ययन बिना उसकी समन्वयात्मक प्रतिष्ठा के पूर्ण नही कहा जा सकता। लेखक ने इसी परम उद्देश्य को लेकर इस पारिभाषिक विज्ञान के अध्ययन का प्रयास किया है।

'प्रासाद-रचना' वास्तु-कला (स्थापत्य) का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'प्रासाद' शब्द वैसे तो जन-साधारण में राजाओं के महलों के लिए प्राय. प्रयुक्त होता है, परन्तु वास्तु-शास्त्रीय परिभाषा में तो प्रासाद का तात्पर्य विशुद्ध स्वरूप में देवमन्दिर से है। प्रासाद में 'राज' शब्द के जोडने से वह राजमहल का बोधक बन जाता है। अत सक्षेप में 'प्रासाद' शब्द परम्परा से देवमन्दिरो एव राजमहलों—दोनो के लिए प्रयुक्त हुआ है। अमरकोश मे "हर्म्यादि धनिना वास. प्रासादो देवभूभुजाम्" जो उल्लेख है वह उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है।

डा० आचार्य महोदय ने अपनी Encyclopaedia of Hindu Architecture (cf p. 364) मे प्रासाद शब्द पर विस्तृत विवेचन किया है तथा विभिन्न उदाहरणो एव अवतरणो का समुद्धरण कर अन्त मे प्रासाद शब्द से निम्नलिखित भिन्न-भिन्न भवनों एव रचनाओं का अर्थ लिया है। डॉ० साहब लिखते है —

"उपर्युक्त उद्धरणो से यह प्रकट है कि 'प्रासाद' शब्द का तात्पर्य आवास-भवनो एव देवमन्दिरो दोनो से है। प्रासाद शब्द—विशाल देवालयो एव क्षुद्रमण्डपो, जहाँ पर किसी देव अथवा देवाधिदेव महादेव के लिग की स्थापना होती है—दोनो के लिए प्रयुक्त होता है। इस शब्द के अर्थ मे उत्तुग राजभवन एव साधारण गृह दोनो सम्मिलित हैं; भवन की परम्परा मे प्रासाद का अर्थ है बहुभौमिक भवन, बुर्ज तथा उत्तुग दर्शक-पीठ, एक ऐसा भवन जो ऊँची जगती पर निर्मित किया गया हो और जिस पर पहुँचने के लिए सोपान-पक्ति का सहारा लिया जाय, वह भवन जो किसी देव-निमित्त अभिषिक्त है अथवा जिसमे राजा रहता है, अर्थात् देवमन्दिर तथा राजभवन, अथवा परिषद्-प्रकोष्ठ या बौद्ध-दीक्षा-शाला।" 'प्रासाद' पर प्रकाश डालने के लिए जिन-जिन अर्थों का इस अवतरण मे समावेश किया गया है वे लौकिक विशेष हैं वैज्ञानिक कम। वास्तु-शास्त्रीय वैज्ञानिक विवेचन में शब्दशक्ति एव परम्परागत विभिन्न साहित्य-सन्दर्भों से द्योतित एव प्रचलित शब्दो का सर्वांश मे समाहार नही होना चाहिए। पारिभाषिक शब्द तो एक ही दो वस्तु के नियामक होने चाहिए,—अन्यथा विज्ञान तथा साहित्य मे फिर अन्तर ही क्या रहा? इसमे सन्देह नही कि डाक्टर साहब ने अपने विस्तृत अनुसन्धान एव प्रगल्भ-गवेषण से जो इस शब्द की छान-बीन की है वह परम स्तुत्य है परन्तु वास्तु-शास्त्रीय वैज्ञानिक विवेचन मे पारिभाषिक शब्द के एक नियत अर्थ की खोज आवश्यक है। पुराणो एव आगमो तथा रामायण, महाभारत आदि विभिन्न साहित्य-ग्रन्थों के साथ-साथ भारतीय अभिलेखो एव बौद्ध धार्मिक-साहित्य आदि के विभिन्न सन्दर्भों में जो 'प्रासाद' शब्द के बहुल प्रयोग प्राप्त होते है उनसे निस्सन्देह उसका विभिन्न अर्थों मे प्रयोग स्पष्ट है। परन्तु प्रासाद शब्द का विशुद्ध एव एकांगी प्रयोग देवमन्दिर

के लिए ही पुराणो मे हुआ है। मानसार मे तथा कामिकागम आदि दाक्षिणात्य ग्रंथों में मन्दिरो के लिए विमान शब्द का विशेष प्रयोग हुआ है।

समरांगणसूत्रधार में तो प्रासाद शब्द का एकमात्र अर्थ देवमन्दिर है। विभिन्न प्रकार के देवालयो के वर्णन मे असन्दिग्ध रूप से प्रासाद शब्द का ही अविकल प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त जैसा कि "स्थपति एवं स्थापत्य" के प्रकरण में हम देख चुके है कि चतुर्विध स्थापत्य के आठ अगो मे "प्रासाद" एक विशिष्ट अंग है। प्रासाद-रचना, राज-भवन-निर्मिति तथा साधारण भवन-प्रकल्पना इन तीनो के अपने पृथक्-पृथक् कला-सिद्धान्त है। समरागण का यह वैज्ञानिक वर्गीकरण भारतीय स्थापत्य मे एक विशेष देन है।

अत इस अवतरण से स्पष्ट है कि प्रासाद-रचना (Temple-architecture) राज-भवन (नृपतेर्वेश्म) तथा साधारण-भवन इन दोनो से अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इसी दृष्टिकोण से समरागण मे देवमन्दिरो के लिए 'प्रासाद' शब्द का प्रयोग किया गया है। वैसे तो देवमन्दिर के लिए विभिन्न वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो मे विभिन्न पर्याय प्रस्तुत किये गये है अथवा देवमन्दिर के लिए प्रासाद शब्द के अतिरिक्त विमान शब्द का भी प्रचुर प्रयोग देखा गया है, परन्तु उत्तरापथीय परम्परा मे देवमन्दिर के लिए प्राय: सभी ग्रन्थो मे प्रासाद शब्द का ही विशेष प्रयोग पाया जाता है।

'प्रासाद वास्तु' की निष्पत्ति अथवा उसकी प्रादुर्भाव एव विकास-विषयक समीक्षा मे इस तथ्य की ओर विशेष विवेचन होगा। यहाँ पर इस अध्याय में प्रासाद शब्द का क्या तात्पर्य है तथा इसके सकेत का कहाँ तक विस्तार है—इसी पर विशेष ध्यान देना है।

समरागणसूत्रधार ग्यारहवी शताब्दी का ग्रन्थ है। प्रासाद-वास्तु का विकास एव चरमोत्कर्ष उस समय तक पूर्ण रूप से सम्पन्न हो चुका था—यह विज्ञ विद्वानो से अविदित नही है। ग्यारहवी शताब्दी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' है। इस ग्रन्थ मे जहाँ देवपूजा आदि के सम्बन्ध मे विस्तृत विवेचन है वहाँ प्रासाद-वास्तु, प्रतिमा-निवेश आदि पर भी बड़ा ही प्रोज्ज्वल प्रकाश डाला गया है। तृतीय भाग के बारहवे अध्याय के सोलहवे श्लोक मे 'प्रासाद' शब्द का बडा ही सुन्दर एव विशद अर्थ अवलोकनीय है जिससे प्रासादवास्तु का मर्म अविकल अवतरित हो गया है। उसका सार है कि देवमन्दिर—प्रासाद का स्वरूप शिव तथा शक्ति की उभयात्मक सत्ता का द्योतक है। अथवा इसके स्वरूप मे प्रारम्भिक तत्त्व, जैसे वसुधा (धरा) आदि से लेकर शक्ति तक सभी तत्त्वो का समावेश है। इस प्रकार प्रासाद-रूपी यह देवमन्दिर शैवी मूर्ति के नाम से चरितार्थ होता है। अत यह प्रासाद ध्यान एव पूजा दोनो के लिए योग्य है।

प्रासाद की यह परिभाषा 'प्रासाद' शब्द के धात्वर्थ में भी छिपी हुई है। यह शब्द (प्रासाद) उस अर्थ अथवा अभिधेयार्थ का द्योतक है जिससे हम उस निराकार अव्यक्त पुरुष की सादन-क्रिया करते है। अत. सादित पीठ एव साद्य देव दोनो ही प्रासाद मे प्रकट है। वाजसनेयीसंहिता के सादन-मन्त्र (१२.५३) का यही मर्म है। उपर्युक्त प्रासादपरिभाषा मे शिव एवं शक्ति का निर्देश है—यह शैव-परम्परा है। वैष्णव शिव के स्थान पर विष्णु तथा शक्ति के स्थान पर लक्ष्मी समझ ले, इसी प्रकार अन्य देवो के प्रासादो के सम्बन्ध मे भी यही चारितार्थ्य है। इस परिभाषा एवं उद्धरण का एकमात्र आशय यह है कि 'प्रासाद' एक प्रकार का निराकार एव अव्यक्त पुरुष का साकार एव प्रकट स्वरूप है। अग्निपुराण मे लिखा है —

प्रासादं पुरुषं मत्वा पूजयेद् मन्त्रवित्तमः ।
एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः ।

अर्थात् 'प्रासाद' पुरुष-स्वरूप समझना चाहिए तथा मन्त्रवेत्ता के लिए प्रासाद भी पूज्य है। अथवा प्रासाद साक्षात् हरि स्वरूप है।

इस प्रकार प्रासाद-वास्तु का तात्पर्य स्थापत्य कौशल मे उस भवन-विशेष से ही नही है जिसे हम पूजा-वास्तु कहते हैं अपितु भारतीय वास्तु-परम्परा मे प्रासाद अथवा देवमन्दिर पूजा-गृह के साथ ही पूज्य भी है। वह पार्थिव ही नही अपार्थिव भी है। प्रासाद से हमारा अभिप्राय है अप्रत्यक्ष पुरुष (ब्रह्म) का प्रत्यक्ष मूर्तस्वरूप, जिसमे सर्वव्यापक अप्रत्यक्ष पुरुष की प्रतीकस्वरूप प्रतिमा की स्थापना होती है। इसी परम्परा के अनुसार आज भी जहाँ देवालय की प्रतिमा का दर्शन एवं पूजन होता है वहाँ देवालय की प्रदक्षिणा भी नितान्त आवश्यक समझी जाती है।

प्रासाद-वास्तु के समुद्घाटन मे जैसा कि आगे के अध्याय मे प्रतिपादित किया गया है, प्रासाद-प्रकल्पन मे—देवमन्दिर की रचना मे पुरुषाकृति का सम्यक् सन्निवेश प्रायः सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो ने किया है। निम्नलिखित अवतरण विशेष द्रष्टव्य है —

प्रासादं वासुदेवस्य मूर्त्तिभेदं निबोध मे ।
धारणाद्धरणीं विद्धि आकाशं शुषिरात्मकम् ॥
तेजस्तत् पावकं विद्धि वायुं स्पर्शगतं तथा ।
पाषाणादिष्वेव जलं पार्थिवं पृथिवीगुणम् ॥
प्रतिशब्दोद्भवं शब्दं स्पर्शं स्यात् कर्कशादिकम् ।
शुक्लादिकं भवेद्रूपं रसमन्नादिदर्शनम् ॥
धूपादिगन्धं गन्धन्तु वाग्भेर्यादिषु संस्थिता ।
शुकनासाश्रिता नासा बाहू तद्रथकौ स्मृतौ ॥

शिरस्त्वण्डं निगदितं कलशं मूर्द्धजं स्मृतम् ।
कण्ठं कण्ठमिति ज्ञेयं स्कन्धं वेदी निगद्यते ।।
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक् सुधा परिकीर्त्तिता ।
मुखं द्वारं भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते ।।
तच्छक्तिं पिण्डिकां विद्धि प्रकृतिं च तदाकृतिम् ।
निश्चलत्वञ्च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः ।।
एवमेव हरिः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः ।
जङ्घा त्वस्य शिवो ज्ञेयः स्कन्धे धाता व्यवस्थितः ।।
ऊर्ध्वभागे स्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि ।
(अग्निपुराण ६१.१९-२७)

इसी प्रकार के प्रवचन हयशीर्ष एवं शिल्परत्न में भी दृष्टव्य हैं —

सर्वतत्त्वमयो यस्मात् प्रासादो भास्करी तनुः ।
तद् यथावस्थितं सर्वं कथयामि निबोधत ।।
पायूपस्थौ प्रणालौ द्वौ नेत्रौ ज्ञयौ गवाक्षकौ ।
सुधा भुग्न (?) पिनीज्ञेया स (व) क्षो मञ्जरीकोर्द्धतः ।।
जङ्घा जङ्घा तु विज्ञेया वरण्डी वसना मता ।
शुकाघ्रा तु भवेन्नासा सूत्राणि विशेषतः ।।
गर्भः स्थिरत्वे विज्ञेयो मुखं द्वारं प्रकीर्त्तितम् ।
कपाटौ पृष्ठपुटौ ज्ञेयौ प्रतिमा जीवमुच्यते ।।
स्कन्धस्तु वेदी गदिता कण्ठं कण्ठमिहोच्यते ।
शिरोमालास्थितं ज्ञेयं ......चून संस्थितम् ।।
एवमेव रविः साक्षात् प्रासादस्थेन संस्थितः ।
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्करः स्मृतः ।।
(हयशीर्षपंचरात्र ३९–व० र० स० मं०)

प्रपदं पादुकं विद्याच्छिखा स्तूपीति कथ्यते ।
लोहकीलकपत्रादि सर्वं दन्तनखादिकम् ।।
सुधा शुक्लं त्विष्टकौघमस्थिमज्जा च पीतरुक् ।
मेदः श्यामरुचिस्तद्वद् रक्तं रक्तरुचिस्तथा ।।
मांसं मेचकवर्णं स्याच्चर्म नीलं न संशयः ।
त्वक् कृष्णवर्णमित्याहुः प्रासादे सप्तधातवः ।।
(शिल्परत्न १६. १२१–२३)

इन प्रवचनों के प्रामाण्य से हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति (Origin) पर भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मत स्थिर कर सकते हैं। अभी तक विद्वानों ने प्रासादोत्पत्ति (Origin of Temple) पर नाना आकूत लगाये हैं। 'Mound and Grave Theory,' 'Umbrella Theory' तथा 'Theory of the evolution of Stupa' आदि काल्पनिक आकूतों से हम परिचित ही हैं। ये सभी कल्पनाएँ व्यर्थ हैं। वास्तव में प्रासाद-वास्तु का विकास एवं विजृम्भण पुरुषाकार एवं पुरुषावयव के सादृश्य पर निर्भर रहा है जिसे Organic Theory के नाम से पुकारा जा सकता है और जिसकी विशेष समीक्षा मल्लाया ने अपने ग्रन्थ में की है (cf. Studies in Sanskrit Texts on Temple Architecture with special ref. to Tantrasamuccaya, pp. 1–25)। प्राचीन समस्त वाङमय में यही सिद्धान्त सर्वत्र प्रतिपादित है। अग्निपुराण के "प्रासाद पुरुष मत्वा पूजयेन्मन्त्रवित्तम" से हम परिचित ही हैं—यह परवर्ती ग्रन्थ है। स्कन्दोपनिषद् ऐसी प्राचीन पुस्तक में भी तो यही मर्म उद्घाटित है —

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

प्राचीन वाङमय के अज्ञान से ही विद्वान् लोग उपर्युक्त व्यर्थ के आकूतों से भारतीय स्थापत्य एवं विशेष कर हिन्दू प्रासाद (Hindu Temple) के विकास-सम्बन्धी भ्रान्त मतों की चर्चा करते रहे हैं। अब आशा है वास्तु-शास्त्रीय इस नवीन अध्ययन, अनुसन्धान एवं गवेषण से ये विप्रतिपत्तियाँ भारतीयता-विज्ञान (Indology) से दूर हो सकेंगी। प्रासाद-वास्तु का प्रतिपादन करने वाले भारतीय साहित्य (पुराण एवं शिल्प अथवा वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ) ने प्रासादों के अंगों एवं उपांगों का जो वर्णन किया है उन सभी के नाम इसी सिद्धान्त पर रखे गये हैं। पुरुषाकृति प्रासाद के अविकल अंग पुरुषावयवों के आधार पर आधारित हैं। निम्न तालिका निभालनीय है —

१–पादुका	९–पर्व	१७–मूर्धा
२–पाद	१०–गल	१८–मस्तक
३–चरण	११–ग्रीवा	१९–मुख
४–अङ्घ्रि	१२–कन्धर	२०–वक्त्र
५–जघा	१३–कण्ठ	२१–कट
६–ऊरु	१४–शिखर	२२–कर्ण
७–कटि	१५–शिरस	२३–नासिका
८–कुक्षि	१६–शीर्ष	२४–शिखा आदि।

समरांगणसूत्रधार अथवा अन्य किसी भी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ को लीजिए तथा उसमे जो नाना शैली एव नाना वर्ग के प्रासाद वर्णित है उनमे किसी भी उपलक्षणात्मक प्रासाद को देखिए, उसके वर्णन में इन्ही शब्दों से प्रासाद-वास्तु की संज्ञाओ का प्रयोग मिलेगा। अत: उपर्युक्त सिद्धान्त की सत्यता का मूल्यांकन हम कर सकते हैं। अथच ये शब्द जो पारिभाषिक पदो के रूप मे व्यवहृत हुए है उनको हमे पादार्थिक अर्थ (objective sense) मे नही लेना चाहिए। उनका मर्म स्वात्मात्मक अर्थ (subjective sense) मे छिपा है जिससे भारतीय वास्तुकला का अवयवावयवी ऐकात्म्य परिनिष्ठित हुआ है और भारतीय भवन, (विशेष कर) प्रासाद (Hindu Temple) एकमात्र इष्टकापाषाणपुंज न रहकर प्राणदिग्ध पुरुष-रूप मे परिनिष्ठित हुआ है। भारतीय स्थापत्य की छन्दव्यवस्था (Rythm) तथा मर्मवेध-परित्याग आदि के सिद्धान्त इसी मौलिक सिद्धान्त की पुष्टि करते है।

अथच यहाँ पर एक तथ्य और सूच्य है। प्राय हम देखते है कि जहाँ भारतीय प्रासादो के वाह्य कलेवर पर नानाभूमिक भूमिकाओ, चित्रणो, चित्रो, शोभा-सभारों की सर्वत्र छटा, सुषमा एव सौन्दर्य देखने को मिलेगा वहाँ उसके अन्तराल, विशेष कर गर्भगृह मे इन शोभाओ का सर्वथा अभाव किंवा शून्यत्व भी इसी उपर्युक्त मत का पोषक है। अस्तु,

प्रासाद-रचना एवं उसके विकास की इस परम्परा के उद्घाटन के सम्बन्ध मे यहाँ पर विज्ञ विद्वानो को अविदित नही है कि जिस प्रकार वास्तु-कला की भवन-रचना के अग का विकास विशेष कर राजाश्रय पाकर हुआ है उसी प्रकार पौराणिक धर्म ने, विशेष कर शिवपूजा एवं माहात्म्य तथा विष्णु-पूजा एव माहात्म्य ने इस दिशा मे अर्थात् प्रासाद-रचना एव उसके विकास मे बडा योग दिया।

पौराणिक युग के प्रथम वैदिक काल मे देवों की पूजा प्रतिमा के रूप मे नहीं होती थी। वैदिक-काल स्तुति, यज्ञ एव चिन्तन का युग था अत मूर्ति-पूजा का प्रचार नही हो पाया था। अत इस युग को देवोपासना की दृष्टि से हम स्तुति-प्रधान (ऋग्वेदादि वेदों का समय), यज्ञ-प्रधान (ब्राह्मण-काल) तथा चिन्तन-प्रधान (आरण्यक एव उपनिषत्काल) के रूप मे देख सकते है। इसके अतिरिक्त विज्ञ विपश्चित् इससे भी अविदित नहीं है कि यज्ञ-बहुल वैदिक धर्म के विरोध मे तो स्वय भारतीय ऋषियो ने ही विरोध की वैजयन्ती उठायी थी जिसके विपुल प्रमाण आरण्यको एव उपनिषदो मे बिखरे पडे है। यही कारण है कि यज्ञ की परम्परा का अधिराज्य जो ब्राह्मण-काल मे सर्वोच्च शिखर पर आसीन था वह आरण्यको एव उपनिषदो की कालपरम्परा मे ढहकर भूमितल पर अपने समुचित स्थान पर आ गया था। याज्ञिकोपासना के खण्डहरो मे ही ब्रह्म-

चिन्तन एव आत्मचिन्तन की परम्परा को पल्लवित करने के लिए उपासना की एक नवीन धारा का संचार हुआ जिससे प्रेक्षक पाठक पूर्ण रूप से परिचित है। यज्ञिय उपासना के प्रति यह विरोध आभ्यन्तरिक ही था बाह्य नही। अत धर्म-सहार न होकर धर्म-सुधार ही हुआ। परन्तु आगे चलकर दो नवीन धर्मों ने—बौद्ध तथा जैन इन दो अवैदिक एवं तार्किक धर्मो ने "यज्ञबहुल", "हिंसासमन्वित," "आडम्बर-पूर्ण" इस ब्राह्मण-धर्म का घोर विरोध किया। यह विरोध साधारण न था। इसका प्रचार जनसाधारण में होने के कारण ब्राह्मण धर्म की जड़ों मे ही बड़ा धक्का लग गया था। अत ब्राह्मणो के लिए एक विकट समस्या उपस्थित हो गयी—जन-मानस को किस प्रकार से ब्राह्मण-धर्म—सनातनधर्म की ओर पुन. आकृष्ट किया जाय और किस प्रकार से इन दोनो नवीन नास्तिक धर्मो को भारतीय आर्य-भूमि से समूलोन्मूलित कर बाहर भगाया जाय? आपत्ति के इस काल मे—मक्रान्ति के रस सक्रमण मे ब्राह्मणों की बुद्धि की कठिन परीक्षा थी। अन्ततः परीक्षा मे वे सफल हुए। पुराणो की रचना हुई। पूजा-वास्तु का प्रचार हुआ। शिव-पूजा तथा भक्ति एव विष्णु-पूजा तथा भक्ति, पुराणों की इन दो विशाल धाराओं ने भारतीय जन-समाज को, आबालवृद्धवनिता को पूर्णरूपेण आप्लावित कर दिया। फलत पुराना हिन्दूधर्म नये हिन्दूधर्म—पौराणिक धर्म की रूपरेखा से सज-धजकर फिर उसी प्रकार अपनी ध्वजा फहराने लगा।

साराश यह है कि वास्तु-कला की समुन्नति मे पौराणिक धर्म ने जो विशेष योग दिया उसका अभिप्राय यह है कि पौराणिक धर्म मे मूर्ति-पूजा, विशेष कर शिव और विष्णु की पूजा और देवो के मन्दिरो की स्थापना का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ। अतएव इस नवीन हिन्दू-धर्म के प्रचार मे हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक अर्थात् उत्तरापथ एव दक्षिणापथ—भारत के इन दोनो विशाल भूभागो पर एक छोर से दूसरे छोर तक बडे-बडे मन्दिरो की स्थापना हुई। कालान्तर मे वे बडे-बडे तीर्थ-स्थानो के रूप मे परिणत हुए।

प्रासाद की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला जा चुका है। प्रासादो के निर्माण के प्रयोजन का आधारभत रहस्य क्या था—इस पर सकेत हो चुका है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सस्कृत के वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ, जैसे मानसार आदि तथा अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ, जैसे आगम-ग्रन्थो तथा पुराणो मे भी अर्थात् जिन-जिन ग्रन्थो मे देवमन्दिरो के सम्बन्ध मे चर्चा है तथा पूजा-वास्तु का प्रतिपादन है उनमे "प्रासाद" इस शब्द के अतिरिक्त विमान आदि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है। अत विमान और प्रासाद मे वास्तु-कला की दृष्टि से क्या कोई अन्तर है अथवा दोनो एक है इस प्रश्न पर थोड़ा-सा प्रकाश डालना होगा। साथ-ही-साथ प्रासाद शब्द के जो पुरातन सकेत प्राप्त होते है उनका अविकल प्रासाद शब्द का अर्थ देवमन्दिर के रूप मे है कि नही यह भी विचारणीय है।

सर्वप्रथम दूसरे प्रश्न को लीजिए। डा० आचार्य महोदय की "प्रासाद" शब्द की वास्तु-शास्त्रीय खोज (देखिए Encyclopaedia of Hindu Architecture, page 343) का सकेत किया जा चुका है तथा यह भी कहा जा चुका है कि प्रासाद शब्द के विभिन्न अर्थ इस वास्तु-विद्या-निधान मे डा० साहब ने अपने प्रगल्भ गवेषण एव अनुसधान के प्रतिफलरूप संगृहीत किये हैं। विभिन्न शिलालेखो तथा साहित्यिक सन्दर्भ, जैसे सूत्र-ग्रन्थो के सन्दर्भो एव रामायण तथा महाभारत आदि पुरातन साहित्य मे प्रयुक्त इस शब्द के प्रयोगो एवं उनसे सकेतित विभिन्न-जातिक निर्मितियां का विपुल सग्रह डाक्टर साहब के कोश मे विद्यमान है—पाठक कौतूहलवश उसका अवश्य परिशीलन करे—यहाँ पर उसकी आवृत्ति पिष्ट-पेषण ही होगी। परन्तु लेखक को इस दिशा में इतना संकेत करना है, चूंकि प्रासाद-वास्तु के विकास का प्रारम्भ वेदी-रचना मे प्रारम्भ होता है तथा वैदिक-कालीन वेदी-रचना मे ही परवर्ती प्रासाद-वास्तु (Temple Building)) का विकास-बीज निहित है। अत प्रासाद-सम्बन्धी जो प्राचीनतम संकेत वैदिक-साहित्य (सू० ग्रन्थ) मे प्राप्त हुए है उनका सम्बन्ध वेदी-वातावरण मे ही है। शाखायन श्रौतसूत्र (अ० १६वाँ, १८, १३) के जिस निम्न प्रवचन मे प्रासाद शब्द का समुल्लेख हुआ है उसका अर्थ यद्यपि प्रोन्नत पीठ (Raised Platform) है तथापि वही प्रोन्नत पीठ (जगती के रूप मे) कालान्तर मे परवर्ती विशाल-काय प्रासाद भवन का आधार बना —

संस्थिते मध्यमेऽहन्याहवनीयमभितो विक्षु प्रासादान् वितन्वन्ति।

यही उन्नत पीठ अपनी सजधज मे विभिन्न पुरुषाकृति वास्तु-अवयवों से अलकृत एव निर्मित होकर देवावास के रूप मे परिणत हो गया। प्रासाद शब्द के व्युत्पत्ति (etymology) की दृष्टि से दो अर्थ निकलते है—"प्रकर्षेण सादनम् स्थापनम् आच्छादन वा" (piling up of Vedic altar) तथा "प्रसाद एव प्रासाद" (pleasing)। प्रासाद के पहले धात्वर्थ प्र+साद=स्थापन) का सकेत हो चुका है। दूसरे धात्वर्थ (प्रसाद=प्रसन्नता) के अनुसार, जैसा कि 'शिल्परत्न' के निम्न प्रवचन से प्रकट है, वह भवन-विशेष है जो अपने सौन्दर्य एव अपनी ओजस्विता तथा आकर्षण के कारण मानवो एव देवो दोनो के लिए सत्य शिव सुन्दर की सनातन आर्यभावना का प्रतीक बना। शिल्परत्न मे लिखा है —

देवादीनां नराणां च येषु रम्यतया चिरम्।
मनांसि च प्रसीदन्ति प्रासादास्तेन कीर्तिताः॥

अर्थात् जिन भवन-विशेषों मे पाषाण-शिलाओ, इष्टकाओ तथा सुधा एव वज्रलेप आदि दृढ़ वास्तु-संभारो से स्थायित्व प्रदान करनेवाले वास्तु-सौन्दर्य की चिर-प्रतिष्ठा

संस्थापित हो चुकी है और इसी सौन्दर्य के कारण ये भवन देवादिक एवं मनुष्य दोनों के मनो को प्रसन्न करते हैं—अन्तःकरण की कलिका खिलाते हैं अतः ये भवन प्रासाद कहलाते हैं। शाखायन श्रौतसूत्र के प्रासाद-सन्दर्भ पर संकेत हो चुका। इस सूत्र-ग्रन्थ को ईसा-पूर्व पाँचवी शताब्दी से अर्वाचीन नही माना जा सकता। पतजलि के महाभाष्य (जिसका काल विद्वानो ने ईशवीय शतक पूर्व २०० वर्ष माना है) मे भी देव-प्रासादो का निर्देश मिलता है (दे० २ २. ३४)। महाभाष्य (दे० १. १. ६) मे प्रासाद एव उसकी भूमिकाओ पर भी संकेत प्राप्त होता है। प्रासादो मे भूमिकाओ एव शिखरो का निवेश एक प्रकार से अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। अस्तु,

साहित्यिक साक्ष्य के अतिरिक्त पुरातत्त्वीय साक्ष्य का भी थोडा-सा उल्लेख आवश्यक है। इस सम्बन्ध मे ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के एक शिलालेख (गरुड-स्तम्भ, भेलसा) मे अंकित भागवत-उत्तम प्रासाद का निर्देश है। इस पुरातत्त्वीय सामग्री से भी प्रासाद की प्राचीनता मे दो राये नही हो सकती। और भरहुत के एक रिलीफ पैनेल (ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी) मे वैजयन्त प्रासाद का सकीर्तन है। वह भी प्रासाद के इतिहास पर प्रकाश डालता है। इसी प्रकार अन्य नाना सन्दर्भों (दे० डा० आचार्य का वास्तु-शास्त्रीय विश्वकोश) से भी प्रासाद की प्राचीनता प्रकट है।

इनके अतिरिक्त ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी मे तो प्रासादो के संकेत प्रचुर प्रमाण मे पाये जाते है।

अब रही रामायण तथा महाभारत के प्रासाद-सदर्भ की बात, सो विद्वान् इन ग्रन्थो मे प्राप्त "प्रासाद" शब्द का अर्थ देवमन्दिर के अर्थ मे लेने मे हिचकिचाते हैं—यह लेखक की समझ मे नही आता। हां यह निर्विवाद है कि इन ग्रन्थो मे देवावासों के लिए देवतायतन, देवगृह, देवस्थान आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है, परन्तु श्रीमती स्टेला के मत मे (देखिए Hindu Temple) इन शब्दो का अभिधेयार्थ मन्दिर मे ही हो—यह असंदिग्ध नही। रामायण की "तिलक" टीका मे "प्रासाद" को त्रिभौमिक भवन माना है, वह Symbolic प्रतीक स्वरूप हो सकता है। अथच रामायण एव महाभारत की परम्परा मे अमरकोश की परम्परा (प्रासादो देवभूभुजाम्) सम्भवत सन्निहित है। अतः रामायण के प्रासाद देवमन्दिर तथा राजमहल अथवा विशाल उत्तुग भवन दोनो ही के लिए अभिहित हैं। इसी प्रकार महाभारत के सभा-भवनों की भी गाथा है। इन्द्र, वरुण आदि देवो के लिए मयासुर के द्वारा निर्मित सभा-भवन प्रासाद के ही प्रतीक थे।

प्रासाद शब्द के ऐतिहासिक उपोद्घात मे बौद्ध-साहित्य को नही छोडा जा सकता और न बिना बौद्धो की बुद्धि की सराहना किये ही रहा जा सकता है। बौद्ध-साहित्य

मे तो वास्तु-कला का बडा ही विस्तार-विजृम्भण है। पालि-पिटको एव बौद्ध-जातकों मे तो कही-कही पर ऐसा प्रतीत होता है कि पाठक वास्तु-शास्त्र का ही अध्ययन कर रहा है तथा कही-कही ऐसा भी प्रतीत होता है कि स्वय बुद्ध भगवान् वास्तु-शास्त्र पर ही व्याख्यान दे रहे हो। चुल्लवग्ग (षष्ट, १७ १ अनुवाद २१२–१६) में भवन-निर्माण-कार्य मघ के कर्नव्यो मे था जिसके लिए बुद्ध भगवान् के आदेश का यहाँ पर समुल्लेख है। विनय-पिटक–महावग्ग (प्रथम मे १०,४ पत्र, १७३-७४ अनु०, चुल्लवग्ग चतुर्थ १२ पत्र १५८) मे एक उल्लेख मिलता है कि एक धार्मिक व्याख्यान के अन्त मे महात्मा बुद्ध ने भिक्षुओ को सम्बोधित कर कहा था—"भिक्षुओ, तुम लोगो के लिए मै पाँच प्रकार के आवासो का आदेश देता हूँ—विहार, अर्द्धभोग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा।"

इस प्रकार बौद्धो के अनुसार भवनो के वर्गीकरण मे उपर्युक्त पचीकरण की प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है। परन्तु इस वर्गीकरण के सागोपाग विवरणो का प्राय: अभाव है। क्योंकि महावग्ग के टीकाकार बुद्धघोप ने जहाँ इन विविध भवनो की व्याख्या की है वह पूर्ण नही कही जा सकती —

'अड्ढयोगो 'ति सुवण्णवङ्गेहम् ।
प्रासावो 'ति दीघप्रासावो ।
हम्मियान 'ति उपरि आकासतले पतिट्ठितागारो पासो येवं ।
गुहा 'ति इट्ठकगुहा सिलागुहा, दारुगुहा, पंसुगुहा ।
(महावग्ग १.३०–४)

क्योंकि यहाँ पर प्रासाद की टीका मे "प्रासादो ति दीघप्रासादो" लिखकर वास्तव मे टीकाकार ने मघवा शब्द का मघवा ही रखा, खैर विडौजा नही किया—यही गनीमत है। प्रासादविषयक इस टिप्पणी पर राइस डेविड्स महाशय ने प्रासाद शब्द का अर्थ निकालने की अपनी सूझ पेश की है—"A long storied mansion or the whole of an upper story or the storied buildings." इसी प्रकार सर एम० एम० विलियम्स महोदय ने भी व्याख्या करने का प्रयास किया है—"The monks' hall for assembly and confession." मेरी समझ मे विलियम्स साहब का अर्थ अधिक सगत है क्योंकि प्रासादो की पौराणिक परम्परा, जिसका सकेत पूर्व हो चुका है तथा आगे विस्तार किया जायगा, उसको दृष्टि मे रखकर प्रासाद के इतिहास मे प्रासाद को पूजा-वास्तु के ही अन्दर सीमित करना अधिक सुसगत प्रतीत होता है।

प्रासाद आदि इन विभिन्न भवनो की निर्मिति-विषयक अवधि पर चुल्लवग्ग एवं महावग्ग मे जिस समय-तालिका का उल्लेख हुआ है उससे तो इन भवनो के बृहद् विस्तार एव प्रस्तार का पूर्ण परिचय मिलता है। प्रासाद की निर्माण-अवधि सभी भवनो की

अपेक्षा अधिक मानी गयी है। दस या बारह साल की अवधि प्रासाद के लिए रखी गयी है।

इसी प्रकार बौद्ध जातकों में भी प्रासादों के प्रचुर निर्देश मिलते हैं। 'सप्तभूमिक प्रासाद जातक' को देखकर तथा इन सप्तभूमिक प्रासादों का बारबार वर्णन पढ़ने से राइस डेविड्स महाशय तो यहाँ तक चले गये कि हो न हो इनका संसर्ग चाल्डिया (Chaldaea) के Ziggarats से हो। परन्तु डेविड्स महाशय इन सप्तभूमिक प्रासादों को खोजने के लिए चाल्डिया तक क्यों सिधारे ? क्या भारतीय भूमि इस प्रकार की उपज के लिए ऊर्वरा नहीं ? बौद्ध साहित्य में प्रासाद विषयक निर्देशों के सम्बन्ध में श्रीमती स्टेला क्रैमरिश की धारणा है—

'To Buddhists, it seems, Prāsāda meant palace and temple as well, whereas a Hindu Temple, the Prāsāda proper with its superstructure leading to the highest point cannot be mistaken for or derived from a palace of any dwelling of man."

संक्षेप में प्रासाद शब्द के अभिधेयार्थ (डिनोटेशन) पर इतना ही कहा जा सकता है कि प्रासाद "बहुभूमिक" भवन था, वह अन्य भवन-रचनाओं (सौध, हर्म्य, विमान आदि) से विलक्षण था, इसकी परम्परा बुद्ध भगवान् (दे० चुल्लवग्ग) से भी प्राचीन है, प्रासाद-भवनों में भूमियों (स्टोरीज) तथा शिखरों की रचना अनिवार्य थी और वे उत्तुंग पर्वतों के सादृश्य में प्रशस्ति पाते थे, प्रासाद के शिखर पर आमलक की न्यास-परम्परा भी कम प्राचीन नहीं तथा उत्तरी वास्तु-ग्रन्थों में इस शब्द का देवमन्दिर के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

प्रासाद एवं विमान शब्द

प्रासाद शब्द की द्योतक सामग्री के इस किंचित्कर दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम प्रथम प्रश्न पर आते हैं, अर्थात् प्रासाद तथा विमान का अन्योन्य सम्बन्ध। प्रासाद तथा विमान—ये दोनों ही शब्द प्राचीन वास्तु-ग्रन्थों तथा अ-वास्तु-ग्रन्थों में देवमन्दिरों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। अतः इनमें वास्तु-कला तथा पूजा-वास्तु अथवा प्रासाद-वास्तु की दृष्टि से क्या अन्तर है—इस पर कुछ जिज्ञासा उठती है। आगे के अध्याय में इस विषय का विशेष विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। यहाँ पर प्रासाद अर्थात् देवमन्दिर के विभिन्न नामों में विमान शब्द की क्या परम्परा है—इस पर थोड़ा-सा संकेत करना आवश्यक है। परन्तु विमान-शब्द की मीमांसा के प्रथम पुरातन परम्परा में देव-भवन-वाचक अन्य शब्दों पर भी थोड़ी-सी समीक्षा आवश्यक है। देव-भवनों को द्योतित करने वाले शब्दों की एक सुदीर्घ संख्या प्राचीन साहित्य में प्राप्त होती है, जिसमें विशेष उल्लेखनीय हैं —

देवगृह	देवतागार	कीर्तन
देवागार	मन्दिर	हर्म्य
देवतायतन	भवन	विहार
देवकुल	स्थान	चैत्य
देवालय	वेश्म	क्षेत्र

टिप्पणी—प्रो० क्रैमरिश की इन शब्दो की पुरातत्त्वीय सामग्री पर **छानबीन** द्रष्टव्य है।

सम्भवत. इन सभी संज्ञाओ मे प्रासाद भवन की कहानी छिपी है। अतएव स० सू० मे यद्यपि देवमन्दिर के लिए 'प्रासाद' शब्द का ही प्रयोग है परन्तु "नगरादि संज्ञा" नामक १८वे अध्याय मे इस पुरातन कहानी को जीवित रखने के लिए एक मार्मिक प्रवचन पठनीय है—

देवधिष्ण्यसुरस्थानं चैत्यमर्चागृहं च तत् ।
देवतायतनं प्राहुर्विबुधागारमित्यपि ॥ १८–५७

इनमे अर्चागृह तथा चैत्य को छोडकर अन्य नामो मे देवता की बैठक, देवस्थान, देवतावास की सूचना है तथा अर्चागृह का तात्पर्य अभिषिक्त अथवा प्रतिष्ठापित देवता के देवालय से है। एव चैत्य मे वैदिकी वेदी की परम्परा निहित है। इन प्रयोगो से प्रासाद अर्थात् हिन्दू देवमन्दिर के नानाभूमिक जन्म (Multiple origins) का आभास मिलता है। यह परम्परा प्राय अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थो मे भी सुरक्षित है। समरागण, मानसार एव मयमत की भवन-सूची अथवा देवालय-सज्ञाओ की तुलनात्मक तालिका द्रष्टव्य है —

मयमत (१६.१०-१२)	मानसार (१६ १०८-१२)	समरांगण (१८. ८–६)
१. विमान	विमान	आवास
२ भवन	सलय	सदन
३ हर्म्य	हर्म्य	सद्म
४. सौध	आलय	निकेत
५. धाम	अधिष्ण्यक	मन्दिर
६. निकेतन	प्रासाद	सस्थान
७. प्रासाद	भवन	निधन
८ सदन	क्षेत्र	धिष्ण्य
६ सद्म	मन्दिर	भवन

मयमत	मानसार	समरांगण
(१९.१०–१२)	(१९.१०८–१२)	(१८.८–९)
१०. गेह	आयतन	वसति
११. अवसक	वेश्म	क्षय
१२. गृह	गृह	आगार
१३. आलय	क्षय	सश्रय
१४. निलय	धाम	नीड
१५. वाम	वाम	गेह
१६ आस्पद	गेह	शरण
१७ वास्तु	आगार	आलय
१८ वास्तुक	सदन	निलय
१९ क्षेत्र	वमित	लयन
२० आयतन	निलय	वेश्म
२१ वेश्म	तल	गृह
२२ मन्दिर	कोष्ट	ओक
२३ धिष्ण्यक	स्थान	प्रतिश्रय
२४ पद		
२५ लय		
२६ क्षय		
२७ आगार		
२८. उद्वसित		
२९ स्थान		

भवन-पर्यायों की इस तुलनात्मक सूची में 'तल' और 'कोष्ठ' को छोड़कर मानसार के २४ गृह-पर्याय मयमत की पर्याय-माला के समान हैं। समरांगण की सूची में 'संश्रय', 'निवन', 'नीड', 'शरण', 'ओक' तथा 'प्रतिश्रय' शब्दों में मानव-वसति एवं तदानुषंगिक देव-वसति की विकास-कहानी छिपी हुई है। शाल-भवनों की नीडात्मकता, गुहा-भवनों की निलयात्मकता, शरण एवं प्रतिश्रय की शरणात्मकता में मानव-सभ्यता की विकासोन्मुख गति एवं प्रगति का पूर्ण आभास दर्शनीय है। स्थापत्य-शास्त्र एवं स्थापत्य-कला की दृष्टि से देवमन्दिर के लिए दो ही शब्द विशेष महत्त्व रखते हैं––प्रासाद एवं विमान। वैसे तो लेखक की धारणा के अनुसार प्रासाद-वास्तु के विकास का प्रमुख आधार विमान है जिस पर हम अग्रिम अध्याय में विशेष रूप से

वर्णन करेंगे। परन्तु आधुनिक वास्तु-कलात्मक समीक्षा-ग्रन्थो में विमान-कला को प्रासाद-कला का परवर्ती मानते हैं। बात यह है कि विमान-भवनो का विकास दक्षिणा-पथीय वास्तु-वैभव की विशेषता है। उसका ऐतिहासिक क्रम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। उसके विपरीत, जैसा पीछे प्रतिपादित किया गया है, प्रासाद-रचना उत्तरापथीय पुरातत्त्वीय एवं साहित्यिक सामग्री मे अति प्राचीन परम्परा की प्रतीक है। सम्भवत: इसी ऐतिहासिक क्रम के कारण विद्वानो ने विमानो को प्रासादो का अग्रगामी न मानकर परवर्ती माना है। इसका समाधान यह है कि प्रासाद-सम्बन्धी प्राचीन सकेतो मे पूर्व-मध्यकालीन एव मध्यकालीन प्रासादो (जिनके उत्तरापथ के प्रसिद्ध वास्तु-पीठो, जैसे भुवनेश्वर एव खजुराहो आदि स्थानो के निदर्शन द्रष्टव्य है) को एकमात्र आशिक विकास-बीज ही माना जाना चाहिए। प्रासाद की पूर्ण सजधज मे तो विमानो की विमुग्ध-कारिणी छटा एव गगनचुम्बी उत्तुगता की देन का मूल्याकन करना ही पडेगा।

'प्रासाद' नाना-भवन-विन्यासो एव विकासो का पुजीभूत रूप है। प्रासाद-देवमन्दिर भी तो एक भवन-विशेष है जो वास्तु-क्रिया एव देवता-प्रतिष्ठा के सिद्धान्तो के सम्यक् परिपालन से देवमन्दिर की प्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठित हो जाता है। अत प्रासाद-वास्तु के विकास से भवन-वास्तु का प्रारम्भिक सहारा निर्विवाद है।

अथच मयमत के दूसरे अध्याय मे एक प्रवचन मिलता है —

सभा शाला प्रपा रंगमण्डप मन्दिरं तथा।
प्रासाद इति विख्यातं...............॥ ७ ॥

अत सभा, शाला, प्रपा (पिआऊ), रगमण्डप तथा मन्दिर—इन पाँचो को प्रासाद की सज्ञा देने का क्या रहस्य है? इस सम्बन्ध मे श्रीमती स्टेला का मत अधिक सगत प्रतीत होता है—"They are part of the whole establishment of a South Indian Temple The meaning of Prasada is extended here from the temple itself (मन्दिर) to the various halls etc which are attached to it." अर्थात् ये पाँचो भवन दाक्षिणात्य मन्दिर के पूरे निवेश के भिन्न-भिन्न अग है। इस प्रकार मन्दिर के अर्थ में प्रयुक्त प्रासाद शब्द और मन्दिर के ही अवयवभूत अन्य भवन, जैसे मण्डपशाला, पानीय-शाला, सभारशाला, एसेम्बली हाल के लिए भी प्रयुक्त प्रासाद शब्द का सकेत उचित ही है। अवयवी का नाम अवयव के लिए प्रयुक्त करना पुरानी परम्परा है। अथच पूर्वोद्धृत समरागण-अवतरण से साधारण चैत्य से 'अर्चागृह' की जिस विकास-कथा पर सकेत किया गया है वह भी इसी तथ्य का पोषक है। इसी प्रकार प्रासाद के विकास में विमानो की देन नही विस्मृत की जा सकती।

समरांगणसूत्रधार (देखिए 'सचकादि प्रासादलक्षण', ४६वें अध्याय) में प्रासादों की उत्पत्ति-प्रसृति के सम्बन्ध मे लिखा है कि "देवो, राजाओ तथा ब्राह्मणादि वर्णों के यथोचित एव यथाभिमत जो-जो प्रासाद हैं उनकी उत्पत्ति-प्रसृति पर प्रकाश डालूँगा। अत्यन्त प्राचीन परम्परा की बात है, ब्रह्मा ने देवों के लिए पाँच विमानो की रचना की। ये बडे सुन्दर, विशालकाय और आकाशगामी थे। इनके नाम वैराज, कैलास, पुष्पक, मणिक तथा त्रिविष्टप थे। ये सब सोने के बने थे, मणियों से जटित थे। इनके प्रयोग-नियोग में वैराज अपने लिए रखा तथा कैलास शूलपाणि शकर के लिए, पुष्पक कुबेर के लिए, मणिक पाशी वरुण (अथवा यम के लिए) तथा त्रिविष्टप सुरराज इन्द्र के लिए प्रकल्पित किया।"

'विमान' शब्द की व्युत्पत्ति 'वि' उपसर्ग तथा 'मा' धातु से निष्पन्न 'मान' पर आश्रित है। मान का तात्पर्य साधारणतया तो नापना है परन्तु वास्तु-शास्त्रीय परम्परा मे मान या मेय का तात्पर्य एक रचना-विशेष से भी है। स० सू० लिखता है—

यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कीर्त्यते।

'मा' धातु से ही निष्पन्न माया शब्द से ससार-रचना का अर्थ हम जानते ही है। वास्तुशास्त्रीय परिभाषाओ मे मान का विशेष महत्त्व है–विशेष कर प्रासाद-वास्तु में (देखिए स० सू०—"प्रमाणे स्थापिता देवा पूजार्हाश्च भवन्ति हि")। मान, उपमान, उन्मान, प्रमाण आदि शब्द इसी तथ्य के द्योतक है।

अत विमान उस भवन (बिल्डिंग) का नाम दिया गया है जिसको विशिष्ट प्रक्रिया से प्रतिष्ठापित किया गया हो और वही भवन विमान के नाम से पुकारा जाता है। शिल्परत्न के निम्न प्रवचन की इस सम्बन्ध में कैसी सुन्दर सगति पुष्ट हुई है—

नानामानविधानत्वाद् विमानं शास्त्रतः कृतम्।

सम्भवत इसी तथ्य के समुद्घाटन मे श्रीमती स्टेला ने (देखिए—Hindu Temple P. 113) लिखा है—"Vimana is the name of the temple built according to tradition (शास्त्र) by the application of various proportionate measurement or various standards of proportionate measurement."

मानसार मे एकतल से लगाकर द्वादश तल के भवनो या देवालयो अथवा राजालयो की सज्ञा विमान है। महाभारत और रामायण मे भी विमान का तात्पर्य एक उत्तुग भवन से है। मेदिनी और निघंटु इन दो प्राचीन कोशो के प्रामाण्य पर टीकाकारों ने विमान को साप्त-भौमिक प्रासाद कहा है। अभिधानचिन्तामणि या हलायुध ने भी इसी अर्थ का समर्थन किया है।

वास्तु-शास्त्रीय परम्परा मे विमान को देवभवन के रूप में प्रतिष्ठित करने में एक आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक मर्म भी छिपा है। वायुपुराण (४ ३०–३१) का प्रवचन है 'मा-माप का तात्पर्य वस्तु-विशेष की सत्ता एव स्वरूप प्रदान करना है। यही तथ्य माया शब्द मे भी प्रस्फुटित है। माया अव्यक्त की व्यक्ति का साधन है और इसका कर्त्ता स्वय पुरुष है। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद (३.१६) तथा विष्णुपुराण (१.१७२) का रहस्य है—पुरुष जो परब्रह्म का प्रथम आविर्भाव है वही मापदण्ड का वाहक भी है। अतएव वह विश्व का स्थपति अर्थात् विश्वकर्मा है। इस उन्मेष से विमान अपने सब अंगो की निर्मिति से निष्पन्न साक्षात् जगत्स्रष्टा की आकृति है। अतएव वह विश्व है, उसी विश्व (Macrocosm) की प्रतिकृति (Microcosm) अर्थात् प्रासाद (देवमन्दिर) माना गया है। डा० क्रैमरिश ने भी अपने Hindu Temple मे इस तथ्य की सार्थक मीमासा की है—

"The temqle as Vimana, proportionately measured throughout, is the house and body of God. By temple is understood the main shrine only in which is contained the Garbhagriha, the womb and house of the Embryo, the small, in most sanctuary with its generally square plan. All other buildings within the sacred precinct, are accessory and subservient to it, the hall, Mandapa, in front of the entrance, is itself, as in Orissa, a semi-separate structure to which may be added several more such buildings preparing the devotee for the entry into the temple. These accessory buildings conform in each case with the proportionate measure of the temple, the Vimana; the Mandapa generally coalesces with the Vimana".

अस्तु, विमान शब्द की व्युत्पत्ति एव प्रकृत मे देव-भवन के अर्थ मे उसकी प्रसृति पर पिछले प्रकरण मे कुछ प्रकाश डाला गया है। अब हम उस प्रश्न को लेते है जिसमे यह जिज्ञासा की गयी थी कि विमान-वास्तु एव प्रासाद-वास्तु मे क्या वैलक्षण्य है? वास्तव मे भारतीय स्थापत्य की दो प्रमुख शैलियाँ है—नागर तथा द्राविड, अथवा भारतीय स्थापत्य-शास्त्र की दो परम्पराएँ (स्कूल्स) है—उत्तरी परम्परा तथा दक्षिणी परम्परा। चूंकि भारतीय स्थापत्य के एकमात्र निदर्शन मन्दिर है अत. मन्दिर-निर्माण की भी दो शैलियाँ प्रचलित हुई। दक्षिण के मन्दिरो की सज्ञा विमान है तथा उत्तर के मन्दिरो की संज्ञा प्रासाद। विमानो मे भूमिकाओ का निवेश एव प्रासादो मे शिखरो (शृगो या अण्डो) के निवेश से हम परिचित ही है। सर्वप्रमुख वास्तु-कलात्मक घटक शीर्ष-

कल्पना है। प्रासादो के मूर्धा को 'आमलक' के नाम से पुकारते है तथा विमानो के शीर्ष को 'स्तूपिका' कहा जाता है। अथच विमानो में गोपुरों एवं मण्डपों का भी निवेश एक प्रकार से अनिवार्य देखा जाता है। प्रासादो (उत्तर भारत के मन्दिरो को देखिए) में यह सर्वत्र नही पाया जाता है। विमानो की रचना का आधार 'रथाकृति' है और दक्षिण भारत के बहुत-से मन्दिरो मे यह तथ्य देखने को भी मिलता है (दे० मामल्ल-पुरम् के रथाकार मन्दिर) परन्तु प्रासादो की रचना का आधार वैदिक चिति है। आगे के अध्याय मे हम इस ओर विशेष आकृष्ट होगे।

२

प्रासाद-वास्तु

जन्म, विकास एवं चरमोत्कर्ष

जन्म

प्रस्तुत लेखक ने अपने 'भारतीय वास्तु-शास्त्र' मे वास्तु-विद्या के विकास मे मानव-संस्कृति के विकास के आधारभूत सिद्धान्तो की ओर संकेत किया है। प्रासाद-रचना के जन्म एव विकास मे भी वे ही आधार-भूत सिद्धान्त लागू होते हैं—यह भी निर्विवाद है। मानव-सभ्यता की कहानी मानव की रहन-सहन, भोजन-भजन, परिधान एवं विधान के साथ-साथ आचार-विचार एव देवार्चन तथा देव-प्रतिष्ठा की कहानी है। सभ्यता का जैसे-जैसे विकास हुआ त्यो-त्यो उसके इन कार्यकलापो का भी विकास हुआ। संस्कृति एव सभ्यता की रूप-रेखा मे वैसे तो बाह्य परिवर्तन प्रचुर परिमाण में प्रादुर्भूत हुए—यह संस्कृति-समीक्षको को पूर्ण ज्ञात है, परन्तु संस्कृति के व्यापक सिद्धान्त प्रायः वे ही आज भी विद्यमान हैं। यद्यपि आधुनिक देवहीन भौतिकवाद संस्कृति के इस आभ्यन्तरिक रूप को भी नष्ट करने की ओर शनै-शनै अग्रसग्नि हो रहा है, परन्तु सम्भवतः यह होकर नही रह पायेगा। वैज्ञानिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास के अभावात्मक दारुण परिणाम का अनुभव प्राय. प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है।

मानव सभ्यता की कहानी मे मानव की अदृष्ट शक्ति के प्रति एक अजस्र विनीत भावना सनातन से चली आ रही है। कभी उसने इस भावना को वृक्षो की पूजा मे अथवा प्राकृतिक पदार्थों, जैसे—सूर्य चन्द्र, आकाश, अग्नि, पर्वत, समुद्र, सरिता आदि के प्रति नतमस्तक होकर, उनका गुणगान कर तृप्त किया है तो कभी ऊँचे उठकर मंत्रो, तन्त्रो, उपचारो एव अन्यान्य सभारो के सहारे उसका परिपोष किया है।

मानव की जगन्नियन्ता तथा उसके प्रतीक-स्वरूप विशाल प्राकृतिक उपादानो के प्रति पूजा-भावना तो सनातन से चली आ रही है और आज भी है, परन्तु जैसा कि पूर्व संकेत किया गया है—इस भावना की तृप्ति-साधना मे बाह्य परिवर्तन सदैव होते रहे हैं। जब मानव काननो, निकुजो, गिरिगह्वरो अथवा पर्वत-शिखरो पर रहता था तो उसका प्रभु भी वही प्रतिष्ठित हुआ। जब उसने अपने आवास-भवन बनाये तो उपास्य-देव के भी आवास-भवन बने।

परन्तु प्रश्न यह है कि प्रासाद-वास्तु का जो चरमोत्कर्ष मध्यकालीन भारत में सम्पन्न हुआ उसके जन्म एव विकास का श्रीगणेश कहाँ से, कब और कैसे हुआ, यह विषय बडा दुरूह है। भारतीय इतिहास की सस्कृति के व्यापक सिद्धान्तो एवं इतिवृत्तो का ज्ञान भारतीय वाङ्मय से ही होता है। ऋग्वेद आदि वैदिक साहित्य मे आवास-विषयक जो बहुल सकेत आये है उनसे कुछ सकेत निकलते है, जिनसे विद्वानो ने अपनी-अपनी सूझ के अनुसार निष्कर्ष निकाले है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद (Wilson) के कुछ प्रवचन पर्यालोच्य है—४.१४८ मे अत्रि को शतद्वारीय शाला में फेंका गया; ४.२०० में वसिष्ठ 'त्रिधातु-शरणम्' त्रिभौमिक प्रासाद की कामना करते है और २.३१३ मे एक राजा सहस्रस्तम्भीय प्रासाद-हाल में बैठता है, साथ ही ऐसे भवनों के वर्णन में उनकी विशालता एव विस्तृतता भी सकेतित है। ऋग्वेद के नाना स्थलो (देखिए २.४१.५ ; ५ ८८.५) मे मित्र और वरुण का सहस्रस्तम्भीय एवं सहस्रद्वारीय प्रासाद में निवास कीर्तित है। इन अवतरणो की पर्यालोचना में भले ही वैदिक-कालीन आर्य-भवन प्रासादों का रूप हम न पा सकते हो, परन्तु अनार्यों (जिनके साथ उनका संघर्ष चल रहा था) के उत्तुग भवन उनको आकर्षक अवश्य लगे होंगे, अन्यथा ऐसे सन्दर्भ केवल कपोल-कल्पित नही कहे जा सकते।

इस सम्बन्ध में लेखक की धारणा है कि आर्यों की वास्तु-कला की अपेक्षा अनार्यों, असुरों या द्रविड़ो की वास्तु-कला अधिक प्राचीन है। विद्वानो ने इस ओर अभी तक नही सोचा। बात यह है कि वैदिक युग मे आर्यों का निवास कुटियो अथवा मृन्मय गृहो, मस्य-सम्भारोपचित छायावासो मे होता था, उनके मकान न तो पक्के थे और न अधिक विशालकाय। यह सम्भव भी न था। वे इस देश में आये थे, चिरकालापेक्षित जीवन-सघर्ष के उपरान्त ही वे यहाँ ठीक तरह से बस पाये होगे। विजेता के रूप में विजितों के साथ सघर्ष मे काफी दिन लगे होगे। अतः उनका जीवन कैम्प-जीवन, शैविर-जीवन के अतिरिक्त क्या हो सकता था? परन्तु आर्यों के पुरातनतम साहित्य ऋग्वेद मे जिन प्रोन्नत वास्तु-कला-निदर्शक शब्दो एव तद्बोधक आवासो का सकेत है, जैसा अभी-अभी लिखा गया है, उसका कुछ आधार होना ही चाहिए। कविकल्पना कहकर उसे टालना उचित नही। अत. प्रश्न यह है कि ऋग्वेद के इन प्रोन्नत वास्तु-सकेतो का क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न के उत्तर मे लेखक की अपनी धारणा यह है कि आर्यों के आगमन के उस सुदूर समय मे भी यहाँ के अनार्यों—असुरो अथवा द्रविडो की सभ्यता अत्यन्त उन्नत दशा मे थी, पक्की ईंटो के बड़े-बडे मकानो मे वे रहते थे, पाषाणकला के मर्मज्ञ थे—प्रतिमापूजा भी वे करते थे। सरदारो के जो विशाल एव उत्तुग भवन थे उनमें

स्तम्भो की सख्या विशेष थी, उनमे बडे-बड़े कमरे (शालाओं अथवा सभाओं के रूप में) होते थे। आर्यों ने यहाँ के निवासियो की इस प्रोन्नत आवास-व्यवस्था को देखकर ऋग्वेद की इन ऋचाओ का गान किया। वसिष्ठ को भी सहस्रस्तम्भ भवन में रहने की इच्छा हुई। वरुण आदि अपने उपास्य देवो को उनमे प्रतिष्ठित करने की कामना भी हुई।

अत. लेखक का यह निष्कर्ष है कि जहाँ वैदिक-कालीन आर्यों की पूजा-पद्धति याग-कर्म के रूप मे प्रचलित थी—वह वैयक्तिक भी थी—सामूहिक अवसर विशेष पर ही होती थी, वहाँ असुरो—एतद्देशीय आदिम निवासियो की पूजा प्रतीकोपासना के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। मूर्ति-पूजा का इस देश मे जन्म तथा विकास कब हुआ—इस पर विद्वानो मे बडा मतवैषम्य है, इस सम्बन्ध मे अन्य पटल (देखिए प्रतिमा-विज्ञान) मे विवेचन होगा। अत इसे यही छोडकर केवल इतना ही कहना है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता (जिसे विद्वानो ने पूर्व-वैदिक-कालीन माना है) के सम्यक् परिशीलन से तथा उस सभ्यता को आसुरी सभ्यता अथवा द्राविडी सभ्यता ही मानने से इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण मे विशेष आपत्ति नही होनी चाहिए कि उस सुदूर अतीत मे यहाँ के निवासियो की पूजा-पद्धति, उपासना-प्रणाली, प्रतीकोपासना (पशुपति शिव की कहे, माता पार्वती की कहे या वृक्षो, सरिताओ अथवा शिलाओ की पूजा के रूप मे ही क्यो न माने) रूप मे पूर्ण प्रतिष्ठित थी। उनके निवास-स्थान भी उत्तुग भव्य भवनो के रूप मे विकसित हो चुके थे। पाषाणशिलाओ का अपने भवन निर्माण मे वे अवश्य प्रयोग करते होगे। अत जब आर्यों एव अनार्यो का सघर्ष कम हुआ, पारस्परिक आदान-प्रदान एव विचार तथा आचार का भी विनिमय होने लगा तो बहुत-सी बाते दोनो ने एक-दूसरे से ग्रहण की।

सम्भवत इसी आधारभूत सिद्धान्त का प्रत्यक्ष निदर्शन पूजा-वास्तु एव मूर्ति-पूजा के रूप मे विशेष रूप से प्राप्त होता है। विशुद्ध आर्यो के समाज मे प्राय प्रधान रूप से शिक्षित, मेधावी, चिन्तक तथा शूरवीर एव व्यापार-विचक्षण लोगो का प्राधान्य था। एक शब्द मे यह परिवार तथा समाज मूर्ति-पूजा मे न तो विशेष आस्था रखता था और न इस परम्परा को अपनाने मे उसने शीघ्रता ही की। आगे चलकर जब उन्होने अपना समाज सघटित किया—वर्णाश्रम-धर्म की प्रक्रिया को प्रतिष्ठित किया तो मूर्ति-पूजा की आवश्यकता को भी उन्होने स्वीकार किया, क्योकि आर्यों का यह समाज विशुद्ध आर्य न रह सका, अनार्यो को भी उसमे स्थान मिला। पहले तो देवो की प्रतिष्ठा साधारण रीति से सम्पन्न अपने आवास-भवनो मे ही की गयी और उस स्थान-विशेष को देवागार, देवतायतन, देवकुल, देवगृह के नाम से पुकारा गया। कालान्तर मे जब याग-बहुल, हिंसा-

समन्वित वैदिक धर्म के प्रति न केवल आभ्यन्तरिक रूप में (देखिए उपनिषद्) वरन् बाह्य रूप में भी (देखिए बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का प्रवर्तन) एक प्रबल विरोध आ खड़ा हुआ तो आर्य-पंडित एवं आर्य-मनीषी अपने धर्म के रूप में सहज ही परिवर्तन करने के लिए अग्रसरित हुए। पुराणो एवं आगमो की रचना हुई। देव-पूजा, प्रतिमा-प्रतिष्ठा, मन्दिर-निर्माण, तीर्थ-व्यवस्था आदि सब इसी नवीन ब्राह्मण-धर्म के स्वरूप थे। इस लक्ष्य की ओर पाठको का ध्यान प्रथम अध्याय मे भी आकर्षित किया गया है। परिणामतः इस युग में विविध देवो की प्रतिमा-पूजा तथा उनकी प्रतिष्ठा के लिए विशेष कर विष्णु एव शिव—इन दो महादेवो के देवालयो एव प्रतिमाओ की स्थापना एव निर्माण की परम्परा पल्लवित हुई।

यह धार्मिक क्रान्ति का युग था। सघर्ष से ही लोगो मे स्फूर्ति, उत्तेजना, प्रेरणा एवं उत्साह के उद्दाम प्रवाह प्रवाहित होते थे। अत ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठापक, अनुयायी बड़े जोश के साथ इस ओर अग्रसर हुए।

"स्वर्गकामो यजेत" के स्थान पर 'स्वर्गार्थी देवालयं कारयेत्' की नवीन धर्म-चेतना प्रस्फुटित हुई और इष्ट के स्थान पर पूर्त की प्रतिष्ठा को विशेष प्रश्रय मिला। वाराही बृहत्संहिता इसी नवचेतना का प्रतिनिधित्व करती है —

कृत्वा प्रभूतं सलिलमारामान्विनिवेश्य च।
देवतायतनं कुर्याद्यशोधर्माभिवृद्धये ॥
इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते ॥ ५६. १–२

अत. धनसम्पन्न धर्मार्थियो का इस ओर विशेष अभिनिवेश हुआ। ब्राह्मण-धर्म के इस नवीन रूप का जो प्रचार व्यास-पीठों एव पुराण-प्रवचनो से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक होने लगा उसके साथ ही मन्दिर-निर्माण, देव-प्रतिमा-प्रतिष्ठा, तीर्थ-स्थापना आदि सभी कार्य होने लगे।

असुरो के भव्य भवन—उत्तुग हर्म्य कहिए, बहुभूमिक प्रासाद कहिए, विहायसलिह विमान कहिए—आदर्श (Model) के लिए ही थे। अतएव उन्ही मे हेरफेर करके अपनी वेदीरचना के आधार पर विशिष्ट मानोन्मानादि प्रक्रिया-विस्तार से आर्यों ने भी देवालयो का निर्माण प्रारम्भ कर दिया।

अस्तु, अभी तक लेखक ने प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास के ऐतिहासिक उपोद्घात पर अपनी धारणा के अनुसार ही विचार किया है। परन्तु विद्वानो के सन्तोषार्थ, बिना प्रबल प्रमाणो के ही यह धारणा कपोलकल्पना के नाम से न पुकारी जाय इस दारुण परिणाम से बचने के लिए वास्तु-साहित्य-परम्पराओ के आधार स्रोत-ग्रन्थों की शरण मे

जाना होगा। अथच उनकी व्याख्या की नवनवोन्मेषता के लिए अपनी वैयक्तिकता को पृथक् भी नही किया जा सकता। समरांगणसूत्रधार मे प्रासादों के जन्म के सम्बन्ध में जिन प्रवचनों (देखिए प्रथम अध्याय) का उल्लेख पीछे किया जा चुका है और जिसके विशेष विवेचन के लिए वहाँ पर प्रतिज्ञा भी की जा चुकी है, उसी के मर्म का यहाँ समुद्घाटन करना है।

समरागण के अनुसार प्रासादों की उत्पत्ति एवं उनका विकास विमानों से हुआ। लेखक अपनी कल्पना को तिरोहित न कर सका। विमानों को उसने 'वियद्वर्त्म-विचारीणि', 'श्रीमन्ति', 'महान्ति' इन विशेषणों से अलकृत किया है। इन विमानों का निर्माता ब्रह्मा को बताया गया है।

श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ (Canons of Indian Architecture, p. 271) मे समरागण के प्रासादोत्पत्ति-विषयक इन प्रवचनो को भ्रान्त बताया है। परन्तु श्रीयुत भट्टाचार्य ने ही अपनी पुस्तक के २७०वें पत्र पर विमान शब्द के अभिधेयार्थ की विवेचना करते हुए 'विमान' का अर्थ 'रथ' भी लिखा है। अथच श्रीयुत भट्टाचार्य ने वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला की दो परम्पराओ अथवा शैलियों अर्थात् दक्षिणा-पथीय (Southern or Dravidian) तथा उत्तरापथीय (Northern or Nagara) की छान-बीन मे ब्रह्मा को दक्षिणापथीय वास्तु-विद्या तथा वास्तु-परम्परा या शैली का प्रथम उद्भावक, प्रतिष्ठापक या प्रवर्तक (देखिए पत्र २०६) माना है।

लेखक ने प्रथम ही प्रतिपादित किया है कि वास्तु-विद्या में आर्यों की उत्तरापथ-शैली (नागर-शैली) का विकास असुरो, द्रविडो की दक्षिणापथ शैली, द्राविड शैली के विकास के बाद हुआ है। अत. ब्रह्मा के द्वारा प्रतिष्ठापित द्राविड शैली मे निर्मित विमानाकृति भवनो तथा मन्दिरो को ही आधार मानकर यदि विश्वकर्मा–वास्तु-विद्यापरम्परा (Vishwakarma School) मे दक्षिणापथ-प्रचलित एवं प्रसिद्ध विमान-भवनो से ही प्रासाद-भवनो का विकास प्राप्त हुआ है–ऐसा स्वीकार किया जाय तो उसमे तारापद महाशयजी को भ्रान्ति क्यो होती है? अथच अब रहा प्रश्न यह कि इन विमानो के 'वियद्वर्त्मविचारीणि', 'श्रीमन्ति', 'महान्ति' इन तीन विशेषणो का क्या रहस्य है। 'श्रीमन्ति'––शोभासम्पन्न, 'महान्ति'––विशाल ये विशेषण किसी भी भव्य भवन के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। हाँ 'वियद्वर्त्मविचा-रीणि' का रहस्य उद्घाटित करना अवशेष है। इस विशेषण का रहस्य है विमान-भवनों की अत्यन्त ऊँचाई; अभ्रलिहता सम्भवत अभिप्रेत है। इतने ऊँचे कि आकाश-मार्ग मे ये विमान-भवन विचरण कर रहे है––वियद्वर्त्मविचारीणि का साधारण अर्थ तो यह

हुआ। समरांगणसूत्रधार के समय, समाज एवं लेखक को हमें नही भूलना चाहिए। ११वीं शताब्दी भारतवर्ष के मध्ययुग का अत्यन्त प्रोन्नत युग था। सभी क्षेत्रों में अतिरंजनात्मक अलंकृत शैली, विचारधारा तथा व्यावहारिकता का ही बोलबाला था। साहित्य और काव्य की भी यही दशा थी। इसी समय के आसपास उत्पन्न महामेधावी महाकवि श्रीहर्ष की अत्यन्त अलंकृत एवं अतिरंजित शैली से हम परिचित ही हैं।

समरांगणसूत्रधार के लेखक महाराज भोजदेव की अतिरंजना, काव्यरसिकता एव कवित्व शक्ति, विद्याभिरुचि, विद्वानों के आश्रयदान, दरबारी वैभव, शानशौकत को कौन नही जानता। अतः उनके समरांगण के प्रासादोत्पत्ति-विषयक इन प्रवचनो के बीच-बीच मे गुम्फित रूपक-भाषा (Metaphorical language) को यदि हम समझ सके तो भी हमारा वही निष्कर्ष होगा जिस पर अभी हम पहुँचे थे। विमान शब्द के रथाभिधेयार्थ की ओर हम संकेत कर ही चुके है। अथच रथ एक प्रकार का यानविशेष है। वही देवयान—देवो के रथ के अर्थ मे आकाशगामी विमानो—पुष्पकादि विमानों के सदृश प्रचलित होने लगा था। देवो का विमान-भ्रमण परम्परा से प्रचलित ही था। अतः उसी परम्परा के प्रतीक-स्वरूप देवों की प्रतिष्ठानुरूप भवन-विशेषो के नामकरण मे विमान-शब्द का प्रयोग हुआ। अथच वही विमान-शब्द समय पाकर एक विशेष प्रकार के भवन-विशेष के लिए प्रचलित हो गया। उन्ही विमानाकृति भव्य-भवनो का जब एक नवीन वास्तु-शैली मे निर्माण हुआ तो वे प्रासाद कहलाये। प्रासाद तथा विमान इन दो प्रकार के भवन-विशेषों मे इस प्रकार—रचना शैली का ही अन्तर है न कि प्रकृति का। प्रकृति सम्भवतः एक ही है। रचना प्रक्रिया का अन्तर होना स्वाभाविक ही था। महाविशाल इस महादेश के विभिन्न जनपदो मे विभिन्न वास्तु-शैलियो ने जन्म पाया—विकास पाया—प्रौढ़ता प्राप्त की—यह आगे हम विचार करेंगे। अतः तदनुरूप ये भवन एक प्रकार से एक ही प्रकृति से प्रादुर्भूत होने पर भी कालान्तर मे विभिन्न जनपदों में पनपने के कारण अपने आकार-प्रकार मे एक-दूसरे से भिन्न हो गये।

इसके अतिरिक्त एक तथ्य की ओर और हम पाठको का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। दक्षिणापथ मे प्राप्त बहुसख्यक मन्दिर (यथा मामल्लपुर रथ तथा कोणार्क, उड़ीसा का सूर्य-मन्दिर) रथाकृति (विमानाकृति) बने हुए है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य अपने ग्रन्थ मे (देखिए Canons of Indian Architecture, page 270) लिखते है —

(4) We, therefore, cannot say if houses (Vimana) were made in imitation of the chariots (Vimana) or chariots made after the house models.

(5) The earliest south Indian Texts call temples by the term 'Prasad,' and not 'Vimana' as the later texts do The earliest temples of south India, therefore could not have been built after chariot models, though the latter 'Dravidian' temples might have been so modelled.

अर्थात् हम यह नही कह सकते कि विमान-भवनो की रचना रथ-विमान की प्रतिकृति लेकर हुई अथवा रथ-विमानो का निर्माण विमान-भवनो की प्रतिकृति से हुआ। दक्षिणापथीय प्राचीनतम शिल्पग्रन्थ मन्दिरो के अर्थ मे प्रासाद शब्दों का प्रयोग करते है न कि विमान शब्द का, जहाँ परवर्ती ग्रन्थो ने मन्दिरों को विमान के नाम से पुकारा है। अत दक्षिणापथ के प्राचीनतम मन्दिर विमान-प्रतिकृति (Chariot models) से बने नही हो सकते हैं। हाँ, परवर्ती द्रविड़-देवालय रथाकृति की प्रतिकृति पर रचे गये होगे।

श्री भट्टाचार्य की इस धारणा का कोई दृढ प्रमाण तो है नही, एकमात्र सम्भाव्य आकूत है। डा० वी० रामानिया ने अपने ग्रन्थ (Origin of South Indian Temples) मे विभिन्न उदाहरणों एव साहित्य-सन्दर्भों से यह प्रमाणित करने का सफल प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारत मे दक्षिणापथ मे विनिर्मित मन्दिरो का नाम विमान रखा गया था। परन्तु भट्टाचार्य जी को (देखिए २६७ पत्र) इन सन्दर्भों से विमान शब्द से द्योतित मन्दिर-भवनो का दृढ प्रामाण्य स्वीकार करने में हिचकिचाहट है। इसका क्या रहस्य है—वैयक्तिक धारणा अथवा प्रतिकूल प्रमाण—लेखक की समझ मे नही आता। अत: डा० रामानिया के इस मत को बिना किन्ही प्रतिकूल प्रवल प्रमाणो के अस्वीकृत नही किया जा सकता। लेखक की धारणा है कि विमान-भवनो का तात्पर्य प्राचीन भारत में (विशेष कर दक्षिणापथ मे) मन्दिरो से था।

अयच मयमत की प्राचीनता को तथा इस ग्रन्थ को द्राविड-परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ स्वीकार करने में भट्टाचार्य जी को भी आपत्ति नही। मयमत मे विमान शब्द की व्याख्या में मयमुनि लिखते है —

शालाजातिस्त्विशिरोयुग् विमानं मुण्डाकारं शीर्षकं हर्म्यमेतत्। २६.११

अर्थात् मय के अनुसार विमान शालाजातिक भवन-विशेष है जो शिरोयुग् होता है अतएव इसे 'मुण्डाकार शीर्षक हर्म्य' माना गया है।

इस प्रवचन में वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला के ऐतिहासिक विकास का संकेत मिलता है। लेखक ने अपने 'शाल-भवन' के अध्ययन में शाला-भवनों के सम्बन्ध में जो उल्लेख किया है उसकी परम्परा मे इतना तो सभी वास्तु-शास्त्री स्वीकार करते है कि प्राचीन काल में विश्वकर्मीय भारतीय वास्तु-परम्परा मे पाषाण के प्रथम काष्ठ-भवन-द्रव्य का विशेष रूप से प्रयोग होता था। काष्ठनिर्मित भवनों का प्रमाण ऐतिहासिको से अविदित नही है। भवनो की उत्पत्ति तथा विकास में काष्ठमय, वृक्षों की शाखाओ से छाद्यमय, मृन्मय भवनों से ही प्रारम्भ होकर कालान्तर में पाषाण-द्रव्य से परिपुष्ट एव दृढ भवन-वास्तु का विकास प्रादुर्भूत हुआ।

इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए भारतीय पूजा-वास्तु की परम्पराओं (वेदी-रचना, सदस्-संस्था, यज्ञवेदियो आदि) की ओर हम यदि दृष्टि डाले तो यह समझ मे आ ही सकता है कि देवालय, देवगृह, देवतायतन भी प्राचीन काल में पाषाण-मन्दिरो अथवा स्फाटिक सौघो एव उत्तुग हर्म्यो के रूप मे विकसित होने के प्रथम साघारण छाद्य-भवनो—शाला-भवनो के रूप मे प्रारम्भ हुए। साथ ही साथ चल तथा अचल प्रतिमाओं के सदृश प्राचीन काल मे देवगृह भी चल तथा अचल दो रूप मे प्रचलित थे (देखिए Stella Kramrisch विरचित Hindu Temple)। ये चल देवायतन रथाकार यान (विमान) के रूप में सजधज के साथ निकलते थे। अत विमान शब्द में काष्ठ-निर्मित शाल-भवनो के मयमत के इस सकेत मे विमान-भवनो का प्राचीन इतिहास अन्तर्हित है। सम्भवत. इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए कामिकागम ने मन्दिरो-प्रासादों का विभाजन एव विवेचन 'शाला' पटल मे किया है। अथच यद्यपि विद्वानो ने कामिकागम आदि ग्रन्थों को ऐतिहासिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अर्वाचीन (देखिए भट्टाचार्य) माना है, परन्तु उनमे प्रतिपादित वास्तु-परम्परा अवश्य ही प्राचीन है। भारतवर्ष की संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता रही है कि परम्पराओं का जन्म तथा उनका साहित्य अथवा शास्त्रो मे निबद्धीकरण प्राय एक-कालावच्छेद से नही हुआ है।

अस्तु, अभी तक हम प्रासाद-विकास के सम्बन्ध मे समरागण के उस प्रवचन की समीक्षा करते हुए विभिन्न प्रमाणो से यह सिद्ध करने की चेष्टा में लगे रहे कि प्रासादों की उत्पत्ति विमानाकृति भवनो से हुई। परन्तु समरांगणसूत्रघार का प्रासाद-विवेचन बडा ही विशाल है। उसमें भिन्न-भिन्न प्रासाद-शैलियाँ तथा प्रासादाकृतियाँ, उनकी रीतियाँ एव परम्पराएँ वर्णित है। अत. उन सभी के अन्तस्तल मे विभिन्न प्रारम्भ-बीजों के प्रबल आभास मिलते है, जिनके सहारे हमें इस स्तम्भ में भी बहुत कुछ कहना है।

प्रासाद-जन्म एव विकास अर्थात् मन्दिरो की उत्पत्ति एवं विकास (Origin and Development of Temples) के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है।

विभिन्न मत हैं—हैवेल, फर्ग्युसन, मार्शल, ब्रादा, कुमारस्वामी आदि वास्तु-शास्त्रियों के अपने-अपने विचार हैं। मन्दिरोत्पत्ति-विषयक दो प्रधान परम्पराओं—द्राविड़ तथा नागर के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में भी 'नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम्' वाली कहावत चरितार्थ है। अत. उन सब मतो की समीक्षा का यहाँ न तो अवसर है न अवकाश। समरांगणसूत्रधार के अध्ययन में विषयानुषंगिक इस विषय पर साधारण समीक्षा ही लेखक के लिए अभिप्रेत है।

श्रीमती स्टेला क्रैमरिश को हिन्दू मन्दिर पर एक अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखने का श्रेय प्राप्त है, जिसमे मन्दिर-रचना, उसकी प्रतिष्ठा तथा गरिमा का भारतीय दृष्टिकोण से बड़ा सुन्दर समीक्षण है।

अस्तु, निष्कर्ष रूप मे इतना ही सकेत पर्याप्त होगा कि प्रासाद-वास्तु की परम्परा मे भारत की प्राचीनतम पूजा-वास्तु एव पूजा–परम्परा के घटक विद्यमान है जिनका पुजीभूत रूप हिन्दू-प्रासाद है। सास्कृतिक दृष्टि से जो पीछे विश्लेषण किया गया है वह यहाँ पर भी सर्वथा चरितार्थ होता है। वैदिककालीन पूजा-परिपाटी से हम परिचित ही है। सिन्धु घाटी की सभ्यता मे प्रचलित पूजा-परिपाटी का भी हमे कुछ न कुछ पक्का आभास मिल ही चुका है। वैदिक-काल के उपरान्त जो पूजा परिपाटी प्रारम्भ हुई उसका भी हमे ज्ञान है। बौद्धो के विहार, चैत्य, स्तूप बौद्धो की ही उपज नही माने जा सकते। उनके इतिहास मे भी यहाँ के पूर्व बौद्धकालीन भारत की परम्पराओ का इतिहास छिपा है। अत ईसा से लगभग २०० वर्ष पूर्व जितनी भी पूजा-वास्तु एव पूजा-परिपाटियाँ प्रचलित थी उन सभी ने प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास मे सहायता दी।

विकास

संक्षेप मे प्रासाद-वास्तु के जन्म एव विकास मे निम्नलिखित प्राचीन परम्पराओ ने योग दिया है—

१—चिति—वैदिकी वेदी
२—डोलमेन
३—वैदिक सदस् एवं दीक्षाशालाएँ तथा अवैदिक देवगृह
४—गिरि-प्रतिमाएँ एव गिरि-गह्वर
५—हिन्दू दार्शनिक दृष्टि

हिन्दू प्रासाद का जन्म एव विकास इन्ही प्राचीन स्रोतो के उद्गमो पर कलित हुआ जिनके सहारे न केवल उसके भव्य कलेवर का ही निर्माण हुआ वरन् उसकी मौलिक प्रतिष्ठा भी अनुष्ठित हुई।

प्रासाद अर्थात् मन्दिर के तीन प्रधान अंग हैं—अधिष्ठान (जिसे पीठ, मसरक, आद्यग, कुट्टिन, वास्त्वाधार–ई० शि० प०–भी कहते हैं), गर्भगृह तथा गर्भोपरि छाद्य-रचना (Superstructure)। प्रासाद के प्रमुख इन तीनों कलेवरों के निर्माण में तदानुषंगिक तीन विकास-स्रोतों की जीवन-धारा दर्शनीय है।

वैदिक चिति—सर्वप्रथम चिति (वेदी) को लीजिए। वैदिक वेदी को लेखक ने इस अध्ययन के कई स्थलों पर पूजा-वास्तु का प्रारम्भ स्वीकार किया है। वैदिक-कालीन यागोपासना से हम परिचित ही हैं। वेदाग-कल्पसूत्र विशेष कर शुल्वसूत्रों मे वेदी-रचना का जो मान, उन्मान, निवेश आदि विविध प्रक्रियाओ सहित गहन विवेचन है, उससे भी विद्वान् वेदज्ञ भली भाँति परिचित हैं। पाठकों के कौतूहल शमनार्थ वेदी-रचना का थोड़ा सा परिचय हमने अपने 'हिन्दू प्रासाद–चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि' में दे रखा है वह वही पठनीय है।

अस्तु, सारांशत: वेदी का अधिष्ठान अथवा पीठ मन्दिर या प्रासाद के वास्त्वाधार (स० सू० के अनुसार पीठ, जगती आदि) के रूप मे परिणत हुआ। इस प्रकार प्रासाद का आधार वैदिक-कालीन वेदी से विकसित हुआ। प्रासाद-वास्तु मे वेदिका तथा अधिष्ठान, उपपीठ तथा पीठ इन दोनो के इतिहास मे वैदिक वेदी की वेदिका तथा चिति (इष्टकाओं से चयन) के पूर्ण दर्शन होते हैं। वैदिक वेदी की पावनता तथा उस पर प्रज्वलित अग्निशिखा के अनुरूप एव स्मारकरूप प्रासाद-पीठ एव गर्भगृह अर्थात् मन्दिर की पावनता तथा गर्भगृह मे प्रतिष्ठित हिरण्यगर्भ की प्रकाश-पुजमयी प्रतिमा परिकल्पनीय है। यही नही, वेदी रचना का जो साधारण परिचय हमने दिया है उससे यह भी प्रकट है कि जिस प्रकार वेदी तथा उस पर इष्टकाचयनरूपा चिति का निर्माण किया जाता था उसी प्रकार प्रासाद की जगती पर, उसके अधिष्ठान वेदिका–उपपीठ तथा पीठ पर भव्य एव उत्तुग रचना (Superstructure) का विस्तार किया जाता है।

श्रीमती स्टेला ने (दे० हिन्दू टेम्पिल) ठीक ही लिखा है—

अर्थात् मन्दिर की शरीर-रचना मे नीचे से ऊपर तक वैदिक चिति विद्यमान है। रचना (कला) तथा संज्ञा (नामसकीर्तन) की दृष्टि से प्रासाद या हिन्दू मन्दिर वेदी तथा चिति दोनो की सज्ञाओं का भागी है। इसके अतिरिक्त इसकी पूर्ण रचना या कृति को जब हम बाहर से देखते हैं तो यह विशाल पुज के सदृश दृष्टिगत होता है–इस प्रकार यह भवन ही नही एक स्मारक भी है। गर्भगृह की भित्तियो की मोटाई, वहाँ की प्रायिक संयुक्त-रचना इन दोनों तथ्यो से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि पूरा प्रासाद एक चिति है। हमारा यह निष्कर्ष मन्दिर की सज्ञाओ (नामों) अर्थात् प्रासाद, सद्म, सद्मन्,

जो सादन से ही निकले हैं या उसके अन्वर्थक है, से परिपुष्ट होता है। क्योंकि सादन का संकेतितार्थ वैदिक वेदी की चयन-प्रक्रिया एवं प्रासाद-निर्मिति दोनो में विद्यमान है।

सम्भवतः प्रासाद-वास्तु के विकास की इसी परम्परा के अनुरूप प्राचीन साहित्य में, रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों मे चैत्य, आयतन तथा प्रासाद शब्दो के एक ही अभिधेयार्थ से बोधित करने की परम्परा पल्लवित हुई। सच तो यह है कि ये शब्द--प्रासाद, आयतन, चैत्य उत्पत्ति एवं धात्वर्थ के अनुसार (Originally and etymologically) चयनित पीठों अथवा वेदियो के रूप मे पावन स्थान–आभ्यन्तरिक तथा बाह्य–दोनो के अर्थ में प्रयुक्त हुए है।

डोलमेन ––इस प्रकार प्रासादोत्पत्ति की चिति–उत्पत्ति–प्रसृति पर थोड़ा-सा प्रकाश पड चुका, अब दूसरी उत्पत्ति डोलमेन–पाषाणपट्टिका का विवेचन करना है। यह संकेत किया जा चुका है कि समरागणसूत्रधार मे वर्णित विभिन्न प्रासाद-वर्गो (Classifications) मे विविध प्रासादोत्पत्ति–प्रसृतियो के दर्शन होते हैं। स० सू० के ४९वें तथा ५२वें अध्यायो मे जिन प्रासादो का सम्मुल्लेख है उनकी सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि ये प्रासाद शिखर-रहित है। छाद्य-प्रासादो के इन निदर्शनो मे पाषाणपट्टिकाओं की उत्पत्ति-परम्परा विद्यमान है–ऐसा अपना ही विचार नही, श्रीमती स्टेला ने भी अपने 'हिन्दू-मन्दिर' मे (देखिए पत्र १५४, फु० नोट ६७) इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। छाद्य-प्रासाद (flat-roofed temples) अर्थात् जिन पर शिखर नही है उनको दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है––एक वे जो पाषाणपट्टिकामयी रचना मात्र है तथा दूसरे स्तम्भशाला (pillard halls)। वैसे तो समरागण के इन ऊपर निर्दिष्ट प्रासादो मे शिखरविहीन प्रासादो का दूसरा वर्ग आपतित होता है परन्तु इनकी प्रकृति (Prototype) सम्भवत पाषाणपट्टिका या डोलमेन ही है। क्योकि ऐसे मन्दिरो का निर्देश पर्सी ब्राउन ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ (Indian Architecture) में किया है। लादखान मन्दिर तथा आमहोल का दुर्गामन्दिर इस प्रकार के प्रासादवर्ग के निदर्शन मे उल्लेख्य है। अतएव श्रीमती स्टेला भी अपने ग्रन्थ के १५१वें पन्ने पर लिखती है––

"The prototype of these shrires in the dolemen with its one large feat slab of stone, supported by three upright slabs set on edge so as to form a small chamber with one side open to serve an entrance."

अर्थात् इस प्रकार के देवावासो में पाषाणपट्टिकाओं की उत्पत्ति की प्रकृति विद्यमान है। इनमे एक दीर्घ शिला-पट्टिका के सहारे तीन पाषाणशिलाओ के रचना-

वैशिष्ट्य से एक क्षुद्र शाला (Chamber) विनिर्मित होती है जिसमें एक ओर से खुलाव रहने से वही द्वार का काम देता है ।

अथच इस प्रकार के देवावासो में शिव-मठों का ही विशेष प्राधान्य है । इस तथ्य के समर्थन में Canons of India Report 1931 p. 406 तथा लांगहर्स्ट की Annual Report of the Archaeological survey of India Southern Circle 1915-16 p. 29 pt. III विशेष द्रष्टव्य है । प्रो० क्रैमरिश ने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' मे इन नाना निदर्शनो पर सकेत किया है (दे० पृ० १५०, फुटनोट ५३) ।

बहुत से देवालय, विशेष कर शिवमठ उत्तर प्रदेश के प्रायः प्रत्येक कोने मे बिखरे पडे हैं जिनकी छानबीन भी नहीं हुई, और न होती है—वे प्राय सभी इसी वर्ग मे आते है । इन मन्दिरो मे, जैसा पूर्व सकेत किया जा चुका है, भारतीय पूजा-परम्परा की सास्कृतिक उपचेतना से अनुप्राणित जन-मन की प्रतीकोपासना के प्रतीक वृक्षो एव शिलाओ की आराधना की कहानी छिपी हुई है ।

प्रासाद-वास्तु की उत्पत्तियों मे चिति तथा पाषाणपट्टिकाओं की देन का थोड़ा सा विवेचन हो चुका, अब तीसरी उत्पत्ति (Origin) के सम्बन्ध मे विवेचन बाकी है ।

प्रासाद की जगती (पीठ, अधिष्ठान) की वैदिक चित्यात्मक उत्पत्ति का जो निर्देश किया जा चुका है उसी पर पाषाणशिलाओ की प्रोन्नत (raised) रचना से छाद्य-प्रासादो (flat-roofed temples) की निर्मिति की प्रकृति (type) बनती है । प्राय सभी मन्दिरो मे गर्भगृह की रचना वास्तु-शास्त्रियो ने अनिवार्य रूप से निर्धारित की है । उन प्रासादो को लीजिए जिनके आभ्यन्तरिक गर्भगृह को ही प्रमुख निवेशबिन्दु मानकर विविध रचनाओ (Superstructure) के साथ-साथ जिनकी दीवारो पर रचना-विशेषों की विविध प्रतिमाओ के सन्निवेश का दर्शन होता है । उन प्रासादो की उत्पत्ति कैसे हुई, उनका विकास इस रूप मे कैसे पल्लवित हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में, इस वास्तु-समस्या के समाधान मे कहना है कि यद्यपि पाषाण ने ही गर्भगृह की आदिम प्रकृति (prototype) प्रदान की है, परन्तु इस पाषाण-शिला की प्रकृति के रचना-विशेष एव भूषा-विशेष से शून्य होने के कारण हमें इस प्रकार के प्रासाद की उत्पत्ति-प्रकृति के प्रतीक स्वरूप कोई और ही निदर्शन ढूँढना होगा । भारतीय उपासना-पद्धति के इतिहास को देखिए । प्रासाद-वास्तु के विकास के प्रथम इस देश मे वैदिक तथा वैदिकोत्तर काल मे यज्ञशालाओ मे ऐसे पवित्र स्थानों की रचना प्रसिद्ध थी, उन्होने भी प्रासाद के गर्भगृह की रचना में योगदान किया है तथा प्रासाद की विविध रचनालकृतियो के लिए भी आदर्श उपस्थित किया है ।

वैदिक सदस् तथा अवैदिक देवगृह

लेखक की धारणा है कि प्रासाद-वास्तु के विकास के प्रथम इस देश मे इस प्रकार की प्रकृति (prototype) की प्रतीकस्वरूप दो परम्पराएँ प्रचलित थी । एक तो आर्यो की वैदिक सदस् तथा दूसरी आर्येतर द्रविडो अथवा यहाँ के आदिम निवासियों की मण्डपाकार अस्थायी वृक्षशाखा-निर्मित रचनाएँ ।

सत्यनारायण की कथा के समय भगवान् सत्यदेव की पूजा के विविध संभारो में सर्वप्रथम सभार कदलीमडप, बन्दनवार, अशोकादि वृक्षो की विविध पत्रावलियो, पुष्पमालाम्रो आदि से हम सभी परिचित हैं। इस प्रकार की पूजा-प्रणाली इस देश में अत्यन्त सुन्दर अतीत की स्मारक है। इस सत्यनारायण-कथा-कालीन मण्डपव्यवस्था को लेखक की धारणा के अनुसार दूसरी परम्परा (अर्थात् आर्येतर) की आदिम प्रकृति (prototype) समझना चाहिए । भले ही सत्यदेव के स्थान पर उस समय का प्रचलित देव दूसरा अन्य था ।

अस्तु, इस अनुसधान के विशदीकरण के लिए गर्भगृह के सम्बन्ध मे थोडा-सा विवेचन और अपेक्षित है । स० सू० के १९वे अध्याय–'चतुश्शाल' में गर्भगृह को भवन का आभ्यन्तरिक भाग माना गया है—

यच्छालालिन्दयोः शेषं भवेद् गर्भगृहं हि तत् ।

स० सू० के इसी तथ्य को हृदयगम करते हुए श्रीमती स्टेला क्रैमरिश ने अपने 'हिन्दू मन्दिर' मे (देखिए १५७ पत्र) लिखा है —

"The Secluded interior of the Sadan on the Mahavedi is a precurson of the Garbhagriha in the Prasada on its raised terrace or base, with its main door in the east, and the other, vertigial ones as inches or ' massive doors, (anad ara) at the remaining cardinal pts."

अर्थात् अपनी प्रोन्नत जगती अथवा पीठ पर आसीन प्रासाद-गर्भगृह का अगुवा महावेदी पर निर्मित सदस् का एकान्त अभ्यन्तर प्रदेश है, जिसका कि मुखद्वार प्राची मे होता है और दूसरे लम्बाकार एक प्रकार के घनद्वार अन्य अवशिष्ट दिङ्मुखों पर होते है ।

"The Vedic shed of initiation by its scope and also as far as it is constructed on the Mahavedi preceeds, the Garbhagriha of the Hindu Temple Built of wood and mats it had a pent roof with a risge; it was without a superstructure."

अर्थात् रचना तथा विस्तार एवं प्रस्तार के दृष्टिकोण से वैदिक यजमान-शाला (Shed of initiation) हिन्दू-मन्दिर के गर्भगृह का प्रथम बीज है। यह शाला

काष्ठ तथा फूस (Mats) से बनती थी तथा इसकी छत ढालू तथा इसकी सिरा भी वैसी ही होती थी। अन्य किसी प्रकार की ऊपरी रचना का इसमें अभाव था।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रासाद-वास्तु के तीन प्रमुख अवयवों—जगती (पीठ), गर्भगृह तथा गर्भगृह के ऊपर रचनालंकृतियों–में से दो की उत्पत्ति-प्रकृति पर कुछ-न-कुछ विवेचन हो चुका। परन्तु तीसरे अवयव रचनाविशेष (i.e. superstructure) की परम्परा कहाँ से पल्लवित हुई ? इसके विकास बीज कहाँ से आये ? इसी पर इस स्तम्भ में अग्रसर होना है।

जिस वेदी की यजमान-शाला का ऊपर संकेत किया गया है उसकी प्रतिकृति ने प्रासाद के गर्भगृह की आकृति के निर्माण में उतना योगदान नहीं किया जितना कि उसकी पावनता एव उसके रहस्य ने। प्रासाद के गर्भगृह की आकृति, निवेश-योजना तथा उसके ऊपर रचना-भूषा-सयोजना में, वृक्षशाखा-विनिर्मित छाद्यमय अस्थायी पुरातन पूजा-गृहो, देवगृहो ने आदर्श (Model) अवश्य उपस्थित किया। इन पूजा-गृहो का सकेत अभी पिछले पन्नो मे किया जा चुका है। अति पुरातन काल में इस देश मे आर्यों तथा विशेष कर आर्येतर युग मे यहाँ के आदिम निवासियों मे यह पूजा-परम्परा प्रचलित थी—यह हम लिख ही चुके हैं। आज भी सत्यनारायण की कथा इसका जीता-जागता निदर्शन विद्यमान है। प्रबोधिनी एकादशी को वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु की पूजा के अवसर पर अथवा अनन्तदेव की पूजा के समय (सत्य-नारायण की कथा का निर्देश हो ही चुका है) आज भी मण्डप बनाया जाता है, वन्दनवारें सजायी जाती हैं, पुष्पमाला चढायी जाती है। काष्ठ-पट्टिका का निवेश कर गर्भगृह के सदृश मण्डप मे निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की कल्पना की जाती है–पूजा होती है—कथा कही जाती है। श्रीमती स्टेला ने इसी पूजा-परम्परा से प्रासाद की रचना-लकृतियो की प्रतिकृति प्राप्त की है।

वे अपने 'हिन्दू-मन्दिर' (१५६ वें पन्ने) मे लिखती है —

"जहाँ दीक्षाशाला आदि वैदिक संस्थाओं ने प्रासाद के गर्भगृह के रूप-निर्माण में भले ही उतनी सहायता नही की जितनी की उसकी प्रतिष्ठा में, किन्तु उनकी देन निर्विवाद है, वहाँ प्राचीन देवघरो की प्रोल्लसित परम्परा ने मन्दिर की छाद्य-भूषाओ, शिखरादि घटनालंकृतियो मे अवश्य योगदान किया। वृक्ष-शाखा-विनिर्मित छाद्य मण्डपाकृति मे देवगृह, जो वशवृक्ष, कदलीपत्र, नारिकेलदल अथवा अन्यान्य विविध विनत शाखा संयोजना से निष्पन्न होते हैं वे अपने प्राचीनतम आकार में आज भी स्थापित किये जाते हैं, तथा जिनमें पूजोपकरणो से युक्त इस प्रकार के एक छोटे से स्थान को घेरकर निराकार सत्यदेव की कल्पना की जाती है—प्रतिष्ठा समझी जाती है, उन्ही मे विकसित हिन्दू-

मन्दिरों की शिखर-वास्तु-कला की प्रकृति पल्लवित हुई। वास्तव मे जो चार बाँसों अथवा शाखाओ को चारो दिशाओ में खड़ाकर मण्डप बनाया जाता था वही तो मन्दिर का आकार है। अथच जो बन्दनवार या छाद्य-भूषाएँ सजायी जाती थीं उन्होंने ही कालान्तर मे शिखर-भूषाओ को पल्लवित करने मे प्रतिकृति प्रदान की।"

हमने प्रासाद-वास्तु के विकास मे प्राचीन पाँच घटको का पीछे उल्लेख किया है, उनमे तीन की कथचित् कुछ समीक्षा हो चुकी। अब क्रमप्राप्त गिरि-प्रतिमाओ एवं गिरि-गह्वरो की देन का भी कुछ मूल्याकन होना चाहिए।

यहाँ पर इन अन्तिम दो स्रोत घटको के सम्बन्ध मे यह प्रथम ही संकेत करना उचित होगा कि जहाँ वैदिक चिति एवं सदस्-संस्थाओ एव अवैदिक अथवा अनार्य पर्ण-शालाओ ने हिन्दू प्रासाद के कलेवर—पीठ, गर्भ एव छाद्य—के निर्माण मे सहायता की वहाँ गिरि-प्रतिमाओ एव गिरि-गह्वरो ने भी प्रासाद की आकृति के निर्माण मे सहायता पहुँचायी।

गिरि-प्रतिमा

हम जानते है कि प्राचीन काल से—विशेष कर आगम-इतिहास-पुराणों के समय से मन्दिर को पर्वत के रूप मे अधिक बखाना गया है। जिस-जिस प्राचीन साहित्यिक अथवा पुरातत्त्वीय (शिलालेखादि) सामग्री मे मन्दिरों का सकेत अथवा वर्णन आया है उसकी सज्ञाएँ एवं स्वरूप पर्वतो के नाम एवं स्वरूप पर आधारित हुए है। सत्य तो यह है कि पर्वत ही देवो के सहज एव प्राकृतिक आवास माने गये है। भगवान् शकर के निवास कैलास को कौन नही जानता ? मेरु पर्वत देवो का वास है—इसका भी पुराण पूर्णरूपेण उद्घोष करते है। अत इसी प्राचीन परम्परा के अनुरूप वास्तु-शास्त्रीय ग्रथो मे प्रासादो अर्थात् मन्दिरो के नाम पर्वतो के नाम से संकेतित हुए है। मत्स्यपुराण, बृहत्सहिता एव समरागण आदि वास्तु-ग्रन्थो मे मेरु, मन्दर एवं कैलास प्रासादो का बहुत ही सुन्दर सकीर्तन हुआ है। सम्भवत इष्टकाओ एव पाषाणों की इन रचनाओं मे पर्वतो से भी प्रोन्नत एव सागरो से भी गभीरतम अध्यात्ममर्म का चित्रण करने के लिए हिन्दू प्रासाद का जन्म हुआ है। प्रासाद विश्वरूप है और पर्वत विश्व-रचना की दृष्टि से विश्व की धुरी है। पर्वतो ने ही प्रासादो के आकार के निर्माण मे सहायता प्रदान की है। समरागण में मेरु को प्रासाद-राज माना गया है और वही पर्वत-राज है।

पर्वतो के अतिरिक्त गिरि-गुहाओ ने भी प्रासादों की आकृति-रचना मे सहायता प्रदान की है। प्रासाद-वास्तु के नाना निदर्शन पर्वत-कन्दराओ में विद्यमान है। अजन्ता और एलोरा आदि अनेक भारतीय वास्तु-पीठ, जो बौद्ध चैत्य एव विहार तथा हिन्दू-मन्दिर

(जैसे एलोरा का कैलास) के रूप में पर्वतों को काट-काटकर बनाये गये हैं वे भी हिन्दू वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से प्रासाद ही हैं। समरांगणसूत्रधार ऐसे प्रासादो का 'लयन', 'गुहाधर', 'गुहराज' आदि नामों से सकीर्तन करता है।

गिरि-गह्वरों का माडेल प्रासाद-आकृति के निर्माण में तो सहायक हुआ ही है, यह एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर सकेत करता है। सनातन से इस देश में तपस्या, चिन्तन एवं मनन के लिए गिरि-कन्दराएँ सबसे अधिक उपयुक्त स्थान मानी गयी हैं। गिरि-कन्दराओ मे देवावास भी विश्रुत है। देवगण सरिताकूलो पर अथवा पर्वत-शृगों पर ही निवास नही करते थे वरन् कन्दराओ मे भी निवास के सदैव अभिलाषी रहते थे। समरागण के अनुसार (देखिए सहदेवाधिकार, अध्याय ६) तो एक समय था जब देव और मानव दोनो ही साथ-साथ इन्ही कन्दराओ मे रहते थे। वह सत्ययुग था अर्थात् प्राचीनतम युग था। कालान्तर मे देवो एवं मानवो के पारस्परिक पार्थक्य ने दु.खमय ससार की रचना की। मानव की नाना उपासना-पद्धतियाँ—यज्ञ, तप, वैराग्य, पूजा, पाठ, भजन-सकीर्तन आदि सभी देवमिलन के प्रयास है। सम्भवत. प्रासादो की इन गिरि-गह्वर प्रतिकृतियों मे मानव अपने प्राचीन साथी को ढूँढने की तत्परता में सलग्न दिखाई पडता है। बौद्ध, जैन एव ब्राह्मण सभी धर्मों के अनुयायियों में गिरि-कन्दराओ का वास साधना के लिए सर्वोत्तम माना गया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण

अन्त में इस प्रकरण मे प्रासादो के जन्म एव विकास के समीक्षण मे एक और तथ्य सूचनीय है, वह है दार्शनिक दृष्टिकोण। हिन्दू दृष्टि से समरागण-ऐसे वास्तु-शास्त्र ने उस भावना को पूर्णरूप से अक्षुण्ण बनाये रखा है। प्रासाद मानव का निवास नहीं (राजा को हिन्दू धर्मशास्त्रकारो ने देवांश माना है), वह विश्व एव विश्वनियन्ता की प्रतिमा है। प्रासाद के शिखर-भाग (शिरोभाग, ब्रह्म या ब्रह्मरन्ध्र-भाग) पर आमलक अर्थात् विशुद्ध तत्त्व की स्थापना अथवा कल्पना का यही मर्म है।

प्रासाद-वास्तु का चरमोत्कर्ष

प्रासाद के प्रादुर्भाव, जन्म एवं विकास का ऊपर उल्लेख किया गया है। प्रासाद पूजा-स्थान एव पूज्य कैसे बना ? प्रासाद की वास्तु-आकृति कहाँ से आयी ? इन नाना प्रश्नो की जिज्ञासा पर कुछ मीमासा हो चुकी है। परन्तु प्रासाद को 'पुरुष' हम मान ही चुके हैं। विराट पुरुष की प्रतिकृति प्रासाद की कल्पना मे प्रासाद के जन्म, विकास एव प्रोत्थान सम्बन्धी नाना वास्त्वाधार के परिचायक प्रासाद-संस्थान एवं प्रासाद-निर्माण की परम्पराएँ ही प्रासाद में पुरुष-प्रतिष्ठा की नियामक नही वरन् प्रत्यक्ष विधायक भी हैं। अतएव प्रासाद के नाना जन्म-आकूतों में अवयवी-अवयव-आकूत

(Organic theory) ही सर्व से गरिष्ठ एव वरिष्ठ प्रतीत होता है—ऐसी इस लेखक की भी धारणा है, जिसका विशेष पोषण मल्लाया ने (देखिए Studies on Temple architecture with esp. ref. to Tantrasammuccaya) किया है।

भारतीय वास्तु-कला की जो समीक्षा पिछले पचास वर्षों में हुई है उसका केन्द्र-बिन्दु प्रायः प्रासाद ही रहा है। भारतीयो ने वास्तु-कला की उन्नति में विशेष कर पूजा-वास्तु (Devotional architecture) की ओर ही विशेष रुझान रखा। जन-वास्तु पर जन-जीवन की सरलता, सभारशून्यता एवं आवश्यकतानुसार विरलता की ही ओर उनका अभिनिवेश रहा। राज-वास्तु (Royal architecture) यद्यपि पूजा-वास्तु के समान ही आलकारिक एवं सम्भार-बहुल विकसित हुआ परन्तु वह भी नगर-निवेश या दुर्ग-निवेश का उपकरण मात्र रह गया। अतः भारतीय वास्तु-कला की समीक्षा मे प्रासादो एवं विमानो—देव-भवनो की ही समीक्षा का अवसर रहा है। विशेषज्ञ विद्वानो ने इन्ही वास्तु-कृतियो को लेकर समीक्षा की है तथा उनको दो प्रमुख वर्गों में बाँट रखा है—दक्षिणापथीय तथा उत्तरापथीय। इन प्रासादो की समीक्षा मे उनके कारक यजमानो अर्थात् प्रसिद्ध राजवशो की वदान्यता को विस्मृत नही किया जा सकता। अत. जनपदानुरूप एव राजवशानुरूप समीक्षा का प्राधान्य रहा। चालुक्य, पल्लव, पाण्ड्य, विजयनगर, होयसल आदि नाना राजकुलो के सरक्षण मे दाक्षिणात्य स्थापत्य का कैसा प्रोत्थान एव चरमोत्कर्ष प्रोल्लसित हुआ इससे हम सभी परिचित है। उसी तरह आर्यावर्त—उत्तरापथ के विशाल भूभाग पर प्रोल्लसित नाना प्रासादों के निर्माण में यहाँ के प्रसिद्ध जनपदों एवं वास्तुपीठो के नाम अमर हो गये है। भुवनेश्वर (उडीसा), खजुराहो (बुन्देलखण्ड), कूर्माचल, ग्वालियर, राजपूताना एवं मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध मन्दिर-पीठ एव समृद्ध गुर्जर देश की विभूति-सम्पन्न कृतियाँ अपनी ओजस्विता के लिए प्रख्यात है। इन सभी कृतियो के उदय मे धार्मिक आस्था ने महान् योगदान किया। बौद्धो के विहार एव चैत्य तथा जैनो के जैनमन्दिर भी इसी आस्था के प्रतिफल थे। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन सभी ने पूजा-वास्तु या प्रासाद निर्माण की ओर ऐसा उद्दाम उत्साह दिखाया मानो सारा समाज, सारे व्यक्ति, प्रासादकर्ता स्थपति के अनुगामी बन गये हो अथवा उसकी कार्य-शाला के सहकारी हो।

भारत मे ही नही ससार के अन्य देशो मे भी मध्ययुग एक नयी उपचेतना का प्रवर्तक था। काव्य एव कला, समाज एव सस्कृति के जो व्यापक विप्लव इस काल मे देखे गये उनमे युग की चेतना का प्राधान्य तो था ही, जन-मानस परम्परागत जीवन से मानो ऊबकर क्रान्ति के लिए लालायित था। सत्य, शिवं, सुन्दर की भावना संस्कृति एव सभ्यता को अग्रसर करने में सदा सहायक रही। इस भावना की प्रगति मे धर्म को छोड़कर

कोई अन्य सहारा नहीं मिला। विशेष कर भारतवर्ष की मध्यकालीन संस्कृति में प्रासाद-प्रोत्थान के अन्तस्तल से यही स्पष्ट प्रतीत होता है। भारतीय वास्तु-कला के प्रख्यात लेखकों का भी यही निष्कर्ष है। पर्सी ब्राउन को भी तो लिखना पड़ा—

"It should be realised that in all works of art, and particularly in the temple architecture of the country; in the mind of the Indian people, the religious philosophical and meta-physical qualities of the production takes first place, the artistic character being regarded as secondary. The intellect of the age, absorbed largely in divine contemplation, is reflected in the temple ideal, where the spiritual dominated the material". (vide Indian Arch.)

भारतीय वास्तु-कला के जिस प्रासाद-वैभव का हम ऊपर संकेत कर आये है वह भारतीय वास्तु-शास्त्रीय वाङमय से भी परिपुष्ट होता है। मध्यकालीन वास्तु-शास्त्रीय कतिपय प्रख्यात कृतियो, जैसे उत्तरापथीय समरागणसूत्रधार एवं अपराजितपृच्छा तथा दक्षिणापथीय तन्त्रसमुच्चय एव ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में यह प्रासाद-वैभव पराकाष्ठा को पहुँच गया है। लेखक समरागणसूत्रधार का विशेष विद्यार्थी होने के कारण इसी ग्रन्थ का विशेष आभार मानता है। मध्यकालीन वास्तु-परम्परा का इसे प्रतिनिधि ग्रन्थ मानना चाहिए। प्रासाद-वास्तु का जैसा वैज्ञानिक एव समृद्ध विवेचन इस ग्रन्थ मे है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। अपराजितपृच्छा विशेष अतिरंजित हो गयी है। (देखिए प्रथम खण्ड, वास्तु विद्या का विकास)। तन्त्रसमुच्चय वैज्ञानिक होते हुए भी संकुचित रह गया है (दक्षिणी शैली ही इसकी उपजीव्य है)। ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति मे यद्यपि प्रासादों का विपुल विस्तार है तथापि वह दक्षिण के दायरे से आगे न बढ सकी। निष्कर्षतः समरागण यद्यपि उत्तरापथीय शैली का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, तो भी उत्तरापथ के प्रख्यात नरेश धाराधिप भोजराज की इस कृति मे भारत के समस्त भूभागों पर विकसित एव वृद्धिगत प्रासाद-जातियो एव उनकी शैलियों का पूर्ण प्रतिबिम्ब देखने को मिलेगा। अतः इसी ग्रन्थ को आधार मानकर हमें आगे अग्रसर होना है।

चूंकि यह अध्याय प्रासाद-वास्तु के प्रोत्थान की समीक्षा मे लिखा जा रहा है अतः प्रासादों के नाना घटक विकासो; जैसे वर्गों (classificat ons), शैलियो (styles), संस्थानो (planning) द्रव्यों (materials), मानोन्मानो (measurements) एव भूषा-चित्रणों (ornamentations—scultures etc.) आदि का यहाँ पर विशेष संकीर्तन न तो आवश्यक है और न अभीष्ट। सम्पूर्ण प्रासाद-खण्ड प्रासाद-प्रोत्थान का ही तो गान करता है। अतः इस अध्याय मे हमे प्रासाद-वास्तु (जिसके जन्म एवं

विकास पर पीछे हम कह आये हैं) के प्रोत्थान—उसके कलेवर-निर्माण, उसके विभिन्न अवयवों के विकास-घटको की समालोचना करनी है ।

प्रासाद-कलेवर के विकास मे इस देश में दो प्रमुख परम्पराएँ पल्लवित हुईं, जो इस देश के दो विशिष्ट प्रदेशो, दक्षिण तथा उत्तर की विशेषता की सूचक हैं—

(१) पिरामिडल आकार तथा उसका कलेवर ।

(२) कर्वीलिनियर शेप अर्थात् शिखराकार तथा उसका कलेवर ।

पिरामिडल आकार

पिरामिडल आकार का विकास विशेष कर दक्षिण भारत मे हुआ जिसके नाना निदर्शनो में तजौर का वृहदीश्वर विमान (मन्दिर) मौलि-मालायमान है । इस आकृति का कैसे विकास हुआ, इस सम्बन्ध मे डाक्टर क्रैमरिश ने हिन्दू प्रासाद की दार्शनिक भित्ति की ओर सकेत किया है जिसने इस प्रकार के आकार को जन्म प्रदान किया—

"Works of architecture serve a purpose; the Hindu Temple as much as a Gothic cathedral exceed their function of being a house or seat of divinity. While their orientation and expansion are in the four regions of space, their main direction, in the vertical, is towards God, the supreme principle, which is beyond form and above, His seat or house of manifestation From all these regions of space, from its walls in the four directions and their corners in the intermediate directions, the Prasadas, the rises bodily towards its high point tier on tier, until diminished in its bulk, it forms the high Altar (vedi) on which is placed the crowing High Temple or the Amalaks with its final that ends in point". (Hindu Temple 179)

पिरामिडल आकार वाले प्रासादो के इस मौलिक आधार की वास्तु-कलात्मक समीक्षा में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यह आकार जनावास अथवा राजवेश्म के प्रचलित आकारो से न तो उदित हुआ है और न उनके आदर्श पर ही आश्रित है । इस दृष्टि से जब हम हिन्दू मन्दिर की समीक्षा करते हैं तो विद्वानो के वे मत निराधार प्रतीत होते हैं जिनमे प्रासाद-वास्तु के विकास के लिए राजवेश्म अथवा अन्य विशिष्ट भवन अथवा वास्तु-विन्यास आधार के रूप मे प्रतिष्ठित किये गये हैं ।

शिखराकार कलेवर गोलोत्तुग सभव है परन्तु इसके विपरीत दक्षिणी ग्रन्थो (दे० ईशा०) मे 'शिखर' शब्द विमानो के शीर्ष पर विन्यस्त डोमशेप का बोध कराता है

और वह गोल ही नहीं होता, षडस्र अथवा अष्टास्र भी हो सकता है। शिखर शब्द की इस द्विविधा के कारण प्रासाद-वास्तु की समीक्षा के भ्रान्त मत प्रचलित हो गये है।

श्रीमती क्रैमरिश का भी यह निष्कर्ष है—"Sikhara thus particularly denotes a shape carvilinear in the vertifical section whether it is used to designate the whole super-structure of North Indian prasadas or the Gupola of the High Temple only which is Placed on top of the super-structure of South Indian Prasada. This two--fold use of the term Sikhara in Indian Vastu--sastras has led to wrong interpretations. Its square or round etc. horizontal section on South Indian Temple (Siras chanda; Mayamatam, XVIII--I) has mistakenly been considered by modern scholars a criterion of the entire-stuctute of a Hindu Temple".

पिरामिडल आकार का जो विकास प्राचीन प्रासाद निदर्शनों मे पाया जाता है उसके प्रचुर सकेत शास्त्र एव कला दोनों मे ही प्राप्त होते हैं। समरागण के 'रुचकादि' नामक ४९वे अध्याय में इकहरे, दुहरे, तिहरे छाद्यो का वर्णन है। छाद्य-प्रासादो की परम्परा डालमेन से विकसित हुई यह हम पहले ही कह आये है। अतएव जब वास्तु-कला का विशेष विकास हुआ और इन प्राचीन प्रतिकृतियो मे सुन्दर योजना का श्रीगणेश हुआ तो पर्वत-प्रतिमा ने उसमे योगदान किया तथा वास्तु-कला के सौन्दर्यविधायक सम्भारो से शन्य इन प्राचीन शिलापट्टिक पूजागृहो मे चार चाँद लग गये। समरागण के इन छाद्य प्रासादो के निदर्शन होयसल आदि प्राचीन वास्तु-पीठो पर निर्मित मन्दिरो का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस प्रकार के जो प्रासाद प्रोल्लसित हुए उनके अन्य अवान्तर विकास भी स्थापत्य मे पाये जाते है —

(क) पोली छत—यह एक प्रकार से बौद्धो के चैत्यो के आकार पर आश्रित है, जैसा कि कपोतेश्वर मन्दिर मे निदर्शन मिलता है।

(ख) तोरण-आकृति वाली छतो के प्रासाद, जो मामल्लपुर के रथ-विमानो में निदर्शनीय है।

(ग) भौमिक—इन आकारो का स्थापत्य प्रदर्शन दक्षिणी विमान प्रासादो के गोपुरो के शिखर भाग पर दर्शनीय है।

(घ) वैतानिक—इनकी प्राचीन प्रतिकृति तपस्वियो की कुटियो से प्राप्त होती है, उन्ही को प्राचीन प्रकृति पर भारतीय स्थापत्य मे ऐसे अनेक मन्दिरो का विकास

हुआ जिनकी छते डोम का आकार प्रदर्शित करती है। प्राचीन काल में इन कुटियों को पर्णकुटी या पर्णशाला के नाम से भी पुकारा जाता था और इनकी रचना अथवा विन्यास मे वृक्षों की शाखाओ एव पत्थरो तथा नानाविध पुष्पो की छटा दर्शनीय होती थी। वही कालान्तर पाकर बडे-बडे प्रासादो की छाद्य प्रतिकृति का आदर्श उपस्थित करने मे सहायक हुई। दक्षिण भारत के बहुसख्यक विमानो पर जो अल्प अथवा क्षुद्र विमानाकार की शिरोभूषा दिखाई पडती है उसमे इन्ही की प्राचीन देन का अनुगमन हुआ है।

इस प्रकार से हम देखते है कि इन नाना आकृतियो से विकसित प्रासाद अपनी पूर्ण सजधज के साथ जब स्थापत्य के कौशल का महनीय निदर्शन हुआ तो वह एक अद्भुत विमुग्धकारिणी छटा का विधायक बन गया, जैसा कि हम दक्षिण भारत के प्रसिद्ध प्रासादों में देखते हैं। इस प्रकार के छाद्यो मे वास्तु-कला की दृष्टि से विशेष उल्लेख्य यह है कि इनके कलेवर जो एक प्रकार से कतरे हुए से प्रतीत होते हैं और जिनके पास या तो सीधे अथवा टेढे होते हैं उनकी रचना में एक प्रकार का विराम सा दिखाई पडता है। वह विरामस्थल स्कन्ध-प्रदेश जानना चाहिए और उसी पर क्षुद्र विमान या आमलक की स्थापना होती है और उसी पर अन्त में कलश की प्रतिष्ठा और उस पर बिन्दु के विन्यास आदि सम्पन्न होते है।

पिरामिडल आकार की छतो वाले प्रासादों का एक नवीन विकास भूमिकाओं (स्टोरीज) के रूप मे भी हुआ है जिसके तीन प्रकार है —

(क) विभिन्न भूमिकाओ से (एक भूमिक लगाकर द्वादश भूमिक) से स्कन्ध प्रदेश का विन्यास।

(ख) क्षुद्र अथवा अल्प विमान।

(ग) विमानो पर विमान।

श्रीमती स्टेला क्रैमरिश ने अपनी पुस्तक मे इन सभी प्रकार के प्रोल्लासों का पूर्ण आभास दिया है। लेखक उन सबकी विस्तृत अवतारणा एव समीक्षा न करते हुए केवल यह प्रयास करना चाहता है कि इस प्रकार के छाद्य-प्रासादो का समरांगणसूत्रधार में कैसा वर्णन हुआ है। इसके अनुरूप इस ग्रन्थ के अवलोकन से तीन प्रकार की विकास परम्पराएँ विशेष रूप से सम्मुख आती है —

वे प्रासाद जो एक-छाद्य, द्वि-छाद्य, त्रि-छाद्य तो हैं ही, साथ-ही-साथ उनमें स्तम्भो की भरमार है और उनके आकार चौकोर, गोल आदि सभी प्रसिद्ध आकारो के अनुगामी हैं। इनका माडेल विमान था और इनका निर्माण-द्रव्य विशेष कर काष्ठ-बहुल था। काष्ठमय भवन ही प्राचीन वास्तु के स्मारक हैं। इन प्रासादो की काष्ठमयता

इनकी प्राचीनता की सूचक है और इनके निवेश मे स्तम्भो का आधिक्य भी इनकी रचना के सारल्य पर प्रकाश डालता है । इनकी प्रतिकृति मे जहाँ प्राचीन नाना पूजा-वास्तु की प्रतिकृतियों ने योग प्रदान किया, वहाँ शाल-भवनो की परम्परा ने भी कम योगदान नही किया । शाल-भवनों के विन्यास में षड्दारुक का विशेष प्राधान्य था । समरागण का निम्न प्रवचन इसी रहस्य का उद्घाटन करता है —

इति सुरभवनानां सप्ततिर्दारवाणाम्
इह सदनचतुष्कोणान्वितेयं प्रदिष्टा ।
जनमयमवकोशानन्वशुभ्रांशुलेखा (?)
भवति सुविदितैषा शिल्पिनां कामधेनुः ॥

यहाँ पर दो शब्द "दारवाणाम्" तथा "सदनचतुष्क" विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिससे भारत की प्राचीन वास्तु-कला मे काष्ठ प्राधान्य तथा इन प्रासादो के विकास मे शाल-भवनो का आधार दोनों संकेतित होते हैं ।

अभी तक हम प्रासादो के कलेवर विकास की दो प्रमुख परम्पराओं मे पिरामिड आकार की कुछ समीक्षा कर सके हैं । अब सक्षेप मे शिखरोत्तम आकारो का भी थोड़ा-सा दिग्दर्शन आवश्यक है ।

शिखरोत्तम आकार

हिन्दू मन्दिरो के निर्माण की जो शैली प्रधान रूप से प्रस्फुटित हुई उसमे शिखरोत्तम आकार विशेष विकास को प्राप्त हुआ । भारतवर्ष के तीन-चौथाई से भी अधिक भूभाग पर इस आकार का आधिपत्य है । इनके नाना अवान्तर भेद एव प्रभेद प्रोल्लसित हुए । भारतीय स्थापत्य के मुकुटमणि हिन्दू प्रासाद की छटा इन्ही शिखरो मे देखने को मिलेगी । समरागणसूत्रधार यत उत्तरी शैली का प्रौढ प्रतिपादक है तथा विश्वकर्मीय परम्परा अथवा नागर शैली का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, अत. इस ग्रन्थ मे ऐसे शिखरोत्तम प्रासादो का बडा विशद वर्णन है । ५५, ५६, ५७, ५८, ६०, ६३वे बडे-बडे अध्यायो मे इन्ही शिखराकार प्रासादो के वैज्ञानिक एव अलकृत वर्णन हैं । यहाँ पर एक तथ्य भी सूच्य है कि समरागण जिस समय लिखा गया था उस समय नागर-शैली की ही सरक्षकता मे नाना अन्य शैलियाँ प्रस्फुटित हो रही थी। जैसे लाट, ललित, लतिन, वावाट या वैराट, भूमिज आदि । साथ ही साथ समरागण के अनुशीलन से ऐसा भी प्रतीत होता है कि प्रासादो की शैलियो के साथ-साथ प्रासाद-जातियो का भी प्रादुर्भाव एवं उनकी उत्कृष्टता की प्रतिष्ठा हो चली थी । यही नही, ११वी शताब्दी मे प्रासाद-परम्परा का इतना प्रोल्लास हुआ कि प्रासाद में प्रतिष्ठापित देवता ही पूज्य नही रहा,

वरन् प्रासाद स्वयं पूज्य बन गया। यह उचित भी था, क्योंकि हम पीछे कह चुके हैं कि प्रासाद के विकास के नाना स्रोतों में दार्शनिक या आध्यात्मिक भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जिनके अनुसार प्रासाद विश्व और विश्वनियन्ता की प्रतिकृति प्रतिपादित किया गया। अतएव प्रासाद की पूजा के लिए भी कोई वास्तु-परम्परा पनपनी चाहिए थी। सान्धार एवं निरन्धार प्रासादों, अर्थात् उन प्रासादों की जिनके चारों ओर प्रदक्षिणा बनी है अथवा उसका अभाव है, परम्परा इसी ओर इंगित करती है।

अस्तु, इन शिखराकार प्रासादों की निर्मिति में, जहाँ तक इनके कलेवर अर्थात् छाद्य (Roofed) के अवान्तर भेदों का प्रश्न है, उनमें निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रकार विशेष उल्लेख्य हैं —

(क) स्तवक-शिखर,

(ख) गवाक्ष-शिखर,

(ग) पूर्ण-शिखर।

इन शिखराकृति प्रासादों के प्रोल्लास में, जैसा हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, दो प्रमुख धाराएँ हैं—एक तो गिरि-प्रतिमा-सादृश्य और दूसरा दार्शनिक या आध्यात्मिक दृष्टिकोण। वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रासादों की संज्ञाएँ पर्वतों की संज्ञाओं पर मेरु, मन्दर, कैलास आदि रखी गयी हैं। अतएव प्रासादों के कलेवर निर्माण में शिखराकार यदि विशेष प्रोल्लास को प्राप्त हुआ तो यह स्वाभाविक ही था। हिन्दू-प्रासादों के इस उपकरण पर प्रासाद-कला का समन्वय निम्न अवतरण में द्रष्टव्य है—

"By its form the Prasada leads from the square at the base to the point above by its exaulted position and by its form, which leads to the peak, the superstructure is the Mountain; its mass is the vesture (kosa) in which is clad the Axis of the temple. This emerges, in its top-most portion only, as section of a mighty pillar, as the 'neck' (griva) of the temple, above the shoulder (skandha) of the superstructure. The symbol of the pillar of the 'Universe ushers in the picture of the world Mountain" (See Hindu Temple)

शिखर की रचना कैसे होती थी और वास्तु-कला की दृष्टि से उसके क्या-क्या नियामक सिद्धान्त थे; इस पर प्राचीन वास्तु-शास्त्र में बड़ी वैज्ञानिक मीमांसा है। रेखाशास्त्र, ज्यामिति-शास्त्र के आधार पर त्रिगुण, चतुर्गुण, पंचगुण अथवा षड्गुण सूत्रों के आधार पर शिखरों का विन्यास बनाया गया है और इन शिखरों के इस प्रकार के विन्यास पर ही इनकी वास्तु-शास्त्रीय नाना संज्ञाएँ, जैसे पद्मकोष, वेणुकोष प्रचलित

हुई। स्थापत्य में इन शिखरोत्तम प्रासादों का कैसा सानुगत्य हुआ यह हम आगे देखेंगे। यहाँ पर इतना और सूचित करना अवशेष है कि इस शिखराकार में पूर्वसंकेतित दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक दिव्य देन का जो रहस्य है उसे डा० कैमरिश के शब्दों में पढ़ना चाहिए—

" The shapes of sacred architecture absorbed by the superstructure itself are many. With them the image of the Mountain was given an indefinite number of variations. The purpose of the superstructure is always one and the same. It is to lead from a broad base to a single point where all lines converge In it are gathered the multifarious pavements, the figures and symbols which are their carriers, in the successive strata of the ascending pyramidal or curvilinear form of the superstructure Integrated in its body they are in their proper places in the ascent which reduce their numbers and leads their diversity to the unity of the point ".

इसी अध्यात्म के उन्मेष से प्रद्योतित हिन्दू प्रासाद-कलेवर के तीन प्रमुख अंगो की गाथा गायी जाती है। प्रासाद-पीठ या प्रासाद जगती, प्रासाद का गर्भगृह तथा उसके मस्तक की भूषा (उसे आमलक कहिए अथवा स्तूपी या अल्प विमान) ये तीनो अग एक प्रकार से प्रासाद के उपलक्षक हैं। कुमारी क्रैमरिश की कैसी विशद व्याख्या है —

" By its form the Prasada leads from the square at the base to the point above by its exaulted position and by its form, which leads to the peak, the super-structure is the Mountain, its mass is the vesture (kosa) in which is clad the Axis of the temple. This emerges, in its top-most portion only, as section of a mighty pillar, as the 'neck' (griva) of the temple, above the shoulder (Skandha) of the superstructure. The symbol of the Pillar of the 'Universe ushers in the picture of the world Mountain".

३

प्रासाद-शैलियाँ

(नागर, द्राविड़, वेसर आदि)

वास्तु-कला के प्रख्यात लेखको ने वास्तु-कला की विभिन्न शैलियो के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये है। उन सबकी समीक्षा करना एक नवीन ग्रन्थ लिखना होगा। लेखक के समरागणीय अध्ययन की प्रासाद-पीठिका पर प्राप्त शैली-शिलाओ की समीक्षा के लिए इन विभिन्न शैलियों पर प्रकाशित विविध मत-मतान्तरो का एक अत्यन्त स्थूल दिग्दर्शन ही अभीष्ट है। अथच यह हम जानते ही है कि भारतीय वास्तु-कला के प्राप्त स्मारको मे प्रमुखता मन्दिरो की है। अत. जो भी वास्तु-कला-विषयक शैलियो के सम्बन्ध मे विद्वान् लेखकों ने विवेचन किया है वह प्रासाद-शैलियों के समुद्घाटन मे सुतरां संगत होता है।

आधुनिक वास्तु-कलात्मक समीक्षा-परम्परा मे प्रसिद्ध शैलियों के नाम नागर, द्राविड, वेसर—इन तीनो से हम परिचित ही हैं। इनका क्या मर्म है? इनसे क्या बोद्धव्य है? इस सम्बन्ध मे विद्वानो के अपने अपने मत है। उन मतो के दिग्दर्शन के प्रथम हम पाठको का ध्यान उस सर्वसाधारण सिद्धान्त की ओर आकर्षित करना चाहते हैं जिसकी पृष्ठभूमि पर इन शैलियो का उदगम हुआ।

लेखक ने अपने "वास्तु-कला" एव "वास्तु-विद्या" शीर्षक अध्ययन में इस निष्कर्ष की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया है कि इस विशाल देश के विस्तृत भू-भाग पर वास्तु-विद्या एव वास्तु-कला की दृष्टि से दो परम्पराएँ प्रधान रूप से पनपी थी। पहली आर्य-परम्परा, जिसको हम विश्वकर्मीय परम्परा, विश्वकर्मा-स्कूल या उत्तरीय परम्परा, नार्दर्न स्कूल या नागर शैली—किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। दूसरी परम्परा है अनार्य-परम्परा या मय-परम्परा, मय-स्कूल। इसको भी विविध नामो से पुकारा गया है, जैसे दक्षिणीय परम्परा, साउदर्न स्कूल, अथवा द्रविड़-परम्परा या द्राविड शैली। अथच यह भी निर्दिष्ट किया जा चुका है कि भारतीय वास्तु-विद्या के प्राप्त ग्रन्थ (वास्तु-शास्त्रीय तथा अ-वास्तु-शास्त्रीय दोनो ही) तथा आचार्य इन्ही दो परम्पराओ के उद-भावक अथवा प्रवर्तक के रूप मे हमारे सम्मुख आपतित होते है। साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब किसी विद्या अथवा कला या ज्ञान विशेष की परम्परा

पल्लवित होती है तो उसके पूर्ण विकसित--पुष्पित एवं फलित होने में काफी समय की आवश्यकता होती है। यही तथ्य वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला में भी चरितार्थ होता है और होना ही चाहिए---ये अपवाद कैसे हो सकती है ?

भारतीय वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला का वैसे तो वैदिक काल मे ही प्रारम्भ हो चुका था परन्तु उसको विकसित होने में कुछ शताब्दियाँ अवश्य लगी होगी। महाकाव्य काल में हमें उसके प्रोन्नत स्वरूप के दर्शन होते हैं। महाकाव्य-कालीन समय ही लेखक के मत मे विभिन्न शैलियो–प्रमुख शैलियो का जन्मदाता है। यह हम प्रथम ही कह चुके हैं कि इस देश मे दो वास्तु-परम्पराएँ थी। हम यह भी लिख चुके हैं (जिसके लिए लेखक ही उत्तरदायी है–अन्य किसी विद्वान् ने नही लिखा है) कि वास्तु-विद्या की द्रविड-परम्परा या दक्षिण-परम्परा उत्तरीय परम्परा की अपेक्षा अधिक पुरातन है।

अस्तु, महाकाव्य (रामायण तथा महाभारत) कालीन युग को हम वास्तु-शैलियो का जन्मदाता मानते हैं। वास्तु-कला, भवन-कला अथवा मन्दिर-निर्माण कला की प्रसिद्ध तीन शैलियों मे सर्वप्रमुख स्थान नागर शैली को दिया गया है। यह शब्द "नगर" से निर्मित हुआ है---यह हम सभी लोग समझ सकते हैं। महाकाव्यकाल के समीप ही (इधर-उधर) वात्स्यायन का समय माना जाता है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में नागरिको के लिए विभिन्न कलाओ के सेवन एव ज्ञानार्जन के प्रति संकेत किया है। सच तो यह है कि नगर, नागरिक तथा नागरिकता के अर्थों को उजागर करने वाले प्राचीन भारतीय ग्रन्थो मे वात्स्यायन का कामसूत्र प्रथम स्थान रखता है। वैदिक कालीन सभ्यता एक प्रकार की ग्रामीण सभ्यता थी। उसके बाद छोटे-छोटे ग्राम किस प्रकार से बडे-बडे पुरो एव नगरो तथा महानगरो मे परिणत हो गये---यह हम "नगर-विकास" नामक अध्याय के अध्ययन मे देख चुके हैं। महाकाव्य-कालीन बहुत से महानगरो से हम परिचित हैं। बौद्ध-भारत की भी श्रावस्ती, कौशाम्बी, साकेत, कपिलवस्तु, राजगृह, पाटलिपुत्र, वैशाली, तक्षशिला आदि महानगरियों से हम परिचित ही हैं। बडे-बडे नगरो के जन्म एव विकास से इस देश में नागरिकता के मान उदित हुए। नागरिक सभ्यता का जन्म एव विकास भी इसी प्रकार प्रादुर्भूत हुआ। अतः निर्विवाद है कि उस समय जो बडे-बडे भवन---मन्दिर अथवा हर्म्य, प्रासाद किंवा विमान विनिर्मित हुए होंगे, वे सब किसी महानगर की उपकण्ठभूमि मे अथवा अभ्यन्तर प्रदेश में अथवा कोण-प्रान्त मे ही निविष्ट हुए होंगे। प्राय. सभी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ मन्दिरो की निवेश-प्रक्रिया मे ऐसा ही आदेश देते हैं।

लेखक की इस धारणा के पोषण मे समरांगणसूत्रधार के निम्नलिखित प्रवचन विशेष उल्लेखनीय हैं ---

पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्च विमानान्यसुरद्विषाम् ।
वियद्वर्त्मविचारीणि श्रीमन्ति च महान्ति च ।।
तानि वैराजकैलासे पुष्पकं मणिकाभिधम् ।
हैमानि मणिचित्राणि पंचमं च त्रिविष्टपम् ।।
आत्मनः शूलहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिनः ।
सुरेशस्य च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम् ।।
नगराणामलंकारहेतवे समकल्पयत् ।

इसी प्रकार

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रासादान् शिखरान्वितान् ।।
रुचकादींश्चतुःषष्टिं नामलक्षणतः क्रमात् ।
शिखरैर्विविधाकारैरेकेनाण्डेन भूषिताः ।।
केचिदण्डत्रयोपेताः केचित् पञ्चाण्डकान्विताः ।
पुराणां भूषणार्थाय भुक्तिमुक्तिप्रदा नृणाम् ।।

नागर शब्द का लोकप्रिय एव सार्वजनीन अर्थ है नगर-का, या नगर मे सम्बन्धित, इस प्रकार वास्तु-कला की नागर-शैली से हमारा तात्पर्य उस शैली से है जिसके विकास के निदर्शन स्वरूप भव्य भवन, विमान अथवा मन्दिर, प्रासाद अथवा हर्म्य बडे-बडे नगरों मे बने, वे सब नागर नाम से विख्यात हुए। और ये बडे-बडे नगर विशेष कर उस समय मध्य देश के शोभास्पद थे अत कालान्तर पाकर उत्तरापथ के इस प्रदेश (मध्य देश) की वास्तु-शैली का नाम नागर-शैली पडा होगा। कामिकागम (४६ १—२) इसकी पुष्टि करता है। अत नागर-शैली का भी अन्य शैलियों के समान भौगोलिक मानुगत्य सगत होता है।

"नागर" शब्द की व्युत्पत्ति मे दो अर्थ और है, उनमे भी लेखक की इस धारणा का पोषण होता है। केशव स्वामी ने (देखिए नानार्थार्णव-सक्षेप) नागर शब्द को विश्व का पर्याय कहा है। आप्टे के कोश मे नागर शब्द का अर्थ "सौन्दर्य-प्रकर्ष-प्रियता" लिखा है। इन अर्थों मे नागरिक-भावना स्पष्ट है—विशेष समीक्षा आगे पठनीय है।

नागर शैली के इस सामान्य एव साधारण तथा समरागणीय अर्थ के उपोद्घात के अनन्तर कौतूहलवश इस सम्बन्ध मे जो जिज्ञासा होती है उसके शमनार्थ हम विद्वानो के विवादो मे बिना फँसे नही रह सकते। परन्तु इसके पूर्व कि हम विभिन्न मतो की अवतारणा करे तथा उनकी यत्किचित्कर समीक्षा भी करे, यहाँ यह और सकेत करना चाहते है कि जो तथ्य "नागर" शब्द की व्याख्या मे हमने निर्दिष्ट किया है वही अन्य शैली-शब्दो के सकेतितार्थ मे भी लागू होता है। द्राविड शैली का तात्पर्य उस शैली

से है जो दक्षिणापथ या दक्षिण भारत के विशाल भू-भाग मे विनिर्मित भवनो या विमानों की रचना मे अकुरित, प्रस्फुटित, पुष्पित एव फलित हुई। अब रहा वेसर शब्द, यह भौगोलिक नही है। इसके सम्बन्ध में आगे विशेष समीक्षा होगी। यहाँ पर इस उपोद्घात मे एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान और आकर्षित करना है। वह यह कि प्राचीन भारत मे (या किसी भी देश मे) यातायान तथा सहवास एव संपर्क के वे साधन उपलब्ध नही थे जो आजकल है। वैदिक वाङमय को ही लीजिए। वेद वे ही है—ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व चार। परन्तु विभिन्न विद्यापीठो मे वेदाध्ययन की परिपाटी तथा प्रेरणाएँ विभिन्न थी। अतएव विभिन्न वैदिक शाखाओ के जन्म से एवं उन शाखाओं मे प्राप्त वैदिक-अध्ययन के निदर्शन स्वरूप ग्रन्थो से हम परिचित ही है। उसी प्रकार इस महादेश के विभिन्न भू-भागो, जनपदो मे, विभिन्न केन्द्रो मे जो भवन बने वे प्राय उस केन्द्र विशेष की वैयक्तिकता से, संस्कृति एवं प्रकृतिसुलभ सभारो से बिना प्रभावित अथवा अनुप्राणित हुए कैसे रह सकते थे? भारतीय भू-भाग के अभ्यन्तर विभिन्न प्रकार के प्रदेश है; पार्वत्य भी मैदानी भी रेगिस्तानी अथवा सैकत भी। अथच विभिन्न लोकाचारानुरूप रहन-सहन एव वेशभूषा तथा अर्चन, चिन्तन एव व्यवहार भी विविध ही रहा होगा। इसी महान् सास्कृतिक सत्य के अनुरूप समाजगत विभिन्न क्रियाकलापो मे भी पारस्परिक वैचित्र्य का परिलक्षण सुतरा सगत हो ही सकता है। उस समय के लोग भी (जैसा कि आज भी सत्य है) अपने-अपने प्रान्तो, देशो अथवा जनपदो के प्रति भक्ति रखते ही होगे—वग, कलिग, आन्ध्र, गुर्जर, महाराष्ट्र, पचाल, उत्तर कुरु आदि जनपदो मे जागरूक विभिन्न सास्कृतिक चेतनाओ ने कला के क्षेत्र मे यदि प्रेरणा प्रदान की हो तो आश्चर्य की क्या बात है? अत नागर, द्राविड़ आदि वास्तु-शैलियो के अतिरिक्त कालान्तर मे विभिन्न जनपदानुरूप विभिन्न वास्तु-शैलियो प्रचलित हुई। अत साराश मे इन विभिन्न शैलियो के रहस्योद्घाटन मे भौगोलिक महत्त्व का हम तिरोहित नही कर सकते। समरागण की प्रासाद-शैलियो की समीक्षा विस्तृत रूप मे हम आगे करेगे। यहाँ पर इस उपोद्घात मे इतना ही सकेत पर्याप्त है कि लेखक की इसी धारणा के अनुरूप भारतीय वास्तु-विद्या के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अधिकृत ग्रन्थ मे जो प्रासाद-वर्गीकरण हुआ है वह विभिन्न जनपदो के अनुरूप है। जैसे—

१. **नागर**—(मध्यदेशीय अर्थात् उत्तरापथ या आर्यावर्त के प्रासाद, देखिए अ० ४६, रुचकादि प्रासाद; अ० ५५, मेर्वादि षोडश प्रासाद, अ० ५७, मेर्वादि विंशिका अर्थात् मेरु आदि बीस तथा चालीस उत्कृष्ट प्रासादसहित पचास प्रासाद; अ० ५८-५६, विमानादि चतुष्षष्टि प्रासाद; अ० ६०, श्रीकूटादि षट्त्रिंशत् प्रासाद एवं अ० ६३, मेर्वादिविंशिका-नागर प्रासाद)।

२. **द्राविड़**—(दक्षिणी शैली, एक भूमिक से लगाकर द्वादश भूमिक प्रासाद, देखिए अध्याय ६२)।

३. **वावाट**—(विराट अर्थात् विदर्भ देश मे विकसित द्वादश द्विभद्रादि प्रासाद, देखिए अध्याय ६४)।

४. **भूमिज**—(भूमिहार बिहार-उडीसा-बगाल मे विकसित निषधादि चार चतुरस्र प्रासाद, कुमुदादि सप्त वृक्षजाति प्रासाद तथा स्वस्तिकादि पचाष्ट-शाल प्रासाद, देखिए अध्याय ६५)।

५. **ललित**—(लाट-गुर्जर-देशोद्भव रुचकादि २५ ललित प्रासाद, देखिए अ० ५६)।

टिप्पणी—इसी अध्याय मे सुभद्रादि ६ मिश्रक प्रासादो, लतादि ५ निगूढ प्रासादो तथा केसर्यादि २५ सान्धार प्रासादो का भी वर्णन है।

इसके अतिरिक्त पाठको का ध्यान प्रासाद-शैलियो के सम्बन्ध में एक और तथ्य की ओर आकर्षित करना है। वह यह कि भारत के इन विभिन्न प्रख्यात भू-भागो पर विकसित शैलियो मे भी अवान्तर भेद हो सकते हैं तथा हैं। साहित्य और कला की साधना मे शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रेरणा तथा वैयक्तिक सूझ भी सनातन से प्रत्येक कृति मे देखी गयी है। 'स्थपति एव स्थापत्य' नामक पूर्व अध्ययन में हम स्थपति की विभिन्न योग्यताओ मे "नवनवोत्पन्ना प्रज्ञा" की परमोपादेयता की ओर ध्यान दिला चुके है। अत निर्विवाद है कि विभिन्न वास्तु-केन्द्रो मे स्थापत्य कला-कोविदो मे जब कभी किसी अत्यन्त मेधावी प्रज्ञासम्पन्न स्थपति का जन्म हुआ होगा तो उसने अपनी वैयक्तिक विलक्षण सूझो से उस क्षेत्र की प्रचलित शैली मे एक विशेष प्रेरणा प्रदान की होगी। सम्भवत इसी व्यापक कलात्मक सिद्धान्त की भावना से प्रेरित एवं प्रभावित यह ग्रन्थ इन शैलियो के प्रासादो के अतिरिक्त निम्नलिखित अन्य प्रासाद-वर्गों की ओर सकेत करता है—

१—शिखरोत्तम प्रासाद—ब्रह्मजाति–विशुद्धवशीय (५२वाँ अध्याय)
२—२५ ललित प्रासाद (५६वाँ अध्याय)
३—६ मिश्रक प्रासाद (५६वाँ अध्याय)
४—२५ सान्धार प्रासाद (५६वाँ अध्याय)
५—५ निगूढ प्रासाद (५६वाँ अध्याय)
६—४० उत्कृष्ट प्रासाद (५७वाँ अध्याय)
७—१० पुन मिश्रक प्रासाद
८—७ वृक्षजाति प्रासाद
९—अष्टशाल (शाल प्रासाद)

इनसे लेखक की पूर्वोक्त धारणा का पोषण होता है। इन वर्गों के सम्बन्ध में आगे विशेष चर्चा होगी। अब यहाँ पर, जैसी कि पूर्व प्रतिज्ञा की जा चुकी है, नागर आदि शैलियों के सम्बन्ध में विद्वानों की समीक्षा की अवतारणा आवश्यक है। वास्तु-कला एव वास्तु-विद्या पर वैसे तो बहुत विद्वानों ने लिखा है, परन्तु उनको हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। एक वर्ग का सम्बन्ध है वास्तु-कला के समीक्षकों से, जैसे हैवेल, फर्ग्युसन, कुमार स्वामी आदि। दूसरा वर्ग है वास्तु-शास्त्र के समीक्षक विद्वानों का, इनमें डा० आचार्य तथा डा० भट्टाचार्य विशेष उल्लेख्य हैं। यद्यपि वास्तु-शैलियों या प्रासाद शैलियों की विवेचना में दोनों वर्गों के विद्वानों के मत समान श्रद्धा की दृष्टि से समीक्ष्य हैं तथापि चूँकि लेखक का अध्ययन दूसरे वर्ग के विद्वानों के अध्ययन की कोटि में आता है अत: उसी वर्ग के विद्वानों की ओर विशेष झुकाव अनुचित न होगा।

हैवेल ने अपनी 'Study of Indian civilization' की भूमिका में अपना यह मत प्रकट किया है कि प्रासाद की नागर तथा द्राविड शैलियाँ वास्तव में भौगोलिक न होकर धार्मिक हैं, अर्थात् नागर शैली में शिवमन्दिर तथा द्राविड शैली में विष्णुमन्दिर। इसके विपरीत फर्ग्युसन तथा बर्जस ने अपनी 'History of Indian and Eastern architecture' में कहा है कि इन दोनों शैलियों के अन्तराल में भारतीय भू-भाग के दो प्रमुख भौगोलिक विभाग, उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ—इन दो भू-खण्डों में विकसित एवं प्रचलित दो परम्पराओं का मर्म छिपा हुआ है। कुमार स्वामी ने अपनी 'History of Indian and indonisian architecture' में फर्ग्युसन के मत की पूर्णता पर आपत्ति की है।

डा० आचार्य ने नागर शैली की विवेचना में दो दृष्टिकोणों का संकेत किया है—एक आकारिक, दूसरा भौगोलिक। आकारिक दृष्टिकोण से नागर को चतुरस्र तथा वेसर को वर्तुल एवं द्राविड को अष्टास्र अथवा षडस्र माना है। इस आकारिक दृष्टिकोण में मानसार, शिल्परत्न, कामिकागम, सुप्रभेदागम आदि ग्रन्थों के प्रवचनों का उल्लेख किया गया है (देखिए पृष्ठ २६१—६३)।

पुन: भौगोलिक दृष्टि से इस शैली की समीक्षा में डा० आचार्य महोदय विभिन्न ग्रन्थों (पुराण आदि) तथा शिलालेखों की अवतारणा द्वारा "नागर" शब्द से इस देश के भिन्न-भिन्न भूभागों का—जिस-जिस प्रदेश का बोध होता है—उन सबकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हुए २६६वें पृष्ठ पर लिखते हैं —

"इन सभी उपर्युक्त साहित्यिक तथा शिलालेख सम्बन्धी निदर्शनों से प्रकट है कि नागर, वेसर तथा द्राविड मुख्यत: भौगोलिक शब्द हैं, जिनसे भारतीय भूभाग के स्थान विशेष का बोध होता है। परन्तु द्राविड तथा वेसर के समान नागर की परिधियों

का परिचय पूर्णरूप से ज्ञात नही होता है। शिलालेखो के सन्दर्भों के अभिप्रायानुसार सम्भवतः नागर शब्द की व्यापकता उस क्षेत्र से है जहाँ आजकल मैसूर का प्रदेश स्थित है। परन्तु इसके विपरीत नागरी लिपि, स्कन्दपुराण का नागर-खण्ड तथा नागर ब्राह्मण (जिनका सकेत पूर्व किया गया है)—इन सबसे तो उत्तर भारत का वह खण्ड बोधित होता है जो हिमालय से विन्ध्य तथा गुजरात से मगध तक फैला हुआ है। इन दोनों सीमाओं से नागर की विस्तृत सीमाओ की व्यापकता प्रकट है। इसके अतिरिक्त मानसार के लेखक को तत्कालीन पूरे भारत के भवनो का ज्ञान था। जैसा कि अध्याय ३०वे, श्लोक ५–७ से प्रकट है, जहाँ पर उसने निम्नलिखित भवनो के वर्ग (टाइप) का समुल्लेख किया है —पाचाल, द्राविड, मध्यकान्त (मध्यदेश), कलिग, वराट (विराट), केरल, वशक, मगध, जनक तथा स्फूर्जक।"

अस्तु, डा० आचार्य के इस प्रवचन से प्रकट है कि जहाँ तक लेखक की पूर्व धारणा का सकेत किया जा चुका है, उसी का पूरा पोषण इससे होता है। परन्तु यहाँ पर यह विशेष उल्लेखनीय है कि नागर-प्रासाद चतुरस्र (चौकोर) आकार के होते है, वेसर वर्तुल (गोल) तथा द्राविड षडस्र अथवा अष्टास्र—यह जो डा० आचार्य ने आधुनिक विद्वानो की विवेचना-परम्परा के अनुरूप तथा शिल्परत्न एव मानसार के सकेतसन्दर्भों के अनुसार लिखा है वह समरागण को स्वीकार नही है।

समरागण के 'रुचकादि-प्रासादलक्षण' नामक ४९वे अध्याय मे प्रासादोत्पत्ति की समीक्षा मे कथित ग्रन्थकार भोजदेव का वह प्रवचन उद्धृत किया ही जा चुका है। उस अवतरण मे प्रकट है कि ब्रह्मा ने जिन पाँच व्योमयानीय विमानो की परम्परा मे शिला, पकी हुई ईंट आदि सामग्री से विनिर्मित पाँच प्रमुख वैराजादि प्रासादो का क्रमश. निर्माण किया, उनमे वैराज चौकोर, कैलास वर्तुल, पुष्पक चतुरस्रायताकार, मणिक वृत्तायत, त्रिविष्टप अष्टास्र ऐसा आकार-विनियोग बताया गया है। अत: प्रकट है कि ये प्रासाद शैली की दृष्टि से नागर, द्राविड आदि किस शैली मे विनियुक्त होंगे—यह समस्या उठ खडी होती है।

श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने अपने 'A shed of Vastuvidya' मे समरागण-सूत्रधार को लाट-शैली का ग्रन्थ माना है। क्योंकि प्रासाद-विवेचन के प्रथम उपक्रम मे यह वैराज आदि ६४ प्रकार के जिन प्रासादो का वर्णन करता है उनमे ४५ प्रासाद अग्नि-पुराण मे वर्णित लाट-शैली के है (देखिए १४१वाँ पत्र)। लाट-प्रासादो की परम्परा मे भी वे ही पचमुखीय विमान-वर्गों की चतुरस्रादि आकृति परम्परा सन्निविष्ट है यह अग्निपुराण से ज्ञात होता ही है। साथ साथ अग्निपुराण से अनुप्राणित एव प्रभावित हयशीर्षपचरात्र मे भी यही परम्परा अपनायी गयी है (१५१वाँ पृष्ठ)। इस पचरात्र

में भी वैराज आदि ४५ प्रासादो के पंचमुखीय प्रक्रियानुरूप विस्तार विजृम्भण का प्रदर्शन है ।

वैसे तो समरागण के इस अध्याय मे 'रुचकादि प्रासाद' की क्या परम्परा है—लाट है या नागर—इस पर कुछ भी निश्चित सकेत नही है, जैसा कि इसके विपरीत इस ग्रन्थ के अन्य अध्यायो मे वर्णित प्रासादो के सम्बन्ध मे ग्रन्थकार ने शैली निर्देश की निश्चित परम्परा पर प्रकाश डाला है (मेर्वादिविशक, नागरप्रासादलक्षणाध्यायः त्रिषष्टितम., द्राविडप्रासादलक्षणाध्यायः द्विषष्टितम., विमद्रादिप्रासादलक्षणाध्याय· चतुष्षष्टितम·, भूमिज (वावाट) प्रासादलक्षणाध्याय पचषष्टितम·)। यह पूर्व ही निर्देश किया जा चुका है कि इन प्रासादो को अग्निपुराण तथा हयशीर्षपचरात्र की अधिकारिता (अथारिटी) पर लाट-प्रासाद माना गया है । वास्तु-कला की लाट-परम्परा के सम्बन्ध मे अभी विशेष अनुसन्धान नही हो पाया है और न लेखक यह सर्वांश मे स्वीकार करने के लिए ही बाध्य है अथवा आकर्षित है कि समरागण को हम लाट-परम्परा का अधिकृत ग्रन्थ माने । लेखक के अनुसार तो समरागणसूत्रधार को भारतीय वास्तु-विद्या की अभ्युन्नति-स्वरूप प्रतीकरूपा जितनी भी १०वी शताब्दी तक शैलियाँ पल्लवित एव विकसित हो चुकी थी उन सभी का प्राय. इसमे समावेश होने के कारण, किसी एक वास्तु-कला केन्द्र की परिचित परिधि मे बाँधना अभीष्ट नही है—यह इसके पूर्ण अध्ययन से सुतरा संगत होगा—ऐसी आशा है । तथापि इतना तो स्वीकार करने मे लेखक को कोई आपत्ति नही कि ये रुचकादि ६४ प्रासाद लाट-परम्परा के अग्रगामी हैं । लाट-परम्परा नागर परम्परा की ही अवान्तर परम्परा है—यह लेखक की धारणा है। श्रीयुत तारापदजी भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है (देखिए ३१६ पृष्ठ) जहाँ पर उन्होंने वास्तु-विद्या की विविध-कालीन विकासपरम्पराओं के सिहावलोकन मे लिखा है—"The Nagar school gave rise to the Lat, Vairat, the Orrissan, the Bengal and Kashmir styles".

अस्तु, अब पाठको की जिज्ञासा सम्भवत. इस ओर हो कि लाट का क्या अभिप्राय है ? लाट गुर्जर प्रदेश को सकेतित करता है । मालव (धारा नगरी) जहा पर समरागण-सूत्रधार के रचयिता महाराज भोजदेव का जन्म हुआ था—उसके गुर्जर प्रदेश के निकट होने के कारण अग्नि पु० तथा हयशीर्ष० के अनुसार वैराजादि ४५ प्रासादो का वहाँ भी विकास हुआ था। समरागण मे ६४ प्रासादो के रूप मे १०वी शताब्दी तक वृद्धि मे परिणत ऐसे प्रासादो का भोज ने प्रथम वर्णन किया है–ऐसा श्रीयुत तारापद का सकेत है (१४१वाँ पन्ना) । अथच श्रीयुत सरस्वती ने 'Indian culture VIII p. 183 f. note' मे अपराजितपरीक्षा की समीक्षा मे लाट-परम्परा का जो

अनुसन्धान किया है, उससे संकेतित इन्ही निष्कर्षों का जो पोषण होता है वह भी इस सम्बन्ध मे विवेचकों को अवलोकनीय है। अथच लाट शब्द के हयशीर्षपंचरात्र-प्रोक्त संकेत की ओर पूर्व ही ध्यान दिलाया जा चुका है। हयशीर्षपंचरात्र मे (देखिए १८वाँ अध्याय) लाट-परम्परा पर जो प्रवचन आया है उसका प्रायोगिक अनुवाद श्रीयुत तारापदजी ने (पत्र १५२ मे) दिया है, वह द्रष्टव्य तो अवश्य है परन्तु उससे जिज्ञासा का शमन नही होता। अतएव लेखक की उस धारणा से पाठक सहमत ही होगे कि लाट परम्परा का अभी पूर्ण रूप से अनुसन्धान नही हो पाया है। हाँ, हयशीर्ष के प्रवचन का अनुवाद है— "The Lata Temples are similar to the Nagaras but they differ in the कर्म (construction) their masurakas (pedestals) and Kapotakas (the mouldings) are square". अर्थात् लाट प्रासाद नागर प्रासादों के ही सदृश होते हैं। केवल भेद इतना है कि उनके (लाट प्रासादों के) कर्मकौशल में कुछ वैशिष्ट्य है, उनके मसूरक (पीठ) तथा कपोत (विच्छित्तियाँ) चतुरस्र होते हैं।

अत इस विवेचन को यही समाप्त कर पाठको का ध्यान पुन. समरागण के उस प्रवचन की ओर दिलाना है जिसमे इन रुचकादि प्रासादों को "नगराणामलकारहेतवे समकल्पयत्" लिखा है और जिस प्रवचन से लेखक ने इन प्रासादो को नागर प्रासाद ही माना है। बात यह है कि प्रधान रूप से इस देश मे आर्यों तथा आर्येतरो की दो ही शैलियाँ थी—उत्तरीय या नागर शैली तथा दक्षिणीय अथवा द्राविड शैली। इन दोनो प्रधान परम्पराओ के विकास मे अवान्तर परम्पराओ का जन्म हुआ जिनमे सैद्धान्तिक वैषम्य नही था, एकमात्र विवरणो (डिटेल्स) के ही भेदो की वृद्धि हुई यह स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि ऐसे बहुत से प्रासाद-वर्ग समरागण मे प्रतिपादित किये गये है जो किसी भौगोलिक भूभाग के प्रतीक न होते हुए रचनाकौशल अथवा शोभा-वैशिष्ट्य के कारण वर्णित किये गये है। इनका निर्देश किया ही जा चुका है।

अत अभी तक के इस किंचित्कर विवेचन से लेखक को यही निष्कर्ष अभिप्रेत है कि नागर, द्राविड आदि वास्तु-शैलियों का भौगोलिक आधार तो सर्वथा सत्य ही है परन्तु आकार का विनियोग (क्राइटेरियन) मान्य नही। नागर प्रासाद न केवल चतुरस्राकार ही समरागण मे माने गये वरन् वर्तुल आदि सभी आकारों की विनियोजना इन नागर प्रासादो मे प्रतिपादित की गयी है। अत. आकार-विनियोग को शैली विशेष की निधि नही समझना चाहिए।

नागर शैली का कब विकास हुआ—इस सम्बन्ध मे विद्वानो के विभिन्न मत है। श्रीयुत तारापद ने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्धो मे (देखिए वा० वि०) इस दिशा में

श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव मे निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। लेखक ने नागर शैली के जन्म के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुरूप महाकाव्यो के काल को नागर शैली का जन्मदाता माना है। परन्तु विद्वान् लोग अपनी विभिन्न राये रखते है। सबसे बडा दुर्भाग्य हमारा यह है कि हम लोग जो कुछ भी सोचते-विचारते हैं वह सब ईसा की जन्मतिथि के बाद ही। ईसवीय शतक के पूर्व का भारत कितना भव्य, कितना स्वर्णिम था—यह हम भले ही प्रमाणित न कर सके, परन्तु विश्वास की चीज अवश्य है।

ईसा की छठी शताब्दी के पूर्व उत्तरापथीय वास्तु-विद्या अथवा विश्वकर्मा-स्कूल के वास्तु-विद्या के प्रमुख ग्रन्थो——विश्वकर्मप्रकाश, मत्स्यपुराण तथा बृहत्संहिता——में नागर स्कूल के सम्बन्ध मे कोई सकेत नही मिलता—ऐसा श्रीयुत तारापद ने लिखा है (१३४ पृ०)। ऐसा ही मत श्रीमती स्टेला क्रैमरिश का भी है। वह इससे भी आगे जाती है और लिखती है कि "पुरातन ग्रन्थ—बृहत्संहिता और उसके परवर्ती ग्रन्थ अग्नि-पुराण के अपेक्षाकृत प्राचीन (अर्लियर) अध्याय प्रासादो का वर्गीकरण न तो नागर, द्राविड तथा वेसर की शैली मे और न उनके भौगोलिक अथवा जनपदीय प्रसार के अनुसार ही करते हैं।" (२८६ पत्र)।

परन्तु समरागण मे जिन प्रासादो का वर्णन नागर सज्ञा (देखिए मेर्वादिनागर-प्रासाद) देकर किया गया है प्रायः वे ही अविकल मत्स्यपुराण मे है। अत. भले ही मत्स्यपुराण में नागर सज्ञा न दी गयी हो परन्तु मत्स्यपुराण मे प्रतिपादित ये बीस प्रासाद नागर-शैली के ही है तथा लेखक की धारणा के अनुसार यह ठीक भी है। क्योंकि मत्स्यपुराण का समय विद्वान् लोग गुप्तकाल में मानते है और नागर शैली का विकास तो लेखक की सम्मति मे वात्स्यायन के समय मे प्रारम्भ हो चुका था। इसके अतिरिक्त डा० जायसवाल के मत मे भी नागर-स्कूल का जन्म भारशिव नागों (ईसा की लगभग दूसरी शताब्दी) के समय में हो चुका था। नागर-परम्परा का सर्वप्रथम शास्त्रीय निर्देश अग्निपुराण मे प्राप्त होता है। लेखक ने नागर शैली के ईसा पूर्व कालीन महाकाव्यों के युग मे पल्लवित होने का निर्देश किया है। इस सम्बन्ध में कुछ विशेष समीक्षा की आवश्यकता है, अन्यथा यह धारणा एकमात्र कपोलकल्पना के नाम से पुकारी जा सकती है। यह हमको अविदित नही कि प्राय. सभी शिल्पग्रन्थो में निर्माण स्थल को वास्तु पद की सज्ञा देकर उस पर वास्तु-पुरुष के प्रकल्पन की व्यवस्था की गयी है। विश्वकर्मप्रकाश के अनुसार यह वास्तु-पुरुष नागाकृति होता है। विश्वकर्मा स्कूल को ही कालान्तर मे नागर स्कूल की अभिधा मिली। अत. नाग शब्द से ही नागर शैली के विकास का आभास मिल सकता है। श्रीमती स्टेला ने भी इसका समर्थन

किया है (पृ० २८१) । वे लिखती हैं—"नागर शब्द का एक दूसरा अर्थ ब्रह्माण्ड—विश्व हो सकता है (केशव स्वामी के नानार्थार्णवसक्षेप के अनुसार)। प्रासाद विश्व की प्रतिकृति—नागर के नाम से बोद्धव्य है, क्योंकि यह नाग या वास्तु-पुरुष पर स्थित है, यही नागर—विश्व का आधार है, इसी को कोशकार एकमात्र शेष कहते हैं।"

अस्तु, यह तो शास्त्रीय निर्देश की बात हो गयी। कुछ ऐतिहासिक प्रामाण्य भी होना चाहिए। ऊपर डा० जायसवाल के मत का उल्लेख हुआ है। उसी की पुष्टि में यह स्मरणीय है कि नागर शैली का जन्म पाषाण वास्तु-कला (Stone architecture) से सम्बन्धित है। मौर्ययुगीन या अशोक कालीन पाषाण-कला से हम परिचित ही हैं जिसके गर्भ में उससे भी पुरातन पाषाण-वास्तु-कला का वैशारद्य अनुमित होता है। चुल्लवग्ग जो ईसवीय शतक से पूर्ववर्ती ही है उसमें भी पाषाण-कला के सम्बन्ध में निर्देश है। वैदिककालीन समुन्नत आसुरी वास्तुकला का निर्देश हम कर ही चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी नागों तथा असुरों की समुन्नत पाषाणकला के संकेत हैं। हम यह भी जानते हैं कि हिन्दुओं की प्राचीनतम परम्परा में (जिसका अब भी कहीं-कहीं मान है) पाषाण-भवनों का निषेध था। परन्तु बौद्धों की देखादेखी हिन्दुओं ने भी अपने मन्दिरों को पाषाण से विनिर्मित करना प्रारम्भ कर दिया। पाषाण-कला का हिन्दुओं द्वारा अपनाया जाना ही नागर-शैली का जन्मदाता है। इस सम्बन्ध में विश्वकर्मीयशिल्प की मन्दिर-व्याख्या द्रष्टव्य है। प्रासाद तो इष्टकाओं अथवा काष्ठों के बन सकते हैं, परन्तु मन्दिर-निर्माण में पाषाण का ही प्रयोग वाञ्छनीय है ऐसा यह ग्रन्थ बताता है (वि० २६वाँ अध्याय)। श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ (पृ०३०३-१५) में नागर शैली के जन्मदाताओं में नाग राजाओं का उल्लेख किया है (३०३) तथा नागर-वास्तु-शैली के विकास में नाग-प्रभाव स्वीकार किया है। विश्वकर्मीय वास्तु-विद्या की परम्परा के अति प्राचीन आचार्यों में गर्ग का नाम हम ले चुके हैं (दे० 'वास्तु-विद्या')। गर्ग का समय ईसा-पूर्व ११० वर्ष माना गया है (३०६)। गर्ग ने नाग-राजा शेष की संरक्षकता में अपने ग्रन्थ का निर्माण किया होगा, जिसका सन्दर्भों से संकेत प्राप्त है। नागों अथवा असुरों की वास्तुकला को नागर-शैली (नाग से नागर यह व्युत्पत्ति पूर्व ही प्रदर्शित की जा चुकी है) का नाम देना अनुचित न होगा। अतः हिन्दुओं—आर्यों ने नागर-शैली नागों अर्थात् असुरों से ग्रहण की—इससे लेखक की यह धारणा कि आर्यों की अपेक्षा आर्येतरों—नागों अथवा असुरों की वास्तुकला इस देश में प्रथम जन्म एवं विकास को प्राप्त हुई तथा वृद्धिगत भी—दृढ़ होती है। बौद्धों ने भी तो नागों का ही अनुसरण किया था। बौद्धों के चैत्य नागों के चैत्यों से न केवल प्रभावित ही वरन् अनुप्राणित भी हुए थे।

द्राविड़ वास्तु-परम्परा के सम्बन्ध में कुछ निर्देश हो ही चुका है। द्राविड शैली के सम्बन्ध मे वैसे तो वास्तुतत्त्व की दृष्टि से नागर शैली से अनेक भिन्नताएँ विद्वानों ने मानी हैं, परन्तु सर्वप्रमुख विशेषता जो समरांगणसूत्रधार के परिशीलन से प्रतीत होती है वह है द्राविड़ प्रासादो मे भूमिका-कल्पन। स० सू० के ६२वे अध्याय (द्राविड़-प्रासाद-लक्षणाध्याय) में द्राविड प्रासादो की सज्ञा ही एकभूमिक से लगाकर द्वादशभूमिक तक मानी गयी है। मय-परम्परा या द्राविड़ परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ भी तो द्राविड प्रासादो की इस अनिवार्य विशेषता को प्रासाद-वर्गी निर्माण का आधार मानते हैं। इसके अतिरिक्त स० सू० मे इन्ही ग्रन्थो के अनुरूप पीठ-पचकलक्षण नामक ६१वे अध्याय मे द्राविड-प्रासादयोग्य पाँच पीठो का वर्णन किया गया है, उनकी भी सगति से यही निष्कर्ष निकलता है कि द्राविड प्रासादो की रचना मे नागर प्रासादों की रचना मे वास्तुतत्त्वात्मक वैशिष्ट्य अथवा विभिन्नता अवश्य थी। द्राविड वास्तु-परम्परा का सर्वप्रथम अधिकृत ग्रन्थ मयमत है। बाद के ग्रन्थ हैं—मानसार, शिल्प-रत्न तथा काश्यपीय शिल्प आदि। इन सभी मे प्रासादो तथा मण्डपो का भूमिकानुरूप वर्गीकरण हुआ है। शिल्परत्न मे तो प्रासादो तथा मण्डपो की समरागणीय तथा मान-सारीय द्वादश भूमिकाओ का विकास सप्तदश भूमिकाओ मे परिणत हो गया, जिससे हम शिल्परत्न को द्राविड़ वास्तु-परम्परा के चरमोत्कर्ष का प्रतिबिम्बक मान सकते है।

द्राविड प्रासादो को षडस्र अथवा अष्टास्र की आकृति (विशेष कर तलन्यास में) प्रदान करने वाले पूर्व-सकेतों की समीक्षा हो ही चुकी है। ये न तो समरागण को ही स्वीकार है और न इन सकेतो का स्थापत्य निदर्शन ही साक्ष्य भरते है। अतः आकारानुरूप वर्गीकरण सम्भवतः अत्यन्त अर्वाचीन है जब शैलियो मे पारस्परिक समिश्रण हो चुका था तथा एक शैलीगत प्रासादो मे अग विशेष (विशेष कर छाद्य भूषाओ एव भूमियो) का विन्यास अन्य शैली की विशेषता बन गया था। ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति तथा शिल्परत्न नामक द्राविड़ वास्तु-परम्परा के इन दो वास्तु-ग्रन्थो से ऐसा ही प्रतीत होता है। ईशान शि० प० (देखिए तृ० भ० ३०. १–३५) मे क्षुद्र-अल्प विमानों (जो मेरु आदि विमानो की शिखा पर विनिर्मित होते हैं और जिन्हें हर्म्य भी कहते है) की आकृतियो, नागर, द्राविड़ तथा वेसर तीनो का प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ में द्राविड प्रासादो का जो वर्गीकरण हुआ है उसको जाति-विमान या मुख्य विमानो के नाम से पुकारा गया है। काश्यप-शिल्प एव शिल्परत्न में भी द्राविड़ प्रासादो का एकमात्र आधार भूमि-प्रकल्पन तक ही सीमित नही है और न आकार-विनियोग की पुरानी परम्परा (अर्थात् नागर चतुरस्र, द्राविड षडस्र अथवा अष्टास्र एवं वेसर वर्तुल) ही मानी गयी है। द्राविड़ प्रासादो के अग विशेष का प्रकल्पन नागर आकृति मे भी हो सकता है,

अथच इस ग्रन्थ में नागर, द्राविड़ एवं वेसर के सम्बन्ध मे सत्त्वादि गुणानुसरण भी शैली निर्धारण का नियामक बताया गया है।

अस्तु, स्वल्प मे साराश यह है कि द्राविड शैली की प्रमुख विशेषताओं मे जो उल्लेखनीय है वह यह कि ये प्रासाद भी चौकोर हो सकते हैं परन्तु इनका शिखर-कलेबर भूमियों (स्टोरीज) मे बँटा हुआ होता है तथा इनके मूर्धा पर दो प्रकार के शिरोभूषण पाये जाते हैं —पहला, जैसा मामल्लपुर के वेला-विमान (Temple) में दर्शनीय है तथा दूसरा वही के गणेशरथ मे निभालनीय है। यह शिरोभूषण द्राविड़ वास्तु-शैली मे कलश-सहचरी 'स्तूपी' के नाम से पुकारा गया है जो उत्तरी शैली या नागर शैली मे कलश-सहचर, बिन्दु-विनियोजित आमलक का स्थान है। उत्तरी ग्रन्थो मे यह शिरोभूषण सदैव आमलक, अमलसार या आमलसार आदि नामों से ही पुकारा गया है। द्राविड शैली का कब जन्म हुआ तथा कब विकास हुआ इस सम्बन्ध मे लेखक ने अपने सुझावो की ओर पाठको का ध्यान पूर्व ही आकर्षित किया है। परन्तु श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने (देखिए १४७-४८) द्राविड शैली के उद्गम के सम्बन्ध मे जो लिखा है उसकी समीक्षा आवश्यक है। श्री भट्टाचार्यजी लिखते है —

1. "There existed a Dravida School of architecture before the 6th century A D (before Varahmihira) but its nature is unknown Extact buildings may be taken as specimens of that style

2. What more we know the Dravidian style originated not very much earlier than the 6th century A D.

3 There were S-Indian Vastu texts (which perhaps survive in the games) with which the extant work like the mayamatam etc. do not thoroughly agree, ... etc ".

अर्थात् १. वराहमिहिर के पूर्व (छठी शताब्दी) द्राविड वास्तु-विद्या तथा उसकी कला अथवा शैली विद्यमान थी—यह तो कहा जा सकता है, परन्तु उसका क्या रूप था यह नही कहा जा सकता। स्मारक रूप मे प्राप्त भवनो में उस कला के निदर्शन मे कोई कृति नही उपस्थित की जा सकती।

२—जिसे हम द्राविड़ शैली कहते हैं उसका जन्म छठी शताब्दी के बहुत पूर्व नही हुआ था।

३—प्राचीन दाक्षिणात्य वास्तु ग्रन्थ अवश्य थे परन्तु वे अप्राप्य हैं तथा उनकी विद्या का अनुमान आगमो से किया ही जा सकता है, परन्तु प्राप्त दाक्षिणात्य वास्तु-ग्रन्थ, जैसे मयमत आदि उन ग्रन्थो से पूर्ण रूप से सगति नही रखते।

लेखक की धारणा श्रीयुत तारापद की इस धारणा के प्रतिकूल है। लेखक ने भारतीय वास्तु-विद्या तथा विशेष कर प्रासाद-कला के जन्म एव विकास के अन्तस्तल में सांस्कृतिक उपचेतना की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया है। सभी मानव-व्यापार—धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक, मानव संस्कृति की आधार-भूत चेतनाओ से ही प्रभावित एव अनुप्राणित हुए है, इस तथ्य को हमे कभी नही भूलना चाहिए। प्रासाद-वास्तु के विकास मे पौराणिक तथा आगमिक पूजा-परम्परा का निर्देश किया जा चुका है। लेखक ने अपने 'वास्तु-विद्या' के अध्ययन में यह भी लिखा है कि भले ही विद्वान् लोग आगमो तथा पुराणो को ईसवीय शतक के परवर्ती ग्रन्थ माने परन्तु उनमे प्रतिपादित परम्पराओ को हम परवर्ती नही मान सकते।

किसी परम्परा के जन्म, विकास एव अभ्युदय मे शताब्दियो का इतिहास छिपा होता है। अत. शिवपूजा तथा विष्णुपूजा आदि की जो आगमिक एव पौराणिक परम्परा इस देश मे पल्लवित हुई वह ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व अवश्य पनप चुकी थी। उसी के प्रतिपादन के लिए देवतायतनो की स्थापना आदि का प्रचार तथा इनकी सर्वत्र सर्वसाधारण व्यवस्था करना ही तो एकमात्र इन ग्रन्थों का परम लक्ष्य था। भारतीय वास्तु-विद्या के विकास को उत्तेजना एवं प्रेरणा राजाश्रय एव धर्माश्रय—दोनो ने ही प्रदान की यह हम लिख ही चुके हैं। अतएव आगमों में जो द्राविड परम्परा के बीज विद्यमान हैं, उन्हें ईसवीय छठी शताब्दी के आस-पास स्वीकार करने पर असुरो एवं नागो की जो शैली ऋग्वेद तथा शतपथ ब्राह्मण एव सूत्र ग्रन्थो के बहुल निर्देशो से पूर्ण उद्‌भासित है, उसकी सगति आर्येतर असुरो के साथ लेखक ने लगायी है तथा जिसका उल्लेख श्री तारापद ने भी किया है, वह सब भ्रान्त एव निर्मूल हो जायगी।

अत: निष्कर्ष यह है कि यह आसुरी वास्तु-विद्या तथा कला या शैली ही कालान्तर मे द्राविड़ शैली के नाम से विख्यात हुई। शैली के नामकरण में भूगोलीय सीमा का बखान सदा से होता आया है। अत. इस देश के विशाल भूभाग मे दक्षिणापथ के निवासी, जिन्हें द्रविड़ की सज्ञा दी गयी है, वे यहाँ के आदिम निवासी थे तथा आर्यों के प्रभाव में ये सहज ही नही आये—इसका बड़ा इतिहास है जिसमें लम्बा समय लगा होगा। यही कारण है कि दाक्षिणात्य वास्तुग्रन्थो ने आर्यो के प्रसार एवं प्रभाव के कारण ही सम्भवत. अपने ग्रन्थो मे भी नागर आदि शैलियों का सकेत किया है। आर्यों तथा आर्येतर जातियो का पारस्परिक आदान-प्रदान ही इस समिश्रण का परिचायक है।

वेसर

नागर तथा द्राविड इन दो शैलियो की थोड़ी बहुत समीक्षा हो चुकी। अब क्रम-प्राप्त वेसर शैली के सम्बन्ध मे विवेचन शेष है। वेसर शब्द के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। समरागण मे वेसर शब्द का कही भी उल्लेख नहीं है। यही नही, उत्तरापथीय किसी भी वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ मे इसका उल्लेख नही। अत. वेसर शैली का कब जन्म हुआ, कब विकास हुआ, इन प्रश्नो के उत्तर के साथ साथ वेसर की क्या विशेषता है—इस पर प्रकाश डालना होगा। वेसर शब्द के तत्सम एव तद्भव रूपो मे दो अर्थ होते हैं—तत्सम मे खच्चर (म्यूल-मिश्रित उपज) तथा तद्भव मे नासिका-आभूषण-विशेष। डा० आचार्य ने वेसर (देखिए 'हिन्दू आर्किटेक्चर ऐंड ऐब्राड,' २०६) शब्द का सकेत तेलुगू अथवा त्रिकलिंग से सम्बन्धित किया है तथा अनुमान लगाया है कि यदि वेसर का सबन्ध भारतीय भूभाग के जनपदो (कलिंग तथा आन्ध्र) से है तो कलिग तथा आन्ध्र शैलियों को वेसर की ही शाखा मानना होगा। यह कलिग शैली ही लाल शिलालेख मे नागर तथा द्राविड के साथ वर्णित की गयी है। वहाँ पर कलिग का तात्पर्य सम्भवत. शैली से न होकर भवन-वर्ग से है—ऐसा आचार्यजी ने भी सकेत किया है।

श्रीयुत तारापद ने (पृ० १५६) वेसर के सम्बन्ध मे जो उद्‌गार प्रकट किये है उनका साराश यह है कि वेसर वास्तव मे कोई विशिष्ट शैली नही है। चूंकि वेसर एक प्रकार का आभूषण-विशेष (नासिका-भूषण) है तथा उसकी आकृति वर्तुल होती है अतः वेसर से उन भवनो का बोध होना चाहिए जो वर्तुलाकार हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि लेखक ने ऊपर यह निर्देश किया है कि ये शैलियाँ भारतीय भौगोलिक क्षेत्र विशेषो से सम्बन्धित होने पर भी स्थपति के कौशल एव उसकी अपनी निजी वैयक्तिक चेतना अथवा मेधा या स्फूर्ति से कभी-कभी विभिन्न अवान्तर शैलियो को जन्म देने में भी सहायक हुई। तथापि वेसर शब्द तथा उससे निर्दिष्ट शैली का मर्म नागर तथा द्राविड शैली समझना चाहिए। यह हम लिख ही चुके है कि आर्यों तथा आर्येतर द्राविडो, नागो या असुरो के यद्यपि पुरातन स्वरूप मे अवश्य पारस्परिक आदान-प्रदान सम्भव न था तथापि कालान्तर पाकर दोनो मे सम्पर्क-जन्य एक दूसरे का प्रभाव एक दूसरे पर अवश्य पडा। सम्भवत यह संमिश्रण समरागण के बाद ही विशेष रूप से पुष्ट हुआ, अन्यथा समरागण मे जहाँ नागर तथा द्राविड शैलियो के ही नही, विभिन्न अन्य जनपदीय एव अलकृति विशिष्ट शैलियों के निदर्शनस्वरूप प्रासादो का वर्णन है वहाँ वेसर शैली के प्रासादो का वर्णन नही है। अतएव श्रीमती स्टेला का यह कथन (दे० हिन्दू टेम्पुल) प्रामाणिक प्रतीत होता है—

"वेसर-प्रासाद विन्ध्य तथा अगस्त्य (नासिक) इन प्रदेशों के मध्य में विनियुक्त हुए हैं अथवा कामिकागम के अनुसार इस प्रदेश का प्रसार विन्ध्य श्रेणियों से लगाकर कृष्णा नदी तक है। इस प्रकार यह प्रकट है कि वावाट तथा वेसर कतिपय उन प्रासादो के लिए अभिधान करते हैं जिनका विनियोग दक्षिण मे प्राप्त होता है। परन्तु मिश्रित शैली के ये प्रासाद वेसर शब्दवाच्य दक्षिण प्रदेश के भूभाग मे प्राप्त होते हैं। इनका निर्माण कर्नाटकी तालुकाओं में परवर्ती चालुक्यो के द्वारा तथा मैसूर मे होयसिल वश के द्वारा निष्पन्न हुआ था। ये प्रासाद उस परम्परा के प्रतीक है जिसने अपनी विशिष्ट शैली का सवर्धन शिखरोत्तम प्रासादो अथवा द्राविड प्रासादो के बाद मे किया था। इन प्रासादों की कुछ विशेषताएँ द्राविड प्रासाद मे समन्वित नागर-वैशिष्टय (डिटेल) से विपरिणमित हुई हैं। यह ऐसे प्रदेश मे स्वाभाविक ही है। यह प्रदेश उत्तरापथ की नागर तथा दक्षिणापथ की द्राविड दोनों शैलियों का ही प्रधान केन्द्र रहा है। इन दोनो मे प्रथम तथा सर्वोत्तम नागर परम्परा का मध्यदेश केन्द्र रहा, जैसा कि अपराजितपृच्छा से विदित है, अथच यह मध्यदेश उस भारतीय भूभाग की सज्ञा है जो कुरुक्षेत्र, प्रयाग, हिमालय तथा विन्ध्य के मध्य सरस्वती नदी से घिरा हुआ है। चालुक्य प्रासादो के पूर्ववर्ती (अर्लियर) निदर्शन तो द्राविड शैली में तथा परवर्ती नागर शैली मे निविष्ट हुए है।"

वेसर शब्द की उपर्युक्त मीमांसा में वेसर की मानसारीय परिभाषा का जो शब्द आया है उसका अभी तक विद्वानों ने सही अर्थ नही निकाल पाया। वैसे तो वेसर प्रासादो को वर्तुल अर्थात् गोल माना गया है परन्तु यह गोलाई आधी गोलाई निकलती है। वेसर शब्द की निष्पत्ति निम्न प्रकार से सगत होती है —

द्वि+अस्र=द्वयस्र→वेसर

ऐसे प्रासादों का, जैसा ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है, चालुक्य प्रदेश मे (दुर्गा मन्दिर) निदर्शन प्राप्त होता है।

वावाट

यह पहले ही बताया जा चुका है कि समरांगण मे वेसर शैली का उल्लेख नही है। किन्तु नागर और द्राविड इन दो प्रासाद-शैलियो के अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे और भी अनेक शैलियो का सुन्दर प्रतिपादन है। उनमें वावाट और भूमिज विशेष समीक्षा के योग्य है। वावाट को वैराट अर्थात् विदर्भ माना जा सकता है। वावाट प्रासादो का अपराजितपृच्छा मे भी वर्णन है। समरागण मे इस शैली के १२ प्रासादो का (देखिए अध्याय ६५, दिग्भद्रादिप्रासादलक्षण) वर्णन है। हयशीर्षपंचरात्र मे भी इनका गुणगान है और कामिकागम में इनके जो सकेत हैं उनमे इनके पिरामिड आकार का छाद्य विशेष सकीर्तित किया गया है।

इस शैली की भौगोलिक सीमा वेसर के समान स्पष्ट नही है, सम्भवतः वरद→विदर्भ→विरार से यह निकली है और इसका आधिराज्य कृष्णा नदी से लगाकर नर्मदा नदी तक फैला हुआ था ।

यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण संकेत आवश्यक है कि डा० क्रैमरिश के मत में इस शैली से बोधित जनपद में जो प्रासाद स्मारक विद्यमान हैं उनकी सगति समरांगण और कामिकागम के वर्णनों के विपरीत है । अत उनकी सम्मति मे इनके जो विवरण शास्त्र में पाये जाते हैं वे चालुक्य प्रासादों के विशेष अनुसारी हैं । श्रीमती क्रैमरिश के इस मत से यह लेखक सहमत नही । चालुक्यो की वास्तु-कला अर्थात् प्रासाद-कला के दो प्रधान विकास हुए हैं—एक प्राचीन तथा दूसरा मध्यकालीन । चालुक्यों के प्राचीन निदर्शन होयसिल, बादामी और पट्टदकल आदि प्रसिद्ध वास्तु-पीठो में द्रष्टव्य हैं । इनसे समरागण और कामिकागम के वावाट प्रासाद वर्णन सगत एव अनुगत नही हो सकेंगे, परन्तु मैसूर के होयसिल प्रासादो मे जो भूषा-विन्यास तथा अलकृति-चित्रण दिखाई देता है उससे तत्कालीन प्रासाद-वैभव स्पष्ट है और वे ही इन वावाट प्रासादो के सच्चे निदर्शन हैं ।

चालुक्यो के प्राचीन प्रासादो का हमने छाद्य प्रासादो के रूप मे मूल्याकन किया है और उनके परवर्ती प्रासादो पर सर्वदेश-प्रभावक नागर-शैली का भी कम प्रभाव नही । अतएव समरागण का स्पष्ट प्रवचन है कि वावाट प्रासाद प्लान मे नागर के ही समान होते है । भेद इतना है कि उनका छाद्य शिखराकार की अपेक्षा पिरामिड आकार मे विशेष है । इस दृष्टि से ये वावाट प्रासाद वेसर प्रासादो के समान मिश्रित शैली के नमूने कहे जायें तो अधिक उचित होगा ।

भूमिज

इस शब्द से एक स्थानीय शैली का बोध होता है । यह शैली केन्द्र विशेष की परिचायिका है । डा० आचार्य के मत मे सम्भवतः इस शैली का तात्पर्य आसाम, बंगाल वाली से है जहाँ पर भौम राजाओ ने राज्य किया था । सम्भवत यह ठीक भी जँचता है । आसाम, बंगाल के समीप ही बिहार मे भूमिहारो का बाहुल्य था और अब भी है । अत-सम्भवतः यह शैली इसी देश की विशेषता है ।

समरागण मे 'भूमिज-प्रासादलक्षण' नामक ६५वें अध्याय मे इस शैली के तीन प्रकार के प्रासाद वर्गों का वर्णन है, जिनमे निशद आदि चार चौकोर प्रासाद, कुमुद आदि सात वृक्षजाति प्रासाद तथा स्वस्तिक आदि पाँच अष्टशाल प्रासादो का वर्णन किया गया है और इसी अध्याय मे एक बड़े सुन्दर वास्तु-सिद्धान्त की ओर भी संकेत है—वह है रेखा-चित्रण । इस प्रकार लेखक की उपर्युक्त समीक्षा से नागर और द्राविड दो ही प्रधान शैलियाँ स्पष्ट होती है, और सब अवान्तर शैलियाँ इनके ही सम्मिश्रण के प्रतिफल हैं ।

४

शैलियों के अनुरूप प्रासाद-वर्ग एवं प्रासाद-जातियाँ

समरांगण की प्रासाद-शैलियो तथा उनकी अवान्तर शैलियो के सम्बन्ध में एक साधारण सकेत पूर्व अध्याय मे किया जा चुका है। अब क्रमप्राप्त उन्ही शैलियो तथा नागर आदि प्रमुख शैलियों के अन्तर्गत अवान्तर शैली-जन्य विभिन्न प्रासाद-वर्गों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है।

समरागण मे लगभग ४०० प्रासादो का वर्णन किया गया है। प्रासादो का इतना व्यापक एव विस्तृत वर्णन अन्य किसी भी ग्रन्थ मे नही है। भविष्यपुराण मे विश्वकर्मा के द्वारा तीन हजार प्रासादो की ओर सकेत किया गया है। वे तीन हजार कौन से प्रासाद है——उनकी कौन-कौन-सी शैलियाँ हैं——किन-किन कलाक्षेत्रो की वे कृतियाँ थी——इन सब पर कुछ भी निर्देश न होने के कारण यह सख्या कवि की अतिरजना ही मानी जायेगी। विष्णुधर्मोत्तर मे शत प्रासादो का वर्णन मिलता है। वे प्रायः सभी समरागण मे सकलित है——इस पर विशेष चर्चा आगे होगी। यहाँ पर पाठकों का ध्यान इतना ही आकर्षित करना है कि वैज्ञानिक एव व्यवस्थित रूप से इतना विशाल प्रासाद-वर्णन अन्य किसी भी ग्रन्थ मे प्राप्य नही है। लेखक ने "वास्तु-विद्या" के अध्ययन में समरागण को नागर परम्परा का——उत्तरापथीय वास्तु-विद्या-परम्परा (नार्दर्न स्कूल आफ़ आर्किटेक्चर) का अत्यन्त अधिकृत प्रतिनिधि एव प्रौढ विकास-प्रतीक ग्रन्थ माना है। पुराणो की जो मन्द-मन्द मन्दाकिनी शिव एव विष्णु पूजा की प्रतिष्ठा के पावन सलिल से समस्त उत्तरापथ को पवित्र करने के लिए बही उसके उद्दाम स्रोत से प्रक्षालित नाना कूलो पर विनिर्मित विभिन्न देवमन्दिरों एवं तीर्थ स्थानो के प्रतीक प्रासादों के घट्टों का विपुल एव सुन्दर चित्र हम इस ग्रन्थ मे देख सकते है।

समरागणसूत्रधार में जिस विशाल प्रासाद-मालिका के सुरभित सुमनो की हृद्य गन्ध से सुवासित शैली-वीथियो के जो नाम है अथवा अनाम है वे सब परम्परागत अथवा आजकल की वास्तु-विवेचन-पद्धति से सर्वांश मे प्रतिकूल नही है। अथच उनकी प्रतिकूलता का क्या रहस्य है——उनके अन्तस्तल में क्या मर्म छिपा है——यही उद्घाटनीय है।

नागर शैली की प्राचीनता के सम्बन्ध मे हम पूर्व अध्याय में अपने विचार प्रकट कर चुके हैं। समरागण के काल मे आकर इस नागर शैली के विभिन्न अवान्तर भेद हो चुके थे। ठीक भी था। नागर शैली से प्रभावित समस्त उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ का

विपुल भाग कैसे सर्वदा के लिए एक ही शैली की प्रेरणा एवं प्रभाव में रह सकता था। अतएव नागर शैली के विशाल भभाग के वास्तु-विद्या केन्द्रो में स्थानीय विभिन्न शैलियो का जन्म हुआ—यह स्वाभाविक ही था। अत जनसाधारण नागर शैली के नाम से उतना परिचित नही रहा जितना इन अवान्तर शैलियो से—अतएव जन-वास्तुकला का प्रतिनिधि ग्रन्थ (जिसकी ओर 'शाल-भवन' के अध्ययन मे सकेत किया जा चुका है) यह समरागणसूत्रधार भी जननायक स्थपतियो की सुविधा के लिए विभिन्न प्रासाद-वर्गों तथा उनकी विशिष्टताओं का ही विशेष कर उल्लेख करता है तथा उस समय तक जो अवान्तर शैलियाँ, जैसे लाट, वावाट (अथवा वैराट), भूमिज आदि विकसित हो चुकी थी उन्ही के प्रासादो का वर्णन करता है। वेसर शब्द का वैसे तो इस ग्रन्थ मे उल्लेख नही है—यह प्रथम ही लिखा जा चुका है—परन्तु मिश्रक प्रासादो का (जो वेसर शैली की विशेपता है, देखिए पूर्व अध्याय) दो-तीन बार वर्णन किया गया है। सम्भवत वेसर शैली का इन मिश्रक प्रासादो से हम पता लगा सकते हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि जहाँ समरांगण-कालीन उत्तरा-पथ में विकसित एव प्रख्यात अवान्तर शैलियो के निदर्शन-स्वरूप प्रासादो का इस ग्रन्थ मे वर्णन है वहाँ प्राचीन परम्परा मे (देखिए मत्स्य आदि पुराण एवं बृहत्सहिता आदि प्राचीन ग्रन्थ) प्रचलित एव प्रख्यात जिन बीस नागर प्रासादो का विशेषज्ञो में प्रचार था उनका भी अविकल वर्णन मेर्वादिविशिका नाम से ६३वे अध्याय मे किया गया है। द्राविड शैली के प्रासादो की ओर हम सकेत कर ही आये हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के उपरान्त हमे समरागण की विभिन्न शैलियो के निदर्शन स्वरूप प्रासादो की समीक्षा करनी है—

नागर शैली

नागर शैली मे पौराणिक परम्परा के अनुरूप जिन बीस प्रासादो का वर्णन मत्स्य-पुराण (विद्वानो के अनुसार प्राचीनतम पुराण, देखिए तारापद की वास्तु-विद्या), भविष्यपुराण तथा वृहत्सहिता मे प्राप्त होता है वह अविकल समरागण में भी प्राप्त होता है। अत. समरागण के ६३वे अध्याय के निम्नलिखित बीस नागर प्रासाद विशुद्ध रूप मे नागर शैली के माने जाने चाहिए। समरागण की वास्तु-विद्या के प्रथम प्रतिष्ठापक विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र मे भी इन प्रासादो का वर्णन है, अत इनकी प्राचीनता असंदिग्ध है। आगे दी गयी तालिका मे इनकी सामान्य परम्परा द्रष्टव्य है।

नागर शैली का विकास भारतीय स्थापत्य के विकास का प्रतिबिम्बक है। अतएव इसके सभी प्रासाद वास्तु-कला एव स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से बड़े ही समृद्ध हैं। निवेश्य प्रासाद की विभिन्न आकृतियाँ, उनमे भूमिका-नियोजन, उनकी शिखर-वर्तना, शृंग-भूषा

अथवा अण्डक-वर्तना एवं गर्भ, द्वार, प्राग्रीव, कुहर, गवाक्ष, जाल, चन्द्रशाला एवं वलभि आदि की संयोजना एवं विरचना के विपुल विवरणों से यह कथन संगत होता है। नागर शैली के परम्परागत विशुद्ध बीस प्रासादों का जो सामान्य वर्णन-सादृश्य भारतीय वास्तु-विद्या (विशेष कर उत्तरापथीय विश्वकर्मा-स्कूल) के पुरातनतम ग्रन्थ विश्वकर्मीय-प्रकाश, बृहत्संहिता, मत्स्य तथा भविष्य-पुराण और मध्यकालीन भारतीय वास्तु-विद्या के प्रतिनिधिग्रंथ समरांगण में पाया गया है, उसका दिग्दर्शन कराया जाता है—

विशुद्ध नागर प्रासाद-विंशिका

	विश्वकर्म-प्रकाश	बृहत्-संहिता	मत्स्य-पुराण	भविष्य-पुराण	समरांगण-सूत्रधार
१	मेरु	मेरु	मेरु	मेरु	मेरु
२	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दर
३	कैलास	कैलास	कैलास	कैलास	कैलास
४	विमानच्छन्द	विमानच्छन्द	विमानच्छन्द	विमानच्छन्द	विमानच्छन्द
५	नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन	नन्दिवर्धन
६	नन्दन	नन्दन	नन्दन	नन्दन	नन्दन
७	सर्वतोभद्र	सर्वतोभद्र	सर्वतोभद्र	सर्वतोभद्र	सर्वतोभद्र
८	वृष	वृष	वृष	वृष	वृष
९	सिंह	सिंह	सिंह	सिंह	सिंह
१०	गज	कुंजर	गज	कुंजर	गज
११	कुम्भ	घट	कुम्भ	घट	कुम्भ
१२	समुद्रक	समुद्र	समुद्रक	समुद्र	समुद्रक
१३	पद्मक	पद्म	पद्म	पद्म	पद्मक
१४	सुपर्ण	गरुड़	गरुड	गरुड	गरुड
१५	हंस	हंस	हंस	हंस	हंस
१६	वर्तुल	वृत्त	वर्तुल	वृत्त	वर्तुल
१७	चतुरस्र	चतुष्कोण	चतुरस्र	चतुष्कोण	चतुरस्र
१८	अष्टास्र	अष्टास्र	अष्टास्र	अष्टास्र	अष्टास्र
१९	षोडशास्र	षोडशास्र	षोडशास्र	षोडशास्र	षोडशास्र
२०(क)	मृगराज	—	मृग	—	मृगराज
	अथवा				
	गुहराज	गुहराज		गुहराज	

	अथवा		अथवा	अथवा
	बलभिच्छन्द		बलभिच्छन्द	— बलभिच्छन्द
२०(ख)श्रीवृक्ष	—		श्रीवृक्ष	— श्रीवृक्ष

अब क्रमप्राप्त नागर शैली की अवान्तर शैलियो तथा उन शैलियो के अनुरूप प्रासादो की ओर समरागण की दिशा से पाठको का ध्यान आकर्षित करना है।

विशुद्ध नागर शैली के इन बीस प्रासादो का जो उल्लेख हुआ है, वे समरागण में लगभग तीन बार भिन्न-भिन्न अध्यायों मे वर्णित है। 'मेर्वादिविंशिका' नामक ५७वें अध्याय मे जिन बीस प्रासादों का वर्णन है तथा ५८वें एवं ५९वें अध्यायो मे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, चण्डिका एव सूर्य इन प्रधान आर्यदेवो के प्रिय प्रासादस्तवन-पुरस्सर जिन ६४ प्रासादो का वर्णन है एव मेर्वादि षोडश प्रासादो का जो ५२वें अध्याय मे उल्लेख है—उसका क्या रहस्य है—क्या मर्म है—यह देखना है। लेखक की सम्मति मे इन प्रासादो का जो विभिन्न स्थलो में वर्णन हुआ है उसके दो मुख्य प्रयोजन ग्रन्थकार भोजदेव को अभिमत होगें। एक तो पुराने नागर प्रासादो की निर्माण प्रक्रिया मे वैषम्य एव विकास तथा वृद्धि एवं अतिरंजना की ओर (जो मध्यकालीन वास्तु-कला की ही नही वरन् साहित्य तथा काव्य सभी की विशेषता थी) संकेत करना तथा दूसरे, ११वी शताब्दी मे आकर इन २० प्रासादो की वृद्धि ६४ प्रासादों में हो गयी यह दिखाना है। प्रथम तथ्य की पुष्टि मे प्रासादराज मेरु के वर्णन को पढ़िए। थोड़ा-सा अंश उद्धृत किया जाता है —

विचित्रभूमिके (सप्तदशम्मिलिलक्ष्यराक्षणष्यपि ?)।
स्तम्भैर्विविधविन्यासैर्बहुभंगविनिर्मितैः ॥
भूषितैः कर्मभिश्चित्रैः सर्वत्र शुभलक्षणैः।
चन्द्रशालाविसंयुक्तैस्तोरणैश्चारुचामरैः ॥
तथाक्षतमुखग्रासैर्घनरूपतया स्थितैः।
व्यालैर्व्यालोलजिह्वैश्च मकरग्राससंयुतैः ॥
मदान्धालिकुलाकीर्णगजवक्त्रविभूषितैः।
विद्याधरवधूवृन्दैः क्रीडारम्भविभूषितैः ॥
सुराणां सुन्दरीभिश्च वीणाहस्तैश्च किन्नरैः।
सिद्धगन्धर्वयक्षाणां वृन्दैश्च परितः स्थितैः ॥
अप्सरोभिश्च दिव्याभिर्विमानावलिभिस्तथा।
चारुचामीकरान्दोलाक्रीडासक्तैश्च (निःसराम् ?)॥
नागकन्याकदम्बैश्च सर्वतः समलंकृतम्।

एवंविधाभिः सर्वत्र भूमिकाभिर्निरन्तरम् ।
अलंकृतो विधातव्यो मेरुः प्रासादनायकः ॥

अर्थात् प्रासादनायक मेरु की विरचना विविध भूमिकाओ मे करनी चाहिए और इन भूमिकाओ मे विविध विन्यासो से एव नाना भंगियो से विनिर्मित स्तम्भो का निवेश करना चाहिए, उन पर शुभ लक्षणवाले स्थापत्य कर्म के चित्रकौशल से उनकी भूषा सम्पादित करनी चाहिए । विशेष कर चन्द्रशाला आदि से सयुक्त तोरण, चारु चामर आदि प्रदर्शनीय हैं । इन भूमिकाओं पर सुन्दर-सुन्दर चित्रों की भी योजना करनी चाहिए। जैसे लहराती हुई जीभ वाले व्याल, मकर, मदस्रावी गज, विद्याधर-वधूवृन्द, क्रीडा करती हुई सुरो की सुन्दरियाँ , हाथ में वीणा लिये हुए किन्नर, सिद्ध, गधर्व एवं यक्षो के वृन्द, अप्सराओ, नाग-कन्याओ के सुन्दर एवं विविध भगी मे बहुविध चित्र ।

उक्त बीस नागर प्रासादो मे वास्तु-कला की दृष्टि से जहाँ विशेष कर बाह्याकृति मानोन्मान, पीठप्रकल्पन, जगती-निवेश, शिखरो की रचना, अण्डो के अकन तथा भूषा-विन्यास आदि की ओर ही वास्तु-विद्याविदो ने ध्यान दे रखा था वहाँ भोजदेव के समय मे प्रासाद-कला परम उत्कर्ष को प्राप्त हो गयी थी । अत. उसमे चित्रण प्राधान्य पद पर आसीन था । मन्दिर-स्थापत्य का यह चित्रण भारतीय तक्षण-कला के अभ्युदय का श्रीगणेश ही नही भास्वान् भास्कर भी था । अत समरागण के ये बीस प्रासाद (देखिए मेर्वादिविंशिका, अध्याय ५७) विशिष्ट नागर शैली के नमूने के रूप मे माने जा सकते है । विशुद्ध नागर प्रासादो तथा इन विशिष्ट प्रासादो की सख्या तो एक है परन्तु सज्ञा में कुछ हेरफेर भी है—निम्न तालिका से यह स्पष्ट है —

विशिष्ट नागर-प्रासाद

१—मेरु	६—क्षितिभूषण	११—मुक्तकोण	१६—वर्धमान
२—मन्दर	७—सर्वतोभद्र	१२—श्रीवत्स	१७—गज
३—कैलास	८—विमान	१३—हस	१८—सिंह
४—त्रिविष्टप	९—नन्दन	१४—रुचक	१९—पद्मक
५—पृथिवीजय	१०—स्वस्तिक	१५—वर्धमान	२०—नन्दिवर्धन

टिप्पणी —ये प्रासाद सर्वदेव-साधारण सकीर्तित है—देखिए ५७वे अध्याय के अन्तिम श्लोक का संकेत—"सकलनाकसदामभीष्टा ।" इन बीस प्रासादो तथा पूर्वोक्त विंशिका मे षडस्रादि प्रासादो के अनुल्लेख का ही भेद है, अन्य सब नाम समान है ।

इन प्रासादो को हमने विशिष्ट नागर शैली के नमूने माना है । हमने यह भी सकेत किया है कि मध्यकालीन प्रासाद-कला मे शैलियो का, विशेष कर नागर एव द्राविड

का पारस्परिक आदान-प्रदान भी पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त हो चुका था। ग्रन्थ इस तथ्य का स्वय समर्थन करता है। समरागणसूत्र मे क्षितिभूषण के वर्णन मे स्पष्ट आदेश है कि इस प्रासाद की निवेश-प्रक्रिया का आधार नागर ही नही द्राविड या वैराट जिस किसी भी शैली मे अभीष्ट हो सकता है।

नागरी मालव-शैली

महाकालेश्वर भूतभावन भगवान् शकर के पुण्य मालवप्रदेश के सान्निध्य में प्रोल्लसित प्रख्यात राजधानी धारा के महाराज शिवभक्त भोजदेव के समय मे नागर शैली की एक अवान्तर शैली का जन्म ही नही विकास भी हो चुका था। इसे हम मालव-शैली का नाम दे सकते हैं। इस शैली मे प्रासादो की रचना मे विमान आकृति का विशेष प्राधान्य था —

विमानमय वक्ष्यामः प्रासाद शम्भुवल्लभम्।
स्वर्गपातालमर्त्यानां त्रयाणामपि भूषणम्॥ १॥
सर्वेषां गृहवास्तूनां प्रासादानां च सर्वतः।
प्रासादो मूलभूतोऽयं तथा च परिकर्मणाम्॥ २॥

महाकालेश्वर-मन्दिर की निवेश-प्रक्रिया की ओर यदि वास्तु-विद विद्वान् लोग तथा कला-समालोचक ध्यान दे तो इस कथन की सत्यता का मूल्याकन कर सकते हैं। अथच इस मालव-शैली मे प्रासादो का विभाजन देवानुरूप होता था। विष्णुधर्मोत्तर पु० का समय विद्वानो ने आठवीं शताब्दी के आस-पास माना है (देखिए तारापद)। उसी परम्परा के अनुगामी समरागणसूत्रधार ने ५८वे तथा ५६वे अध्याय मे देवस्तवनपुरस्सर विभिन्न देवानुरूप प्रासाद वर्गो का वर्णन किया है। प्रासाद-वास्तु के विकास मे देवानुरूप लक्षणों का चित्रण प्राय सभी मन्दिरो मे देखा जाता है। श्रीमती स्टेला ने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' मे इसी तथ्य की ओर निम्न शब्दो मे निर्देश किया है —

"Whatever the destination of the Temple, Sava, Vaisnava, it had originally its bearing on the architectural form. The symbol or an image in the centre the images on the walls of the Prasada and the symbol fixed on the fineal of the Sikhara show the particular divinity to whom the temple is dedicated".

इस नागरी मालव-शैली के देवानुरूप प्रासादो की निम्न तालिका दर्शनीय है। इनकी सख्या ६४ है। शिव आदि आठ प्रमुख देवो के ८—८ प्रिय प्रासादो का उल्लेख है। यहाँ पर यह सकेत समझ लेना चाहिए कि ये ६४ प्रासाद मालव-शैली के विकास की प्रभानवेला के प्रदर्शक है। आगे हम इसके उत्कर्ष-प्रोल्लासक प्रासादो को देखेंगे —

मालव शैली के प्रासाद

शंकर के	ब्रह्मा के प्रिय	चण्डिका के	लक्ष्मी के
८ प्रासाद	८ प्रासाद	८ प्रासाद	८ प्रासाद
१—विमान	१—मेरु	१—नन्द्यावर्त	१—महापद्म
२—सर्वतोभद्र	२—मन्दर	२—जलाम	२—हर्म्य
३—गजपृष्ठ	३—कैलास	३—सुपर्ण	३—उज्जयन्त
४—पद्मक	४—हस	४—सिंह	४—गन्धमादन
५—वृषभ	५—भद्र	५—विचित्र	५—शतशृंग
६—मुक्तकोण	६—उन्नुग	६—योगपीठ	६—अनवद्यक
७—नलिन	७—मिश्रक	७—घण्टानाद	७—सुविभ्रान्त
८—द्राविड	८—मालाधर	८—पताकी	८—मनोहारी
विष्णु के	सूर्य के	गणेश के	सर्वदेवसाधारण
८ प्रासाद	८ प्रासाद	८ प्रासाद	८ प्रासाद
१—गरुड	१—गवय	१—गुहाधर	१—वृत्त
२—वर्धमान	२—चित्रकूट	२—शालाक	२—वृत्तायत
३—शंखावर्त	३—किरण	३—वेणुभद्र	३—चैत्य
४—पुष्पक	४—सर्वसुन्दर	४—कुजर	४—किंकिणी
५—गृहराट्	५—श्रीवत्स	५—हर्ष	५—लयन
६—स्वस्तिक	६—पद्मनाभ	६—विजय	६—पट्टिश
७—रुचक	७—वैराज	७—उदकुम्भ	७—विभव
८—पुण्ड्रवर्धन	८—वृत्त	८—मोदक	८—तारागण

उत्कृष्ट मालव-शैली

समरांगण के ५८ वें तथा ५६ वें अध्यायों में वर्णित चौंसठ प्रासादों के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। उन प्रासादों को लेखक ने मालव-शैली का निदर्शन माना है। इसी प्रकार ५७वें अध्याय में ही २० उत्कृष्ट नागर-प्रासादों के पहले ५० श्रीधर तथा नन्द आदि प्रासादों का वर्णन है। अतः प्रश्न है कि ये प्रासाद किस शैली अथवा किस वर्ग में आपतित होंगे। लेखक की समझ में इन्हें उत्कृष्ट मालव-शैली का निदर्शन मानना चाहिए। वास्तुतत्त्व की अतिरंजना एवं बहुलता के कारण प्रासादों का वही देवानुरूप वर्गीकरण (जो ६४ प्रासादों में पूर्व प्रदर्शित है) इन प्रासादों में भी प्रत्यक्ष है। निम्न तालिका दर्शनीय है —

क देवानुरूपी प्रासाद

भगवती के प्रिय प्रासाद (९)

१–श्रीघर
२–हेमकूट
३–सुभद्र
४–रिपुकेसरी
५–पुष्प
६–विजयभद्र
७–श्रीनिवास
८–सुदर्शन
९–कुसुमशेखर

शंकर के प्रिय प्रासाद (६)

१०–सुरसुन्दर
११–नन्द्यावर्त
१२–पूर्ण
१३–सिद्धार्थ
१४–शङ्खवर्धक
१५–त्रैलोक्यभूषण

ब्रह्मा के प्रिय प्रासाद (५)

१६–पद्म
१७–पक्षबाहु
१८–विशाल
१९–कमलद्रव
२०–हंसध्वज

विष्णु के प्रिय प्रासाद (२०)

२१–लक्ष्मीधर
२२–महावज्र
२३–रतितनु
२४–सिद्धकाम
२५–पचचामर
२६–नन्दिघोष
२७–अनुकीर्ण
२८–सुप्रभ
२९–सुरानन्द
३०–हर्षण
३१–दुर्धर
३२–दुर्जय
३३–त्रिकूट
३४–नवशेखर
३५–पुण्डरीक
३६–सुनाम
३७–महेन्द्र
३८–शिखिशेखर
३९–बराट
४०–सुमुख

ख मिश्रक प्रासाद

४१–नन्द
४२–महाघोष
४३–वृद्धिराम
४४–वसुन्धर
४५–मुगक
४६–बृहच्छाल
४७–सुधाधर
४८–संवर
४९–शाकुनिभ
५०–सर्वांगसुन्दर

टि०—ये १० प्रासाद (४१–५०) मिश्रक प्रासाद के रूप में परिगणित किये गये है। मिश्रक का तात्पर्य सम्भवत सर्वदेव-साधारण प्रासादो से नहीं वरन् शैली-मिश्रण से है। म० सू० ५७.६—"मिश्रकास्तु दश प्रोक्ताः मिश्र कर्मप्रभेदत" के इस प्रवचन से यह आशय समर्थित होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्रासाद-विवरणो मे द्राविड तथा वराट, विभिन्न शैल्यनुरूप मजरियो का यत्र-तत्र उल्लेख है—

द्राविडैश्च वराटैश्च प्रकुर्वीतास्य मंजरीम्। ५७.३८९

इससे भी यह कथन सगत होता है।

इन प्रासादो के विषय मे यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि इन का वर्णन ऊपर मालव-शैली के निदर्शन स्वरूप चौसठ प्रासादो के प्रथम ग्रन्थकार ने किया है तथापि इन्हे मालव-शैली के प्रथम निदर्शन नही माना जा सकता। इनके वर्णन एवं विवरणो की उत्कृष्टता एव अलकार-बहुलता का जो इतना व्यापक एव विपुल विस्तार है उससे इनका परवर्तित्व (जो विकास-जन्य ही हो सकता है) स्वत सिद्ध है। अतएव इन्हे हम मालव-शैली के उत्कृष्ट प्रासादो के रूप मे ग्रहण करेंगे।

नागर शैली तथा उसकी अवान्तर शैलियों और उनके विभिन्न वर्गों के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विवेचन हो चुका। अब क्रमप्राप्त मेर्वादि षोडश प्रासादो (जिनका वर्णन ५५ वे अध्याय में मिलता है तथा जिनको लेखक ने नागर-भेद ही माना है) के सम्बन्ध की कुछ समीक्षा अभीष्ट है। नागर शैली के परम्परागत जिन विशुद्ध बीस प्रासादो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है उन प्रासादो तथा इन १६ प्रासादो मे थोड़ा सा ही अन्तर है। सर्वप्रथम इनकी सज्ञाएँ द्रष्टव्य हैं—

१–मेरु	५–नन्दन	९–हस	१३–गज
२–कैलास	६–स्वस्तिक	१०–रुचक	१४–सिंह
३–सर्वतोभद्र	७–मुक्तकोण	११–वर्धमान	१५–पद्म
४–विमानच्छन्द	८–श्रीवत्स	१२–गरुड	१६–वलभी

इन प्रासादो मे १–मेरु, २–कैलास, ३–सर्वतोभद्र, ४–विमानच्छन्द, ५–नन्दन, ६–हंस, ७–गरुड, ८–गज, ९–सिंह, १०–पद्म ये दस प्रासाद विशुद्ध नागर-प्रासादों के समान हैं तथा १–स्वस्तिक, २–मुक्तकोण, ३–श्रीवत्स, ४–रुचक, ५–वर्धमान, ६–वलभी नये है।

अत. इन प्रासादो की शैली मिश्रित निर्विवाद है। तथापि लेखक के मत में इन प्रासादो को नागर-शैली के पराचीनतम निदर्शन (लेटेस्ट टाइप्स) मान सकते है। अर्थात्—

१—नागर शैली के २० प्रभेद—विशुद्ध नागर–जन्म

२—नागर शैली के २० प्रभेद—उत्कृष्ट नागर–विकास

३—नागर शैली के १०+६=१६ प्रभेद—पराचीनतम नागर–ह्रास

इन प्रासादो में न तो आकृत्यनुरूप चतुरस्र, अष्टास्र, षोडशास्र आदि सज्ञा है और न इनकी निवेश-पद्धति मे देवानुरूप उत्सर्ग। ईसा की छठी शताब्दी के लगभग जो विशिष्ट देवतावाद जनमा उसी के अनुरूप प्रासाद-प्रतिष्ठा में विशिष्ट-देवतानुकीर्तन अनिवार्य अग हो गया, परन्तु कालान्तर मे पचायतन की सहिष्णु एव उदार प्रवृत्ति ने यह कट्टरता समाप्त कर दी। यह सम्भवत मध्यकालीन प्रेरणा थी। इन प्रासादो के निवेश मे प्राय सभी प्रमुख देवो के यथास्थान विनिवेश का विनियोग भी है जो इस कथन की पुष्टि करता है और प्राचीन नागर की विशिष्टता भी बनाये रखता है।

इन प्रासादों के सम्बन्ध में एक विशेष उल्लेख्य यह हे कि मेरु आदि षोडश प्रासादो ने भी कालान्तर पाकर ६४ प्रासादो का वृहत् कलेवर धारण किया। पाठक तुलनात्मक दृष्टि से देखे तो पता चलेगा कि ये प्रासाद प्राय सभी अविकल उन विमानादि चौसठ प्रासादो के विशाल वर्ग में विकसित है। अत नागर शैली की अवान्तर मालव शैली की विकास-परम्परा मे ये मेरु आदि १६ प्रासाद न्यूक्लियस निर्माण करते है। इसी तथ्य के पोषण मे दूसरा प्रमाण (जिसकी ओर पाठको का ध्यान अभी आकर्षित किया गया है, यह है कि इन मेरु आदि षोडश प्रासादो की रचना सर्वाश मे देव विशेष के अधीन नही होती थी। इस तथ्य का पोषण समरांगण (देखिए अध्याय ५२.१०५-८) मे है। केवल कैलास, गरुड, पद्म, द्विप इन चार प्रासादो की ही देवप्रियता (महेश्वर का कैलास, विष्णु का गरुड, ब्रह्मा का पद्म तथा गणेश का द्विप) अथवा देव-नियन्त्रण अभीष्ट है, अन्य सब सर्वसाधारण सकीर्तित है। अत विकासक्रम की कसौटी मे आगे चलकर जो ६४ प्रासाद देवानुरूप वर्णित है वह ठीक ही है।

भारतीय पुरातन एव नवीन दोनो प्रकार के निर्मित प्रासादो को देखने से ज्ञात होता है कि एक प्रासाद-विशेष एक देव-विशेष की प्रतिष्ठार्थ निर्मित किया गया है, तथापि उस प्रासाद की भित्तियो मे ही अथवा अभ्यन्तर प्रदेश मे अथवा प्रासाद के विभिन्न कोणों पर ही सही अन्य देवो की प्रतिमाओ का भी सन्निवेश दृष्टिगोचर होता है। इस तथ्य का इस ग्रन्थ मे पूर्ण सकेत है जो आगे चलकर पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ —

आदित्यं पूर्वतो न्यस्येत् कुमारं पूर्वदक्षिणे।
दक्षिणे मातृदेवांस्तु गजास्यं दक्षिणोपरि ॥
विन्यसेद् वारुणे गौरीं वायव्येपि च चण्डिकाम्।
विष्णुं कुबेरदिग्भागे तथैशान्यां महेश्वरम् ॥

दानवानां निहन्तारं पूर्वस्यामपि वासवम् ।
वैश्वानरं तथाग्नेय्यां धर्मराजं च दक्षिणे ॥
नैर्ऋत्यां निर्ऋतिं न्यस्येत् प्रतीच्यां तु प्रचेतसम् ।
वायुं वायव्यदिग्भागे कुबेरमपि चोत्तरे ॥
अष्टौ ह्येते महात्मानो लोकपालाः प्रकीर्तिताः ।
पालयन्ति जगत् सर्वं स्वस्वस्थाने प्रतिष्ठिताः ॥

अर्थात् प्रासाद के पूर्व मे भगवान् अशुमाली दिवाकर की स्थापना करनी चाहिए। पूर्वदक्षिण दिशा मे कुमार स्वामिकार्तिक की स्थापना करनी चाहिए। दक्षिण दिशा मे मातृदेवों का न्यास करना चाहिए, दक्षिणोपरि गणेश का। वारुणी दिक् पश्चिम में गौरी तथा वायव्यकोण मे चण्डिका का न्यास उचित है। कौबेरी दिशा उत्तर मे भगवान् विष्णु की स्थापना करनी चाहिए तथा ईशान कोण मे महेश्वर शकर का निवेश बताया गया है। इसके अनन्तर अन्य देवो का न्यासक्रम बताया गया है—ऐशानी दिशा मे लोकनायक ईशान की तथा पूर्व मे दैत्यारि इन्द्र की स्थापना उचित है। आग्नेय कोण मे वैश्वानर अग्नि, दक्षिण मे धर्मराज, नैर्ऋत्य कोण मे भगवान् निर्ऋति की तथा प्रतीची मे प्रचेता भगवान् वरुण की स्थापना करनी चाहिए। वायव्य कोण मे वायु तथा उत्तर मे कुबेर की न्यास-प्रक्रिया प्रतिपादित है। ये आठ महात्मा लोकपाल नाम से प्रख्यात है। ये सम्पूर्ण जगत का परिपालन करते है अत सत्य, शिव, सुन्दरं के प्रतीक हिन्दू-प्रासाद की पूर्ण अभिव्यक्ति चरितार्थ करने के लिए इस प्रकार की देव-योजना आवश्यक है।

परवर्ती नागर-प्रासाद

अस्तु, इन प्रासादो के दिग्दर्शन के उपरान्त अब क्रमप्राप्त लाट-प्रासादों का वर्णन होना चाहिए परन्तु अभी नागर वाटिका के कुछ सुमनो की छटा देखनी है। समरागण के प्रासाद-वर्णन मे केवल दो ही अध्यायो मे नागर शब्द का निर्देश है—"मेर्वादिविंशिकानागरप्रासादलक्षण नाम त्रिपष्टितमोऽध्याय" का उल्लेख हम कर ही चुके है। परन्तु "श्रीकूटादिषट्त्रिंशत्प्रासादलक्षण नाम" ६०वे अध्याय के प्रथम ही श्लोक मे नागर शब्द आया है।

इन प्रासादों की विशेषता (जिसका ज्ञान ग्रन्थ-परिशीलन से विद्वान् पाठक एव समीक्षक कर सकते है) यह है कि जहाँ प्रथम नागर-प्रभेदो मे शिखरादि सयोजना के वास्तु-वैशिष्ट्य की ओर ग्रन्थकार ने ध्यान आकर्षित कर उन प्रासादो की विशेषता बतायी है वही दूसरे नागर-प्रभेदो की उत्कृष्टता-अतिरजना आदि की ओर लेखक ने पहले ही निर्देश किया है। अन्य अवान्तर प्रभेदो के देवादि-विनियोग पर भी दृष्टिपात किया

जा चुका है। आर्यावर्त तथा दक्षिणापथ—इन दोनो महाजनपदो मे परस्पर सम्पर्क निश्चय ही स्थापित हो चुका था, अत द्राविड प्रासादो की विशेषता उस समय तक यह हो गयी थी कि प्रत्येक द्राविड प्रासाद मे प्रासाद-मण्डप उस प्रासाद का एक अभिन्न अग समझा जाता था। अत दक्षिणापथ मे जो प्रासाद निर्मित होते थे उनके मण्डप अवश्य उन्ही के अनुरूप निर्मित होते थे। दाक्षिणात्य वास्तु-विद्या के प्राय सभी ग्रन्थो मे (मयमत, मानसार, शिल्परत्न आदि मे) जो प्रासाद अथवा विमानो का वर्णन है—उसमे मण्डप, सन्निवेश वर्णन एक अनिवार्य अग है।

उत्तरापथ के देवमन्दिरो मे पुरातन व्यवस्था मण्डप-सन्निवेश की नही थी—यह प्राचीन निदर्शनो से भी ज्ञात होता है। अत जैसा सकेत किया गया है कि समरांगण के समय तक दोनो परम्पराओ का पारस्परिक आदान-प्रदान अवश्य स्थापित हो चुका था, अत ये श्रीकूटादि प्रासाद द्राविड शैली से प्रभावित नागर शैली के कहलाये। अत. इनकी सज्ञा हम परवर्ती नागर-प्रासाद दे सकते है। अस्तु, प्रथम हम इनकी तालिका को देखे —

(१) श्रीकूटादि षट्क	(३) सौभाग्य षट्क	(५) चित्रकूट षट्क
१—श्रीकूट	१३—सौभाग्य	२५—चित्रकूट
२—श्रीमुख	१४—विभग	२६—विमल
३—श्रीधर	१५—विभव	२७—हर्षण
४—वदर (वरद)	१६—बीभत्सक	२८—भद्रसकीर्ण
५—प्रियदर्शन	१७—श्रीतुग	२९—भद्रविशाल
६—कुलनन्दन	१८—मानतुग	३०—भद्रविष्कम्भ
(२) अन्तरिक्ष षट्क	(४) सर्वतोभद्र षट्क	(६) उज्जयन्त षट्क
७—अन्तरिक्ष	१९—सर्वतोभद्र	३१—उज्जयन्त
८—पुष्पभास	२०—बाह्योदर	३२—सुमेरु
९—विशाल	२१—निर्य्होदर	३३—मन्दर
१०—सकीर्ण	२२—समोदर	३४—कैलास
११—महानन्द	२३—नन्दिभद्र	३५—कुम्भक
१२—नन्द्यावर्त	२४—भद्रकोश	३६—गृहराज

नागर-शैली के विशुद्ध, प्राचीन तथा उत्कृष्ट पूर्ववर्ती प्रासादो के साथ-साथ नागर-जन्य अन्य अवान्तर शैलियो तथा परवर्ती नागर-प्रासादो के अनुरूप सभी नागर-परिवार के प्रासादो का ऊपर हम कुछ न कुछ विवेचन कर चुके, अब क्रमप्राप्त लाट-प्रासादो की समीक्षा करनी है।

लाट-शैली

नागर-शैली के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है कि इसका विस्तार एवं प्रसार तथा प्रभाव भारत के एक बडे भूभाग पर था, तथा यह भी निर्देश किया जा चुका है कि इस विशाल भूभाग में नागर-शैली की ही छत्रछाया मे विभिन्न वास्तु-कला-केन्द्रो मे विशिष्ट-विशिष्ट अवान्तर शैलियो का प्रादुर्भाव हुआ। इन अवान्तर शैलियो मे लाट-शैली सबसे अधिक विकसित एव वृद्धिगत हुई—यह लेखक की धारणा है।

लाट शब्द का तात्पर्य भौगोलिक दृष्टि से गुर्जर प्रदेश है। प्राचीन तथा पराचीन दोनों ही समयों मे गुर्जर प्रदेश वास्तु-कला-कोविदो का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। स्थापत्य तथा अन्य कलाओ मे गुर्जरो की गरिमा के निदर्शन भारतीय सभ्यता एव संस्कृति के भव्य चित्रण है। गुर्जरो ने प्रासादो के निर्माण मे बडी कीर्ति प्राप्त की यह विद्वान् ऐतिहासिको तथा संस्कृति समीक्षको से अविदित नही है। महाराज भोजदेव की नगरी धारा (मालव) गुर्जर प्रदेश के निकट ही है। गुर्जर प्रदेश मे पल्लवित, विकसित तथा वृद्धिगत लाट-शैली का प्रभाव मालव-शैली पर भी पडा, इस पर संकेत हम आगे करेंगे।

लाट-प्रासादो का प्रथम संकेत हमे अग्निपुराण (देखिए १०४वाँ अध्याय, श्लोक २२) मे प्राप्त होता है। अग्नि पुराण मे विमानाकार पाँच आकृतियो के अनुरूप जिन नवसंख्यक पाँच विमान-प्रासाद वर्गों का वर्णन है (कुल ४५) उनके सम्बन्ध मे संकेत किया गया है कि ये नागर तथा लाट दोनो ही प्रासाद है। अर्थात् ये प्रासाद परम्परागत प्राचीन नागर-शैली मे लाट प्रदेश या गुर्जर प्रदेश के वास्तु-कला क्षेत्र मे निर्मित एवं प्रचलित होने के कारण लाट-प्रासाद कहे जाने चाहिए। अग्नि पुराण के साथ-साथ गरुड पुराण मे भी इन पैतालीस प्रासादो का वर्णन है। अग्नि पुराण का समय विद्वानो ने (शास्त्री, काणे आदि ने) ईसवीय शतक की आठवी तथा नवी शताब्दी माना है। समरागण का समय ११वी शताब्दी है—यह हम लिख ही चुके है। अत आकृत्यनुरूप प्रासादो के नौ संख्या वाले जो पाँच वर्ग प्रसिद्ध थे वे ही समरागण के समय में आकर ६४ प्रभेदो मे परिणत हो गये, जिनका उल्लेख आगे तालिका मे किया जायगा। परन्तु इस ओर, एक तथ्य की ओर, पुन ध्यान देना है, वह यह कि इन प्रासादो का विभाजन-आधार चौकोर, गोल, आयत, वृत्तायत तथा अष्टास्र आकारो का है। पीछे मेर्वादि षोडश प्रासादो मे आकृति वाले नागर-प्रासादो के प्रभेद न होने के कारण सम्भवत. उनके वे ही जनक हुए।

दूसरा निर्देश यहाँ पर यह करना है कि अग्निपुराणीय ४५ लाट प्रासादो का समरागण के काल तक दो रूपों मे विकास हुआ—एक तो प्रासाद-सभाएँ (टेम्पुल हाल्स अर्थात् फ्लैटरूफ्ड) तथा दूसरे शिखरादि सुपरस्ट्रक्चर से सुसज्जित प्रासाद विशेष।

दोनो के ही ६४—६४ भेद समरागण के 'रुचकादि प्रासाद लक्षण' नामक ४९वे तथा 'रुचकादि चतुष्षष्टि प्रासाद' नामक ५६वे अध्याय मे पूर्ण प्रोल्लास दृष्टिगोचर होते हैं।

अस्तु, समरांगण के इन द्विविध लाट-प्रासादो की समीक्षा के पूर्व अग्नि-पुराण तथा गरुड पुराण मे वर्णित लाट-प्रासादो के ४५ विभेदो का अवलोकन करे —

ब्रह्मा के वैराजसंभूत ९ चतुरस्र प्रासाद	कुबेर के पुष्पकसंभूत ९ आयतास्र प्रासाद	शिव के कैलाससंभूत ९ वृत्त प्रासाद	वरुण के मणिकसंभूत ९ वृत्तायत प्रासाद
१—मेरु	१—वलभि	१—वलय	१—गज
२—मन्दर	२—गृहराज	२—दुन्दुभि	२—वृषभ
३—विमान	३—मन्दिर	३—पद्म	३—हंस
४—नन्दिवर्धन	४—ब्रह्ममन्दिर	४—महापद्म	४—गरुड
५—नन्दन	५—भुवन	५—वर्धनि	५—ऋक्षनायक
६—भद्रक	६—प्रभव	६—उष्णीष	६—भूमुख
७—सर्वतोभद्र	७—शिविका	७—शख	७—भूधर
८—रुचक	८—शाला	८—कलश	८—श्रीजय
९—श्रीवत्स	९—विशाल	९—श्रीवृक्ष	९—पृथ्वीधर

इन्द्र के त्रिविष्टपोद्भूत ९ अष्टास्र प्रासाद

१—वज्र	४—वज्रस्वस्तिक	७—गदा
२—चक्र	५—चक्रस्वस्तिक	८—श्रीकंठ
३—स्वस्तिक (मुष्टिक)	६—खड्ग	९—विजय

अग्नि पुराण मे प्रतिपादित इन प्रासादो की कला मे जहा अत्यन्त प्रौढ विकास-तत्त्वों—शिखर, कण्ठ तथा आमलसारक आदि सभी का सन्निवेश है वहाँ समरागण के रुचकादि प्रासादो (देखिए ४९वाँ अध्याय) मे शिखर आदि वास्तु-तत्त्वो का अभाव है। छाद्य प्रासादो की ओर लेखक ने प्रासाद-वास्तु के विकास मे सकेत किया है। अत इन रुचकादि प्रासादो को हम छाद्य प्रासादो (फ्लैटरूफड, हाल टेम्पुल्स) का निदर्शन मानते हैं। अत लेखक का यह निष्कर्ष अनुचित अथवा कपोलकल्पित नही माना जायगा कि समरागण के ये प्रासाद लाट-प्रासादो की प्रथम विकास-परम्परा के निदर्शन हैं, जिनका समय अग्निपुराण से भी काफी पूर्ववर्ती होना चाहिए। पुराण आदि ग्रन्थ वास्तु-विद्या के तो ग्रन्थ हैं नही—उनमे सभी प्रकार की शैलियो तथा उनके निदर्शन कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? समरागण-सूत्रधार को हमने उत्तरापथीय वास्तु-विद्या (नागर-स्कूल) का प्रतिनिधि एव प्रौढ ग्रन्थ माना है—अत इसमे सभी वास्तु-शैलियो तथा वास्तु-

परम्पराओ का सकेत होना चाहिए। इसलिए लाट-शैली के जिन दो विकासो की ओर अभी हम निर्देश कर आये है उनमे प्रथम वर्ग को पूर्ववर्ती तथा दूसरे वर्ग को उत्तरवर्ती के नाम से पुकारेंगे —

लाट-प्रासाद

पूर्ववर्ती रुचकादि ६४ प्रासाद | **उत्तरवर्ती रुचकादि ६४ प्रासाद**

चतुरस्र वैराज विमान-प्रभव प्रभेद २४

१–रुचक	१३–भूजय
२–चित्रकूट	१४–विजय
३–सिहपजर	१५–नन्दी
४–भद्र	१६–श्रीतरु
५–श्रीकूट	१७–प्रमदाप्रिय
६–उष्णीष	१८–व्यामिश्र
७–शाला	१९–हस्तिजातीय
८–गजयूथप	२०–कुबेर
९–नन्द्यावर्त	२१–वसुधाधर
१०–अवतम	२२–सर्वभद्र
११–स्वस्तिक	२३–विमान
१२–क्षितिभूषण	२४–मुक्तकोण

वृत्ताकार कैलास-विमान-प्रभव प्रभेद १०

१–वलय	६–चतुर्मुख
२–दुन्दुभि	७–मण्डूक
३–भ्रान्त	८–कूर्म
४–पद्म	९–तालीगृह
५–कान्त	१०–उलूपिक

चतुरस्रायत पुष्पक-विमान-प्रभव प्रभेद १०

१–भव	६–मुखशाल
२–विशाल	७–द्विशाल
३–साम्मुख्य	८–गृहराज

ललित प्रासाद के आकृत्यनुरूप २५ पंचवर्ग

(क) रुचकादि चतुरस्र प्रासाद १८

१–रुचक	१०–अद्रिकूट
२–भद्रक	११–श्रीवत्स
३–हम्र	१२–त्रिकूटक
४–हसोद्भव	१३–मुक्तकोण
५–प्रतिहम	१४–गज
६–नन्द	१५–गरुड
७–नन्द्यावर्त	१६–सिह
८–धराधर	१७–अवतम
९–वर्धमान	१८–विभव

(ख) चतुरस्र आयताकार
भव तथा विभव (ऐच्छिक)

(ग) वृत्ताकार प्रासाद
१९–पद्म
२०–मालाधर

(घ) वृत्तायत
२१–मलय
२२–मकर

(ङ) अष्टास्र
२३–वज्रक
२४–स्वस्तिक

४–प्रभव	९–अमल
५–शिविर गृह	१०–विभ्रम

वृत्तायत मणिक-विमान-प्रभव प्रभेद १०

१–आमोद	६–भूति
२–गैतिक	७–निषेधक
३–तुग	८–सदानिषेध
४–चक्षि	९–सिंह तथा
५–सुप्रभ	१०–लोचनोत्सव

अष्टास्र त्रिविष्टप-विमान-प्रभव प्रभेद १०

१–वज्रक	६–वामन
२–नन्दन	७–लय
३–शकु	८–महापद्म
४–मेखल	९–व्याम
५–हम	१०–चन्द्रोदय

२५–शकु

मिश्रक प्रासाद ९

१–सुभद्र	५–चित्रकूट
२–मोटिक	६–धराधर
३–सर्वतोभद्र	७–तिलक
४–सिंहकेसरी	८–स्वतिलक

९–सर्वांगसुन्दर

सान्धारक प्रासाद २५

१–केसरी	१३–इन्द्रनील
२–सर्वतोभद्र	१४–महानील
३–नन्दन	१५–भूधर
४–नन्दिशालक	१६–रत्नकूटक
५–नन्दीश	१७–वैडूर्य
६–मन्दिर	१८–पद्मराज
७–श्रीवृक्ष	१९–वज्रक
८–अमृतोद्भव	२०–मुक्तकोल्कट
९–हिमवान	२१–ऐरावत
१०–हेमकूट	२२–गरुड
११–कैलास	२३–राजहंस
१२–पृथिवीजय	२४–वृषभ

२५–मेरु

लतादि निगूढ प्रासाद ५

१–लता	३–पचवक्त्र
२–त्रिपुष्कर	४–चतुर्मुख

५–नवात्मक

लेखक ने सकेत रूप मे लाट-प्रासादो के विविध स्वरूपो की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया। लाट-प्रासादो के पूर्ववर्ती वर्ग, जिनका कि स० सू० के ४९वे अध्याय में अग्नि पुराण के आनुषंगिक पचविमानीय वर्गानुरूप तथा चतुरस्रादि आकृत्यनुरूप विवरण है, उनके प्रभेदो मे ही लाट-प्रासादो के परवर्ती वर्गवाले रुचकादि ६४ प्रासाद (स० सू० ५६वाँ अध्याय) निहित हैं।

हमें इस धारणा (थीसिस) के प्रमाणनार्थ कुछ अधिक विवेचन करना होगा। परन्तु इसके प्रथम कि हम इन परवर्ती प्रासादों की समीक्षा करे—प्रथम क्रमानुसार पूर्ववर्ती लाट-प्रासादो के सम्बन्ध मे थोड़ा-सा विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

सर्वप्रथम हम पाठको को अग्निपुराण में प्रतिपादित इन्ही वर्गों के प्रासादों की ओर दृष्टि डालने के लिए सकेत करते है। जहाँ तक प्रासाद-नामावली का सम्बन्ध है वह समान नहीं है। हाँ, आकृति तथा निवेश एवं आधार एक ही है। अग्निपुराण में चतुरस्रादि सभी आकृतियों के प्रासादो की सख्या नौ थी, यहाँ समरागण के समय मे आकर चतुरस्राकार प्रासाद नौ से चौबीस हो गये। इसके अतिरिक्त कुछ प्रासाद —जैसे हम आदि अग्निपुराण मे वृत्तायत बताये गये है, वे समरागण के अष्टास्र प्रासादो मे परिगणित हुए है। इसी प्रकार महापद्म अग्निपुराण मे वर्तुल एव समरांगण मे अष्टास्र हो गया है। मेरु जो अग्निपुराण का मुकुटमणि—मूर्धन्य प्रासाद है उसे समरागण ने परवर्ती लाट-प्रासादो के मुकुटमणि रूप के लिए सुरक्षित रखा। स० सू० ने मेरु का प्रासाद-राज नाम से बखान किया है ("मेरु. प्रासादराट् स्मृत." ५६.३४) और वह समरांगण की इस लाट-तालिका मे नही है। एक शब्द मे अग्निपुराण मे प्रतिपादित इन ४५ लाट-प्रासादो तथा समरागणीय समकक्षीय ६४ प्रासादो, दोनो मे बहुत कुछ साम्य है—उपर्युक्त भेद स्थूल भेद है। दोनो ही तालिकाओ का जन्म प्रख्यात वैराजादि पंच विमानो से हुआ। आकृति भी समान है।

लाट-प्रासादो के उत्तरवर्ती रूपो के विकास तथा विशेषताओ के सम्बन्ध मे विवेचन के लिए दो बार सकेत किया जा चुका है। अब उनके सम्बन्ध मे यहाँ क्रमप्राप्त समीक्षा का अवसर आ गया है। स० सू० के ५२वे अध्याय मे प्रासाद-जाति पर बडा सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लाट-प्रासादो मे वैराज जाति (चतुरस्राकार) ही सर्वश्रेष्ठ है। यही वैराज समरांगणीय लाट-प्रासाद-वाटिका का अश्वत्थ है। पुन प्रासाद की इस प्रथम जाति से विभिन्न जातीय प्रासादो का आविर्भाव हुआ। परन्तु उन सबके सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जो समरागणीय प्रवचन है उसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। परमोत्तम ब्रह्मजाति-निवेश्य इन शिखरोत्तम प्रासादों का सकेत स० सू० के ५२वे अध्याय में निम्न है —

१—रुचक	५—सर्वतोभद्र
२—वर्धमानक	६—मुक्तकोणक
३—अवतस	७—मेरु
४—भद्र	८—मन्दर

इन्हे वैराज कुल से उत्पन्न बताया गया है। इनकी वास्तु-तत्त्वात्मक प्रमुख विशेता है "शिखरोत्तम"।

यह हम प्रथम ही देख चुके हैं कि पूर्व लाट-प्रासाद-वर्ग प्रायः सभी "हाल टेम्पुल्स, फ्लैटरूफड टेम्पुल्स" के रूप में निर्मित बताये गये हैं। परन्तु यहाँ पर चतुरस्राकार वैराज प्रासाद से इन आठ शिखरोत्तम प्रासादों का जन्म बताया गया है। समरांगण के इस प्रवचन में ५६वें अध्याय में प्रतिपादित रुचकादि ६४ प्रासादों के विकास-बीज विद्यमान हैं। पाठक देखें—वैराज-सम्भूत इन शिखरोत्तम आठ प्रासादों में पाँच प्रासाद—रुचक, भद्र, सर्वतोभद्र, अवतंस तथा मुक्तकोण—का उल्लेख चतुरस्राकार वैराज-प्रभव प्रासादों में है ही, जिनके निवेश तथा जिनकी छाद्य प्रक्रिया फ्लैटरूफड तथा हाल टेम्पुल्स के रूप में विहित है, उन्हीं पर शिखरसयोजना (सुपरस्ट्रक्चर) आगे के विकास का निदर्शन है। अथच यही शिखर-विनियोग आदि सम्बन्धी वैशिष्ट्य लाट-प्रासादों के उत्तरवर्ती वर्गों में प्राप्त होता है अत उन्हें भी लाट-प्रभेद मानना चाहिए—इसी थीसिस की ओर हमें विशेष ध्यान दिलाना अभीष्ट था।

अपिच समरांगण स्वयं इस कथन की पूर्ण पुष्टि करता है, लाट-प्रासादों के उत्तरवर्ती ६४ प्रभेदों की अवतारणा करते समय उसमें कहा गया है—

"अब मैं शिखरोत्तम रुचकादि ६४ प्रासादों का वर्णन करूँगा। जिन पाँच विमानों का वर्णन मैंने पहले (४९वें अध्याय में) किया है उन्हीं विमानों की आकृति लिये हुए इन ६४ प्रासादों में प्रथम पचीस प्रासाद हैं। विविधाकार के शिखरों से तथा कुछ एक अण्ड से अलकृत, कुछ तीन अण्डों से अलकृत और कुछ पाँच अण्डों से अलकृत है। इस प्रकार इनका परस्पर भेद थोड़ा ही है, ये प्रासाद सब कामनाओं के देने वाले हैं। मणियों, मुक्ता (मोतियों) तथा प्रवालों (नगों) आदि के भूषणों से सुविभूषित, स्वर्ण-निर्मित अथवा रजतनिर्मित ये प्रासाद देवलोक-निवासियों के लिए सतत प्रिय हैं—अर्थात् ऐसे प्रासादों में देवता निवास करते हैं। ये ही प्रासाद पीतल, ताँबा आदि से निर्मित होकर इच्छानुकूल विचरण करने वाले पिशाचों, नागों तथा राक्षसों के लिए विहित हैं। ये ही प्रासाद पाताल में पाषाणों (साधारण पत्थरों) तथा स्फटिक (संगमरमर) से निर्मित निर्दिष्ट किये गये हैं। जहाँ तक मर्त्यलोक—इस भूतल की बात है वहाँ ये प्रासाद ईंटों तथा काष्ठों से विनिर्मित होकर मानवों के लिए नन्दक हैं। बनाने वाले तथा बनवाने वाले दोनों ही के लिए ये कल्याणकारी होते हैं। अत पुरों के भूषणार्थ ("नगराणामलकारहेतवे") इन प्रासादों का यथाविधि लक्षणों सहित वर्णन करता हूँ। मनुष्यों के लिए ये भोग (ऐहिक सुख) तथा मोक्ष (पारलौकिक सुख) दोनों के देने वाले हैं।"

नागर शैली तथा उसकी अवान्तर शैलियों एवं उनसे विकसित लाट शैली, मालव शैली आदि सभी पर यथोचित विवेचन हो चुका। अब नागर-भिन्न तीन प्रमुख शैलियों के विवेचन का क्रम उपस्थित हुआ है—द्राविड, विराट तथा भूमिज।

द्राविड शैली

द्राविड वास्तु-विद्या की प्राचीनता के सम्बन्ध में कुछ सकेत किया ही जा चुका है। द्राविड वास्तु-विद्या—परम्परा के प्रमुख ग्रन्थो मे आगम ग्रन्थ (सुप्रभेदागम, कामिकागम आदि), मयमत, शिल्पशास्त्र, मानसार, ईशानगुरुदेवपद्धति, काश्यपशिल्प तथा शिल्परत्न विशेष उल्लेख्य है। परन्तु हमे तो समरागण के अध्ययन मे उसके पूर्वकालीन ग्रन्थों की ही समीक्षा अभिप्रेत है। अत इस सम्बन्ध में काश्यपशिल्प तथा शिल्परत्न का विवेचन अप्रासगिक है जिनमें द्राविड प्रासादों की परम्पराकृत मध्यकालीन शैली के द्वादशभौमिक प्रासादो के अतिरिक्त षोडशभौमिक प्रासादों तथा सप्तदश-भौमिक मण्डपो का वर्णन है। यह विकास-परम्परा समरांगण की उत्तरवर्ती है। श्रीयुत तारापद भट्टाचार्य ने इन ग्रन्थों का समय भी समरागण के बाद ही बताया है। यह विद्वानों के लिए मान्य है कि नही—इस विवाद मे हमे नही पडना है।

समरांगणसूत्रधार मे द्राविड प्रासादो एव उनके पीठों के विषय मे केवल दो ही अध्याय प्राप्त हैं—१—पीठपचकलक्षण नामक ६१वाँ अध्याय और २—द्राविडप्रासाद लक्षण नामक ६२वा अध्याय।

पीठ आदि की विवेचना प्रासाद-वास्तु के सम्बन्ध मे होगी। यहाँ पर प्रासादों का ही वर्णनीय विषय होने के कारण ६२वे अध्याय पर दृष्टिपात करना है। समरागण मे द्राविड प्रासादो की कौन-कौन सी सज्ञाएँ हैं—इस पर बिल्कुल ही सकेत नहीं है। द्राविड प्रासादो की प्रमुख विशेषता भूमिका-विधान के ही आधार पर निम्नलिखित बारह प्रकार के प्रासादों का सविवरण वर्णन किया गया है—

१—एकभूमिक द्राविड प्रासाद	२—द्विभूमिक द्राविड प्रासाद
३—त्रिभूमिक द्राविड प्रासाद	४—चतुर्भूमिक द्राविड प्रासाद
५—पचभूमिक द्राविड प्रासाद	६—षड्भूमिक द्राविड प्रासाद
७—सप्तभूमिक द्राविड प्रासाद	८—अष्टभूमिक द्राविड प्रासाद
९—नवभूमिक द्राविड प्रासाद	१०—दशभूमिक द्राविड प्रासाद
११—एकादशभूमिक द्राविड प्रासाद	१२—द्वादशभूमिक द्राविड प्रासाद

लेखक की दृष्टि में द्राविड वास्तु-विद्या परम्परा का प्रतीक एव अत्यन्त प्रौढ अधिकृत ग्रन्थ मानसार है। मानसार की वास्तु-विद्या दक्षिणापथ के पुराण—आगमों की परम्परा से प्रभावित है। यद्यपि डा० आचार्य महोदय ने मानसार को ही सब ग्रन्थों का स्रोत माना है परन्तु लेखक की तुच्छ दृष्टि मे यह स्वीकार्य नही। लेखक ने अपनी धारणा के अनुसार भारतीय वास्तु-विद्या तथा वास्तु-कला के जन्म, विकास तथा वृद्धि

में वैदिक धर्म के बाद पौराणिक धर्म की उपचेतना को श्रेय दिया है। शिव तथा विष्णु की पूजा अथवा माहात्म्य की मन्दाकिनी के प्रवाह मे आबालवृद्धवनिता को अवगाहन कराने के लिए जिस पौराणिक अथवा आगमिक धर्मस्रोत अथवा उपासना पद्धति का उद्‌गम हुआ था उसी को श्रेय है कि इस देश मे एक कोने से दूसरे कोने तक मन्दिरों एवं मठो तथा आश्रमो और तीर्थो का जन्म हुआ।

आगमो मे सुप्रभेदागम की वास्तु-विद्या बड़ी प्रौढ तथा प्राचीन है। उसमे केवल १८ प्रासादो का वर्णन है जो कामिकागम की बीस प्रासादो की सख्या के प्रथम विकास का परिचायक है। मानसार मे एकभौमिक विमानो से लेकर द्वादशभौमिक विमानो के भेद-प्रभेद सहित ९६ विमान-भवनो का वर्णन है, जिनके साथ श्रद्धेय डा० आचार्य महोदय ने अपने शिल्पशास्त्र मे कामिकागम, सुप्रभेदागम, मत्स्य, भविष्य, गरुड, बृहत्संहिता आदि ग्रन्थो मे वर्णित प्रासादो से तुलना कर यह प्रतिष्ठापित करने का बारबार प्रयत्न किया है कि मानसार की वास्तुविद्या सर्वोत्कृष्ट है।

लेखक ने वास्तु-विद्या के अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाला है वह यह कि भारतीय वास्तु-विद्या के ग्रन्थो के दो सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिनमे समरागण नागर वास्तु-विद्या-परम्परा का ग्रन्थ है, अत: उसने मानसार को ही द्राविड प्रासादो के सुविस्तृत वर्णन के लिए छोड दिया। इसने केवल द्राविड प्रासादो की प्रमुख विशेषता—भूमिका-सन्निवेश को आधार मानकर एक भूमि से लेकर द्वादश भूमियो तक के द्वादश द्राविड प्रासाद-वर्गो का वर्णन किया है। सुप्रभेदागम मे भी द्वादश द्राविड प्रासादों का वर्णन है। अस्तु, अब अन्य प्रमुख एव प्रतिनिधि ग्रन्थो के प्रासाद-वर्ग की कुछ चर्चा आवश्यक है।

प्रासादों के विभिन्न वर्ग

प्रासादो के वर्गीकरण पर अन्य विद्वानो ने भी अपने-अपने ग्रन्थो मे लिखा है। डा० आचार्य (देखिए उनकी इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्किटेक्चर तथा हिन्दू आर्किटेक्चर इंडिया एब्राड), डा० भट्टाचार्य (देखिए ए स्टडी आफ वास्तु-विद्या आर कैनन्स आफ इंडिया आर्किटेक्चर) तथा डा० क्रैमरिश (देखिए हिन्दू टेम्पुल) आदि विद्वानो का इस ओर प्रयत्न बहुत ही श्लाघ्य है। डा० आचार्य ने जिस दृष्टि से प्रासादो का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह एक प्रकार से सामान्य वर्गीकरण है (क्लासिफ़िकेशन आफ बिल्डिग्स इन जेनरल)। लेखक ने अपने पूर्व अध्ययन मे यह पहले ही सकेत किया है कि भारतीय स्थापत्य के मौलिक सिद्धान्तो के अनुसार नरावास और देवावास पृथक्-पृथक् वास्तु संस्थाएँ है। अतएव इस मौलिक दृष्टिकोण को छोडकर प्रासादो का वर्गीकरण भवन-वर्गीकरण में सीमित करना उचित नहीं। समरांगण की इसी दिव्य

दृष्टि ने भारतीय स्थापत्य के मौलिक सिद्धान्तों की वैज्ञानिक रक्षा की है। समरांगण में प्रासाद शब्द एक मात्र देवभवन के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। नरावास, जिसमें साधारण जनोचित आवास एवं राजाओं के निवास दोनों का ही विश्लेषण होना चाहिए, उसके लिए समरांगण ने अपने अलग-अलग अध्यायों में इन दोनों कोटिक भवनों का वर्णन किया है। जन-भवन (पापुलर रेजिडेंशल हाउसेज) के लिए शाल-भवन तथा राज-भवन के लिए राजवेश्म—इन दो प्रकार के साधारण एवं विशिष्ट भवनों की क्रमशः मीमांसा उसने की है और माडेल्स प्रदान किये हैं। इन दोनों की पिछले खण्डों में थोड़ी बहुत समीक्षा हो चुकी है। अब क्रम-प्राप्त प्रासादों पर उस दृष्टि से विवेचन आवश्यक है। इस दृष्टि-कोण के अनुसार डा० भट्टाचार्य ने और डा० क्रैमरिश ने जो कार्य किया है वह लेखक के दृष्टिकोण से मिलता है।

अस्तु, प्रासादों के वर्गीकरण का बड़ा लम्बा-चौड़ा इतिहास है। अत. उसको हम दो भागों में बाँट सकते हैं—पहला पूर्व-समरांगणीय तथा दूसरा उत्तर-समरांगणीय। प्रथम में हम उन वर्गीकरणों को भी सम्मिलित कर सकते हैं जो समरांगणसूत्रधार (११ वीं शताब्दी) के समकालीन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, जैसे अपराजितपृच्छा तथा ईशानशिवगुरुदेवपद्धति। यत. यह अध्याय शास्त्रीय पृष्ठभूमि पर आधारित है अतः इसमें वास्तु-शास्त्र के नाना ग्रन्थों में निरूपित विवरणों की समीक्षा आवश्यक होगी। समरांगणपूर्व वास्तु-शास्त्र बड़ा विस्तृत एवं व्यापक है—पुराण, आगम, शिल्प-शास्त्र, तंत्र आदि अनेक स्रोतों से यह महानदी निर्गत हुई है और उसके कूल पर नाना प्रासादों की मालिका की छटा दर्शनीय है। यत यह सामग्री बड़ी प्रथुल है इसलिए उसका सकोच आवश्यक है। हम भारतीय स्थापत्य की मीमांसा में दो प्रमुख एवं विशिष्ट परम्पराओं—दक्षिणी एवं उत्तरी का सर्वत्र सकेत करते रहे हैं। अत. तदनुरूप इस अध्याय में भी इस सामग्री की समीक्षा में इन दोनों परम्पराओं के प्रमुख एवं प्रतिनिधि ग्रन्थों की एतद्विषयक सामग्री का परिशीलन विशेष उपयुक्त होगा।

यहाँ पर एक तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान विशेष आकर्षणीय है। यद्यपि मानसार एवं मयमत दक्षिणी वास्तु-विद्या के प्रतिनिधि ग्रन्थ माने जा सकते हैं और आगमों में कामिक एवं सुप्रभेद को भी इसी महत्त्वपूर्ण मर्यादा से विभूषित किया जा सकता है परन्तु जैसा हमने अभी सकेत किया कि इन ग्रन्थों में देवावास एवं नरावास के पार्थक्य पर विशेष विवेचन नहीं किया गया है। अत. इन ग्रन्थों के भवन-विवरण की संगति कैसे लगायी जाय—यह समस्या उठ खड़ी होती है। इसके समाधान में इतना ही पर्याप्त होगा कि यह भवन-विवरण विशेष कर प्रासाद-वास्तु से ही सम्बन्धित है। हम पहले लिख चुके हैं कि जहाँ उत्तरी ग्रन्थों में मन्दिरों के लिए प्रासाद शब्द का प्रयोग हुआ

है वहाँ दक्षिणी ग्रन्थों मे विमान का, और इन्हीं विमानो की नाना वल्लरियाँ; मानसार और मयमत मे फैली हुई है। अत: इन दोनों मे मानसार को प्रमुख एवं प्रतिनिधि ग्रन्थ मानकर हम इस अध्याय के प्रतिपाद्य विषय का संवर्धन करेंगे। आगमो मे यद्यपि कामिकागम दाक्षिणात्य स्थापत्य-शास्त्र का बडा ही समृद्ध एवं विशाल ग्रन्थ है, परन्तु प्रासादों की दृष्टि से सुप्रभेदागम का वर्गीकरण अल्प होता हुआ भी बडा ही वैज्ञानिक एवं सुसस्कृत है। कामिक का वास्तु-तत्त्व-विवेचन विशेष समृद्ध है परन्तु सुप्रभेदागम प्रासादों के इतिहास पर बडा सुन्दर प्रकाश डालता है यह हम आगे देखेंगे। विषय सकोच एवं विस्तार भय की दृष्टि से दक्षिणी परम्परा मे हम सुप्रभेदागम पर ही अपना विचार-केन्द्र विनिविष्ट करेंगे। शिल्प-ग्रन्थों एवं आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रतिष्ठा-ग्रन्थों को भी समान श्रद्धा से हमे देखना है। इस कोटि के दक्षिणी ग्रन्थों में दो ग्रन्थ बडे ही महत्त्वपूर्ण हैं—अत्रिसंहिता तथा ईशानशिवगुरुदेवपद्धति। अत: सक्षेप मे दक्षिणी परम्परा अथवा मयपरम्परा के निम्नलिखित चार प्रमुख एवं प्रतिनिधि ग्रन्थों की सामग्री की यहाँ पर विशेष समीक्षा होगी —

(१) मानसार, (२) सुप्रभेदागम, (३) अत्रिसंहिता तथा (४) ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति।

शिल्परत्न तथा काश्यपीय अंशुमद्भेद आदि अन्य दक्षिणी ग्रन्थों की समालोचना हम आगे करेंगे जहाँ पर उत्तर-समराङ्गणीय प्रासादों के विकास का बखान होगा।

अब आइए उत्तरापथ की ओर। इस महापथ पर पल्लवित वास्तु-विद्या के मूल आचार्य, देव-स्थपति विश्वकर्मा महाराज माने गये हैं। अत: विश्वकर्मा के नाम से बहुत से वास्तु-ग्रन्थ देखने मे आते है जिनमे विश्वकर्मीय शिल्प एवं विश्वकर्म-प्रकाश विशेष विख्यात हैं। वास्तव मे ये दोनो ही ग्रन्थ एक ही है और एक दूसरे के पूरक अंश भी। विश्वकर्मीय शिल्प मे मूर्ति-कला का विशेष बखान है और विश्वकर्म-प्रकाश मे भवन निर्माण का। अभी हाल मे तंजौर मे विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र छपा है वह लेखक की इस धारणा का पोषण करता है। अत: उत्तरी ग्रन्थों मे प्रासादो पर प्रवचन करने वाले ग्रन्थों मे इसे मूर्धन्य माना जा सकता है। विश्वकर्म-वास्तु-शास्त्र के अतिरिक्त उत्तरी शिल्प ग्रन्थों मे समराङ्गण-सूत्रधार, अपराजितपृच्छा तथा प्रासाद-मण्डन प्रतिनिधि ग्रन्थों के रूप मे लिये जा सकते हैं।

पुराणो में मत्स्य और अग्नि को हम इसी दृष्टि से देखेंगे। जहाँ तक बृहत्संहिता आदि प्रतिष्ठित ग्रन्थो की गणना है उसकी यहाँ पर विशेष अवतारणा करने की आवश्यकता नही। पुराणो, आगमों, शिल्पशास्त्रो एवं प्रतिष्ठा-ग्रन्थो के मौलिक स्रोतों के इस किंचित्कर अन्वेषण के उपरान्त तन्त्रो के रहस्यमय प्रकाश और विमर्श का पता

लगाना भी अवशिष्ट है। इस दिशा में हयशीर्षपंचरात्र हमारा पथ प्रदर्शन कर सकता है परन्तु उसकी सामग्री अग्नि-पुराण से मिलती-जुलती है। अत: उस पर विशेष विचार का अभाव पाठको को नही खटकेगा।

अस्तु, अब हम दोनों परम्पराओ के प्रतिनिधि ग्रन्थो की विकसित प्रासाद-वीथी मे भ्रमण करेगे। गत अध्याय मे समरागण के नाना शैली वाले प्रासादो का हम परिचय प्राप्त कर चुके है।

मानसारीय ९८ विमान-प्रासाद

मानसार के १३ अध्यायों (१८–३०) मे एक से लगाकर द्वादश भूमिकाओं (स्टोरीज) के जिन निम्नलिखित विमान भवनों का वर्गीकरण एव विवरण दिया गया है, अथच इन भवनो के वर्गीकरण मे जिन प्रमुख वास्तु-सिद्धान्तों की विवेचना हुई है उनमें निम्नलिखित विशेष उल्लेख्य है—

(अ) शैली—नागर, द्राविड तथा वेसर ये तीन भवन-शैलियाँ इसमे निरूपित है। मानसारीय सदर्भ का सारांश यह है कि नागर, द्राविड तथा वेसर इन तीनो शैलियो का आधार भवन की आकृति है—नागर चतुरस्र अर्थात् चौकोर, द्राविड अष्टास्र अर्थात् अष्टकोण तथा वेसर वर्तुल अर्थात् गोल। भवन-निर्माण की इसी परम्परा का प्रभाव दक्षिण मे तक्षण-कला (मूर्तिकला) पर भी पडा। मानसार के ५३ वे अध्याय मे लिखा है—

नागरं चतुरस्रं स्यादष्टास्रं द्राविडं तथा।
वृत्त च वेसरं प्रोक्तमेतत्पीठाकृतिस्तथा॥ २७॥

शैलियो के निर्धारण मे आकृति-विधान की यह परम्परा आगमो मे भी अनुसन्धेय है। सुप्रभेदागम का प्रवचन है—

नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
कण्ठाद्यारम्य वृत्तं यद् वेसरं चेति तत् स्मृतम्॥
ग्रीवामारभ्य चाष्टास्रं विमानं द्राविडाख्यकम्।
सर्वं वै चतुरस्रं यत् प्रासादं नागरं त्विदम्॥

(आ) भवन-द्रव्य—ये शुद्ध (एक-द्रव्यीय), मिश्र (द्वि-द्रव्यीय), सकीर्ण (त्रि-द्रव्यीय) तीन होते हैं। अर्थात् एक द्रव्य से—एक मात्र पाषाण से बने हुए विमान-भवन शुद्ध, दो अर्थात् पाषाण एव ईंटों से बने हुए भवन मिश्र तथा तीन द्रव्यों अर्थात् पाषाण, ईंट तथा काष्ठ से बने हुए भवन सकीर्ण कहलाते है।

(इ) मान-भेद—जाति, छन्द, विकल्प तथा आभास अर्थात् हस्त की लम्बाई के नाना मानों के अनुसार मान विशेष से मित विमान-भवन चार कोटियों में परिगणित किये गये हैं। यथा—

(क) ऊँचाई चौड़ाई और लम्बाई के आधार पर स्थानक, आसन एवं शयन सञ्ज्ञाओं में अथवा सचित, असचित तथा अपसचित सञ्ज्ञाओं में भी।

(ख) आकार-प्रभेद—पुंलिग, स्त्रीलिग तथा नपुंसकलिंग प्रभेद से, अर्थात् पुंलिंग में देवों, स्त्रीलिंग में देवियों की स्थापना विहित है।

१—एकभौमिक
भोग
श्रीविशाल
वैजयन्त
स्वस्तिबन्ध
श्रीकर
हस्तिपृष्ठ
स्कन्दकान्त
केसर

२—द्विभौमिक
स्वस्तिक
पौष्टिक
श्रीकर
विजय
सिद्ध
अन्तिक
अद्भुत
पुष्कल

३—त्रिभौमिक
ब्रह्मकान्त
श्रीकान्त
आसन
सुखालय
केशव

४—चतुर्भौमिक
विश्वकान्त
चतुर्मुख
सदाशिव
रुद्रकान्त
ईश्वरकान्त
मत्रकान्त
वेदिकान्त
इन्द्रकान्त

५—पञ्चभौमिक
ऐरावत
भूतकान्त
विश्वकान्त
मूर्तिकान्त
यमकान्त
गृहकान्त
यज्ञकान्त

६—षड्भौमिक
पद्मकान्त
कान्तार
सुन्दर
उपकान्त
कमल
रत्नकान्त

७—सप्तभौमिक
श्रीकान्त
श्रीभोग
पुण्डरीक
धरण
पजर
आश्रमागार
हर्म्यकान्त
हिमकान्त

८—अष्टभौमिक
भूकान्त
भूपकान्त
स्वर्गकान्त
महाकान्त
जनकान्त
तपस्कान्त
सत्यकान्त
देवकान्त

९—नवभौमिक
सौरकान्त
गौक्ष
चण्डित
भूषण
विवृत

१०—दशभौमिक
भूकान्त
चन्द्रकान्त
भवनकान्त
अन्तरिक्षकान्त
मेघकान्त
अब्जकान्त

११—एकादश-भौमिक
चन्द्रकान्त
शम्भुकान्त
ईशकान्त
यमकान्त
वज्रकान्त
अर्ककान्त

१२—द्वादश-भौमिक
पाचाल
द्राविड
मध्यकान्त
कलिंगकान्त
विराटकान्त
केरल-कान्त
वंशकान्त
मगधकान्त
जनककान्त

कमलांग	विपुलांग	सुप्रतिकान्त	गुर्जरकान्त
मेरुकान्त	ज्योतिषकान्त	विश्वकान्त	
कैलास	मरोरुह्		
	विपुलाकृतिक		
	स्वस्तिकान्त		
	नन्द्यावर्त		
	इक्षुकान्त		

सुप्रभेदागम के १० विमान-प्रासाद

आगमो के प्रासादों की सख्या अपेक्षाकृत न्यून है। सुप्रभेदागम (जिसको हमने आगमों का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना है) में निम्नलिखित १० प्रासादों का उल्लेख किया गया है। इनका वैशिष्ट्य यह है कि इनकी सज्ञाएँ उत्तरी वास्तु-विद्या मे विकसित प्रासादों की सज्ञाओं से साम्य रखती हैं —

१—कैलाश	६—नलीनक
२—मन्दर	७—प्रलीनक
३—मेरु	८—नन्द्यावर्त
४—हिमवत	९—श्रीवर्त
५—निषध (नील पर्वत, महेन्द्र)	१०—पर्वत

सुप्रभेदागम के प्रासादों के इस स्थूल दिग्दर्शन मे एक महत्त्वपूर्ण अभिप्राय यह है कि उक्त आगम दाक्षिणात्य स्थापत्य की उस प्रगति की ओर इगित करता है जब दोनो परम्पराओं मे पारस्परिक आदान-प्रदान प्राप्त हो चुका था। क्योकि जहाँ यह आगम प्रासादों के वर्गीकरण में दाक्षिणात्य वास्तु-ग्रन्थो की सामान्य परम्परा-भूमिका के सकीर्तन पर प्रकाश डालता है वहाँ इस आगम मे उपर्युक्त जिन दस प्रासादों का वर्ग प्रस्तुत किया गया है वह उत्तरीय प्रासादो से बहुत कुछ साम्य रखता है।

ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति के त्रिकोटिक ९६ विमान-प्रासाद

(क)	मेरु	हमच्छन्द	विमलाग
	मन्दर	मेरुकूट	भोगच्छन्द
	कैलास	कैलासकान्त	सौमुख्य
	श्रीकर	जयाग	श्रीमण्डन
	महेन्द्र	विमल	ललितकान्त
	नील	पद्मभद्र	श्रीविशाल

निषध	रुद्रकान्त	विजय
वृषच्छन्द	स्कन्दकान्त	सुदर्शन
कुम्भ	योगभद्र	जयमगल
पद्मकान्त	मगल	चित्रकूट
गरुडच्छन्द	विन्ध्यच्छन्द	
(ख) नलिन	चतुर्मुख	श्रीप्रतिष्ठित
प्रलीन	विष्णुच्छन्द	श्रीकान्त
पर्वताकृति	हस्तिपृष्ठ	श्रीच्छन्द
कैलासच्छन्द	शिवभद्र	सौभद्र
रुद्रच्छन्द	शिवच्छन्द	स्वस्तिक
ललितभद्र	वृत्तच्छन्द	समुज्ज्वल
सर्वतोभद्र	अष्टाग	
(ग) वृत्त	अत्यन्तकान्त	सर्वतलित
विशालक	भानुकान्त	प्रत्यन्तकान्त
चतुष्कूट	चन्द्रकान्त	मालागृह
उत्पलपत्रक	ऋतुवर्धन	पृथ्वीविजय
कुड्यवृत्त	मत्रपूत	नन्दिविशाल
योगकान्त	अवन्ति	सर्वागसुन्दर
प्रेक्षागृह	महिप	छायागृह
महाराजाह्वय	नत्रिकान्त	रतिवर्धन
नागाह्वय	कर्णभद्र	विशालालय
नगच्छन्द	विजयाग	चतुष्पादक
त्रिकूटक	विशालभद्र	तुरगवदन
श्रीवर्धन	कर्णशलाका	गणिकापिण्डिका
पद्मगृह	पद्मासन	श्येनच्छन्द
उत्तलाग्र	कुक्कुटपुच्छक	मण्डकप्रसादक

अत्रिसहिता के प्रासाद

अत्रिसहिता मे भी प्रचुर संख्या मे प्रासादो का वर्णन किया गया है परन्तु उसमें बहुत से ऐसे नाम है जिनका साम्य अन्य किसी वर्ग से नही मिलता। जिन प्रासादों का साम्य है उनकी निम्न तालिका दी जाती है--

नन्द्यावर्त	स्वस्तिक	सोमार्ध
नलीनक	श्रीमत्स्वस्तिक	महापद्म
प्रनलीनक	पंजरमुख	जलपत्रक
पर्वताकृति	उत्पलफुल्लक	बहुपत्र
श्रीवत्स	भद्र	घोण
वृषभाकार	सुपौष्टिक	छन्दवृत्त
कुम्भाकार	वृत्त	वेदिका
पद्माकार	मणिवृत्त	सिद्धयांग
गरुडाकार	सोमवृत्त	कूटकर
नन्दिविशाल	गान्धार	विलोकन
चित्रशिल्प	गाधारपंचक	तिलक
सर्वतोभद्र	सोमच्छन्द	बालेन्दुक
चतुर्मुख	श्रियावृत्त	मस्तक
हस्तिपृष्ठ	विशाल	मधिक
वृत्तसौभद्र	ब्रह्मवृत्त	कुड्यवृत्त
अष्टाग	अष्टाग	भूत
श्रीप्रतिष्ठित	अगनकर	वैहर आदि

अस्तु, अभी तक हमने जो प्रासाद-वर्ग प्रस्तुत किया, उसके सम्बन्ध में इतना विशेष ज्ञेय है कि इसमें तत्तत् देशीय एवं तत्तत् शैली के प्रासादों के विकास का क्रम भी प्रकट होता है। नागर प्रासादों की विंशिका में इस शैली के प्रथम विकास का आभास प्राप्त होता है। कालान्तर पाकर नागर के प्रौढ विकास में न केवल नागरी शैली ही में नाना अन्य प्रासादों एवं प्रासाद-जातियों का उदय हुआ वरन् उसकी कतिपय अवान्तर शैलियाँ भी प्रस्फुटित हुईं—जैसे लाट आदि। इसी प्रकार पीछे दक्षिणी शैली के द्राविड़ प्रासादों का जो हमने विहगावलोकन किया उसमें भी यही तथ्य चरितार्थ होता है। सुप्रभेदागम, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति तथा अत्रिसंहिता के प्रासादों को हम द्राविड प्रासादों का प्रथम विकासक्रम मान सकते हैं तथा मानसार, मयमत, काश्यप एवं शिल्परत्न की प्रासादावली को उत्तरवर्ती विकासवल्लरियों में परिगणित कर सकते हैं।

अब पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार उत्तरी शैली के प्रासादों एवं प्रासाद-जातियों पर थोड़ा सा वक्तव्य शेष रह जाता है। परन्तु पिछले अध्याय की शैलियों में हमने समरांगण की जिस प्रासाद-राशि का अवलोकन किया है, उसको एक प्रकार से समस्त नागर

प्रासादो के विकास का पुजीभूत रूप समझना चाहिए। यत. समरांगण मध्यकालीन कृति है, अतः उसका नागर प्रासाद वर्ग भी अपेक्षाकृत अन्य ग्रन्थो से अधिक विकसित है।

नागर प्रासादो की प्राचीन परम्परा में विश्वकर्मप्रकाश, मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता और भविष्यपुराण विशेष उल्लेखनीय है। अथच नागर के प्रौढ विकास पर आश्रित लाट प्रासादो का वर्ग हयशीर्षपचरात्र, अग्निपुराण तथा गरुडपुराण के अनुरूप ही समरागण के एतत्कोटिक प्रासादवर्ग का अग समझना चाहिए। अत. इन ग्रन्थो के प्रासादो की नामावली वाला एक प्रसिद्ध ग्रन्थ अपराजितपृच्छा है, इसकी थोडी सी समीक्षा आवश्यक है।

प्रासाद-जातियाँ—समरागण मे जैसा हमने देखा, लगभग आठ प्रासाद जातियो का वर्णन मिलता है, यथा—नागर, द्राविड़, वराट, भूमिज, लतिन (अथवा ललित), सान्धार, विमान तथा विश्राम। परन्तु अपराजित मे निम्नलिखित १४ प्रासाद-जातियों का निर्देश है—

१–नागर	६–सान्धार	११–वलभी
२–द्राविड	७–विमाननागर	१२–सिहालोकन
३–लतिन	८–मिश्रक	१३–दारुज
४–वराट	९–भूमिज	तथा
५–विमान	१०–विमानपुष्पक	१४–नपुसक

ये प्रासाद-जातियां वास्तव मे विशेष वैज्ञानिक रूप से विभाजित नही है। अपराजितपृच्छा समरागण के समान न तो विशेष पारिभाषिक और न विशेष परिपुष्ट ही है। तथापि यह वास्तु-शास्त्र भारतीय स्थापत्य के प्रकर्ष का प्रतिबिम्बक अवश्य है। इसकी विस्तृत समीक्षा हमने अपने अँग्रेजी ग्रन्थ मे की है। इन १४ जातियो को हम समरागण की अष्टघा जातियो मे प्रकल्पित कर सकते है। विमाननागर, विमानपुष्पक, वलभी, सिहालोकन, दारज तथा नपुसक को हम इन्ही आठो मे गतार्थ करे तो अनुचित नही। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसने प्रासादो के वर्णन एव वर्गीकरण मे नाना घटको का आश्रय लिया है। जनपदानुरूप एवं देवानुरूप विभाजन तो प्रचलित ही था, जात्यनुरूप विभाजन इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। समरागण में केवल वैराज जाति (जिसे ब्रह्मजाति भी कहा गया है) का अवश्य विशेष उल्लेख है, परन्तु इस ग्रन्थ मे कैलास, मणिक, पुष्पक सभी मूल प्रासादों की जातियो का वर्णन है।

५

प्रासाद-निवेश

प्रासाद के अर्थ से सयोजित प्रासाद-वास्तु के जन्म, विकास एवं चरमोत्कर्ष, प्रासाद-शैलियों, प्रासादो के विभिन्न वर्गों आदि प्रमुख विषयो पर पूर्व-समीक्षणोपरान्त अब प्रासाद-निवेश के नाना अगो पर एक सक्षिप्त समीक्षण के लिए इस अध्याय की अवतारणा की जाती है।

पूजा-वास्तु के सम्बन्ध मे, विशेष कर मन्दिर-निर्माण-नियमो के सम्बन्ध में शास्त्रों मे बडा गहन, विपुल विवेचन-विजृम्भण है। विभिन्न पुराणो मे (जिनकी सख्या १८ है), उपपुराणो मे (जिनकी भी सख्या १८ है) तथा आगमो मे (जिनकी सख्या २८ है तथा जिनमे बहुत से बडे-बडे विशालकाय ग्रन्थ है) तो मन्दिर के गुणगान, तीर्थों के स्तवन, पुण्यभूमियों के प्रवचन, मन्दिर-रहस्य आदि विषयो पर प्रचुर प्रकाश डाला ही गया है, साथ-ही-साथ विभिन्न रघुनन्दन तथा ईशानगुरुदेव आदि विज्ञ, पद्धतिकारो की पद्धतियो (मठ-प्रतिष्ठातत्त्व आदि) मे मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा आदि के गहन तत्त्वो का सुन्दर मर्मोद्घाटन हुआ है। स्मृतियो मे, तन्त्रों मे, ज्योतिष के ग्रन्थो (जिनमे बृहत्सहिता सबसे प्रमुख है) मे भी एतद्विषयक सूक्ष्म चर्चा है। पुराणो की परम्परा मे पल्लवित इन ग्रन्थो के अतिरिक्त पूर्व-पौराणिक ग्रन्थरत्नो, सूत्र-ग्रन्थो मे भी वेदीरचना, यज्ञशालाओ, सदम्-भवनो के विषय मे बडा ही सूक्ष्म विचार है—यह हम लिख ही चुके है। हम यह भी निर्देश कर चुके है कि वेदी-रचना ही पूजा-वास्तु, मन्दिर-निर्माण तथा मन्दिर-प्रतिष्ठा एव प्रतिमा-निवेश आदि की पूर्वपीठिका है अथवा महाजगती है, जिस पर समस्त-विश्व के प्रतिकृति-रूपी यज्ञप्रतीक के समान ही समस्त विश्व एव उसके नियन्ता की प्रतिष्ठा हुई है।

अध्यात्मप्रधान इस आर्यदेश मे प्रासाद-वास्तु की तथा प्रासाद-विनिवेश की जो पराकाष्ठा पहुँची है वह सर्वथा उचित ही है। यहाँ के पुण्य प्रदेश मे सुरम्य काननो एव पर्वत-शिखरो पर तथा पावन सरिताओ के तट पर, सुरम्य कासारों, पुष्करिणियो आदि जलाशयों के सान्निध्य मे शान्त एवं तपपूत पावन आश्रमों मे मानव को अध्यात्मचेतना की स्फूर्ति मिलती रही है, देवों को भी इन प्रदेशो में बसने की, विहार करने की कम अभिलाषा नही रही। बृहत्संहिता का यह निर्देश इस तथ्य के पोषण मे सार्थक है एवं समर्थक भी—

वनोपान्तनदीशैल—निर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च ॥ (५०.८)

महाकवि बाणभट्ट ने दुर्वासा-शापदग्धा सरस्वती को भी तो मन्दीकृतमन्दाकिनी-ब्रह्म-पुत्र महानद शोण की ही उपकण्ठ भूमियों में मर्त्यलोक निवासार्थ उचित प्रदेश बताया है। भविष्य पुराण में भी ऐसा ही प्रवचन है। पुण्य भूमि भारत के इस विशाल भूभाग में प्राय: सर्वत्र पुण्यस्थान बिखरे पड़े हैं जिनकी संज्ञा तीर्थों एवं क्षेत्रों आदि के नाम से प्रख्यात है। तत्त्व की बात यह है कि मायामय संसार के जाल से बचने के लिए चिरन्तन से मानव ने अदृष्ट महाशक्ति की खोज में उसके साथ तन्मयता प्राप्त करने के लिए प्रकृति के एकान्त एवं उदात्त प्रदेशों में जाकर अपनी अध्यात्म-पिपासा की तृप्ति के लिए निवास किया है। जलाशय का सान्निध्य मानव के लिए ही नहीं देवों के लिए भी परमावश्यक एवं अनिवार्य है। जिस प्रकार जीवन-यापन बिना जल के असम्भव है उसी प्रकार कोई भी देवकार्य—यज्ञ, पूजा, उपासना, सन्ध्या-वन्दन आदि बिना जल के नहीं हो सकता। हिन्दू शास्त्रों ने जल को जीवन तो बताया ही है वह शुचि भी है। अत: इन तीर्थ-भूमियों में, प्रख्यात क्षेत्रों में ही पुरातन परम्परा के अनुसार बड़े-बड़े तीर्थों का निर्माण हुआ, तीर्थ तथा देवमन्दिर दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध सर्वदा रहा। अत: प्रकृति के अत्यन्त उदात्त एवं रमणीय प्रदेशों में मन्दिर एवं तीर्थों के निवेश की पुरातन परम्परा के अनुरूप ही किसी भी प्रासाद-आकृति पर दृष्टि डालकर बहुभूमिक दाक्षिणात्य विमानों को देखें या शिखरालंकृत उत्तरीय देवालयों को देखें सर्वत्र प्रकृति की ही छटा देखने को मिलेगी। सम्भवत: इसी तथ्य के मर्म का उद्घाटन करने के लिए श्रीमती स्टेला अपने 'हिन्दू-टेम्पुल' में लिखती हैं—

"प्रासादों का वहीं निर्माण हुआ है जहाँ तीर्थ है। उनकी ऊँचाई के अन्तिम बिन्दु तक उनकी उत्तुंग आकृतियाँ भारतीय प्रकृति की उदात्त प्रेरणाओं एवं चेतनाओं तथा पूर्णता से ओत-प्रोत हैं। भक्त-दर्शक के लोचन एवं मानस को ये आकृतियाँ एक एक करके इस पार्थिव संसार से उस अपार्थिव ऊपरी संसार की ओर ले जाती हैं। प्रासादों का उत्थान एक विस्तृत पीठिका अथवा अधिष्ठान से होता है, उनका निर्माण विशिष्ट वर्गानुरूप विभिन्न समयों में विभिन्न स्थानीय केन्द्रों (जनपदों) में सम्पन्न हुआ। उनकी आकृतियों का विस्तार विभिन्न वास्तु-विद्या तथा कलाकेन्द्रों की शैलियों के अनुसार विजृम्भित हुआ। उन मन्दिरों को जैसा हम आज दक्षिणावर्त में देखते हैं, उनका प्रोत्तुंग कलेवर पिरामिड-आकृति में परिणत होता है, अथवा जब हम आज उनको आर्यावर्तीय निदर्शनों में देखते हैं तो उनकी शिखराकृति को गर्भगृह के केन्द्रबिन्दु पर मिलती हुई पाते हैं।"

अस्तु, प्रासाद-निवेश के इस औपोद्घातिक प्रवचन के उपरान्त अब हम उसके विभिन्न उपनिवेश्य स्तम्भों का संकेत कर प्रासाद के महा-भवन के पूर्ण कलेवर की प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न विषयों की विभिन्न औपचयिक तालिका देकर आगे बढ़ेंगे। प्रासाद-निवेश के परम्परागत निम्न विषय विशेष उल्लेखनीय हैं—

१—प्रासाद-भूमि एवं उस पर प्रारम्भिक संस्कार

२—प्रासाद-प्रयोजन तथा उसके कर्ता एवं कारक

३—निवेश-योजना (प्लान)—वास्तु-पुरुष-मण्डल

४—वास्तु-पुरुष एवं वास्तु-ब्रह्मवाद

५—प्रासाद-निर्माण-द्रव्य

६—प्रासाद-अवयव

७—प्रासाद-भूषा तथा शुभाशुभ लक्षण

८—प्रासाद-प्रतिमा एवं प्रासाद तथा प्रासाद-प्रतिमा की प्रतिष्ठा।

१. प्रासाद-भूमि एवं उस पर प्रारम्भिक संस्कार

लेखक ने अपने पुर-निवेश एवं भवन-निवेश के अध्ययन में किसी भी वास्तु-निर्माण के अवसर पर, चाहे वह साधारण जनोचित आवास भवन हो अथवा राजोचित हर्म्य या देवोचित मन्दिर, सभी के लिए निवेशोचित भूमि के चयन, उसकी परीक्षा, उसके सन्तुलन (लेवलिंग), कर्षण, वपन आदि के निर्देश का यथोचित विचार किया है। प्रासादोपनिवेश्य भूभाग की साधारण रूपरेखा पर इस उपोद्घात में कुछ संकेत किया गया है। यहाँ पर इतना ही विशेष उल्लेख्य है कि प्रासाद-निर्माण या मन्दिर-निर्माण एक प्रकार का देवकार्य है, यज्ञ-कार्य है। जिस प्रकार यज्ञकर्ता यजमान के नाम से पुकारा गया है उसी प्रकार मन्दिर-निर्माता को भी यजमान के रूप में प्राचीन हिन्दू शास्त्रों ने प्रतिष्ठित किया है। इसकी विशेष विवेचना कर्तृ-कारक के प्रकरण में आगे की जायगी। लेखक ने ऊपर प्रासादोपनिवेश्य भूमि के चयन एवं परीक्षण तथा शोधन आदि के सम्बन्ध में जो निर्देश किये हैं उनका 'पुर-निवेश' तथा 'भवन-निवेश' के अध्ययन में भौतिक दृष्टि से विवेचन किया गया था, परन्तु प्रासाद-वास्तु की सम्यक् समीक्षा में एक मात्र भौतिक दृष्टि का विवेचन वास्तविक दृष्टि से अपूर्ण ही रहेगा। प्रासाद एक भवन-विशेष ही नहीं है—यह प्रतीक भी है। यह स्वर्ग एवं मर्त्य की मिलन-भूमि है, उन दोनों का गठबन्धन है। अतः मानवावास के लिए पुरों, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुटभेदनों एवं तन्त्रोचित भवनों की निवेश्य भूमि के चयन एवं परीक्षणादि के विषय में एक मात्र भौतिक परीक्षा (फिजिकल,

ज्योग्रैफिकल, टेरेस्ट्रियल एक्जामिनेशन्स आफ स्वायल) के ही साधनो को समीक्षा का विषय बनाया गया था। परन्तु यहाँ पर हमें मन्दिर की भूमि पर देवप्रतिष्ठा करनी है–देवावास बनाना है—निराकार की साकार प्रतिमा के दिव्य दर्शन करने हैं–समस्त विश्व मण्डल को एक छोटे से चतुरस्र-मण्डल पर लाकर प्रतिष्ठापित करना है। क्या यह मानवो के बूते की बात है? अतः देवसाहाय्य के बिना इस देवावासोचित भूमि का चयन निष्पन्न नही हो सकता।

महाराज भोज-कथित पृथु तथा पृथ्वी के आख्यान का हम वर्णन कर चुके है, पृथ्वी और राजा पृथु की यह कहानी पौराणिक परम्परा है। वैदिक परम्परा (ऋग्वेद १०.१४-१) मे भगवान् यम ने राजा पृथु का यह काम किया। ऋग्वेद की इस ऋचा मे यम का यह गुणगान है कि उन्होंने विश्व की सभी चचल वस्तुओं को स्थिरता प्रदान की। विश्वसत्ता का नियामक और मानव समाज मे सत्य का प्रतिष्ठापक यम धर्मराज के नाम से (जो सत्य है वही धर्म हे, जो धर्म है वही सत्य है) सकीर्तित हुआ है। भावार्थ यह है कि इस चला पृथ्वी को अचला बनाना मानवों के बूते की बात नही। पृथु और पृथ्वी की पौराणिक कहानी मे हमारे पूर्वजों की भू-समीकरण-व्यवस्था एवं भौगर्भिक अन्वेपण-प्रतिष्ठान (जियोलोजिकल एक्स-पेरिशन्स) की सूचना मिलती है। परन्तु इस वैदिक व्याख्यान मे यमराज को धर्म-राज के रूप मे देखने की यह महिमा है कि वह पार्थिव तत्त्व मे अपार्थिव विश्वनिया-मक तत्त्व की प्रतिष्ठा करता है।

इस प्रकार जगम पृथ्वी यम की आज्ञा से स्थिर प्रासाद-प्रतिष्ठा योग्य बनी। पृथ्वी की इस प्रासाद-वास्तु की प्रतिष्ठा की कहानी मे तीन रूप छिपे हुए है। जो पृथ्वी लम्बी और चौडी थी, वह भू (अर्थात् पदार्थ) के रूप मे परिणत होकर प्रासादोपनिवेश्या बनी, पुन. वही भूमि प्रासाद का आधार तथा आधेय (देखिए एक-भौमिक, द्विभौमिक आदि प्रासाद) भी बनी।

प्रत्येक प्रासाद अथवा मन्दिर के निर्माण के पूर्व बिना किसी भौतिक आधार के, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक आधार के द्वारा वास्तु-पुरुष-मण्डल की रचना परमावश्यक ही नही अनिवार्य भी है, सनातन से मन्दिर निर्माण की ऐसी व्यवस्था चली आयी है। वास्तु-पुरुष-मण्डल मन्दिर का रेखाचित्र भी है तथा उसके आध्यात्मिक चित्र की ओर भी पूर्ण सकेत प्रदान करता है। भूमि चयन के इन दो आध्यात्मिक अथवा अपार्थिव तत्त्वो के अतिरिक्त जो दूसरा तत्त्व विचार करने के लिए इस अध्ययन में पहले छोड़ दिया गया था वह है 'अकुरार्पण' परम्परा। प्रासाद-निर्माण एवं प्रासाद-प्रतिष्ठा के प्रारम्भिक विभिन्न उपादानों मे अकुरार्पण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है।

वैखानसागम के (अध्याय २ के) अनुसार यह अंकुरार्पण कृत्य केवल प्रारम्भ मे ही नही वरन् प्रासाद-निर्माण की समाप्ति पर भी आवश्यक है–यही तक नही, प्रासाद मे प्रतिमा-प्रतिष्ठा के समय तथा उसके नेत्रोन्मीलन के भी समय अथवा कलश स्थापनादि अनेक अवसरो पर भी वह विहित है। इन संस्कारो मे किसी भी सस्कार के नवे, सातवे, पाँचवे अथवा तीसरे दिन पूर्व विभिन्न प्रकार के धान्य-बीज (चावल, दाल, सरसो आदि) एक ताम्रपात्र में रखकर ओषधीश चन्द्रदेव के सम्मुख रखे जाते है। इस बीजारोपण-सस्कार मे जो १६, १२, ८, ४ (क्रमश. यदि मन्दिर निर्माता ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र है) कलश स्थापित किये जाते है उनकी आकृति भी चन्द्राकृति ही होती है। पुन. जब बीज अकुरित हो जाते है तो कुछ पनपने पर उनको गौओ, गोवत्सो, वृषभो को चराया जाता है, फिर कर्षणोपरान्त भूमि सन्तुलित होने पर दर्पणवत् स्वच्छ एव सुपुष्ट होकर प्रासाद-प्रतिष्ठा के योग्य बनती है।

प्रासाद प्रतिष्ठा के समय अकुरार्पण अथवा कामिकागम के अनुसार मगलाकुर की यह परम्परा प्राचीन वैदिक महावेदी (अग्निचयन) की ही परम्परा है। अतः भारत मे किसी भी पूजा-वास्तु के साथ इस परम्परा का अविच्छिन्न सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। प्रासाद के गर्भ तथा पृथ्वी के गर्भ के प्रतीक सादृश्य मे ही बीज-ब्रह्म की प्रतिष्ठा पनपी है–यही इसका आध्यात्मिक तत्त्व है। अथर्ववेद के मन्त्र को देखने से लेखक का यह मर्म स्पष्ट हो जायगा।

अत. निष्कर्ष यह है कि प्रासाद-निर्माण अथवा उसकी प्रतिष्ठा के पूर्व अकुरार्पण की यह परम्परा एक प्रकार की प्रतीक-कल्पना है, क्योकि जिस प्रासाद-कलेवर का गर्भ (गर्भगृह) से विकास होता है वह पृथ्वी के तत्त्व को अपने मे आत्मसात् करता है, उसकी आकृति भू-शक्ति से प्रादुर्भूत होती है और उसका ढाँचा भी उसी का आनुषगिक रूप है।

२. प्रासाद-प्रयोजन, उसके कर्ता एवं कारक

प्रासाद-वास्तु की भूमि-चयन सम्बन्धी इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त इसके प्रथम कि हम प्रासाद की कर्तृ-कारक व्यवस्था तथा प्रासाद की निवेश योजना, वास्तु-पुरुष-मण्डल आदि का विवेचन करे, सर्वप्रथम उसके प्रयोजन के सम्बन्ध मे एकाध बात कर ले। बिना प्रयोजन साधारण बुद्धि वाले मानव भी साधारण कार्य नही करते तो मन्दिर-निर्माण, देव-प्रतिष्ठा आदि गुरुतर कार्य का कोई गुरुतर ही प्रयोजन होना चाहिए–अतः इस सम्बन्ध मे कुछ विचार आवश्यक है।

जन्मान्तरवाद के विश्वासी भारतीय सनातन से इस उधेड-बुन मे रहे है कि मरने के बाद कौन सा साथी उनके साथ जायेगा। सभी सुख चाहते है—सभी उन्नति

और तरक्की भी चाहते हैं। गरीब अमीर होना चाहता है—मूर्ख विद्वान्, कुरूप सुन्दर। यदि इस जन्म में सुख की प्राप्ति नहीं हुई—सन्तोष नहीं प्राप्त हुआ तो दूसरे जन्म में ही सही। इस देश के मानव के मस्तिष्क की यही उद्विग्नता हिन्दू-शास्त्रों में इष्टा-पूर्त के सिद्धान्त की निर्मायिका हुई। इष्ट का तात्पर्य है यज्ञ तथा पूर्त का तात्पर्य है मन्दिर-निर्माण, कूप-निर्माण, वापीतडागादि-निर्माण।

हेमचन्द्र ने इष्टापूर्त के सम्बन्ध में निम्न प्रवचन लिखा है —

एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते॥
वापी—कूप—तडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमध्याः प्रचक्षते॥

अर्थात् वापी, कूप, तडाग, देवतायतन, अन्नदान, उद्यान आदि के निर्माण को पूर्त कहते हैं तथा त्रेताग्नि में या एकाग्नि में जो हवन कर्म होता है अथच अन्तर्वेदी में जो जो दान आदि होता है उसको इष्ट कहते हैं। अतएव बृहत्संहिता का यह प्रवचन इस तथ्य का पोषक है —

इष्टापूर्तेन लभ्यन्ते ये लोकास्तान् बुभूषता।
देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र दृश्यते॥

अतः जिस प्रकार वैदिक काल में "स्वर्गकामो यजेत" की इष्टापूर्त परम्परा स्थिर हुई, उसी प्रकार पौराणिक परम्परा में मन्दिर-निर्माण-कर्म स्वर्गदायक तथा मुक्तिदायक ही नहीं, भुक्तिदायक भी माना गया। मन्दिर का निर्माता यजमान के नाम से प्रतिष्ठित हुआ। मन्दिर निर्माण के प्रथम वास्तु व्यवस्था होम्य थी, वह एक प्रकार का यज्ञ ही था। अतः प्रासाद-कर्ता यजमान स्वर्ग का अधिकारी होता था तथा वहाँ उसका निवास नित्य माना जाता था।

अतः निश्चित है कि मन्दिर निर्माण एक प्रकार का देव-कार्य है जिससे स्वर्ग अवश्य मिलता है। भारतीयों की यही आस्था इस देश में न केवल बड़े-बड़े महा-प्रासादों के निर्माण एवं प्रतिष्ठा में सहायक हुई वरन् प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, जिसके पास थोड़ी भी सम्पत्ति है वह भी बड़े मठ न सही तो छोटी मठिया ही सही, बनवाने की कामना करता आया है। अग्निपुराण (अध्याय ३०.८ २५-२६) का ऐसा ही आदेश है।

हिन्दुओं ने अपने मन्दिरों के बनाने में अगाध श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित की, अन्यथा इतनी प्रभूत धनराशि का व्यय ये यों ही नहीं कर देते। यजमानों की श्रद्धा एवं भक्ति तो थी ही, प्रासाद-कर्ता स्थपतियों की भी सहिष्णुता, अध्यवसाय-शीलता एवं

तन्मयता कम न थी, अन्यथा ऐसा वास्तु-वैभव नही प्रादुर्भूत हो सकता था। अन्त में मन्दिर-निर्माण के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयोजन की ओर संकेत कर इस स्तम्भ को समाप्त कर आगे बढ़ना है। यह हम जानते ही हैं कि हिन्दुओं में ईसाइयों अथवा मुसलमानों के सदृश सामूहिक पूजा का न तो प्रचार ही था और न उसकी महत्ता ही समझी गयी। यही कारण है कि मन्दिर की रूपरेखा, उसका न्यास तथा उसका आभ्यन्तरिक प्रदेश न तो सामूहिक पूजा के लिए (जैसे मुसलमानी मसजिदें अथवा ईसाइयों के गिरजाघर) उपयुक्त होते थे न उस दृष्टि से इनका निर्माण ही होता था। कालान्तर में, जैसा दक्षिण-भारत के मन्दिरों में देखने को मिलेगा, प्रासादों का भी निर्माण होने लगा, जहाँ यात्रियों के ठहरने तथा कथा-वार्ता आदि के लिए समुचित स्थान की पूर्ति की गयी। यह सम्भवत: बाहरी प्रभाव ही समझना चाहिए। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मण्डपों की रचना एक आवश्यकता की पूर्ति भी थी।

प्राकृतिक धार्मिक क्षेत्रों (पुष्कर क्षेत्र आदि) के सम्बन्ध में ऊपर संकेत हुआ है। पूजा के ये क्षेत्र कालान्तर पाकर हिन्दू-विश्वास एवं आस्था में तीर्थों के नाम से पुकारे गये हैं। ये तीर्थभूमियां (सरितातट, पुष्करिणीतट, जैसे पुष्करादि क्षेत्र) प्रकृतिनिर्मित थे, मन्दिर कला के द्वारा निर्मित होकर तीर्थ बने। भक्त यात्री के लिए मन्दिर भी तीर्थ हैं। तीर्थों के ही सदृश मन्दिरों का दर्शन एवं उनकी प्रदक्षिणा शास्त्रों में विहित है। इसी प्रयोजनानुरूप समरांगण के बहुत-से प्रासादों के निर्माण-तत्त्वों में अन्धकारिका (सर्कमबुलेटरी पैसेज) के निर्माण का आदेश है, जिनकी संज्ञा सान्धारक प्रासाद हुई। इसी प्रकार अन्य नाना प्रासाद-निवेश भी कालान्तर पाकर विकसित हुए और मन्दिर एक नगर के रूप में परिणत हो गया।

कर्तृ-कारक व्यवस्था

जिस प्रकार वैदिक यज्ञों में यजमान पुरोहित को वरण कर यज्ञ करवाता है और यज्ञान्त में आचार्य-पुरोहितों को दक्षिणा से तुष्ट कर यज्ञफल का भोगी होता है, उसी प्रकार मन्दिर को बनवाने वाला स्थापक आचार्य का वरण कर स्वयं यजमान की कोटि में आकर स्थपति के द्वारा प्रासाद-निर्माण कार्य सम्पन्न करता है—ऐसी शास्त्रों की व्यवस्था है। अतः स्थपति हुआ कर्ता (निर्माता) तथा यजमान हुआ कारक। परन्तु कर्ता स्थपति बिना स्थापक आचार्य वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण के अकेले कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। विश्वकर्मा भी तो बिना ब्रह्मा की प्रेरणा एवं अध्यक्षता के अपनी विश्वरचना न कर सके, क्योंकि विश्वकर्मा इस विश्वरचना के एक मात्र कार्य-प्रतीक थे न कि विचार-प्रतीक, विचारप्रतीक तो ब्रह्मा है। उसी प्रकार विश्व के प्रतिकृति

रूपी प्रासाद के निर्माण मे विश्वकर्मा के वंशज स्थपति को बिना स्थापक आचार्य के कैसे सफलता मिल सकती है। यही कर्ता और कारक के बीच का केन्द्र-बिन्दु है—जिसकी प्रेरणा से यह कार्य निष्पन्न होता है।

विभिन्न मन्दिरो की कर्तृ-कारक व्यवस्था भी एक-सी नही है। इस तथ्य पर समरांगण के निम्न प्रवचन विशेष द्रष्टव्य है —

मेरोः प्रासादराजस्य देवानामालयस्य च।
कर्ता क्षत्रिय एव स्याद् वंश्योऽस्य स्थपतिर्भवेत्॥
एवं विधीयमानेऽस्मिन् मेरौ द्वावपि नन्दतः।
वास्तुशास्त्रविधिज्ञोऽपि क्षत्रियः स्थपतिर्यदि॥
तदास्य सत्यं शौचं च विक्रमश्च विनश्यति।
ईश्वरोऽपि यदा विप्रो मेरुप्रासादकृद् भवेत्॥
कर्तुः कारयितुः पीडा पूजा चास्य न तादृशी।
ब्राह्मणः स्थपतिश्चास्य वास्तुशास्त्रविशारदः॥
वणिक्कर्मणि वर्तेत धनवानपि यद्यसौ।
सर्वविप्रेषु निर्दिष्टः कर्ता स्थपतिरेव सः॥
तत्रस्था देवताः सर्वास्तस्य वृद्धिः कथं चन।
वास्तुशास्त्रविधिज्ञोऽपि तत्तत् कारयिता यदि॥
राजापि क्षत्रियः कर्ता यदा मेरोर्भवेत् तदा।
राष्ट्रभंगो भवेत् तस्य प्रजा यान्ति दिशो दश॥
क्षत्रियेण नरेन्द्रेण कर्त्रा स्थपतिना यदि।
मेरोः पूजा भवेत् तत्र क्षत्रियोऽप्यक्षयं पदम्॥

इसी प्रकार अन्य निर्देश भी है। एक ही निदर्शन पर्याप्त है। यहां पर सूत्र रूप मे कर्ता-कारक व्यवस्था का मर्म यह है —

कारक—यजमान (मन्दिर बनवाने वाला)

कर्ता—स्थपति। इन दोनो के बीच का मध्यस्थ, गुरु, आचार्य—स्थापक

अत भारतीय वास्तु-शास्त्र मे नाद-ब्रह्मवाद तथा शब्द-ब्रह्मवाद के अनुरूप ही वास्तु-ब्रह्मवाद की आधारभूत कल्पना का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। त्रिगुणात्मिका सृष्टि के लिए मन्दिर भी एक नवीन कलात्मक विश्वप्रतिकृति या प्रतीकात्मक अभिनव सृष्टि हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सदृश स्थापक, स्थपति तथा कारक-यजमान तीनो की इसमे आवश्यकता है।

यजमान तथा स्थापक--गुरु के सम्बन्ध मे विशेष उल्लेख नही है। स्थापक वेदज्ञ विद्वान् होने के साथ-साथ वास्तु-शास्त्र का ज्ञाता हो यह तो उल्लेख है। अब रही स्थपति की बात, उसके सम्बन्ध मे, उसकी चतुर्विध श्रेणियाँ तथा योग्यता आदि के मर्म का समरागण की दिशा से समुद्घाटन लेखक ने 'स्थपति तथा स्थापक' नामक पिछले अध्याय मे किया है, पाठक उसको वही पढे।

३. निवेश-योजना (वास्तुपद तथा वास्तु-पुरुषमण्डल)

मानसार आदि शिल्पशास्त्रों मे वास्तु शब्द का तात्पर्य १—धरा, २—हर्म्य, ३—यान तथा ४—पर्यक है।

धरा आधार है हर्म्य आधेय। आधार-आधेय भाव की व्यापक कल्पना भी हो सकती है जब कि आधार-आधेय भाव का द्वैतत्व विलीन होकर एकत्व—अद्वैतत्व के क्रोड मे क्रीडा करने लगे। सम्भवत वास्तु-ब्रह्मवाद, जिसकी ओर अभी निर्देश किया गया है, इसी तथ्य का समर्थक है। समरागण के प्रथम ५, ६ अध्यायो मे वर्णित विषयों के अनुरूप (इन विषयों का निर्देश पूर्व अध्ययन मे किया जा चुका है) वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र न केवल पुर, ग्राम, खेटक तथा भवन, हर्म्य, राजप्रासाद एव देवतायतन आदि तक सीमित है वरन् समस्त विश्व अथवा कम-से-कम समस्त पृथ्वी ही वास्तु-विद्या का विषय है। पृथु तथा पृथ्वी के सवाद एव विश्वकर्मा के सवाद आदि मे यही मर्म छिपा हुआ है।

अस्तु, मन्दिर-वास्तु के विवेचन के उपोद्घात मे वास्तु-ब्रह्मवाद के सिद्धान्त की ओर पाठको के ध्यान आकर्षित करने का एक मात्र तात्पर्य प्रासाद के व्यापक स्वरूप—विश्वप्रतिकृतित्व का बोध कराना था। इसके अतिरिक्त वास्तु-पुरुष की कल्पना भी भारतीय वास्तु-विद्या के इसी मर्म की पोषक है।

प्रत्येक निवेश्योचित भूमि की संज्ञा, वह चाहे पुर के लिए हो या नगर के लिए, साधारण जनोचित आवास भवनों के लिए हो या देवमन्दिरों के लिए, वास्तु-पद के नाम से दी गयी है। वैसे तो समरागण में तथा अन्य ग्रन्थो मे भी वास्तु-पद की विभिन्न आकृतियो का निर्देश किया गया है। मयमत तथा मानसार मे ३२ प्रकार के वास्तु-पदो (सरल आदि) के निर्देश हैं। परन्तु वास्तु-पद का मर्म है—निवेश्य भवन की निविष्ट भौमिक एव बौद्धिक योजना। वास्तु की प्रमुख एव सर्वश्रेष्ठ आकृति है चतुरस्राकार। इसकी सज्ञा है वास्तु-पुरुष-मण्डल। इसके तीनो शब्द—वास्तु, पुरुष तथा मण्डल अपने-अपने क्षेत्र मे बड़े ही मार्मिक हैं। वास्तु का तात्पर्य सत्ता की व्यापकता से है जो सर्वत्र व्याप्त होते हुए भी निवेश्य प्रासादोचित

भूमि के एकत्व की परिचायिका है। पुरुष का तात्पर्य विश्वमूर्ति—ब्रह्म की प्रतिमा वास्तुपद के साथ एकीकृत एवं सन्तानित परिणाम से है। मण्डल का तात्पर्य कोई भी बद्ध रेखा-योजना है। बृहत्संहिता के अनुसार कोई भी चतुरस्राकृति त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण तथा वृत्त में परिणत होती हुई भी अपनी प्रतीकता को बनाये रख सकती है (देखिए बृ० ५२ वां अध्याय)। हिन्दू दृष्टि में चतुरस्राकृति ही मौलिक आकृति है।

चौकोर आकार विश्व एवं विश्व के निवासियों की पूर्णता का प्रतीक है। मानव-जीवन के पुरुषार्थचतुष्टय की सम्पन्नता का भी इसमें संकेत है। प्रकृत में प्रासाद की प्रतिष्ठा भू पर अभिप्रेत है। भू गोल है, वर्तुल रूप में वह घूमती है। परन्तु जब उसे स्थिर, दृढ़ बनाना है तो उसको चतुरस्राकार में परिणत करना होगा। वास्तु-मण्डल की चतुरस्राकृति का यही मर्म है।

वास्तु-पुरुष-मण्डल के सम्बन्ध में हिन्दू शास्त्रों में बड़ा गहन विवेचन है। उस पर तो अलग से एक पुस्तक लिखी जा सकती है। अतः संक्षेप में हम वास्तु-पुरुष की वैदिकोत्पत्ति का संकेत करते हुए उसके विभिन्न स्वरूपों के रहस्यों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे। वास्तु-पुरुष-मण्डल के तीन स्वरूप प्रासाद के स्वरूपत्रय के आनुषंगिक हैं। तात्त्विक दृष्टि से, दर्शन की दृष्टि से प्रासाद परा शक्ति का प्रतीक है—यह है उसका प्रथम स्वरूप। उसके निवेश्य योजना-प्रतीक गर्भगृहादि से उसका सूक्ष्म स्वरूप प्रकट है तथा विवरणात्मक एवं वर्णनात्मक दृष्टि से उसका स्थूल शरीर अर्थात् भौतिक स्वरूप भी प्रत्यक्ष दृश्यमान है।

वास्तु-पुरुष की वैदिक उत्पत्ति के विषय में संकेत किया गया है (देखिए हिन्दू प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठभूमि, वैदिकी)। चतुरस्राकार वास्तु-पुरुष-मण्डल की आकृति में विकासमान जीवन की सत्ता तथा पूर्णता दोनों ही विद्यमान हैं। भारतीय वास्तु-कला में चौकोर तथा गोल दोनों आकृतियों का समन्वय है तथा इस समन्वय के बीज वैदिक वेदी से प्रारम्भ होते हैं। प्राचीन यज्ञशाला की तीनों वेदियों के स्वरूप पर दृष्टि डालिए तो उत्तर वेदी, आहवनीय अग्नि, उत्तर वेदी की नाभि तथा उखा आदि सभी की आकृति चौकोर है। प्रासाद-वास्तु के जन्म में वैदिक वेदी की उत्पत्ति-प्रतीकता पर प्रथम ही संकेत किया जा चुका है।

अथच हम यह भी जानते हैं कि प्रासाद में चौकोर वेदी ही पावन स्थल है। वृत्ताकार पृथिवी केवल प्रत्यक्ष दृश्यमान एवं गतिमान् रूप में विद्यमान है, परन्तु जब तक पृथ्वी का सम्मिलन स्वर्ग से—अन्तरिक्ष से—पृथ्वी से ऊपर दूसरे जगत से—देवलोक से नहीं होता, तब तक स्वर्ग एवं मर्त्य के मिलन-प्रतीक प्रासाद के योग्य वह

नहीं बनती, अतएव उसका वर्तुल स्वरूप जो अपूर्ण है चौकोर होकर पूर्ण हो गया। अतएव विभिन्न वास्तुपदों (१ से लेकर ३२ प्रकार–सकल आदि) में मण्डूक वास्तु या ६४ पद-वास्तु सबसे अधिक प्रशस्त माना गया है। यह मत वराहमिहिर का है, क्योंकि समरांगण में वराहमिहिर के प्रतिकूल प्रासादों का निर्माण शतपद वास्तु से विहित बताया गया है। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे चर्चा होगी।

जब चारों दिशाओं का पूर्ण सान्निध्य लाभ हो तो गोल, गतिमान् भू चौकोर हो ही जायगी। वास्तु-पुरुष-मण्डल के इस भौतिक स्वरूप के साथ ही इसके सूक्ष्म स्वरूप का सम्बन्ध सौरमण्डल से है। इसी आधारभूत सिद्धान्त के अनुरूप वास्तु-मण्डल पर प्रतिष्ठित पुरुष तथा देवतागण (जिनकी संख्या ३२ है) चौकोर वास्तु-मंडल की आठों दिशाओं में आठ वास्तु-पुरुषों की प्रतिष्ठा करते हैं। इन आठों में से प्रत्येक नक्षत्र एवं ताराओं से सम्बन्धित है। विष्णुधर्मोत्तर की ऐसी ही व्याख्या है। इस व्याख्या को यदि हम भौतिक शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की कसौटी पर कसें तो हमें इन देवों में सौर-तत्त्व का पूर्ण आभास प्राप्त होगा। पीछे के अध्ययन में सूर्य के रश्मिमण्डल से इन देवों के सात्मय पर हम कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। सूर्य की रश्मियों के सचार के अनुरूप ही भवन या प्रासाद का निवेश विहित है, जिसे आजकल की भाषा में बिल्डिंग का ओरियन्टेशन कहा जाता है। डा० क्रैमरिश ने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' में सौरमण्डलीय नक्षत्रों एवं ताराओं के साथ वास्तु-पुरुष-मण्डल के अधिपति देवों का जो तादात्म्य एवं परस्परायत्तता प्रमाणित की है वह भारतीय स्थापत्य का रहस्य है। यही कारण है कि प्राचीनों ने वास्तु-शास्त्र तथा ज्योतिष-शास्त्र इन दोनों को परस्पर उपकारक माना है।

विश्वप्रतीक पुरुष (जो प्रासाद का आधार एवं आधेय दोनों है) का थोड़ा-सा सकेत किया जा चुका है। उस पुरुष की कल्पना के लिए ही तो वास्तु-पुरुष-मण्डल की रचना की जाती है। यह रचना ही, जैसा कि तात्त्विक दृष्टि से एवं सूक्ष्म रूप से पूर्व निर्दिष्ट हुआ है, आगे इष्टका एवं पाषाणमय प्रासाद रचना का आधार बनती है—यही स्थूल रूप स्थूलाकृति प्रासाद का आधार है। यही कारण है कि वास्तु-विद्या एवं वास्तु-कला में वास्तु-पुरुष की कल्पना को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। समरांगण ने अष्टांग स्थापत्य का प्रथम अंग वास्तु-पुरुष-कल्पना को माना है—

तेष्वंगं प्रथमं प्रोक्तं वास्तुपुंसो विकल्पना।

वास्तु-पुरुष-मण्डलीकरण की परम्परा न केवल पुरातन ही है, आजकल भी क्या मन्दिर, क्या वास-भवन सभी के निर्माण के प्रथम यह मण्डलीकरण हिन्दू दृष्टि से अनिवार्य प्रथम सोपान माना जाता है।

वास्तु-पुरुष-मण्डल निवेशोचित मन्दिर प्रदेश के निर्माण-कार्य का प्रथम अंग है। इस कला की दक्षता प्राप्त करना स्थपति की प्रथम योग्यता है।

वास्तु-पुरुष-मण्डल का एक महत्त्वपूर्ण अंग मर्मज्ञान है। यदि प्रासाद पुरुष है (देखिए "प्रासादं पुरुषं मत्वा", "प्रासादं वासुदेवस्य मूर्तिभेदं निबोध मे", "प्रासादो भास्करी तनु.", "शैवी मूर्ति खलु देवालयाख्या" आदि आदि प्रवचन) तो उस पुरुष का मर्म-पीडन बचाना ही है। स्थापत्य की भाषा मे भवन के प्रमुख अगों का, स्तम्भ, द्वार, भित्ति आदि का कहाँ पर न्यास उचित है, कहाँ वर्जित है—यही उसका सार है। अत मर्मवेध बचाने के लिए वास्तु-शास्त्र का कठोर आदेश है।

अथच वास्तु-पुरुष-मण्डल के मर्म वेध का निष्कर्ष यह है कि सूत्र मान की कल्पना प्राण के रूप मे की गयी है। अत ये सूत्रमान केवल वास्तुरेखा ही नही समझने चाहिए वरन् वे प्राण-प्रतीक है। उनका वेध उन पर स्तम्भादि-सन्निवेश न करके बचाना चाहिए, अन्यथा कुपरिणाम निश्चित है। अथच वास्तु-पुरुष-मण्डल के पुरुष कलेवर का एकाकार मन्दिर निर्माता यजमान से भी है। अत प्रासाद के प्रतिकृतिरूप वास्तु-पुरुष-मण्डल के किसी भी भाग का पीडन, मर्मों का पीडन कारक यजमान तथा कर्ता स्थपति दोनो के लिए अनिष्टदायी है।

४. वास्तु-पुरुष एवं वास्तु-ब्रह्मवाद

प्रासाद-भवन वास्तु-पुरुष की सस्थिति से ही शक्ति सगृहीत करता है। यह वास्तु-पुरुष उस प्रासाद-भवन के पीठ पर स्थित होकर अपनी सज्ञा एव स्थिति के सान्निध्य मे वास्तु-मण्डल को पुरुषाकार मे परिणत कर देता है। यही पुरुषाकृति तो प्रासाद की भी आकृति बतलायी गयी है। अग्निपुराण, विष्णुसहिता, हयशीर्षपचरात्र, ईशान-शिवगुरुदेवपद्धति आदि सभी ग्रथ प्रासाद को पुरुष के रूप मे ही प्रकल्पित करते है—यह हम देख ही चुके है। मन्दिर निर्माण के प्रत्येक सस्कार, जैसे—वास्तु-पद-विभाग, वास्तु-मण्डलीकरण, पुरुष तथा पुरुषागदेवतानिवेश आदि सभी प्रारम्भिक कृत्यों के साथ शिलान्यास, बलिकर्म, वास्तु-शान्ति, अकुरारोपण, प्रासाद-मूर्तिस्थापन, नेत्रोन्मीलन आदि जो परम्परा से अत्यन्त अनिवार्य प्रासाद-वास्तु-कर्म प्रतिष्ठित है—उन सभी के अंतस्तल मे—प्रासाद के अन्तरग मे पुरुष-सत्ता का मर्म छिपा हुआ है।

वास्तु-पुरुष पर प्रतिष्ठित प्रासाद, प्रासाद-पुरुष मे परिणत हो जाता है। उसे वैदिक भाषा में हिरण्यपुरुष कहा गया है। तैत्तिरीय सहिता (५.२.७ १) मे जो वैदिक वेदी पर हिरण्मय पुरुष की प्रतिष्ठा का प्रवचन है उसीमे प्रासाद की प्रतिष्ठा का रहस्य भरा हुआ है। सूर्य के स्वर्णिम रश्मि-जाल से अनुप्राणित वास्तु-पुरुष प्रासाद की मौलि

पर अपनी आभा से भास्वर प्रासाद पुरुष–हिरण्मय पुरुष की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित होना है।

अत. इस वास्तु-पुरुष को समझने के प्रथम "पुरुष" की महाकल्पना को समझने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। ऋग्वेद के इन मन्त्रों की ओर ध्यान दीजिए —

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति॥
एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

यहाँ पर पुरुष के दो स्वरूपो की ओर वैदिक ऋषियो ने हम लोगो का ध्यान आकर्षित किया। जिस पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई वह पुरुष समस्त विश्व का नियन्ता है और वह अपने निगूढ स्वरूप मे विद्यमान है। अथच विराट् से जिस पुरुष की पुन उत्पत्ति हुई वही वास्तु-ब्रह्म के रूप मे (देखिए नारद का वास्तु-विधान, ८–१४) परिकल्पित हुआ। समरागणसूत्रधार की वास्तु-ब्रह्म की कल्पना पर हम ध्यान दे चुके हैं। जिस पाठ को अन्य विद्वानों ने (देखिए श्रीमती स्टेला) "वास्तु-ब्रह्म ससर्जादौ" माना है—वह लेखक की समझ मे ठीक नही। समरागण ने यहाँ पर भारतीय वास्तु-ब्रह्मवाद की ओर सकेत किया है। अत. "वास्तु-ब्रह्म सदाविश्य व्याप्नोति सकल जगत्" यह पाठ विशेष सगत है और लेखक की यह धारणा उपर्युक्त वैदिक मंत्र से पुष्ट भी होती है कि विराट् विश्वचित् (कौसमिक इन्टेलिजेन्स) से अधिपुरुष—आधार-पुरुष वास्तु-ब्रह्म की उत्पत्ति हुई। पुरुष की इसी भावना की पुष्टि प्रजापति तथा अग्निप्रजापति की भावना से भी होती है। वास्तु-विद्या-परम्परा मे वास्तु-पुरुष के विभिन्न चित्रो की परम्परा है, जैसे आत्मपुरुष, कालपुरुष, नक्षत्रपुरुष। इन सभी पुरुषो में 'पुरुषसूक्त' का ही पुरुष ज्ञेय है जो काल तथा देश दोनो का प्रतीक है। उसी की प्रथम वास्तु-प्रतिकृति के अनुरूप ये परम्पराएँ सगत है। वास्तु-पुरुष-मण्डल पर प्रतिष्ठित देवो, नक्षत्रो आदि का यही रहस्य है। नक्षत्र-पुरुष मे प्रतिष्ठित शिशुमारचक्र के सान्निध्य से वास्तु-पुरुष का सम्बन्ध प्रतिश्रुत है। अथच यहाँ पर एक रहस्य और निदेश्य है कि वह वास्तु-पुरुष नक्षत्रो के समान ही नीचे की ओर मुख करके लेटा हुआ है। यह प्रायः सभी वास्तु-शास्त्रो मे निर्दिष्ट है कि वास्तु-पुरुष उत्तानशायी न होकर अनुत्तानशायी है।

मत्स्यपुराण, शिल्परत्न, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु-पुरुष की एक और परम्परा है जिसका एक रोचक आख्यान है। उसका पतन लाक्षणिक है। उसकी आकृतियाँ भी नाना है। अजामुख की आकृति से उसका नाम छागासुर भी है। यह 'पतन' आभिचारिक यज्ञ का परिणाम है। भार्गवीय यज्ञ से उत्पन्न छागासुर ने समस्त विश्व को व्याप्त कर लिया था। वास्तु-पुरुष के अनेक अवतरणो मे अजमुखाकृति सर्वसाधारण नही है। इस प्रकार यह पतित असुर अनुत्तानशायी होता है। अत उसकी कल्पना भूमिशायी ही नही—भूमि-भाग भी हो गयी। इसका यही पुरुषार्थ था जिसे इसने प्राप्त कर लिया। इस प्रकार जो भी भवन इस पर प्रतिष्ठित हुए वे दृढ हो गये। उसकी आसुरी शक्ति का नियत्रण करने वाले देवगण है, अतएव वास्तु-पुरुष-मण्डल पर प्रतिष्ठित देवो का महत्त्व है। अग्नि प्रजापति जो पुरुष के रूप मे वेदी पर प्रतिष्ठित था वह उत्तानशायी था, वहाँ असुर ने भूमिशायी होकर वास्तु-पुरुष की सज्ञा प्राप्त की। यह सब बडा ही रोचक एव विस्तृत कथानक है। विस्तार भय से इसे यही पर समाप्त करना उचित होगा।

५. प्रासाद-द्रव्य

अभी तक हम प्रासाद के आध्यात्मिक एव सूक्ष्म स्वरूप के निवेश एव आधार के सम्बन्ध मे विचार करते रहे। अब उसके मूर्त स्वरूप—स्थूल स्वरूप की विवेचना करनी होगी। अपार्थिव स्वर्ग का पार्थिव ससार से जब जब मिलन हुआ तब तब पृथ्वी ने अपने सहज सौन्दर्य एव आकर्षण से स्वर्ग को अपने ऊपर प्रतिष्ठित किया। प्रासाद निर्माण भूतल पर स्वर्ग का अवतारण है। स्वच्छन्दचारी, आकाशगामी देवविमानो की स्थापना चुके सकेत पूर्व ही दिये जा चुके है—वे सब इसी आधारभूत भावना के परिचायक है।

मानव का सघर्ष ही देवत्व की प्राप्ति है—यही चिरन्तन भारतीय सस्कृति का मर्म है। आर्यों एव अनार्यो—देवो एव असुरो के सघर्ष से आक्रान्त हिन्दू शास्त्र तथा पुराण—सब इसी रहस्य का उद्घाटन करते है। मानव सभ्यता की कहानी भी तो इसी भव्य भावना की प्रतीक है। मानवता ने जब आदिम सभ्यतारूपी सूर्य के आलोक को देखा तो अपने को देवो के क्षेत्र मे किलोले करते हुए पाया। देवो से विच्छेद की कहानी ही ससार की कहानी है (देखिए सहदेवाधिकार, स० सू०, ६ठा अध्याय)। अत. उस विच्छेद को मिटाने के लिए पुन. संयोग की अभिलाषा ने ही मानव के सब व्यापार—इष्ट तथा पूर्त परिकल्पित हुए है। मन्दिर निर्माण पूर्त का सबसे बडा अग है। इसी मे मानव के योगक्षेम की साधना एवं सिद्धि की सर्व जनानुरूप व्यवस्था है—'पापुलर हिन्दूइज्म' की यह सबसे बड़ी देन है।

अस्तु, प्रासाद के स्थूल रूप की सामग्री के विभिन्न द्रव्यों पर विचार करने के प्रथम हम शिलान्यास आदि प्रारम्भिक संस्कारों के साथ-साथ बलिदान विधान, सूत्रपात विधि, आयादि निर्णय पर आवश्यक निर्देश करें तो अप्रासंगिक न होगा। आधुनिक युग में भी जब कभी बड़े-बड़े भवनों, राज्यकार्यालयों, विद्यालयों अथवा किसी भी जनोचित्त भवन का निर्माण अभिप्रेत होता है तो किसी प्रख्यात पुरुष के करकमलों द्वारा उस भवन-विशेष का शिलान्यास होता है। पुरातन परम्परा अब धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है—यह खेद का विषय है। परन्तु यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि आज भी पूजावास्तु, देवमन्दिर अथवा किसी भी धार्मिक भवन की जब सम्पन्न पुरुष प्रतिष्ठा करते हैं तब प्राचीन पौराणिक परम्परा का यथाविधि पालन किया जाता है।

निराकार पुरुष को साकार मूर्तस्वरूप प्रदान करने के लिए जिन प्राकृतिक साधनों —पाषाण-शिला, पक्वेष्टका, वृक्षदारु आदि का उपयोग किया जाता है उनकी सन्निवेश-योजना में इन सभी पुरातन संस्कारों की परम्परा विद्यमान है। इष्टकान्यास प्राचीन वैदिक यज्ञवेदी रचना में होता ही था। भारतीय आर्यावर्तीय परम्परा में नागों के द्वारा नागर-पाषाणकला के अपनाये जाने के सम्बन्ध में हम संकेत कर ही चुके हैं। प्राचीन हिन्दू-मन्दिरों में सर्वप्रथम पक्वेष्टका, मृत्तिका तथा वृक्षदारु का ही प्राधान्य था—ऐसा ऐतिहासिक मानते हैं। परन्तु ईसा पूर्व ५ वीं शताब्दी में ही हिन्दुओं ने पाषाण को मन्दिर के निर्माण-द्रव्यों में अपना लिया था—ऐसा विश्वास है। पाषाण का सर्व प्रथम प्रयोग भारतीय वास्तु-कला में प्रासादों—देवतायतनों के निर्माण में ही हुआ था। वास्तु-ग्रन्थों (देखिए मयमत, विष्णुधर्मोत्तर, कामिकागम आदि) में कुछ उल्लिखित संकेतों से ऐसा विदित होता है कि जनावासोचित भवनों के लिए पाषाण-द्रव्य वर्ज्य था।

प्रासाद शब्द के अर्थ (प्र + सादनम्, प्रकर्षेण सादनम्—इष्टकानां शिलानां वा चयनमित्यर्थः) के अनुसार उसकी प्रकृति रूप पुरुष की विकृति के लिए प्राकृतिक द्रव्यों की उपादेयता तथा प्रासाद के कलेवर की मूर्तता वाञ्छित है।

विद्वान् पाठकों से यह अविदित नहीं है कि इस देश में प्रतिमा-पूजा का प्रचार उन अज्ञों (जो ज्ञानी—ब्रह्मज्ञानी नहीं) के लिए प्रारम्भ हुआ था जो योगादि-साधना से ब्रह्म-चिन्तन एवं ब्रह्म प्राप्ति करने में असमर्थ थे। क्रान्तदर्शी हिन्दू ऋषियों एवं महर्षियों ने उस प्रकृति रूप निराकार ईश्वर की उपासना के लिए विकृति रूप देवतायतनों एवं देवप्रतिमाओं की परम्परा का प्रचार किया तथा उसमें उन्हीं तत्त्वों का प्रत्येक पूजा-वास्तु के इन प्रतीकों में समावेश किया जिससे अ-ब्रह्मज्ञानी, अ-योगी भी परमपद को प्राप्त कर सके।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने स्पष्ट ही लिखा है—

प्रकृतिर्विकृतिर्यस्य रूपेण परमात्मनः ।
अलक्ष्यं तस्य तद्रूपं प्रकृतिस्सा प्रकीर्तिता ।।
साकारा विकृतिर्ज्ञेया तस्य सर्वं जगत्स्मृतम् ।
पूजाध्यानादिकं कर्तुं साकारस्यैव शक्यते ।।

अर्थात् परमात्मा के दो रूप हैं—प्रकृति तथा विकृति । उसके अलक्ष्य रूप को निराकार प्रकृति कहते हैं, साकार रूप को विकृति । विकृति का ही यह खेल सम्पूर्ण जगत है । अर्थात् अपने विकृति रूप में ही वह परमात्मा सर्वत्र विश्व में व्याप्त है और साकार विकृति रूप का ही पूजन-ध्यान आदि किया जा सकता है ।

अब हम क्रमश इन उपर्युक्त प्रासाद द्रव्यों की समीक्षा करेंगे—

इष्टका

प्रासाद द्रव्यों में सबसे पुरातन द्रव्य इष्टका है । हो सकता है—पूजा-वास्तु के प्रथम प्रादुर्भाव में ये इष्टकाएँ मृन्मयी और अपने अपक्व रूप में रही हों—ऐसी सम्भावना है । वैदिक यज्ञों में इष्टकाचयन सम्भवत अपक्व मृन्मयी इष्टकाओं (कच्ची मिट्टी की बनी ईंटों) का ही होता था, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण आदि पुरातन वैदिक ग्रन्थों में वेदी-रचना के लिए जो आवश्यक इष्टकाओं के सभार का संकेत है उससे यह विदित होता है कि अग्नि में ही ये अभिनिविष्ट हो स्वय पक्व हो जाती थीं ।

इसी प्राचीन वैदिक मृन्मयी इष्टकाओं की अग्नि-चयन परम्परा से कालान्तर में प्रासाद-निर्माण में पक्वेष्टकाओं का प्रयोग चल गया होगा । हाँ यह भी सत्य है कि कच्ची इष्टका की अपेक्षा पक्वेष्टका कहीं अधिक दृढ एव स्थिर होती है—अतएव स्थिर तथा दृढ वास्तु के लिए उन्हीं का प्रयोग परमावश्यक समझा गया हो ।

जिस प्रकार वैदिक यज्ञ परम्परा में इष्टकाओं को यज्ञतनु के नाम से पुकारा गया है (देखिए तै० स०) उसी प्रकार प्रासाद का कलेवर भी इष्टकाएँ मानी गयी हैं । क्योंकि अनेक स्थलों पर हम प्रासाद को पुरुष का प्रतीक मान चुके हैं ।

प्रासाद में इष्टका-प्रयोग के प्रथम उनके आवाहन की भी रीति प्राचीन वैदिक यज्ञ परम्परा की ही अनुगामी है । इष्टका चौकोर होती है, सूत्र ग्रन्थों में इनके माप आदि पर विशेष विवेचन किया गया है । इष्टकान्यास के प्रथम मत्रों के द्वारा उनमें वाक्-शक्ति की प्रतिष्ठा की जाती थी । शतपथ ब्राह्मण के प्रवचनों को पढ़िए । उसमें इष्टका-मर्म एव आकृति का सुन्दर विवेचन है । इष्टका भू है । प्रथम इष्टका का नाम आषाढा । है । अत भू भी तो आषाढा है । अत प्रथमेष्टकान्यास भून्यास हुआ । अथच भू

चतुरस्रा है अतः इष्टका भी चतुरस्रा प्रकल्पित हुई। ये ही इष्टकाएँ वैदिक याग में अग्नि के अंगो के रूप में परिकल्पित थी। अतः इष्टका भू तथा वाक् दोनों ही होने के कारण देवी के रूप में परिकल्पित है।

हिन्दू-प्रासादों के निर्माण में इष्टकान्यास की परम्परा आज भी प्रचलित है। वैदिक अग्नि चयन की जो परम्परा विहित है वही प्रासाद निर्माण में भी है। इष्टकान्यास प्रासाद की स्थापना या शिलान्यास का प्रमुख अंग है।

पाषाण शिला

यह हम पहले ही लिख चुके है कि पाषाणशिलाओं का प्रासाद-निर्माण में अपेक्षाकृत बाद में प्रयोग हुआ है। परन्तु भारतीय पूजा वाङमय के परिशीलन करने वाले पाठकों से यह अविदित नही है कि वैदिक यज्ञ की परम्परा से पुनीत (अथवा इष्टि-यज्ञ से सम्बन्धित) "इष्टका" संज्ञा न केवल मृन्मयी ईंटों के लिए अथवा पकी ईंटों के लिए वरन् पाषाणशिलाओं, दारु आदि सभी मन्दिर के निर्माणद्रव्यों के लिए व्यवहृत हुई है। इष्टका-निर्मित प्रासाद, शिला-विरचित मन्दिर अथवा दारुमय विमान—सभी की प्रथम स्थापित इष्टका, शिला तथा दारु 'ईंट' ही मानी गयी है।

इष्टकान्यास के समान ही शिलान्यास की भी पुनीत वास्तु-परम्परा कालान्तर पाकर पल्लवित हुई जो आज भी जागरूक है। इष्टकान्यास के स्थान पर "शिलान्यास" की संज्ञा आजकल विशेष प्रचलित है। शिलान्यास की परम्परा भी कम प्राचीन नही है। समरांगणसूत्रधार के समय में भी शिलान्यास की ही परम्परा विशेष प्रचलित थी। समरांगण के शिलान्यास-प्रवचन पर अभी आगे ध्यान दिया जायगा। यहाँ पर इतना ही संकेत आवश्यक है कि नागर-शैली के अनुरूप यह हिन्दू परम्परा (शिला-न्यास) ईसा के पूर्व (जैसा कि इन पुरातत्त्वीय स्मारकों से स्पष्ट है; वेसनगर का उत्तम अमरावती प्रासाद, मथुरा का मोरा वेल इन्स्क्रप्शन, नगरी उदयपुर का पूजा-शिला प्राकार आदि आदि) से ही प्रचलित हो चली थी—परन्तु चूँकि उस समय प्रासादों के निर्माण तथा अन्य भवनों के निर्माण में दारु तथा इष्टकाओं का अधिकांश प्रयोग होता था—अतः इसका प्रचार सर्वसाधारण सम्भव नही था। वैदिक संस्कारों में पाषाण-शिलाओं के प्रयोग का सर्वथा अभाव था। अतः यह शिला-प्रयोग अपेक्षाकृत अर्वाचीन है—इसमें सन्देह नही।

शिलान्यास की प्रणाली वैदिक इष्टकान्यास के ही अनुरूप है। इष्टकान्यास वाली प्रथमेष्टका अथवा आद्येष्टका की संज्ञा शिलान्यास की प्रथम शिला के लिए भी लागू हुई। इस प्रकार प्रासाद का शिलान्यास इष्टकान्यास के अनुरूप ही विदित है। समरांगण-सूत्रधार के ३५ वें अध्याय में शिलान्यास की इस परम्परा पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है।

मत्स्यपुराण में शिला को ब्रह्म-शिला के नाम से पुकारा गया है। विष्णुधर्मोत्तर में प्रथम-शिला का विस्तृत वर्णन है। बृहत्संहिता मे प्राचीन वैदिक रीति की इष्टकाओं के समान शिलाओ का भी देवियों के रूप में आवाहन बतलाया गया है। शिलान्यास के लिए चारो दिशाओ की चार शिलाओं को वैखानसागम चारो वेदों के रूप मे देखता है। शिलान्यास-संस्कार मे आधार शिला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके न्यास-संस्कार में इसके ऊपर निधिकलश की स्थापना का भी सकेत है। ये सभी संस्कार उपलाक्षणिक है। शक्ति तथा विष्णु के प्रतीक पर प्रासाद के आधार एव दृढता के लिए ही इन शिलाओं का न्यास होता है। पाषाण-शिलाओं का प्रयोग ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा पाषण्डियों के प्रासादो मे ही होना चाहिए (देखिए मयमत १५ ७८)। पाषाणमय प्रासाद के प्राशस्त्य पर पीछे प्रवचन किया जा चुका है (देखिए महानिर्वाण तन्त्र भी, १२ २४,२५, छाद्य प्रासाद मे शतगुण ऐष्टक प्रासाद, ऐष्टक प्रासाद से सहस्रगुण शिला-प्रासाद)।

वैसे शिलान्यास एव शिला-प्रासादों की परम्परा मे कृत्रिम रचनाओ का ही विशेष बोध होता है, परन्तु शिलाओं का अपना एक अकृत्रिम प्रयोग भी था। प्राचीन भारतीय स्थापत्य मे शतश. ऐसे स्मारक हैं जहाँ पाषाण अपने रूप मे ही प्रासाद में परिणत हो गया। एलोरा का कैलास मन्दिर इसी कोटि का है। इनको हमारे वास्तु-शास्त्र (देखिए समरांगणसूत्रधार) लयन के नाम से पुकारते हैं। इन लयनो के भीतर देवो की लीनता में मानवो की वह तन्मयता देखने को मिलेगी जिसे हमने बिछुडे हुए देवों की खोज माना है।

शिलामय प्रासाद नगरो की शोभा बढाने लगे—इसके लिए समरांगण साफ लिखता है—

प्रासादांश्च तदाकारान् शिलापक्वेष्टकादिभिः।
नगराणामलंकारहेतवे समकल्पयत्॥

परन्तु "शिलापक्वेष्टकादिभि" मे आदि शब्द से समरांगणसूत्रधार का क्या तात्पर्य है? सम्भवत दारु आदि अन्य निर्माण-द्रव्यों का यहाँ पर अस्पष्ट सकेत है। जहाँ 'हाल टेम्पुल्स' के निर्माण द्रव्य मे पाषाण अथवा इष्टका-प्रयोग का सकेत है—वहाँ "छाद्य" शब्द से काष्ठ-प्रासादो का भी पूर्ण आभास मिलता है। पाटलिपुत्र तथा मौर्य-कालीन भारत के काष्ठ-भवनों को हम जानते ही है, अत वह परम्परा सम्भवत. समरांगण के समय में विलुप्त नही हो सकी थी। समरांगण मे इष्टका, पाषाण तथा काष्ठ इन तीनो द्रव्यों का स्पष्ट उल्लेख है—

इष्टकाकाष्ठपाषाणैर्मर्त्यलोके पिनन्यकाः।

दारु-प्रासादो की विशेष समीक्षा आगे 'दारु द्रव्य' के प्रसग मे होगी। अब यहाँ पर यह देखना है कि भारतीय प्राप्त प्राचीन प्रासाद-स्मारको में ईंटो तथा पत्थरो के

प्रासादों के कौन-कौन निदर्शन इस दृष्टि से समुपस्थापित किये जा सकते हैं। स्मारकों में ४०० ईसवीय के पाषाण-प्रासाद सुरक्षित हैं। प्राचीनतम इष्टका-प्रासाद का गुप्त-कालीन निदर्शन उत्तर प्रदेश के भीतरगाव के मन्दिर में द्रष्टव्य है। हैदराबाद (दक्षिण) में तार स्थित उत्तरेश्वर तथा सातवी शताब्दी का कालेश्वर मन्दिर और मध्य प्रदेशीय सीरपुरस्थित लक्ष्मण-मन्दिर भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

पीछे राककट आर्कीटेक्चर के निदर्शनों में भारत के गुहामन्दिरों की ओर संकेत किया जा चुका है, ऐसे प्रासादों की वास्तु-शास्त्रीय संज्ञा लयन या गुहराज या गुहाघर है। स० सू० की व्याख्या है—

इदानीं लयनं ब्रूमः स शैलखननाद् भवेत्।
निःश्रेण्यारोहसोपाननिर्यूहकगवाक्षकान्॥
वेदीभ्रमविटंकांश्च प्रतोलीद्वारसंयुतान्।

अर्थात् अब "लयन" प्रासाद का वर्णन करता है। यह शैल-खनन—पर्वतों को काट-काटकर (जैसे एलोरा का कैलासनाथ मन्दिर, एलीफेंटा तथा अजन्ता के चैत्य प्रासाद) निर्मित होता है।

समरांगणसूत्रधार इस प्रकार के प्रासादों से अवश्य परिचित था, परन्तु समरांगण की व्यापक वास्तु-कला की परम्परा के अनुरूप इस प्रकार के प्रासादों का वर्गीकरण "लयन" जातिक प्रासादों में परिगणित हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर में इन निवेशों पर देवों की सनातन उपस्थिति का संकेत किया गया है। समरांगणसूत्रधार के 'सहदेवाधिकार' में देवों एवं मानवों के आदिम सहवास का शैलीय कन्दराओं, उपत्यकाओं, कानन-कुञ्जादि प्रदेशों में जो पूर्व संकेत किया गया है—उसका मर्म भोज ने इन "लयन-प्रासादों" में पूर्ण रूप से व्यक्त किया है। उपलाक्षणिक भाषा में ये लयन प्रासाद 'पुनः प्रकृतिं समागच्छत्' के प्रतीक है—जब मानव अपनी अज्ञानजन्य मानवसुलभ दैवी शालीनता का परित्याग कर अधोगति को प्राप्त हुआ, तब पुन अपनी पूर्व प्रतिष्ठा की प्राप्ति में वह इन्ही स्थानों की शरण आता है जहाँ देवसमागम सुलभ है।

काष्ठ आदि अन्य द्रव्य

प्रासाद-द्रव्यों के प्रमुख घटक इष्टका तथा शिला इन दोनों पर थोड़ी सी समीक्षा हो चुकी है, अब अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी वर्णन आवश्यक है।

बृहत्संहिता के टीकाकार उत्पल ने हिरण्यगर्भ के प्रामाण्य पर नाना द्रव्यीय भवनों का उल्लेख किया है, जैसे —

पाषाण-विनिर्मित	—	मन्दिर
पक्वेष्टका-निर्मित	—	वास्तु-भवन
अपक्वेष्टकारचित	—	सुमन्त
पकमय	—	सुधार
काष्ठमय	—	मानास्य
वंशभव	—	नन्दन
पट्टिश	—	विजय तथा शिल्पविकल्पित
काचमय	—	कुट्टिम

अथच इन द्रव्यों के साथ स्वर्ण, रजत, लाक्षा आदि द्रव्यों का भी निर्देश किया गया है। इन नाना द्रव्यों में काष्ठ आदि की मीमांसा अपेक्षित है।

काष्ठ—भूतल पर प्रथम भवन या शरण की उत्पत्ति का द्रव्य काष्ठ था। प्रकृति से विकृति, देवत्व से नरत्व, परमपद से अधःपतन की ओर प्रस्थान करने वाले मानवों का त्रेतायुग में वृक्ष ही सहारा था। कल्पवृक्षों की छाया में रहने वाले, विहार एवं क्रीडा करने वाले मानव देव-सहवास से विच्छेद पाकर कल्पद्रुमाकार वृक्षों की शरण में आये। अतः शीत से बचने के लिए तथा अन्यान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए (देखिए समरांगणसूत्रधार का सहदेवाधिकाराध्याय) मानवों ने वृक्षों की शाखाओं से अपने प्रथम भवन का निर्माण किया। ऐसा ही वर्णन ब्रह्माण्डपुराण, मार्कण्डेय पुराण में भी है।

भवन द्रव्यों में काष्ठ का प्रयोग सार्वजनीन परम्परा थी। उसका उपयोग स्वाभाविक ही था, परन्तु ऋग्वेदादि वैदिक वाङमय में वृक्ष की जो प्रतीक-कल्पनाएं हैं उनके अनुसार देवस्थानों, प्रासादों में भी उसका प्रयोग विहित हुआ। काष्ठ तथा वृक्ष के प्रश्न के समाधान में ऋग्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक मन्त्र का उत्तर है—"ब्रह्म ही काष्ठ था, ब्रह्म ही वृक्ष, जिससे द्यावापृथिवी—दोनों प्रकल्पित हुए।" इसी प्रकार अथर्ववेद के बहु-संख्यक वास्तु संकेतों में स्तम्भ-सूक्त की ओर दृष्टि डालें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भवनद्रव्यों में काष्ठ ही मूल द्रव्य था।

इन संकेतों का मर्म यह है कि प्रासाद विश्व की प्रतिमूर्ति है, उसका इस ब्रह्मरूपी पुरातन-आदिम वृक्ष-दारु ने निर्माण किया। फलतः भवन अथवा प्रासाद के निर्माण-द्रव्यों में काष्ठ का प्रथम स्थान रहा है—यह वास्तु-विद्या-विशारदों से अविदित नहीं है। भारतीय पूजा-परम्परा में वृक्ष-पूजा की प्रवृत्ति भी इसी सत्य की पुष्टि करती है। प्राचीन वास्तु-कला का प्रादुर्भाव वृक्षशाखाओं की सहज उपलब्धि से ही हुआ। काष्ठ की

कलाकृति तोरण है। वंशों एवं शाखाओं को लचाकर यह निष्पत्ति सहज ही कर ली जाती थी। यही आकृति कालान्तर में इष्टकाओं एव शिलाओं से भी सम्पन्न की गयी।

समरांगण के काष्ठ-प्रासादो की ओर सकेत किया जा चुका है। उसके अन्तस्तल में पुरातनतम काष्ठमय प्रासादो के निदर्शन अन्तर्हित है। दारु-प्रासादो के विषय में पुरातत्त्व विशारदो के अनुसन्धान से यह तथ्य और भी दृढ होता है।

समरागण के विमानादि ६४ प्रासादो का वर्णन पढ़िए, उनमें दारु-प्रासादो की प्रासाद-प्रकृति का वर्णन सम्भवत हर्म्य प्रासाद में निहित है—

ब्रूमोऽथ हर्म्यं प्रासादं तं कुर्यादेकभूमिकम् ।
दारुजं चतुरस्रं च (पट्टतुलादिभित्तिभिः ?) ॥
दण्डच्छाद्यं च कुर्वीत समन्ताच्च चतुष्किकाम् ।
ऊर्ध्वतस्तुम्बिकाकान्तं पद्मखण्डविभूषितम् ॥
मुखे पत्रैर्गवाक्षैश्च वेदिकास्तम्भतोरणैः ।
वलभीशालभञ्जीभिः सिंहकर्णैश्च भूषयेत् ॥
विस्तारमस्य हर्म्यस्य कुर्यादुच्छ्र्यसंमितम् ।

अर्थात् अब हम हर्म्य नामक प्रासाद का वर्णन करते हैं। इसे एक-भूमिक ही बनाना चाहिए। इसके निर्माण मे काष्ठ का प्रयोग होना चाहिए तथा आकृति चौकोर। चारो दिशाओं मे दण्डच्छाद्य विहित है। तुम्बिकाक्रान्त ऊर्ध्वप्रदेश पद्मखण्ड-विभूषित होना चाहिए। सामुख्य पत्ररचनाओ, वातायनों, सिंहकर्णो से अलकृत करना चाहिए। वलभियों तथा शालभंजिकाओं की निवेश योजना भी यथा स्थान उचित है। उसका विस्तार ऊँचाई के अनुकूल रहे।

अन्य द्रव्य—इस विषय मे वस्त्र निर्मित "पट्टिस" नामक प्रासाद का वर्णन देखिए—

इदानीं पट्टिसं ब्रूमः प्रासादं वस्त्रसम्भवम् ॥
(बोहातो ?) जालपार्वैश्च देवीपण्डैश्च मण्डितम् ।
कूर्मपृष्ठं प्रदातव्यमिच्छता शुभलक्षणम् ॥

इसी प्रकार के अन्य द्रव्यों की ओर भी सकेत है।

वशविनिर्मित "वेणुक" प्रासाद—

इदानीं वेणुकं ब्रूमश्चतुरस्रं समं शुभम् ।
न कुर्याद् अग्रनिष्कामसमाश्रच्छत्रात्मनः (?) शुभम् ॥
विस्ताराद्द्विगुणोच्छ्रायः कुम्भायं (कथयिष्यत् ?) ।
शिखाद्द्विगुणमानस्य जंघा त्र्यंशेन कल्प्यते ॥

जंघात्रिभागमुत्सेधात् कार्या खुरवरण्डिका ।
कपोतान्तरपत्रं च कर्त्तव्यं सार्धभागिकम् ॥
चतुर्भा (गो?गे) न सूत्रेण वेणुकोशं समालिखेत् ।
सर्वतः शोभनं कुर्यात् तं कपोतविनिर्गमे ॥
मुखेऽस्य सिंहकर्णाः स्युश्चन्द्रशालाविवर्जिताः ।
प्रमाणमस्य यत्किंचिद् वेणुकं च विधीयते ? ॥

विभिन्न-द्रव्यक "विभव" प्रासाद—

विभवः कथ्यते स स्यात् (सुर्यामन्यसमाश्रयः ?) ।
दारवे दारवो योज्यः शैलजे शैलसम्भवः ॥
मृन्मये मृन्मयः कार्यश्चयने चयनोद्भवः ।
प्रत्यन्तग्रामखेटेषु दारुस्तम्भैर्विधीयते ॥
विभवस्यानुसारेण स कार्यो धार्मिकैस्त्रिभिः ।

अर्थात् स्व-स्व विभवानुसार धार्मिक लोग दारुज, शैलज तथा मृन्मय कैसा भी हो सके, प्रासाद निर्मित करें। नगरों के प्रासादों के लिए पक्वेष्टका तथा पाषाणशिलाओं का ही विशेष विधान है, परन्तु छोटे-छोटे कसबों में, जहाँ पर प्रकृतिप्रदत्त सुलभ सामग्री की कमी नहीं है वहाँ दारुज तथा मृन्मय प्रासाद निर्मेय हैं।

६. प्रासाद के अवयव

अब तक प्रासाद के सूक्ष्म स्वरूप की कुछ झाँकी देखी गयी। इष्टका, शिला तथा अन्य निर्माण द्रव्यों में विनिर्मित प्रासाद के स्थूल स्वरूप पर भी हमने दृष्टि डाली—परन्तु अभी पूर्ण प्रतिमा के दर्शन नहीं हुए।

वास्तु-शास्त्रों में प्रासाद के विभिन्न वर्गों पर हमने दृष्टिपात कर ही लिया है। प्रासाद की विभिन्न परम्पराओं एवं शैलियों का भी हमने सिंहावलोकन किया है। समरांगणीय प्रासाद-वाटिका के विभिन्न सुरभि-सुमनों की मनोरम गन्ध का भी हम आनन्द ले ही चुके हैं। अतः निश्चित है कि प्रासाद की विभिन्न विकास-परम्पराओं में उसके अवयवों के भी यदि विभिन्न रूप विकसित हुए हों तो आश्चर्य की क्या बात। अतः अब सर्वप्रथम प्रासादों के सर्वसाधारण अवयवों पर दृष्टिपात करेंगे।

प्रासादों के सर्वसाधारण प्रमुख अवयव निम्नलिखित हैं—

१—प्रासाद का अधिष्ठान—पीठ, जगती, वेदिका, मसूरक
२—प्रासाद का गर्भगृह

३––प्रासाद का कलेवर

(क) चौडी-छतदार, (ख) शिखराकार, (ग) भूमिकासयुक्त

४––प्रासाद का शीर्षबिन्दु

५––प्रासाद-प्रतिमा

प्रासाद के प्रमुख अगो मे यह पचाग स्वातन्त्रिक अर्थात् स्वनिष्ठ है, परन्तु सहायकागो मे भी कतिपय अग है जो प्रासाद-वास्तु के पूर्ण विकास के परिचायक है। इन सहायकागो मे मण्डप (जैसे जगमोहन, भोगमण्डप, नटमण्डप, सहस्रमण्डप, शतमण्डप आदि आदि) प्राकार-जगती, गोपुर आदि नाना प्रासादाग भी उल्लेख्य है। यत: यहाँ पर प्रासाद-वास्तु के मुख्य स्वातन्त्रिक अवयवो की विवेचना चल रही है, अतः इन सहायकागो का यहा निर्देश मात्र अभीष्ट है। आगे के अध्याय मे इनकी विस्तृत समीक्षा होगी। अथच प्रासाद के मुख्य स्वनिष्ठ जिन अगो का ऊपर निर्देश किया गया है उन पर भी विगत अध्यायों में काफी चर्चा हो चुकी है। प्रासाद-वास्तु के जन्म, विकास एव चरमोत्कर्ष तथा प्रासाद-शैलियो के वर्णन मे इन पर कुछ-न-कुछ प्रकाश पड ही चुका है। अत यहा पर हम इन अगो की आधारभूत कतिपय कलात्मक रचनाओ पर ही अपनी समीक्षा सीमित रखेंगे। प्रासाद की इन रचनाओ को वास्तु-शास्त्रीय परिभाषा मे अधिष्ठान अथवा पीठ, मण्डोवर अथवा मजरी (मूल मजरी तथा उरोमजरी), वेणुकोष अथवा कलश, आमलक अथवा स्तूपिका के नाम से पुकारा गया है। यत प्रासाद-स्थापत्य मे दो प्रधान––द्राविड तथा नागर अथवा दक्षिणी एव उत्तरी शैलियो की प्राचीन परम्परा वर्तमान रही है, अत इन प्रमुख अवयवो के विकास मे तत्तत् परम्परा के अनुरूप सज्ञा भी कुछ हेरफेर मे कही गयी है। जैसे उत्तरी शैली मे विनिर्मित प्रासादो के कलेवर के निर्माण मे शिखर एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है और शिखर को प्रासाद-शीर्ष के रूप मे ही समझना भ्रामक है। शुकनासा या स्कन्ध के ऊपर का सम्पूर्ण भाग ही शिखर कहलाता है। अतएव समरागण-वास्तुशास्त्र की भाषा मे उसे मजरी का नाम दिया गया है। यह सज्ञा इतनी उपयुक्त एव हृद्य है, प्रासाद-शिखर एव आम्रमजरी का यह हूबहू सादृश्य इतना मोहक है कि समझने वाले ही समझ सके होगे। आम्र-मजरी की पूरी की पूरी हरी-भरी बाली लीजिए, कितने अगणित उसमें मकरन्द है? यही हाल शिखर का है, कितने रथ (ट्रेसेज), कितने तिलक या शृग अथवा अण्ड इस शिखर की रचना मे साक्षात् दृश्यमान है। दक्षिणी शैली मे विनिर्मित विमानो के भूमिका-विन्यास की विशिष्टता पर हम पीछे सकेत कर ही चुके है। अथच विमान-शीर्ष अथवा प्रासादशीर्ष के अलंकरण स्तूपिका एव आमलक की भी परस्पर विभेदक परम्परा को हम देख चुके है। अत इनकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नही।

प्रासादावयवों के इस औपोदघातिक प्रवचनोपरान्त अब हमे इस स्तम्भ के वर्ण्य विषय की ओर आना है, वह है प्रासाद-रचनाएं। समरांगण मे प्रासाद-रचना पर कला की दृष्टि से दो बडे ही महत्त्वपूर्ण अध्याय है—दे० ५३वाँ तथा ५४वाँ अ०। अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ 'वास्तु-शास्त्र' मे हमने इन अध्यायों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है। यतः यह ग्रन्थ सामान्य शैली मे लिखा गया है अत. यहाँ पर इन रचनाओं के नाम ही दिये जाते है जिनको पढकर पाठकों की अवश्य जिज्ञासा बढेगी तथा कौतूहल भी उत्पन्न होगा, परन्तु उसका शमन यहां पर अभीष्ट नही है।

प्रासाद-निवेश मे सर्वप्रथम रचना की दृष्टि से द्रव्यों के पारस्परिक उदय, विस्तार, बाहुल्य एव परिधि के साथ-साथ प्रासाद के द्वार एव उसकी विभिन्न शाखाओं (फ्रेम्स) की रचना आवश्यक होती है। तदनुसार द्वार-शाखाओं एव उनके आधारों की वास्तु-शास्त्रीय सज्ञाएँ हैं—रेखा, शाखा, पिण्ड, रूपशाखा, तुगशाखा आदि। पुनः तलोदय, उदुम्बर कुम्भिका, भरण, पट्ट, जयन्ती, शीर्षक, फलक, तुला आदि भी इसी द्वार से सम्बन्धित है। द्वार-शाखाओं के नाना भेद है—यह हम भवनवास्तु मे सकेत कर चुके है। उसी प्रकार द्वार मे उत्तराग, भरण, कपोत तथा रथिका—इन रचनाओ की भी परम्परा है। द्वारभूषा के बिना द्वारनिवेश ही शून्य है। उसी पर कपोतादि विधान विहित हे (जो भवन-वास्तु मे सर्वथा त्याज्य है), पुन परिमण्डली-करण, पत्रपत्रिका रचना, जघा, पट्ट, हीरग्रहण आदि की रचना अपेक्षित है। स्थापत्य प्रासाद के छाद्य (रूफिंग) कैसे हो इस पर भी बडा विस्तार है। गोल छत, सरल छत सभी प्रकार की छतो के वर्णन है। १० प्रकार की साधारण छतों की वास्तु-शास्त्रीय सज्ञाएं है—आतपत्र, कोबेर, वामन, अवली, हसपृष्ठ, महाभोगी, नारद, शम्बुक, आवन्त्य आदि। इसी प्रकार सप्त वृत्त-छाद्य की सज्ञाएँ है—कुबेर, शेखरी, चन्द्री, नाग, गणाधिप, सुभद्र आदि। छाद्योपरान्त प्रासाद-वितान (जिसको आजकल की भाषा मे डोम कहा जा सकता है) का नम्बर आता है। वितानों की २५ सख्या का हम राज-निवेश मे बखान कर चुके है। वितान-वास्तु मे अत्यन्त सहायक रचना-विच्छित्ति लुमा-प्रकल्पन तथा लुमाओ की सात सज्ञाओ पर भी हम पीछे वही सकेत कर चुके है। प्रासाद-रचना मे सिहकर्ण की भी एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। इस सिहकर्ण के भी सात प्रकारों का सकेत है, जैसे त्रिवली, एकवली आदि।

प्रासाद-रचना के इन नाना अवयवो की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा मे प्रासाद के दो प्रमुख अग कहे जा रहे हैं—गर्भगृह तथा स्तम्भ। स्तम्भों पर हम पीछे कुछ संकेत कर चुके है, गर्भगृह का मर्म भी अब अस्पष्ट न रहा होगा। अत. इस किंचित्कर समीक्षण से यहाँ पर सन्तोष कर अगले स्तम्भ की परिक्रमा करेंगे।

७. प्रासाद-भूषा (शुभाशुभ लक्षण)

प्रासाद-भूषा को हम कई दृष्टियों से देख सकते है, एक तो आकृति-सौन्दर्य, दूसरे कलात्मक चित्रण तथा तीसरे योज्यायोज्य व्यवस्था का प्रतिपालन।

आकृति-सौन्दर्य के प्रासाद-निवेश की प्रक्रिया में नाना आकृतियाँ उपवर्णित हैं। चौकोर, गोल, षट्कोण, अष्टकोण आदि। साथ ही साथ उनके कलेवर के निर्माण में शुकनासा से लेकर स्कन्ध तक नाना विच्छित्तियाँ विनिर्मित होकर प्रासाद के प्रकृति-सौन्दर्य को बढ़ाती हैं। शिखरयोजना, कलश-स्थापन, आमलक-अकन आदि सभी इसी के उपकारक हैं। कलात्मक चित्रण में नाना वर्गीय चित्र-प्रतिमाओं के चित्रण के साथ-साथ प्रासादांगों की रचना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्तम्भों की रूपरेखा से परिचित पाठक प्रासाद-स्तम्भों की रचना-विच्छित्तियों का पता लगा सकते हैं। पुनः प्रासादों के नाना निवेश, जैसे अन्धकारिका, जगती, पीठ आदि भी भूषा-विन्यास के लिए कम प्रेरणा नहीं देते। रामेश्वरम् की प्रदक्षिणा, उत्तरी प्रासादों की जातियाँ इस तथ्य के निदर्शन हैं।

अथच भवन-भूषा अथवा भवनोपरि अथवा उसके अभ्यन्तर में कौन-कौन से आलेख्य अथवा निर्मेय आदि योज्य हैं—इस विषय पर भवन-पटल के 'भवनभूषा' नामक अध्ययन में प्रकाश डाला जा चुका है। वह साधारण जनोचित आवास भवनों एवं राजहर्म्यों का प्रकरण था, परन्तु समरांगणसूत्रधार ने वहीं पर—

पुरस्तात् कीर्तितान्यत्र प्रयोक्तव्यानि यानि च।
तानि शस्तानि कक्षासु सभादेवकुलेषु च॥

अथच

इति कथितमयोज्यं योजनीयं च बुद्ध्या भवनशयनकक्षादेवधिष्ण्यादिकेषु।

यह भी निर्देश किया है। इससे योज्यायोज्य की यह व्यवस्था सभी वास्तु-भवनों, सभाओं तथा देवतायतनों के लिए उचित है। अत प्रासादों पर किन-किन देवचित्रों, कैसे-कैसे आलेख्यों तथा अन्य उपादानों का चित्रण करना चाहिए यह सब भावानुषंगिक ही है। भवनपटल के परिशीलन से यह व्यवस्था ज्ञातव्य है।

अस्तु, प्रासाद-भूषा का सबसे बड़ा मर्म प्रासाद-वास्तु का ठीक-ठीक मान परिकल्पन है। समरांगणसूत्रधार ने ठीक ही लिखा है—

प्रमाणे स्थापिता देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति ते।

अत: ठीक-ठीक प्रमाणों से परिकल्पित प्रासाद देवावास के लिए शुभ है। प्रासाद की बाह्य भूषा पर समरांगणसूत्रधार के प्रासाद विषयक विभिन्न अध्यायों में विभिन्न

प्रकार के रचना वैचित्र्य से जो प्रासाद-भूषा परिकल्पित हुई है, उसका यहाँ पर एक-दो स्थलों में उदाहरण पर्याप्त होगा—

बाह्यस्थाने ततः स्थानाद् द्वादशक्षेभर्णधरैः ।
हेमरत्नमयैः स्तम्भैः शुक्लपट्टैश्च भूषितैः ॥
शुक्लालंकारखचितैर्वितानैश्च विभूषणैः ।
स्फाटिकैर्विविधैर्जालैः सहरिन्मणिवेदिकैः ॥
हंसकर्णकपोतालीतिर्यक्स्थात्यर्धकर्णिकैः ।
पर्यन्तदेशधृतया गर्भस्योपरि घण्टया ।
लोकनाथेन तत् सृष्टमाद्यं वैराजसंज्ञितम् ॥

टिप्पणी—वितानों की संख्या २५ है—इसी प्रकार हंसकर्ण, सिंहकर्ण आदि **विभिन्न** प्रासाद-भूषाओं के नाना प्रभेद हैं।

इस अध्याय के एक स्थल पर हमने यह संकेत किया था कि प्रासाद की सबसे बड़ी **भूषा** उसकी सम्यक् संयोजना एवं निवेश-प्रक्रिया है। अतः उसी ओर अब ध्यान देना है।

समरांगणसूत्रधार का 'शुभाशुभलक्षण' नामक ५०वाँ अध्याय इस दृष्टि से **विशेष** द्रष्टव्य है।

प्रशस्त प्रासादों की गणना समरांगण में इस प्रकार है—

१—सम	९—दिग्विभागासमूढ	१७—सुविभक्त	२५—शरीरासकीर्ण
२—समकर्ण	१०—प्रमाण-संस्थित	१८—सुसंस्थ	२६—संस्थानसंस्थित
३—समस्तम्भ	११—कर्णपादियुक्त (ऊर्ध्व)	१९—रम्य	२७—जातिशुद्ध
४—समक्षण	१२—कर्णपादियुक्त (अध) (अधस्तादपि)	२०—अविकल	२८—सुदृढमूल, पादसुदृढ
५—नात्युच्च	१३—सलिलान्तरसमायुक्त	२१—समभागविभक्त	२९—आमूलमानकदृढ
६—नातिह्रस्व	१४—उदयासकीर्ण	२२—अलिन्दयुक्त	३०—सुश्लिष्टद्रव्यान्वित
७—कर्णविह्वल	१५—छायासकीर्ण	२३—स्वजातिक	३१—संधिसन्धानयुक्त
८—आयामविह्वल	१६—स्वमानपरिकल्पित	२४—अन्यजात्यप्रदूषित	३२—देवजाति विभूषण-विभूषित

इस प्रकार की सन्निवेश योजना में सन्निविष्ट प्रासाद प्रशस्त ही नहीं शुभकारी भी बताये गये हैं—

प्रासादाः शुभदा नित्यं पूजासंस्कारवर्धनाः ।
कर्ता कारयिता येषां परां वृद्धिमवाप्नुयात् ॥

अब प्रशस्त प्रासादों की विवेचना के उपरान्त अप्रशस्तों का भी संकेत आवश्यक है—

अप्रशस्त प्रासाद

१–विषम	१०–कर्णपादीविष्टि	१९–अन्यजातिप्रहर्षित
२–कर्णहीन	११–छाद्यसंकीर्णक	२०–परावृत्त
३–क्लेशबन्ध	१२–छाद्यहीन	२१–अन्यसंकीर्ण
४–भयावह	१३–दुर्विभक्त	२२–अन्यविग्रह
५–विषमस्तम्भ	१४–कुसस्थ	२३–मूलपाददुर्बल
६–विषमक्षण	१५–विकलद्रव्य	२४–विश्लिष्टपीठसन्धिक
७–अत्युच्च	१६–विषमालिन्दक	२५–अग्रिश्लिष्ट
८–कर्णायामविकल	१७–भागहीनालिन्दक	२६–उत्तरश्लिष्ट
९–विभावविहीन	१८–परिवृत	२७–अदेशभूषणयुक्त

टिप्पणी—ऐसे अप्रशस्त प्रासादों के निर्माण से नाना अशुभ आपत्तियाँ होती हैं।
(समरांगणसूत्रधार, अध्याय ४०)

८. प्रासाद-प्रतिमा

प्रासाद-प्रतिमा का विषय बड़ा गम्भीर एवं व्यापक है। यहाँ पर स्थानाभाव से विशेष प्रतिपादन दुष्कर है, तथापि इस अत्यन्त मौलिक विषय के द्वारा संक्षेप में प्रासाद-निवेश का उपसंहार करना है। वास्तव में यह विषय कलात्मक न होकर दार्शनिक एवं धार्मिक विशेष है। भारतवर्ष की कला, जैसा कि बार बार कहा गया है, अध्यात्मोन्मेष से ही निखरी है। उसका भौतिक आधार नगण्य है। प्रासाद-स्थापत्य अथवा मन्दिर-स्थापत्य (जो भारतीय कला का मुकुटमणि है) भी इसी दार्शनिक भित्ति पर खड़ा हुआ है। अतः इसको समझने के लिए पहले हमें प्रासाद की हिन्दू दृष्टि की ओर पुनः ध्यान ले जाना है। प्रासाद भवन नहीं है, वह पूजा-स्थान भी नहीं है (पूजा-स्थान के लिए प्रासाद के प्रधान निवेश गर्भगृह के अतिरिक्त मण्डपादि-निवेश पर हम पीछे संकेत कर चुके हैं)। वह स्वयं पूज्य है अतएव प्रासादों के नाना भेदों में सान्धार प्रासादों (अर्थात् अन्धकारिका या भ्रमणी नाम की चतुर्दिक् परिवेष्टिता पद्या—सर्कमंबेलटरी पैसेज से समन्वित) की भी एक प्रमुख परम्परा पल्लवित हुई। प्रासाद पुरुष है, साक्षात् विराट् पुरुष (दे० पीछे का विवेचन तथा तत्सम्बन्धी नाना अवतरण), उसे पुरुष मानकर समझदार मन्त्रवित् को उसकी पूजा करनी है—'प्रासाद पुरुष मत्वा पूजयेन्मन्त्र-वित्तम।" अथच प्रासाद के विकास में 'कलेवर-सिद्धान्त' अथवा 'अवयवावयवी सिद्धान्त' ही उसकी कसौटी है। प्रासाद-प्रतिष्ठा में (जैसा हमने पीछे प्रारम्भिक संस्कारों के निर्देश में देखा)

गर्भाधान संस्कार एक अनिवार्य अंग है। विष्णु-संहिता (१३.२२) का स्पष्ट आदेश है कि बिना गर्भाधान के प्रासाद परम धाम बन ही नही सकता। पुरुषोत्पत्ति के सादृश्य (अनालोजी) पर प्रतिष्ठित प्रासादोत्पत्ति के सिद्धान्त के समर्थन में हम पीछे प्रासादांगो एवं पुरुषांगो का पारस्परिक सादृश्य दिखा चुके है। इस किंचित्कर उपोद्घात से प्रासाद-प्रतिमा का कुछ रहस्य हम अवश्य समझ सके होगे। अब प्रासाद तथा प्रासाद-प्रतिमा की प्रतिष्ठा के पावन प्रदेश पर थोड़ा-सा विवरण करना है।

प्रासाद-प्रतिष्ठा (मन्दिर-प्रतिष्ठा)

प्रासाद-प्रतिष्ठा को समझने के लिए हमें पौराणिक पूर्तधर्म का पुन स्मरण करना होगा। हिन्दू संस्कृति के लम्बे इतिहास मे धर्म के दो ही प्रमुख रूप–इष्ट तथा पूर्त देखने को मिलते है, अन्य विकास तो प्रभेद मात्र समझने चाहिए। इष्ट का तात्पर्य यज्ञ तथा पूर्त का देवालयादि निर्माण है। वैदिक धर्म मे इष्ट का प्राधान्य था, बाद में पूर्त ने पदार्पण किया तो "इष्टापूर्त" दोनो बराबर चलते रहे, परन्तु पौराणिक युग मे तो पूर्त-धर्म ही सर्वातिशायी धर्म बन गया। पूर्त-धर्म वास्तव मे बड़ा व्यापक है। वह एक प्रकार से भारतीय जनसमाज (जिसमे उच्च वर्ण एव निम्न वर्ण शूद्रादि दोनो सम्मिलित है) का सामान्य धर्म है। पूर्त-धर्म मे प्रतिष्ठोत्सर्ग की संस्था अति प्राचीन है, वह सूत्र-कालीन भी है (दे० लेखक का 'हिन्दू प्रासाद', पृष्ठ ४२)। तदनुसार सूत्र-ग्रन्थों के इसी प्राचीन स्रोत से प्रतिष्ठा एव उत्सर्ग की जो महानदी बही, वह पुराणों के सागर में जा मिली। पुराणो मे इस पद्धति का बृहद विजृम्भण हुआ। अग्निपुराण (अ० ६४), मत्स्यपुराण (अ० ५८) आदि मे ये विवरण द्रष्टव्य है। तन्त्रो एव आगमो की भी यही गाथा है। पंचरात्र आदि तन्त्र-ग्रन्थ एव कामिकादि आगम ग्रन्थ सभी मे यह विकास पराकाष्ठा तक पहुंच गया। कालान्तर पाकर अर्वाचीन समय मे प्रतिष्ठा-सम्बन्धी अनेक प्रतिष्ठित स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनमे हेमाद्रि का दानक्रियाकौमुदी, रघुनन्दन का जलाशयोत्सर्गतत्त्व, नीलकण्ठ के प्रतिष्ठामयूख तथा उत्सर्गमयूख आदि विशेष उल्लेख्य है। वैसे तो प्रतिष्ठा का तात्पर्य धर्मार्थ समर्पण है, परन्तु प्राचीन धर्मशास्त्रो के अनुसार यह विधिपूर्वक होना चाहिए। प्रतिष्ठा-पद्धति के चार अंग क्रमश: है—संकल्प, होम, दान तथा दक्षिणा एव भोजन। उत्सर्ग एव दान मे थोड़ा सा अन्तर है। उत्सर्ग भी दान है परन्तु दान व्यक्तिगत है, अत उसका भोग वर्जित है। उत्सर्ग तो सर्व भूतो के लिए होता है अत. उत्स्रष्टा (दाता) भी तो उन भूतो मे एक है, अत वह भी समान रूप से उसके भोग का अधिकारी है। देवतायतन, वापी, कूप, तडागादि का उत्सर्ग कर देने पर भी उत्स्रष्टा (दाता) इनके भोग का अधिकारी रहता है।

कालिका-पुराण में तो पूर्त-धर्म (प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग) को इष्ट-धर्म से भी ऊँचा माना गया है—

> इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ श्रुतौ तौ शिष्टसंमतौ ।
> प्रतिष्ठाप्यं तयोः पूर्तमिष्टं यज्ञादिलक्षणम् ।
> मुक्ति-भुक्तिप्रदं पूर्तमिष्टं भोगार्थसाधनम् ॥

अर्थात् इष्ट एवं पूर्त दोनों ही शिष्टसम्मत धर्म हैं। पूर्त का वापी, कूप, तडाग, देवतायतन आदि की प्रतिष्ठा से तात्पर्य है एवं इष्ट का यज्ञ-कर्म से। इनमें इष्ट-धर्म एक मात्र भोगार्थ-साधन है परन्तु पूर्त तो भुक्ति एवं मुक्ति दोनों का ही साधन है। अतः इसी महाभावना से पूर्त-धर्म के परिपाक में देवतायतन-निर्माण एक बृहत् निवेश है जिसमें प्रासाद या विमान देव-भवन ही अभिप्रेत नहीं है वरन् उससे सम्बन्धित नाना अन्य निवेश भी सुतरां सन्निविष्ट होते हैं—जैसे आराम (पुष्प एवं फलवृक्षों का आरोपण), जलाशय (मन्दिर का अभिन्न अंग)—वापी कूप तडागादि।

सूत्रकारों ने यद्यपि प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में केवल कूपादि जलाशयों का ही प्रतिपादन किया है परन्तु जलाशयोत्सर्ग में पादपारोपण का पृथक् विवेचन है। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में वृक्षारोपण, वृक्ष-पूजा एवं वृक्ष-माहात्म्य एक अभिन्न अंग है। यागादि में वृक्षों के बहुत प्रयोग (यूप, समिधा, यज्ञ-पात्र—स्रुवा, जुहू) से हम परिचित ही हैं। वृक्षों की वन्दनवार प्रायः सभी संस्कारों एवं समारोहों की एक प्राचीन परम्परा है। वृक्ष-पत्र, वृक्ष-पुष्प वृक्ष-फल के बिना क्या कोई कभी भी कर्मकाण्ड सम्पन्न हुआ है?

> अश्वत्थोदुम्बर-प्लक्षचूतन्यग्रोधपल्लवाः ।
> पंचपल्लव इत्युक्ताः सर्वकर्मसु शोभनाः ॥

हेमाद्रि—व्रतखण्ड

जिस स्थान पर कूपादि जलाशयों की प्रतिष्ठा होती एवं धर्मार्थ उनका उत्सर्ग होता है वहाँ वृक्षारोपण (विशेष कर बड़े-बड़े वनस्पतियों—न्यग्रोध-पिप्पल आदि का) अनिवार्य समझा जाता था। इस उष्ण-प्रधान देश में कोई भी जन-स्थान बिना वृक्षों की छाया के कैसे रह सकता था। अथच वृक्ष-पूजा का भी देव-पूजा के समान ही माहात्म्य रहा है। महाभाष्यकार पतंजलि के उस सुदूर समय में भी "आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः" का विश्वास प्रतिष्ठित था। महाभारत में वृक्षारोपण बड़ा प्रशस्त माना गया है, विशेष कर तडाग के तट पर—

वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र च ।
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोर्थिना सदा ।।
पुत्रवत्परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।। (अनु० ५८.३०)

विष्णुधर्मसूत्र (९१.४) का भी यही समर्थन है —

रोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति ।

वृक्षारोपण का माहात्म्य पुराणों की पुण्य-भूमि पर और भी निखर उठा (दे० पद्मपुराण), जहाँ वृक्षारोपण, देवालय-निर्माण-कार्य पूर्त-धर्म एवं यागादि कर्मकाण्ड इष्ट-धर्म के समान स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बनाया गया है । अस्तु, वृक्षारोपण की इस पुरातन प्रथा पर यहाँ संकेत करने का अभिप्राय पाठकों का ध्यान उस तथ्य की ओर आकर्षित करने का है जहाँ पर देवतायतन या मन्दिर-निवेश की पद्धति में वृक्ष एक अभिन्न अंग थे । मत्स्यपुराण (दे० अ० २७० २८—२९) में स्पष्ट लिखा है कि मन्दिर के मण्डप की पूर्व दिशा में फल-वृक्ष, पश्चिम में कमलाकर तथा उत्तर में पुष्प-वृक्षों के साथ-साथ सार-तालादि वृक्ष भी आरोपित हों । प्राचीन धर्मशास्त्रों में वृक्षों की रक्षा पर बड़े कठोर नियमों का अनुशासन है (दे० विष्णुधर्मसूत्र ५ ५५ ५६) । अतः स्पष्ट है कि किसी भी प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग का वृक्षारोपण एवं वृक्षों की रक्षा अनिवार्य अंग है । इस अत्यन्त संक्षिप्त समीक्षा से हम यही निष्कर्ष निकाल सके कि पूर्त-धर्म के प्रधान अंगों में केवल जलाशय (वापी, कूप, तड़ाग) एवं आराम की प्रतिष्ठा एवं उनके उत्सर्ग पर ही सूत्र-ग्रन्थों में सामग्री है । जहाँ तक मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा मन्दिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह वैदिकों व्यवस्था (सूत्र-ग्रन्थ जिसके अभिन्न अंग हैं) नहीं है । वह तो स्मार्त एवं पौराणिक संस्था है, अतएव देवालय-प्रतिष्ठा भी इसी कोटि की है— इसमें मत्स्यपुराण का निम्न प्रवचन बड़ा सहायक है —

एवमेव पुराणेषु तडागविधिरुच्यते ।
कूपवापीषु सर्वासु तथा पुष्करिणीषु च ।
एष एव विधिर्दृष्टः प्रतिष्ठासु तथैव च ।
मन्त्रतस्तु विशेषः स्यात् प्रासादोद्यानभूमिषु ।। (४. ५८. ५०-५२)

अर्थात् जो विधि तडागादि जलाशयों की प्रतिष्ठा एवं उत्सर्ग में प्रचलित है वही उद्यानादि पर एवं प्रासाद अर्थात् देवालय पर भी घटित समझनी चाहिए—विशेष यह कि मन्त्रों के प्रयोग में थोड़ा सा हेरफेर अवश्य रहे ।

पौराणिक प्रासाद प्रतिष्ठा तथा देवता-प्रतिष्ठा पर विस्तृत विवरण प्रायः सर्वत्र प्राप्त होते हैं । देवता-प्रतिष्ठा पर हम आगे विशेषरूप से लिखेंगे । मठ-प्रतिष्ठा भी मन्दिर-प्रतिष्ठा के समान प्राचीन परम्परा है । सत्य तो यह है कि मठ एवं मन्दिर

एक दूसरे के अभिन्न अंग हैं। आदि शंकराचार्य के जगत्प्रसिद्ध चार मठ जगत्प्रसिद्ध चार मन्दिर भी हैं। बदरिकाश्रम में मठ भी है और मन्दिर भी। इसी प्रकार पुरी में जगन्नाथजी के जगत्प्रसिद्ध मन्दिर एवं मठ दोनों से हम परिचित ही हैं। द्वारकापुरी, रामेश्वरम् आदि का भी यही इतिहास है। अस्तु, यहाँ पर इस दिशा में विशेष भ्रमण न कर अब प्रासाद-निर्माण के प्रयोजन पर थोड़ा-सा संकेत आवश्यक है। वाराही 'बृहत्संहिता' का प्रवचन हम पीछे दे चुके हैं। 'महानिर्वाण तन्त्र' १३ २४—२५ इसी प्राचीन मर्म के उद्घाटन में निर्देश करता है कि काष्ठादि से विनिर्मित छाद्य-प्रासाद की अपेक्षा इष्टकाओं से विनिर्मित प्रासाद शतगुण पुण्य प्रदान करते हैं, परन्तु पाषाण से बनाये गये प्रासाद तो इष्टका-प्रासाद से सहस्रगुण फलदायक होते हैं।

प्रासाद-कार्य यज्ञ-कार्य के समान ही धार्मिक कार्य है—यह हम कई बार कह चुके हैं, सत्य तो यह है कि हिन्दू-दृष्टि में कोई भी वास्तु-कार्य यज्ञ-कार्य के समान पुनीत एवं स्वर्गकारक है। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि मन्दिर-निर्माण से पुण्य-लाभ होता है (दे० मिहिरगुल का ग्वालियर पाषाण-शिला-लेख)। अग्निपुराण (अ० ३८.१०—११ तथा २४-२६) का भी यही उल्लेख है। 'शैवागम-निबन्धन' भी इसी तथ्य का समर्थन करता है—

यो वै शिवालयं भक्त्या शुभं कारयतीप्सितम्।
त्रिसप्तपुरुषांल्लोकं शाम्भोर्गमयति ध्रुवम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन महादेवस्य मन्दिरम्।
सर्वैरवश्यं कर्तव्यम् आत्माभ्युदयकाङ्क्षिभिः॥

'यमसंहिता' का भी ऐसा अभिमत है—

कृत्वा देवालयं सर्वं प्रतिष्ठाप्य च देवताम्।
विधाय विधिवच्चित्रं तल्लोकं विन्दते ध्रुवम्॥

इसी प्रकार महानिर्वाण-तन्त्र (दे० १३ २४०—४४) में 'प्रासाद-स्तवन' बड़ा ही मार्मिक है। अस्तु, इस प्राचीन महाविश्वास का जन-समाज में इतना प्रचार था कि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ भी प्रासाद-वास्तु के विवेचन के अवसर पर पुराणों एवं धार्मिक ग्रन्थों के सदृश देवतायतन-निर्माणजन्य-पुण्य का प्रबल एवं प्रचुर संकेत करते हैं (दे० पीछे का प्रकरण)।

८. प्रासाद-प्रतिमा-प्रतिष्ठा

प्रासाद-वास्तु की उद्भावना में मूर्ति (मानव कलेवर) के ही सदृश नाना रचनाओं के दर्शन होते हैं—यह हम देख ही चुके हैं। अतः जिस प्रकार शरीर और

प्राण का सम्बन्ध है उसी प्रकार प्रासाद और प्रतिमा का सम्बन्ध भी है। प्रासाद-वास्तु की नाना ऊपरी भूषाओं, विच्छित्तियों एवं रचनाओं को एक मात्र प्रासाद-मन्दिर के बाह्य कलेवर तक ही सीमित रखना और गर्भगृह को बिल्कुल इनसे शून्य रखना—इन दोनों का भी यह मर्म है।

प्रतिमा-प्रतिष्ठा को हम दो दृष्टियों से देखते हैं—सांस्कृतिक दृष्टि से तथा कलात्मक दृष्टि से। प्रथम दृष्टिकोण से 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में प्रतिमा-प्रतिष्ठा की निम्न पंच विधा का निर्देश है —

१. प्रतिष्ठा—विशेष कर लिंगस्थापन में—ब्रह्मशिला पर लिंग की स्थापना के साथ पिण्डिकायोग को 'प्रतिष्ठा' कहते हैं।

२. स्थितस्थापन—नामक प्रतिष्ठा के विषय रत्नज, हेमज आदि धातु-लिंग हैं परन्तु उनकी इस प्रतिष्ठा में विशेषता एक पिण्डिका-कल्पन है।

३. स्थापन—अथवा प्रतिष्ठापन-कोटिक प्रतिष्ठा का सम्बन्ध बाण-लिंगों, आर्ष लिंगों तथा स्वायम्भव लिंगों की स्थापना से है।

४. उत्थापन—का सम्बन्ध जीर्णोद्धार से है अर्थात् लिंगों अथवा जीर्ण प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में उत्थानाभिधा प्रतिष्ठा विहित है।

५ आस्थापन—उपर्युक्त प्रतिष्ठा-प्रकार एक प्रकार से 'निष्कल' अर्थात् अव्यक्त प्रतिमाओं (लिंगों) से सम्बन्धित हैं परन्तु 'सकल' अर्थात् व्यक्त प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में आस्थापन कोटि की प्रतिष्ठा का आदेश है।

प्रतिष्ठा-प्रकारों के इस निर्देश के उपरान्त प्रतिष्ठा-विधान के संस्कार-पक्ष पर भी कुछ प्रतिपादन अभिप्रेत था, परन्तु यह विषय स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतः यहाँ निर्देश मात्र अभीष्ट है (विशेष विवरण हमारे अँग्रेजी ग्रन्थ 'वास्तु-शास्त्र' में—द्रष्टव्य है)। डा० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में इस विषय की सुन्दर चर्चा की है और इस पद्धति का उद्घाटन भी किया है। प्रतिमा-प्रतिष्ठा के साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों एवं पद्धतियों में पुन प्रतिष्ठा तथा जीर्णोद्धार की भी विशेष व्याख्या है। यहाँ इन सब पर विवेचन अभीष्ट नहीं है।

अन्त में प्रतिमा-प्रतिष्ठा के कलात्मक पक्ष पर थोड़ा सा संकेत आवश्यक है। प्रासाद-स्थापत्य में प्रतिमाओं के प्रकल्पन के दो प्रमुख वर्ग हैं—एक प्रधान-देवता-प्रतिमा तथा उसके परिवार देवों की प्रतिमाएँ, दूसरे मन्दिर के नाना स्थानों (विशेष कर उसके शिखर-कलेवर) पर नाना वर्गीय प्रतिमाओं, यक्षों, गन्धर्वों, ऋषियों, मुनियों, अप्सराओं, देवियों आदि के नाना चित्रण (स्कल्पचर्स)। इन दो प्रतिमा-वर्गों के साथ-साथ एक तीसरा वर्ग भी है जो एक प्रकार के अभिप्राय-वर्ग (सेम्बुल्स) के नाम से उप-

श्लोकनीय है। इस वर्ग मे मकर, गज, सिंह, शार्दूल, मयूर, पूर्णघट, नवनिधि कीर्तिमुख, हस, स्वस्तिक, चक्र, पर्वत, सूर्य, नवग्रह, जल, यक्ष, कमल आदि विशेष उल्लेखनीय है। डा० क्रैमरिश ने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' (दे० द्वितीय भाग) मे इनका सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन उपलक्षणो मे प्रासाद एव प्रतिमा की जो थीसिस हमने प्रस्तुत की है वह स्पष्ट होती है। हमने भी अपने अंग्रेजी ग्रन्थ मे इनकी विवेचना की है जिसका सार रूप निम्न अवतरण पाठको के लिए विशेष हृद्य एव अवनवद्य प्रतीत होगा—

प्रासाद के विभिन्न अगो—द्वार, गवाक्ष आदि पर जो उपलक्षणात्मक चित्रण, जैसे कीर्तिमुख, शार्दूल, शक्तिमूर्ति, मिहनी आदि नाना चित्रण उस परम सत्ता, विभु-सत्ता के प्रतीक ही नही है वरन् शक्ति एव शिव की सयुक्त सत्ता के भी अभिव्यजक है। मिथुन,-चित्रण, आमलक-न्यास, बिन्दु-विनिवेश आदि ये सभी उपलक्षण ब्रह्माण्ड की तसवीर है जो पुरुष-मानव को प्रासाद-पुरुष के तादात्म्य मे परिवर्तित करते हुए उस विराट् पुरुष के दर्शनार्थ अथवा साक्षात्कारार्थ प्रस्तुत किये गये है।

६

मण्डप, प्राकार, गोपुर एवं जगती

मण्डप शब्द का अर्थ वैसे तो बिल्कुल स्पष्ट है। मण्डपो का अवसर विशेष पर निर्माण, यथा यज्ञमण्डप, विवाह-मण्डप बहुत प्राचीन है। परन्तु प्रासाद-प्रांगण मे मण्डपों के उदय की अपनी अलग कहानी है।

त्रिदेव-माहात्म्य के पौराणिक युग मे जो प्रतिमा-पूजा एव तदर्थ प्रासाद-रचना का विकास आरम्भ हुआ उसके लिए सास्कृतिक एव धार्मिक दोनो दृष्टिकोणो से मन्दिर विभिन्न जनमण्डली, भक्तमडली, तीर्थयात्रियों के लिए न केवल दर्शन की वस्तु थे वरन् धर्मजिज्ञासा, भक्ति-पिपासा एव मोक्षाभिलाषा के जागरूक जीवित जनस्थान थे, जहाँ पर कथा, पाठ, कीर्तन एव नर्तन आदि से उनके मनोरंजन के सम्पूर्ण सम्भार समुपस्थित हो सके। अत प्रासादो के समीप अथवा अति निकट मण्डपो की भी आवश्यकता अनुभव हुई, अन्यथा यात्रियों के विश्राम करने के समुचित स्थान कहाँ मिलते ? अथच मध्यकालीन पचायतन-पूजा-प्रणाली के उदय की यह स्वाभाविक माँग थी कि जहाँ विष्णु अथवा शिव को लेकर उनके विभिन्न मन्दिरो के निर्माण हुए वहाँ अन्य देवो के स्थापनार्थ भी उन्ही मन्दिरो मे कही अवकाश मिलना चाहिए था, अत. मण्डपों मे प्रधान देवता के अतिरिक्त अन्य वृन्दारकवृन्द की वन्दना के लिए पर्याप्त स्थान प्राप्त हो सके। इस स्वाभाविक आवश्यकता के पूर्वार्ध भी मण्डप-निर्माण का आरम्भ समझना चाहिए।

प्रासाद-मण्डप

समरागणसूत्रधार में प्रतिपादित मण्डप-वास्तु की समीक्षा के प्रथम मण्डपों की ऐतिहासिक समीक्षा करना यहाँ अप्रासंगिक नही होगा।

अमरकोश मे मण्डप शब्द के सम्बन्ध मे—"मण्डपोऽस्त्री जनाश्रय." लिखा है जिससे उपर्युक्त उपोद्घात की पुष्टि होती है। जनों—तीर्थयात्रियो—मन्दिरदर्शकों—देव-दर्शकों के आश्रय-स्थान मण्डप थे—यह तो हम पूर्व ही लिख चुके है। मण्डप शब्द की व्युत्पत्ति एव उससे द्योतित विभिन्न अर्थों की अवतारणा में डा० आचार्य महोदय ने अपने वास्तुकोश मे सविस्तर विवेचन किया है। यहाँ पर उसका उपयोग करना आवश्यक है। मानसार मे 'मण्डप' पर एक अध्याय (३४वाँ) है जिसके विषयोद्घाटन के

सम्बन्ध में आचार्य महोदय ने मण्डपों के प्रधान रूप से तीन अर्थ लिखे है--(१) ग्रामीण गृह, समुद्रवेला अथवा सरितातट पर या तडाग अथवा पुष्करिणी के कूल पर स्थित भवन, (२) क्षेत्र विशेष मे एक विवृत भवन तथा (३) मन्दिर-प्राकार के विभिन्न प्रकोष्ठ।

मण्डपों के त्रैविध्य का ऊपर जो निर्देश है उसका क्रमप्राप्त प्रासाद-मण्डप से ही यहाँ पर विशेष तात्पर्य होने के कारण अन्य दो मण्डप-भेदो का विचार यहाँ अप्रासगिक है, अत उनकी विशेष समीक्षा का यहाँ अवसर नही।

मानसार मे प्रथम निम्नलिखित सात सामान्य प्रासाद-मण्डपों की रचना बतायी गयी है--

१—हिमज	४—मलयज
२—निषधज	५—पारियात्र
३—विजय	६—गन्धमादन
७—हेमकूट	

इन मण्डप-सप्तक के अतिरिक्त अन्य मण्डपों का भी परिगणन हुआ है जिनकी प्रयोग पुरस्सर निम्नलिखित तालिका द्रष्टव्य है—

१–मेरुज	—	पुस्तकालय-प्रकोष्ठ
२–विजय	—	विवाह-मण्डप
३–पद्मक	—	देव-पाकशाला
४–सिच	—	साधारण पाकशाला
५–पद्म	—	पुष्पशाला
६–भद्र	—	जलशाला तथा संचयशाला
७–शिव	—	धान्यशाला
८–वेद	—	सभा
९–कुलधारण	—	गन्धशाला
१०–सुखाग	—	अतिथिशाला
११–दार्व	—	गजशाला
१२–कौसिक	—	वाजिशाला

इनके अतिरिक्त और बहुत से मण्डपो का इस ग्रन्थ में निर्देश है जिनका सम्बन्ध मन्दिर से न होकर राजहर्म्य से है। अतः उनकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है।

मानसार के मण्डप-विवरण में यह भी बताया गया है कि देवों तथा भूमि-देवों के आवासों (मन्दिरों एवं भवनों) के मण्डपों की आकृति कैसी होनी चाहिए। वह

ब्राह्मणादि वर्णों के अनुरूप पृथक्-पृथक् बतायी गयी हैं। जाति, छन्द तथा विकल्प—ये तीन आकृतियाँ क्रमशः ब्राह्मणो, क्षत्रियों एवं वैश्यो के लिए विहित हैं।

मण्डपो की अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय विषय है मण्डपों की मुखसंख्या (भद्रसंख्या) यथा —

१—दण्डक	द्विभद्र	द्विमुख
२—स्वस्तिक	त्रिभद्र	त्रिमुख
३—चतुर्मुख	चतुर्मुख	
४—सर्वतोभद्र	पचमुख	
५—मौलिक	षण्मुख	

मानसार-लिखित मण्डपों के इस स्थल दिग्दर्शन के उपरान्त अब अन्य ग्रन्थों की एतद्-विषयक सामग्री का अवलोकन करना है। मत्स्यपुराण का प्रवचन है—

प्रासादस्योत्तरे वापि पूर्वं वा मण्डपो भवेत्।
चतुर्भिस्तोरणैर्युक्तो मण्डपस्स्याच्चतुर्मुखः॥

अर्थात् मण्डप की रचना प्रासाद के पूर्व अथवा उत्तर में करनी चाहिए। इसके चार मुख होने चाहिए जो चार तोरण द्वारों से अलकृत हों।

मण्डपो के इस सामान्य वर्णन के उपरान्त निम्नलिखित २७ मण्डपों की परिगणना की गयी है —

१—पुष्पक	१०—विजय	१९—मानव
२—पुष्पभद्र	११—वास्तुकीर्ति	२०—मानभद्रक
३—सुवृत	१२—श्रुतिजय	२१—सुग्रीव
४—अमृतनन्दन	१३—यज्ञभद्र	२२—हरित
५—कौशल्य	१४—विशाल	२३—कर्णिकार
६—बुद्धिसकीर्ण	१५—सुश्लिष्ट	२४—शर्तार्द्धक
७—गजभद्र	१६—शत्रुमर्दन	२५—सिंह
८—जयावह	१७—भागपच	२६—श्यामभद्र
९—श्रीवत्स	१८—नन्दन	२७—सुभद्र

इस परिगणना का आधार स्तम्भ-संख्या है। सबसे अधिक संख्या ६४ स्तम्भों की है। इस स्तम्भानुरूप मण्डप-वर्गीकरण का स्थापत्य में कालान्तर पाकर बड़ा विस्तार हो गया। दक्षिण भारत के बहुसंख्यक मन्दिरों में शतमण्डप (अर्थात् १०० खम्भों वाले मण्डपों) की तो बात ही क्या, सहस्रमण्डप (१००० स्तम्भ वाले मण्डप) एक सामान्य निवेश हो गये।

इसी प्रकार गरुड-पुराण एवं स्कन्द-पुराण में भी मण्डप-मण्डना के ऊपर मण्डन किया गया है। स्कन्दपुराण की विशेषता यह है कि इस पुराण में मण्डपों के चित्रक को विभिन्न भूषाओं पर भूरि-भूरि प्रकाश डाला गया है (देखिए स्कन्द०, माहेश्वर खण्ड, अध्याय २४) —

जलं किन्तु स्थलं तत्र न विदुस्तस्वतो जनाः ।
क्वचित् सिंहाः क्वचिद् हंसाः सारसाश्च महाप्रभाः ॥
क्वचिच्छिखण्डिनस्तत्र कृत्रिमास्सुमनोहराः ।
तथा नागाः कृत्रिमाश्च हयाश्चैव तथा मृगाः ॥
के सत्याः के ह्यसत्याश्च संस्कृता विश्वकर्मणा ।
तत्रैव चैवंविधिना द्वारपा ह्यद्भुताः कृताः ॥
रथा रथियुता ह्यासन् कृत्रिमा ऽकृत्रिमोपमाः ।
सर्वेषां मोहनार्थाय तथाच संसदः कृताः ।
एवंभूतः कृतस्तेन मण्डपो दिव्यरूपवान् ॥

इसी प्रकार कामिकागम एवं सुप्रभेदागम इन ग्रन्थों में भी मण्डपों के विषय में समुचित समुल्लेख है। कामिकागम में —

एकद्वित्रितलोपेतं चतुष्पंचतलं तु वा ।
मण्डपं तु तव्यं विधातव्यं शालानामग्रदेशके ॥

अर्थात् एकभौम, द्विभौम अथवा त्रिभौम, फिर चतुर्भौम एवं पंचभौम मण्डपों की विरचना शालाओं के अग्रदेश में करनी चाहिए। इस अवतरण से मण्डपों की दूसरी ही वास्तु-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर स्तम्भों का प्राधान्य न होकर भूमिकाओं (तलों) की विशेषता है। यही विशेषता कालान्तर पाकर गोपुर-वास्तु के विकास में सम्भवतः सहायक हुई।

कामिकागम के विपरीत सुप्रभेदागम की मण्डप-व्यवस्था न केवल विशेष प्रशस्त एवं वैज्ञानिक ही है वरन् उसका स्थापत्य में सानुगत्य भी है। मण्डपों का विन्यास प्रासाद-प्रांगण में ही विहित है तथा उनकी प्रतिष्ठा का मुख्य उद्देश्य प्रासाद-देवता की नाना आवश्यकताओं की पूर्ति है। सुप्रभेदागम के मण्डपों में तल-विन्यास को तिलांजलि देकर स्तम्भ-विन्यास की ही पुरातन परम्परा की अक्षुण्ण रक्षा की गयी है। चार प्रकार की मण्डप-कोटियाँ इसमें वर्णित हैं —

१—देवतामण्डप
२—स्नपन-मण्डप
३—वृष-मण्डप
४—नृत्त-मण्डप

आगे अन्य जिन मण्डपो का इस आगम में वर्णन किया गया है वे निम्न हैं और साथ ही उनके स्तम्भों का निर्देश है —

मण्डप	स्तम्भ
१—नन्दवृत्त	४
२—श्रियावृत्त	१६
३—वीरासन	२०
४—जयभद्र	३२
५—नन्द्यावर्त	३६
६—मणिभद्र	६४
७—विशाल	१००

अभी तक हमने प्रासाद-मण्डपों की दो परम्पराओं पर दृष्टिपात किया—आगमिक एव पौराणिक। जहाँ आगमो (देखिए सुप्रभेदागम) मे मण्डपो के प्रयोजन पर भी निर्देश है वहाँ पुराण इस प्रकार के सविधान पर मौन है। परन्तु दोनो ही प्रासाद-प्रांगण मे मण्डपों का निवेश विहित मानते है तथा उनकी वास्तु-विशिष्टता स्तम्भ-न्यास पर जोर देते है। समरांगण भी इसी परम्परा का अनुयायी है। इस ग्रन्थ में सामान्यत: मण्डपो के दो प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं, वे हैं —

१—संवृत अर्थात् सयुक्त

२—विवृत अथवा व्यतिरिक्त अर्थात् डिटैच्ड

प्रासाद के समान ही मण्डप की प्रतिष्ठा एव रचना अभिप्रेत है। मान एव सस्था के अनुसार मण्डप ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ प्रभेद से प्रविभाजित होते हैं। शतपद-वास्तु से इनका विभाजन विहित बताया गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समरांगण की वास्तु-विद्या में पूर्वोक्त दोनो परम्पराओ को प्रश्रय मिला है। मण्डप प्रासादाकृति सन्निविष्ट हो—इससे यह भी बोद्धव्य है कि उनका कलेवर प्रासाद-कलेवर, शृंग आदि सज्जाओं से सज्जित हो। सम्भवत: यह कामिकागम के ही अनुगत है। ६६ वे अध्याय में निम्नलिखित आठ जिन मण्डपो का वर्णन है वे इसी कोटि मे आते है —

१—भद्र	५—स्वस्तिक
२—नन्दन	६—सर्वभद्रक
३—महेन्द्र	७—महापद्म
४—वर्धमान	८—गृहराज

इन मण्डपों का शतपद-वास्तु-विभाजन विहित है। दूसरी विशेषता यह है कि इनका आयाम प्रासाद के आयाम की अपेक्षानुसार अथवा एक पाद कम हो। इसी प्रकार मण्डपों

के विभिन्न वास्तु-अवयवो पर प्रकाश डालकर इनकी नाना स्थापत्य भूषाओं पर विशेष विवरण लिखा गया है।

इनकी विशेषताएँ मत्स्यपुराण मे वर्णित मण्डपों से मिलती है। संख्या-साम्य तथा संज्ञा-साम्य के अतिरिक्त इनमें स्तम्भ-विन्यास भी सामान्य है।

वहाँ निम्नलिखित २७ मण्डपों का वर्णन किया गया है —

१–पुष्पक	१०–वस्तुकीर्ण	१६–मानव
२–पुष्पभद्र	११–श्रुति	२०–मानभद्रक
३–अमृतनन्दन	१२–जय	२१–सुग्रीव
४–कौशल्य	१३–यज्ञभद्र	२२–हर्ष
५–संकीर्ण	१४–विशाल	२३–कर्णिकार
६–गजभद्र	१५–सुश्लिष्ट	२४–सिंह
७–जयावह	१६–शत्रुमर्दन	२५–पदाधिक
८–श्रीवत्स	१७–?	२६–सारभद्र
६–विजय	१८–दम	२७–सुभद्र

समरांगण के प्रासाद-मण्डपों के सम्बन्ध में इतना उल्लेख करना और भी अवशेष है कि मण्डपों का एवं प्रासादों का सन्निवेश प्रायः एक-सा ही है। वास्तु-भेद अवश्य है अन्यथा मण्डपो एवं प्रासादों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। ग्रन्थकार स्वयं लिखता है—

यानि प्रासादनामानि तानि स्युर्मण्डपेष्वपि।
वास्तुभेदेन भेदोऽयं मण्डपानां विधीयते॥

अर्थात् जितने प्रासाद है उतने ही मण्डप होते है तथा जो प्रासादों के नाम होते हैं वही मण्डपो के भी। इनका परस्पर विभेद वास्तु-भेद है। अथच इन मण्डपो का निर्माण भिन्न-भिन्न प्रयोजनवश किया जाता है–अर्थात् यज्ञार्थ, यतियों के आश्रमार्थ, देवता के पाकशालार्थ, यात्रियो के विश्रामार्थ एव राजाओ के लिए विहारार्थ भी। इन मण्डपों का समरांगण के समय मे जो वास्तु-वैशिष्ट्य प्रोल्लसित हुआ उसमे प्रासादानुरूप मण्डप-कलेवर भी निर्मित होने लगा। खजुराहो तथा भुवनेश्वर के प्रासाद-पीठो पर मण्डपो की यही शैली देखने को मिलती है। मत्स्यपुराण प्राचीन स्थापत्य का प्रतिनिधि होने के कारण मण्डप-कलेवर को इस प्रकार की वास्तु-भूषाओं से अलग रखता है; परन्तु समरांगण के समय मे यह भूषा पराकाष्ठा को पहुँच गयी।

अस्तु, अभी तक हमने प्रासाद-मण्डपो के ऐतिहासिक विकास एव उनके नाना प्रयोजनो तथा उनके विन्यास की रूप-रेखाओ पर विशेष ध्यान दिया। प्रासाद-मण्डपो

के विन्यास मे प्रासाद-कला और प्रासाद-तत्त्व के विकास-बीज विद्यमान हैं। समरांगण की काव्यमयी भाषा मे प्रासाद एक राजा है अतः उसकी भूषा और परिधान तथा परिच्छद के अनुरूप जगती-पीठ तथा मण्डप-विन्यास भी वाछित है। प्रासाद का सम्बन्ध विशेष कर मन्दिर के गर्भगृह से है। इस प्रकार प्रासाद पर प्रोत्थित वास्तु प्रासाद की सज्जा सम्पन्न करते है। प्रासाद इस प्रकार का प्रमुख निवेश है परन्तु प्रासाद-राज की अन्य नाना आवश्यकताओं के अनुरूप नाना भवनो का विन्यास भी वाछित है। मध्य-कालीन वास्तु-कला मे—विशेष कर प्रासाद-कला मे राजभवनो के विन्यास का भाव प्रकट होता है। राजाओ के महलो के नाना प्रकोष्ठो से हम परिचित ही हैं। राजदर्शन के लिए चार-पाँच प्राकार प्रकोष्ठो को पार करना पडता था। उसी प्रकार देव-दर्शन के लिए दर्शको को पहले मण्डपो से गुजरना पडता था। मण्डपो मे जब दर्शक आते थे और वहाँ के चित्रणो को देखकर जिस भावातिरेक के साथ पदार्पण करते थे उससे दर्शनार्थी एक प्रकार से देव-सांमुख्य के लिए अपने को तैयार करते थे। मण्डपो का वातावरण इस तैयारी के लिए सर्वथा अनुकूल होता था। पुष्प एव धूपों की गन्ध से सुवासित मण्डप देवाधिराज्य का सकेत करते थे। मण्डपो का यह विकास मध्य-कालीन है। मध्यकालीन वास्तु-कला के प्रसिद्ध निदर्शनो मे, जैसा ऊपर सकेत है, उत्तर-भारत के, विशेष कर खजुराहो एव भुवनेश्वर के, मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

मण्डप वास्तव मे प्रासाद से भी प्राचीन है। इनका विकास वैदिक सदस् और उत्तर-वैदिक (अर्थात् महाकाव्यकालीन) सभाओं मे हुआ है। सभा का वास्तु-विन्यास सरल एव छाद्य मात्र (पेन्ट रूफ) था। सभा-भवनो की दूसरी वास्तु-विशेषता बहुसख्यक स्तम्भो का विन्यास था। द्वार एव भित्ति आदि अथवा शिखर-भूषाओं आदि का उनमे कोई स्थान नही था। सभा-भवनो की यह वास्तु-पद्धति दक्षिण भारत के मन्दिरों के विनिविष्ट मण्डपो मे आज भी प्रत्यक्ष है। इन मण्डपो मे स्तम्भ-विन्यास ही प्रधान वास्तु-कर्म है। उपर्युक्त शत-मण्डप एवं सहस्र-मण्डपो मे ऐसा ही द्रष्टव्य है। जहाँ तक इनके न्यास-प्रयोजन की बात है वह प्राय. सर्वत्र समान है। उत्तर भारत के मन्दिरो मे विशेष कर भोग-मण्डप अथवा बलिमण्डप या अधिक से अधिक उत्सव-मण्डप की ही परम्परा पल्लवित हुई, परन्तु दक्षिण भारत मे रंग-मण्डप (नाट्य-गृह) एव नृत्त-मण्डप इन दो मण्डपो का बहुत अधिक बोलबाला है।

इस दृष्टि से मण्डपो की परम्परा एवं उनका स्थापत्य लौकिक एव धार्मिक दोनों प्रयोजनो के लिए पल्लवित हुआ। बिना लोकरंजन के देवस्थान भी शून्य ही समझने चाहिए। कथा-वार्ता, नृत्य और गान, भजन और उत्सव के बिना कैसे मन्दिर प्रतिष्ठा को पाते। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल मे बहुत से मन्दिर, मठो का काम देते थे,

जहाँ पर शास्त्राभ्यास, ब्रह्मचिंतन, योगाभ्यास भी होता था। अतः उनके साथ मण्डपों का न्यास आवश्यक था और इस प्रकार से प्रासादराज अपने विविध भवनों, गोपुरों एवं प्राकारों से सुसज्जित राजधानी की मान-मर्यादा से निखर उठते थे। मन्दिर-नगरों (टेम्पुल सिटीज) के विकास की यही कहानी है।

प्रासाद-प्राकार

प्राकार शब्द का अर्थ परकोटा है। प्राकारों पर 'पुरनिवेश' के अध्ययन में हम कुछ लिख चुके हैं। पुरनिवेश के समान प्रासाद-निवेश या मन्दिर-सन्निवेश की परम्परा में भी प्राकार-विन्यास पल्लवित हुआ। सम्भवतः प्राकार रक्षा-संविधान के एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते राज-प्रासाद, नगर तथा मन्दिर के निवेश में एक सामान्य वास्तु-शास्त्रीय घटक हो गये। प्राकारों का विशेष प्रचार प्रासाद-स्थापत्य में दक्षिणापथ में विशेष दर्शनीय है, उत्तरापथीय प्रासादों में प्राकारों का बहुत कम विकास हुआ।

प्राकार एवं प्रासाद का अत्यन्त पुरातन सम्बन्ध है। शां० श्रौ० सूत्र में प्रासादों के रक्षार्थ प्राकार निर्माण बताया गया है। परन्तु वहाँ पर प्रासाद का तात्पर्य 'चत्वर' से है न कि मन्दिर से। राज-प्रासादों में प्राकार शब्द से प्रकोष्ठों का भी बोध विहित है। मानसार में (देखिए अध्याय ३०) प्राकार पर बड़ा सुन्दर प्रवचन है। उसका निर्माण बल, परिवार, शोभा और रक्षा के लिए बताया गया है और पाँच प्रकार के प्राकारों का वर्णन है—अन्तर्मण्डल, अन्तर्निहार, मध्यमहार, प्राकार तथा महा-मर्यादा। इन प्राकारों का (विशेष कर चतुर्थ कोटि अर्थात प्राकार का) जाति, छन्द विकल्प (आभास) तथा काम्य वर्गों में वर्गीकरण हुआ। आगे इनके निर्माण द्रव्यों का जैसे ईंटों अथवा काष्ठ का निर्देश है। पुनः इन पाँचों प्राकारों के गोपुरों का भी वर्णन किया गया है। अन्तर्मण्डल प्राकार के गोपुर की संज्ञा द्वारशोभा तथा अन्य दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें प्राकारों के गोपुरों की सज्ञा द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य तथा महागोपुर के नाम से संकीर्तित है।

सुप्रभेदागम (अध्याय ३१) में भी मानसारीय प्राकार-विन्यास का अनुगमन है परन्तु उसमें प्राकारों का सबंन्ध प्रासादों से ही विशेष अभिप्रेत है—

प्राकारान् परितः कुर्यात् प्रासादस्य प्रमाणतः ।

आगे इस ग्रन्थ में मानसार के समान ही प्राकार के पाँचों गोपुरों का वर्णन है। पुनः इस आगम में एक महत्त्वपूर्ण संकेत यह है कि इन पाँचों प्राकारों में परिवार-देवों की स्थापना बतायी गयी है। मानसार का भी यही प्रवचन है। अध्याय ३२ में

इस व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। वहीं पर इन प्राकारों में किन-किन देवों के मण्डपों का विन्यास हो यह भी सूचित किया गया है। इन सन्दर्भों से प्रासाद-प्राकार में ही नाना वर्गीय मण्डपों, जैसे स्नपन-मण्डप, अभिषेक-मण्डप, नृत्त-मण्डप आदि का विन्यास बताया गया है। यह प्राकार पचविध प्राकारों में चतुर्थ-कोटिक है यह हम देख ही चुके हैं। पाँचवाँ प्राकार, महामर्यादा तो समस्त प्रासाद-निवेश की मेखला समझना चाहिए। इस प्रकार मन्दिर-प्राकार का निवेश मन्दिर-निवेश का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अग है जो प्रासाद-वास्तु के विकास का परिचायक है। साथ-ही-साथ यह भी सूच्य है कि इस प्रकार के विकास में सर्वदेववाद की सामान्य परम्परा भी पूर्ण प्रतिष्ठा पा चुकी थी। प्रासाद अथवा विमान पहले एक प्रधान देवता के लिए ही निर्मित होता था परन्तु कालान्तर में अन्य देवों के यथास्थान विनियोग के लिए मन्दिर के ही विशाल क्षेत्र में विभिन्न प्राकारों के न्यास से यह आवश्यकता भी पूरी की गयी।

वास्तु-कला की दृष्टि से प्राकार-निर्माण एक अत्यन्त पुरातन सस्था है। रामायण एव महाभारत में प्राकारों के प्रचुर सकेत हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्राकारों की परम्परा पर पूर्ण ध्यान दिया गया है। उस सुदूर अतीत में जब रक्षा का विशेष कर स्थानीय दृष्टिकोण प्रबल था उस समय महत्त्वपूर्ण निवेश—नगर, पुर, राजधानी, राजप्रासाद, मन्दिर आदि सभी में यह प्राकार-विन्यास परमावश्यक था। आगे हम मन्दिरों की गाथा गायेंगे, उनमें विशेष कर दक्षिण भारत के मन्दिरों की इस सामान्य परम्परा पर विशेष निदर्शन प्रस्तुत हो सकेंगे।

प्रासाद-गोपुर

प्राकारों की उपर्युक्त समीक्षा में गोपुरों का नाम-कीर्तन हो चुका है। अत गोपुर-स्थापत्य और उनकी वास्तु-परम्परा पर इसी अध्याय में कुछ संकेत आवश्यक है। गोपुर के उदय की कहानी में वैदिक भारत के आर्य जीवन की कहानी छिपी हुई है। गोत्र, गोपुर दोनों में ही वैदिक परिवार का आभास मिलता है। उस समय आर्यों का प्रधान धन गौएँ ही थी। उन्ही के रक्षार्थ बाडों की निर्मिति होती थी और उनमें अपने-अपने परिवार की गौओं की रक्षा की जाती थी। अतएव ("गा. त्रायन्ते यत्र इति गोत्रम्") जहाँ पर गौओं की रक्षा व्यवस्था हो उसे गोत्र कहते थे। गोत्र-विशेष के प्रधान अर्थात् मुखिया ऋषि के नाम से अनेक गोत्र अलग-अलग प्रसिद्ध थे अतएव प्रधान ऋषि के नाम पर ये गोत्र उनके ही परिचायक हो गये।

गोपुर शब्द की निष्पत्ति पर विद्वानों की एक राय नही है। हैवेल गोपुर को गोत्र के समान गौओं का दुर्ग मानते हैं जो गोत्र के समान ही गोशालाओं का बोधक है।

दत्त महाशय ने 'टाउन प्लैनिंग इन ऐन्शेन्ट इंडिया' में गोपुर शब्द की निष्पत्ति के लिए शब्दकल्पद्रुम के प्रामाण्य पर 'गुप्' रक्षार्थ-धातु की ओर संकेत किया है। अतः गोपुर गऊ-बाडे न होकर रक्षा-द्वार थे—यह मत उन्होने प्रकट किया है। गोपुर वास्तव में रक्षा-द्वार के रूप में ही शास्त्र और कला दोनो में देखे जाते है। अमरकोश ने "पुरद्वार तु गोपुरम्" लिखा है। अतः गोपुर शब्द का अर्थ द्वार है यह निर्विवाद है। दक्षिण भारत के मन्दिरो मे महामर्यादा प्राकार मे ही चतुर्दिक् गोपुरो का न्यास केवल नही हुआ है वरन् अन्य प्राकारो मे भी गोपुरों का विधान देखा गया है—यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

गोपुर-स्थापत्य प्रासाद अथवा विमान-स्थापत्य के समान ही अति पराकाष्ठा को पहुँच गया है। दक्षिण के मन्दिरो मे मुख्य मन्दिर की अपेक्षा गोपुर विशेष विशाल, उत्तुंग तथा सुसज्जित दिखाई पडते है। प्रासादों की विभिन्न शैलियो की समीक्षा के अवसर पर हमने देखा कि द्राविड प्रासाद प्राय एकभूमिक से लगाकर द्वादशभूमिक ही विशेष बनते थे परन्तु गोपुरो की भूमिकाओ की सख्या बारह से भी ऊपर उठ गयी और उसकी भूमिकाएँ सोलह और सत्रह तक चली गयी। जिस मानसार में द्वादशभूमिक विमानो मे ही विमानोत्थान का अवसान देखा गया है उसी मे गोपुरों का उत्थान सोलह और सत्रह भूमिकाओं से भी ऊपर ले जाने का विधान है। वास्तव मे दक्षिण के मन्दिरो की गोपुर-शोभा दर्शनीय है। प्राचीन भारत मे मन्दिरों के मन्दिर-नगरो मे विकसित होने मे गोपुरो की बडी देन है। गोपुरो की वास्तु-कला भी बहुत ऊँची उठ गयी थी। मदुरा के मीनाक्षीसुन्दरेश्वरम् मन्दिर के गोपुरों की छटा बडी ही विमुग्धकारिणी है। यद्यपि शास्त्र मे गोपुरो की भूमिका सख्या सोलह-सत्रह तक कही गयी है, परन्तु स्थापत्य मे उसका अनुगमन नही देखा जाता।

मानसार में गोपुरों के दस वर्ग है और इन वर्गों का पारस्परिक वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य उनकी आकृति के हेर-फेर से है। श्रीभोग नामक गोपुर की शिखा शाला के समान होती है और उसका गुम्बद चार क्षुद्र नासिकाओं से अलकृत होता है तथा स्तूपिका अनावृत। इसी प्रकार अन्य गोपुरो का वर्णन है। निम्न तालिका मे गोपुरों के दस वर्गों की सज्ञाएँ द्रष्टव्य है—

१—श्रीभोग	६—स्कन्दकान्त
२—श्रीविशाल	७—शिखर (श्रीकान्त)
३—विष्णुकान्त	८—स्तूपिका (स्तूपिकान्त)
४—इन्द्रकान्त	९—सौम्यकान्त
५—ब्रह्मकान्त	१०—?

प्रासाद-जगती

प्रासाद-जगती के ऊपर समरांगण मे दो अध्याय है । जगती के स्थापत्य का क्या तात्पर्य है यह यहाँ पर विशेष विचारणीय है । वैसे तो जगती का अर्थ पीठ होता है और प्रासाद-जगती का अर्थ प्रासाद-पीठ हुआ । हम आजकल भी जगती न कहकर 'जगत' के नाम से इस अग को पुकारते है, जैसे कुए की जगत, अर्थात् कुएँ के चारो ओर उत्थित पीठ । इस प्रकार जगती प्रासाद का पीठ (बेसमेन्ट अथवा टेरेस) है । वास्तु-परम्परा मे जगती का यही सामान्य अर्थ है परन्तु जगती-वास्तु पीठ अथवा पीठिका-वास्तु से विलक्षण और विशिष्ट है यह समरागण के परिशीलन से प्रतीत होता है ।

समरागण मे जगतियो की बडी प्रशसा है। निम्न अवतरण पढिए —

त्रिदशागारभूत्यर्थं भूषाहेतोः पुरस्य तु ।
भुक्तये मुक्तये पुंसां सर्वकालं च शान्तये ।।
निवासहेतोर्देवानां चतुर्वर्गस्य (हे ?)सिद्धये ।
मनस्विनां च कीर्त्यायुर्यशस्सम्प्राप्तये नृणाम् ।।
जगतीनामथ ब्रूमो लक्षणं विस्तरादिह ।

प्रासाद की आध्यात्मिक रूपोद्भावना मे विश्व-प्रतिकृति प्रासाद की जगती पीठिका है । प्रासाद और पीठ मे समरागण की भाषा मे वही सम्बन्ध है जो लिंग और योनि का है। सम्पूर्ण विश्व लिंग मे लयन को प्राप्त होता है—यह शाम्भव दर्शन है । अत. जगती उसका आधार होने के कारण पीठ—योनि है। समरागण का यही मर्म है—

'प्रासादं लिङ्गमित्याहुस्त्रिजगल्लयनाद् यतः' ।
ततस्तदाधारतया जगती पीठिका मता ।।

इस प्रकार प्रासाद की यह विस्तीर्ण और विशाल पीठ जिस पर प्रासाद अर्थात् हिन्दू-मन्दिर स्थित है वह उसका आधार है । इस अतिरंजित भाषा मे प्रासाद भवन न रहकर मूर्ति बन गया । जिस प्रकार लिंग प्रतिमा के लिए अथवा किसी भी प्रतिमा के लिए पीठिका उसका आवश्यक पूरक अग है उसी प्रकार प्रासाद-मूर्ति के लिए जगती भी उसका पूरक अग है। लेखक का यह निष्कर्ष है कि मध्यकालीन प्रासाद-स्थापत्य मे जगती-वास्तु केवल पीठ-वास्तु ही तक सीमित नही रहा, वह एक विशिष्ट वास्तु के, जो यद्यपि प्रासादाग ही था, रूप मे विकसित हुआ । परन्तु इस थीसिस पर प्रकाश डालने के प्रथम हमे जगती-वास्तु के कतिपय सामान्य विवरणो पर दृष्टिपात करना है ।

जगती-निवेश प्रासाद-निवेश का ही आनुषगिक है । आकृति, मान, उन्मान और सस्थान मे वह प्रासाद के ही समान है परन्तु इसकी चौडाई मे वैशिष्ट्य है ।

यदि प्रासाद की चौड़ाई आठ पद है तो जगती की अट्टाईस अथवा बत्तीस होगी। समरांगण में स्पष्ट संकेत है—

निरूप्य त्रिदशागारं संस्थानोन्मानलक्षणैः ।
तदाकारवर्तों पार्श्वे जगतीं तस्य योजयेत् ॥

जगती-वास्तु की एक विशेषता यह है कि जगती पर शालान्यास भी विहित हैं। उनके छः वर्ग हैं जिनका आधार उन शालाओं की स्थिति है, अर्थात् गर्भ पर गर्भजा, कर्ण पर कर्णजा, भ्रम पर भ्रमोत्था, भद्र पर भद्रजा, मध्य पर मध्यजा और पार्श्व पर पार्श्वजा।

जगती की भी सभी प्रकार की आकृतियाँ विहित हैं—चतुरस्र, चतुरस्रायत, वृत्त, वृत्तायत, अष्टास्र आदि। तदनुरूप निम्नलिखित पाँच वर्ग जगती-संज्ञा-पुरस्सर प्रस्तुत किये जाते हैं —

जगती-प्रभेद

(क) चतुरस्राकार जगती—

१—वसुधा	१४—कुलशीला	२७—विश्वरूपा
२—वसुधारा	१५—महीधरी	२८—आदिकमला
३—वहन्ती	१६—मन्दारमालिका	२९—त्रैलोक्यसुन्दरी
४—श्रीधरी	१७—अनगलेखा	३०—गन्धर्वबालिका
५—भद्रिका	१८—उत्सवमालिका	३१—विद्याधरकुमारिका
६—एकभद्रा	१९—नागारम्भा	३२—सुभद्रा
७—द्विभद्रिका	२०—मारभव्या	३३—सिहपजरा
८—त्रिभद्रिका	२१—मकरध्वजा	३४—?
९—भद्रमाला	२२—नन्द्यावर्ता	३५—गन्धर्वनगरी
१०—वैमानी	२३—भूपाला	३६—अमरावती
११—भ्रमरावली	२४—पारिजातक मजरी	३७—रत्नधमा
१२—स्वस्तिका	२५—चूडामणिप्रभा	३८—त्रिदशेन्द्रसभा
१३—हरमाला	२६—धवणमजरी	३९—देवयन्त्रिका

(ख) चतुरस्रायताकार जगती—

१—यमला	६—सिता	११—सरनिकटी
२—अम्बुधरा (पयोधरा)	७—	१२—
३—नेत्रा	८—	१३—रौद्री
४—दोर्दण्डा	९—त्रिकूटा	१४—त्रिविक्रमा
५—अखडला,	१०—चित्रकूटा	१५—त्रिपथा

टिप्पणी—यहाँ का ग्रन्थ बहुत ही नष्ट-भ्रष्ट है अतः निश्चत ज्ञात नहीं होता कि कितने भेद हैं तथा उनकी संज्ञा का विशुद्ध स्वरूप क्या है।

(ग) वृत्ताकार जगती—

१—वलया	३—करवीरा	५—पुण्डरीका	७—वज्रवाला
२—कलशा	४—नलिनी	६—अतलपत्रा	८—चन्द्रमण्डला

(घ) वृत्तायताकार जगती—

१—मातुलिंगी २—घटी ३—अयमनी ४—कालिंगी

(ङ) अष्टास्राकारा जगती—

१—मातृका २—शेखरा ३—पद्मगर्भा ४—अंशुमती ५—कमला

जगती-वास्तु, एक विशिष्ट वास्तु

पीछे हम समरांगण के जिस जगती-प्रशंसा-अवतरण का उल्लेख कर आये हैं उसमें तो जगती एक मात्र पीठ-वास्तु नहीं रहती। उस अवतरण का अर्थ है—"देव-मन्दिरों की भाँति अर्थात् ऐश्वर्य के लिए, पुर अर्थात् नगर की शोभा के लिए तथा मानवों की भक्ति, सर्वकालीन शान्ति एवं मंगल के लिए तथा देवों के निवास के लिए और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के लिए, अथच मनस्वियों की कीर्ति, आयु एवं यश की सम्प्राप्ति के लिए अब मैं जगतियों के सविस्तार लक्षण कहता हूँ।" इस अवतरण से तो जगती का तात्पर्य एक प्रकार के भवन स्पष्ट है।

समरांगणसूत्रधार में ही निम्न संकेतों को देखिए तो स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि जगती-वास्तु पीठ-वास्तु से पृथक् है —

> आकारविस्तृतायामानुच्छ्रायं (ते क्रिया?) ॥
> विना तमंग प्रत्यंगा कल्पना नापि क्रमम् (?) ।
> विभक्ति तिलकन्दानां भद्रविस्तारनिर्गमम् ॥
> जलाधार (प्र दोश्च?) प्रवेशं निर्गमोद्गमम् ।
> मानसंख्यां च शालानां संस्थानोन्मानलक्षणम् ॥
> परिक्रमं (तमेवासां?) संज्ञां च त्रिविधामपि ।
> षट्प्रकारत्वमे (वासां) सम्भवस्य च कारणम् ॥

इस अवतरण का साराश यह है कि वास्तु-शास्त्रीय निम्नलिखित षट् घटक, जैसे—

१—आकृति तथा मान-विस्तार, आयाम तथा उच्छ्राय आदि दृष्टि से।

२—अंग एवं प्रत्यंग तथा उनके भूषा-विन्यास की दृष्टि से।

३—भद्र, विस्तार एवं निर्गम की दृष्टि से ।

४—शालान्तर के निवेश की दृष्टि से ।

५—जगती पर शालाओं के निवेश की दृष्टि से तथा उनके द्वार, सोपान तोरण आदि की निवेश-पद्धति की दृष्टि से ।

६—इन जगतियों पर देवतायतनों की स्थापना की दृष्टि से (आगे का अवतरण द्रष्टव्य है) वास्तव में जगती, पीठ से विशिष्ट है । इस घटक-पटक को वास्तु ग्रन्थ में अंग-समुदय के पारिभाषिक नाम से पुकारा गया है और यह प्रतिपादित किया गया है कि जगती पीठ से विलक्षण वास्तु है। यही नहीं, ग्रन्थ में एक स्थान पर जगती के पीठ का वर्णन भी किया गया है जिसका अर्थ जगती-पीठ नहीं है बल्कि जगती का पीठ है (देखिए "ब्रूमोऽथ जगतीपीठ तत् कुर्यादकहस्तकं ।" ६८-३५) ।

डा० क्रैमरिश ने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' में (पत्र १४८) यह संकेत किया है कि बहुत से मन्दिरों के पीठ बृहदाकार हैं और उन पीठों के उपपीठ भी देखे गये हैं। अतः जगती-पीठ से यहाँ जगती का उपपीठ अर्थ नहीं समझना चाहिए, अस्तु । प्रासाद-वास्तु में जगती-वास्तु का उदय विशेषकर उत्तर भारत की परम्परा है। जिस प्रकार दक्षिण भारत के मन्दिर विभिन्न प्राकारों में विभाजित हैं और उन सब प्राकारों का अपना-अपना प्रयोजन भी है, उसी प्रकार उत्तर भारत के शिवालयों की ऊँची जगत पर नाना न्यासों का भी प्रयोजन है । इसमें विश्रामार्थ शालाओं, पूजा-गृहों आदि के निवेश के साथ-साथ मन्दिर के प्रधान देवता के अतिरिक्त अन्य वृन्दारकवृन्द की प्रतिष्ठा के लिए शालाओं का भी उत्थान पल्लवित हुआ । अतएव समरांगण में भिन्न-भिन्न जगतियों की भिन्न-भिन्न देवों के साथ प्रियता प्रदर्शित की गयी है—

कुलशैला तदा ज्ञेया हंसमालागमाश्रया ।
सदा महेश्वरस्येष्टा स्कन्दस्य तु विशेषतः ॥
अस्या एव यदा शाला पुरोभद्रं विधीयते ।
तदा महोधरा प्रोक्ता महोधरमनःप्रिया ॥
तयोरपि च शाले द्वे भ्रमकर्मविभूषिते ।
कार्या मन्वार (शामा) ला स्यादेवं हरमनःप्रिया ॥
सुण्डिकायां यदा तस्याः शाला सम्पद्यते तदा ।
अनङ्गलेखा भवति जगती पार्वतीप्रिया ॥
शालास्तित्रः प्रतिदिशं (शालात्रयादिना सुरविद्विषः?) ।
अस्या एव मुखे शाला यदि तन्मकरध्वजा ॥

इस अवतरण मे उपर्युक्त थीसिस के पोषण मे विचिकित्सा नही रह जाती। बात यह है कि उत्तरी शैली मे हिन्दू प्रासादो के पूर्ण विकास का जो दर्शन खजुराहो प्रासाद-पीठ पर विद्वानो ने पाया, उसी में वे सन्तुष्ट रह गये। वास्तव मे उत्तरी प्रासादो में ही तीन विशिष्ट विकास पाये जाते हैं। एक तो भुवनेश्वर के प्रासाद मे, जहाँ पर प्रासाद-वास्तु के साथ-साथ मण्डप-वास्तु (जगमोहन, भोगमण्डप तथा नटमण्डप भी प्रासादाग है) का निवेश भी प्रासाद के पूर्ण निवेश का अनिवार्य अग माना गया, दूसरे खजुराहो के मन्दिर, जहाँ पर प्रासाद अर्थात् गर्भगृह के साथ-साथ अर्धमण्डप एवं महामण्डप भी अनिवार्य अग प्रकल्पित किये गये। परन्तु इन दोनो मे निवेश-प्रक्रिया तो एक प्रकार से मौलिक रूप मे सदृश कही जा सकती है परन्तु प्रयोजन मे पृथक्-पृथक्। क्योकि खजुराहो के ये अर्धमण्डप (अथवा अन्तराल) तथा महामण्डप प्रासाद-प्रतिमा के दर्शन अथवा पूजन से साक्षात् सम्बन्धित होने के कारण, भुवनेश्वर के प्रासादसयुक्त मण्डप-निवेश के यथानाम जगमोहन, नट-मन्दिर एव भोग-मन्दिर से अवश्य वैलक्षण्य रखते है। तीसरा विकास उसे कहेंगे जहाँ मण्डपो के स्थान पर प्रासाद-निवेश मे जगती एव शालाओ का भी निवेश सयुक्त सन्निवेश के रूप मे पाया जाता है। अर्थात् प्रासाद-जगती पर ही नाना निवेशो के द्वारा प्रासाद के नाना प्रयोजनो का क्रम बाँधा गया। यह परम्परा पचायतन परम्परा से प्रभावित हुई, जिसमे प्रधान देवता के साथ-साथ अन्य देवो के मन्दिरो का निवेश प्रासाद-पीठ पर ही उपयुक्त समझा गया। उत्तरापथ के नाना मन्दिर इसके निदर्शन है।

अथच प्रासाद-जगती की यह महाभूमिका प्रासाद-स्थलीय ग्राम अथवा नगर की जनता के धार्मिक उत्सवो का भी काम देती थी। अस्तु, एक शब्द मे इन जगतियो को एक मात्र पीठ ही हम नही मानते वरन् एक प्रकार के भवन भी मानते हैं। डा० आचार्य ने भी (देखिए उनका विश्वकोश) जगती के नाना अर्थों मे भवन-विशेष का भी उल्लेख किया है।

७

प्रासाद-कलाकृतियों पर एक विहंगम दृष्टि

विगत अध्यायों में हमने प्रासाद-रचना के शास्त्रीय सिद्धान्तों की समीक्षा की। प्रासाद शब्द का अर्थ; प्रासाद और विमान का पारस्परिक सम्बन्ध एवं पारस्परिक विलक्षणता, प्रासाद-वास्तु का जन्म, विकास एवं चरमोत्कर्ष, प्रासाद-शैलियाँ, प्रासादों के नाना वर्ग, निर्माण-द्रव्य, कारक यजमान, निवेशोचित भूमि अर्थात् वास्तु-पुरुष-मण्डल आदि की दृष्टि से प्रासाद-निवेश, प्रासादों के प्रांगण में मण्डप, प्राकार एवं जगती आदि के निवेश—इन सभी पर हम कुछ-न-कुछ विचार प्रस्तुत कर सके हैं और उससे प्राचीन भारत के स्थापत्य-शास्त्र की कुछ-न-कुछ झाँकी हमको देखने को मिल गयी है। अब शास्त्र और कला की पारस्परिक आदान-प्रदान प्रक्रिया पर भी कुछ दृष्टिपात करना है। यह विषय बड़ा कठिन है, हमारा स्थापत्य-शास्त्र लगभग पाँच सौ वर्षों से लुप्तप्राय है। जहाँ पहले बिना शास्त्र के कर्म प्रारम्भ नहीं हो सकता था, प्रासाद-निर्माता स्थपति वेद-शास्त्र एवं स्थापत्य-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता होते थे, वहाँ अब हमारा स्थापत्य अपढ़ लोगों के हाथ में है, अथच आधुनिक स्थापत्य के नियन्ता और अभियन्ता प्राचीन स्थापत्य का नाम भी नहीं जानते। ऐसी दशा में आजकल इस दृष्टिकोण से कोई भी अनुसन्धानार्थी विद्वान् पद-पद पर कठिनता का अनुभव करेगा, तथापि इस दिशा में कुछ प्रयत्न आवश्यक है।

लगभग विगत पचास वर्षों से भारतीय स्थापत्य, विशेष कर प्रासाद-वास्तु पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है। जहाँ तक पुरातत्त्वीय सामग्री पर भारत की वास्तु-कला के अन्वेषण एवं अनुसन्धान का प्रश्न था, वहाँ पर कनिंघम, मार्शल, फर्ग्युसन, हैवेल, बर्जेस, ब्राउन आदि विद्वानों ने बड़ा स्तुत्य कार्य किया है। यह कलात्मक अनुसन्धान कहा जा सकता है, परन्तु शास्त्रीय अनुसन्धान एक प्रकार से अनाथ ही रहा। दो-तीन विद्वानों ने इस ओर कदम उठाया परन्तु शास्त्र और कला का पारस्परिक मानुगत्य समस्या ही बनी रही। डा० आचार्य ने यद्यपि अपने मानसारीय अनुसन्धान के द्वारा भारतवर्ष के प्राचीन स्थापत्य-शास्त्र को अन्धकार से लाकर प्रकाश में प्रस्तुत किया, परन्तु डा० साहब इस ओर गम्भीरता से ध्यान न दे सके कि मानसारीय सिद्धान्तों के अनुसार किस समय, कहाँ-कहाँ विमान-भवन या राज-भवन बने अथवा किस प्राचीन नगर अथवा पुर में मानसार की पुर-निवेश-पद्धति अपनायी गयी। इधर दो विद्वानों ने इस ओर पुनः

कदम उठाया, इनमे डा० तारापद भट्टाचार्य की प्राचीन वास्तु-विद्या (देखिए 'ए स्टडी आन वास्तुविद्या आर कैनन्स आफ आर्किटेक्चर') वाला प्रबन्ध एक अच्छी खोज है। परन्तु वे भी शास्त्र और कला का पारस्परिक मानुगत्य नही दिखा सके। इस भारतीय विज्ञान के सुलेखक की दृष्टि मे श्रीमती क्रैमरिश को प्रथम श्रेय है जिन्होने अपने 'हिन्दू टेम्पुल' मे भारत के प्राचीन शास्त्रो एव स्थापत्य-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के दृष्टिकोण पर अथवा आधार पर भारत की प्रासाद-कला (टेम्पुल आर्किटेक्चर) की मीमासा की। डा० क्रैमरिश का 'हिन्दू टेम्पुल' इस दृष्टि से एक महनीय ग्रन्थ है। कला—मूर्ति-कला, चित्र-कला आदि के क्षेत्रो मे जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य कुमार स्वामी ने किया है वैसा ही वास्तु-कला के क्षेत्र मे, विशेष कर 'हिन्दू-प्रासाद' की अन्वीक्षा मे श्रीमती क्रैमरिश का कार्य है।

लेखक ने अपने अनुसन्धान कार्य का जो विषय चुना वह इसी कमी की पूर्ति की ओर एक प्रयास है। भारतीय वास्तु-कला के अध्ययन एव अनुसन्धान की तीन प्रमुख प्रवृत्तियो मे इस अन्तिम प्रवृत्ति की ओर अब विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। भारतवर्ष के कौन-कौन प्राचीन स्मारक है; कला की दृष्टि से एव तिथिक्रम और राजवश के योगदान आदि की दृष्टि से हमने बहुत कुछ जान लिया। हमारी वास्तु-विद्या के कौन-कौन आचार्य थे, हमारा वास्तु-शास्त्र कितना विशाल है, इसका कितना बडा साहित्य है—इस ज्ञान से भी हम अपरिचित नही। परन्तु अब आगे के अनुसन्धान के लिए जो हमारे सामने समस्या है वह यह है कि एक ओर अतिरजित भाषा मे, रूपक एव काव्यमयी भाषा मे, नाना वर्गीय तथा नाना सज्ञक प्रासाद-माला हिमाद्रि की पर्वतमाला के समान हमारे सामने खडी है। कही पर उसकी श्रेणी बडी लम्बी, कही पर बडी ऊँची और कही दुर्गम दिखाई पड़ती है। यह तो हुई शिल्प-शास्त्रो की बात। उधर हमारे दर्शन, आगम, और तन्त्र के ग्रन्थो ने भी पूजा-वास्तु और पूजा-वास्तु मे प्रतिष्ठित एव प्रतिष्ठाप्य देव अथवा महादेव का क्या मर्म है और उसके अनुषग से पूजा-गृह अर्थात् प्रासाद या देवालय का क्या मर्म है—इन सब पर जो उपलाक्षणिक प्रवचन किये है, उनमे हिन्दू-प्रासाद जहाँ पर्वत के समान प्रोत्तुग था वही समुद्र के समान अगाध गम्भीर हो गया। अत हिन्दू-प्रासाद का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमको बडे अध्यवसाय के साथ उसकी विभिन्न श्रेणियो पर चढना है, जिससे उसके कलेवर का पता लग सके। उसकी आत्मा की परख के लिए हमे अगाध सलिल मे डुबकी भी लगानी है। वास्तव मे यह विषय बड़ा ही रोचक है।

पिछले अध्यायो मे हम शास्त्रीय सिद्धान्तो की समीक्षा के अवसर पर यथासम्भव कला के निदर्शनो की ओर यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टि डालते रहे। इस अध्याय मे हम प्रासाद-

कला के निदर्शनो की समीक्षा को यद्यपि प्रधान रखेंगे परन्तु शास्त्रीय सिद्धान्तो का भी यत्र-तत्र अवश्य उल्लेख करते रहेंगे जिससे हमारा यह अनुसन्धान आगे के अनुसधानार्थियो के लिए इस ओर विशेष प्रेरणा प्रदान कर सके। हमने भी अपने वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन को तीन प्रधान खण्डो मे विभाजित किया है, यथा—

पहला—वास्तु-शास्त्र—भवन, पुर एव प्रासाद

द्वितीय—शिल्प एव चित्र-शास्त्र—मूर्तिकला एव चित्रकला

तृतीय—शास्त्र एव कला का पारस्परिक सानुगत्य अर्थात् कला पर शास्त्र का प्रभाव।

प्रथम दो खण्डों का अनुसन्धान प्राय. समाप्त है, तीसरे खण्ड की ओर आगे प्रयास करना है। उस प्रयास का कुछ दर्शन इस अध्ययन मे भी पाठको को प्राप्त हो सकेगा ऐसी आशा है। अत इस अध्याय की अवतारणा मे भारत की प्राचीन प्रासाद-कला के प्रतिनिधि निदर्शनो की ही प्रधान गाथा रहेगी परन्तु उसमें शास्त्रीय तत्वो के भी निर्देश यथासम्भव रहेंगे। इस उपोद्घात के अनन्तर हमें प्रतिनिधि प्रासादो की समीक्षा करने के लिए प्रथम भारतीय वास्तु-कला के उदय के इतिहास पर अनायास दृष्टि डालनी पड़ती है। भारतीय वास्तु-कला के स्थापत्य निदर्शनो की दृष्टि से मौर्यकालीन बौद्ध-कला के प्रारम्भ को ही प्राय. विद्वान् भारतीय वास्तु-कला का उदय मानते है। परन्तु यह ठीक नही। प्राचीन काल मे भवन-निर्माण विशेष कर मृत्तिका एव काष्ठ से होता था। अत मृन्मय एव काष्ठमय भवन चिर काल तक जीवित नही रह सके। समरागण मे शाल-भवनो एव छाद्य-प्रासादो के जो सकेत है उनमें यह निष्कर्ष असदिग्ध है कि भारत की प्राचीन वास्तु-कला बहुत पुरानी है। अथच नागर शैली की परीक्षा मे हमने नागो की पाषाण-कला पर सकेत किया है। नागो की यह तक्षण-कला अथवा पाषाण-कला ईसा से लगभग पाँच सौ वर्ष प्राचीन है। इसके अतिरिक्त महाकाव्यों (रामायण एव महाभारत) का समय भी काफी दूर जाता है और उससे भी दूर सूत्र-ग्रन्थ और ब्राह्मण-ग्रन्थ जाते हैं। इन ग्रन्थो मे वास्तु-कला के जो शतश सकेत हैं उनमें प्राचीन भारतीय स्थापत्य के विकास का पता लगता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद तथा अन्य वेदों (विशेष कर अथर्व) के सूक्तो मे भी प्राचीन भारतीय स्थापत्य की झाकी देखने को मिलती है। भारत की प्राचीन कला का इतिहास उस सुदूर अतीत मे भी विद्यमान है जिसको हम नदी-घाटियो की सभ्यता मानते है। सिन्धु घाटी की सभ्यता मे जिस नगर-रचना और भवन-निर्माण का इतिहास प्राप्त होता है उससे हमारे देश की वास्तु-कला कितनी पुरानी है यह निश्चित हो जाता है। तथापि हमारा विषय प्रासाद-कला है, अत प्रासादों का उदय कब हुआ यह हमें देखना है।

हम यह संकेत कर चुके है कि प्रासादो के उदय मे यहाँ की एक नवीन धार्मिक आस्था

का हाथ था। वैदिक यज्ञवाद के उपरान्त पौराणिक देवमाहात्म्य, देवार्चा ने ही देवालय-निर्माण की उर्वरा भूमि उत्पन्न की। अथच पौराणिक धर्म में पूर्त-कर्म की प्रवृत्ति ने इस निर्माण को और भी आगे बढ़ाया। यही कारण है कि लोगो ने अपनी अपार धनराशि को देवचरणो मे समर्पित करने के लिए देवालय निर्माण किये। यद्यपि प्रासाद शब्द का तात्पर्य हिन्दू-मन्दिर है, तथापि प्रासाद-कला के इतिहास मे बौद्ध-मन्दिरो और जैन-मन्दिरो को भी नही भुलाया जा सकता। एक शब्द में प्रासाद-कला का इतिहास पूजा-गृह का इतिहास है। बौद्धों के गुहा-मन्दिर, विहार एव चैत्य पूजा-गृह ही थे और इनको हमने समरागण की भाषा मे 'लयन प्रासाद' के नाम से पुकारा है। अत. प्रासाद-कला के इतिहास मे हमें व्यापक दृष्टि से काम लेना होगा तभी हम भारतीय प्रासाद-कला के पूर्ण दर्शन करने मे समर्थ हो सकेगे।

अथच हिन्दू प्रासाद की चतुरश्रा पृष्ठभूमि मे वैदिकी, पौराणिकी एव लोक-धर्मिणी पृष्ठभूमियो के साथ-साथ 'राजाश्रया' का भी कम महत्त्व नही है। भारतीय स्थापत्य का जो प्रोन्नत एव प्रौढ विकास हुआ उसका मूलाधार भले ही धर्म रहा हो परन्तु प्रकाश मे राजकुलो ने ही उसे ऊपर उठाया और पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। प्रायः सभी देशो मे साहित्य और कला, विद्या एव वैदग्ध्य, नागरिकता एव मनोरजन राजदरबार के प्रोत्साहन एव सरक्षण से पनपे। भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य एव उसकी परम्परागत चतुर्दश विद्याएं यद्यपि ऋषियो एव महर्षियो, सूत्रकारो एव स्मृतिकारों की देन थी, तथापि बाद का लौकिक साहित्य तो राजाओं के आश्रय में ही प्रोल्लास को प्राप्त हुआ। कालिदास की कविता-कामिनी की नृत्यशाला नृपति-श्रेष्ठ विक्रम का दरबार था। अश्वघोष सम्राट कनिष्क के दरबारी थे। भारवि और माघ के राजाश्रय से हम परिचित ही हैं। भोज का दरबार तो कवि-दरबार ही था। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के कवियो एव साहित्य-सेवियो के राजाश्रय का इतिहास है। अस्तु, एक दृष्टि से यद्यपि यह कहा जा सकता है कि साहित्य, सगीत एव कविता बिना राजाश्रय के भी इस देश मे तथा दूसरे देशो मे पनपी, परन्तु कला के विकास के दो ही मौलिक आधार रहे—धर्म एव राजाश्रय। इस देश मे बौद्ध-कला, जैन-कला तथा ब्राह्मण-कला—सभी के विकास मे यह सार्वभौमिक एव सामान्य सत्य है।

वास्तव में बात यह है कि प्राचीन काल एव मध्यकाल का जीवन राजसत्ता से अनुप्राणित रहा। राजा ही प्रजा के एक प्रकार से भौतिक जीवन के उपयुक्त आचार एव विचार, शिष्टाचार एव सभ्याचार के विधायक थे। बड़े-बडे पण्डितों एव धर्माचार्यों को भी राजकुलो का सरक्षण प्राप्त था। उपनिषदो की आत्मविद्या—ब्रह्मविद्या को प्रकाश में लाने का श्रेय राजर्षि जनक के दरबार को था। महात्मा गौतम बुद्ध को भी बड़े-

बड़े राजाओं ने आश्रय ही नहीं दिया स्वयं उनके अनुयायी भी बन गये। उत्तर-वैदिक काल की सर्वोत्कर्ष से वर्तमान याग-संस्था बिना राजाश्रय प्राप्त किये पनप ही नहीं सकती थी। बहुद्रव्यापेक्ष वैदिक याग को साधारण लोग भला कैसे सम्पन्न कर सकते थे? बड़े-बड़े यज्ञों एवं सत्रों के विधिवत् कर्मकाण्ड में राजाओं की ही धनराशि एवं वदान्यता का सहारा था। अस्तु, एक शब्द में राजाश्रय ही प्राचीन काल में धर्म, विज्ञान, साहित्य एवं कला के विकास एवं प्रोल्लास का एकमात्र साधन था।

भारतीय स्थापत्य के जो ओजस्वी स्मारक आज प्राप्त हैं वे प्राय: सभी राजाओं के बनवाये हुए हैं।

भारत के प्राचीन स्मारकों में पूजा-गृह—मन्दिर प्रमुख ही नहीं एक दृष्टि से वे ही सब कुछ है। इस अध्याय में हम प्रासाद की राजाश्रयी पृष्ठभूमि के प्रविवेचन में राजकुलों की सूची एवं उनके द्वारा विनिर्मित प्रासादों या विमानों के उल्लेख के प्रथम एक आधारभूत उस दृष्टिकोण का पुन: स्मरण कराना चाहते हैं जिसकी दिव्य ज्योति ने अगणित प्रासादों के निर्माण की प्रेरणा प्रदान की। यह है धार्मिक आस्था। इसी धार्मिक आस्था (देव-भक्ति)—पूर्त-धर्म की सम्पन्नता—स्वर्ग-कामना, पुण्यार्जन, धर्म या परोपकार को श्रेय है कि इतनी अधिक प्रासाद-कला (टेम्पुल आर्कीटेक्चर) इस देश में विकसित हुई एवं वृद्धिगत हुई। यहाँ पर इतना ही और ज्ञातव्य है कि धर्म के नाम पर जहाँ अन्य देशों में बड़े-बड़े युद्ध, सहार एवं सर्वनाश हुए वहाँ इस देश में आँख मूंदकर सम्पूर्ण धनराशि एवं वैभव को देव-चरणों में समर्पित करने की प्रेरणा मिली और उसका परिणाम हुआ स्थापत्य की चरम उन्नति।

इसके अतिरिक्त एक और तथ्य है—इस प्रकार के स्थापत्य-विकास में सामाजिक एवं राजनीतिक सुव्यवस्था, सुरक्षा एवं शान्ति की भी बड़ी आवश्यकता होती है। बड़े-बड़े मन्दिर सैकड़ों वर्षों में निर्मित हुए—इतना धैर्य, इतनी आस्था, इतनी अविच्छिन्न परम्परा तभी सम्भव है जब तत्कालीन समाज आध्यात्मिक ज्योति से इतना प्रद्योतित हो कि भौतिक बाधाएँ एवं तथाकथित यातनाएँ कोई माने नहीं रखे। ईसवीय पंचम शतक से लगाकर पंचदश शतक तक इस देश में जो प्रासाद-स्थापत्य पनपा उसकी यही कथा है।

पाषाण एवं इष्टकाओं से विनिर्मित मन्दिर गुप्तकाल के पूर्व के नहीं प्राप्त होते। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उससे पूर्व देवतायतन निर्मित ही नहीं होते थे। भारत की प्राचीनतम या यों कहिये प्राय: सभी देशों की प्राचीनतम वास्तुकला का विकास सर्वसुलभ मृत्तिका एवं दारु से ही प्रारम्भ हुआ। मूर्तियों के निर्माण में धातु भी एक प्राचीन द्रव्य है, परन्तु प्रासाद-निर्माण में पाषाण का प्रयोग असुरों एवं नागों से आया। अत: प्रासाद-प्रतिष्ठा या मन्दिर-प्रतिष्ठा अथवा देव-स्थान-निवेश की परम्परा को हम

तीन दृष्टियों से देख सकते हैं—एक, भवन-निवेश के अभिन्न अंग के रूप में, जब देव-स्थानों को देवागार, देव-स्थान, देव-कुल, देवतायतन आदि नामों से पुकारने की परम्परा थी, जैसा सूत्र-ग्रन्थों तथा रामायण आदि प्राचीन साहित्य के सन्दर्भों से प्रतीत होता है। दूसरे, भवन-निवेश के समान कुछ विशिष्टताओं से युक्त देव-स्थान का पृथक् निवेश, जो ग्राम, खेट, पुर (खर्वट) आदि नाना जन-वासों का एक अभिन्न अंग था तथा उसके निर्माण में उसी द्रव्य का उपयोग होता था जो सुलभ थे तथा जो भवनों के निर्माण में समान थे। इसे हम भारतीय आर्यों की प्राचीनतम वास्तु-कला कह सकते हैं जिसके जन्म एवं विकास में मृत्तिका एवं काष्ठ का ही एकमात्र प्रयोग हुआ था। भारतीय वास्तु-कला का प्राचीनतम निदर्शन काष्ठमय एवं मृन्मय भवनों में माना गया है। देव-स्थान के विकास का तीसरा सोपान उसे कहा जायगा जब अनार्यों की तक्षण-कला (स्टोन मान-सोनरी) का प्रभाव आर्यों की वास्तु-कला पर पूर्ण परिलक्षित हुआ। अथवा यों कहिए जब आर्यों एवं अनार्यों के पारस्परिक संसर्ग, आदान-प्रदान, रहन-सहन, आचार-विचार का सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ तो आर्यों ने भी अपने देव-स्थान के निर्माण में पाषाण का प्रयोग प्रारम्भ किया। अतः भारतीय वास्तु-कला में पाषाण-प्रयोग के इतिहास पर थोड़ा-सा वक्तव्य आवश्यक है।

उत्तर भारत की वास्तु-कला या प्रासाद-कला को नागर शैली के नाम से पुकारने की परम्परा पल्लवित हो चुकी है। नागर वास्तु-विद्या के जन्म, विकास एवं उत्थान पर हम पीछे विवेचन कर चुके हैं (देखिए 'प्रासाद-शैलियाँ') परन्तु यहाँ पर इतना संकेत आवश्यक है कि विद्वानों ने "नागर" शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या पर नाना आकूत किये हैं (लेखक के भी कुछ आकूत हैं जो वहीं शैलियों के विवेचन में द्रष्टव्य होंगे), उनमें एक आकूत यह हो सकता है कि इस शैली के विकास में नागों (असुरों) का हाथ था। सत्य तो यह है कि नागर वास्तु-विद्या, जिसे हमने विश्वकर्मा-परम्परा (विश्वकर्मा-स्कूल) माना है, उसके विकास में नाग राजा शेष का बड़ा हाथ था। स्वर्गीय डा० जायसवाल ने भारशिव नागों को नागर-कला का जन्मदाता माना है। इसके अतिरिक्त नागर वास्तु-विद्या एवं नागर चित्र-कला की प्राचीन पारम्परिक घनिष्टता का प्रमाण 'विष्णुधर्मोत्तर' से प्राप्त होता है, तथा नग्नजित के 'चित्र-लक्षण' से पुष्ट होता है। यह नग्नजित नाग राजा था। अतः नागर कला के जन्म एवं विकास में नागों का हाथ अवश्य था। भले ही इसके प्रबल एवं अकाट्य ऐतिहासिक प्रमाणों का अभी सन्तोषप्रद अनुसन्धान नहीं हो पाया है।

विश्वकर्मा ने अपने विश्वकर्मप्रकाश में स्वयं "मन्दिर" उसे माना है जो पाषाण-विनिर्मित हो। अथच मानव-आवास में पाषाण का प्रयोग आर्य-संस्कृति ने नहीं अपनाया था। विष्णुधर्मोत्तर (और कामिकागम भी—"शिलास्तम्भ शिलाकुड्यं नरावासे

न योजयेत्") नरावास में शिला और सुधा के प्रयोग का प्रतिषेध करता है, तथा इनका देव-मन्दिर मे प्रयोग विहित बताता है। नागर वास्तु-कला के विकास में नागो का हाथ अवश्य था—इस पर अग्निपुराण एवं विष्णुपुराण के परिशीलन से कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। अग्निपुराण का वक्ता हयग्रीव था जिसे नागराज हय मानना सुसगत ही है और इसका समय ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक के आस-पास था। विष्णुपुराण मे साफ लिखा है कि नागर कला का उत्थान नाग राजा शेष के द्वारा हुआ।

इस उपोद्घात का यहाँ प्रकृत मे यह प्रयोजन है कि इस देश मे जन-वास्तु (सिविल आर्कीटेक्चर) मे पाषाण का प्रयोग बहुत समय तक निषिद्ध रहा। परन्तु अनार्यों की सस्कृति के ससर्ग से यह प्रतिषेध ढीला पड़ गया। पहले-पहल बौद्धो ने पाषाण-कला अपनायी, पुनः हिन्दुओं ने जब इसे अपनाना प्रारम्भ किया तो सर्वप्रथम वेदी-स्थानो मे उसका प्रयोग किया, पुनः अपने निजी प्रासादो, राज-प्रासादो मे, तदनन्तर सामान्य जनो की बस्तियों मे। अन्यथा पुरातन प्रथा के अनुरूप जन-वास्तु (सिविल आर्कीटेक्चर) में काष्ठ, मृत्तिका एव इष्टकाओं के ही प्रयोग प्रचलित थे। पाषाण-कला का यह राजाश्रय आगे चलकर महाप्रासादो के निर्माण मे निखर उठा।

विभिन्न जनपदो के विभिन्न राजवंशों द्वारा जो विभिन्न मन्दिर इस देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निर्मित हुए उनका वास्तु-कला की दृष्टि से विवेचन आगे होगा। इस अध्याय की पूर्णता के लिए उन राजवंशो का निर्देश यहाँ अवश्य अपेक्षित है जिनकी भक्ति-भावना, वदान्यता एव धर्माचरण की आस्था से यह वास्तु-कला वैभवपूर्ण हो सकी। भारतीय वास्तु-कला का इतिहास एक प्रकार से भारतीय प्रासाद-कला का इतिहास ही है। वास्तु-विद्या एव वास्तु-कला दोनो अभिन्न होती हुई भी इतिहास की दृष्टि से इस देश मे भिन्न है। वैदिक वाङमय के परिशीलन से तत्कालीन प्रोन्नत वास्तु-विद्या के दर्शन होते हैं, परन्तु कला के निदर्शन नही। वैदिकोत्तर-कालीन वास्तु-कला का क्या स्वरूप था—सन्दिग्ध ही है। मौर्य-काल से भारतीय वास्तु-कला का इतिहास प्रारम्भ होता है। भारतीय वास्तु-कला की तीन प्रधान धाराएँ यहाँ के तीन प्रधान धर्मों के उद्गम से निःसृत हुई। बौद्ध वास्तु-कला का मूलाधार धर्म था। ब्राह्मणो के मन्दिर धार्मिक पीठ या तीर्थ अथवा पावन-क्षेत्र के रूप मे प्रकल्पित हुए। जैनो की कला में जैन-मन्दिर ही सब कुछ है। मूर्ति-निर्माण-कला (आइक्नोग्राफी) भी मन्दिर-निर्माण-कला की पूरक थी। अतः वह उसी मे सन्निविष्ट समझनी चाहिए।

इस दृष्टि से हिन्दू-प्रासाद की इस पृष्ठभूमि के मूल्याकन मे बौद्ध-विहारो, चैत्यों एवं संघारामो के साथ-साथ जैन-मन्दिरो के राजकुल-संरक्षण आदि पर हम यहाँ विशेष चर्चा करेंगे।

मौर्य राजवंश—अशोक की स्थापत्य-कला

यद्यपि मौर्यकाल मे पूजा-वास्तु का प्राधान्य नही था तथापि भारतीय वास्तु-कला के, जिसकी मुख्य एव मूर्धन्य प्रासाद-कला है, विकासमान बीज पूर्ण रूप से पल्लवित हो चुके थे। पाटलिपुत्र का निवेश एव उसमे राज-भवन या राज-प्रासाद की रचना लौकिक वास्तु (सेकुलर आर्कीटेक्चर) का परम निदर्शन प्रस्तुत करती है। इस काल की वास्तु-कला का प्रधान निर्माण-द्रव्य काष्ठ था। पाटलिपुत्र के ध्वसावशेषो मे जो प्राचीन स्मारक प्राप्त हुए है उनमे काष्ठमय प्रासाद के प्रौढ विकास का पूर्ण आभास मिलता है। हमने प्राचीन भारत के चार प्रमुख स्थपतिवर्गों मे काष्ठकलाकोविद वर्धकि के कौशल को वास्तु-शास्त्र का एक अभिन्न अग माना है। तदनुरूप मौर्य-कालीन वास्तु-कला वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त एव प्रशस्त दक्षता का निदर्शन है। जहाँ पाटलिपुत्र की नगर-रचना एव राजधानी-निवेश की व्याख्या है वह प्राचीन भारतीय वास्तु-शास्त्र के अनुरूप ही थी, अर्थात् प्राकार, परिखा से गुप्त एव वप्र तथा हर्म्य आदि से मण्डित तथा द्वार एव गोपुरों से सज्जित रक्षा सविधान की परिपाटी उसमे थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे नगर-निवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गयी है उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है। अथच काष्ठमय प्रासादो के निर्माण मे जहाँ काष्ठ-कला का वैशारद्य पूर्णरूपेण परिलक्षित है वहाँ उनमें भूषा-विन्यास (पच्चीकारी) का भी कम कौशल नहीं है। वानस्पत्य विच्छित्तियो के साथ-साथ खग-मृग आदि पशु-ससार के चित्रण भी इनमें पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित है।

मौर्य वंश के अमरकीर्ति प्रियदर्शी राजर्षि अशोक का सरक्षण पाकर भारतीय स्थापत्य निखर उठा। अशोक-कालीन भारतीय स्थापत्य मे विशेष कर बौद्ध-कला के विकास का श्रीगणेश माना जाता है, जिसमे निम्नलिखित छ वास्तु-विन्यास विशेष उल्लेख्य है —

१—चट्टानों पर उट्टंकित शिला-लेख

२—स्तूप

३—एक-पाषाणीय स्तम्भ

४—एक-पाषाणीय आयतन

५—राज-प्रासाद

६—पर्वतीय शालाएँ

यद्यपि प्रकृत मे, इन निदर्शनों मे प्रासाद-कला का कोई आभास नही, परन्तु स्तूपों, आयतनों तथा प्रासाद-स्थापत्य की विच्छित्तियों एवं पार्वत्य-वास्तु की इन प्रारम्भिक कृतियों में प्रासाद के विकास एवं उत्थान के बहुत से घटकों के बीज अन्तर्हित है।

अशोक के स्तम्भों की रचना से आगे के प्रासाद-स्तम्भो ने बहुत कुछ ग्रहण किया। प्रासाद के ध्वजस्तम्भों की जो रचना आगे हम देखेगे उसपर अशोक के स्तम्भों का प्रभाव पूर्ण रूप से विद्यमान है। इन स्तम्भों पर गज, अश्व. वृष एव सिंह के चित्रणो में प्राचीन वैदिक एव पौराणिक परम्परा प्रतिबिम्बित है। इसके अतिरिक्त पुरातन भारत की अत्यन्त प्राचीन उपासना के नाना स्वरूपो मे वृक्ष-पूजा एक बडी प्रचलित सस्था थी। वृक्षों के प्रकाण्ड खण्ड की यह पूजा पाषाण-शिलाओ और पाषाण-स्तम्भो में भी परिणत हुई। भरहुत-चित्रण में यह दृश्य विद्यमान है। पूज्य स्तम्भो की परम्परा सम्भवत. इस देश में बहुत पुरानी है। बेसनगर के स्तम्भो से भी यही निष्कर्ष निकलता है। सम्भवतः अशोक के द्वारा निर्मापित एव प्रतिष्ठापित इन अगणित स्तम्भो को उपलक्षण पूजा-वास्तु के रूप मे हम देख सकते है। इस प्रकार ये स्तम्भ देवरूप थे और आगे के मन्दिरों के अग्रजन्मा थे। इसके अतिरिक्त पर्वतीय शालाओ को भी हम प्रासाद-वास्तु के उन्नायको एव नियामकों मे परिगणित कर सकते है। इनकी विच्छित्तियाँ प्रासाद-शिखर की विच्छित्तियों के समान ही दर्शनीय हैं। पर्सी ब्राउन (देखिए इंडियन आर्कीटेक्चर, पृ० १४–१५) ने भी यही मत प्रकट किया है। अशोक-कालीन इन पार्वत्य शालाओं के निदर्शन बरबर पर्वत-मालाओ में सुदामा, लोमश ऋषि, विश्व-झोपडी तथा नागार्जुनी पर्वत मे गोपिका, बहिजका, वादलहिका के साथ सीतामढी में भी द्रष्टव्य हैं।

शुग तथा आन्ध्र राजवंश

अर्चा-गृहो एव अर्चक-निवासों के आरण्यक, पार्वत्य एव नागर स्थानो की निर्मिति मे सर्वप्रथम ऐतिहासिक योगदान शुग एवं आन्ध्र राजाओ ने किया। यद्यपि इस काल की वास्तु-कृतियो के निर्माण मे विकासक्रम की दृष्टि से काष्ठ का ही बहुत प्रयोग हुआ था, अत. वे कृतियां प्रत्यक्ष बहुत कम निदर्शन प्रस्तुत करती है, परन्तु साँची, मथुरा, अमरावती, गन्धार आदि के स्मारकों मे चित्रित प्राचीन पूजा-गृहों (प्रिमिटिव श्राइंस) के अवलोकन से तत्कालीन वास्तु-कला के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

मौर्यों के बाद शुंगवंश का राज्यकाल आता है, पुनः आन्ध्रो का। शुगसत्ता का उत्तर एव पश्चिम मे विशेष प्रभुत्व था और आन्ध्रो का दक्षिण मे। आन्ध्रो ने अपने को 'दक्षिणेश्वर' के नाम से स्वयं सकीर्तित किया है। ये दोनों ही राजवंश बड़े उदार थे। अशोक के समय से बौद्ध-कला का जो विकास प्रारम्भ हुआ था वह इनके समय मे भी आगे बढ़ता रहा। साँची, भरहुत आदि महा कला-पीठो के विकास का श्रीगणेश इसी समय हुआ। विशेषता यह है कि इनके समय में प्राचीन पूजा-गृहों (अर्ली श्राइंस) का भी निर्माण

हुआ जो आगे चलकर हिन्दू-प्रासाद की निर्माण-शैली की पूर्वज प्रतिकृति (प्रोटोटाइप) बने। हिन्दू पूजा-गृहो मे इस काल (२०० ई० पू०) की कृतियो में बेसनगर का विष्णु-मन्दिर (जो ध्वसावशेष है) विशेष उल्लेख्य है। अन्य अनेक देवस्थान भी निर्मित हुए जिनकी समीक्षा यहाँ विशेष प्रासगिक नही।

ई० पू० २०० से ई० उ० २०० तक की भारतीय वास्तु-कला के इतिहास मे राजकुल के सरक्षण का अभाव था—ऐसा नही कहा जा सकता। इस काल की वास्तु-कला की मुख्य विशेषता बौद्ध विहार एव चैत्य थे और उनमे भी विभेद यह था कि उनके विकास की रूप-रेखा मे बौद्ध-धर्म की दो प्रमुख धाराओ, हीनयान एव महायान की अपनी-अपनी विशिष्टताओ के अनुरूप इन धार्मिक स्थानों—आयान-गृहो एवं पूजा-गृहों की विरचना हुई। इस समय की सर्वश्रेष्ठ एवं एक विशिष्ट कलाकृति, गुहा-मन्दिर या लयन-प्रासाद अथवा पर्वत-तक्षण-वास्तु (राक-कट आर्कीटेक्चर) का अभूतपूर्व विकास प्रारम्भ हुआ। तत्कालीन वास्तु-पीठो मे अमरावती, साँची, अजन्ता, जुन्नार, कार्ली, भाज, कोण्डन, नासिक, उडीसा (खण्डगिरि), रानीगुम्फा एव गन्धार तथा तक्षशिला विशेष उल्लेख्य हैं। आगे लयन-प्रासाद के शीर्षक मे हम इनकी विस्तृत समीक्षा करेंगे।

भारतीय वास्तु-कला के रोचक इतिहास मे जहाँ पहले विकासवाद के क्रमानुसार मृत्तिका एव काष्ठ जैसे प्राकृतिक द्रव्यो का प्रयोग हुआ, वहाँ पर्वत-प्रदेश भी तो प्रकृति-प्रदत्त थे। फिर क्या प्रेरणा की आवश्यकता थी, निष्ठा की कमी न थी, श्रम, अध्यवसाय एव धैर्य के धनियों की भी कमी न थी। छेनी ने कमाल कर दिखाया। बडे-बडे पर्वतो को काट-काटकर जो कला-भवन विनिर्मित हुए वे आज भी हमारे गर्व की चीज हैं।

इस प्रकार यहाँ के स्थपति और स्थापक यद्यपि प्रकृति के द्वारा सुलभ द्रव्यो के सहारे अपने निर्माण सम्पन्न करते रहे, परन्तु वैदिक-कालीन इष्टका-चयन की परम्परा विस्मृत नही हुई थी। अत: पाषाण-तक्षण-वास्तु के साथ-साथ ईसवीयोत्तर शतकों मे इष्टका-भवन (ब्रिक-बिल्डिंग) की निर्माण-परम्परा सर्वप्रथम उत्तर भारत मे प्रारम्भ हुई। मथुरा, सारनाथ (बनारस), गया की तत्कालीन कला इसी कोटि मे आती है। पर्सी ब्राउन (देखिए इंडियन-आर्कीटेक्चर, पृ० ५०) ने ऐसे भवनो को चार समूहों में विभाजित किया है जिनमे अधिकांश बौद्ध है। उनका द्वितीय वर्ग 'ब्राह्मण-मन्दिर' के नाम से उपश्लोकित है। इन मन्दिरो में कानपुर जिले के भीतर गाँव का ऐष्टक प्रासाद बडे महत्त्व का है, जो इष्टका-चयन-कला की उदात्तता एव पुष्टता पर ही प्रकाश नही डालता है, वरन् प्रासाद-वास्तु की प्रोन्नत रूपरेखा का भी सकेत करता है। भीतर गाँव के अतिरिक्त मध्य-प्रदेश के रायपुर जिले के खरोद और सीरपुर के मन्दिर भी इसी कोटि मे परिगणित किये गये है। महाराष्ट्र प्रान्तीय

शोलापुर के निकट तेर पर निर्मित दो आयतन (श्राइन्स) भी इसी वर्ग-वृक्ष की बल्लरियाँ हैं।

वाकाटक-राजवंश

भारशिव-वाकाटक-काल (तीसरी-चौथी शताब्दी) में नागर शैली के मन्दिर पर्याप्त बने। इन मन्दिरों में भूषा-विन्यास का प्रारम्भ हो गया था। खर्जूर-वृक्ष (जो नागों का चिह्न था) की तत्कालीन प्रतिकृति अधिकता से मिलती है। भारशिव नाग राजाओं के समय से ही गंगा-यमुना आदि नदी-देवियों का प्रतिमा-चित्रण भी मन्दिर की तोरण-चौखटों पर अंकित होने लगा था। भूमरा और देवगढ़ के प्राचीन मन्दिर इस पद्धति के निदर्शन हैं।

मन्दिर-निर्माण-कला में वाकाटक राजवंश की भी कम देन न थी। इनके समय में शिवालयों का विशेष प्राधान्य था, जिनमें एकमुखी एवं चतुर्मुखी लिंगों की स्थापना हुई। ऐसे मन्दिरों का प्रमुख केन्द्र नचना है। नचना के मन्दिर गुप्तकालीन मन्दिरों की वास्तु-कला से साम्य रखते हैं। ये मन्दिर भूभरा और गुप्तकालीन मन्दिरों की कला की लड़ी को जोड़ते हैं। वाकाटक मन्दिर भी प्रायः गुप्तकाल के हैं। उपासना-भेद से नाग-वाकाटकों के सभी मन्दिर शैव-सम्प्रदायानुरूप तथा गुप्त वंशियों के वैष्णव-सम्प्रदायानुरूप हैं।

गुप्त नरेशों का समृद्ध राजवंश

भारतवर्ष के इतिहास में गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' के नाम से संकीर्तित किया गया है। काव्य और नाटक, साहित्य और शास्त्र, कला और संगीत सभी में इस काल में अभूतपूर्व उन्नति हुई। गुप्त-कालीन कला की ओजस्विता एवं भावाभिव्यंजना तथा गतिमत्ता उस काल के अप्रतिम वैभव एवं अनन्त ऐश्वर्य की ही प्रतीक है। गुप्त कालीन स्तम्भों में घट-पल्लव (वाज़ एंड लीव्ज़) का विच्छित्ति-निवेश (मूल्डिंग) भी इसी उद्दाम गतिमत्ता एवं द्रुतगति के विस्तार का प्रतीक है।

गुप्त नरेशों के राज्य-काल में (लगभग तीन सौ वर्ष, ३५०-६५० ई०) उदीयमान भारतीय वास्तु-कला की विशेषताओं पर आगे समीक्षा होगी। यहाँ इतना ही निर्देश्य है कि इस समय की कलाकृतियों में जो अब तक विद्यमान हैं उनमें तिगवा पर ककाली-देवी का विष्णु-मन्दिर अत्यधिक प्रशस्त है। तिगवा के अतिरिक्त एरण (भेलसा के उत्तर-पूर्व), साँची, नागोद जिले में भूमरा और अजयगढ़ के नचना आदि स्थानों के मन्दिर भी उल्लेख्य हैं। इनमें एरण में राजाधिराज समुद्रगुप्त की राजमहिषी का

बनवाया हुआ विष्णु-मन्दिर बडा सुन्दर है। देवगढ के मन्दिर की बाह्य भित्तियों पर शेषशायी नारायण का चित्रण बडा ही मार्मिक एव आकर्षक है।

पाँचवी शताब्दी से आगे की भारतीय वास्तु-कला एक प्रकार से प्रासाद-कला है जिसके प्रोत्थान मे यहाँ के राजकुलो की वरेण्य वदान्यता ही मन्दिरो की गौरवगाथा है। अतएव हिन्दू प्रासाद की यह 'राजाश्रया' पृष्ठ-भूमि सार्थक होती है।

चालुक्य नरेश

गुप्त नरेशो के सरक्षण मे उदीयमान उत्तरापथीय वास्तु-कला मे प्रासाद-कला की जैसी अभिवृद्धि हो रही थी, वैसी ही उसी काल मे (४५०–६५० तथा ६००–७५० ई०) दक्षिण मे चालुक्य नरेशो के सरक्षण से यह कला एक दूसरी ही दिशा में प्रोल्लास को प्राप्त हो रही थी। होयसिल, बादामी (वातापि या बितापी) तथा पट्टदकल, इन तीन चालुक्य राजपीठो पर शतश. देवतायतनो, विमानों एवं प्रासादों का प्रोत्थान हुआ, जिनकी सविस्तर समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। इन प्राचीन राजपीठों पर वस्तु-पीठो का जो विकास हुआ उनमे उत्तरापथीय तथा दक्षिणापथीय दोनों शैलियो के उत्थान का आनुषंगिक क्रम देखने को मिलेगा। पापानाथ, जम्बूलिंग, करसिद्धेश्वर, काशीनाथ (उत्तर-शैली के) तथा सगमेश्वर, विरूपाक्ष, मल्लिकार्जुन, जगन्नाथ, सुमनेश्वर आदि (दक्षिणात्य वास्तु-शैली के) मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं।

राष्ट्रकूट राजा

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७५७–७८३) की अप्रतिम भक्ति भावना एवं धर्माश्रय के कारण ही भारतीय स्थापत्य का मुकुटमणि एलोरा का कैलास-मन्दिर निर्मित हो पाया था। इसी प्रकार एलोरा और अजन्ता के अन्य गुहा-मन्दिरो की भी गाथा है।

दाक्षिणात्य वास्तु-कला

ईसवीयोत्तर सप्तम शतक के बाद षोडश शतक तक निर्मित होने वाले नाना प्रासादो के इतिहास पर ऐतिहासिकों ने दो प्रमुख शैलियों के अनुरूप समीक्षा की है; दक्षिणीय वास्तु-कला एव उत्तरीय वास्तु-कला। अत उसी दृष्टिकोण से हम भी यहाँ इन दोनों शैलियों के अनुरूप उनके 'राजाश्रय' का सकीर्तन करेंगे।

दक्षिणी कला के विकास मे निम्नलिखित छ राजकुलो की वरेण्य वदान्यता एव वरिष्ट प्रासाद-कला का सरक्षण प्रस्तावनीय है —

१—पल्लव राजवश	(६००–९०० ई०)
२—चोल राजवश	(९००–११५० ई०)
३—होयसिल नरेश	(१०५०–१३०० ई०)

४—पाण्ड्य नरेश (११००–१३५० ई०)
५—विजयनगर नरेश (१३५०–१५६५ ई०)
४—मदुरा नरेश (१६००–)

पल्लव राजवंश

द्रविड़ देश की द्राविड़ शैली के विकास मे पल्लव राजवश के सरक्षण ने शिलान्यास का काम किया है। आन्ध्र राजाओ के अनन्तर द्रविड देश की राजसत्ता पल्लवों के हाथ मे आयी और इनकी प्रभुता सप्तम से लगाकर दशम शतक के प्रारम्भ तक प्रवृद्ध रही। इस राजसत्ता का सीमा-प्रभुत्व आधुनिक मद्रास राज्य था और इनकी कला-कृतियों की क्रीडास्थली इनके राज्य के केन्द्र मे राजपीठ कांजीवरम् (काची-पुरम्) के आस-पास विशेष रूप मे केलि करती रही। इनके प्रासाद-निर्माण-वैभव का प्रसार तजौर तथा पुडुक्कोट्टई जैसे सुदूर प्रदेशों तक पहुँचा।

इस काल के पल्लव राजवश मे चार प्रधान नरेश हुए जिनके नाम पर पल्लवो की वास्तु-कृतियो के भी चार वर्ग किये गये है। इनमे विशेषता यह है कि इन चारों वर्गों की वास्तव में वास्तु-कला की दृष्टि से दो वर्गों में ही समीक्षा उचित है; प्रथम में आपूर्ण पार्वत्य-वास्तु (हाल्ली राककट) के निदर्शन तथा द्वितीय मे आपूर्ण भूनिवेशीय वास्तु (हाल्ली स्ट्रक्चुरल) के निदर्शन सकलित होते है। इनकी विस्तृत समीक्षा आगे की जायगी। यहाँ पर पूर्वसकेतित चार राजाओ के कालक्रमानुसार निम्ननिखित चार वर्ग विभाजनीय हैं—

१—महेन्द्र-मण्डल	(६१०–६४०)	मण्डप-निर्माण	पार्वत्य-वास्तु
२—मामल्ल-मण्डल	(६४०–६६०)	विमानो एव रथो का निर्माण	,,
३—राजसिंह-मण्डल	(६६०–८००)	विमान (मन्दिर)–निर्माण	निविष्ट-वास्तु
४—नन्दिवर्मन–मण्डल	(८००–६००)	,, ,,	,,

प्रथम अर्थात् महेन्द्र-मण्डल की प्रासाद-कृतियाँ मदगपट्ट, त्रिरुचिनापल्ली, पल्लवरम्, मोगलार्जुनपुरम् आदि नाना स्थानो पर फैली हुई हैं। द्वितीय वर्ग का प्रासाद-वैभव मामल्लपुरम् के प्रख्यात वास्तु-पीठ पर ही सीमित रहा। यहाँ के सप्त-रथा (सेविन पेगोडाज) की कीर्ति से प्राचीन वास्तु-इतिहास धवलित है। इन रथो का संकीर्तन पंच पाण्डवो और गणेश के नाम से किया गया है—धर्मराज, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, गणेश आदि।

तृतीय वर्ग का कला-कौशल विशेष विख्यात है। अब वह पार्वत्य गुहा-मन्दिरो के तक्षण से विराम लेकर भू-निविष्ट विमानों एव प्रासादो की ओर मुड़ता है। इस

तृतीय उत्थान का मूर्धन्य महीपति राजसिंह था जिसके काल में मामल्लपुरम् में ही तीन विमान विकसित हुए—उपकूल (शोर), ईश्वर तथा मुकुन्द। पनमलाई (अर्काट जिले) का एक मन्दिर तथा कांजीवरम् के कैलास-नाथ और वैकुण्ठ-पेरूमल ये दो मन्दिर भी इसी काल के कौशल के विख्यात निदर्शन हैं।

चतुर्थ वर्ग पल्लव राजसत्ता का धूमिल इतिहास है। नन्दिवर्मन के राज्यकाल में विनिर्मित प्रासाद न तो गगनचुम्बी विमान कहे जा सकते हैं और न कौशल की अतिरंजना। सत्य तो यह है कि वास्तु-वैभव एवं साहित्य-वैभव राजसत्ता के वैभव की निशानियाँ हैं। अतः जब राजसत्ता का ही ह्रास उपस्थित है तो साहित्य और कला को भी दीन होना ही पड़ता है। इस अन्तिम वर्ग के प्रमुख निदर्शन लगभग छः हैं, जो कांजीवरम् के मुक्तेश्वर तथा मातंगेश्वर, चिंगलपेट, ओरंगदम के वदमल्लीश्वर, अरकोनम् के निकट तिरुत्तनी के विरट्टनेश्वर और गुडीमल्लम के परशुरामेश्वर में प्रेक्षणीय हैं।

चोलों का राजवंश

एक ही विशाल भू-भाग के मण्डलेश्वरों का पारस्परिक प्रभुता-संघर्ष भारतीय इतिहास की ह्रासोन्मुखी हिन्दू-सत्ता की सामान्य कथा है। दक्षिण में पल्लवों, चोलों, चालुक्यों, पाण्ड्यों एवं राष्ट्रकूटों—सभी ने इस काल (६००–११५०) में अपनी अपनी प्रभुता की प्रतिस्पर्धा की। परिणामतः चोलों को प्रभुता-संघर्ष में विजय-श्री ने वरा।

चोलों की प्रासाद-कला को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है—स्थानीय क्षुद्र कृतियाँ तथा बृहत्तर विशाल कृतियाँ। अतः अपने शासन-काल के प्रभात में वे राज्य की दृढ़ता, सुरक्षा एवं सीमा-विस्तार में लगे रहे, अतः १०वीं शताब्दी की कृतियाँ पुदुकोट्टाई के इतस्ततः विनिर्मित हुई जिन्हें क्षुद्र कृतियों के रूप में ही परिगणित किया जा सकता है। इनमें निम्नलिखित मन्दिर विशेष उल्लेख्य हैं —

क्षुद्र कृतियाँ

सुन्दरेश्वर —तिरुकट्टलाई,	मुचकुन्देश्वर, कोलट्टूर
विजयलय —नरतमलाई,	कदम्बर कदम्बरमलाई (नरतमलाई)
मुवरकाहल (त्रि: आयतन)—कोडुम्बेलुर,	बालसुब्रह्मण्य, कन्नौर

इसी प्रकार चोलों की अन्य कृतियाँ सुदूर दक्षिण अरकाट जिले में भी पायी जाती हैं। ये सभी कृतियाँ १० वीं शताब्दी की हैं।

विशाल कृतियाँ

चोलों की बृहत्तर विशाल प्रासाद-कृतियाँ उनके बृहत्तर एवं विशाल राज्यविस्तार एवं महान् ऐश्वर्य की प्रतीक हैं। ये हैं—तजौर का बृहदीश्वर-मन्दिर तथा गंगैकोण्डचोल-पुरम् का मन्दिर। इनमें प्रथम प्रासाद-कारक यजमान महामहीपति राजराज ((९८५-१०१८) है जिसने अपनी अपार धनराशि एव लोकोत्तर वैभव को देवचरणों मे समर्पित करने के लिए यह महा-अनुष्ठान रचा। ऊँचाई में और आकार में दाक्षिणात्य कला का यह अनूठा एव अनुपम विमान विनिर्मित हुआ है। इसकी विशेष समीक्षा आगे द्रष्टव्य है। द्वितीय अर्थात् गगैकोण्डचोलपुरम् के निर्माता राजेन्द्र प्रथम (१०१८–३३) ने सम्भवत. अपने पूर्वज से प्रतिस्पर्धा करके ही यह मन्दिर बनवाया था।

इस प्रकार चोलों की अनुपम कृतियो में भारतीय वास्तु-कला की दक्षिणी शैली के उत्थान की पराकाष्ठा पहुँच गयी। यद्यपि सख्या कम है परन्तु गुणातिरेक में चोलो का वास्तु-वैभव भारतीय इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ है।

होयसिल राजकुल

मैसूर राज्य मे होयसिल राजाओं के समय के कतिपय मन्दिर बडे ही सुन्दर है। सोमनाथपुर का प्रसन्न-केशव मन्दिर, होयसिलेश्वर का मन्दिर, केदारेश्वर का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं। बेलूर (दक्षिण काशी) का चिन्न-केशव मन्दिर बड़ा विशाल है।

पाण्ड्य राजकुल

पाण्ड्य राजाओं के काल मे प्रासाद-कला मे एक अभिनव कला-कृति का उदय हुआ। पिछले अध्याय मे मन्दिरो को हम तीर्थ-स्थानो के रूप मे देख चुके हैं। मन्दिर और तीर्थ का यह तादात्म्य हिन्दू सस्कृति का पौराणिक विलास है। अत. जो भी मन्दिर बन गये, जहाँ कही भी देवस्थान प्रकल्पित हो चुके वह स्थान के लिए पूज्य बन गया। अत. वास्तु-कला को प्रोत्साहन देनेवाले राजकुल यदि किसी नवीन मन्दिर के निर्माण को न उठा सके तो पूर्व-निर्मित मन्दिरो के ही क्षेत्र में किसी न किसी कृति के द्वारा अपनी भक्ति एवं अपूर्व आस्था को प्रश्रय देते रहे। इस दृष्टि से यद्यपि पाण्ड्य-राजाओं के समय में चोलों के विशाल विमानों की रचना नही हुई और चोलो के बाद बहुत समय तक (लगभग २०० वर्ष) तमिल देश इस प्रकार की कला-कृतियों से एक प्रकार से शून्य रहा तथापि यह निस्सन्दिग्ध है कि पाण्ड्यों के समय दाक्षिणात्य वास्तु-कला में एक अभिनव वास्तु-चेतना प्रतिस्फुटित हुई। यह है मन्दिरो का प्राकार-विन्यास तथा मन्दिरो की चारों दिशाओं में गोपुरो की छटा का श्रीगणेश। दक्षिण भारत के उत्तुग गोपुरो की परम्परा को जन्म देने का श्रेय इसी पाण्ड्य-काल को है।

पाण्ड्यों के पूर्व भी मन्दिर-द्वारों को विच्छित्ति-विशेष से अलंकृत करने की कतिपय मन्दिरों में प्रथा थी, जैसे कांजीवरम् के कैलासनाथ-मन्दिर में। तथापि यह परम्परा पूर्ण रूप से न तो पनप ही पायी थी, और न इसकी वास्तु-कला ही समृद्ध हो सकी थी। पाण्ड्यों ने ही सर्वप्रथम इस दिशा में कदम उठाया और पूर्वविनिर्मित कतिपय प्रख्यात प्रासाद-पीठों पर, जैसे जम्बुकेश्वर, चिदम्बरम्, तिरुवन्नमलाई तथा कुम्भकोणम् में गोपुरों का निर्माण कराया। गोपुर-वास्तु-कला की कुछ समीक्षा हम पीछे कर आये हैं। पाण्ड्यों के काल में एकाध पूरे मन्दिर भी बने। दरसुरम् का मन्दिर इसी कोटि में आता है।

विजयनगर की राजसत्ता

चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध दाक्षिणात्य स्थापत्य की प्रासाद-कला में एक नवीन युग की सृष्टि करता है तथा दक्षिणी कला का प्रौढ़ विकास प्रस्तुत करता है—जब कि कला में अतिरंजना एवं अलंकृति-चित्रण (आर्नामेन्टेशन) के साथ-साथ रसास्वाद की भावना ने जड़ पकड़ी। कला के पूर्ण सौष्ठव की निष्पत्ति में स्थपतियों के स्वाच्छन्द्य एवं उनकी सौन्दर्य-प्रियता के साथ-साथ तन्मयता भी आवश्यक है। दक्षिण की कलात्मक कृतियों में यह अभिनव विलास तब उदय हुआ जब दक्षिणी राजसत्ता ने विजयनगर के नृप-पुंगवों के राजवंश में पदार्पण किया। विजयनगर के राजाओं ने दक्षिण देश पर लगभग २०० वर्ष तक राज्य किया। इनके राज्य-काल में प्रासाद-कला अपने यौवन के उद्दाम प्रवाह में बहने लगी जो मोहक थी और चित्तोद्वेलक भी।

भारत के मध्यकालिक इतिहास में मुसलमानों के आक्रमणों एवं कठोर शासन से हम परिचित ही हैं। विजयनगर ने हिन्दू-सत्ता को जीवित रखने का बीड़ा उठाया। यह महानगरी उस समय एशिया की परम प्रख्यात राजनगरियों में एक थी। कृष्णा नदी से लेकर कन्याकुमारी तक इस राजकुल का आधिराज्य था और यह नगरी उसका राजपीठ। तुंगभद्रा के पावन जल से पावित यह समृद्ध नगर नाना मंदिरों के निर्माण का केन्द्र बना।

विजयनगर के अभ्यन्तरालीय मन्दिरों में सर्वप्रथम एवं सर्वप्रसिद्ध विट्ठल तथा हजराराम के साथ-साथ नगर का अधिदैवत-मन्दिर पम्पापति है। इनमें विठोबा (पाण्डुरंग) कृष्ण का मन्दिर (विट्ठल) सर्वश्रेष्ठ है। राजा कृष्णदेव ने १५१३ ई० में इसका निर्माण प्रारम्भ कराया। कृष्णदेव के उत्तराधिकारी ने उसे जारी रखा परन्तु उस मन्दिर की पूर्णता तब भी न सम्पन्न हुई। हजराराम एक प्रकार से विजयनगर का राजमन्दिर (रॉयल चैपेल) था जिसके चारों ओर का प्राकार

(बाउंड्री वाल) २४ फुट ऊँची दीवारों का था। इसे भी कृष्णदेव राजा ने १५१३ ई० में बनवाना प्रारम्भ किया था तथा कला-सौष्ठव की दृष्टि से यह अपने समय की सर्वश्रेष्ठ कृति है।

इन विजयनगरीय कृतियों की सर्वप्रमुख विशिष्टता पूर्वोदृिष्ट शोभा-बहुलता (आर्नमिन्टेशन) है, तथा वास्तु-विजृम्भण की दृष्टि से मन्दिर के प्रधान निवेश विमानोत्थान के अतिरिक्त अन्य नाना निवेश एवं गौण मन्दिरों का न्यास है। मन्दिर के अधिदेवता (देव) की पत्नी के मन्दिर की प्रतिष्ठा के साथ-साथ कल्याण-मण्डप एवं अर्ध-मण्डप आदि अनेक निवेशों की रचनाओं से मन्दिर पूरा नगर सा प्रतीत होता है।

विजयनगरीय साम्राज्यान्तर्गत इसी शैली में अन्य अनेक मन्दिर भी बने, जिनमें वेलर, कुम्भकोणम् काजीवरम्, ताडपत्री, विरजिपुरम् तथा श्रीरंगम् के पीठ विशेष प्रख्यात हैं।

मदुरा के नायकराजा

मुसलिम सत्ता से पदाक्रान्त विजयनगर की राजसत्ता १५६५ ई० में अस्त हो गयी। अत: तमिल देश की हिन्दू सत्ता दक्षिण की ओर और पीछे पहुँची और मदुरा को अपना राजपीठ बनाया। नायकों के नायकत्व में जहाँ इस सत्ता की प्रभुता प्रतिष्ठित हुई वहाँ दाक्षिणात्य स्थापत्य-शैली की चरमोन्नति ही नहीं प्रतिफलित हुई वरन् यह शैली अपने अन्तिम रूप में भी परिणत हो गयी, जो बहुत अंशों में आधुनिक युग तक चली आती है।

इस समय के महावास्तु-वैभव का सर्वाधिक श्रेय नायक राजवंश के अत्यधिक विख्यात राजा तिरुमलाई (१६२३–१६५६) को है, जिसके उदार संरक्षण एवं उद्दाम उत्साह से सुन्दरतम वास्तु-कृतियाँ उदित हुई। नायकों ने भी पाण्ड्यों के सदृश पूर्वस्थापित प्रासादों पर ही नाना अन्य रचनाओं के द्वारा कला के विकास को प्रश्रय दिया। अथच पूजा-वास्तु का वह प्रोत्थान पूजा-प्रक्रिया की औपचारिक पद्धति एवं नाना उत्सव-सभारों की माँग के कारण पूर्ण स्वाभाविक भी था। प्राकारम् और गोपुरम् के साथ-साथ मण्डपम् (सहस्रमण्डपम्, भोगमण्डपम्, उत्सवमण्डपम्, दर्शनमण्डपम्) और तडागम् की रचना की आवश्यकता का अनुभव हुआ, अतएव आविष्कार भी।

मदुरा की दक्षिणी शैली में विनिर्मित मन्दिरों की संख्या वैसे तो लगभग तीस है, परन्तु उनमें निम्नलिखित विशेष प्रख्यात हैं जिनकी गौरव-गाथा एवं वास्तु-कला पर हम आगे सविस्तर प्रतिपादन करेंगे—

मीनाक्षी-सुन्दरेश्वरम् (मदुरा)	रामेश्वरम्
श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली के निकट)	चिदम्बरम्
जम्बुकेश्वर ,,	तिन्नेवेली
तिरुवरूर	तिरुवन मलाई
	श्रीवेल्लीपुतुर

दक्षिण महादेश के विभिन्न राजवंशों के राज्याश्रय में विकसित एवं वृद्धिगत दाक्षिणात्य प्रासाद–कला की इस अति संक्षिप्त सूचना के उपरान्त अब उत्तर भारत के माण्डलिक राजाओं के राज्याश्रय से प्रोत्थित एवं प्रौढ़ताप्राप्त प्रासाद–कला के इतिहास पर भी थोड़ा सा विहगावलोकन वाञ्छनीय है। उत्तर भारत में विकसित इस प्रासाद-कला की शैली को नागर कला अथवा उत्तर भारतीय कला के नाम से पुकारा गया है। आर्यावर्त (उत्तरापथ या उत्तर भारत) एवं दक्षिणापथ, भारतवर्ष के इन दो विशाल भू-विभागों में एक प्रकार से दो प्रकार की प्राचीन संस्कृतियों (क्रमशः *आर्य एवं द्राविड़*) *का विकास हुआ। अतएव* अपनी–अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं के कारण इन दो प्रमुख शैलियों का विकास भी स्वाभाविक था। यद्यपि *दक्षिणापथ आर्यों की सभ्यता एवं संस्कृति से प्राचीनकाल में ही पूर्ण प्रभावित हो गया* था तथापि दक्षिण की अपनी कुछ विशिष्टताओं से वहाँ का जीवन सनातन काल से कुछ विलक्षण ही रहा है।

अस्तु, इसी सांस्कृतिक मूलाधार की दृष्टि से इस देश में वास्तु-विद्या की दो धाराएँ एवं वास्तु-कला की दो शाखाएँ प्रस्फुटित हुई। इन दोनों की पारस्परिक क्या-क्या विलक्षणताएँ हैं और कौन-कौन से सामान्य घटक हैं–इन सब पर 'प्रासादशैलियाँ' नामक अध्याय में हम सविस्तर समीक्षा कर आये हैं। यहाँ पर प्रसंगवश अब उत्तरी शैली में विकसित प्रासाद-कला के राज्याश्रय की स्वल्प में समीक्षा का अवसर है।

उत्तरापथीय वास्तु-कला

दाक्षिणात्य वास्तु-कला के क्षेत्र से उत्तरापथीय वास्तु-शैली, नागर शैली का क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और लम्बा है। दक्षिण की प्रासाद-कला का उदय विशेष कर उस देश के मण्डलेश्वरों के राजपीठों में हुआ, अत. वहाँ की कला का वर्णन राजवंशानुक्रम (डाइनैस्टिकली) से विशेष सुविधापूर्ण है, परन्तु उत्तर भारत में इतस्ततः नाना प्रासादों का निर्माण हुआ और उनके निर्माण में भी यद्यपि राजाश्रय प्रधान था परन्तु जनाश्रय भी कम न था, अत. उत्तरी प्रासाद-कला की राजवंशानुक्रम से समीक्षा करने

में ऐतिहासिकों ने कठिनता अनुभव की है। इसलिए स्थानीय केन्द्रों के अनुरूप इस शैली का विवेचन किया गया है।

उत्तर भारत की प्रासाद-कला के इस स्थानीय विकास (रीजनल डेवलपमेंट) के अनुरूप कला-केन्द्रों का निम्नलिखित षड्वर्ग समुपस्थापित किया जाता है—

१—उत्कल या कलिंग (उड़ीसा)—भुवनेश्वर, कोणार्क तथा पुरी

२—बुन्देलखण्ड—खजुराहो

३—मध्य भारत एवं राजस्थान

४—गुजरात (लाट) तथा काठियावाड़

५—दक्षिण दिग्भाग (खान देश)

६—मथुरा-वृन्दावन

प्रकृत में हम इस क्रम को नही अपना सकते। इस अध्याय के शीर्षकानुरूप राजवंशानुक्रम से ही विवेचन समीचीन होगा।

केसरी राजाओं के वास्तु-पीठ

उत्तरी शैली की कला-कृतियों में सर्वप्रथम सकीर्तनीय केसरी राजाओं का राज-पीठ भुवनेश्वर है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के धर्म-क्षेत्र पर हम पूर्व अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। भुवनेश्वर की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्त में उड़ाने का श्रेय लिंगराज के मन्दिर को है।

भुवनेश्वर केसरी राजाओं की राजधानी रहा है। चौथी शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक उड़ीसा-मण्डल के मन्दिरों में केसरी राजाओं द्वारा निर्मित भुवनेश्वर की मन्दिर-माला के अतिरिक्त दो मन्दिर-पीठ और विशेष विख्यात हैं—कोणार्क का सूर्य-मन्दिर तथा पुरी का जगन्नाथजी का मन्दिर।

कोणार्क को किसने बनवाया—यह असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं। भुवनेश्वर से ३५ मील तथा पुरी से २१ मील की दूरी पर समुद्र की वेला पर विराजमान यह दिव्य प्रासाद सम्भवत. ९वीं शताब्दी में विनिर्मित हुआ था और १६वीं शताब्दी तक अपनी पूर्ण ओजस्विता एवं सम्पन्नता से विद्यमान था। क्योंकि उसका आधुनिक रूप तो भग्नावशेष ही है—विमान ध्वस्त है, जगमोहन की ही मोहनी छटा पर मुग्ध होकर कला के मर्मज्ञों ने इसे भारतवर्ष की ही नहीं, एशिया महाद्वीप की महाविभूति माना है। लगभग ३०० वर्ष तक यह समुद्री बालू के ढेर में ढका पड़ा रहा। भारत सरकार ने कई लाख रुपये लगाकर इसका जीर्णोद्धार कराया, तब लोगों को इस महिमामय वास्तुरत्न की परीक्षा का अवसर मिला। इसकी वास्तु-कला एवं अन्य विवरण आगे समुपस्थापित होंगे।

जगन्नाथजी का मन्दिर

पुरी के जगन्नाथजी के मन्दिर के निर्माण-काल एवं कारक यजमान के विषय में भी ऐतिहासिकों में मतभेद है। श्री मनमोहन चक्रवर्ती (देखिए 'दि डेट आफ जगन्नाथ टेम्पिल इन पुरी'—जे० ए० यम० बी०, वाल्यूम ६७ भाग १, १८६८, पृ० ३२८—३३१) ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

प्रासादं पुरुषोत्तमस्य नृपतिः को नाम कर्तुं क्षम-
स्तस्येत्याद्यनृपैरुपेक्षितमयमं चक्रेऽथ गंगेश्वरः ॥ (गंगवंश ताम्रपत्र)

इस आधार पर वे इस प्रासाद को गंगेश्वर का बनवाया हुआ बताते हैं। यतः गंग का राज्याभिषेक १०७८ ई० में हुआ था अत इस मन्दिर का निर्माण काल १०८५—१०९० मनमोहन ने माना है। इसके विपरीत डा० डी० सी० 'सरकार ('गॉड पुरुषोत्तम ऐट पुरी', जे० ओ० आर०, मद्रास, भाग १७, पृ० २०९—२१५) ने उडिया भाषा के प्रख्यात पुराण (क्रोनिकल)—मादला-पाँजी के अनुसार इस प्रासाद के निर्माण का श्रेय गोडगग को न देकर उसके प्रपौत्र (ग्रैंड ग्रैंडसन) अनगभीम तृतीय को दिया है। मित्र तथा हन्टर महाशय (दे० 'ऐंटिक्वीटीज आफ उड़ीसा', भाग दो, पृ० १०६-११० एवं 'उडीसा' भाग एक, पृ० ११०—१२०) भी इसी मत का पोषण करते हैं तथा निम्न श्लोक का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं —

शकाब्दे रन्ध्रशुभ्रांशुरूपनक्षत्रनायके ।
प्रासादं कारयामासानंगभीमेन धीमता ॥

अस्तु, इस ऐतिहासिक प्रामाण्य के अतिरिक्त पौराणिक प्रामाण्य के आधार पर भी (देखिए पिछला अध्याय) यह मन्दिर अति प्राचीन है और इसका कई बार जीर्णोद्धार कराया गया है। इसकी मूर्तियाँ तो निस्सन्दिग्ध प्राचीन हैं—सम्भवतः ईसवीयोत्तर तृतीय शतक की। मुसलमानों ने इस पर कई बार आक्रमण किये तथा इसे ध्वस्त किया। कहा जाता है कि १९वीं शताब्दी में मराठों ने इसके जीर्णोद्धार में योग दिया था।

इस मन्दिर की वास्तु-कला पर बौद्ध प्रभाव परिलक्षित होता है। बौद्धों के त्रिरत्न बुद्ध, धर्म और संघ की भाँति इस मन्दिर में जगन्नाथ, सुभद्रा और बलराम की मूर्तियाँ हैं। शिव-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी और ब्रह्मा-सावित्री आदि का स्थापत्यांकन अथवा चित्रांकन पुरुष और प्रकृति के रूप में हुआ है, तब यह भाई-बहिन का योग बौद्धों के प्रभाव का स्मारक है। बौद्ध लोग धर्म को स्त्री-संज्ञक मानते हैं। अस्तु, पुरी में जगन्नाथ-मन्दिर के अतिरिक्त मुक्ति-मण्डप, विमला देवी का मन्दिर, लक्ष्मी-मन्दिर, धर्मराज

(सूर्यनारायण) का मन्दिर, पातालेश्वर, लोकनाथ, मार्कण्डेयेश्वर, सत्यवादी आदि के मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

भुवनेश्वर के मन्दिर

केसरी राजाओं ने लगभग ७०० वर्ष एवं चवालीस पीढ़ियों तक उत्कल प्रदेश पर राज्य किया। ययाति (८ वीं शताब्दी) नामक राजा के राज्य-काल में हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति के उत्थान के साथ-साथ हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण-वैभव प्रारम्भ हुआ। हर्ष का विषय है कि भुवनेश्वर की प्राचीन गरिमा एवं भौगोलिक महिमा (जलवायु आदि) को दृष्टि में रखकर आधुनिक शासन ने भी उड़ीसा की राजधानी के लिए इसे उपयुक्त समझा।

कहा जाता है कि केसरी राजाओं ने इस स्थान पर सात हजार मन्दिर बनवाये थे। अब भी बहुसंख्यक मन्दिर विद्यमान हैं। इनमें ईसा की पाँचवी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं तक के मन्दिर मिलेंगे। पुण्यपुरी एवं प्रख्यात क्षेत्र काशी को छोड़कर भारत में कदाचित् ही कोई ऐसा क्षेत्र हो, जहाँ इतने अधिक मन्दिर एक साथ निर्मित हुए हों। इन मन्दिरों में मुख्य मन्दिर श्री लिंगराज का है। ललाटेन्दुकेसरी (६१७ से ६५७ ई०) ने इसका शिखर निर्मापित कराया था। भुवनेश्वर के प्रासादों एवं प्रासाद-स्थापत्य पर हम विशेष विवेचन आगे करेंगे। लिंगराज के अतिरिक्त अन्य प्रमुख मन्दिरों की माला के निर्देशन में इतना ही कथन पर्याप्त है। अब भी भुवनेश्वर और उसके आस-पास ५०० मन्दिर हैं जिनमें निम्न विशेष उल्लेखनीय हैं —

१—मुक्तेश्वर	१०—ब्रह्मेश्वर	१९—हाटकेश्वर
२—केदारेश्वर	११—मेघेश्वर	२०—कपालमोचनी
३—सिद्धेश्वर	१२—अनन्तवासुदेव	२१—रामेश्वर
४—परशुरामेश्वर	१३—गोपालिनी	२२—गोसहस्रेश्वर
५—गौरी	१४—सावित्री	२३—शिशिरेश्वर
६—उत्तरेश्वर	१५—लिंगराज सारिदेवल	२४—कपिलेश्वर
७—भास्करेश्वर	१६—सोमेश्वर	२५—वरुणेश्वर
८—राजरानी	१७—यमेश्वर	२६—चक्रेश्वर
९—नायकेश्वर	१८—कोटितीर्थेश्वर	आदि

चन्देलों का वास्तु-पीठ—खजुराहो।

खजुराहो इस समय बुन्देलखण्ड का एक छोटा सा गाँव है, परन्तु किसी समय यह जुझोती (यजुहोती) प्रान्त की राजधानी था। यह स्थान विद्या और वैभव का अनूठा

स्थान था। सम्भवत. 'यजुहोती' शब्द से ही बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम 'जेजाकभुक्ति' पड़ा। चन्देल राजवशीय राजन्यो में यशोवर्मा एव उसके पुत्र धगदेव का विशेष गौरव है जिन्होने इस राजवश की नीव को सुदृढ बनाने में कमर न रखी।

महोबा के चन्देल राजपूत राजा चन्द्रवर्मा ने आठवी शताब्दी में चन्देल राज्य की नीव डाली थी। ८वी से लगाकर लगभग १६वी शताब्दी तक इधर चन्देलों का प्रभुत्व रहा। चन्देलों का मुख्य स्थान कालिन्जर का दुर्ग था और निवास-स्थान महोबा। खजुराहो को उन्होंने अपना वास्तु-पीठ या प्रासाद-पीठ चुना।

बुन्देलखण्ड मण्डल की शिल्पकला के प्रतिनिधि ही नही सर्वस्व खजुराहो के मन्दिर हैं। इनमे कडरिया (कन्दरीय) महादेव का मन्दिर सर्वप्रख्यात एव सबसे विशाल है। इस मन्दिर को अनुमानत दसवी शताब्दी में राजा धगदेव ने बनवाया था। चन्देलो की इस पवित्र भूमि के इतिहास से विदित होता है कि स्वयं शैव होते हुए भी उन्होंने अन्य धर्मो एव सम्प्रदायों के प्रति सराहनीय सहिष्णुता बरती। वैष्णव धर्म, जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म—सभी के स्मारक चिह्न यहाँ पर विराजमान हैं। इन सभी धर्मों के अनुरूप यहाँ पर मनोरम मन्दिर देखने को मिलेंगे। निनोरा ताल, खजुराहो गाँव (जो पहले एक बडा नगर था) एव निकट-स्थित शिव-सागर झील के इतस्तत. फैले हुए प्राचीन समय में ८५ मन्दिर थे जिनमे अब ३० ही शेष रह गये हैं। इनमे निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं —

१—चौसठ योगिनियो का मन्दिर।

२—कण्डरिया (कन्दरीय) महादेव—यह सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है—विशालकाय, प्रोत्तुग, मण्डपादि-युक्त, चित्रादि (स्कल्पचर्स) विन्यास-मण्डित।

३—लक्ष्मण-मन्दिर—निर्माण-कला अत्यन्त सुन्दर।

४—मतगेश्वर महादेव। इसमे बडे ही चमकदार पत्थरों का प्रयोग हुआ है। मन्दिर के सामने वाराह-मूर्ति और पृथ्वीमूर्ति (जो अब ध्वसावशेष है) हैं।

५—हनूमान का मन्दिर।

६—जवारि-मन्दिर इसमे चतुर्भुज भगवान् विष्णु की मूर्ति है।

७—दूलादेव-मन्दिर—इस नाम की जनश्रुति है कि एकदा एक बारात इस मन्दिर के सामने से निकली, तत्क्षण वर नीचे गिरकर परमधाम पहुँच गया, तभी से इसका नाम दूलादेव-मन्दिर हो गया।

राजस्थानीय एवं मध्य भारतीय

उत्तर भारत में दैवदुर्विपाक से शतश. मन्दिर मुसलमानो के द्वारा ध्वस्त कर दिये गये। कन्नौज, काशी, प्रयाग, अयोध्या और मथुरा के अगणित मन्दिरों के नाश की

कथा—मध्यकालीन मुस्लिम सत्ता की कलक-कालिमा से हम परिचित ही हैं। अत. इस भू-भाग में बहुत थोड़े प्राचीन स्मारक अवशिष्ट हैं।

राजस्थान में यवनों का प्रवेश अधिक न हो पाया, अतः वहा स्थिति कुछ अच्छी है। जोधपुर मे दो अत्यन्त सुन्दर मन्दिर विद्यमान हैं। पहला धानमंडी मे 'महा-मन्दिर' नाम से विख्यात है, जिसमें अनेक शिखर है तथा जिसका मण्डप सहस्र स्तम्भों का है। दूसरा एक-शिखर वाला मन्दिर भी सुन्दर है।

उदयपुर क्षेत्र में भी दो बड़े सुन्दर मन्दिर मिलते हैं। उदयादित्य परमार का बनवाया हुआ उदयेश्वर महादेव का मन्दिर मालवा मे सर्वश्रेष्ठ है। 'एकलिंग' के नाम से विख्यात मन्दिर उदयपुर राजधानी से बारह मील उत्तर एक घाटी में श्वेत सगमरमर का है। कहते है कि 'एकलिग' की स्थापना मेवाड़ के आदि पुरुष बाप्पा रावल के समय में हुई थी और ईसा की १५ वी शताब्दी मे महाराणा कुम्भ ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था।

राजपूताना से पूर्वी अंग पर ग्वालियर का सुप्रसिद्ध प्राचीन किला बना है। इसमे सास-बहू (सहस्रबाहु) का अत्यन्त सुन्दर मन्दिर है। इसकी स्थापना सम्भवतः ७वी या ८वी सदी में हुई। फर्गुसन के मत मे यह ११वी शताब्दी में बना था। ग्वालियर मे ही 'तेली का मन्दिर' भी इस मण्डल का एक अनूठा उदाहरण है। अन्य मन्दिरो में जिन्हें कलचुरि राजाओं ने बनवाया था, चौसठ जोगिनियो का मन्दिर ही एक उत्कृष्ट नमूना है जो अब भी विद्यमान है।

इस मण्डल में ओसिया के वरेण्य मन्दिरों का वर्णन नही विस्मृत किया जा सकता है। यह जोधपुर मे है तथा यहाँ पर विभिन्न देवो के मन्दिरो की सख्या एक दर्जन से अधिक है। इनमे एक मन्दिर सूर्य का भी है।

राजपूताना के मन्दिरों की गाथा में आबू पर्वत पर बने हुए जैन मन्दिरों का सकीर्तन आवश्यक है। ये मन्दिर बड़े ही सुन्दर है और सगमरमर पत्थर के बने है। करोडो रपयो की लागत उस समय इनमे लगी थी, जिनमे एक मन्दिर विमल शाह का तथा दूसरा तेजपाल तथा वास्तुपाल बन्धुओ का कहा जाता है। इन मन्दिरो की कारीगरी दर्शनीय है।

सोलंकी राजवंश का प्रासाद-निर्माण

उत्तर-भारतीय वास्तु-कला का एक अनूठा एवं अति समृद्ध विकास-केन्द्र मध्य कालीन गुर्जर-प्रदेश (गुजरात) एव कच्छ-प्रदेश तथा काठियावाड़ रहा है। इस प्रदेश के समृद्धि-प्रकर्ष का ही यह फल है कि यहाँ नाना मन्दिरो का ही निर्माण नही हुआ

वरन् प्रासाद-कला मे एक नवीन शैली (लाट-शैली) का भी विकास हुआ। इस वास्तु-वैभव का श्रेय तत्कालीन सुदृढ एवं समृद्ध सोलकी राजाओं के राजवंश को है। इनकी प्राचीन राजधानी अनहिलवाड़ पट्टन थी जो आधुनिक अहमदाबाद के उत्तर-पश्चिम मे पाटन के नाम से प्रख्यात है। सोलंकियो के राज्याश्रय मे पनपी प्रासाद-कला १०वी शताब्दी से लेकर १४वी शताब्दी तक पूर्ण प्रोत्थान को पाती रही।

सोलकियो के राज्याश्रय-प्राप्त मन्दिरो मे गुजरात मे सुनक, कनोदा, देलमल तथा कसरा के मन्दिर १०वी शताब्दी मे मोढेरा का सूर्यमन्दिर ११वी शताब्दी मे सिद्धपुर तत्रास्थ रुद्रमल का मन्दिर १२वी शताब्दी मे विनिर्मित हुए। इसी प्रकार काठियावाड मे घुमली और सेजाकपुर पर नवलखा मन्दिरो का ११वी शताब्दी मे निर्माण हुआ और सोमनाथ का विश्वविश्रुत मन्दिर द्वादश शतक मे पुनरुद्धृत हुआ।

इस मण्डल के मन्दिरो मे सोमनाथ के मन्दिर को भारतीय इतिहास में जो महिमा और गरिमा प्राप्त है वह पश्चिम भारत के अन्य किसी भी मन्दिर को नही। इसकी गणना देश के उन द्वादश ज्योतिर्लिगो मे होती है जो सिन्ध से आसाम तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए है। यह मन्दिर आज भी अपने उन्नत एवं प्रशस्त आकार से युक्त काठियावाड मे समुद्रवेला पर विराजमान है और यह सोमेश्वर शिव का प्राचीनतम स्थान है। इस मन्दिर पर मुसलमानो की चढ़ाइयो का इतिहास हम जानते ही है। भीमदेव प्रथम (१०२२–१०७२) ने भी इस प्राचीन मन्दिर का पुनरुद्धार या जीर्णोद्धार किया था।

गुजरात और काठियावाड़ के माण्डलिक मन्दिरों की विरुदावली के अन्तर्गत यहाँ की दो पहाडियाँ—शत्रुजय पर्वत तथा गिरनार पर्वत हैं जहाँ पर जैनियों ने एक नही अनेक मन्दिर बनवाये। इसी से ये स्थान मन्दिर-नगर (टेम्पुल सिटीज) के नाम से संकीर्तित हैं। कहा जाता है, इन मन्दिर-नगरों में रात में तीर्थ-यात्री टिकने नही पाते।

इन मन्दिरो को दो वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है। पहले वर्ग अर्थात् ११वीं से लेकर १३वी शताब्दी तक के जो अनेकानेक मन्दिर बने उनके निर्माण में राज्याश्रय तो निश्चित ही है परन्तु १३वी शताब्दी में इस प्रदेश मे एक अभिनव मन्दिर-निर्माण-चेतना को जन्म देने का श्रेय हेमद पन्त को है जिसका सुनिश्चित इतिहास लोगों को अज्ञात है। वह इतना प्रसिद्ध है कि लोग उसे पौराणिक पुरुषो में परिगणित करते है। वास्तव मे वह देवगिरि राजवश के रामचन्द्र देव (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) का प्रख्यात प्रधान अमात्य था। इसने सैकड़ो मन्दिर बनवाये और इन मन्दिरों की रचना का नामकरण ही हेमदपन्ती शैली हुआ।

हेमद पन्त के पूर्व निर्मित मन्दिरो मे थाना जिले का अम्बरनाथ मन्दिर अधिक प्रसिद्ध है। खानदेश मे बालसने पर विराजमान त्रि-आयतन मन्दिर तथा महेश्वर भी कम प्रख्यात नही है। इसी प्रकार नासिक जिले मे सिन्नार पर गोण्डेश्वर, झोगडा पर महादेव तथा अहमदनगर जिले मे पेदगाँव का लक्ष्मीनारायण मन्दिर भी प्रसिद्ध है। दक्षिण हैदराबाद राज्य वाले नागनाथ का मन्दिर भी उल्लेख्य है। ये सभी मन्दिर ११वीं से १३वी शताब्दी के बीच मे बने।

व्रजमण्डल

अब रहा इस शैली का षष्ठ मण्डल—मथुरा-वृन्दावन, वह अपेक्षाकृत अर्वाचीन है और राजाओं के अतिरिक्त सेठो, साहूकारो एव साधारण भक्तजनों का भी सरक्षण इन मन्दिरो की रचना मे कम नही है।

आनन्दकन्द भगवान कृष्णचन्द्र की क्रीडास्थली मथुरा-वृन्दावन का यह मण्डल मन्दिर-पीठ के लिए प्रशस्त प्रदेश है, परन्तु यहाँ के मन्दिर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ही है। भारतीय इतिहास में मुसलमानो की सहारकारिणी प्रवृत्ति के निदर्शनो की यहाँ भी कमी नही है, परन्तु सौभाग्य से १६वी शताब्दी मे मुगल सम्राट् अकबर के औदार्य एव अन्य-धर्म-सहिष्णुता को यह श्रेय है कि मुगल-राजपीठ के अति निकट वृन्दावन मे उसी काल मे पाँच प्रसिद्ध मन्दिरो का निर्माण हुआ। इन पाँच मन्दिरो के नाम से हम सभी परिचित है—

१—गोविन्ददेव २—राधावल्लभ ३—गोपीनाथ

४—युगलकिशोर ५—मदनमोहन

इन मन्दिरो के निर्माण में यद्यपि वैष्णव-धर्म के उस मध्यकालीन प्राजल एव अति उदात्त आविर्भाव को श्रेय है जिसका श्रीगणेश चैतन्य महाप्रभु के द्वारा हुआ था, तथापि यह कथन अनुचित न होगा कि मुगल सम्राट् अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता का राज्याश्रय के रूप मे मूल्यांकन हो। आगे उसके उत्तराधिकारियों मे औरंगज़ेब की नृशसता से हम सभी परिचित है, जिसके समय मे इस मण्डल के मूर्धन्य मन्दिर गोविन्ददेव का ध्वंस किया गया और अब उसका महामण्डप ही उसकी शिल्प-गाथा का स्मारक है।

वृन्दावन के मन्दिरो के सम्बन्ध में एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि इनकी निर्माण-शैली मे एक नवीन पद्धति का अनुगमन प्रत्यक्ष है। भुवनेश्वर एव खजुराहो के मन्दिरो पर जो मूर्ति-विन्यास-प्राचुर्य देखा जाता है वह यहाँ पर सर्वथा विलुप्त हो गया। शिखरो के आकार में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। पर्सी ब्राउन को इन नवीनता में मुसलिम कला का प्रभाव प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में, जैसा हम आगे देखेंगे यह नवीनता उत्तर मध्य-कालीन लाट-शैली की अति रचनात्मकता की एक प्रकार से प्रतिक्रिया ही है।

बंगाल-बिहार मण्डल

हिन्दू प्रासाद-कला का यह विहगावलोकन वास्तव मे अधूरा ही रहेगा यदि हम उत्तरापथ के अन्य कतिपय समृद्ध केन्द्र-शिखरों पर कुछ देर के लिए और विहार न कर ले। इनमे सर्वप्रथम सकीर्तन बगाल-बिहार-मण्डलीय मन्दिरों का होना चाहिए जहाँ ईसवीयोत्तर अष्टम शतक से लगाकर अष्टादश शतक तक अनेक मन्दिर बने जिनमें कतिपय आज भी विद्यमान हैं। बगाल के पाल और सेन राजवश का कलासंरक्षण प्रसिद्ध है। पालवशीय वास्तु-कला के प्रमाण मूर्तियों मे तो खूब मिलते हैं परन्तु मन्दिरो के एकाध ही स्मारक हैं। कन्तनार (दीनाजपुर) का नौ विमानों वाला मन्दिर विशेष उल्लेख्य है। अन्य प्राचीन मन्दिरो के विवरण आगे द्रष्टव्य होंगे। प्राचीनो में खिचित (मयूरभज) तथा अर्वाचीनों मे विष्णुपुर के मन्दिर विशेष उल्लेख्य है।

कश्मीर-मण्डल

इसी प्रकार उत्तरापथ का कश्मीर-मण्डल भी प्रासाद-वास्तु का अति प्राचीन एव समृद्ध पीठ है। यहाँ के मन्दिरो की कुछ स्थानीय विशेषताएँ है जो पार्वत्य-प्रदेश के अनुकूल ही है। कश्मीर के मन्दिरो मे सर्वप्रसिद्ध मार्तण्ड-मन्दिर है। भारत के सूर्य-मन्दिरों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको कश्मीरनरेश ललितादित्य ने बनवाया था। यह आठवी शताब्दी का है। इसी शताब्दी का शकराचार्य-मन्दिर भी अपनी महिमा आज भी रखे हुए है। तदनन्तर अवन्तिपुर के मन्दिर (नवी शताब्दी) आते है। इनमे अवन्तिस्वामी का विष्णुमन्दिर तथा अवन्तीश्वर शिवमन्दिर विशेष प्रख्यात है। इनके निर्माण मे कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा तथा उसके उत्तराधिकारियो का हाथ था।

शकरवर्मा (जो अवन्तिवर्मा के अनन्तर सिहासनारूढ हुआ) ने भी बहुसख्यक मन्दिर बनवाये, जिनमे दो शिव-मन्दिरो के भग्नावशेष विद्यमान है।

नेपाल-मण्डल

कश्मीर-मण्डल के साथ-साथ नेपाल-मण्डल के मन्दिरो का गुणानुवाद आवश्यक है। नेपाल मे तो घरो से अधिक मन्दिर है। यहाँ बौद्धो एव ब्राह्मणो दोनों के मन्दिर मिलते हैं। स्वयम्भूनाथ का स्तूप, बुद्धनाथ का मन्दिर और पशुनाथ का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। इनमे प्रथम दो मन्दिरो का प्राचीन गौरव इसी से प्रकट है कि इनकी स्थापना उस सुदूर अतीत मे हुई थी जब राजर्षि अशोक ने बौद्ध-भिक्षु के रूप में नेपाल की तीर्थ-यात्रा की और उसकी स्मृति मे अगणित स्तूपो का निर्माण कराया, उन्ही मे दो ये भी है।

मल्ल शासको के राजाश्रय से नेपाली वास्तु-कला अपनी एक नवीन शैली लेकर निखर उठी। इस राजवश के सप्तम तथा अष्टम राजा जयस्थिति तथा यक्ष (१४वीं

तथा १५वीं शताब्दी) जिस राज-निवेश योजना को लेकर चले उसमें पूजा-वास्तु तथा जन-वास्तु (रेलीजंस एंड सेक्यूलर आर्कीटेक्चर) दोनो को ही प्रश्रय प्राप्त हुआ। पशुपतिनाथ का मन्दिर नेपाल के मन्दिरो मे बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह १७वी शताब्दी की कृति है परन्तु इसके प्रागण मे अनेक मन्दिरो के न्यास एव अनेक देवों की प्रतिष्ठा से यह वास्तु-पीठ कला-पीठ और तीर्थ दोनो के रूप मे विश्वविश्रुत हो गया है।

तिब्बत, सिक्किम तथा कांगड़ा

नेपाल के अतिरिक्त हिमाचल की उपत्यकाओ मे फैले हुए प्रदेशों मे तिब्बत और सिक्किम मे भी हिन्दू-स्थापत्य के अनेक निदर्शन पाये जाते हैं। तिब्बत मे बौद्ध विहारो का ही प्राधान्य है, इनमे पोत्तल नामक विहार, जिसको अरुण-प्रासाद के नाम से पुकारा जाता है, विशेष प्रसिद्ध है। यही पर दलाई लामा का निवास रहा है। सिक्किम का स्थापत्य तिब्बत से ही प्रभावित हुआ है। पेमाची नामक मन्दिर यहाँ का विशेष उल्लेखनीय है। कांगडा के दो मन्दिर, वैद्यनाथ तथा सिद्धनाथ विशेष प्रख्यात हैं। इन मन्दिरों मे (विशेष कर सिद्धनाथ मे) सभा-मन्दिर एव शिखर-भूषा दोनो का उदाहरण मिलता है।

सिंहल द्वीप

भारत के दक्षिण एव उत्तर तथा नेपाल आदि हिमालय प्रदेशो के इस प्रासाद-वास्तु-वैभव की थोडी सी झांकी देखने के बाद दक्षिण में पुन पदार्पण करें तो सिंहल द्वीप (लका) का स्मरण अवश्य आ जाता है। अगाध समुद्र-जल-राशि भी इसमे व्यवधान नही कर पाती। आधुनिक भारतीय जीवन रामचरित से अधिक प्रभावित है तो राम-चरित मे रावण को कौन भूल सकता है? लका उसी की राजधानी थी जो सोने की कही जाती थी। आजकल तो सिंहल द्वीप में वास्तु-कला की दृष्टि से वहाँ के राज-पीठों का निर्माण ही विशेष विवेच्य है। यत: यह स्थान अति प्राचीन समय मे ही बौद्धधर्म का केन्द्र बन गया था अतः वहाँ पर हिन्दू प्रासादो को कौन प्रश्रय देता? यद्यपि लंका का ऐतिहासिक राजा रावण तो शिवभक्त था तथापि मन्दिरो के नाम से लकातिलक (जेतवनाराम) मन्दिर (१८ वी शताब्दी) का तो सकीर्तन कर ही लेना चाहिए। इसमें बुद्ध भगवान की जो मूर्ति रखी गयी है वह लगभग ६० फुट की है। सिंहल द्वीपीय स्थापत्य का अपना अलग विकास हुआ, यद्यपि दाक्षिणात्य कला का उस पर पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। वहाँ के स्थापत्य में पार्वत्य वास्तु ही प्रधान है जिसे राजाश्रय पूर्ण मात्रा मे मिला। जेतवनाराम (विहार) मन्दिर के अतिरिक्त लंका में एक सप्तभौमिक

विमान भी है जिसकी संज्ञा सात-महल-प्रासाद है। वातडागे के ध्वसावशेषों म दलद-मालिगाव के नाम से प्रख्यात वास्तव मे शैव-आयतन ही है जो लगभग १२वी शताब्दी मे बना था।

ब्रह्मदेश (बरमा)

सिहलद्वीपीय कला के इस किंचित्कर आलोचन के उपरान्त बरमा के वरेण्य पगोडाओं का नामोल्लेख भी नितान्त प्रासंगिक है। यहाँ का काष्ठ-स्थापत्य (उडेन आर्किटेक्चर) बड़ा स्तुत्य है। वैसे तो बरमी वास्तु-कला की तीन विकास धाराएँ है परन्तु मध्यकालीन स्तूप एवं मन्दिर ही विशेष विख्यात है। इनमे पागन के मन्दिर दर्शनीय है। यह एक मन्दिर-नगर के रूप मे निर्मित हुआ है। उत्तर-मध्यकाल अथवा अर्वाचीन युग मे पगोडाओं की माला से ब्रह्मा का सुन्दर देश मण्डित है। माण्डले के इतस्ततः बहुसख्यक पगोडाओं का निर्माण हुआ। पगोडा एक प्रकार से स्तूप और मन्दिर दोनों का ही बोधक है। कहा जाता है, बरमा मे आठ सौ से एक हजार तक मन्दिर बने थे जिनको आजकल पगान के ध्वसावशेष कहते है। इनमे आनन्द नाम का बडा ही अद्भुत मन्दिर था, इसकी भूमिकाओ एव शिखरो को देखकर दक्षिण के विमान-प्रासादो की पूर्ण प्रतिमूर्ति झलक जाती थी। पगान के अन्य मन्दिरो मे महाबोधि मन्दिर भी विशेष उल्लेख्य है जो बुद्धगया मन्दिर के अनुकरण पर बना था।

द्वीपान्तर-भारत या बृहत्तर भारत

भारतवर्ष के पूर्व दिग्भाग पर फैले हुए महाप्रदेश को हम द्वीपान्तर-भारत के नाम से पुकारते है। इस देश की प्राचीन परम्परा मे निम्नलिखित छः प्रदेश सम्मिलित है—

यवनदेश—जिसकी राजधानी चूडा नगरी आजकल लागप्रबांग के नाम से पुकारी जाती है, (२) चम्पादेश–(अन्नाम), (३) श्यामदेश, (४) कम्बोजदेश (कम्बोडिया, लोवर कोचीन चाइना आदि), (५) रमण्यदेश (पेगू तथा तेनासरिम) तथा (६) मलयदेश (मलाया प्रायद्वीप)। इस सूची मे सुमात्रा, बाली आदि अन्तर्द्वीपों का उल्लेख नही है परन्तु भारतीय स्थापत्य-कला की दृष्टि से ये द्वीप भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं।

श्याम—श्याम देश का रामायण मे भी सकेत है। बौद्ध परम्परा में अशोक और कनिष्क दोनो ने ही धर्म-दूतो को बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ श्याम देश भेजा था। श्याम मे खमेरो की सभ्यता (जो ईसवीय सन् से बहुत पुरानी थी) के जो स्थापत्य-अवशेष उपलब्ध हुए है उनमे ब्राह्मण धर्म का प्रभाव परिलक्षित है। आगे चलकर बौद्ध-प्रभाव से प्रभावित जिन कलाकृतियो का जन्म हुआ उनमे विहार और मण्डप दोनों प्रकार के वास्तु-

संस्थान प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। राम, सीता, विष्णु, गणेश की प्रतिमाएँ तथा रामायण और महाभारत के अनेक कथानक यहाँ के प्राचीन स्मारकों में चित्रित है।

श्याम के महाधातु मन्दिर तथा अन्नाम (इण्डोचाइना) में जो मंदिर हैं उनमें महाभारतीय पाण्डवों के नाम उपश्लोकित हैं। भीम मन्दिर, पुन्द्रदेव मन्दिर, प्रम्द पनंतरम आदि विशेष उल्लेख्य हैं।

चम्पा—चम्पा का रामायण में सकेत है। सुग्रीव ने सीता की खोज में अपने दूतों को यहाँ पर भेजा था। अरकानी परम्परा के अनुसार चम्पा का पहला राजा वाराणसी के एक राजा का पुत्र था जो यहाँ आकर रामावती (रामबाई अथवा रामरी) पर रहता था। दूसरी परम्परा के अनुसार चम्पा के भारतीय राजा चन्द्रवंशी कौण्डिन्यों के नाम से प्रसिद्ध थे। चम्पा मे बहुत से मन्दिर पाये जाते हैं। इन मन्दिरो को कला-विशारदो ने पाँच वर्गों मे वर्गीकृत किया है। इन मन्दिरो के स्तम्भ विशेष दर्शनीय हैं। इन वर्गों मे मैसोन, डाग, पोनगर, फोहाई क्षेत्र विशेष उल्लेख्य है। मैसोन के मन्दिरो मे शिवलिंग के अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, ब्रह्मा, सूर्य, इन्द्र तथा अन्य देव और देवियों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित है। डाग-वर्गमाला के मन्दिरो मे बौद्ध चैत्य एवं विहारो का ही प्राधान्य है। पो नगर के एक मन्दिर मे उमादेवी की एक सुन्दर प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है, इसी प्रकार अन्य वर्गीय मन्दिरों की कथा है। डा० मजुमदार के मत में चम्पा के मन्दिर और दक्षिणी मामल्लपुरम् के रथ-विमानो में बड़ा सादृश्य है। कांजीवरम् और वादामी के मन्दिरो का भी कम सादृश्य नही है। चम्पा के मन्दिरो के शिखर तथा मामल्लपुरम् के धर्मराज-रथ और अर्जुन-रथ के शिखर समान ही हैं।

कम्बोडिया—कम्बोडिया के अगकोरवाट नामक मन्दिर की छटा दर्शनीय है जो वहाँ के राजा जयवर्मा द्वितीय की कीर्तिपताका को आज भी उडा रही है। यहाँ के वयोन मन्दिर के निर्माण में सूर्यवर्मा प्रथम के राजाश्रय का उल्लेख भी वाछित है। यह सम्भवतः ब्रह्मा का मंदिर था। इसी प्रकार कम्बोडिया के वत्तेयस्त्री या वैनतेयश्री मन्दिर का निर्माण ख्मेर राजवंश के जयवर्मा सप्तम के द्वारा हुआ। कम्बोडिया के अन्य मन्दिरों में बेंग मेलेया तथा बापून भी उल्लेख्य है।

सुमात्रा—यह स्वर्णद्वीप के नाम से पुकारा गया है। यहाँ पर पूजा-वास्तु के निदर्शन बहुत कम मिलते हैं। बाली भी मन्दिर-स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। यहाँ के मन्दिर अब ध्वंसावशेष हैं।

जावा—यहाँ का बोर बदर या बोरोबुदर अर्थात् अनेक बुद्धों का आयतन विशेष प्रसिद्ध है। यह यथानाम बौद्ध-पूजा-गृह है। परन्तु जावा में हिन्दू-मन्दिरों की भी कमी नही है जिनमें प्रम्बनन आदि विशेष उल्लेख्य हैं जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव, काली, दुर्गा

तथा गणेश की पूजा के लिए निर्मित हुए थे। पुरातत्त्वीय शिलालेखों के द्वारा जावा के ब्राह्मण-धर्म पर और ब्राह्मण-कला के विकास पर काफी प्रकाश पड़ता है।

मध्य एशिया का भारतीय स्थापत्य

मध्य एशिया के भारतीय स्थापत्य में खोतान विशेष उल्लेख्य है। यहाँ के स्मारकों में स्तूप, विहार, आयतन, मन्दिर, प्रासाद, मण्डप, दुर्ग सभी के निदर्शन प्राप्त होते हैं। इनमें रावक-स्तूप और विहार विशेष प्रसिद्ध है जिसमे बुद्ध की सौ प्रतिमाएँ चित्रित हैं। खादलिक के आयतनों में हिन्दू-मन्दिरों का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

भारतीय स्थापत्य के उपर्युक्त भारतीय निदर्शनों एवं प्रसिद्ध स्मारकों के साथ साथ हिमाद्रि के अंचल मे फैले हुए नेपाल-तिब्बत के स्थापत्य पर दृष्टि डालते हुए द्वीपान्तर भारत या बृहत्तर भारत के नाना अनुपम स्मारकों का गुणगान करते हुए हम मध्य एशिया तक पहुँच गये। परन्तु भारतीय स्थापत्य की गौरव-गाथा यहीं नहीं समाप्त होती। भारतेतर अन्य देशों एवं महादेशों, जैसे चीन और जापान के अतिरिक्त यह कला दूसरे महाद्वीपों विशेष कर मध्य अमेरिका तक भी पहुँची। चीन देश में जो मन्दिर पाये जाते हैं वे भारतीय कला से अत्यधिक अनुप्राणित हैं। यद्यपि वे सभी मन्दिर बौद्ध पूजा-गृह हैं परन्तु इनका निवेश हिन्दू-मन्दिरों के समान है। यहाँ के पेकिन नगर का स्वर्णमन्दिर अथवा-महासर्प (ग्रेट-ड्रैगन) विशेष उपश्लोक्य है। जापान के बौद्ध-मन्दिरों पर चीन का प्रभाव स्पष्ट है। मध्य अमेरिका, मेक्सिकन टेरीटरी मे या युवतान मे मयासुर की वास्तु-कला मिली है, जिसको वहाँ के विशेषज्ञ विद्वानों ने भारतीय कला ही माना है। वहाँ के ध्वमावशेषों मे जावा के मन्दिरों के समान स्मारक प्राप्त हुए हैं। यदि वहाँ पर और खोज हो तो अन्य भी बहुत से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिल सकेंगे ऐसी आशा है।

८

शास्त्र एवं कला

पिछले अध्यायों में हमने प्रासाद-वास्तु के शास्त्रीय सिद्धान्तों की तो विवेचना की ही है, साथ-ही-साथ गत अध्याय में भारतीय प्रासाद-कला के स्मारक-निबन्धनों पर भी एक विहगावलोकन किया है। इस प्रकार एक ओर शास्त्र और दूसरी ओर कला दोनों दो देवियों के रूप में खड़ी हैं। हम इन दोनों के चरणों में अपनी प्रणामाजलि अर्पित करते हैं और दुनिया के सामने यह उद्घोष करना चाहते हैं कि ये दोनों माता और पुत्री हैं। प्रासाद-शास्त्र माता का स्थान ग्रहण करता है और कला उसकी दुहिता है। भारतीय स्थापत्य, विशेष कर प्रासाद-स्थापत्य के इस जन्य-जनक भाव सम्बन्ध को यदि हम समझ ले तो प्रासाद-स्थापत्य अथवा भारतीय-स्थापत्य के सच्चे अध्ययन के हम भागी बन सकते हैं। अन्यथा हमारा ज्ञान एकांगी ही रहेगा। भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में सभी कार्यकलाप शास्त्रों के आदेश पर सनातन से निर्भर रहे हैं। मनुआदि धर्मशास्त्र-कारों के द्वारा जो विधान बनाये गये अथवा जो नियम निर्धारित किये गये उन्ही की मौलिक भित्ति पर हमारा राजधर्म और समाजधर्म उदित हुआ। वर्णाश्रम व्यवस्था आदि सभी परिनिष्ठित विधान हैं। हमारा सारा का सारा दर्शन और पूरा का पूरा धर्मशास्त्र आचार और विचार का नियामक है। यत: जीवन की आवश्यकताएँ नाना हैं और सदा से रही हैं अत: उनके अनुरूप नाना शास्त्रों की रचनाएँ हुई।

भारत की प्राचीन विद्याओं के हम नाम जानते हैं। चार वेद हैं तो उनके चार उपवेद भी हैं, यथा गाधर्ववेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद तथा स्थापत्य-वेद। इस प्रकार स्थापत्य की आवश्यकता इस देश में प्राचीन काल में समझी गयी। जिस प्रकार दर्शनों के आचार्य हुए, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों के रचयिता ऋषियों और मुनियों की परम्परा पल्लवित हुई, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द, नाट्य, काव्य, गीत, नृत्य आदि सभी शास्त्रों और कलाओं के अपने-अपने आचार्य और प्रतिष्ठापक ऋषि-मुनि अथवा देवता प्रकल्पित हुए—यह हम सब जानते ही हैं। उसी प्रकार वास्तु-शास्त्र, शिल्प-शास्त्र, चित्र-शास्त्र आदि कला-शास्त्रों के भी आचार्य प्रकल्पित हुए और उनकी अपनी-अपनी परम्पराएँ भी उदय हुईं, शैलियाँ भी निर्धारित हुईं और श्रेणियाँ भी विभाजित हुई। अतः यदि वास्तु-शास्त्र की परम्परा सत्य है तो हमारा स्थापत्य-शास्त्र भी सत्य है। इस दृष्टि से हमारे देश में जो

भी स्थापत्य की कलाकृतियाँ स्मारक रूप में स्थित हैं वे सभी अपने शास्त्र के संरक्षण में बनी होंगी। इस सत्य में किसी भी समझदार आदमी को विचिकित्सा नहीं होनी चाहिए।

दुर्भाग्य की बात है कि अभी तक इस समन्वयात्मक पद्धति के द्वारा हमारे स्थापत्य की समीक्षा नहीं की गयी। इसके लिए समीक्षक विद्वान् सर्वथा दोषभाक् नहीं। प्राचीन काल से लेकर उत्तर-मध्यकाल तक अर्थात् लगभग १३ वीं शताब्दी तक तो भारतीय स्थापत्य की जो दशा थी वह बडी सन्तोषजनक रही। पहले स्थापत्य-शास्त्र के नियम न तो विशेष कठोर ही थे और न अत्यधिक पारिभाषिक। जिस प्रकार से जीवन सरल था उसी प्रकार जीवन की अनुभूतियाँ भी सरल थी। प्राचीन काल के काव्य को लीजिए, उसमें प्रसाद-गुण का ही आधिपत्य है, कला भी सरल है। ज्यों-ज्यों समाज आगे बढ़ता गया जीवन भी कठोर और विकट होता गया। अतएव साहित्य और कलाएँ भी विकट बनती गयी। एक शब्द में मध्यकाल तक आते-आते साहित्य और कला दोनों अत्यधिक अतिरंजित हो गये। यह एक प्रकार से साहित्य और कला के चरमोत्कर्ष का युग था, अत. अपकर्ष अथवा पतन अवश्यम्भावी था। यहाँ यत हमारा विषय स्थापत्य-शास्त्र और स्थापत्य-कला है, अत हम इस उपोद्घात के द्वारा स्थापत्य की भी वही कहानी समझें। प्रासाद की कर्तृ-कारक-व्यवस्था को हम देख चुके हैं। इससे स्पष्ट है कि उस युग में (अर्थात् ११वीं शताब्दी में) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य उच्चवर्णीय लोग भी स्थपति का काम करते थे। कालान्तर पाकर पता नहीं स्थापत्य-शास्त्र को कौन-सा शाप लगा कि बेचारा यह उच्च वर्णों के द्वारा अस्पृश्य बन गया। मध्यकाल के उत्तरार्ध के बाद उत्तर भारत में तो कोई भी द्विजाति शायद ही वसूली-करनी लेकर स्थापत्य-कौशल के लिए गर्व अनुभव करता हो। परिणामत यह शास्त्र और यह कर्म बेपढ़, अधकचरे अछूत जाति के कोली, चमार, पासी वर्गीय जना में पड़कर अपने दुर्भाग्य के दिन गिनने लगा।

स्थापत्य-शास्त्र कोरे ज्ञान का विधायक नहीं, उसकी कसौटी कर्म है और इन दोनों से भी बढ़कर अपनी निजी प्रतिभा और अपना निज का शील। इस प्रकार स्थापत्य बिना शास्त्र ज्ञान और बिना कर्मदाक्ष्य के कभी भी कहीं पर भी नहीं पनपा। आजकल का स्थापत्य वास्तव में कला नहीं है, वह तो रोटी-दाल के समान पेट भरना है। येनकेन प्रकारेण अपनी आवश्यकता की पूर्ति करना है। भारतीय स्थापत्य एक यौगिक साधना है। हमारे देश में जो अगणित अवशेष सुरक्षित है उनके निर्माण में इसी साधना का तेज आज भी विद्यमान है। स्थपति वास्तव में बड़ा साधक है। अतः यह कौशल और यह शास्त्र जब अन्त्यजों के हाथ में पड़ गया तो इसकी गरिमा और इसका वैभव दोनों ही लुप्त हो गये। ऐसी अवस्था में आधुनिक कला-समीक्षक विद्वानों के सामने कलाकृतियों को कलाकृतियों के रूप में अध्ययन करने के राजमार्ग के अतिरिक्त और कोई साधन न

रहा। अतएव इस काल की वास्तु-समीक्षा में बेचारा वास्तु-शास्त्र एक प्रकार से विस्मृत कर दिया गया। लेखक अपने वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान के द्वारा इस दिशा में कुछ प्रयत्न कर सका है कि नहीं यह तो भविष्य बतायेगा परन्तु प्रयत्न करना भी सनातन से सन्मार्ग के रूप में आदिष्ट हुआ है।

अतएव इस अध्याय में जब हम स्थापत्य-शास्त्र और स्थापत्य-कला दोनों के पारस्परिक जन्य-जनक भाव पर विचार करने चले हैं तो हमें यह नहीं बताना है कि अमुक भवन अथवा अमुक राजभवन या अमुक देवभवन (मन्दिर अर्थात् प्रासाद या विमान) अमुक ग्रन्थ के आदेश पर अथवा अमुक शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुगमन पर बना है। यहाँ इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय यह है कि हमारा स्थापत्य भी एक परिनिष्ठित तथा सुनियमित सिद्धान्त-शास्त्र रहा है। यह अवश्य सत्य है कि शास्त्रों के रहते हुए भी स्थपति को पूर्ण स्वातन्त्र्य है कि वह स्थान विशेष पर अथवा अवसर विशेष पर अपने उन्मेष से काम ले। शास्त्र तो वास्तव में थोड़े से ही नियम निर्धारित कर सकते है, प्रत्येक विस्तार के लिए शास्त्र की व्यवस्था एक प्रकार से असंभव है। एक शब्द में शास्त्र केवल मौलिक सिद्धान्तों की ही प्रकल्पना करते है और उन्ही की भित्ति पर लोग चलकर नाना प्रकार के अवान्तर पारम्पर्यों (जिनको आजकल की भाषा में कन्वेन्शन्स के नाम से पुकारा जाता है) की उद्भावना करते हैं। एक महाकवि काव्य-शास्त्र का अवश्य ज्ञाता होता है परन्तु वह अपनी नाना नयी-नयी उद्भावनाओं की रचना भी करता है और उन उद्भावनाओं के लिए वह पूर्ण स्वतन्त्र भी है, और सत्य तो यह है कि उन्ही उन्मेषों पर उसका महाकवित्व भी अवलंबित है। यही बात कला में भी लागू है। कलाकार शास्त्र का भी पंडित होता है और कर्म में भी निष्णात होता है, परन्तु उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह कला के मौलिक शास्त्रीय सिद्धान्तों की भित्ति पर नाना नयी-नयी उद्भावनाएँ करे। यही वास्तव में कलाकार का वैदग्ध्य है और परम कौशल भी। अतः इस दृष्टि से यदि हम अपने स्थापत्य की समीक्षा करे तो ऐसा प्रतीत होगा मानो दोनों देवियाँ दो परियों के समान हमारे प्रासादराज को चमर डुला रही है। भारतीय स्थापत्य में शास्त्र और कला दोनों के इसी आधारभूत मर्म की व्याख्या में हमने ऊपर माता और दुहिता के जन्यजनक-भाव सम्बन्ध का उपोद्घात किया है।

एक बात अवश्य है कि हमारा जो स्थापत्य-शास्त्र प्राप्त होता है उसको समझना सरल नहीं है। न उसकी कोई व्याख्या है और न कोई कोश। गुरु-शिष्य की परम्परा भी एक प्रकार से अविद्यमान है। यद्यपि दक्षिण भारत में शिल्पियों की श्रेणियों में आज भी मयमत अथवा विश्वकर्मीय वास्तुशास्त्र का पारायण होता है और बहुतों को शिल्प-शास्त्रों के नियम कण्ठस्थ भी हैं परन्तु वे उनकी न तो शास्त्रीय व्याख्या कर सकते हैं

और न भाषा ही समझते हैं। यत यह विद्या पितृ-पितामहागत है, अतः सभी थोड़े बहुत जानकार हैं। कर्म का कौशल अभ्यासजन्य है न कि शास्त्रजन्य। अतः जो वास्तु-शास्त्र के ग्रन्थ पिछली और इस शताब्दी मे प्राप्त हुए है उनकी जो व्याख्या हुई है वह एक प्रकार से नगण्य है। कुछ स्तुत्य प्रयत्न अवश्य हुए है परन्तु अभी और भी अधिक प्रयत्न होने चाहिए। लेखक का भी एक प्रयत्न है जो उसके ग्रन्थों में अवलोक्य है। डा० आचार्य के मानसारीय अध्ययन से लोग परिचित ही हैं। डा० तारापद भट्टाचार्य और डा० मल्लाया के अध्ययनो ने भी इस दिशा मे कदम बढाया है। श्रीमती क्रैमरिश तथा डा० जे० एन० बनर्जी के ग्रन्थ भी इस दिशा मे श्लाघ्य है परन्तु अभी बहुत काम बाकी है और वह दो चार आदमियो के बूते की बात नही है। हमारा स्थापत्य बडा विशाल है। भवन-रचना, राजभवन-निर्माण, प्रासाद-रचना, मूर्ति-निर्माण तथा चित्र-रचना के साथ-साथ यन्त्र-घटना आदि सभी स्थापत्य हैं। हमारी परम्परा मे तो कलाओं की संख्या ६४ थी जिनमे शिल्प ने सभी को आत्मसात् कर लिया और शिल्पशास्त्र में केवल भवन-कला, प्रासादकला, मूर्तिकला, चित्रकला को छोडकर अन्य कलाओं के शास्त्र अथवा परम्पराएँ एक प्रकार से विलुप्त हो गयी। काष्ठकला भी भवनकला मे ही तिरोहित रह गयी। यन्त्रकला पर केवल समरागण ही अधकचरा वर्णन करता है। शिल्प तो भारतीय दृष्टि से सभी कलाओं का बोधक है परन्तु जब प्राचीन वैभव विलुप्त हो गया तो कलाएँ भी अनाथ हो गयी। वात्स्यायन के काल मे ६४ कलाओं का सेवन तो नागरिक कर सकते थे। नगरो के अभ्युदय, नागरिकता के विकास एवं नागरिकों की संस्कृति का वह स्वर्णिम युग था जब माल्य, गन्ध, लेप्य, सुवास, परिधान, भोजन, पान, नृत्य, गीत आदि सभी कलाओं के लिए जीवन मे कोई-न-कोई क्षण अवश्य निर्धारित था। चित्रकला के सम्बन्ध मे हम देख चुके है कि वात्स्यायन के समय कोई ऐसा नागरिक नही था जिसके घर मे रंग का एक प्याला और रंगने का एक ब्रुश न हो। अस्तु, इस उपोद्घात का साराश यह है कि हमारे देश मे कलाओं के सेवन में कलाशास्त्रों का सदैव अभ्यास होता रहा और किसी भी उत्कृष्ट संस्कृति के लिए सुसंयत एवं सुसचालित होना अनिवार्य है। अन्यथा वह संस्कृति महान् संस्कृति, चिरन्तन संस्कृति, विश्व संस्कृति नहीं बन सकती। कला के शास्त्रो के अभ्युदय का यही रहस्य है। अत. जो विद्वान् शास्त्रो की निन्दा करते हैं और कला मे परिपाक के व्यवधान को उपस्थित करने वाले शास्त्रो को कोसते है वे वास्तव मे इस देश की कला के निजस्व मे अपरिचित हैं।

भारतीय कला भी भारतीय अध्यात्म की व्याख्या है। इसके लिए कला को उपकरणो की—प्रतीकों, अभिप्रायो की सहायता लेनी पडती है, क्योंकि वास्तु-कला अथवा मूर्ति-कला कविता-कला के समान अमूर्त कला तो है नही, वास्तु-वर्गीय कलाएँ मूर्त कला

कहलाती हैं। अतः मूर्त कलाओं के लिए किसी-न-किसी पार्थिव आधार को लेना ही पड़ता है। वास्तु-कला में अथवा मूर्ति-कला में इन्ही आधारो को अभिप्रायो के नाम से पुकारा गया है। ये अभिप्राय वास्तव में अभिव्यंजना के एकमात्र घटक है। अन्यथा इष्टका-पाषाण-चयन से तो वास्तुसिद्धि होती नही। इस स्तम्भ मे हमारा विचारणीय विषय प्रासाद है और प्रासाद का अर्थ और उसके जन्म की प्रसूति तथा उसके विकास के घटक और उसके निवेश के नियम हम पहले ही देख चुके हैं और उनमे हमें शास्त्रो की बातों का कुछ बोध भी हो चुका है। प्रासाद-कला-कृतियों पर जो हमने उड़ान भरी तो सात समुद्र पार अमेरिका तक पहुँच गये। अतः प्रासाद का मर्म कितना व्यापक है और कितना गम्भीर यह स्पष्ट है, तथापि कुछ स्थूल दृष्टियो से हम यहाँ पर कला और शास्त्र दोनो के आदान-प्रदान के विषय में विचार करना चाहते हैं जिससे इस नवीन पद्धति के अध्ययन का मार्ग और भी प्रशस्त बन सके।

शास्त्र और कला की अन्योन्यापेक्षता पर हम पिछले अध्यायो मे बहुत कुछ संकेत कर चुके है। अतः उन सबकी आवृत्ति यहाँ नही की जायगी, केवल निर्देश मात्र से इस विषय का यहाँ पर उपसहार अभिप्रेत है। साथ-ही-साथ एक प्रमुख विषय जो पीछे समुद्घाटित नही हुआ है, अर्थात् प्रासादो के मान, उस पर इस अध्याय मे कुछ विशेष वक्तव्य की आवश्यकता होगी। पहले हम उपसहार रूप मे प्रासाद के प्रमुख विषयो को लेते है।

प्रासाद के उद्भव और विकास का उपसहार

प्रासाद शब्द का मर्म एवं प्रासाद की उत्पत्ति—प्रासाद शब्द के भीतर ही प्रासाद के जन्म की कहानी निहित है, यह हम पहले ही प्रतिपादित कर चुके है—प्र+सादन= 'प्रकर्षेण सादनं चयनमित्यर्थः' द्वारा वैदिक चिति की उत्पत्ति-प्रसूति से हम पूर्ण परिचित हो चुके है। परन्तु प्रासाद-वास्तु के विकास का ज्ञान हमको वास्तु-शास्त्र ही कराते है। लगभग ५० वर्ष से प्रासाद-वास्तु (टेम्पुल आर्कीटेक्चर) पर विद्वानो की जो गवेषणाएँ हुई वे वास्तु-शास्त्रो के अध्ययन से अब नितान्त भ्रान्त सिद्ध हो गयी है। प्रासादो के उदय मे पुरुषाकार सिद्धान्त (आर्गेनिक थ्योरी) वास्तु-शास्त्रो के परिशीलन से प्रतिपादित हुआ है। समरागण वास्तु-शास्त्र मे वर्णित किसी भी प्रासाद को ले लीजिए, उससे पुरुषाकार प्रासाद की झाँकी आपके सामने नाचने लगेगी। पुरुषाकार सिद्धान्त के पोषण में हमने पीछे जो पुरुषावयवों की तालिका दी है उससे यह सिद्धान्त सभी के लिए बोधगम्य हो गया होगा—ऐसी आशा है। अतः शास्त्रो की इस महती देन से आजकल की समीक्षा अवश्य उपकृत हुई है। हिन्दू प्रासाद वास्तव में विराट् पुरुष का कलेवर है और इसी की

मीमांसा और अभिव्यञ्जना मे प्रासाद-वास्तु के नाना अगो एवं उपागो की तथा उनके अलंकरण की परम्परा प्रचलित हुई। मन्दिर के प्रासाद के अतिरिक्त अन्य बोधक शब्दो मे विमानादि शब्दो की भी हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं।

प्रासाद-जातियाँ, प्रासाद-वर्ग एवं प्रासाद-शैलियाँ—एतद्विषयक पिछले के अध्यायों में हम बहुत कुछ विवेचन कर चुके हैं। यत प्रासादो का उदय पूजावास्तु का उदय है अत पूजको के नाना वर्गों के अनुरूप प्रासादो की नाना जातियाँ प्रकल्पित की गयी। ग्रामीण मन्दिर और नागरिक प्रासादो मे अवश्य अन्तर होना चाहिए। इसी प्रकार पार्वत्य प्रदेश में रहने वालो के देवस्थान विलक्षण होने चाहिए। गृहस्थो के मन्दिर अथवा देवालयों तथा साधकों और सिद्धो एव योगियों के चिन्तन-निकेतनो मे अवश्य भिन्नता होनी चाहिए। अतएव प्रासाद-जातियो मे भी विभिन्नता का उदय हुआ, यह स्वाभाविक था। अथच पूजकों की विभिन्नता के साथ-साथ पूजापद्धति मे भी तो विलक्षणता उत्पन्न हो गयी थी। अतएव स्थान-विशेष के मन्दिर भी एक-दूसरे से विभिन्न हो चले थे। सान्धार, निरन्धार प्रासादों मे पूजापद्धति का प्रभाव है। पूजकों की विभिन्नता और पूजा पद्धति की विभिन्नता के साथ-साथ पूज्य देवो की विभिन्नता के कारण भी नाना प्रकार की प्रासाद-जातियाँ एव प्रासाद-वर्ग प्रोल्लसित हुए। दक्षिण मे विष्णु की ध्रुव-बेरओं की प्रतिष्ठा के कारण स्थानक, आसन एव शयन मूर्तियो के निवेश मे बहुभूमिक विमानो की परम्परा विकसित हुई और इस सम्बन्ध मे दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थों की जो एक भौमिक प्रासादो से लेकर द्वादश भौमिक प्रासादो की परम्परा विकसित हुई उसमे शास्त्र और कला का कैसा प्रभाव है यह देखते ही बनता है। इसी प्रकार एक-मुख, द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, आयतन प्रासादो का जो प्रकर्ष गुप्तकाल में देखने को मिलता है उसमें वास्तु-शास्त्र मे प्रतिपादित शिवायतनों की परम्परा बाद्धव्य है। इसी प्रकार शिवलिंग की स्थापना मे जिन प्रासादो का निर्माण हुआ उनकी जातियाँ पूर्वोक्त वैष्णव विमानो की बहुभूमिक रचनाओं से सर्वथा विलक्षण है। उत्तरापथ के नाना प्रासाद इसी कोटि के निदर्शन हैं। बौद्ध पूजागृहो के उदय मे हमारे शिल्प-शास्त्रो का प्रचुर प्रामाण्य प्राप्त होता है। पार्वत्य वास्तु के निदर्शन गुहामन्दिर समरागण वास्तु-शास्त्र के गुहाधर अथवा लयन प्रासादों की जातियों का उदाहरण प्रस्तुत करते है। इस प्रकार सान्धार, निरन्धार, बहुभूमिक, एकद्विमुखायतन, शिखरोत्तम, लयन, गुहाधर आदि नाना प्रासाद-जातियाँ जो वास्तु-शास्त्रों में वर्णित हैं वे कला मे पद-पद पर प्रतिफलित दृष्टिगोचर हो रही है।

जहाँ तक प्रासाद-वर्गों का सम्बन्ध है, वे कुछ विशेष अतिरंजित से प्रतीत होते हैं, परन्तु यह अतिरंजना आदर्श का काम अवश्य देती है। इनकी जो नाना संज्ञाएँ निर्धारित की गयी है उनमे प्रासादो के आकार, प्रयोजन, कलेवर, रचना, विच्छित्तियों, अलंकरणों,

उपादानों आदि की परम्पराएँ निहित हैं। भारत की भाषा में प्रासाद का आकार पर्वत का रूप प्रदान करता है। यतः हिमाद्रि तथा सुमेरु आदि पर्वत भारत के भूगोल में देवस्थान हैं अतः देवप्रतिमा अथवा देवकलेवर के निवेश के लिए पर्वतों की प्रतिकृति पर ही प्रासादों का प्रोत्थान हुआ। अथच पर्वत की कन्दराओं में साधकों का और सिद्धों का वास रहा तथा यतः अरण्यों में भी वृक्षादि की शाखाओं और पल्लवों से पूजाघरों या देवघरों की मनोरम परम्परा पनपी अतः इन सब विकास-घटकों की कहानी में नाना प्रासाद-वर्गों की कल्पना की गयी, जिसमें जन, जनपद, जलवायु, जनस्थान, जनानुराग, जन-प्रियता, देवप्रियता आदि सभी का प्रभाव पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित है। अथच ये प्रासाद-वर्ग वास्तव में एक प्रकार से नार्म है, क्योंकि वास्तु-शास्त्र दोनों प्रकार का विज्ञान है— नार्मेटिव भी है और पाजेटिव भी है। अतएव यह आवश्यक नहीं कि हम इन प्रासाद-वर्गों में स्थापत्य के प्रासादों का समन्वय देखें।

प्रासाद-शैलियों पर हम पीछे काफी विचार कर चुके हैं। इन शैलियों में प्रासाद-स्थापत्य का जानपदीय वैशिष्ट्य अन्तर्हित है। द्राविड प्रासादों में ही नागर शैली के प्रासादों के नागरभेद प्राप्त होते हैं। अतः प्राप्त स्मारक-निबन्धन प्रासादों की शैलियों का विशद निर्धारण कुछ कष्टसाध्य भी है, और सत्य तो यह है कि वास्तु-शास्त्रों में शैली की कोई बड़ी सकीर्णता भी नहीं है। मध्यकालीन कृतियों में शैली के प्रति विशेष अभि-निवेश देखने को मिलता है। परन्तु प्राचीन वास्तु में तो दो ही परम्पराएँ थी—एक विश्व-कर्मीय तथा दूसरी मयासुर की। ये ही दोनों परम्पराएँ कालान्तर में दक्षिणी और उत्तरी शैलियों के निर्माण में सहायक हुई और वास्तु-शास्त्रों में ये दोनों परम्पराएँ स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। अतः इस विषय में हम सक्षेप में थोड़े से निदर्शनों की शैली-अनुरूप प्रस्तावना करेंगे जिससे इस विषय का भी कुछ यहां पर उपसंहार कर सकें। निम्न-लिखित तालिका में यह सामग्री द्रष्टव्य है—

(१) **नागर**—इसके उत्तरापथीय निदर्शनों में भुवनेश्वर, खजुराहो, मध्य भारत के सैकड़ों मन्दिर उदाहरण हैं, परन्तु दक्षिण में चिदम्बरम् का नटराज, श्रेंगनोर की ठोली और त्रिचूर का शिवमन्दिर विशेष उपस्थाप्य है।

(२) **द्राविड़**—इस शैली का मुकुटमणि तंजौर का बृहदीश्वर है। इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों द्रविड़ देशीय मन्दिर इसी शैली में विनिर्मित हुए हैं। महाबलिपुरम् के मन्दिर-समूह इस शैली में विशेष निर्देश्य हैं।

(३) **वेसर**—इस शैली के मन्दिरों का प्राधान्य विन्ध्य और अगस्त्य (नासिक) अथवा विन्ध्याचल से कृष्णा नदी तक फैले हुए प्रान्त में प्रकट हुआ।

(४) **वाराट**—इस शैली के आधिराज्य का यथानाम वरद (बरार) अर्थात्

विदर्भ से सम्बन्ध होने के कारण कृष्णा से नर्मदा तक फैले हुए मन्दिरो मे यह शैली पनपी है। इस प्रकार चालुक्यो के मन्दिरो को भी हम इसी शैली का नमूना मान सकते हैं। समरागण के अनुसार वाराट प्रासाद नागर की ही निवेशप्रक्रिया मे बनाये जा सकते हैं। केवल कलेवर मे विभेद है।

(५) **भूमिज**—इस शैली का सम्बन्ध सम्भवत. बगाल-बिहार मे प्राप्त प्रासाद स्मारकों से है।

(६) **हस्तिपृष्ठ**—इस एक नयी शैली का भी उद्गम हुआ जो एक प्रकार से शैली न होकर जाति है। कपोतेश्वर (चेजरला) तथा अनन्तेश्वर (उडूपी) इस शैली के सुन्दरतम निदर्शन हैं।

(७) चतुरस्र, अष्टास्र तथा दीर्घ चतुरस्र आदि को भी आगे चलकर एक शैली-विशेष मे परिगणित किया गया, परन्तु इन्हे शैली न कहकर पद्धति कहना विशेष उपयुक्त होगा। महाबलिपुरम् के मन्दिर-समूह इस पद्धति के सुन्दर निदर्शन हैं।

यहाँ पर शैलियों के सम्बन्ध मे थोडा-सा विवेचन और अभीष्ट है। हमने अपने पिछले अध्ययन मे द्राविड शैली को नागर शैली की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना है। यह एक प्रकार का बडा ही उद्भट तथा क्रान्तिकारी मत है जो विद्वानों की समझ मे नही आ सकता। परन्तु बात यह है कि नागर तथा द्राविड़ आदि शैलियो की समीक्षा और उनके मर्म की मीमांसा का आधार एकमात्र कलाकृतियाँ रही। वास्तु-शास्त्र के प्रवचनो को समझने के लिए न तो किसी ने चेष्टा की और न उन प्रवचनो मे लोगो को श्रद्धा ही थी। बहुत से विद्वान् तो इन शास्त्रो को कपोल-कल्पित तथा अतिशयोक्तिपूर्ण मानते रहे। अत प्रासाद-कला के सम्बन्ध मे बहुत सी धारणाएँ ऐसी उद्भावित की गयी जो वास्तव मे भ्रान्त साबित हुई। हो सकता है हमारी यह थीसिस आगे चलकर लोगो की समझ मे आ सके।

हम यह बार-बार बता चुके है कि आर्यों के आगमन के प्रथम यहाँ के अनार्यों की वास्तु-कला बडी उत्कृष्ट थी और उसका विकास भी खूब हो चुका था। इन्ही अनार्यों मे असुरो, नागो तथा द्राविडो का परिगणन किया जाता है। इनकी कला में पाषाण का प्रयोग और प्रतिमाओं का निर्माण विशेष प्रचलित था। इसके विपरीत आर्यों की वास्तु-कला बडी सरल और सीधी थी। उसमें पाषाण के स्थान पर वृक्ष-दारु का विशेष प्रचार था। आर्यो का जीवन वृक्षो की छाया और जगलो मे ही अधिक बीता। एक शब्द मे उनकी सभ्यता आरण्यक एव ग्रामीण थी। अतः उनकी कला भी आरण्यक और ग्रामीण ही प्रारम्भ मे उदय हुई। कालान्तर पाकर इस कला मे भी चार चाँद लग गये और नाना अभिप्रायो, विच्छित्तियो की उद्भावना हुई। जैसे शाखाओं, तोरणों

आदि के भूषा-विन्यास एवं छाद्य की नाना विच्छित्तियाँ। आर्यों की अर्थात् उत्तरापथ की वास्तु-शैली का नाम नागर शैली पड़ा—यह हम जानते ही हैं। नागर शब्द की व्याख्या में हमने नाना आकूतों के द्वारा इस शैली का विवेचन किया है, परन्तु उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आकूत यह है कि नागर नाम में भी नागर शैली का पूरा-का-पूरा इतिहास छिपा हुआ है। "नग" शब्द वृक्षवाचक भी है और वृक्षों की वास्तु-शास्त्रीय मौलिक देन से हम परिचित ही हैं। अथच नागर प्रासादों के पूर्व इस प्रदेश में जो भवन बनते थे उनके आधार वृक्ष थे और उनके निर्माण में सर्वप्रमुख द्रव्य वृक्षदारु और उनकी भूषोद्भावना में भी आदर्श वृक्षों के पल्लव, पुष्प, फल आदि नाना मनोरम उपकरण व्यवहार में लाये गये।

आगे चलकर नागर प्रासादों की शिखर-रचना को देखें तो यह वास्तव में साक्षात् वृक्ष-रचना है। समरांगण की भाषा में शिखर मंजरी है। मंजरी वृक्ष-जगत के महाराज आम्र पादप का पुंजीभूत प्रकर्ष है और वृक्षों के देवता वसन्त ऋतु का सबसे बड़ा उपहार। अतएव देवभवन के निर्माण में उन भवनों की भूषा के लिए यह प्राकृतिक संभार कितना उपयुक्त और सुन्दर साबित हुआ है यह अब लोगों की समझ में आ सकता है। अस्तु, इस आधारभूत सिद्धान्त को यदि हम अपने सामने रखें और पाषाण कला की परम्परा में बनाये गये प्रासादों और विमानों को देखें तो पता चलेगा कि उत्तर भारत के जो प्रासाद उदय हुए उनके मूल में विमान की देन अवश्य अंगीकार्य है। विमान को समरांगण ने प्रासाद का मूल कहा है और माडेल भी। इस तथ्य को हम विशेष रूप से उस समय हृदयंगम कर सकेंगे जब हम भारतीय स्थापत्य के नाना प्रदेशीय मन्दिरों को एक स्थान में देख सकने में सक्षम हों।

चालुक्यों के वास्तुपीठ होयसिल तथा बादामी से कौन अपरिचित है? यह प्रदेश वास्तव में द्रविड देश के सान्निध्य में है। अतः यहाँ का प्रासाद-वैभव द्राविड शैली से प्रभावित होना चाहिए, परन्तु इसके विपरीत होयसिल और बादामी के मन्दिरों में सर्वप्रथम एक नयी शैली के दर्शन होते हैं जो वास्तव में उत्तरापथ की नागर शैली है। यहाँ से इस शैली का विकास उड़ीसा के प्रख्यात विरजाक्षेत्र भुवनेश्वर, पुरी तथा कोणार्क के मन्दिरों में द्रष्टव्य है। बाद में यह प्रवाह बुन्देलखण्ड—खजुराहो में आकर अपने पूर्ण प्रकर्ष को पहुँच गया। यदि हम होयसिल के दुर्गा मन्दिर, भुवनेश्वर के राजरानी मन्दिर तथा खजुराहो के कण्डरिया महादेव—इन तीनों को एक साथ देखें तो हमारे इस कथन के महत्त्व का लोगों के मस्तिष्क पर अवश्य साक्ष्य और सार्थकता दिखाई पड़ेगी।

यह अवश्य है कि नागर शैली की अपनी मौलिक पद्धतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं। उन्हीं के आधार पर विद्वानों ने नागर को द्राविड की अपेक्षा प्राचीन बताया है। यह भी सत्य है कि प्राचीन आर्यों की पर्णशालाओं अथवा पर्णकुटियों के आधार पर ही उनके भवन और

देवभवन बहुत दिनो तक बनते रहे और मध्यकालीन प्रासाद वैभव मे भी उनका प्रभाव पूर्णरूप से प्रकट है। परन्तु यत. यह स्तम्भ प्रासाद-स्थापत्य के सम्बन्ध मे अवतरित किया गया है अतः प्रासादो की परम्परा मे विमान-वास्तु की मौलिक देन को नही विस्मृत किया जा सकता। दक्षिण भारत मे खुदाई की बडी आवश्यकता है। वहाँ पर ईसवीय पूर्व की इमारते जब प्राप्त हो सकेगी तो इस कथन का और भी अधिक मूल्याकन हो सकेगा। यह थीसिस यहाँ पर विशेष विस्तार से नही लिखी जा सकती। इस सम्बन्ध में लेखक का अंग्रेजी ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

अस्तु, स्वल्प में हमने पीछे के विषयो का यहाँ पर शास्त्र और कला की दृष्टि मे उपसहार किया। जहाँ तक प्रासाद के नाना अगो, उपागो तथा निवेशो का विषय है उस पर हमने पीछे के तीन अध्यायो मे जो विवेचना की है उससे इस दृष्टिकोण की मीमासा का कुछ-न-कुछ पोषण हो ही चुका है। अत अब अन्त मे यथा प्रतिज्ञात प्रासादो के शास्त्रीय मानो का कला की दृष्टि से विवेचन करना शेष रह जाता है। उसी पर आगे का स्तम्भ प्रारम्भ करना है।

प्रासाद-मान

प्रासाद की मान-व्यवस्था मे न केवल उसके नाना अगो और निवेशो का ही विचार आवश्यक है वरन् उसकी भूमि, तल, छन्द आदि पर भी मीमांसा अभीष्ट है। वास्तु-शास्त्रो मे प्रासाद के तल-विन्यास के लिए और उसके वर्टिकल सेक्शन की व्यवस्था के लिए छन्द सहित जिस मान-प्रक्रिया की अवतारणा की गयी है उसमें नाना-वर्गीय सूत्रो का निर्देश है, प्रमाण-सूत्र, पर्यन्त-सूत्र तथा विन्यास-सूत्र—इन तीनो सूत्रो के द्वारा यह क्रिया सम्पन्न होती है। समरागण मे क्षितिभूषण, विजयभद्र, हेमकूट आदि जिन प्रासादो का मान वर्णित है वह स्थापत्य मे प्राप्त अम्बरनाथ (महाराष्ट्र प्रान्त) मन्दिर मे विभाव्य है। यह मन्दिर ११वी शताब्दी का है। अथच प्रासाद की स्थापना के लिए अधिष्ठान और वेदिका का निर्माण भी एक अनिवार्य अग है और इस निर्माण की जो प्रक्रिया समरागण मे प्रतिपादित है वह खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर तथा उदयपुर के नीलकठेश्वर मन्दिर मे हूबहू उतरती है। पीछे हम सान्धार तथा निरन्धार प्रासादो का सकेत कर चुके है। इन प्रासादो के तलछन्द अथवा संस्थान के मान एवं कलेवर निर्माण आदि नाना निर्देश जो समरागण वास्तु-शास्त्र मे प्राप्त होते है उनका अनुगमन वैकुठ पेरुमल तथा अम्बरनाथ के मन्दिरो मे पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होता है। यहाँ पर यह निर्देश आवश्यक है कि भारतीय प्रासादों के मान एक काल मे नही उदय हुए। विभिन्न कालो के मान विभिन्न थे। मध्यकालीन मान विकास का यह प्रतिपादन है। अतएव ईसा की छठी

शताब्दी के वास्तु-शास्त्रो में मन्दिर की ऊँचाई आदि के जो मान प्रतिपादित हैं वे मध्य-कालीन कृतियो मे (दे० समरांगणसूत्रधार) परिवर्तित हो गये। पहले प्रासाद की ऊँचाई उसकी चौडाई से दुगुनी या तिगुनी प्रतिपादित थी, परन्तु पाँच सौ वर्ष बाद प्रासाद की ऊँचाई स्कन्ध तक ही उसकी चौडाई से लगभग तिगुनी मानी गयी। स्कन्ध के ऊपर प्रासाद के नाना अगो के विन्यास से हम परिचित ही है। अर्थात् कण्ठ अथवा ग्रीवा, आमलक सार अथवा अण्डक, पुन. उसके ऊपर चद्रिका अथवा पद्मशीर्ष आदि। पुन. उसके ऊपर कलश और उसके ऊपर बीजपूरक अथवा उष्णीष एव बिन्दु आदि के विन्यास से भी हम परिचित हो चुके है।

प्रासादो के तीन प्रमुख अगो से हम परिचित हैं—अधिष्ठान, कलेवर तथा शीर्ष। कलेवर के नाना अग हैं, जैसे शुकनासा, स्कन्ध, वेणुकोश—एक शब्द मे उत्तरी शैली मे शिखर तथा दक्षिणी शैली मे भूमिकाएँ। यत समरागणसूत्रधार उत्तरी शैली का अधिकृत एव प्रौढ प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, अत इसमे शिखरोत्तम प्रासादो के कलेवर निर्माण मे अर्थात् शिखरो की निर्मिति मे जो नियम निर्धारित किये गये हैं वे अत्यन्त विकसित है। शिखराकार निर्माण एक बडा ही परिष्कृत एव जटिल वास्तु-तत्त्व है। वह त्रिगुण, चतुर्गुण, पचगुण सूत्रो के माहात्म्य से सम्पन्न किया जाता था। ये सूत्र एक प्रकार के ज्यामितीय रैखिक विभाग के रूप मे परिकल्प्य है। अग्निपुराण एवं हयशीर्षपचरात्र आदि प्राचीन ग्रन्थो मे इन शिखरो के विन्यास मे केवल चतुर्गुण सूत्र की परम्परा प्रतिपादित है परन्तु यही परम्परा समरागण के समय मे षड्गुण सूत्र तक पहुँचती है।

अथच पीछे हम शिखरो की नाना वर्गीय आकृतियो, जैसे स्तवक-शिखर, गवाक्ष-शिखर तथा पूर्ण-शिखर—पर प्रवचन कर चुके है। तदनुरूप हमारे शास्त्रो के ये विधान कला मे पूर्णरूप से प्रतिफलित दृष्टिगोचर हो रहे है। मध्य प्रदेश के, विशेष कर खजुराहो के कन्दरीय महादेव मदिर मे, उत्तरी गुजरात और राजस्थान के जैन मन्दिरो मे, किराडू के सोमेश्वर मंदिर मे और भुवनेश्वर के राजरानी मन्दिर मे स्तवक-शिखरो का कैसा सुन्दर प्रोल्लास देखने को मिलता है! गवाक्ष-शिखरो के निदर्शन लिगराज और ब्राह्मणेश्वर की छटा मे निभालनीय है। पूर्ण शिखर का नासिक, उदयपुर तथा दक्षिण भारत के और मध्य-भारत के मन्दिरो मे सुन्दर विकास पाया जाता है। ११वी शताब्दी का उदयपुर का नीलकण्ठेश्वर मन्दिर पूर्ण शिखर का अपतिम निदर्शन है।

प्रासाद-कलेवर की मीमासा मे हमने अभी तक यहाँ पर शिखरोत्तम प्रासादों तक ही अपना विवेचन सीमित रखा, परन्तु एक दूसरा वर्ग छाद्य प्रासादो का है जो आगे चलकर भौमिक प्रासादो मे वृद्धिगत हुआ। द्विछाद्य, त्रिछाद्य आदि नाना छाद्य प्रासादों का

जो वर्णन हम समरांगण में पाते हैं वही भारतीय स्थापत्य के भौमिक प्रासादों की परम्परा एवं पद्धति के निर्माण का उद्भावक है। छाद्य प्रासादो का मुकुटमणि तजौर का बृहदीश्वर महादेव मन्दिर है। समरागण मे रुचक, वर्धमान, श्रीवत्स अथवा हस आदि जो प्रासाद वर्णित हैं वे सब इसी प्रकार के प्रासादों के आधार है। अस्तु, प्रासाद-शास्त्र एवं प्रासाद-कला की समन्वयात्मक समीक्षा का यह स्वल्प मे दिग्दर्शन है। इस विषय मे बहुत कुछ लिखा जा सकता है और उससे अधिक अभी अध्ययन की आवश्यकता है।

पंचम पटल

प्रतिमा-विज्ञान

१

प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि, पूजा परम्परा

विषय प्रवेश

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान को पूर्ण रूप से समझने के लिए इस देश की धार्मिक भावना एव तदनुरूप धार्मिक सस्थाओ, सम्प्रदायो, परम्पराओ एव अन्यान्य विभिन्न उपचेतनाओं को समझना आवश्यक ही नही अनिवार्य है। प्रतिमा-विज्ञान की मीमासा मे एकमात्र कलात्मक अथवा स्थापत्य दृष्टिकोण अपूर्ण दृष्टिकोण है। अत. प्रतिमा-विज्ञान के प्रतिपादन मे हम दो प्रधान दृष्टिकोणो का अवलम्बन करेंगे—एक धार्मिक दृष्टिकोण (प्रतिमा-पूजा की परम्परा) तथा दूसरा स्थापत्य-दृष्टिकोण (प्रतिमानिर्माण-कला)।

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की आधार-शिला का निर्माण भारतीय पूजा-परम्परा अथवा ध्यान-परम्परा करती है। अतएव प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय विवेचन के पूर्व प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा पर विवेचन आवश्यक है। प्रतिमा-विज्ञान एव प्रतिमा-पूजा का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भले ही ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों में इस सम्बन्ध का अपवाद पाया जाता हो, जहाँ के कुशल मूर्ति-निर्माताओ ने सौन्दर्य की भावना से बडी बडी सुन्दर मूर्तियो का निर्माण किया, परन्तु भारत के लिए तो यह नितान्त सनातन सत्य रहा है। भारतीय स्थापत्य के विकास के उद्गम का महास्रोत धर्म रहा है। अत. यहाँ के स्थपतियो ने 'सुन्दरम्' मे ही अपनी आत्मा नही खो दी है; 'सुन्दरम्' के साथ-साथ 'सत्यम्' एव 'शिवम्' की दो महाभावनाओ से अनुप्राणित इस देश के स्थापत्य मे धर्माश्रयता प्रधान रही है।

भारतीय वास्तु-कला एव प्रस्तर-कला या मूर्ति-निर्माण-कला के जो प्राचीन स्मारक-निदर्शन हमें प्राप्त होते है उनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही नही वह सर्वोत्कर्षेण विराजमान दृष्टिगोचर हो रही है। किसी भी प्राचीन वास्तु-स्मारक को हम देखे, वह हिन्दू हो अथवा बौद्ध या जैन, सभी में धर्माश्रयता ही बलवती है। भारतीय वास्तु-कला के नव स्वर्णिम प्रभात मे अशोक-कालीन वास्तु-कृतियाँ परिगणित की जाती हैं, उन सभी का एकमात्र उद्देश्य महात्मा बुद्ध के पावन धर्म के प्रचार के लिए ही तो था। आगे की अगणित कृतियों एवं भव्याकृतियो मे भी वही प्रेरणा, वही साधना,

वही तन्मयता एव वही उपचेतना रही, जिसने भूतल पर स्वर्ग का निर्माण किया है, निराकार विश्वमूर्ति को साकार प्रतिकृति प्रदान की है तथा त्याग, तपस्या एवं तपोवन की त्रिवेणी पर अगणित प्रयागों का निर्माण किया है। दक्षिण के उत्तुग विमानाकृति विमान-प्रासादों एव उत्तर के अभ्रलिह शिवालयों की पावन गाथा मे एतद्देशीय तथा विदेशीय कितने विज्ञो ने कितने ग्रन्थ लिखे है ? अतः भारतीय वास्तु-कला (आर्कीटेक्चर) की इस आधारभूत विशेषता से वास्तु-कला की सहचरी अथवा उसका प्रसाधन-अलकरण प्रस्तर-कला (स्कल्पचर) अनुषगत, अनुप्राणित हो तो स्वाभाविक ही है। सत्य तो यह है कि वास्तु-कला एव प्रस्तर-कला का विकास अन्योन्यापेक्ष (माउक्रांतम) है। प्रासाद (टेम्पुल) और प्रतिमा एक दूसरे के पूरक है। हिन्दू-प्रासाद के मर्म का उद्‌घाटन हम पीछे 'प्रासाद-वास्तु' (टेम्पुल आर्कीटेक्चर) प्रकरण मे कर चुके है। आगे इसी पूर्वपीठिका मे प्रासाद एव प्रतिमा के इसी घनिष्ठ सम्बन्ध के मर्मोद्‌घाटन के लिए एक स्वाधीन अवतारणा की जायगी।

अस्तु, प्रस्तर-कला एव उसकी देदीप्यमान ज्योति प्रतिमा-निर्माण-कला की इस धार्मिक भावना का यहाँ तात्पर्य उपासना से है। उपासना एव उपासना-पद्धति के गर्भ मे देवपूजा एव देव-प्रतिमा-निर्माण का जन्म हुआ। आगे हम देखेंगे कि इस देश मे उपासना के कौन-कौन स्वरूप विकसित हुए। उपासना के कौन-कौन से प्रकार प्रस्फुटित हुए। उपासना के इतिहास पर विहगम दृष्टि डालते हुए इसके कई एक सोपानो का हम दर्शन करेंगे। अतः यह प्रकट है कि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान को पूर्णरूप से समझने के लिए भारतीय पूजा-परम्परा के रहस्य को हम ठीक तरह से समझ ले।

भारतीय पूजा-परम्परा या उपासना-पद्धति के विभिन्न सोपानों पर जब हम दृष्टिपात करें—तो अनायास भारतीय धर्म—हिन्दू, जैन एव बौद्ध—के व्यापक रूप के साथ-साथ हिन्दू-धर्म के भीतर वैदिक, स्मार्त एव पौराणिक प्रतिरूपो के अतिरिक्त शैव, वैष्णव एव शाक्त आदि अवान्तर रूपों, सम्प्रदायो, मतो तथा मतान्तरो की भी किसी न किसी प्रकार चर्चा प्रासगिक बन जाती है।

प्रतिमा-पूजा मे प्रतिमा शब्द का मूल अर्थ तो देव-विशेष, व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ-विशेष की प्रतिकृति, बिम्ब, मूर्ति अथवा आकृति—सभी का बोधक है, परन्तु यहाँ पर प्रतिमा का तात्पर्य भक्ति-भावना से भावित देवविशेष की मूर्ति अथवा देवभावना से अनुप्राणित पदार्थ-विशेष की प्रतिकृति ही है। प्रतिमा-पूजा में प्रतिमा एक प्रकार की कलात्मक प्रियता की मानवीय भावना का वह प्रकट मूर्त स्वरूप है जिसके द्वारा इस देश के मानव ने अदृष्ट शक्ति की कल्पना एव उसकी उपासना की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से चेष्टा की है। विभिन्न युगो मे यह चेष्टा एक सी नही रही

है। पुरातन से पुरातन सस्कृतियो एव जातियो में किसी न किसी प्रकार से इस चेष्टा के दर्शन होते है।

जहाँ तक इस देश का सम्बन्ध है यहाँ की पूजा-प्रणाली के विभिन्न रूप थे। कोई प्रकृति के पदार्थों—सूर्य, चन्द्र, आकाश, नक्षत्र आदि की पूजा करते थे। कोई पार्थिव जड-जगत् (वृक्ष आदि) की पूजा करते थे। पशु-पूजा, वृक्ष-पूजा, यज्ञ-पूजा, पक्षि-पूजा, नदी-पूजा, पर्वत (पाषाणपट्टिका एव शिला आदि)–पूजा आदि ये सभी पूजाएं सनातन से इस देश मे अब भी प्रचलित है। इन रूपो मे आर्य एव अनार्य दोनो प्रकार के घटको की झाँकी देखने को मिलेगी। यहाँ इस अवसर पर बौद्धो की ध्यान-परम्परा स्मरणीय है जिसने बौद्ध प्रतिमा-विकास मे बडा योग दिया।

यद्यपि विभिन्न प्राचीन उल्लेखो (देखिए स्तम्भ २) द्वारा प्रतिमा-पूजा का प्राचीनतम सम्बन्ध ब्रह्मवादी वेद-विद् ज्ञानी ब्राह्मणो से न होकर उन अज्ञो से बताया गया है, जो ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान के सूक्ष्म-चिन्तन के लिए असमर्थ थे अथवा है। तथापि एक ऐसा समय आया जब प्रतिमा-पूजा के इस सकीर्ण एव एकागी स्वरूप अथवा दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक एव सार्वजनिक सिद्धान्त स्थिर हुआ, जिसके अनुसार ज्ञानी-अज्ञानी, पण्डित-मूर्ख, योगी-भोगी, राजा-रक तथा गृहस्थ एव मुमुक्षु—भारत के विशाल समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए उपासना अनिवार्य अग बन गयी।

अत: प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि की आधारशिला पूजा-परम्परा के उपोद्घात मे जो सूक्ष्म सकेत ऊपर किया गया है उस सम्बन्ध मे यह नितान्त सत्य ही है कि इस देश मे उपासना-पद्धति का जो विपुल विकास बढता गया उसका आनुषंगिक प्रभाव स्थापत्य पर भी पड़ता रहा।

प्राचीन वैदिक कर्म-काण्ड—यज्ञवेदी, यजमान, पुरोहित, बलि, हव्य, हवन एव देवता आदि के वृहत् विजृम्भण से हम परिचित ही है। उसी प्रकार देव-पूजा मे अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक के नाना सभार, प्रकार एव कोटियाँ पल्लवित हुई। अर्चा के सामान्य षोडशोपचार एव विशिष्ट चतुष्षष्टि उपचार, अर्च्य देवो के विभिन्न वर्ग—शिव, विष्णु, देवी, गणेश, सूर्य, नवग्रह आदि तथा इनके अर्चको की विभिन्न श्रेणियाँ, इन सभी की समीक्षा से हम प्रतिमा-विज्ञान की इस पृष्ठ-भूमिका की गहराई का मापन कर सकेंगे। साथ ही साथ पूजा-परम्परा के इस सर्वतोमुखी विकास का स्थापत्य पर जो प्रभाव पड़ा उसकी मीमासा मे हम आगे एक स्वाधीन प्रकरण मे इस विषय की कुछ विशेष चर्चा करेंगे।

हम जानते है कि मानव ने अपने आराध्य देव मे अपनी ही झाँकी देखी। मानव का देव मानवीय विभिन्न परिमाणो एव रूपो, वस्त्रो एव आभूषणो में अंकित हुआ।

अतः भारतीय स्थापत्य जहाँ विभिन्न जनपदीय सस्कारो, उपचेतनाओं, रीति-रिवाजो के साथ-साथ भौगोलिक एव राजनीतिक प्रभावो से अनुप्राणित रहा वहाँ वह धार्मिक भावना की महाज्योति से प्रद्योतित उपासना-परम्परा के बहुमुखी विजृम्भण से भी कम प्रभावित नही हुआ। विभिन्न प्राप्त एवं अर्धप्राप्त प्रतिमा-स्मारक-निदर्शन इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान को ठीक तरह से समझने के लिए न केवल भारतीय धर्म का ही सिंहावलोकन आवश्यक है वरन् भारतीय पुराण-शास्त्र (माइथोलाजी) का भी सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। आगे हम देखेंगे कि विभिन्न देवो के नाना रूपो की उद्भावना पुराणो ने ही प्रदान की है। पुराणो के अवतारवाद एवं बहुदेववाद का स्थापत्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। देव-विशेष के पौराणिक नाना रूप स्थापत्य की नाना मूर्तियो को जन्म देने में सहायक हुए।

सत्य तो यह है कि प्रतिमा-विज्ञान स्वयं एक प्रयोजन न होकर प्रयोज्य मात्र है। प्रयोजन तो प्रतिमा-पूजा है। भारतवर्ष की सांस्कृतिक एव धार्मिक प्रगति मे प्रतिमा-पूजा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतिमा-पूजा ने ही निर्गुण एव निराकार ब्रह्म के चिन्तक अद्वैतवादियो एव सगुण तथा साकार ब्रह्म के उद्भावक भक्तो दोनो के दृष्टि-कोण मे समन्वयात्मक सामजस्य प्रदान किया है।

पूजा-परम्परा पर एक विहंगम दृष्टि

प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठ-भूमि पूजा-परम्परा के अध्ययन मे हमने अपने 'प्रतिमा-विज्ञान' में निम्नलिखित विषयो की अवतारणा की है जिन पर अलग-अलग अध्यायों की सृष्टि के द्वारा इन विषयो की यथासाध्य समीक्षा की गयी है। प्रकृत मे हम इन विषयो का अति संक्षिप्त विन्यास मात्र इस अध्याय में कर सकेंगे —

१–पूजा-परम्परा

२–प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता—(अ) जन्म एव विकास (साहित्यिक प्रामाण्य के आधार पर), (आ) विकास एव प्रसार (पुरातत्त्वीय सामग्री के आधार पर)

३–अर्चा, अर्च्य तथा अर्चक—वैष्णव-धर्म

४–अर्चा, अर्च्य एव अर्चक—शैव-धर्म

५–अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक—शाक्त, गाणपत्य एवं सौर धर्म

६–अर्चा, अर्च्य एव अर्चक—बौद्ध धर्म एव जैन धर्म

७–अर्चा-पद्धति

८–अर्चा-गृह—प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव।

अस्तु, इन्ही विषयो की यहाँ पर स्वल्प मे समीक्षा की जायगी।

१. पूजा-परम्परा—

भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की आधारशिला पूजा-परम्परा तथा उसके आधारस्तम्भ ध्यान-परम्परा मानने चाहिए। इस स्तम्भ मे पूजा-परम्परा की प्राचीनता पर सास्कृतिक दृष्टि से विचार करना है। मानवता का विकास देवसाहचर्य का मुखापेक्षी रहा है। रहन-सहन, भोजन-भजन, आचार-विचार के साथ-साथ चिरतन से मानव ने अदृष्ट शक्ति के प्रति भीति-भावना अथवा भक्ति-भावना किवा आत्मसमर्पण की भावना से किसी न किसी प्रकार से किसी न किसी पदार्थ को उस अदृष्ट शक्ति की प्रतिकृति अथवा उसका प्रतिनिधि मानकर अपने प्रभु के प्रति भाव-पुष्प चढाये है। इसी भावना को हम पूजा के नाम से पुकार सकते है। पूजा शब्द का यह अत्यन्त स्थूल ऐतिहासिक एव व्यापक अर्थ है। शास्त्रीय दृष्टि से पूजा शब्द का अर्थ इस अर्थ से विलक्षण ही नही विशिष्ट भी है।

जिस प्रकार से देवयज्ञ अथवा याग की सम्पन्नता द्रव्य, देवता एव त्याग की त्रिविध प्रक्रिया पर आश्रित है, जिसमे एक द्रव्य-विशेष—दधि, दुग्ध, आज्य, धान्य आदि का मन्त्रोच्चारण सहित किसी देव-विशेष के प्रति त्याग, उत्सर्ग (आहुति) करते हैं, उसी प्रकार पूजा भी एक प्रकार से याग ही है, जिसमे एक देव-विशेष के प्रति किसी द्रव्य-विशेष—पुष्प, फल, चन्दन, अक्षत, वस्त्र आदि का समर्पण अभिप्रेत है। 'पूजा-प्रकाश' के प्रथम पृष्ठ पर ही पूजा के इसी अभिधेयार्थ पर प्रकाश डाला गया है—

तत्र पूजा नाम देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वाद् याग एव।

पूजा शब्द का यह अर्थ पूजा-परम्परा के अति विकसित स्वरूप का परिचायक है। परन्तु अभी हमे पूजा-परम्परा के अन्धकारावृत गिरिगह्वरो, भयावह प्रकाण्ड पादपो, उत्तुग शैल-शिखरो, उद्दाम-प्रवाहिनी सरिताओं एवं भीषण कान्तारो आदि के मौलिक स्रोतो को देखना है जिनके द्वारा उपासना-गंगा की विशाल पावन धारा मे हम अवगाहन कर सकेंगे।

भारतीय समाज अथवा किसी समाज मे सभी लोग एक ही विचारधारा, एक ही बुद्धिस्तर अथवा एक ही मर्यादा के नही होते। विभिन्न श्रेणी के मनुष्यो से ही समाज सम्पन्न होता है। अत यहाँ वैदिक युग मे उच्च स्तर के विद्वान्, मेधावी कवि (उन्हे ऋषि कहिए अथवा ब्राह्मण कहिए) लोगो ने अपनी उपासना की तृप्ति के लिए काल्पनिक देवो की अवतारणा करके उनके प्रति भक्ति के उद्गार निकाले, उनको सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ का विधान बनाया। यहाँ जो निम्न श्रेणी के पुरुष थे, भले ही वे अनार्य हो अथवा द्रविड़ हो, गांगेय-घाटी से सम्बन्धित हो अथवा सिन्धु-घाटी से, हिमाद्रि की उपत्यकाओ से आच्छन्न उत्तरापथ के निवासी हो, अथवा विन्ध्याचल से

आवृत दक्षिणापथ के; उनकी भी अपनी कोई न कोई पूजा-प्रणाली या उपासना-पद्धति अवश्य रही होगी। वास्तव मे वैदिक काल की जो उपासना-पद्धति वैदिक यागों के रूप में उल्लिखित मिलती है उसमें जनता-जनार्दन की परम्परा का सर्वथा अभाव था।

चिरन्तन से मानव अदृष्ट शक्ति का सहारा लिये बिना अपने किसी भी मानवीय व्यापार में अग्रसर नहीं हुआ। प्रकृति के भयावह एव विमुग्धकारी दृश्यों ने मानव में जय-भियन्ता तथा प्रकृति के इन पदार्थो के प्रति सहज कौतूहल ही नहीं उत्पन्न किया, भक्ति के भाव, विनम्रता के उद्गार एव आत्मसमर्पण की अभिलाषा किवा तल्लीनता एव तन्मयता की अजस्र धारा उसके हृदय मे स्वत सम्भूत हुई, अन्यथा मानव पशुता से न उठता। मानव का परम एव पुनीत परमोत्कर्ष तथा परम पुरुषार्थ तो देवत्व की प्राप्ति ही है। युग-धर्म, देश-विशेष के जलवायु एव विशेषताओ के वश, मानव ने इस दिशा मे विभिन्न रूपों से कदम बढाये। कालान्तर मे सभी सस्कृतियो ने सभी देवभावना एव देवोपासनाम्रो को जन्म दिया। मानव-सम्यता का यह स्वर्ण युग था।

देवो से मानवो के उस अतीत पार्थक्य (देखिए स० सू० 'सहदेवाधिकाराध्याय') ने मानवो को पुन देवमिलन के लिए महती उत्कण्ठा प्रदान की है। चिरतन से इसी उत्कण्ठा से मानव ने अपने प्रत्येक व्यापार मे देव-मिलन की चेष्टा की। विभिन्न साधनाओ एव साधनो के द्वारा यह प्रयत्न किया कि वह कैसे देवो का सामीप्य प्राप्त कर सके। इस देश मे जो विभिन्न दार्शनिक एव धार्मिक सिद्धान्त एव विश्वास प्रकल्पित हुए उन सभी मे मानव की इसी चेष्टा के दर्शन होते है। वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषदो के आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, 'तत् त्वमसि' 'अहम्ब्रह्मास्मि' आदि अनेक धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्त इस तथ्य के प्रबल प्रमाण है। अत. निर्विवाद है कि मनुष्य अपनी आत्मा (जो परमात्मा का ही लघु स्वरूप है) मे अपने सहचर देव से पार्थिव पार्थक्य के होते हुए भी मानस पार्थक्य को कभी सहन नही कर सका। देवो से मानवो के मानस-मिलन की इसी कहानी का नाम देव-यज्ञ एव देव-पूजा है। यह सर्वदा विद्यमान रही। अत. देव-पूजा की परम्परा को मानव-सम्यता एव सस्कृति में एक सार्वकालिक एक सार्वजनीन सस्था के रूप मे हम परिकल्पित कर सकते हैं।

मनुष्य अपनी विभिन्न धार्मिक उपचेतनाओ तथा कर्मकाण्ड के द्वारा देवो के क्रोध को शान्त करने मे लगा। सनातन से मनुष्य वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनो रूपों से इस प्रयत्न में सचेष्ट है। अतएव मनुष्य ने अपना परम पुरुषार्थ मोक्ष अथवा अमरत्व अथवा देव-भूयत्व बना रखा है। ससार के सभी धर्मो ने और बडे-बडे धर्माचार्यों ने सदैव यही सिखाया है कि हम अपने जीवन-दर्शन में देवदर्शन की ज्योति को सदैव जगमगाते रहे।

यह प्रथम ही सकेत किया जा चुका है कि सभी मनुष्यो का बुद्धि-स्तर एव हृदय की सवेदना एक समान नही हो सकती। मानव-समाज को विभिन्न वर्गों मे विभाजित करने की प्राचीन परम्परा का यही मर्म था। अत. जहाँ विद्वान् मेधावी ब्राह्मणो के लिए आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त सुकर हो सकते थे वहाँ अज्ञों एव निम्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए न तो ऐसे दुरूह एव जटिल सिद्धान्त बोधगम्य ही थे और न उपकारक। अतः उनकी उपासना के लिए, उनकी आत्मतृप्ति के लिए, उनकी देव-भावना की प्रेरणा के शमन के लिए कोई न कोई आचार, कोई न कोई पद्धति होनी ही चाहिए थी। अतएव मनीषी समाज-शास्त्रियो एव धर्म-गुरुओ ने समाज के इस प्रबल अग के लिए देवोपासना को प्रतीकोपासना के रूप मे स्थिर किया। प्रतिमा-पूजा एक प्रकार से प्रतीकोपासना ही तो है।

अत निष्कर्ष-रूप मे यह कहना सर्वथा सगत ही होगा कि प्रतीकोपासना (जिसके गर्भ से प्रतिमा-पूजा का जन्म हुआ) उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव-सभ्यता। यह मानवता की सदैव सहचरी रही है। बिना इसके मानवता एक क्षण के लिए भी उच्छ्वास न ले सकी। अतः विद्वानों के तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना एवं गवेषणात्मक ऐतिहासिक अनुसन्धान भले ही शास्त्रीय दृष्टि (एकैडमिक प्वाइंट आफ वियू) से ठीक हो परन्तु व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि-कोण (जो इस ग्रन्थ का मन्त्र या बीज है) से यह मानना अनुचित न होगा कि उपासना की यह परम्परा वैदिक युग अथवा वैदिक युग से भी प्राचीनतर युग (उसे सिन्धु-सभ्यता कहिए अथवा नदीय सभ्यता कहिए अथवा पाषाण-कालीन या उत्तर-पाषाण-कालीन अथवा ताम्रयुगीन सभ्यता कहिए) मे विद्यमान थी। आगे प्रतिमा-पूजा की ऐतिहासिक समीक्षा मे इस प्रवचन के प्रमाण पर भी सकेत किया जायगा।

पूजा-प्रतीक

पूजा के प्रतीको मे अनेकानेक देवी एव देवो के अतिरिक्त उन प्रतीकों की एक दीर्घ सूची है, जो सनातन से इस देश के उपासको का अभिन्न अग रही है। यथा—

वृक्ष-पूजा—पूजा-परम्परा मे वृक्ष-पूजा बहुत प्राचीन है। न्यग्रोध, अश्वत्थ, आम्र, बिल्व, कदली, निम्ब एवं आमलक विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दू पंचाग (कैलेण्डर) मे इन विभिन्न वृक्षो की पूजा का विधान वर्ष के विभिन्न दिवसो एव पर्वों पर है।

नदी-पूजा—वृक्षो से भी बढकर इस देश मे अवसर-विशेष पर (जैसे पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि) नदी-पूजा का माहात्म्य है। गगा-पूजा हिन्दू-परिवार के लिए एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य है। गगा, गगा-जल और गगा-स्नान से बढ़कर

हमारे लिए और क्या पावन है ? भारतवर्ष के सास्कृतिक जीवन में जननी एव जन्म-भूमि के समान ही गगा गरीयसी है। अन्य सरिताओ की पूजा भी यथादेश प्रचलित है—यह हम जानते ही हैं।

पर्वत-पूजा—प्रकृति के पार्थिव पदार्थों में वृक्षो, पर्वतो एवं नदियो का प्रथम परि-गणन होता है। अतएव प्रकाण्ड पादपो, उद्दाम-प्रवाहिनी कलस्वनी सरिताओं एव भयावह एव विमुग्धकारी पर्वतो के दृश्यो ने मनुष्य के हृदय मे भय एवं विस्मय के भावो को जन्म दिया। इन्ही भावो ने उपासना का उपजाऊ मैदान तैयार किया।

पर्वत की पाषाण-शिलाएँ प्रस्तर-प्रतिमाओं की पूर्वज हैं। पत्थर के शालग्राम, बाणलिंग आदि स्वयम्भू प्रतिमाओ में पर्वतो की अति प्राचीन देन छिपी है। शालग्रामो एवं बाणलिगों की विशेष चर्चा आगे द्रष्टव्य है। वैसे भी पर्वत हिन्दू धर्म मे पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं। महाकवि कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को 'देवतात्मा' कहा है जो प्राचीन पौराणिक परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। घर-घर मे गोवर्धन की पूजा (*गोमय-निर्मित*) *पर्वत-पूजा को आज भी जीवित रखे हुए है।* पर्वतो ने ही हिन्दू प्रासाद को कलेवर प्रदान किया है। प्रासादो की विभिन्न सज्ञाओ एवं आकृतियो मे भारत के प्रसिद्ध सभी पर्वत–मेरु, मन्दर, कैलास सर्वोत्कर्ष से विराजमान है।

धेनु-पूजा (पशु-पूजा)—भारतवर्ष मे गौ को गोमाता के नाम से सम्बोधित करते हैं। प्रति सप्ताह शुक्रवार का दिन धेनु-पूजा के लिए एक सनातन परम्परा है। गोवत्स की पूजा भी हिन्दू-परिवारो मे प्रचलित है। इसी प्रकार गज-पूजा (इन्द्रवाहन), अश्वपूजा, (विजया), सिह-पूजा (देवी-वाहन) आदि अनेक पशु-पूजा निदर्शन हैं। नाग-पूजा की परम्परा से हम परिचित ही हैं।

पक्षि-पूजा—गरुड-पूजा के माहात्म्य से हम परिचित ही है। यात्रा के अवसर पर गगनोड्डीयमान गरुड का दर्शन बडा ही शुभ माना जाता है। विजयादशमी (दशहरा) पर हम सभी नीलकण्ठ पक्षी के दर्शन के लिए विशेष उत्सुक एव सचेष्ट देखे जाते है।

यन्त्र-पूजा—यन्त्र शब्द का तात्पर्य यहाँ पर आध्यात्मिक एव रहस्यात्मक यन्त्रो से है। यन्त्र तो मशीन को कहते है। मशीनो के आविष्कार से आधुनिक जगत मे जिस द्रुत गति से व्यावसायिक, राजनीतिक, एव आर्थिक तथा सामाजिक क्रान्तियाँ सुकर हो सकी है उससे यन्त्रो की महिमा का हम अनुमान लगा सकते है। जब पार्थिव यन्त्रो की यह महिमा है तो रहस्यात्मक एव आध्यात्मिक मन्त्रो से पावित एव अनुप्राणित धार्मिक यन्त्रो की गरिमा की गाथा मे कितने ही ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

यन्त्रो की साधारण परम्परा के अतिरिक्त विशिष्ट परम्परा भी है। तान्त्रिको

का श्रीचक्र एक विशिष्ट यन्त्र है। इसके सम्बन्ध मे शाक्त-धर्म की समीक्षा के अवसर पर विशेष चर्चा की जायगी।

प्रतिमा-पूजा के प्रधान प्रतीको मे देवो एवं देवियो के अतिरिक्त जिन विभिन्न रूपों का सकीर्तन ऊपर किया गया है उससे हम पूजा-परम्परा के बहुमुखी विजृम्भण का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति के उन उपकारक पदार्थों (आब्जेक्ट्स) के प्रति विनम्रता के भावो ने ही उनकी उपासना का सूत्रपात किया—यह एक व्यावहारिक तथ्य है जो सदैव से वर्तमान रहा। अतएव पूजा-परम्परा के साथ इन प्रतीको के साहचर्य के मर्म का मूल्याकन हम तभी कर सकते हैं जब इस आधारभूत सिद्धान्त को समझ ले कि मनुष्य ने सनातन से उन सभी पदार्थों (आब्जेक्ट्स) के प्रति, चाहे वे स्थावर हैं अथवा जगम, कृतज्ञता किंवा विनम्रता अथवा भक्ति प्रकट की है जो उसकी जीवन-यात्रा मे किसी न किसी प्रकार से उपकारक हुए हैं।

प्रकृति मनुष्य की धात्री है। वृक्षो की छाया, उनकी शाखाओ के अनेकानेक उपयोग (शालभवन के छप्पर, धरन, किवाड आदि), पल्लवो के प्रचुर प्रयोग, नदी-जल का स्नान-पान, उसकी धारा मे अवगाहन, मज्जन, तरण, पर्वतो की उपत्यकाओ के उपजाऊ मैदान, गुफाओ के गम्भीर सुरक्षित गुह्य दुर्ग, हिम एवं आतप के वारण के प्रबल प्राचीन साधन, सूर्य का प्रकाश, चन्द्र की आह्लादकारिणी ज्योत्स्ना, नक्षत्रो का उन्मुक्त मनोहर मण्डल, गगन का विमुग्धकारी विस्तार, पशुओ के द्वारा कृषि-कर्म, धेनु से दुग्धपान, पक्षियो के भी बहुमुखी प्रयोग—इन सभी मे मानव की रक्षा तथा उसके जीवनोपयोगी साधनो के जुटाव के उपकारक-उपकार्य सम्बन्ध न कृतज्ञता प्रकाशन के लिए पूजा-परम्परा का पल्लवन प्रारम्भ किया।

एक शब्द मे मानव-जाति का प्रथम धर्म प्रकृतिवाद (नेचुरलिज्म) था। अतएव मानव की प्रथम पूजा प्रकृति-पूजा स्वाभाविक थी। ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्रकृति की उपासना का विश्व के इतिहास मे प्रथम प्रमाण प्राप्त होता है।

मानव-जीवन का प्रकृति के साथ अभिन्न एवं घनिष्ठ साहचर्य सर्व-विदित है। यह सम्बन्ध सर्वव्यापी है। भारतवर्ष में भी प्रकृतिवाद का प्रथम धर्म पल्लवित हुआ। अतएव पूर्व-वैदिक-कालीन आर्यों के धार्मिक जीवन के केन्द्र-बिन्दु रूप प्रकृति के प्रमुख पदार्थों को देवो और देवियो के प्रतीक रूप मे प्रकल्पित कर स्तुति-गायन के द्वारा उनमे देव-भावना का संचार किया गया। ऋग्वेद की ऋचाएँ, प्रार्थना-मन्त्र इस दृष्टि से उपासना अथवा पूजा-परम्परा की प्रथम पद्धति का निर्माण करते है। कालान्तर पाकर इस प्रार्थना-उपासना में अग्निहोत्र (यज्ञ) की दूसरी पद्धति स्फुटित हुई। पूजा-परम्परा का यह द्वितीय सोपान माना जा सकता है।

प्रार्थना में प्रकृति के प्रतीक देवों और देवियों—इन्द्र, वरुण, सूर्य (सविता), पर्जन्य, उषा, पृथ्वी आदि के स्तवन मे उनके गुणगान के साथ-साथ उनके रूप, उनकी वेषभूषा आदि की कल्पना भी नितान्त स्वाभाविक थी। अतएव वैदिक ऋषियों की देव-स्तुतियों मे देवरूप-वर्णन को प्रतिमा-विज्ञान का पूर्वज समझना चाहिए। एक शब्द मे प्रतिमा-विज्ञान (आइकनोग्राफी) और प्रतिमारूपोद्भावना (आइकनोलाजी) का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित होता है। देवों और देवियों को पुरुष एव स्त्री रूप मे उद्भावित कर, उनके वाहन (रथ आदि), आभूषण, वस्त्र एव आयुध आदि की कल्पना ही कालान्तर मे प्रतिमा-निर्माण की परम्परा को पल्लवित करने मे उपकारक हुई। ऋषियों की ये प्रार्थनाएँ आगे चलकर देवों के पौराणिक, आगमिक एव शिल्पशास्त्रीय वर्णनों (जो प्रतिमा-निर्माण के आधार हैं) की जनक मानी जायें तो अत्युक्ति न होगी।

वैदिक विचारधारा को पुराणों और आगमों का स्रोत समझना चाहिए। विभिन्नता एव विकास देश एव काल की मर्यादा से प्रतिफलित होते हैं। अतएव वैदिक देवों का ह्रास अथवा विकास पौराणिक देवों के उदय की पृष्ठभूमि प्रकल्पित करता है। इस विषय की विशेष समीक्षा शैव एव वैष्णव प्रतिमा-लक्षणों मे विशेष रूप से की जायगी। यहाँ पर केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि वेदों एवं वेदांगों के काल मे उपासना-पद्धति का स्वरूप विशेष कर वैयक्तिक (इड्विजुअलिस्टिक) था। आर्यों की अग्निपूजा अति पुरातन सस्था है। आर्यों के भाई पारसी आज भी उसे पूर्णरूप मे जीवित रखे हुए हैं। उसी अग्नि-पूजा-परम्परा के अनुरूप अग्नि मे देवता-विशेष के लिए आहुति दानरूप यज्ञीय कर्म ही देव-पूजा का तत्कालीन स्वरूप था। उस पूजा के भी प्रमुख अग देव ही थे जिनको लक्ष्य मे रखकर आहुति दी जाती थी तथा उनसे वरदान माँगे जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यों की उपासना के स्वरूपों, प्रार्थना एव अग्निहोत्र दोनों मे ही देवदर्शन प्रत्यक्ष है। ऋग्वेद की उपासना-परम्परा यजुर्वेद अथवा अथर्ववेद एव वेदांगों के समय मे अर्थात् उत्तर-वैदिक काल मे जाकर एक अत्यन्त विकसित याग-परम्परा के रूप मे स्थिर हुई। इस यागोपासना के विषय मे आरण्यकों एव उपनिषदों के समय क्रान्तिकारी परिवर्तन परिलक्षित हुए। बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद, ब्रह्मवाद ने आर्यों के हृदयों एव मस्तिष्कों पर आकर डेरा डाला।

इस प्रकार प्रार्थना-मन्त्रों एव अग्निहोत्रों के द्वारा देव-पूजा अर्थात् देव-यज्ञ उस सुदूर अतीत की आर्य-परम्परा है जो वैदिक युग मे विकसित हुई। परन्तु तत्कालीन भारतीय समाज के दो प्रमुख अग थे—आर्य एव आर्येतर अर्थात् एतद्देशीय मूल-निवासी

(जिन्हें अनार्य कहिए, द्रविड कहिए या और कोई नाम दे दीजिए)। जहाँ तक आर्यों का सम्बन्ध है उनकी पूजा-पद्धति का क्या स्वरूप था--इस पर सकेत किया जा चुका है। आर्येतर विशाल समाज अथवा वर्ग की भी तो कोई एक उपासना-परम्परा अथवा पूजा-पद्धति अवश्य रही होगी ? इस विशाल भारतीय समाज की उपासना का केन्द्र-बिन्दु वृक्ष, वनदेवता, सरिता, पर्वत, पर्वत-पट्टिका, पक्षी अथवा पशु रहे होंगे--यह हम आकूत कर सकते है। परन्तु एक महान् जाति के सम्पर्क मे आकर उनकी सभ्यता एव सस्कृति में अवश्य परिष्कार एव परिवर्तन हुए होगे। विजेता एव विजित की कटुता एव विद्वेष जब समाप्त हुआ, पारस्परिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ, सास्कृतिक मिश्रण के स्वर्णिम प्रभात का जब उदय हुआ, उस समय दोनों के समिश्रण-जन्य आदान-प्रदान मे दोनों की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक अर्थात् सस्कृति एव सभ्यता के पूरक घटकों मे परिवर्तन, सस्करण, अनुकरण एव समन्वय तथा सामन्जस्य अवश्य प्रस्फुटित हुआ होगा। जातियों के सम्मिश्रण के इतिहास का यह सर्वमान्य एव सार्वभौम सिद्धान्त है। सत्य तो यह है कि ससार की सभी सस्कृतियाँ एव सभ्यताएँ न तो सर्वथा ऐकान्तिक (आइसोलेटेड) है और न सर्वथा विशुद्ध, सभी अनैकान्तिक (कम्पोजिट) तथा मिश्रित है।

अत हमारी दृष्टि मे वैदिक काल मे भी प्रतिमा-पूजा (अर्थात् देवो की प्रतिमारूप मे पूजा) का प्रचार था। यद्यपि यह मत दूसरे लेखको का अनुगामी नही तथापि यह सभी मानेगे कि उसी (या उससे भी पूर्व सिन्धु-नदी-सभ्यता) युग मे अनार्यो की भी तो कोई जीवन-धारा थी। अत कालान्तर पाकर जब पारस्परिक ससर्ग से आर्यों एव अनार्यों का अनेकानेक रूप मे सहयोग सम्पन्न हुआ तो तत्कालीन भारतीय धार्मिक जीवन दो प्रमुख एवं दृढ धाराओ मे बहने लगा---उच्चवर्णीय आर्यों की याग-परम्परा एव निम्नवर्णीय अनार्यों की प्रतिमा-पूजा-परम्परा। दोनो को क्रमश. विशिष्ट धर्म एव लोक-धर्म के नाम से पुकारा जा सकता है। वास्तव मे भारत मे सनातन से लोक-धर्म का स्वरूप ही प्रतिमा-पूजा था।

यदि हम समन्वयात्मक सांस्कृतिक सत्य (सिन्थेटिक कल्चरल ट्रुथ) को स्वीकार कर लें तो देव-पूजा की प्राचीनता के ऊपर अर्वाचीन विद्वानो के वाद-विवाद, तर्क-वितर्क तथा गवेषण-अनुसन्धान भले ही शास्त्रीय दृष्टि से मनोरंजक हो सकते है---ज्ञानवर्धक भी हो सकते हैं परन्तु उनके पचड़े मे हमे नही पड़ना चाहिए। सास्कृतिक सत्य ऐतिहासिक तथ्य से बहुत बडा है।

इसी उदार, व्यापक एवं सास्कृतिक दृष्टिकोण से प्रतिमा-पूजा की समीक्षा मे यह कहना अत्युक्ति की कोटि मे न आयेगा कि प्रतिमा-पूजा अन्य पूजा-सस्थाओ

(जैसे ऋग्वेद के स्तुति-प्रधान प्रार्थना-मन्त्रों की देवोपासना एवं यजुर्वेदीय एवं ब्राह्मण-ग्रन्थीय यज्ञ-प्रधान उपासना-पद्धति) के समानान्तर उस सुदूर वैदिक-काल अथवा वैदिक-काल से भी पूर्व सिन्धु-घाटी अथवा नदीय-सभ्यताओ में संचरण कर रही थी। मोहन्जोदडो और हरप्पा की खुदाई से प्राप्त एतद्विषयक प्रामाण्य से यह निष्कर्ष दृढ होता है। इस ऐतिहासिक सामग्री का मूल्यांकन आगे के अध्याय में विशेष रूप से किया जायगा।

इसके अतिरिक्त हमे यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बहुसभारापेक्ष वैदिक याग (जिसका विपुल विस्तार ब्राह्मण ग्रन्थो एव सूत्र-ग्रन्थों मे पाया जाता है) तथा औपनिषदिक ब्रह्मोपासना एवं आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार, वैदिक-काल के अल्प-सख्यक भारतीयो (उच्चवर्णीय आर्यों) की ये दोनो उपासना-परम्पराएँ इतनी सीमित कही जा सकती हैं कि उनका अनुगमन एवं सुगम पालन सामान्य जनो की शक्ति एव विद्या-बुद्धि के बाहर की बात थी। इन्ही सामान्य जनों को 'अज्ञो' के नाम से आगे के शास्त्रकारो ने पुकारा है जिनके लिए प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना पर आधारित देवोपासना ही एकमात्र अवलम्ब था। अतः प्रतिमा-पूजा की परम्परा के द्वारा इस देश मे एक महान् धार्मिक एवं दार्शनिक समन्वय समुपस्थापित किया गया जो व्यावहारिक दृष्टि से एव प्रचार एव अनुगमन की सुविधा की दृष्टि से भी नितान्त स्वाभाविक ही नही अनिवार्य था। उपनिषदो के ब्रह्मदर्शन (एकेश्वरवाद) एव तदनुकूल धर्माचरण के साथ-साथ प्रतिमा-पूजा एवं बहुदेववाद की स्थापना--इन दोनों का समन्वयात्मक सामजस्य ही भारतवर्ष का सनातन धर्म है।

२. प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता

जन्म एवं विकास--प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता के जन्म एवं विकास की समीक्षा मे यहाँ पर साहित्यिक प्रामाण्य पर विशेष अवलबन होगा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाग--सूत्र-साहित्य, स्मार्त-साहित्य, प्राचीन व्याकरण-साहित्य--पाणिनि और पतजलि, अर्थशास्त्र तथा रामायण एव महाभारत आदि के परिशीलन से हमें मानव-सभ्यता की इस महासस्था की प्राचीनता कितनी है--पूर्ण-रूप से समझ मे आ जायेगा। यद्यपि विद्वानों ने प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता पर बडा विवाद छेड रखा है परन्तु उपर्युक्त सास्कृतिक मीमांसा से यह समझने में देर न लगेगी कि प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना मानव-सभ्यता मे तो क्या आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मानव की असभ्यता अथवा अर्धसभ्यता की दिशा में भी विद्यमान रही है।

वैदिक काल में प्रतिमा-पूजा थी कि नही इस प्रश्न पर पुराविदो में बड़ा वैमत्य है। कुछ विद्वान् प्रतिमा-पूजा की परम्परा को वैदिक काल की समकालीन मानते है और कुछ लोग इसके विपरीत मत रखते है। अस्तु, जैसा पूर्व ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भले ही उच्चवर्णीय आर्यो की उपासना का केन्द्रबिन्दु देवप्रतिमा न रही हो, तो भी निम्नवर्णीय अनार्यों—यहाँ के मूल निवासियो—की पूजा प्रतीकोपासना थी ही और उन प्रतीकों मे रुद्र आदि देव, लिंग आदि प्रतीक असन्दिग्ध रूप से विद्यमान थे। अत. वैदिक काल मे भी प्रतिमा-पूजा अवश्य प्रचलित थी– यह सिद्धान्त अपनाने मे कोई आपत्ति नही आपतित होती।

ऋग्वेद की लगभग तीस ऋचाओ (देखिए 'प्रतिमा-विज्ञान' पृ० ३४–३५) के परिशीलन से पूर्व-वैदिक काल मे भी देवो की रूपोद्भावना (आइकनोलाजी)—जो प्रतिमा-विज्ञान (आइकनोग्राफी) की जननी है—पर पूर्ण आभास प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे 'शिश्न-देवा' और 'मूर-देवा' इन दो शब्दो से भी तत्कालीन प्रतिमा-पूजा पर प्रकाश पड़ता है। वैदिक काल मे प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर ऋग्वेद की ऋचाओ से जो प्रकाश डाला गया है उन्ही में लिंग-पूजा की पोषक सामग्री भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद मे (दे० २२ वी ऋचा, प्र० वि० पृ० ३५) वसिष्ठ इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि 'शिश्न-देव हमारे ऋतु (धार्मिक कृत्य–यज्ञ आदि) पर आक्रमण न कर पाये।' इसी प्रकार २३ वी ऋचा (दे० प्र० वि० पृ० ३५) मे ऋषि शिश्न-देवो के सहारार्थ इन्द्र से प्रार्थना करता है।

प्रश्न यह है कि शिश्न-देव कौन थे ? 'शिश्न-देव' शब्द-निर्वचन पर विद्वानो मे बडा मत-मतान्तर है। वेदिक-इन्डेक्स के विद्वान् लेखक 'शिश्न-देव' से लिंगोपासकों का सकेत मानते हैं। सायणाचार्य ने जो व्याख्या की है वह इसके विपरीत है। सायण के मत मे शिश्न-देव (शिश्नेन दीव्यन्ति क्रीडन्ति) का तात्पर्य अब्रह्मचारियो—राक्षसो से है जो सम्भवत. अनार्य थे। परन्तु इसमे विशेष वैमत्य नही कि शिश्न-देव का तात्पर्य एक जाति-विशेष अथवा वर्ग-विशेष से था जो यहाँ के मूलनिवासी थे। बहुत सम्भव है ये शिश्न-देव लिंगोपासक ही थे। सिन्धु-सभ्यता मे प्राप्त लिंग-प्रतीकों से लिंगोपासकों की अति प्राचीन परम्परा पर दो राये नही हो सकती।

ऋग्वेद की ऋचाओ से प्रतिमा-पूजा की पोषक सामग्री मे २४ वी, २५ वी तथा २६ वी ऋचाओ (दे० प्र० वि० पृ० ३५) मे निर्दिष्ट 'मूरदेव' शब्द से भी एक दृढ प्रमाण प्राप्त होता है। यद्यपि सायणाचार्य ने मूरदेवो को मारक—व्यापारी राक्षसो के अर्थ में लिया है, परन्तु यदि तत्कालीन समाज की रूप-रेखा पर थोड़ा सा गहराई से हम दृष्टिपात करें तो 'मूर' शब्द का अर्थ मूढ (निरुक्त ६.८) न मानकर 'मुरीय'

('मृ' धातु से) 'नाशवान्' ग्रहण किया जाय तो 'मूरदेव' का तात्पर्य उन नीच-वर्णीय अनार्यों अथवा एतद्देशवासी मूलनिवासियो से होगा जो नाशवान् पदार्थों (आब्जेक्ट्स), मृन्मयी प्रतिमा आदि की पूजा करते थे, न कि सनातन दिव्य स्वर्गीय देव--इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि आदि की। ए० सी० दास महाशय (दे० ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० १४५) का ऐसा ही निष्कर्ष है।

ऋग्वेदेतर वैदिक साहित्य—यजुर्वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाग—सूत्र-साहित्य के परिशीलन से उत्तर वैदिक काल में तो प्रतिमा-पूजा पर दृढ प्रमाण प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.६ १७) का निम्न अवतरण देखिए—"होता यक्षत्वेशस्वती । तिस्रो देवी हिरण्मयी । भारती महती मही।।" इसमे स्वर्णमयी सुन्दर तीन देवियो--भारती, इडा तथा सरस्वती की पूजा के लिए होता, पुरोहित के आज्ञार्थ प्रवचन है। वैदिक खिलो (सप्लीमेंट्स) मे भी प्रतिमा-पूजा की परम्परा पर सुदृढ सामग्री प्राप्त होती है। षड्विंश ब्राह्मण के निम्न उल्लेख-" देवतायतनानि कम्पन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्ति, उन्मीलन्ति।" (५-१०) से तत्कालीन देव-प्रतिमा परम्परा पर अकाट्य प्रमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार पंचविंश ब्राह्मण (२३,१८,१) मे 'देवमलीमुच' (अर्थात् देवप्रतिमाओ के चुराने वाले) शब्द के प्रयोग से भी वही निष्कर्ष निकलता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (१४,४) भी ऐसा ही पोषक है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण मे भी सोने की प्रतिमा का सकेत है। शतपथ मे तो इष्टका पर रात्रि-प्रतिमा तथा काल-प्रतिमा की रचना का सकेत भी है। ऋग्वेद के शाखायन ब्राह्मण मे ऐसे ही विपुल सकेत हैं। कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण मे ऐसे सकेत भरे पडे हैं। इस ब्राह्मण मे मूर्ति-निर्माता त्वष्टा का भी पूर्ण निर्देश है। इसी प्रकार आरण्यको तथा सूत्र-ग्रन्थो (दे० प्र० वि० पृ० ३६-४२) मे भी नाना सकेत है जिनके सन्दर्भों मे देवता, देवतायतन एव देवप्रतिमा-पूजा पर अकाट्य प्रामाण्य प्रस्तुत होता है। विस्तार के साथ इन सन्दर्भों का परिशीलन पाठक हमारे 'प्रतिमा-विज्ञान' मे करें। इन सन्दर्भो से उस काल मे विष्णु, रुद्र (शिव), दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य, गणेश तथा यम की पूजा पूर्णरूप से प्रतिष्ठित सिद्ध होती है और साथ ही साथ प्रतिमा-निकेतन—देवालयो की भी तत्कालीन प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है। 'देवगृह', 'देवायतन', 'देवकुल' शब्दो से इन देवालयो का तत्कालीन सकीर्तन होता था। आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र का द्वितीय अध्याय (२०) प्रतिमा-पूजा पर पूर्णरूप से प्रविवेचन करता है। सूत्रकारो के इन निर्देशो से एक विशेष ज्ञातव्य की ओर सकेत यहाँ आवश्यक है। सूत्रकारो की जो देव-नामावली हमे इन निर्देशों मे प्राप्त होती है उसमे बहुसख्यक नाम अनार्य हैं। इनमे बहुत से ऐसे देव भी है जो राक्षसों

एवं पिशाचों के नाम से संकीर्तित है – षण्ड, मर्क, उपवीर, सौण्डिकेय, उलूखल, मली-मुच, अनिमिष, हन्तृमुख, सर्षपूर्ण, कुमार आदि, जिनकी शान्ति-बलि भी पारस्कर-गृह्य-सूत्र (१.१६ २३) में विहित है। इससे लेखक का वह निष्कर्ष (दे० पूर्व अध्याय) पुष्ट होता है कि वैदिक युग में ही (उत्तर कालिक) आर्यों एव अनार्यों के पारस्परिक ससर्ग, आदान-प्रदान एव विभिन्न सास्कृतिक मिश्रणो से इस मिश्रित परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके दर्शन हम यहाँ कर सकते हैं। उपनिषदो को भी तो बडे बडे विद्वान् (जिनमे कीथ मुख्य है) आर्य-द्राविड़-मिश्रित ज्ञान-धारा ही मानते है।

स्मार्त साहित्य—मनुस्मृति आदि स्मृति ग्रन्थो तथा प्राचीन व्याकरण-साहित्य—पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतंजलि के महाभाष्य के परिशीलन से भी प्रतिमा-पूजा के विकास पर पूर्ण आभास प्राप्त होता है। यद्यपि स्मृतियो को पाणिनि की अष्टाध्यायी से कुछ लोग अर्वाचीन मानते है परन्तु श्रुति अर्थात् वेदों के बाद स्मृतियो की ही परम्परा इस देश मे पनपी। अत स्मार्त साहित्य कम प्राचीन नही है। मनुस्मृति के नाना प्रवचनो मे (दे० प्र० वि०, पृ० ४२–४३) इस परम्परा के प्रोल्लास का पूर्ण प्रमाण हस्तगत होता है। इसी प्रकार पाणिनि के निम्नलिखित सूत्रो एव उन पर पतञ्जलि के भाष्य से यह स्पष्ट है कि ईसा से लगभग ८०० वर्ष पूर्व इस देश मे प्रतिमा-पूजा पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चुकी थी —

(१) जीविकार्थे चापण्ये। (५,३,९९)

(२) भक्ति। (४,३,९५)

(३) वासुदेवार्जुनाभ्या वुन्। (४,३,९८)

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (३०० ईसवी पूर्व की कृति) मे देव-प्रतिमा-पूजा एवं देवतास्थानो के बहुत सकेत बिखरे पड़े हैं। अथच कौटिल्य के सन्दर्भो से ऐसा सूचित होता है कि देवप्रतिमा-प्रतिष्ठा का वह एक अति सु-प्रतिष्ठित एव सुविकसित समय था। लेखक ने अपने 'भारतीय वास्तु-शास्त्र' मे 'पुर-निवेश' की प्राचीन परम्परा पर कौटिल्य की देन की विवेचना की है। अत: उससे स्पष्ट है कि वास्तु-शास्त्रों की अतिविकसित मन्दिर-प्रतिष्ठा-परम्परा के समान ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी वही परम्परा है. जब नागरिक जीवन मे देवदर्शन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहचर्य था। 'दुर्गनिवेश' नामक अध्याय से लेखक ने अपने 'प्रतिमा-विज्ञान' में (देखिए पृ० ४५) तीन अवतरण प्रस्तुत किये है, उनमें कौटिल्य के प्रथम प्रवचन मे जिन देव-प्रतिमाओं की पुरमध्य-प्रकल्पना अभिप्रेत है उनमे अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव,

वैश्रवण, अश्विनीकुमार देवों तथा श्री और मदिरा इन दो देवियों का उल्लेख पाया जाता है।

इस देव-परम्परा मे वैदिक परम्परा प्रधान है। परन्तु आगे के अवतरण (वास्तु-देवता तथा ब्राह्म, ऐन्द्र आदि) मे जिन देवो का सकीर्तन है उसमे पौराणिक परम्परा का भी पूर्ण आभास प्राप्त होता है। अतः देव-परम्परा की इस मिश्रण-परम्परा से ही आगे की अति विकसित देव-परम्परा प्रतिष्ठित हुई। आपस्तम्ब गृ० सूत्र की देवनामावली में ईशान, मिढुषी तथा जयन्त का सकेत है। अतः डा० बनर्जी (डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० ८६) का एतद्विषयक आकृत बडा ही मार्मिक है। उन्होने ईशान से शिव, मीढुषी से मदिरा तथा जयन्त से जयन्त का बोध होना माना है। हिरण्यकेशी गृ० सूत्र (२–३–८) मे उल्लिखित "शलगव याग' मे मीढुषी के रुद्रीय सम्बन्ध से उसको रुद्र-पत्नी मानना (क्योकि शिव के विभिन्न नामों मे मीढ्वान् भी एक नाम है) ठीक ही है। मदिरा का तात्पर्य भगवती दुर्गा से है (दुर्गा-अम्बिका के अनेक नामो मे मदिरा भी एक है)। कौटिल्य के द्वितीय निर्वचन से उस वास्तु-शास्त्रीय परम्परा का परिचय मिलता है जिसमे द्वारो की शाखाओं (डोर-फ्रेम्स) पर प्रतिमाओ का चित्रण विहित है। यहाँ पर राजहर्म्य के द्वारों पर देवी-प्रतिमाओं एव वेदिकाओ के चित्रों के सम्बन्ध मे उल्लेख है। तृतीय निर्वचन मे देव-प्रतिमाओ के साथ-साथ देव-ध्वजो का भी निर्देश है।

आगे के हमारे प्राचीन साहित्य, जैसे रामायण एव महाभारत आदि में तो देव-प्रतिमा एव उसकी पूजा के शतश. सकेत भरे पडे है। अतः उन सबका यहाँ पर अव-तारण अनावश्यक है। हमने प्राचीन साहित्य के उन्ही अगों पर दृष्टिपात किया है जो ईसा से काफी प्राचीन है। प्रतिमा-पूजा के इस साहित्यिक प्रामाण्य का पोषण प्राचीन पुरातत्त्वीय सामग्री से भी होता है जिससे इस संस्था की प्राचीनता पर दृढ प्रामाण्य हस्तगत होता है।

स्थापत्य एवं कलाकृतियाँ—पुरातत्त्वीय जिस सामग्री का ऊपर सकेत किया गया है उसमे स्थापत्य एव कला, अभिलेख, सिक्को एव मुद्राओ का विशेष आधार यहाँ पर अभिप्रेत है। क्रमश. इसकी थोड़ी-सी समीक्षा यहाँ होगी।

स्थापत्य एव कलाकृतियो के निदर्शन पूर्व-ऐतिहासिक-काल के भी पूर्ण मात्रा मे विद्यमान है। सिन्धु घाटी की अति पुरातन सभ्यता को विद्वानो ने पूर्व-ऐतिहासिक संज्ञा प्रदान की है। मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा के प्राचीन सांस्कृतिक भग्नावशेषो की खुदाई मे जिन विभिन्न पुरातत्त्वान्वेषण-प्रेरक पदार्थों (आब्जेक्ट्स) की प्राप्ति हुई है उनमे सचित्र मुद्राएँ (मनुष्य एव पशु-प्रतिमाएँ जिन पर चित्रित है), विविध खिलौने (जो

तत्कालीन मृत्तिका कला-वैभव के परिचायक हैं), बरतन, भाण्ड आदि नाना चित्रों से चित्रित एवं रागरंजित कलाकृतियों के साथ-साथ पाषाण-प्रतिमाएँ विशेष उल्लेखनीय है। सर जान मार्शल महोदय की इस विषय की अन्वेषण-समीक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण है। लिंगाकृति-प्रतीक पदार्थों के बहुत निदर्शनों से एव वैदिक-वाङ्मय मे सूचित शिश्नदेवो अर्थात् लिंगप्रतिमा-पूजक—इस देश के मूल निवासियो के संकेत से, विद्वानो (मार्शल, चन्दा आदि) का यह आकूत नितान्त समीचीन एवं संगत ही है कि ये प्रतीक तत्कालीन पूजा-परम्परा (लिंगोपासना) के परिचायक हैं। अथच आगे उत्तर-पीठिका मे प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्तो की समीक्षा के अवसर पर प्रतिमा-मुद्राओ पर प्रविवेचन के लिए एक अध्याय की अवतारणा की जायगी। हिन्दू, बौद्ध, जैन—सभी प्रतिमाओ मे मुद्राओ का योग प्रतिमा-विज्ञान का एक अनिवार्य अंग है।

प्रतिमामुद्राओं मे वरद, व्याख्यान एव ज्ञान मुद्राओ के समान ही योग-मुद्रा, एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा है। इस योग-मुद्रा मे आसीन योगी-प्रतिमाएँ विशेष निदर्शनीय है। त्रि-शीर्ष, सश्रृंग एवं नाना पशुसमाकीर्ण तथा योगासन (कूर्मासन) पर आसीन योगी-प्रतिमा की प्राप्ति से विद्वानो ने उसे शिव-पशुपति की पूर्वज (प्रोटोटाइप) माना है। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी प्रतिमाएँ (माता पार्वती) एव मुद्राएँ उपलब्ध हुई है। इन चित्रों मे प्राय सभी मुद्राओ के अविकल दर्शन होते हैं। अतएव आर० पी० चन्दा का यह निष्कर्ष कि हड़प्पा और मोहन्जोदडो की खुदाई ने यह पूर्ण प्रामाण्य प्रदान किया है कि योगमुद्राओ मे मानव एव देव-प्रतिमाओ की (आसन एव स्थानक दोनो रूपो मे) उस सुदूर अतीत युग मे पूजा विद्यमान थी, लेखक की दृष्टि मे बड़ा ही तथ्योद्-घाटक है।

मार्शल एवं मेके ने इस पूर्व-ऐतिहासिक काल में प्रतीकोपासना (जिसमे लिंग-पूजा, पशुपति शिव-पूजा, योगी-पूजा आदि पूजा-परम्पराओ के पूर्ण आभास प्राप्त होते है) पर प्रगल्भ एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। उनकी गवेषणाओं का साराश यही है कि उस अतीत मे भी यह परम्परा अपने बहुमुखी विकास मे विद्यमान थी। अस्तु, सिन्धु-सभ्यता की जो रूपरेखा इस विषय की समीक्षा से विद्वानो ने खोज निकाली है वैसी ही रूपरेखा अन्य नादीय सभ्यताओ (जैसे टिगरस की यूफ्रेट-घाटी की सभ्यता) मे भी प्राप्त होती है। अत. प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-पूजा सम्पूर्ण मानव-जाति की एक प्रकार से अति पुरातन संस्था कही जा सकती है।

सिन्धु-सभ्यता के उस प्राचीन युग के अनन्तर प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना के स्थापत्य निदर्शनो एव कलाकृतियो की परम्परा विच्छिन्न नहीं मानी जा सकती

है। परन्तु ईसवीय पूर्व पाँच हजार वर्ष प्राचीन इस सभ्यता के ऐसे निदर्शनों की अविच्छिन्न परम्परा के प्रकाशक निदर्शन भूमि के अन्धकारावर्तों मे ही छिपे हैं, उनकी प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न ही नही किये गये हैं और जो किये गये है वे सफल भी नही हुए हैं। अत लगभग चार हजार वर्ष का यह अन्धकार-युग प्रतिमा-पूजा एव प्रतीकोपासना की इस जन-धर्म-परम्परा को तिमिरावृत किये हुए हैं। जिन प्रकाश-किरणो ने इस परम्परा को जीवित बनाये रखा है उनका इस सुदीर्घ-कालीन आर्य साहित्य के सन्दर्भों मे अनुमान लगाया ही जा चुका है। अस्तु, पूर्व-ऐतिहासिक काल के स्थापत्यनिदर्शन एव कलाकृतियो के इस अति सक्षिप्त निर्देश के उपरान्त अब ऐतिहासिक काल की एतद्विषयक सामग्री का प्रतिमा-पूजा विषयक प्रामाण्य प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रामाण्य को विस्तार भय से हम सूची रूप मे ही प्रस्तुत करेगे।

ऐतिहासिक काल के स्थापत्य एव कला के प्राचीन निदर्शनो मे लौरियानन्दनगढ में स्थित वैदिक-श्मशान-सूचक टीले की जो खुदाई टी० ब्लाक महाशय ने की है उसमे स्वर्ण-पत्र पर एक स्त्री-प्रतिमा का निदर्शन प्राप्त हुआ है। के० पी० जायसवाल ने मौर्य कालीन एक स्वर्ण-पत्र पाया है जिस पर दो स्थानक चित्रो की रचना है, उनको के० पी० जायसवाल ने हर एव पार्वती माना है। अशोकस्तम्भ के चित्रो एव अशोक के शिला-लेखो से भी तत्कालीन प्रतिमा-पूजा अथवा प्रतीकोपासना का अनुमान लगाया जाता है। अशोक-स्तम्भो के शिला-लेखो से प्रतिमा-पूजा एवं प्रतीकोपासना का सकेत प्राप्त होता है। डा० जितेन्द्रनाथ बनर्जी महोदय ने अपने ग्रन्थ में (दे० डेवलप्मेट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० १०६) मौर्य कालीन अथवा शुग कालीन जिन दो स्वच्छन्द मूर्तियो का निदर्शन प्रस्तुत किया है उससे तो तत्कालीन देव-प्रतिमापूजा के प्रामाण्य पर विचिकित्सा नही की जा सकती है। कतिपय जिन यक्ष-यक्षिणी महाप्रतिमाओं की, बेसनगर, दीदरगज तथा पद पावय के प्राचीन स्थानो मे प्राप्ति हुई है उनको पुरातत्त्वविदो ने ही ईसकी पूर्व-कृतियाँ माना है। उन पर जो शिला-लेख खुदे है उनमे मणिभद्र नामक यक्ष के उल्लेख से एवं मणिभद्र यक्ष की पूजा-गाथा का सकीर्तन बौद्ध (सयुक्त-निकाय १-१०-४) एव जैन (सूर्यप्रज्ञप्ति) धर्म-ग्रन्थो मे होने के कारण तत्कालीन प्रतिमा-पूजा-परम्परा पर इन स्थापत्य निदर्शनो से दो रायें नही हो सकती। परखम-स्थापत्य (परखम स्कल्पचर) को ऐतिहासिको ने यक्षी-प्रतिमा (यक्षी लायावा) माना है और इसको मौर्यकालीन कृति ठहराया है। इसकी वेदी पर कलाकार कुणिक के नामोल्लेख से तत्कालीन यक्ष-पूजा प्रचलित थी इसमे किसको सन्देह हो सकता है? कुमारस्वामी ने इसी काल की एक और यक्ष-मूर्ति का निर्देश किया है जो देवरिया मे प्राप्त हुई है।

भरहुत की कला-कृतियो मे यक्ष-प्रतिमाओ के प्राचुर्य को देखकर भी उपर्युक्त निष्कर्ष दृढ होता है। यक्षो की पूजा-परम्परा नाग-पूजा-परम्परा के समान सम्भवत: अनार्य-संस्था ही मानी जा सकती है। अनार्य नाग-पूजा के नाना घटको का उत्तरवर्ती आर्य-पूजा-परम्परा की वैष्णव शाखा मे जो सम्मिश्रण दीख पडता है, उससे यह आकूत समझ मे आ सकता है। कृष्ण-लीला-मूर्तियो मे कालियदमन, धेनुक-दमन, अरिष्ट-सहार, केशी-विनाश आदि चित्रण अनार्य-देवता-परम्परा के ही प्रतीक है। अथच कृष्ण के भाई बलराम की शेषावतार-कल्पना तथा उनका स्थापत्य मे अर्ध-नाग तथा अर्ध-मानुष रूप मे चित्रण भी इस तथ्य का निदर्शक है। 'प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव' शीर्षक अगले स्तम्भ मे इस विषय की मीमासा की जायगी। इन प्राचीन स्मारकों के सम्बन्ध मे एक विशेष तथ्य यह निदर्शनीय है कि ईसवीय-पूर्व कलाकृतियो मे जिन व्यन्तर देवो (यक्षो, नागो, सिद्धो, किन्नरो) के प्रतिमा-चित्रण प्राप्त होते है उनमे आर्यो के प्रसिद्ध वैदिक अथवा पौराणिक देवो का न तो विशेष प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है और न पारम्पर्य रूपोदभावना। जहाँ तक बौद्ध स्थापत्य-निदर्शनो की गाथा है उनमे यद्यपि यत्र-तत्र शक्र और ब्रह्मा सहायक देवो के रूप मे परिकल्पित एव चित्रित है तथापि प्राधान्य अनार्य देवो का है, जिन्हे प्राचीन जैन लेखक व्यन्तर-देवो (मध्यस्थ देवो) के नाम से पुकारते है। अत यह निष्कर्ष असगत न होगा कि यद्यपि वैदिक आर्य-देवो से पौराणिक देवो का साक्षात् उदय हो रहा था, वहाँ अनार्य देवो की परम्परा का भी उत्तर वैदिककाल मे कम प्राबल्य नही था। प्राचीन स्मारको मे कतिपय देव-ध्वज-स्तम्भों की प्राप्ति हुई है। देव-ध्वज-स्तम्भो की निर्माण-परम्परा वैदिक यज्ञ के यूपस्तम्भो से सम्भवत उदय हुई है। प्रत्येक प्रमुख यज्ञ मे यूपस्तम्भ का निर्माण उस यज्ञ का स्मारक मात्र ही न था, वरन् यजमान की कीर्ति का वह चिह्न भी था। अत कालान्तर पाकर जब देवतायतन-निर्माण एव देव-पूजा-परम्परा पनपी तो देवतायतन-विशेष मे उस देव-विशेष की ध्वज-स्तम्भ-स्थापना भी प्रचलित हो गयी। समरागण-सूत्रधार मे 'इन्द्र-ध्वज-निरूपण' पर एक बहुत बडा अध्याय है। वराहमिहिर की बृहत्सहिता मे भी 'इन्द्रध्वज-लक्षण' नामक अध्याय है। अत प्राचीन स्थापत्य मे देवस्तम्भ-निर्माण एक शास्त्रीय परम्परा थी जो अति प्राचीन है। भारतीय स्मारको मे बेसनगर का गरुड़-स्तम्भ अति प्राचीन है। वही पर वासुदेव-प्रतिमाओ मे सकर्षण एव प्रद्युम्न के ताल-ध्वज एव मकर-ध्वज भी इसी कोटि मे आते हैं। बेसनगर मे अनिरुद्ध की भी एक मढिया प्राप्त हुई है जिसके 'ऋष्यध्वज' की भी यही परम्परा है। ग्वालियर सभाग के पयावा नामक स्थान वाला ईसवीय-पूर्व प्रथम शतक का पाषाण-स्तम्भ इस तथ्य का समर्थन करता है कि सकर्षण वासुदेव का ध्वज ताल-ध्वज था। बेसनगर की ईसवीय पूर्व तृतीय

शतक के वट-स्तम्भ पर प्राप्त निधि-मुद्राओ से उसकी कुबेर-वैश्रवण-ध्वज की कल्पना ठीक ही है। इसी प्रकार कानपुर जिले की डेरापुर तहसील मे स्थित लालभगत नामक स्थान में जो प्राचीन रक्त प्रस्तर-खण्ड प्राप्त हुए है उनमे 'बर्हि-केतु' खुदा हुआ है। बर्ही (मयूर) का ध्वज स्कन्द कार्तिकेय के लिए शास्त्रो ने प्रतिपादित किया है। अत. ईसवीय पूर्व द्वितीय शतक के बहुत पहले ही कार्तिकेय-पूजा-परम्परा पूर्णरूप से प्रचलित थी। राव (गोपीनाथजी) महाशय ने (दे० हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ६—७) लिग-पूजा के स्मारक-निबन्धन गुडीमल्लम में प्राप्त लिग-प्रतिमा (जिसे उन्होने भरहुत-स्थापत्य ईसवीय-पूर्व द्वितीय शतक का ही समकालीन माना है) से यही सुदृढ निष्कर्ष निकाला है कि ईसवीय पूर्व कई शताब्दियो पूर्व इस देश में प्रतिमा-पूजा पूर्णरूप से प्रचलित थी। बेसनगरीय गरुड-स्तम्भ के वासुदेव-प्रतिमा-पूजा के प्रमाण पर सकेत किया ही जा चुका है। अत ईसा से कई शताब्दियो पूर्व शिव-पूजा एव विष्णु-पूजा (पौराणिक धर्म की शैव एव वैष्णव परम्पराओ) की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

शिलालेख—स्थापत्य एव कलाकृतियो के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब शिला-लेखो से भी प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता का प्रामाण्य प्रस्तुत किया जाता है। ईसवीय सन् के प्रारम्भिक एव उत्तरकालीन प्रमाणो से तत्कालीन प्रतिमा-पूजा की पूर्ण प्रतिष्ठा पर अब किसी को सन्देह नही है। ईसवीय-पूर्व प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता मे जिन स्थापत्य एव कलाकृतियो के साक्ष्य का सकेत ऊपर किया गया है उनका बहुसख्यक ईसवीय-पूर्वकालीन शिला-लेखो से भी पूर्ण पोषण होता है। शिला-लेखो मे विश्वविश्रुत अशोक के शिला-लेखो को कौन नही जानता है? उन शिला-लेखो के मर्मज्ञ विद्वानो से यह छिपा नही है कि उस सुदूर अतीत में अशोक के ये शिला-लेख तत्कालीन जन-धर्म-विश्वास का आभास भी देते है (यद्यपि उनका प्रमुख उद्देश्य बौद्ध धर्म की शिक्षाओ का प्रचार था)। अशोक के चतुर्थ प्रस्तर-शिला-लेखों के प्रथम भाग में 'दिव्यानि रूपानि' शब्द आया है। इसका सरलार्थ तो देव-प्रतिमा ही हो सकता है। रूप, वेर, तन, विग्रह, बिम्ब, प्रतिमा, मूर्ति आदि शब्द पर्यायवाची है। डा० जितेन्द्रनाथ बनर्जी आदि पुराविद् इस सन्दर्भ (अर्थात् दिव्यानि रूपानि) का एकमात्र शिक्षात्मक महत्त्व बताते है, देवतायतन मे प्रतिमा-पूजा का उनमे आभास नही। तथापि उनके इस निष्कर्ष को सिद्धान्त-पक्ष नही माना जा सकता। साहित्यिक प्रामाण्य की पूर्व-प्रस्तावना मे प्रतिमा-पूजा की अति प्राचीनता पर प्रकाश डाला जा चुका है। अत. ईसवीय पूर्व तृतीय शतक (अशोक-काल) मे जन-धर्म की यह सुदृढ संस्था थी—इसमे विचिकित्सा समीचीन नही।

प्रतिमा-पूजा के ईसवीय-पूर्व शिलालेखीय प्रामाण्य मे हाथीवाडा, नगरी, बेसनगर, मोरावेल, कुषान, मथुरा (ब्राह्मी) शिला-लेख विशेष उल्लेखनीय है। इनमें हाथीवाड़ा,

उदयपुर (राजस्थान) के घोषण्डी नामक ग्राम मे स्थित एक पक्की वापी (बावली) की भित्ति पर अंकित लेख में 'पूजा-शिला-प्राकार' की व्याख्या में विद्वानो मे मतभेद है। शिलार्चा का उलटा पूजा-शिला है। शिलार्चा प्राचीन वास्तु-शास्त्रीय परम्परा मे प्रतिमा का बोधक है। प्राकार को घेरा कह सकते है। वैसे तो प्राकार का वास्तु-शास्त्रीय (मानसार) अर्थ राज-प्रासाद का एक आगन है तथापि यहाँ पर हमारे मत मे मण्डप अर्थ है, भले ही वह मण्डप 'गूढ' या 'अगूढ' (दे० लेखक का 'प्रासाद-वास्तु') न होकर आकाश-मण्डप ही हो, जहाँ पर इन दोनो देवो की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयी थी। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि उस प्राकार के देवतायतन की छत का निर्माण पाषाण-पट्टिकाओ से न होकर अचिरात् नाशोन्मुख काष्ठ-पट्टिकाओ से सम्पन्न हुआ हो अथवा पक्की ईटो की भी छत इस दीर्घकालीन मर्यादा का उल्लघन न कर सकी हो। मोरावेल इन्सक्रिप्शन तो और भी महत्वपूर्ण है। इस शिला-लेख मे प्रतिमा तथा अर्चा इन दो शब्दो का पच वृष्णि-महावीरो की देव-प्रतिमाओ के अर्थ मे प्रयोग हुआ है। ये पाँच वृष्णि (यादव) महावीर कौन थे ? बलदेव, अक्रूर, अनाधृष्ट, सारण तथा विदूरथ--इन पाँच वृष्णिवीरो का सकेत लूडर महाशय के मत मे सगत होता है। चन्दा महाशय इस शिला-लेख मे वृष्णि के स्थान पर वृष्णे. पढकर इन पाँच महावीरो के साथ-साथ यादव-चन्द्र भगवान् कृष्णचन्द्र (वासुदेव) की प्रतिमा का भी सकेत बताते है। इसकी तिथि लूडर आदि पुराविदो के मत में कुषान-काल से भी प्राचीनतर मानी जाती है। यह शिला-लेख पाषाणनिर्मित देवतायतन के भग्नावशेष मे प्राप्त हुआ है, अत निर्विवाद है कि उस काल मे प्रतिमा-पूजा का मुकुट-मणि भागवत-धर्म अपने भाग्य के उत्तुग शिखर पर आसीन था।

सिक्के---भारतीय एव विदेशीय पुरातत्त्व-अन्वेषको के द्वारा अन्विष्ट विभिन्न-कालीन सिक्के देश एव विदेश के विभिन्न स्मारक-गृहो (म्युजियम्स) मे एकत्रित है, जो भारतीय-विज्ञान (इन्डोलोजी) की अनुपम निधि है। इन मे बहुत से ऐसे पुरातन सिक्के है जिनसे प्राचीन भारतीयो की उपासना की प्रतीक-परम्परा (एनीकोनिक ट्रैडीशन) तथा प्रतिमा-परम्परा (आइकोनिक ट्रैडीशन) पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इन सिक्को पर जो प्रतीक अथवा प्रतिमा-चित्र मुद्रित है उनमे प्रायः सभी देवो एवं देवियो के दर्शन होते है। शिव एव वासुदेव-विष्णु की तो प्रधानता है ही, लक्ष्मी, सूर्य, सुब्रह्मण्य, स्कन्द, कुमार, विशाख, महासेन, इन्द्र, अग्नि आदि पूज्य देवो की भी प्रतिमाएँ अकित है जिनसे पौराणिक बहुदेववाद की परम्परा का पूर्ण आभास तो प्राप्त ही होता है, साथ ही साथ प्रतिमा-पूजा का एक ऐतिहासिक प्रामाण्य भी हस्तगत होता है।

सिक्कों की इस विपुल सामग्री का यहाँ पर एक दिग्दर्शन ही अभीष्ट है। मत-मतान्तर, तर्क-वितर्क के वितण्डावाद मे पडना तो एक मुद्रा-विशारद का ही विषय बन सकता है। एक तथ्य की ओर यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि सिक्को के प्रतीको अथवा प्रतिमाओ से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस समय के सिक्के मिलते है उस समय प्रतिमा-विज्ञान अथवा प्रतिमा-निर्माण-कला अवश्य विकसित थी अन्यथा चित्रो की यह सजीवता नितान्त असम्भव थी। इस कथन की सत्यता का मूल्याकन तो इसी मे हो जाता है कि कुशान मुद्राकारो ने महाराज कनिष्क की मुद्राओं पर जिस बौद्ध प्रतिमा का चित्रण किया है वह गान्धार-स्थापत्य मे शाक्यमुनि (बुद्ध) की प्रतिमा से बिलकुल मिलती-जुलती है। प्रसिद्ध पुरातत्व-विद् कुमारस्वामी का यह कथन कितना सगत एव सत्य है?

" They (ie, coins—the writer) represent a defenite early Indian style, amounting to an explicit iconography".

'अर्थात् इन मुद्राओ मे प्राचीन प्रतिमा-विज्ञान की रूपरेखा निहित है। इसके अतिरिक्त यह भी निष्कर्ष सगत ही है कि प्रतिमा-मुद्राओं के अतिरिक्त प्रतीक मुद्राओं पर अकित अथवा चित्रित पर्वत, पशु, पक्षि, वृक्ष, कमल, चक्र, दण्ड, घट आदि प्रतीकों की गाथा भी देवगाथा ही है। आगे प्रतिमा-लक्षण के प्रसग पर विभिन्न देवों एव देवियों के प्रतिमा-लक्षणो मे विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ—वाहन, आसन, आयुध, वस्त्र, आभूषण, आदि पर जो सविस्तार चर्चा होगी उन सबका यही मर्म है—देव-विशेष के मुद्रा-विशेष उस देव की पूरी कहानी कहते है।

लक्ष्मी—भारतीय प्राचीन सिक्को मे (विशाखदेव, शिवदत्त, ब्रह्ममित्र, दृढमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, पुरुषदत्त, उत्तमदत्त, बलभूति, रामदत्त, कामदत्त, हगमस, राजकुल, सोडष, भद्रघोष, ईसवी पूर्व तृतीय शताब्दी से लेकर प्रथम शताब्दी तक के कौशाम्बी, अयोध्या, उज्जयिनी, मथुरा के राजा तथा क्षत्रकों के सिक्को मे) जिस प्रधान देवता के विशेष चित्रण प्राप्त होते है वह गज-लक्ष्मी अथवा सामान्य लक्ष्मी के है। भारतीय यूनानी–राजा पन्तलेन तथा अगथोक्लीज के सिक्को पर चित्रित स्त्री-प्रतिमा को कुमारस्वामी ने 'श्री लक्ष्मी' सिद्ध किया है। भारतीय-सीथियन राजवंश की एक अनुपम स्वर्ण-मुद्रा मिली है। उसपर चित्रित स्त्री-प्रतिमा को गार्डनर ने नगर-देवता पुष्कलावती माना है, परन्तु वास्तव मे वह लक्ष्मी-प्रतिमा ही है।

यद्यपि शिव तथा विष्णु (वासुदेव) इन दो प्रधान देवो की प्रतिमाओ की न्यूनता नहीं, परन्तु लक्ष्मी-प्रतिमा के बाहुल्य से यह अनुमान ठीक ही है कि धन, ऐश्वर्य, राज-सत्ता, वैभव एव विपुलता की प्रतीक एव अधिष्ठातृ देवी 'लक्ष्मी' की पौराणिक परम्परा

का उस दूर अतीत में न केवल भारतीयों में ही वरन् विदेशियों में भी पूर्ण ज्ञान एवं प्रचार था ।

शिव—प्राचीन सिक्कों पर शिव की प्रतीक-मुद्राएँ एवं प्रतिमा-मुद्राएँ दोनों ही प्राप्त होती हैं । प्रतीक-मुद्राओं में लिंग-प्रतीक की प्राचीनता अधिक है । लिंग-पूजा इस देश की अति प्राचीन पूजा-परम्परा है जो पूर्वैतिहासिक तथा वैदिक एवं उत्तर वैदिक सभी कालों में विद्यमान थी । अतः लिंग-प्रतीकों का विशेष संकेत न करके शिव की प्रतिमा-मुद्राओं पर ही यहाँ विशेष अभिनिवेश है । डा० बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ में (दे० डेव्लप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० १२५–३०) शिव-पूजा से सम्बन्धित प्रतीक-मुद्राओं की विस्तृत गवेषणा की है । जो वहीं द्रष्टव्य है । इन प्रतीकों में शिव की विभिन्न मूर्तियों के उपलाक्षणिक प्रतीकों से शशाङ्कशेखर, रुद्र, शिव आदि अनुमेय हैं । उज्जैन एवं उज्जैन के निकटवर्ती प्रदेशों में प्राप्त प्राचीन सिक्कों पर शिव-प्रतिमा के प्रथम दर्शन होते हैं । प्रथम वर्ग में शिव का साहचर्य दण्ड से है जो सम्भवतः शिव को एक जटिल ब्रह्मचारी के रूप में परिकल्पित किया गया है (दे० कु० स० ५ वाँ सर्ग) । दूसरे वर्ग के बहुसंख्यक सिक्कों पर जो शिव-चित्र देखने को मिलता है उसमें वृषभ का भी साहचर्य है और वह वृषभ शिव-चित्र की ओर टकटकी लगाये हुए दिखाया गया है । मत्स्यपुराण के शिव-प्रतिमा-प्रवचन में वृषभ की प्रतिमा के लिए "देववीक्षणतत्पर"—ऐसा आदेश है । अतः इन मुद्राओं में पौराणिक-परम्परा का पूर्ण आभास प्राप्त होता है । तीसरे वर्ग के कतिपय सिक्कों पर शिव के तीन शिर दिखाये गये हैं जो कुशान-मुद्राओं पर प्राप्त शिव-प्रतिमाओं से सानुगत्य रखते हैं । इसके अतिरिक्त धरघोष नामक औदम्बरी राजा की ईसवीय पूर्व द्वितीय तथा प्रथम शतक की रजत-मुद्राओं पर जो प्रतिमा प्राप्त होती है उसको भी शिव-प्रतिमा ही मानना ठीक है क्योंकि इस प्रतिमा के साथ जो दो मुद्राएँ—त्रिशूल-कुठार एवं स्थलवृक्ष—हैं उनसे इसको विश्वमित्र (विश्वामित्र) न मानकर शिव ही मानना ठीक है—ऐसी डा० बैनर्जी की समीक्षा है—(दे० डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पत्र १३१) । औदम्बरी राजाओं—शिवदास, रुद्रदास तथा धरघोष—सभी के सिक्कों पर (रजत अथवा ताम्र) मुद्राओं के पृष्ठ पर मण्डपाकृति शिवालय का भी अनिवार्य साहचर्य है जिससे शिव-प्रतिमा-पूजा-परम्परा के साथ-साथ शिवालय-निर्माण की परम्परा पर भी प्रकाश पड़ता है । आगे "प्रतिमा-विज्ञान एवं प्रासाद-वास्तु" नामक स्तम्भ में लेखक की इस धारणा का, कि दोनों की परम्पराएँ समानान्तर हैं—विशेष रूप से समर्थन किया जायगा । जटिल-ब्रह्मचारी (दण्ड के स्थान पर त्रिशूल सहित) शिव-मुद्रा का जो चित्रण ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक के ताम्र सिक्कों पर है उसमें भी यह 'शिवाकृति' पोषित होती है। 'छत्रेश्वर' शिव-मुद्रा का गुडीमल्लम के शिवलिंग

से समर्थन होता है। अन्य प्राचीन सिक्कों पर शिव-मुद्राओं का संकीर्तन हमारे 'प्रतिमा-विज्ञान' ५७-५८ में द्रष्टव्य है।

वासुदेव (विष्णु)— प्राचीन सिक्कों पर शैव-प्रतिमाओं की अपेक्षा वैष्णव-प्रतिमाएँ अपेक्षाकृत न्यून हैं। इस सम्बन्ध में डा० बैनर्जी (दे० डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० १४१) का यह कथन जहाँ ईसवी पूर्व भागवत-देवतायतनों की सूचना देने वाले कतिपय शिला-लेख तो अवश्य मिलते हैं, वहाँ सिक्कों पर तत्कालीन वासुदेव-विष्णु-प्रतिमाओं की प्राप्ति न के बराबर है। इसके विपरीत जहाँ शैव-प्रतिमाओं की सूचक सामग्री में सिक्कों की पर्याप्त प्रचुरता है वहाँ शैव-देवतायतनों की सूचना देनेवाले शिला-लेख अति स्वल्प हैं—सर्वथा संगत है। यद्यपि प्राचीन सिक्कों पर वैष्णव-मुद्राएँ अति स्वल्प हैं, परन्तु वैष्णव-प्रतीकों से मुद्रित सिक्कों की इतनी न्यूनता नहीं है। इन सिक्कों पर वैष्णव-लाञ्छन—चक्र, गरुड, मीन (मकर), ताल आदि की मुद्राएँ अंकित होने से उनको तत्कालीन विष्णु-पूजा की पोषक-सामग्री में प्रामाण्य के रूप में उदधृत किया ही जा सकता है। ऐसे सिक्कों में वृष्णि राजन्यगण के रजत-सिक्के (दे० सुदर्शनचक्र), कौलूत राजा वीरयशस के सिक्के तथा अच्युत राजा के ताम्र सिक्के विशेष निदर्शनीय हैं। वासुदेव-विष्णु के समान सूर्य एवं दुर्गा के भी प्रतिमा-चित्रण की अपेक्षा प्रतीक-चित्रण ही प्रमुख है। एजेज के सिक्के पर जो स्त्री-प्रतिमा है उसका सहचर पशु सिंह है, अतः दुर्गा सिंहवाहिनी की पौराणिक परम्परा का प्रभाव इस मुद्रा में परिलक्षित है। सूर्य की एक प्रतीक मुद्रा चक्र एवं कमल से (दे० ईरान-मुद्रा तथा सूर्यमित्र, भानुमित्र (पांचाल-मित्रवर्ग) माण्डलिक राजाओं के सिक्के) अनुमेय है।

स्कन्द कार्तिकेय—यद्यपि पंचायतन-पूजा-परम्परा में शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य एवं दुर्गा का ही विशेष प्राधान्य प्रतिपादित है तथा परम्परा में प्रचार भी। परन्तु यह निर्विवाद है कि इन्हीं देवों के समान ही स्कन्द कार्तिकेय की पूजा एवं प्रतिष्ठा बहुत प्राचीन है तथा इस देश के बहुसंख्यक वासी स्कन्द कार्तिकेय को अपना इष्टदेव समझते थे। स्कन्द किन्हीं-किन्हीं प्राचीन राजाओं के भी आराध्य देव रहे हैं जिनमें कुमार गुप्त प्रथम विशेष उल्लेखनीय हैं। माण्डलिक राजाओं में यौधेयों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है जो स्कन्दोपासक थे। ईसवीयोत्तर प्रथम शतक कालीन अयोध्यानरेश देवमित्र के ताम्र-सिक्के पर जो स्तम्भासीन 'मयूर' लाञ्छन है, उसे कार्तिकेय का प्रतीक (सिम्बल) मानना चाहिए। विजयमित्र के कतिपय सिक्कों की भी यही मुद्रा है। यहाँ पर यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ईसवीयोत्तर द्वितीय शतक के एक यौधेय-सिक्के (रजत) पर जो प्रतिमा चित्रित है, वह 'षडानन' है। वह

इस तथ्य का समर्थक है कि उस काल मे स्कन्द कार्तिकेय की पूजा ही पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नही थी वरन् इस देश के मूल निवासियों (विशेषकर राजवश) का वह इष्टदेव भी था जिसके नाम से राजा लोग अपने सिक्के चलाते थे। रोहितक (आधुनिक रोहतक जहाँ पर साहनी महाशय को बहुसंख्यक यौधेय सिक्के प्राप्त हुए है।) आयुधजीवी (दे० महाभारत तृ० ३, २३, ४५) यौधेयों का देश था। वह कार्तिकेय का कृपा-पात्र प्रदेश था और वहाँ पर कार्तिकेय-मन्दिर भी अधिकता से निर्मित हुए थे (स्वामी महासेन का मन्दिर)। हुविष्क ही एक ऐसा विदेशी शासक था जिसने कार्तिकेय की मुद्राओं को उसके विभिन्न नामो से—स्कन्द, कुमार, विशाख, तथा महासेन—अपने सिक्को के उलटी तरफ अकित कराया था। प्राचीन सिक्को पर कार्तिकेय की प्रतिमा के सम्बन्ध में एक रोचक विशेषता यह है कि इस देव की बहुसख्यक मुद्राओ पर जो इसके बहुविध चित्रण (दे० यौधेयो के सिक्के तथा हुविष्क के सिक्के) हुए हैं उनमे इस देव की चलती-फिरती प्रतिमा-घटना (आइक्नोग्राफी) दिखायी पडती है। इससे यह पता चलता है कि बृहत्सहिता, पुराण तथा शिल्प-शास्त्रो मे कार्तिकेय-लक्षण के जो लाछन—बर्हिकेतु, शक्ति-धर, आदि—प्रतिपादित है, उन सबका स्थापत्य, कला, सिक्के एव मुद्राओ सभी मे समन्वय दिखायी पडता है।

इसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि, यक्ष-यक्षिणी, नाग-नागिनी के चित्रण भी पाये जाते हैं जिनके विशेष विवरण डा० बैनर्जी के ग्रन्थ मे तथा हमारे "प्रतिमा-विज्ञान" पृ० ६०-६२ मे द्रष्टव्य है।

मुद्राएँ (सील)—देव-पूजा एव प्रतिमा-निर्माण की परम्पराओ की पुरातत्त्वीय सामग्री मे सिक्को के ही समान (अथवा उससे भी बढकर) मुद्राओ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन मुद्राओ मे न केवल प्राचीन कला का वास्तु-वैभव, स्थापत्य-कौशल एव चित्र-चित्रण की ही सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है वरन् इनके द्वारा प्राचीन धार्मिक-परम्पराओ, उपासना, उपास्य, उपासक आदि की रूपरेखा का सुन्दर एव सुदृढ आभास भी प्राप्त होता है। मुद्राओ के सम्बन्ध मे एक अति महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री यह है कि जिसको हम पूर्वैतिहासिक काल (अथवा वैदिक-काल-पूर्व सिन्धु-सभ्यता अथवा नाद्य-सभ्यता) कहते है उस सुदूर अतीत मे इस देश के मूल-निवासियो की कैसी सभ्यता एव सस्कृति थी एव कैसे धार्मिक विश्वास तथा उपासना के प्रकार थे, कैसी वेष-भूषा थी और कैसे उनके परिधान, आभूषण-वसन और मनोरजन के साधन थे—इन सभी पर एक अत्यन्त रोचक पुरातत्त्वीय सामग्री देखने को मिलती है। इस प्रकार इस स्तम्भ मे मुद्राओ की सामग्री को हम दो भागों मे बाँट सकते हैं—पूर्वैतिहासिक एव ऐतिहासिक। पूर्वैतिहासिक सामग्री मे वे मुद्राएँ आपतित होती हैं जो मोहन्जोदडो तथा हडप्पा की खुदाई में मिली

है। ऐतिहासिक काल की मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों में भीटा, वसरा, राजघाट के प्राचीन स्थान विशेष उल्लेख्य हैं। इन स्थानों से कुशान-कालीन मुद्राओं की प्राप्ति हुई है। गुप्त-कालीन बहुमूल्यक मुद्राएँ तो सग्रहालयों के भाण्डागार की शोभा बढ़ाते हैं।

मोहन्जोदड़ो तथा हड़प्पा में पशुपति-शिव तथा उनके गण—मोहन्जोदडो की खुदाई में एक अत्यन्त रोचक मुद्रा प्राप्त हुई है जिसपर सश्रृंग त्रिशीर्ष प्रतिमा बनी है। यह प्रतिमा योगासन (कर्मासन) लगाये बैठी है। वक्षस्थल ग्रैवेयक आभूषण से मण्डित है। अध प्रदेश नग्न है। शीर्ष पर शृंग-मुकुट है। दक्षिण पार्श्व में गज और शार्दूल बैठे है, वाम पार्श्व पर गण्डक और महिष। आसन के नीचे दो मृग खड़े है। पशुपति-शिव के लिए और क्या चाहिए? यद्यपि यहाँ पर शिववाहन वृषभ नन्दी तथा शिव-आयुध त्रिशूल नही है तथापि पशु-पति शिव के विभिन्न चित्रणो में महाभारती निम्न चित्रण से पशुपति-शिव का यह मोहन्जोदडीय रूप सर्वथा सगत है —

स्वर्गादुत्तुंगममलं विषाणं यत्र शूलिनः।
स्वमात्मविहितं दृष्ट्वा मर्त्यो शिवपुरं व्रजेत्॥
(महा० वन पर्व अ० ८८,५०८)

मोहन्जोदडो मे प्राप्त मुद्राओ मे ४२० का यह चित्रण है। २२२, २३५ सख्यक मुद्राओं मे यह देव अपने अन्य रूपो में भी चित्रित है। पशुपति शिव की इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त मोहन्जोदडो में कतिपय ऐसी मुद्राएँ भी मिली है जिनपर ऐसे चित्रण (सील्स) है जो शिव-सम्बन्धी विभिन्न पौराणिक कथाओं की ओर सकेत करते है। आगे हम अभी शिव के गणो, नागो, प्रमथो, किन्नरो आदि से चित्रित मुद्राओं का निदर्शन प्रस्तुत करेंगे ही साथ ही साथ जहाँ शिव के गणो की यह गाथा है वहाँ शिव की कथाओ (जैसे दुन्दुभि दानव का दमन) का भी चित्रण देखकर खुली हुई शिव-पुराण मोहन्जोदड़ो के प्राचीनतम शिव-पीठ पर पढने को मिलती है। अत सनातन शिव को काल-विशेष अथवा देश-विशेष की सकुचित परिधियो में बाँधने वाले विद्वानो की यहाँ आँखे बिना खुले कैसे रह सकती है? पुराण शब्द का मर्म यही है कि पुराण-पुरुष के भी पूर्वज शिव की पुरानी कथा को देश-काल के दायरे में न बाँधा जावे। वत्स महाशय एक ऐसी मृण्मयी लम्बाकार प्रतिमा-मुद्रा का वर्णन करते हैं जिसके दोनो ओर धूमिल पौराणिक आख्यान चित्रित हैं। इस आख्यान मे भगवती दुर्गा के महिष-मर्दन के समान एक आख्यान-चित्रण है—विभेद स्त्री-प्रतिमा के स्थान पर पुरुष-प्रतिमा है। इसी प्रकार शिव के गणो—प्रमथ, गरुड, गन्धर्व, किन्नर, कूष्माण्ड आदि—तथा नागो के चित्रण भी दर्शनीय हैं। विस्तार-भय से उन सबकी समीक्षा यहाँ पर सकोच्य है।

शाक्तधर्म एवं देवी-प्रतिमा-चित्रण—मार्शल के मत मे यद्यपि शक्ति-पूजा का प्रत्यक्ष प्रमाण न भी मिले तथापि इन नाना स्त्री-मुद्राओं से यह निर्विचिकित्स्य है कि उस सुदूर अतीत में शक्ति-पूजा का पूर्ण प्रचार था। इस अपरोक्ष (इंडाइरेक्ट) प्रामाण्य मे मार्शल ने लिंग एवं योनि की प्रतीक-मुद्राओं के साथ-साथ बहुसंख्यक मृण्मयी स्त्री-प्रतिमाओं का उल्लेख किया है। इनमें बहुसंख्यक प्रतिमाएँ स्थानक एवं नग्न हैं। कटि पर करधनी अथवा मेखला पहने हैं, शिर सुन्दर शिरोभूषण से अलंकृत हैं। किन्ही मे वक्ष पर हार भी देखने को मिलता है। हड़प्पा में प्राप्त इसी प्रकार एक स्त्री-मुद्रा मिली है। इसमें पशुओं—शार्दूल के साहचर्य से अथच पशु-पति-रुद्रीय प्रतिमा की हस्त-मुद्राओं से मुद्रित यह प्रतिमा तत्कालीन इष्टदेवी (शक्ति, दुर्गा, गौरी, भूदेवी) के रूप मे अवश्य उपास्य थी। ऊपर स्त्री-मुद्राओं के साथ-साथ योनि एवं लिंगों का संकेत किया जा चुका है। डा० बैनर्जी ने अपने ग्रन्थ (दे० डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० १८७–८९) में इन पाषाणीय प्रतीकों से तत्कालीन शक्ति-पूजा तथा लिंग-पूजा की परम्परा के स्थापन का सफल एवं सारगर्भित अनुसन्धान किया है। तांत्रिक उपासना के बीज भी यहाँ प्रचुर प्रमाण में विद्यमान हैं। अनुसन्धान अभी पूर्ण नही हुआ है—अन्यथा मोहन्जोदड़ो तथा हड़प्पा की यह सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को आगे की पौराणिक एवं आगमिक तथा तांत्रिक पूजा-प्रणाली की विभिन्न भूमिकाओं की अविच्छिन्न पूर्वज-परम्परा ही मानना पड़ेगा।

मोहन्जोदड़ो तथा हड़प्पा की अनेक ऐसी भी मुद्राएँ प्राप्त हैं जिनसे तत्कालीन जन-आस्था मे वृक्ष-पूजा का भी प्रमुख स्थान था। वृक्ष-पूजा के दो प्रमुख प्रकार थे—वृक्ष की साक्षात् पूजा तथा वृक्ष की देवता (स्प्रिट) की पूजा। वृक्ष-चैत्यों के चित्रों से एवं स्थल-वृक्षों के चित्रों से यह निष्कर्ष निस्सन्दिग्ध है।

अस्तु, एक विशेष इंगित यहाँ पर यह अभिप्रेत है कि वैदिक देवों की अपेक्षा इन देवों एवं देवियों का पौराणिक एवं आगमिक तथा तांत्रिक देवों, देवियों एवं प्रतीकों के साथ विशेष साम्य है, इसका क्या रहस्य है? लेखक ने पूजा-परम्परा के सांस्कृतिक दृष्टिकोण के समीक्षावसर पर यह बार-बार संकेत किया है कि इस देश मे धार्मिक-आस्था की दो समानान्तर धाराएं वैदिक युग मे बह रही हैं। प्रथम, वैदिक धर्म एवं उसकी पृष्ठभूमि पर पल्लवित स्मार्त धर्म और दूसरी अवैदिक (जिसे द्राविडी कहिए, मौलिक कहिए या देशी कहिए) धार्मिक धारा जिसके तट पर बहुत देर से हम विचरण कर रहे हैं और जिसका उद्गम इसी देश की भूमि पर हुआ है। वैदिक धारा मे आर्य-परम्परा का प्राधान्य है। अवैदिक मे अनार्य-द्राविड—इस देश के मूल निवासियों की धार्मिक परम्परा का प्राबल्य है। इन दोनों के दो प्रयाग पुराण एवं आगम बने। त्रिवेणी मे तन्त्रों की 'सरस्वती' ने भी योग दिया। आर्य-गंगा एवं अनार्य-यमुना के इसी संगम

पर भारतीय धर्म (जो आर्य एव अनार्य का सम्मिश्रित स्वरूप है) का महान् अभ्युदय हुआ जो आज भी वैसा ही चला आ रहा है।

मोहन्जोदडो और हडप्पा के अतिरिक्त अन्य जिन महत्त्वपूर्ण प्राचीन स्थानो का ऊपर सकेत किया जा चुका है—उनपर प्राप्त मुद्राओ की थोडी समीक्षा के उपरान्त इस अध्याय को विस्तार भय से समाप्त करना है। मौर्य-कालीन एव शुंग-कालीन मुद्राओं का एक प्रकार से सर्वथा अभाव ही है। परन्तु गुप्तकाल की मुद्राओ की भरमार है। इस काल की मुद्राओ के प्राप्ति-स्थानों में, जैसा पूर्व ही सकेत किया जा चुका है, वसरा और भीटा विशेष महत्त्वपूर्ण है।

बसरा, भीटा तथा राजघाट मुद्राओं के चित्रण—बसरा के एक ही स्थल पर खुदाई मे ७०० से ऊपर मुद्राएँ मिली है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह स्थल मुद्रा-निर्माण-शाला अवश्य रहा होगा। ये मुद्राएँ मृत्तिका से निर्मित हैं। इन मुद्राओं पर जो चित्रचित्रित है उनमे किन्हो पर केवल उपास्यदेव का नाम (प्रतीक-सहित) ही है जैसे कुबेर का शंख-निधि। शिव की मुद्राओं मे वृक्ष-गुल्म मे स्थापित शिवलिंग (पादपेश्वर) की प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। त्रिशूल-सहित लिंग-प्रतिमा का भी चित्रण पाया गया है जिस पर उलटी तरफ 'आम्रातकेश्वर' लिखा है। आम्रातकेश्वर मत्स्य-पुराण के अनुसार अष्ट गुह्य-लिंगो में से एक है। एक दूसरी गोल मुद्रा (३६) मे केवल "नम. पशुपतये" लिखा है। बसरा की एक दूसरी मुद्रा मे जो धूमिल चित्र चित्रित है उसको डा० बैनर्जी ने (दे० डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी प० १६६–६७) 'शशाक-शेखर' शिव-प्रतिमा माना है। इसी प्रकार की रुद्रीय अनेकानेक पौराणिक परम्पराओं का समुदघाटन प्राप्त होता है। कतिपय मुद्राओ पर नन्दी का चित्र, त्रिशूल का प्रतीक, 'रुद्र-रक्षित' 'रुद्रदेवस्य' आदि उल्लेख मिलते है जिनसे यह समीक्षा समर्थित होती है। एक पंच-प्रतीक-मुद्रा पर जिन पाँच प्रतीकों—घट, वृक्ष, केन्द्रीय प्रतिमा, त्रिशूल तथा कलश-का चित्रण है, वह भी शिव-मुद्रा ही है। सील न० ७६४ की मुद्रा को डा० बैनर्जी ने बड़ी ही पुष्टि एव तर्कना से शिव की 'अर्धनारीश्वर' प्रतिमा स्थापित की है (दे० डेवलप्मेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी प० १६८-६६)। बसरा की प्राप्त मुद्राओ मे शिव-पूजा का ही प्राधान्य है। इसी प्रकार विष्णु और लक्ष्मी के चित्रण भी दर्शनीय है। भीटा के शिव, दुर्गा, विष्णु, श्री (लक्ष्मी), सूर्य तथा स्कन्द आदि के चित्रणो का विवरण प्र० वि० प० ६६-६७ मे पढ़िए।

अस्तु, इन अगणित मुद्राओ की पुरातत्वीय सामग्री भारतीय-विज्ञान की संस्कृति सभ्यता, उपासना, धर्म एव विभिन्न धार्मिक, सामाजिक परम्पराओ पर प्रकाश डालनेवाली अक्षय निधि है। डा० बैनर्जी ने अपनी समीक्षा मे इस सामग्री का बड़ा ही सुन्दर गवेषण किया है जिसमें प्रतिमा-विज्ञान का रोचक इतिहास मिलता है।

३—६. अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक

अर्चा, अर्च्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अर्च्य देवो के बिना अर्चा का कोई अर्थ नही। यह अर्चा अथवा देव-पूजा अपने विभिन्न युगो मे भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही। पूजा-परम्परा के प्रधानतया पाँच सोपान देखने को मिलते है—स्तुति, आहुति, ध्यान अथवा चिन्तन, योग एव उपचार। ऋग्वेद के समय पूजा को हम स्तुति-प्रधान ही मानेगे। यजुर्वेदादि उत्तरवैदिक (ब्राह्मण-ग्रन्थ, सूत्र-ग्रन्थ) मे पूजा आहुति-प्रधान (यज्ञ, अग्निहोत्र आदि) थी वही आरण्यको एव उपनिषदो के समय चिन्तन (ध्यान) प्रधान बन गयी। इसी ध्यान-परम्परा से दूसरा सोपान योग-प्रधान-पूजा पल्लवित हुई जो प्राय सभी दर्शनो ने मोक्ष-प्राप्ति का सामान्य साधना माना है। कालान्तर पाकर पौराणिक एव आगमिक परम्पराओ के विकास से पूजा उपचार-प्रधान (उपचार-परक) परिकल्पित हुई। इसमे भी दो रूपो के दर्शन होते है—वैयक्तिक एव सामूहिक। इसी सामूहिक पूजा के विकास मे इस देश मे तीर्थ-स्थानो का निर्माण, गगा-स्नान, कीर्तन, भजन, तीर्थ-यात्रा, मन्दिर-रचना आदि पूर्त-व्यवस्था की प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। यद्यपि उपासना-परम्परा का किसी देव-विशेष अथवा देव-प्रतीक-विशेष के प्रति भक्ति-भाव का आधार-भूत सम्बन्ध सनातन से रहा तथापि आर्य-पूजा-परम्परा के विकास मे भक्ति-भावना का उदय उपनिषदो से प्रारम्भ हुआ। उपनिषदों को कीथ आदि प्रसिद्ध विद्वान् एक प्रकार से आर्य-द्राविड-विचार-धारा मानते है।

प्रतिमा-पूजा की मानव की जिस सहज प्रेरणा को हम भक्ति-भावना के नाम से पुकारते है उस 'भक्ति' शब्द का प्रथम दर्शन प्राचीन उपनिषदो मे प्रमुख स्थान-प्राप्त श्वेताश्वेतर उपनिषद मे प्राप्त होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे० उप० ५० २३

आर्य-साहित्य मे 'भक्ति' पर यह प्रथम प्रवचन है। भक्ति मानव-सभ्यता-गगा की विभिन्न पावन तरगो मे एक यह उद्दाम लहर है जो मनुष्यो के हृदयो को सनातन से उद्वेलित एव तरगित करती आयी है। जहाँ तक इसके शास्त्रीय अथवा साहित्यिक सकेतो का सम्बन्ध है, उनको तो हम वेदो मे भी पाते है। ऋषियो ने 'वरुण' की जो कल्पना की है उसमे भक्त और भगवान् की प्रथम किरण देखने को मिलेगी। भक्त ने सदैव अपने प्रभु से पाप-मोचन की भिक्षा माँगी है, सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा माँगी है और माँगी है जीवन-यात्रा की सफलता। वरुण में उपासक ऋषि की यही भगवद्भक्ति-भावना निहित है। यद्यपि भक्त अनेक है परन्तु भगवान् तो एक ही है। ऋग्वेद की निम्न ऋचा का यही भाव है —

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।। ऋ० प्र० १६४.४६

ऋग्वेद का यह एकेश्वरवाद उसके अनेकेश्वरवाद अथवा बहुदेववाद के गर्भ से उत्पन्न हुआ जो आगे चलकर उपनिषदों के अद्वैतवाद (मोनिज्म) का उद्भावक बना। भले ही यह एकेश्वरवाद अथवा ब्रह्मवाद या अद्वैतवाद ज्ञानियों को गम्य हो सका हो परन्तु साधारण विद्या-बुद्धि वाले सासारिक मानवो के लिए तो वह अगम्य ही रहा, अनुपास्य, अनर्घ्य एव अनभ्यर्थ्य ही रहा। अतएव इसी महान् अभाव की पूर्ति मे, इसी महती आवश्यकता के आविष्कार मे, भगवद्भक्ति का एकमात्र अवलम्ब पाकर जन-साधारण की चिरन्तन एव सनातन तथा सहज तृष्णा का शमन हुआ। भक्ति-भावना के जन्म एव विकास की यह एक अति सरल एव सार्वभौमिक समीक्षा है।'

यद्यपि यह सत्य है, उपनिषदों मे प्रधानता निर्गुणोपासना—ब्रह्मविद्या-आत्मविद्या की ही है तथापि कतिपय उपनिषदो मे सगुणोपासना पर पूर्ण प्रवचन है। ईश, ईशान, ईश्वर, परमेश्वर, इन देवबोधक (उसमे निर्गुण का सकेत है अथवा सगुण का) पदो के साथ-साथ श्वेताश्वेतर में तो सगुण देवो जैसे रुद्र-एकदेव, महादेव, महेश्वर, मायी और शिव भी—"ज्ञात्वा शिव सर्वभूतेषु गूढम्"—आदि उपास्य देवो का निर्देश है। इस प्रकार एकात्मिक भक्ति की धारा भी उपनिषदो के ज्ञानस्रोत से बह रही है—यह कथन अनुचित न होगा। परन्तु एक विशेष तथ्य यह है कि जिन देवो के प्रति इस एकात्मिक भक्ति के विकास का आभास हम पाते है वे वैदिक देव—इन्द्र, प्रजापति, मित्र, वरुण, यम, अग्नि आदि—नही है। वैदिक देवो के ह्रास एव पौराणिक देवो के विकास की रोचक कहानी पर आगे प्रतिमा-लक्षण मे विशेष चर्चा होगी। प्रसगत यहाँ पर इतना ही सकेत अभिप्रेत है कि भक्ति-गगा के पावन कलो पर जिन देव-तीर्थों का निर्माण हुआ उनमें ऐतिहासिक महापुरुषो—वासुदेव-कृष्ण (दे० छा० उपनि० कृष्ण देवकी-पुत्र) आदि वैष्णव-देवो, रुद्र-शिव आदि तथाकथित अनार्य-देवो एव यक्षो के साथ-साथ उमा, दुर्गा, पार्वती, विन्ध्यवासिनी आदि देवियो की विशेष प्रमुखता है। अत. इस उपोद्घात से यह निर्देश है कि वैसे तो उपासना मानव-सम्यता की सनातन से प्राण रही परन्तु इसकी प्रक्रिया एवं प्रकार मे देश-काल के भेद से अवश्य भेद रहा। सगुणोपासना के मर्म भक्ति-सिद्धान्त का ऊपर कुछ सकेत किया गया है। उपासना एव भक्ति कोई दो पृथक् चीजे नही है तथापि विद्वानो ने भक्तिवाद का प्रारम्भ उपनिषद्कालीन माना है। जिस प्रकार वैदिक आर्य अपने उपास्यदेव को प्रसन्न करने के लिए आहुति दान में 'अग्नि' को अनिवार्य माध्यम मानते थे उसी प्रकार सगुणोपासक भारतीय, प्रतिमा को माध्यम मानकर, उसी की पूजा अपने उपास्य देव की पूजा समझते

थी। उपासना का अर्थ ही है—'सगुण ब्रह्म विषयक मानस-व्यापार उपासनम्।' प्रतिमा-कल्पन, प्रतिमा-लक्षण—रूप, परिमाण, वेष, भूषा, आयुध, आसन, वाहन आदि के परिकल्पन में भी तो उपासक ने और उपासक के सेवक प्रतिमा-कार (आइकनोग्राफर) ने अपना ही माध्यम रखा।

सनातन से प्रत्येक सस्था के जीवन मे दर्शन-ज्योति की प्रकाश-किरणो ने उसे लोक-प्रिय बनाने मे बड़ा योग दिया। सगुणोपासना जिसे पूजा के नाम से हम पुकारते है उसके कतिपय अनिवार्य अग विकसित हुए जिनमें अभिगमन, उपादान, नैवेद्य, इज्या, स्वाध्याय तथा योग विशेष उल्लेख्य है और जिनकी आगे पूजोपचारो मे विस्तृत विवेचना की जायगी। इस उपासना-पचाग में अन्तिम अग योग का साक्षात्सबध देव-प्रतिमा से है। शुक्र का निम्न प्रवचन इस दृष्टि से कितना सगत है—

ध्यानयोगस्य संसिद्धयै प्रतिमालक्षणं स्मृतम्।
प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत्॥ (शु०नी० सा० ४.४)

रामतापपतनीयोपनिषद् की भी तो यही पुरातन व्यवस्था है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

जाबालोपनिषद के प्रतिमा-प्रयोजन 'अज्ञाना भावनार्थाय प्रतिमा. परिशल्पिता' पर हम प्रथम ही सकेत कर चुके है।

ध्यानयोग के सम्बन्ध मे एक महाभारती कथा है—देवर्षि नारद नर एव नारायण के दर्शनार्थ एकदा पर्यटन करते हुए बदरिकाश्रम पहुँच गये। नारद देखते क्या है कि उपास्य स्वय उपासक बना बैठा है। नारद ने करबद्ध प्रार्थना की, 'प्रभो! यह कौन-सी लीला है? आप स्वय उपास्य है, आप किसका ध्यान कर रहे है?' नारद के इस कौतूहल पर भगवान् नारायण ने बताया कि वह अपनी ही मूल प्रकृति (हरि) की उपासना कर रहे है। इस सन्दर्भ से ध्यानयोग की चिरन्तन महिमा एव उसमें प्रतिमा-माध्यम की गरिमा पर सुन्दर प्रकाश पहुँचता है। ध्यानयोग की इस देश मे अति प्राचीन परम्परा है। पतजलि के योगसूत्र मे अष्टाग-योग मे 'धारणा' का मर्म बिना 'प्रतिमा' अर्थात् उपासना-प्रतीक के समझ मे नही आ सकता है। सत्य यह है कि योग-सूत्र ने स्वयं धारणा की जो परिभाषा लिखी है, उसका भी यही सार है। योग-परम्परा पतजलि से भी अति प्राचीन है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने हिरण्यगर्भ को योग का सस्थापक बताया है। पतंजलि के 'योगानुशासनम्' इस प्रवचन में 'अनुशासनम्' शब्द से भी तो यही निष्कर्ष निकलता है। अनुशासनम् में प्रथम शासनम्—प्रतिष्ठापन

छिपा है। अस्तु, इससे योगाभ्यास मे प्रतिमाध्यान-परम्परा (दे० धारणा) कितनी पुरातन सस्था है—यह हम समझ सकते हैं।

अर्चा (देव-पूजा) के इस भारतीय दृष्टिकोण की समीक्षा में भागवत एवं पाँचरात्र-वैष्णवधर्म-परम्पराओ मे प्रतिमा-पूजा के अत्यन्त गूढ एव आध्यात्मिक रहस्यों की भी प्रतिष्ठा का कुछ सकेत आवश्यक है। पाँचरात्र-ग्रन्थो मे देवाधिदेव भगवान् वासुदेव के रूप-पचक पर जो प्रवचन है उनमे परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन तथा अर्चा के क्रमिक विकास का आभास प्राप्त होता है जिसमें अर्च्य, अर्चक एव अर्चा की पराकाष्ठा के दर्शन होते है। भारतवर्ष मे प्रतिमा एव प्रतीक दोनो ही उपासना के अंग रहे। इस देश के तीन महान् उपासना-वर्ग—शैव, वैष्णव एव शाक्त—जहाँ अपने-अपने उपासना-सम्प्रदाय के अधिपति देव क्रमश, शिव, विष्णु तथा शक्ति (दुर्गा) की प्रतिमा रूप मे उपासना करते चले आये है वहाँ इनके प्रतीक, बाणलिंग, शालग्राम एव यन्त्रो को माध्यम बनाकर उपास्य देव अथवा देवी की उनमे उद्भावना की है।

इस प्रकार प्रतिमावाद एवं प्रतीकवाद दोनों ही धाराएँ इस देश मे समानान्तर सनातन से बह रही है। देव-पूजा की इस मौलिक मीमासा के अनन्तर अब देव-पूजको के जो विभिन्न वर्ग अथवा सम्प्रदाय इस देश मे पनपे उनमे पाँच प्रमुख देवो के नाम पर पाँच वर्ग निम्नरूप से विशेष उल्लेखनीय है—

१–शिव	शैव सम्प्रदाय
२–विष्णु	वैष्णव या भागवत् सम्प्रदाय
३–शक्ति (दुर्गा)	शाक्त सम्प्रदाय
४–सूर्य	सौर सम्प्रदाय
५–गणेश	गाणपत्य सम्प्रदाय

इन विशिष्ट देवो की देव-पूजा तथा तत्तत्सम्प्रदाय के इतिहास एवं प्राचीन परम्परा आदि पर यह निदर्श अत्यावश्यक है कि भारतीय सस्कृति की आधारभूत विशेषता अनेकता मे एकता (यूनिटी इन डाइवर्सिटी) के अनुरूप इस देश में विशिष्ट वर्ग को छोडकर अधिक संख्यक गृहस्थो (भारतीय विपुल समाज) की उपासना का केन्द्र-बिन्दु एक विशिष्ट देव न होकर सभी समान श्रद्धास्पद हैं। अपने-अपने इष्ट-देवता के अनुरूप वह इन पाँचो को घटा बढा सकता है इसी को पचायतन-परम्परा के नाम से पुकारा गया है। दूसरे हिन्दू-पूजा-परम्परा का जो प्रोल्लास फैला, उससे बौद्ध एव जैनधर्म भी अप्रभावित न रह सके।

अस्तु, अब इन पाँचो—वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य एवं सौर आदि—ब्राह्मण सम्प्रदायों तथा महायान हीनयान, बज्रयान आदि बौद्ध सम्प्रदायों एवं दिगम्बर एवं

श्वेताम्बर आदि जैन समुदायों की धार्मिक, दार्शनिक एव औपचारिक समीक्षा अभिप्रेत है क्योंकि इन्ही की पृष्ठभूमि पर पल्लवित देववृन्द—प्रतिमा-वृन्द प्रतिमा-विज्ञान का आधार है परन्तु स्थानाभाव से यह अत्यन्त विस्तृत समीक्षा यहाँ पर सकोच्य है। पाठक हमारे 'प्रतिमा-विज्ञान' (दे० पृ० ७३–१४०) को पढकर इसकी पूर्ति करें। हमने इनकी निम्नलिखित अवतारणा की है—

वैष्णवधर्म

(अ) वैदिक विष्णु (विष्णु-वासुदेव)

(ब) नारायण-वासुदेव

(स) वासुदेव-कृष्ण

(य) विष्णु-अवतार

(र) वैष्णवाचार्य–दक्षिणी (अ) आलवार तथा (ब) आचार्य : सरोयोगिनादि परकालान्त १२ आलवार तथा रामानुज, माधव आदि आचार्य वैष्णवाचार्य—२. उत्तरी (केवल आचार्य) : निम्बार्क, रामानन्द, कबीर, अन्य-रामानन्दी, दादू, तुलसीदास, चैतन्य, वल्लभ,

(ल) राधोपासना मराठा देश के वैष्णवाचार्य—नामदेव और तुकाराम

(व) उपसंहार

शैवधर्म

उपोद्घात–द्वादश ज्योतिर्लिंगादि

रुद्र-शिव की वैदिक पृष्ठभूमि

लिंगोपासना

शैव-सम्प्रदायो का आविर्भाव—

तामिळी शैव, शैवाचार्य, शैवदीक्षा

पाशुपत साम्प्रदाय

कापालिक एव कालमुख

लिगायत (वीरशैव)

कश्मीर का त्रिक—प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय एव दर्शन

शैव-दर्शन की आठ शाखाएँ

शाक्त, गाणपत्य एवं सौर धर्म

शाक्त धर्म एव सम्प्रदाय; तन्त्र आगम शैव-सम्प्रदाय, शाक्त-तन्त्र; शाक्त-तन्त्र—तान्त्रिक भाव तथा आचार—कौल, कौल-सम्प्रदाय, कुलाचार, समयाचार, शाक्त-

तन्त्र की व्यापकता, शाक्त-तन्त्र की वैदिक पृष्ठभूमि, शाक्त-तन्त्रो की परम्परा, शाक्तो का अर्च्य, शाक्तो की देवी के उदय का ऐतिहासिक विहगावलोकन--भगवती दुर्गा के उदय की पांच परम्पराएं, शाक्तो की देवी का विराट स्वरूप--महालक्ष्मी की तीनों शक्तियो से आविर्भूत देव एव देवियाँ, देवी-पूजा

गाणपत्य सम्प्रदाय--ऐतिहासिक समीक्षा--गणपति--विनायक, विघ्नेश्वर, गणेश आदि, सम्प्रदाय--१. महागणपति-पूजक-सम्प्रदाय, २. हरिद्रा ग०, ३. उच्छिष्ट ग०, ४-६. 'नवनीत', 'स्वर्ण', 'सन्तान' आदि

सूर्य-पूजा--सौर सम्प्रदाय--परम्परा, सौर सम्प्रदाय के विशुद्ध देशी स्वरूप की ६ श्रेणियाँ, सूर्योपासना पर विदेशी प्रभाव

बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म--बौद्धधर्म--बुद्ध-पूजा--बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय तथा उसमे मत्रयान एव वज्रयान का उदय, वज्रयान का उदयस्थान, वज्रयान-पूजा-परम्परा, वज्रयान के देववृन्द का उदय-इतिहास, वज्रयान के देववृन्द का उदय इतिहास, वज्रयान के चार प्रधानपीठ ।

जैनधर्म--जिन--पूजा--प्राचीनता, तीर्थंकर, यति एव श्रावक, उपचारात्मक पूजा-प्रणाली और मन्दिर-प्रतिष्ठा, जैनियो पर शाक्तों का प्रभाव, जैन-तीर्थ ।

७ अर्चा-पद्धति

इस देश की प्रतिमा-पूजा-परम्परा मे वैदिकयाग के ही सदृश पूजा-पद्धति का भी एक विपुल विस्तार एव शास्त्रीकरण अथवा पद्धतिरूप पाया जाता है। अत इस विषय की एक विशिष्ट अवतारणा अपेक्षित है। यहाँ पर इतना सकेत आवश्यक है कि यद्यपि इस ग्रन्थ मे हिन्दू स्थापत्य-शास्त्र मे प्रतिपादित प्रतिमा-लक्षणों मे हिन्दुओं के पौराणिक देवो एव देवियों का ही प्राधान्य है परन्तु बौद्ध धर्म एव जैन धर्म को हिन्दू धर्म का ही एक ही विशिष्ट विकास मानने वाले प्राचीन आचार्यों ने 'बौद्ध-लक्षण' तथा 'जैन-लक्षण' शीर्षक अध्यायों मे बौद्ध-प्रतिमाओ एव जैन-प्रतिमाओ के भी लक्षण लिखे है, अत इस अध्याय मे जहाँ हम हिन्दुओ की अर्चा-पद्धति के विभिन्न अगो एव उपागों का विवेचन करेगे वही हम बौद्धो एव जैनो की अर्चा-पद्धति--'ध्यानपरम्परा' आदि पर भी कुछ न कुछ सकेत करना अनिवार्य समझते हैं।

'अर्चा-पद्धति' की मीमासा के उपोद्घात मे दूसरा सकेत यहाँ पर यह करना है कि अर्चा-पद्धति मे यद्यपि विभिन्न देवो की पूजा मे एक सामान्य स्वरूप अवश्य प्रत्यक्ष है तथापि अर्चक एव अर्च्य के भेद से पूजा-पद्धति में सुतरां एक स्वाभाविक प्रभेद भी

परिलक्षित होगा। अर्चा-पद्धति एवं अर्चागृह निर्माण मे अधिकार-भेद एक सनातन परम्परा है। वैदिकी, तान्त्रिकी और मिश्री तीन प्रकार की पूजाओ का सकेत पाया जाता है उनमे प्राचीन भारतीय समाज का मूलाधारवर्णाश्रम-व्यवस्था का अनिवार्य प्रभाव है। वैदिक-होम मे द्विजातिमात्र की ही अधिकारिता थी। परन्तु आवश्यकता आविष्कारो की जननी है। बहुद्रव्यापेक्ष्य वैदिक-याग एव ज्ञानिगम्य ब्रह्म-चिन्तन एव आत्मसाक्षात्कार ने सामान्यजनो के लिए कठिनसाध्य एव असभव होने के कारण प्रतिमा-पूजा से सरल मार्ग के निर्माण की आवश्यकता उत्पन्न हुई, अतएव विशाल भारतीय समाज के उस अग मे जिसमे निर्धन गृहस्थ, साधारण विद्याबुद्धि वाले प्राणी और निम्न वर्ण के शूद्र लोग थे उनकी उपासना का कोई मध्यम मार्ग होना ही चाहिए था। भगवान् बुद्ध ने जो मध्यम मार्ग चलाया उसके प्रचार मे इस देश की सनातन ज्योति—वैदिक-धर्म की प्रभुता—का अभाव था। अतएव इस देश मे चिरस्थायी न रह सका। वैदिक-धर्म की पृष्ठभूमि पर पल्लवित स्मार्त एव पौराणिकधर्म ने भगवान बुद्ध के इसी मध्यम मार्ग को वैदिक सस्कृति के ही अनुरूप रूप प्रदान कर एक नवीन हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा की। पौराणिकधर्म का प्रधान लक्ष्य देव-पूजा है। अतएव देव-पूजा से सम्बन्धित देवो का उदय एव देव-गृहो (मन्दिरो) का निर्माण एव देवमूर्तियो की कल्पना एव प्रतिष्ठा आदि इस धर्म के प्रधान तत्त्व प्रकल्पित हुए।

अस्तु, देव-पूजा का जो स्वरूप इस अर्चा-पद्धति मे देखने को मिलेगा वह अकस्मात नही उदित हो गया था। देव-पूजा देव-यज्ञ से उद्भूत हुई। देव-यज्ञ अग्नि मे देव-विशेष का सम्प्रदान कारक में सकीर्तन कर स्वहारोच्चारण-सहित समिधा एव हव्यान्न अथवा कोई अन्य वस्तु (दुग्ध, दधि आदि) अथवा एकमात्र समिधा-दान (आहुति) से सम्पन्न होता है। अत. जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, देव-यज्ञ के तीन प्रधान अग थे—द्रव्य, देवता तथा त्याग। अत. वैदिक-काल मे हमारे पूर्वज जो हवन करते थे वही देव-यज्ञ का प्रधान रूप था। अग्निहोत्र की इस सामान्य व्यवस्था—प्राचीन आर्यों की देव-पूजा—को सूत्रकारो ने (जैसे आपस्तम्ब, बौद्धायन आदि) देव की सज्ञा से सकीर्तित किया है। प्राचीनो की इस देव-यज्ञात्मक-पूजा-पद्धति (अर्थात् अग्निहोत्र) की देवताएँ विभिन्न धर्म-सूत्रो एव गृह्य-सूत्रो मे भिन्न भिन्न सकीर्तित हैं। आश्वलायन गृ० सू० (प्रथम २२.) के अनुसार अग्निहोत्र की देवता सूर्य अथवा अग्नि एवं प्रजापति, सोम, वनस्पति, अग्नि-सोम, इन्द्राग्नि, द्यावा-पृथिवी, धन्वन्तरि, इन्द्र, विश्वेदेवाः, ब्राह्मण हैं। इसी प्रकार अन्य सूत्रकारो ने जिस देव-वर्ग को अग्निहोत्र का अधिकारी माना है वह एक सा नही है। हाँ उनमें उन देवो की प्रधानता का सर्वथा अभाव है जिनका पौराणिक पूजा-पद्धति मे उदय हुआ—जैसे गणेश, विष्णु, सूर्य, शिव,

दुर्गा आदि। प्राचीन वैदिक-कालीन देव-यज्ञ के इस प्रथमस्वरूप के दर्शन के अनन्तर एक दूसरा सोपान जो देखने को मिलता है उसमें प्राचीन देव-यज्ञ (हवन-या वैश्वदेव) के साथ-साथ एक नवीन अर्चा-पद्धति जिसे देव-पूजा के नाम से पुकारा गया है, भी सम्मिलित की गयी है। याज्ञवल्क्य एव मनु ने अपनी स्मृतियो मे देव-यज्ञ (हवन) एव देव-पूजा को पृथक्-पृथक् रूप में परिकल्पित किया है। याज्ञवल्क्य (दे० १.१००) तर्पणोपरान्त देव-पूजा का समय बताते हैं। मध्यकालीन धर्म-शास्त्र के कतिपय आचार्यों ने देव-यज्ञ को एकमात्र 'वैश्वदेव' (जो देव-यज्ञ का एक अंग मात्र था) के रूप मे परिणत कर वैदिकहोम की प्राचीन प्रधानता के ह्रास का मार्ग तैयार किया। अत. उत्तरमध्यकाल एव आधुनिककाल मे देव-यज्ञ नाममात्रावशेष रह गया और देव-पूजा अपने विभिन्न उपचारो से इस देश की उपासना का एकमात्र अग बन गयी यद्यपि सिद्धान्तरूप मे देव-पूजा और देव-यज्ञ एक ही है क्योकि पाणिनि के 'उपान्मंत्र-करणे' सूत्र के वार्तिक में देव-पूजा की व्याख्या मे देव-यज्ञ एव देव-पूजा दोनो मे त्याग (डेडिकेशन) समान बताया गया है। जैमिनि एव उसके प्रसिद्ध टीकाकार शबर की भी यही धारणा है कि याग अर्थात् यजन, पूजन, होम एव दान सभी मे उत्सर्ग समान है। परन्तु इस देव-पूजा का स्वरूप वैदिक देव-यज्ञ से सर्वथा विलक्षण हो गया। काल्पनिक देवो के स्थान पर देव-मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई। अत. इस पद्धति के दो स्वरूप प्रतिफलित हुए—एक वैयक्तिक तथा दूसरा सामूहिक। वैयक्तिक पूजा मे लोग अपनी-अपनी इष्टदेवता की अपने-अपने घरो मे पाषाण, लौह, ताम्र, रजत अथवा स्वर्ण आदि द्रव्यो से विनिर्मित प्रतिमाओ की पूजा करते तथा जहाँ पर ये प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की जाती थी उनको देवकुल, देवगृह, देवस्थान आदि नामो से इस अर्चा-पद्धति के अर्चा गृहो को सकीर्तित करते थे। बाल्मीकि-रामायण एव भास के नाटको मे ऐसे अर्चा-गृहो की सज्ञा 'देवकुल', 'देवगृह' आदि देखकर देव-पूजा की यह परिपाटी काफी प्राचीन है—यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। अथच यहाँ पर प्राचीनकाल, पूर्वमध्यकाल उत्तरमध्यकाल एव आधुनिककाल का समय विभाजन प्रचलित ऐतिहासिक परम्परा से सर्वथा विलक्षण समझना चाहिए। प्राचीन काल ईसा से लगभग पाँच हजार वर्ष से प्रारम्भ होता है तथा ढाई हजार वर्ष पूर्व तक पूर्व एवं उत्तर वैदिक युग के रूप में परिकल्पित है। पुन. मध्यकाल ईसा से दो हजार वर्ष से प्रारम्भ समझना चाहिए जिसके पूर्व एव उत्तर दोनो धाराओं को डेढ डेढ़ हजार वर्ष देवे तो आधुनिक काल का श्रीगणेश ११ वी शताब्दी से प्रारम्भ समझना चाहिए। यही युग विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो के विकास का चरम युग था तथा बड़े-बड़े तीर्थ-स्थानों, मन्दिरो, धर्म-पीठों के आविर्भाव का भी यही समय था। अतः सामूहिक उपासना का जो स्वरूप इस देव-पूजा

के विकास में प्रतिफलित हुआ वह भी उत्तर मध्य-काल में पूर्णरूप से प्रतिष्ठत हो चुका था। पौराणिक धर्म मे तीर्थ-माहात्म्य एक प्रमुख स्थान रखता है। तीर्थों का आविर्भाव पौराणिक धर्म के सरक्षण में ही हुआ। बड़े-बड़े प्रसिद्ध देवपीठ एव तीर्थ-स्थान सामूहिक देव-पूजा के निदर्शन हैं। अत. इस सामूहिक पूजा-पद्धति मे अर्च्य देवो में सर्वाधिक प्रभुता विष्णु एव शिव को मिली, पुनः अन्य देवो एव देवियो—ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, दुर्गा, सरस्वती, तथा राम, कृष्ण आदि को (विष्णु-अवतार)। पुराणो में यद्यपि ब्रह्मा-विष्णु-महेश (त्रिमूर्ति) की त्रिदेवोपासना समान रूप से अभीष्ट है तथा पुराणों से प्रभावित भारतीय वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में भी वैष्णव एवं शैव-प्रासादो (मन्दिरो) के समान ही ब्राह्म एव सौर प्रासादो का भी वर्णन है परन्तु व्यावहारिक रूप मे यह सघटित नही हुआ। विष्णु और शिव की भक्ति की जो दो प्रधान धाराएँ पौराणिक धर्म में प्रस्फुटित हुई उनका प्रयोग भगवती दुर्गा (शक्ति-उपासना) की रहस्यात्मका सरस्वती की पीठ पर परिकल्पित किया गया और अन्य देव-परिवार देवो—सहायक देवो के रूप मे ही रह गये।

इस नवीन पूजा-पद्धति के अर्च्य देवो के इस सकेत के उपरान्त अर्चा-पद्धति मे अधिकार-भेद का सूत्रपात करने के पूर्व यहाँ पर इतना सकेत और वाछित है कि इस अर्चा-पद्धति के सामूहिक रूप के विकास मे जिन देवालयो की स्थापना हुई उनकी प्रधान रूप से दो शैलियाँ विकसित हुई—द्राविड-शैली तथा नागर-शैली। द्राविड़-शैली में निर्मित देवागारों को 'विमान' तथा नागर मे निर्मित मन्दिरो की 'प्रासाद'' सज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं। इस विषय पर पीछे के अध्यायो में विशेष चर्चा कर आये हैं।

देवपूजा के अधिकार-भेद के उपोद्घात में हमारी यह धारणा अवश्य ग्राह्य कही जा सकती है कि वास्तव मे देव-पूजा के उदय का लक्ष्य ही निम्न श्रेणी के मनुष्य थे। अतः प्राचीन परम्परा मे देव-पूजा के सभी अधिकारी थे। इस प्रकार का धार्मिक साम्यवाद ही पुराणो की महती देन है। कालान्तर पाकर जो वैषम्यवाद देखने को मिलता है तथा जिसका दृढ़ीकरण शास्त्रो में भी पाया जाता है धार्मिक संकीर्णता एवं सम्प्रदायवादिता का परिणाम है। नृसिंह-पुराण का निम्न प्रवचन देव-पूजा के प्राचीन एवं मौलिक स्वरूप में इसी उदारता का समर्थक है—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
संपूज्य तं सुरश्रेष्ठं भक्त्या सिंहवपुर्धरम्।
मुच्यन्ते पापुभैर्दुःखजन्मकोटिसमुद्भवैः॥

इस श्लोक में विष्णु-पूजा (नृसिहावतार) के सभी समान रूप से अधिकारी माने गये हैं।

'पूजा-प्रकाश' में संग्रहीत नाना पुराण-संदर्भों से यह स्पष्ट है कि शूद्र भी शालिग्राम की पूजा कर सकते हैं–हाँ, वे उसको स्पर्श नहीं कर सकते थे जो पूर्ण वैज्ञानिक है। प्राचीनों के लिए आचार प्रथम धर्म था। अन अपूताचरण शूद्र ब्रह्मतेज से पावित प्रतिमा के स्पर्श के अधिकारी कैसे हो सकते थे? भागवत-पुराण (२–४–१८) भी यही उद्घोष करता है कि किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, आभीर, पुलक्ष, सुम्ह, यवन, खश आदि निम्न जातियाँ एवं पापी भी जब भगवान् विष्णु के चरणों में आत्मसमर्पण कर देते हैं तो पवित्र बन जाते हैं।

देव-पूजा की अधिकारिता की इस सामान्य परम्परा से प्रतिमा-पूजा की सामान्य परम्परा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। परन्तु प्रतिमा-पूजा भी तो एक प्रयोज्य है–प्रयोजन तो वह जगद्व्यापी परमेश्वर है जिसकी प्रतिमा के प्रतीक में पूजा प्रारम्भ हुई। अन्यथा प्रतिमा के अतिरिक्त भी उस महाप्रभु की विभिन्न स्थानों में विभिन्न महामूर्तियाँ हैं, जैसे जल में, अग्नि में, हृदय में, सूर्य में, यज्ञ की वेदी में (यज्ञनारायण), ब्राह्मणों में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' परन्तु सभी तो इतनी विशालता नहीं रखते, सभी का ज्ञान इतना विकसित नहीं। अतएव प्रतिमा-पूजा के सभी अधिकारी हो सकते हैं। परन्तु शातातप का प्रवचन है —

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम्।
काष्ठलोष्ठेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता॥

अर्थात् मनीषी मनुष्य अपने देवता का विभावन जल में वा आकाश में कर लेते हैं परन्तु मूर्ख लोगों के लिये मृन्मयी आदि द्रव्यजा प्रतिमाएँ ही इस विभावन के अनुकूल हैं। जो युक्तात्मा (योगी है) उसको तो बाहर जाने की जरूरत ही नहीं, उसे अपनी आत्मा में ही अपना देव विभाव्य है।

नृसिंह पुराण (दे० अ० ६२) भी इसी का समर्थन करता है —

अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः॥

अस्तु, इन प्रवचनों से देव-पूजा के अधिकार-भेद पर थोड़ी सी समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि देव-पूजा का दरवाजा यद्यपि सबके लिए खुला था तो भी विभिन्न जनों के विभिन्न बुद्धि-स्तर का मनोवैज्ञानिक आधार भी महत्त्व रखता था। अत. जिस मनुष्य का बौद्धिक, मानसिक एवं आध्यात्मकि स्तर जितना ही प्रबल एवं विकसित है उसके अनुरूप ही उसके अधिकार, कर्तव्य, आचार एवं विचार भी अनुषंगत: प्रभावित होंगे ही। देव-पूजा के अधिकार भेद का यही मर्म है। सभी तो योगी नहीं और न सभी मुमुक्षु ही बनना चाहते हैं। अपने दैनंदिन के कार्य-व्यापार में भी मानव को ईश्वर

की सहायता का बडा भरोसा रहता है। अतएव वे अपनी-अपनी मर्यादा एव विभूति के अनुरूप उनको विभिन्न रूप मे विभिन्न प्रक्रियाओ मे पूजते है–ध्याते हैं, आत्मनिवेदन करते हैं, अपना दुखड़ा रोते हैं, वरदान मांगते हैं और सफल मनोरथ उपहार चढाते हैं। देव-पूजा मे प्रतिमा-पूजा का यही रहस्य है।

अर्चा-पद्धति की इस सामान्य अधिकारिता का अर्चागृहो मे भी प्रभाव पड़ा। विष्णु-मन्दिरो मे भागवत्, सूर्यमन्दिरो मे मगब्राह्मण, शिवमन्दिरो मे भस्मधारी द्विजाति, देवीमन्दिरो मे मातृमण्डल (श्रीचक्र?) के ज्ञाता लोग ब्राह्ममन्दिर मे विप्रगण, सर्वाहित शान्तमन बुद्ध के मन्दिर मे शाक्य लोग, जिन (जैन-तीर्थंकर) के मन्दिर मे नग्न लोग पुजारी होने के अधिकारी हैं––वराहमिहिर की बृहत्सहिता (दे० ६०.१६) का यह प्रवचन उपर्युक्त तथ्य का बडा पोषक है। अर्चागृह का यह अधिकार-भेद प्रासादो की कर्तृकारक-व्यवस्था से अनुप्राणित है–जिसपर पीछे प्रासाद-वास्तु (टेम्पिल आर्कीटेक्चर) मे सकेत कर आये हैं। आगे का अध्याय 'प्रतिमा एव प्रासाद' भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डालेगा।

देव-यज्ञ से देव-पूजा के विकास-इतिहास के इस सूक्ष्म निदर्शन के उपरान्त अब क्रम-प्राप्त, अर्चा-पद्धति एव देव-विशेष की पूजा-पद्धति (विष्णु-पूजा, शिव-पूजा, दुर्गा-पूजा, सूर्य-पूजा, गणेश-पूजा, नवग्रह-पूजा) पर उपक्रम आवश्यक था परन्तु स्थाना-भाव से पाठक इस विषय का ज्ञानार्जन हमारे प्रतिमा-विज्ञान पृ० १४५–४६ से करे। यहाँ पर पूजोपचारो के सम्बन्ध मे थोड़ी सी विवेचना अभिप्रेत है।

पूजोपचार––षोडशोपचारो के नाम से हम सभी परिचित हैं। निम्न तालिका देखिए ––

१–आवाहन	५–आचमनीय	९–अनुलेपन अथवा गन्ध	१३–नैवेद्य (अथवा उपहार)
२–आसन	६–स्नान	१०–पुष्प	१४–नमस्कार
३–पाद्य	७–वस्त्र	११–धूप	१५–प्रदक्षिणा
४–अर्घ्य	८–यज्ञोपवीत	१२–दीप	१६–विसर्जन अथवा उद्वासन

उपचार-संख्या––भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे इस उपचार-तालिका के भिन्न-भिन्न अंग हैं। नृसिह-पुराण, ऋग्विधान, स्मृति-चिन्तामणि, नित्याचारपद्धति, संस्कार-रत्न-माला, आचार-रत्न, आचार-चिन्तामणि आदि ग्रन्थो मे देव-पूजा के षोडशोपचार विषयक विवरण-विजृम्भण मे कोई तो यज्ञोपवीत के उपरान्त भूषण तथा प्रदक्षिणा अथवा नैवेद्य के उपरान्त ताम्बूल अथवा सुखासव का उल्लेख करते हैं (दे० वृ० हा० चतु० ३१–३२) अतएव ऐसे ग्रन्थो मे षोडशोपचार के स्थान पर अष्टादशोपचार का परिगणन है। सत्य तो यह है अक्षत्, नारियल, पुंगीफल, दूर्वा, धान्य आदि नाना

द्रव्यजात से तो यह संख्या और बढ़ जाती है। यही कारण है ६४ भोज्य व्यजनों के समान पूजा के उपचार भी ६४ तक पहुँच सकते ही है।

अस्तु, इन उपचारो तथा उनकी सामग्री का विस्तृत विवेचन प्रतिमा-विज्ञान पृ० १५०–५२ मे मिलेगा वह वही पठनीय है। यहाँ पर यह निर्देश करना है कि प्रथम इन उपचारांगो को देखकर अनायास पाठको के मन मे संभार बहुल बहुद्रव्यापेक्ष वैदिकयाग की परिपाटी की ही पुनरावृत्ति पर अवश्य ध्यान जाता होगा। साधारण जन इन सभी उपचारों को करे–इसमे बड़ी कठिनता हो सकती है। साधारण जनो के पास इतनी विपुल सम्पदा कहाँ जो अहर्निश देव-पूजा मे वस्त्रदान,भूषणदान अथवा नाना द्रव्यो के संभार के जुटाव का प्रबन्ध कर सके। अतएव दूरदर्शी प्राचीनाचार्यों ने अपनी-अपनी पूजा-मीमांसा में उपचार-विषयक औदार्य को समुचित स्थान दे रखा है। यदि कोई वस्त्र एव अलकार के उपचारों से पूजा करने मे असमर्थ है तो वह षोडशोपचार के स्थान पर यथासामर्थ्य दशोपचार से पूजा करे। यदि दशोपचार मे भी कठिनता हो तो पचोपचार-पूजा भी वैसी ही फलदायिनी है। सभी का अभाव है तो पुष्पमात्र से सभी उपचारो का सम्पादन करे। आज भी हम अपने नित्य नैमित्तिक कर्मों मे किसी भी अभाव को अक्षतो (सिततण्डुलो) से सम्पन्न कर लेते है–'गन्धाभावे अक्षत समर्पयामि'– परम्परा भी है —

पुष्पाभावे फलं शस्तं फलाभावे तु पल्लवम् ।
पल्लवस्याप्यभावे तु सलिलं ग्राह्यमिष्यते ॥
पुष्पाद्यसंभवे देवं पूजयेत्सिततण्डुलैः ॥

दूसरे जो लोग देव-पूजा मे पुरुष-सूक्त का पाठ करते है उनको प्रत्येक उपचार के साथ इस सूक्त की एक ऋचा का पाठ करना चाहिए–ऐसा नृ० पु० का आदेश है। वृद्ध हारीत की आज्ञा है जो लोग पु० सू० का पाठ नही कर सकते (जैसे स्त्रियाँ और शूद्र) वे ओ शिवाय नम या ओ विष्णवे नम. कहकर प्रत्युपचार पूजा करें। सधवाओ के लिए बाल-कृष्ण और विधवाओ के लिए हरि की पूजा वृ० हा० ने विहित की है। इस उपचारात्मकपूजा के सम्बन्ध मे तीसरी बात यह ध्यान देने की है कि स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा नैवेद्य––इन उपचारो मे आचमन भी प्रदान करना चाहिए और यह आचमनीय यहाँ पर पृथगुपचार नही परिणित होता––यह उसी का अग है। चौथी विशेषता यह है कि यदि प्रतिमा पीठ-स्थित अचल है तो आवाहन और विसर्जन न करके चतुर्दशोपचार-पूजा ही उचित है अथवा इनके स्थान पर मन्त्र-पुष्पाजलि देकर पूजा के षोडशोपचार सम्पन्न किये जाते हैं।

अन्त में इन उपचारो के सम्बन्ध मे एक विशेष विवक्षा यह है कि इनमें से कतिपय उपचार—आसन, अर्घ्य, गन्ध, माल्य (पुष्पमाला), धूप, दीप तथा आच्छादन (वस्त्र) आश्व० गृ० सू० मे श्राद्ध मे निमन्त्रित ब्राह्मणो के लिए विहित है, अत फर्क्युहर (देखिए आउटलाइन आफ दी रेलिजस लिट्रेचर आफ इंडिया पृ०५१) का यह कथन—देव-पूजा के षोडशोपचार वैदिक याग के उपचारों से इतने भिन्न है कि इन पर विदेशी प्रभाव का आभास है—ठीक नही। वास्तव मे बात यह है कि देव-पूजा की परम्परा के उदय मे जो उपचार आमन्त्रित श्रद्धेय ब्राह्मणो को अर्पित किये जाते थे वे ही या उनमे थोडे से और जोडकर प्रतिमाओ में अर्पित किये जाने लगे। अत. यह उपचार-पद्धति विदेशी अनुकरण न होकर एकमात्र देशी प्रसार है। काणे साहिब ठीक ही कहते है (दे० हि० आ० धर्म० ग्रन्थ द्वि० पृ० ७३०; :—"It was a case of extension and not of borrowing from an alien cult."

बौद्ध तथा जैन अर्चा-पद्धति—बौद्धो की पूजा-पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता उनकी ध्यान-परम्परा है। वैसे तो सभी सम्प्रदायो मे कर्म-काण्ड (रिचुऐलिज्म) एक सामान्य विशेषता है परन्तु बौद्धो की यह विशेषता (ध्यान-परम्परा) सर्वोपरि है। बौद्धों की अर्चा-पद्धति की दूसरी विशेषता आरार्तिक है। बौद्ध तीर्थ-यात्री बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानो मे जाकर अपनी मनौतों या यो ही सैकडो, हजारो, लाखो की सख्या मे बाती जलाते है। दीप-दान की यह बौद्ध-प्रथा बडी विलक्षण है।

जैनियो की पूजा ब्राह्मणो की पूजा से ही मिलती-जुलती है। जिन-पूजा बडी सरल है। तीन प्रकारो—प्रदक्षिणा, प्रणाम एव पुष्प से जैनी काम चला सकते है अन्यथा जलपूजा, चन्दनपूजा, अक्षतपूजा, नैवेद्यपूजा तथा आरती—विशेष प्रचलित है। जैनपूजा में तीन घटक और उल्लेख्य हैं—सामयिक पाठ, उपवास तथा तीर्थ यात्रा। कालान्तर पाकर जैनियो के दो वर्ग-श्वेताम्बरो एवं दिगम्बरो की पूजा-प्रणाली में कुछ पारस्परिक विलक्षणता देखने को मिलती है (दे० वास्तु-शास्त्र वाल्यूम० सेकण्ड, पार्ट सेकण्ड, चैप्टर ८)।

८. अर्चागृह (प्रतिमा-पूजा का स्थापत्य पर प्रभाव)

मानव-जीवन की पूर्णता ऐच्छिक एव पारलौकिक दोनो अभ्युदयों से सम्पन्न होती है। साध्य अभ्युदय (ऐहिक उन्नति) एवं नि.श्रेयस (पारलौकिक उन्नति-मोक्ष) का एकमात्र साधन धर्म ही है। प्राचीन आर्य विचारको ने धर्म-संस्थापन मे ईष्टापूर्त की व्यवस्था की है। 'इष्ट' से तात्पर्य यज्ञ आदि कर्मकाण्ड से है तथा 'पूर्त' का सम्पादन देवालय, वापी, कूप, तड़ाग आदि के निर्माण से होता है। वैदिक धर्म

'इष्ट' देव-यज्ञ का विशेष प्रतिपादक था, परन्तु पौराणिकधर्म में पूर्त-व्यवस्था ही मानव का परम पुरुषार्थ माना गया। अत स्वाभाविक ही था इस परम्परा मे देव-पूजा के उपयुक्त स्थानो का निवेश एव निर्माण ही सर्व प्रमुख अग माना गया। देवालय--अर्चागृह के समीप वापी, कूप, तड़ाग आदि की सयोजना आवश्यक थी, क्योकि देव-स्थान या किसी भी स्थान के लिए जलाशय की आवश्यकता एक अनिवार्य आवश्यकता है।

देवालयों की निर्माण-परम्परा मे दो धाराएँ प्रमुख हैं--सार्वजनिक देव-स्थान जिनकी सज्ञा तीर्थ है तथा नागरिक-देवालय, ग्रामीण-देवालय अथवा वैयक्तिक-देवालय। दूसरी कोटि के देवालयों का सम्बन्ध पुर-निवेश अथवा ग्राम-निवेश एव भवन-निवेश से है जिस पर हमारे 'भारतीय वास्तु-शास्त्र'--वास्तु-विद्या एव पुर-निवेश-नामक ग्रन्थ मे सविस्तार विवेचन है वह वही अवलोकनीय है। यहाँ हम उन अर्चा-गृहो (देवालयो) का उद्घाटन करने जा रहे है जो सामहिक पूजा, तीर्थ-यात्रा एव धार्मिक पीठो के प्रमुख केन्द्र थे। पौराणिक धर्म मे तीर्थों का माहात्म्य एव तीर्थयात्रा का सर्वप्रमुख स्थान है। इन तीर्थों का उदय धर्म सस्थापको--विभिन्न भागवदावतारों के नाम से सम्बन्धित स्थानो--नगरियो, क्षेत्रो पर विशेष आश्रित है। गरुड़-पुराण (प्रथम अ० १६) मे अयोद्धा, मथुरा, काशी, माया, काची, अवन्तिका तथा द्वारावती--इन महानगरियो को मोक्षदायिका माना गया है जो हिन्दुओ के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान हैं। 'तीर्थ' शब्दद्वयर्थक है--क्षेत्र तथा जलावतार जो बडा ही मार्मिक एव सुसगत है। जीवन स्वय एक तीर्थ-यात्रा है जिसकी विभिन्न अवस्थाएँ विभिन्न पड़ाव है। भारतवर्ष की तत्त्व-विद्या में मृत्यु भी तो एक पड़ाव है। इसी जीवन-दर्शन मे मुक्ति-दर्शन भी निहित है। जिस प्रकार ससार-सागर की रूपकरजना मे मोक्ष की प्राप्ति भवसागर-पार उतरने को कहा गया है उसी प्रकार तीर्थ-यात्रा (जो मुक्ति एव मुक्त का साधन मानी गयी है--दे० अग्नि--पुराण अ० १०६) मे भी वही रूपक छिपा है। तीर्थ-स्थान की स्थापना किसी सरिता के कूल अथवा समुद्र के तट अथवा किसी तडाग, पुष्करिणी अथवा झील के किनारे ही हुई है अर्थात् तीर्थ मे जलाशय का सान्निध्य अनिवार्य है अन्यथा वह तीर्थ कैसा? वह देवस्थान कैसा? देवता तो वही रमते हैं जहाँ मानव का भी मन रमता है--सुन्दर प्राकृतिक दृश्य, वन का एकान्त स्थान, सरिता का सुरम्य एव पावन तट, पर्वत के उत्तुग शिखर अथवा उसकी उपान्त भूमियाँ, कलकल रव करने वाले निर्झरो का विमुग्धकारी वातावरण, विविध प्रकार के पुष्पो एवं फलो से लदे सुरम्य पादपो एव लताओ के आकार उद्यान और क्षेत्र--ये ही देव-स्थान हो सकते हैं। बृहत्सहिता (५५.८) का निम्न प्रवचन इस तथ्य की पुष्टि करता है --

वनोपान्तनदीशैलनिर्झरोपान्तभूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्यं पुरेषूद्यानवत्सु च ॥

भविष्य-पुराण (प्रथम, १३० वाँ अ०) मे भी ऐसा उल्लेख है। पुण्यभूमि भारत के इस विशाल भू-भाग मे प्रायः सर्वत्र पुण्य स्थान बिखरे पडे हैं जिनकी संज्ञा तीर्थो एवं क्षेत्रो के नाम से प्रख्यात है। तत्त्व की बात तो यह है कि मायावी ससार के जाल से बचने के लिए चिरन्तन से मानव ने अदृष्ट महाशक्ति की खोज मे उसमे तन्मयता प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक एकान्त एव उदात्त प्रदेशो मे जाकर अपनी अध्यात्म-पिपासा की तृप्ति मे निवास किया है। जलाशय का सान्निध्य मानव के लिए ही नही देव के लिए भी परमावश्यक ही नही अनिवार्य है। जिस प्रकार जीवन-यापन बिना जल असम्भव है उसी प्रकार कोई भी देवकार्य—यज्ञ, पूजा, उपासना, सन्ध्यावन्दन आदि बिना जल के नहीं हो सकता। हिन्दू शास्त्रो ने जल को जीवन तो बताया ही है जल शुचि भी है। अत इन तीर्थ-भूमियों मे, प्रख्यात क्षेत्रो मे ही पुरातन परम्परा के अनुसार बडे-बडे तीर्थों का निर्माण हुआ। तीर्थ तथा देव-मदिर——दोनो का अन्यान्याश्रय सर्वदा रहा तथा रहेगा।

अथच जिस प्रकार हम आगे देखेगे–प्रासाद निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिकृति के रूप मे उद्भावित है उसी प्रकार जलावतार–तीर्थ (जल को जीवन भी कहा गया है) मनुष्य की अपनी निजी आत्मा है जिसको पारकर (पहिचान कर) परमात्मा मे लीन होने का तत्त्व अन्तर्हित है। तीर्थ-यात्रा साधन है–साध्य तो मोक्ष है। मोक्ष के ज्ञान, वैराग्य आदि साधनो के साथ-साथ तीर्थ-यात्रा भी एक परम साधन है। ज्ञानियो एव वैरागियों आदि के लिए आत्मा ही परम तीर्थ है। तीर्थों का तत्त्व सागर के समान गम्भीर है और शैल के समान ऊँचा है। विभिन्न धार्मिक-सम्प्रदायों ने विभिन्न रूप से तीर्थों की परिकल्पना की। शैव एव शाक्त धर्मों मे भगवती के ५१ शक्ति-पीठो का प्रविवेचन है। महाभारत मे शतशः तीर्थों का निर्देश है। पुराणो एव आगमो एव तन्त्रों मे तो यह सख्या सख्यातीत है। सत्य तो यह है कि मनुष्य जब स्वय तीर्थ है तो मानव वसति-समस्त देश भारतवर्ष एक महातीर्थ है। स्वदेश-प्रेम का यह अद्वितीय मूल मन्त्र है, जहाँ पर जन्म-भूमि की यह लोकोत्तर महिमा बखानी गयी हो। पावन एव पूज्य विभिन्न सरिताएँ भौगोलिक रूप मे ही नही परिकल्पित हैं, वे आध्यात्मिक महातत्त्व के महास्रोत की विभिन्न धाराएँ हैं। शैव-दर्शन की इस धारणा मे बहुत कुछ मर्म है।

इस अध्याय का नामकरण 'अर्चा-गृह' है। अर्चा-गृह——इस शब्द के व्यापक कलेवर मे (अर्चा-अर्थात् अर्च्य-देवों के विग्रह–प्रतिमाएँ, उनके गृह-स्थान) तीर्थ, क्षेत्र, देवालय सभी गतार्थ है। हिन्दू-प्रतिमा-विज्ञान को पूर्ण रूप से समझने के लिए हिन्दू-तीर्थों का ज्ञान

परमावश्यक है। हिन्दू-तीर्थ वास्तव में स्थापत्य एवं कला के जीते जागते केन्द्र-संग्रहालय (म्यूजियम) हैं। प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि—पूजा-परम्परा—की इस पूर्व-पीठिका में अर्चा-गृह नामक इस अध्याय मे हम इस पुण्य देश के उन पावन प्रदेशों की एक संक्षिप्त समीक्षा करेंगे जो तीर्थ-स्थानो के नाम से विश्रुत है अथवा जहाँ पर देव-दर्शन सुलभ है एव पुण्यार्जन सुकर। आगे उत्तर-पीठिका मे इसी विषय की स्थापत्य की दृष्टि से 'प्रतिमा एव प्रासाद' नामक अध्याय मे तदनुकूल विवेचन का प्रयास होगा।

प्रतिमा—पूजा का स्थापत्य पर जो युगान्तकारी प्रभाव पडा अर्थात् अनेकानेक देव-पीठो, देवालयो, तीर्थ-स्थानों का उदय हुआ—मन्दिरो का निर्माण हुआ, प्रतिमाओं की स्थापना हुई—उसके मर्म का हम तभी पूर्णरूप से मूल्याकन कर सकते हैं जब हम पौराणिक धर्म की उस नवीन धार्मिक ज्योति को ठीक तरह से समझ ले जिसकी प्रकाश-किरणो से प्रोज्ज्वल देव-पूजा-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। पौराणिक पूर्त-व्यवस्था मे देवालय-निर्माण तथा देव-पूजा इस नवीन धार्मिक ज्योति की सर्वप्रमुख किरण थी। त्रिमूर्ति-कल्पना, अवतारवाद, पंचायतन-परम्परा आदि सब इसी महाज्योति के प्रकाशक यन्त्र हैं।

तीर्थों की परम्परा यद्यपि पौराणिक काल में विशेष रूप से पनपी तथापि तीर्थोद्-भावना का श्रीगणेश वैदिक काल मे ही हो चुका था। वैदिक साहित्य मे 'तीर्थ' शब्द के इसी अर्थ से बहुत प्रयोग देखे गये हैं। ऋग्वेद (१.४८८) मे 'तीर्थे सिन्धूनाम्' उल्लिखित है। इसी प्रकार अथर्ववेद (१८४-७) मे 'तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो मही' मे तीर्थ की महिमा पर सकेत है। तैत्तरीय-ब्राह्मण के निम्न-प्रवचन से भी तीर्थो के माहात्म्य की अति प्राचीन परम्परा पर प्रकाश पडता है—यथा धेनुं तीर्थे तर्पयन्ति—तै० ब्रा० २-१-८-३। तैत्तरीय सहिता तो साफ-साफ तीर्थ-स्नान का सकेत करती है—तीर्थे स्नाति ६-१-१-२। इसी प्रकार षड्विंश-ब्राह्मण मे देव-तीर्थ का पूर्ण आभास है—चैतद्वै देवाना तीर्थम् ३-१। इसी प्रकार अनेकानेक सन्दर्भ (जैसे पचविंश ब्राह्मण ६-४, शाखायन श्रौत-सूत्र ५-१४-२) वैदिक वाङ्मय से समुद्धृत किये जा सकते है।

प्रश्न यह है कि इन तीर्थों—देवालयो के अर्चा-गृहो मे प्रथम अर्चा (देव-प्रतिमा) की प्रतिष्ठा हुई कि अर्चा-गृह-देवालयो एव तीर्थों का प्रथम निर्माण हुआ जिनमें अर्चा की प्रतिष्ठा बाद मे की गयी। इस प्रश्न का उत्तर असन्दिग्ध रूप से नही दिया जा सकता। हाँ, यह अवश्य है कि भारत के धार्मिक भूगोल मे शतशः ऐसे नाम हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम देव-विशेष की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी जो उस देव-विशेष की भक्ति-परम्परा अथवा उपासना-परम्परा का प्रतिनिधित्व अथवा प्रतीकत्व करती थी। पुन: कालान्तर पाकर समृद्ध भक्तों के द्वारा उस स्थान पर मन्दिर बनवाये

गये, वापी, कूप, तडाग आदि भी खुदवाये गये और पुष्पोद्यानादि की संयोजना भी की गयी। दर्शनार्थी यात्रियों के लिए निवासार्थ मण्डपादि भी बनाये गये। अत. जहाँ उस स्थान-विशेष पर एकमात्र देव-प्रतिमा ही प्रथम प्रतिष्ठित थी वहाँ आगे चलकर एक बडा विशाल मदिर बन गया एवं मंदिर के आवश्यक अन्य निवेश भी सहज ही उदय हो गये। मयमत (दे० अ० ८) में प्रासाद (देवालय अर्थात् द्राविड़ शैली में निर्मित एव प्रतिष्ठित विमान-प्रासाद) शब्द की परिभाषा मे जो प्रवचन है —

सभा शाला प्रपा रंगमण्डपं मन्दिरं तथा।
प्रासाद इति विख्यातं ॥

उसमें सभा, शाला, प्रपा, (पानीयशाला-पियाऊ), रगमण्डप, नाट्यशाला अथवा प्रेक्षागृह (जहाँ पर अवसर विशेष पर विभिन्न धार्मिक समारोह सम्पन्न होते थे और नाटक, खेल आदि भी होते थे) तथा मन्दिर—इन पाँचो को प्रासाद की सज्ञा देने का क्या रहस्य है? इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर कुमारी डा० स्टैलाक्राम्रिश (दे० हिन्दू-टेम्पिल, ग्रथ प्रथम) की निम्न समीक्षा बड़ी सार्थक है —

"...They are part of the whole establishment of a south Indian temple. The meaning of Prasada is extended here from the temple itself (Mandira) to the various halls also which are attached to it"

अर्थात् ये पाँचो निवेश दाक्षिणात्य मन्दिर के पूरे निवेश के भिन्न-भिन्न अग है। इस प्रकार मन्दिर के अर्थ मे प्रयुक्त 'प्रासाद' शब्द मन्दिर के ही अवयवभूत अन्य भवन, जैसे सभा (असेम्बली-हाल) अर्थात् मण्डप, शाला (विभिन्न परिवार-देवों के निकेतन एव पुजारियो के निवास-भवन, कथावाचको के पुराण-पीठ, देव-दर्शनार्थियो की विश्राम-शालाएँ), प्रपा-जलागार, तथा रगमण्डप के लिए भी प्रासाद शब्द का प्रयोग उचित ही है। अवयवी का नाम अवयव के लिए प्रयुक्त करना पुरानी परम्परा है।

पुर-निवेश (दे० लेखक का 'भारतीय वास्तु-शास्त्र'—इस अध्ययन का प्रथम ग्रथ) मे हमने देखा प्राचीन भारत के नगर-विकास मे मन्दिरों ने महान योग दिया। मन्दिर-नगरो (टेम्पिल सिटीज़) के विकास की कहानी मे मन्दिर की ख्याति एव उसकी धार्मिक गरिमा विशेष उपकारक तो थी ही साथ ही तीर्थ-यात्रियो के सुविधार्थ विभिन्न आवास-योग्य निवेश एव विहार-योग्य बसतियाँ तथा संचार-सौकर्य के लिए वीथियाँ (मगलवीथी आदि) ही नही थी वरन् समृद्ध भक्तो ने अपने दान से विभिन्न मन्दिर-निवेशों की अभि-वृद्धि भी की जिससे एक मन्दिर के स्थान पर अनेक मन्दिर बन गये, एक प्रतिमा के स्थान पर अनेक प्रतिमाएँ पूजी जाने लगी। एक मन्दिर एक नगर में परिणत हो गया।

मंदिर-नगरों की इस प्राचीन परम्परा के गर्भ से ही शतशः ऐसे तीर्थ-स्थान उदय हुए हैं जिनके नाम भी उस देव-स्थान के अधिष्ठातृ देव से संकीर्तित किये गये। उदाहरणार्थ विष्णु (अथवा नारायण) के नाम पर विष्णु-पुर (बंगाल), विष्णु-पद (पंजाब), विष्णु-प्रयाग (अलकनन्दा तथा दुग्धगंगा का संगम-हिमाद्रि), विष्णु-कांची (मद्रास प्रदेश का कंजीवरम), नारायण-पुर (दे० पद्मपुराण–'य प्रयाति स पूतात्मा नारायणपुरं व्रजेत्'), नारायणाश्रम (ब्रह्मपुराण में संकीर्तित) आदि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार वैष्णव-लाछनों—चक्र, पद्म आदि को लेकर विभिन्न तीर्थ-नगरों—मंदिर-नगरों का उदय हुआ, जैसे चक्रतीर्थ, पद्मपुर, पद्मावती आदि। विष्णु के विभिन्न अवतारों से भी अनेक स्थान एवं प्रदेश सम्बन्धित हैं जैसे मत्स्य-देश—आधुनिक जयपुर (मत्स्यावतार), कूर्मस्थान-आधुनिक कुमायूँ का (कूर्मावतार)। इसी प्रकार नृसिंहावतार, रामावतार, कृष्णावतार पर विभिन्न स्थानों के नामकरण हैं।

रुद्र-शिव के नाम पर भी अनेक शैव पीठों एवं शैव नगरों का उदय हुआ। रुद्र-प्रयाग, शिव-कांची, ईशान-तीर्थ, वैद्यनाथ, केदारनाथ, सोमनाथ, रामेश्वर आदि आदि। सरस्वती और दृषद्वती नामक दो देवनदियों के अन्तरावकाश में प्रकल्पित 'ब्रह्मावर्त' पावन प्रदेश में ब्रह्मा का आज भी अहर्निश नाम लिया जाता है। ब्रह्म-वाहन हंस के नाम पर हंसतीर्थ का ब्रह्म-पुराण में संकेत है–ब्रह्मावर्ते कुशावर्ते हंसतीर्थे तथैव च। इसी प्रकार सूर्य एवं चन्द्र के पावन क्षेत्रों—भास्कर क्षेत्र जो आधुनिक कोणार्क-पुरी (उड़ीसा) से १६ मील की दूरी पर स्थित है, तथा सोमतीर्थ (गुजरात के दक्षिण ओर) का नाम आज भी प्रोज्ज्वल एवं प्रख्यात है।

स्कन्द (कार्तिकेय), गणेश, काम, इन्द्र (अथवा शक्र), अग्नि (अथवा हुताशन) आदि देवों के नाम पर भी अनेक स्थान विख्यात हैं। कार्तिकेयपुर (अलमोड़ा) से हम परिचित ही हैं। स्कन्दाश्रम का उल्लेख ब्रह्मपुराण में आया है। वैनायक-तीर्थ की प्रसिद्धि भी कम नहीं है। काम-रूप (भगवती कामाख्या का पीठ–असाम) शाक्त-पीठ के महा माहात्म्य का दैनंदिन गौरव बढ़ा रहा है। शक्र-तीर्थ, हौताशन-तीर्थ पुराणों में निर्दिष्ट हैं।

देवी-तीर्थों के ५१ पीठों का हम संकेत कर ही चुके हैं। उनकी तालिका प्र० वि० पृ० १६१ पर द्रष्टव्य है। यहाँ पर कालिकाश्रम (दे० ब्रह्मपुराण), विरजाक्षेत्र (उड़ीसा का आधुनिक यजपुर), श्रीतीर्थ (पुरी), गौरी-तीर्थ (दे० पद्म-पुराण), श्रीनगर (काश्मीर), भवानीपुर (कलकत्ता का दक्षिण भाग तथा बोगरा जिला का भी भवानीपुर) आदि देवी-स्थानों का संकेतमात्र अभीष्ट है। काशी, मथुरा, अयोध्या आदि सात पुण्य नगरियों का हम संकेत कर ही चुके हैं। पुष्करक्षेत्र (अजमेर के निकट), ब्राह्म-तीर्थ एवं विन्ध्याचल-दुर्गा-तीर्थ की भी बड़ी महिमा है। अस्तु, इन नामों के निर्देश का अभिप्राय, जैसा ऊपर

सकेत है कि बहुसख्यक नगरो का विकास, पावन देवस्थानो, तपोपूत आश्रमो एव विभिन्न भगवदावतारो के क्रीडाक्षेत्र से सम्पन्न हुआ जो कालान्तर मे प्रसिद्ध देव-पीठो के रूप में प्रख्यात हुए। इन्ही पीठो पर कालान्तर मे बडे-बडे मन्दिरो का निर्माण हुआ, अनेकानेक भव्य मूर्तियो की प्रतिष्ठा हुई तथा भारतीय शिल्प एव वास्तु-कलाएँ निखर उठी।

इस सम्बन्ध मे एक तथ्य और है। पौराणिक धर्म में देव-पूजा से सम्बन्धित जो प्राचीन स्थान सकीर्तित है वे स्थापत्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। पौराणिक एव तात्रिक उपासना से प्रभावित देव-पूजा का स्थापत्य पर जो महा प्रभाव पडा वह मध्यकालीन है। स्थापत्य में जो देवालय-निदर्शन हम प्राप्त करते है वे सब ५वी शताब्दी से अर्वाचीन—विशेषकर ११वी शताब्दी से लेकर १७वी शताब्दी तक की अवधि मे भारतीय स्थापत्य का स्वर्णिम प्रभात मध्याह्न सूर्य की प्रखर किरणो से आलोकित हो उठा। अत. ये ही निदर्शन प्रतिमा-पूजा के स्थापत्य पर प्रभाव के परम निदर्शन है।

प्रासाद-स्थापत्य के विकास एव प्रोल्लास की मनोरम झाँकी हम पीछे देख चुके है (दे० 'प्रासाद-कला-कृतियां पर एक विहगम दृष्टि')। आगे मूर्ति-स्थापत्य के विपुल विलास पर हमने 'भारतीय मूर्ति-कला पर एक विहगम दृष्टि' के द्वारा इस देव-पूजा से प्रभावित भारतीय स्थापत्य मे प्रतिमा-निदर्शनों के वृहत् विजृम्भण का इतिहास प्रस्तुत करेगे।

२

प्रतिमा-विज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्त

१. विषय-प्रवेश

इस खण्ड की पूर्व-पीठिका के विगत नौ उपखण्डो मे प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि पूजा-परम्परा पर जो उपोद्घात प्रस्तुत किया गया, उसके विभिन्न विषयो की अवतारणा से प्रतिमा-विज्ञान के प्रयोजन पर जो प्रकाश पडा उससे इस उपोद्घात के मर्म का हम भलीभाँति मूल्याकन कर सके होगे । प्रतीकोपासना एवं प्रतिमा-पूजा की परम्परा का विभिन्न दृष्टिकोणो से यह औपोद्घातिक विवेचन प्रतिमा-विज्ञान के उस मनोरम एवं विस्तीर्ण अधिष्ठान का निर्माण करता है जिस पर प्रतिमा अपने दिव्यरूप के प्रकाश-पुज को वितरण करने मे समर्थ हो सकेगी । किसी भी देव-प्रतिमा का प्रतिमा-पीठ एक अनिवार्य अंग है । प्रतिमा-विज्ञान और पूजा-परम्परा के इसी अनिवार्य सम्बन्ध के मर्म को पूर्णरूप से पाठको के सम्मुख रखने के लिए बड़े सक्षेप मे इस परम्परा का यह विहगावलोकन इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता है । अस्तु, अब प्रतिमा-निवेश की कलात्मक विवेचना करना है । प्रतिमा-विज्ञान शास्त्र एव कला दोनो है । अतः सर्वप्रथम हम आगे के अध्याय मे प्रतिमा-निर्माण-परम्परा पर शास्त्रीय (अर्थात् प्रतिमा-विज्ञान के सिद्धान्तो को प्रतिपादन करनेवाले विभिन्न ग्रन्थ—पुराण, आगम, शिल्प-शास्त्र आदि) तथा स्थापत्य (अर्थात् स्थापत्य केन्द्रो मे विकसित विभिन्न शैलियो एव प्रकल्पित बहुविध मूर्तियाँ) दोनो दृष्टियो से विवेचन करेगे । पुनः इस प्रविवेचन से प्राप्त प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के नाना घटको से प्रादुर्भूत 'प्रतिमा-वर्गीकरण' नामक अध्याय में 'प्रतिमा-निर्माण' की विभिन्न प्रेरणाओ पर जानपदीय संस्कारो तथा धार्मिक प्रगतियो का कैसा प्रभाव पड़ा—इन सबका हम मूल्यांकन कर सकेगे ।

भारत का प्रतिमा-विज्ञान भारतीय वास्तु-शास्त्र का एक प्रोज्ज्वल अग है । अतएव यहाँ की प्रतिमा-निर्माण-कला यहाँ की वास्तु-कला से सदैव प्रभावित रही । इसके अतिरिक्त चूंकि प्रतिमा-निर्माण का प्रयोजन उपासना रहा अतएव विविध उपासना-प्रकारो मे से प्रतिमा-निर्माण में विविध द्रव्यो का प्रयोग वाछित एवं सौविध्यपूर्ण होने के कारण यहाँ के प्रतिमा-द्रव्यों में प्राय: सभी भौतिक द्रव्य एव धातुएँ तथा रत्नजात जैसे मृत्तिका, काष्ठ, चन्दन, पाषाण, लौह, रीतिका, ताम्र, स्वर्ण, माणिक्य आदि रत्न भी

परिकल्पित किये गये। इस दृष्टि से भारतवर्ष के प्रतिमा-निर्माण की द्रव्यजा एवं चित्रजा कला-ससार के स्थापत्य मे एक अद्वितीय स्थान रखती है। यूनान और रोम आदि योरोपीय देशो में, जहाँ पर इस कला का सुन्दर विकास पाया गया है केवल पाषाण का ही प्रबल प्रयोग हुआ है। अतएव वहाँ की कला मे विविध द्रव्यापेक्षी वह बहुमुखी विकास नही मिलेगा जो यहाँ की वरेण्य विभूति है। 'प्रतिमा-द्रव्य' नामक आगे के अध्याय मे इस विषय की सविस्तार समीक्षा की गयी है।

आगे के विभिन्न अध्यायो मे प्रतिपादित भारतीय 'प्रतिमा-विज्ञान' के अन्य आधारभूत सिद्धान्त, जैसे प्रतिमा-मान-विज्ञान, प्रतिमा-विधान अर्थात् प्रतिमा के अंगोपाग के विभिन्न मान एव मानदण्ड के साथ-साथ प्रतिमा-भूषा के लिए इस देश मे जो भूषा-विन्यास-कला का प्रगल्भ प्रकर्ष देखने को मिलता है, उसकी सुन्दर छटा के दर्शन हमे आगे के अध्याय मे करने को मिलेंगे। इस भूषा-विन्यास-कला का भारतीय स्थापत्य मे जो विलास देखने को मिलता है उसके दो प्रधान स्वरूप है—एक बाह्य चित्रण अर्थात् दैहिक एव दूसरा आभ्यन्तर अर्थात् आत्मिक। अत. बाह्य चित्रण का अद्भुत विकास जैसे अनेकमुखी प्रतिमा अथवा बहुमुखी प्रतिमा के मर्म को न समझने वाले कतिपय समीक्षकों ने इस विषय मे बड़ी भ्रान्त धारणाएँ की है। इसका कारण उनका प्रतिमा-निर्माण-प्रयोजन का ज्ञानाभाव ही है। इसी कोटि मे प्रतिमा-आयुध, प्रतिमा-वाहन एव प्रतिमा-आसन आदि भी परिकल्पित किये जाते है। आभ्यन्तर-चित्रण की आभा के दर्शन हम भारतीय प्रतिमाओ की विभिन्न मुद्राओं—वरद, ज्ञान, वैराग्य, व्याख्यान मे पाते है। इन मुद्राओ का क्या मर्म है? इनका प्रयोजन क्या है? इनके चित्रण में कलाकार का कौन-सा उद्देश्य है? इन सभी प्रश्नो के कौतूहल का शमन आगे के मुद्राध्याय मे मिलेगा।

भारतीय कला यान्त्रिक अर्थात् प्रायोगिक एव मनोरम अर्थात् रसास्वाद कराने वाली दोनो ही है। वात्स्यायन के काम-शास्त्र मे सूचित एवं उसके प्रसिद्ध टीकाकार के द्वारा प्रोद्भिन्न परम्परा-प्रसिद्ध चौसठ कलाओं (दे० लेखक का भारतीय वास्तु-शास्त्र, वास्तु-विद्या एव पुर-निवेश) में वास्तुकला भी एक कला है। परन्तु कालान्तर पाकर इस कला के व्यापक विकास एवं आधिराज्य मे प्राय: सभी प्रमुख कलाएँ अपने स्वाधीन अस्तित्व को खो बैठी। भवन-निर्माण-कला, प्रासाद-रचना, पुर-निवेश, प्रतिमा-निवेश, चित्र-कला एव यन्त्र-कला—भारतीय कला के व्यापक कलेवर के ये ही प्रडंग हैं। इन कलाओं मे चित्र-कला (जो प्रतिमा-निर्माण-कला का ही एक अग है) के मर्म का उद्घाटन करते हुए विष्णु-धर्मोत्तर का प्रवचन है कि चित्र-कला, बिना नाट्य और सगीत-इन दो कलाओ के मर्म को पूरी तरह समझे, प्रस्फुटित नही हो सकती। नाट्य कला का

प्राण रसानुभूति अथवा रसास्वाद है जिसे काव्य-शास्त्रियो ने लोकोत्तरानन्द-ब्रह्मानन्द-सहोदर माना है। प्रतिमा-कला एव चित्र-कला के प्रविवेचन मे समरागण सूत्रधार वास्तु-शास्त्र मे एक अध्याय 'रस-दृष्टि' के नाम से लिखा गया है। अत. यह अध्याय विष्णु धर्मोत्तर मे साकेतित प्रतिमा-कला की रसात्मिका प्रवृत्ति का ही प्रोल्लास है। प्रतिमा-निर्माण मे रसानुभूति का यह सयोग समरागण की अपनी विशेष देन है। इस विषय की सविस्तार समीक्षा आगे के 'प्रतिमा-विधान' में 'रसदृष्टि' नामक शीर्षक मे द्रष्टव्य है।

प्रतिमा का आध्यत्मिक अथवा धार्मिक उपासनात्मक अथवा उपचारात्मक प्रयोजन पूजा-परम्परा एव उसकी पद्धति है। परन्तु प्रतिमा का स्थापनात्मक अथवा स्थापत्या-त्मक प्रयोजन प्रासाद (मन्दिर) मे प्रतिष्ठा है। प्रासाद एव प्रतिमा का वही सम्बन्ध है जो शरीर और प्राण का है। बिना प्रतिमा प्रासाद निष्प्राण है। यद्यपि मध्यकालीन विचारधारा के अनुरूप प्रासाद स्वय प्रतिमा है—प्रासाद विश्वमूर्ति की भौतिक प्रतिकृति है अथच वह अर्चागृह (प्रतिमा का घर) के साथ-साथ स्वय अर्च्य है। हिन्दू-प्रासाद की रचना-पद्धति मे प्रासाद-कलेवर के विभिन्न अगो के निर्माण मे प्रतिमा-प्रतीको का ही प्राधान्य है। प्रासाद का यह तात्विक मर्म लेखक के प्रासाद-निवेश मे विशेष द्रष्टव्य है।' वास्तव मे प्रासादो-मन्दिरो की विरचना का एकमात्र उद्देश्य उनमे देव-प्रतिमा की प्रतिष्ठा है। अतः प्रासाद एव प्रतिमा के इस घनिष्ठ सम्बन्ध एवं उनकी वास्तुशास्त्रीय विभिन्न परम्पराओ तथा प्रतिमा-परिकल्पना की विभिन्न उपचेतनाओं तथा शैलियो का कुछ-न-कुछ विवेचन आवश्यक ही है। इसी हेतु 'प्रासाद एव प्रतिमा' नामक अध्याय मे प्रासादो मे प्रतिमा-निवेश एव प्रतिमा-प्रतिष्ठा के मौलिक तत्वों का निरूपण किया गया है।

२. प्रतिमा-निर्माण-परम्परा

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा की शास्त्रीय धारा के पाँच प्रमुख स्रोत है—उनका उदगम एक ही महास्रोत से हुआ अथवा वे पृथक्-पृथक् स्वाधीन स्रोत है—इस पर असदिग्ध दृष्टि से नही कहा जा सकता। हाँ, आगे की समीक्षा से इस पर कुछ प्रकाश अवश्य पडेगा। प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के जिन पाँच स्रोतो का ऊपर सकेत किया गया है उनको पुराण, आगम, तन्त्र, शिल्पशास्त्र तथा प्रतिष्ठा-पद्धति के नाम से हम सकीर्तित कर सकते है। इसके प्रथम कि हम इन सब पर अलग-अलग से इस विषय की अवतारणा करे एक दो तथ्यो का निर्देश आवश्यक है।

भारत के वास्तु-वैभव के महाप्रसार का कारण पौराणिक धर्म है। पौराणिक-धर्म की सर्वातिशायिनी विशेषता पूर्त-व्यवस्था है। पूर्त मे देवालय-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा

एव वापी, कूप, तडाग आदि के निर्माण प्रमुख हैं। ये सब जन-धर्म की उस व्यापक प्रवृत्ति अर्थात् सगुणोपासना के ही अग है जिनकी, जनसमाज की धार्मिक एव आध्यात्मिक पिपासा के शमन-हेतु तथा परलोक-निर्माणार्थ और आमुष्मिक नि.श्रेयस के सम्पादनार्थ, व्यवस्था की गयी। अत अध्यात्म-प्रधान इस देश मे महाराजाओं की अपार धनराशि सामन्तो, श्रेष्ठियो एव सभी सम्पन्न व्यक्तियो की अर्जित सम्पदा का एकमात्र लक्ष्य, अपने इष्टदेव के अर्चागृह-निर्माण एव अन्यान्य धर्मार्थ-कार्यों मे व्यय करना था। अतएव पुरातन वास्तु-कला के स्मारक-निदर्शनो मे---वे ब्राह्मण है अथवा बौद्ध या जैन, सभी मे पूजा-वास्तु या धार्मिक-वास्तु की प्रमुखता ही नही उसी की एकमात्र सत्ता है। परिणामत: पूर्व एव उत्तर मध्य काल मे प्रासाद-रचना का एक स्वर्णयुग प्रादुर्भूत हुआ जिसमें शतश भव्य प्रासादो, विमानो, मठो, विहारो, चैत्यो, तीर्थ-स्थानो, स्नान-घट्टो, पुष्करिणियो एव तडागो का निर्माण हुआ। मध्यकालीन इस वास्तु-वैभव के उदय का अनुपगत प्रभाव प्रतिमा-निर्माण पर भी पडा। इस दृष्टि से भारत की वास्तुकला का विकास एव उसकी वृद्धि भारत की प्रस्तरकला की अन्योन्यापेक्ष्य ही नही समकालिक भी है। इस आधारभूत तथ्य के हृदयगम करने पर ही हम प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के मूलाधारो की एकात्मकता का मूल्याकन कर सकते है।

प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के जिन स्रोतो का ऊपर सकेत किया गया है उनके सबन्ध मे एक सामान्य दूसरा तथ्य यह है कि इन सभी स्रोतो को दो व्यापक वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है---वास्तु-शास्त्रीय तथा अ-वास्तुशास्त्रीय। प्रथम से तात्पर्य वास्तु-शास्त्र के उन स्वाधीन ग्रन्थो से है जिनमे विश्वकर्मीय शिल्प (या विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र), मयमत, मानसार, समरागणसूत्रधार आदि वास्तु-विद्या के नाना ग्रन्थो (दे० लेखक का भा० वा० शा०) का परिगणन है। अ-वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो मे पुराणो, आगमो, तन्त्रो के साथ-साथ उन विभिन्न ग्रन्थो का समावेश है जिनकी विरचना का प्रयोजन पूजा-पद्धति, मन्दिर-प्रतिष्ठा आदि से है। ज्योतिष के ग्रन्थ तो अर्ध-वास्तुशास्त्रीय कहे जा सकते हैं। इन स्रोतो मे वैदिक वाङमय (सहिता, ब्राह्मण, सूत्र-ग्रन्थ आदि) का सकीर्तन नही किया गया है---इसका क्या रहस्य है? वैसे तो वास्तु-विद्या के जन्म, विकास एवं वृद्धि के इतिहास मे प्रथम स्थान सूत्र-ग्रन्थो को दिया गया है (दे० भा० शा०) वास्तु-विद्या के प्राचीन आचार्य वैदिक-कालीन ऋषि ही परिकल्पित है। वास्तु-विद्या की दो महाशाखाओ के मूल प्रवर्तक विश्वकर्मा एव मय वैदिक-कालीन ही है। अशुमद्भेद तथा सकलाधिकार के प्रख्यात प्रणेता काश्यप और अगस्त्य भी वैदिक-कालीन ऋषियों मे ही परिगणित किये जाते हैं। अतः यह निष्कर्ष असगत न होगा कि पौराणिक वास्तु-विद्या का मूलाधार वैदिक वास्तु-विद्या है। परन्तु वैदिक वास्तु-विद्या (विशेष कर

सूत्र-कालीन वास्तु-विद्या) का विशेषकर वदिरचना (जो पूजा-वास्तु अर्थात् प्रासाद-निर्माण की जननी है) ही प्रतिपाद्य विषय था तथा उस काल की प्रतिमा-कल्पन-परम्परा एक प्रकार से अनार्य-संस्था थी अतएव प्रतिमासापेक्ष्य पौराणिक देवोपासना के उदय में जहाँ वैदिक मूलाधार स्पष्ट था वहाँ अनार्यों की—इस देश के मूल निवासियो की—प्रतीकोपासना का भी कम प्रभाव नही पडा। पुराणो का देववाद वैदिक देववाद का ही विजृम्भण है। पुराणों की देवरूपोद्भावना (अर्थात् आइक्नोलोजी जो प्रतिमालक्षण आइक्नोग्राफी की जननी है) का मूलाधार वैदिक ऋचाएँ ही हैं। परन्तु प्रतिमा-पूजा (जो अनार्यों की प्रतीकोपासना के गर्भ से उदित हुई) विशुद्ध वैदिक-संस्था नही थी, अतएव हमने प्रतिमा-निर्माण-परम्परा के प्राचीन स्रोतो मे वैदिक वाङ्मय का उल्लेख नही किया।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है, जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है कि वास्तु-विद्या की शास्त्रीय परम्परा (जिसमे प्रतिमा-विज्ञान भी सम्मिलित है) के उद्भावक आचार्यों मे वैदिक ऋषियो की ही प्रमुखता है—उसका क्या रहस्य है? मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता एव मानसार मे निर्दिष्ट वास्तु-विद्या के प्रतिष्ठापक आचार्यों की एक महती सख्या है (दे० भा० वा० शा०) जिनमे वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नग्नजित, गर्ग, बृहस्पति, अगस्त्य, त्वष्ट्रा, काश्यप, भृगु, पराशर आदि वैदिक-कालीन ही नही वैदिक वाङ्मय के विधाता भी है। वास्तु-कला के समान ही प्रतिमा-शास्त्र पर भी इन प्राचीनाचार्यों का निर्देश प्राचीन ग्रन्थो मे पाया जाता है। उदाहरणार्थ बृहत्संहिता मे 'प्रतिमालक्षण' के अवसर (दे० अ० ५७ वाँ) पर वराह-मिहिर ने नग्नजित तथा वशिष्ठ के एतद्विषयक पूर्वाचार्यत्व पर सकेत किया है। नग्नजित के चित्रलक्षण एव प्रतिमा-लक्षण नामक दो ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर किसी को सन्देह नही। बृहत्संहिता के प्रसिद्ध टीकाकार उत्पल का प्रामाण्य (दे० श्लो० १७ वाँ, अ० ५७ वाँ) ही पर्याप्त है। वशिष्ठ का ग्रन्थ अप्राप्य है। काश्यप के शिल्पशास्त्र (अशुमद्भेद) तथा अगस्त्य के सकलाधिकार से हम परिचित ही है। अतः यह निर्धारण बड़ा कठिन है कि वैदिक-काल मे ही प्रतिमा-निर्माण-परम्परा पल्लवित हो चुकी थी कि नही? बहुत सम्भव है वास्तु-विद्या की अन्य विद्याओ के समकक्ष प्रतिष्ठार्थ ही इन अतीत महापुरुषो की परिकल्पना की गयी हो। अठारह व्यासो की परम्परा से हम परिचित है। वैदिक ऋचाओ की सकलनो की तो बात ही क्या। अष्टादश पुराणों एव विशालकाय महाभारत के रचयिता व्यास की जैसी परम्परा है, सम्भव है, वैसी ही परम्परा इन प्राचीन वास्तु-आचार्यों की हो। इस समीक्षा से इतना तो निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि जिस प्रकार से प्रतिमा-पूजा एक अति प्राचीन परम्परा है वह वैदिककाल में भी विद्यमान थी (दे०

पू० पी०) उसी प्रकार प्रतिमा-निर्माण-परम्परा भी अति पुरातन परम्परा है। भाषा और व्याकरण का अन्योन्यापेक्षी जन्म एव विकास प्रतिमा-पूजा एव प्रतिमा-निर्माण का भी है।

अस्तु, इस औपोद्घातिक संकेत के अनन्तर अब प्रतिमा-निर्माण-परम्परा की दोनो धाराओ—शास्त्रीय एव स्थापत्यात्मक—की समीक्षा का अवसर आता है। परन्तु इसी ग्रन्थ मे इन दोनों विषयो की अन्यत्र (दे० स्थापत्य-शास्त्र—एक विहगम दृष्टि तथा भारतीय-स्थापत्य मे पाषाण-कला का एक विहगावलोकन) समीक्षा होने के कारण यहाँ पिष्टपेषण होगा। अथच, इस विषय की एक सक्षिप्त समालोचना हमारे 'प्रतिमा-विज्ञान' पृ० १७६—६२ मे है अत. पाठक उसका परिशीलन वही करे।

३. प्रतिमा-वर्गीकरण

स्वभावत किसी भी वर्गीकरण के कतिपय मूलाधार होते हैं? अत प्रतिमा-वर्गीकरण के कौन से मूलाधार परिकल्पित होने चाहिए? भारतीय वास्तुशास्त्र (प्रतिमा-विज्ञान जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है) का उद्गम भारतीय धर्म के महास्रोत से हुआ, अत जैसा कि पूर्व पृष्ठो से स्पष्ट है, प्रतिमा-विज्ञान का प्रयोजन इसी धर्म की भक्ति-भावना अथवा उपासना-परम्परा के साधन-रूप मे परिकल्पित है। अथच, यह उपासना-परम्परा अपने बहुमुखी विकास मे नाना धर्मों एव धर्म-सम्प्रदायो, मतो एव मतान्तरो के अनुरूप नाना रूपो मे दृष्टिगोचर होती है। परिणामत. भारतीय प्रतिमाओ के नाना वर्ग स्वत. सम्भृत हुए। भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के ग्रथो मे ही नही, भारतीय स्थापत्य कला-केन्द्रो मे भी प्रतिमाओ की इस अनेक-वर्गता के दर्शन होते हैं। अत. भारतीय प्रतिमा-वर्गीकरण बड़ा कष्टसाध्य है। प्रतिमाओ के वर्गीकरण मे एकाध मूलाधार से काम नही बनता जैसा कि आगे स्पष्ट है। पहले हम पूर्वपक्ष के रूप मे विद्वानो मे प्रचलित प्रतिमा-वर्गीकरणों का निर्देश करेगे पुन सिद्धान्त-पक्ष के रूप मे इस अध्ययन के प्रतिमा-वर्गीकरण पर सकेत करेगे।

(अ) प्रतिमा-केन्द्रानुरूपी-वर्गीकरण—भारतीय प्रस्तर-कला के आधुनिक ऐतिहासिक ग्रन्थो मे प्रतिमा-वर्गीकरण का आधार प्रतिमा-कला-केन्द्र माना गया है, अतएव कला-केन्द्रानुरूपी वर्गीकरण निम्न प्रकार से निर्देश्य है—

१—गान्धार-प्रतिमाएँ	४—तिब्बती (महाचीनी) प्रतिमाएँ
२—मगध-प्रतिमाएँ	५—द्राविडी-प्रतिमाएँ
३—नैपाली-प्रतिमाएँ	६—मथुरा की प्रतिमाएँ

परन्तु यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नही है, यह तो एकमात्र ऊपरी व्याख्यान है क्योंकि

इन विभिन्न केन्द्रों की प्रतिमाओ की एक ही शैली हो सकती है। अतः इन वर्गीकरण का अतिव्याप्ति-दोष स्पष्ट है।

(ब) धर्मानुरूपी वर्गीकरण—वैदिकधर्म में देव-भावना का क्या रूप था, पौराणिक देववाद में कौन से लक्षण एव लाछन थे, एव तान्त्रिक भाव एवं आचार से अनुप्राणित होकर देव-वृन्द का कैसा स्वरूप विकसित हुआ—इन प्रश्नों का समाधान करने वाला यह वर्गीकरण है—१. वैदिक, २ पौराणिक तथा ३. तान्त्रिक। भारतीय प्रतिमाओं के इस वर्गीकरण में अव्याप्ति-दोष निश्चित है—वैदिक, पौराणिक एव तान्त्रिक धर्मानुरूप देव-प्रतिमाओ के अतिरिक्त बौद्ध एव जैन प्रतिमाओ की एक लम्बी सूची है, सुदीर्घकालीन परम्परा एव सुविख्यात कला भी। यदि यह कहा जावे, बौद्धों एव जैनों के भी तो पुराण और तन्त्र हैं सो बात नही। बौद्धो एव जैनो की पौराणिक एव तान्त्रिक प्रतिमाएँ ब्राह्मणों की पौराणिक एव तान्त्रिक प्रतिमाओ से सर्वथा विलक्षण हैं।

(स) धर्म-सम्प्रदायानुरूपी वर्गीकरण—जैसे शैव, वैष्णव, सौर, शाक्त, गाणपत्य आदि—भी ठीक नही क्योंकि यह वर्गीकरण भी विशाल नहीं है, अव्याप्ति-दोष इसमे भी है। अत बहुत से विद्वानों ने भारतीय प्रतिमाओ का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

१—ब्राह्मण-प्रतिमाएँ (अ) पौराणिक (ब) तान्त्रिक

२—बौद्ध-प्रतिमाएँ (अ) पौराणिक (ब) तान्त्रिक

३—जैन-प्रतिमाएँ (अ) पौराणिक (ब) तान्त्रिक

प्रतिमाओं के इस व्यापक एव बाह्य वर्गीकरण के उपरान्त अब सूक्ष्म रूप से कुछ अन्तर्दर्शन करें। राव महाशय ने (दे० एलिमेंट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी) ब्राह्मण प्रतिमाओं के निम्न तीन प्रधान वर्गीकरण परिकल्पित किये हैं—

१—चल और अचल प्रतिमाएं

२—पूर्ण और अपूर्ण प्रतिमाएँ

३—शान्त और अशान्त प्रतिमाएँ

चलाचल प्रतिमाओं के वर्गीकरण का आधार यथानाम प्रतिमाओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है कि नही—अर्थात् चालनीयत्व या अचालनीयत्व है। चल प्रतिमाओं के निर्माण मे ऐसे द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है जो हलके हों—धातु—स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि तथा वे अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। अचला प्रतिमाओं के निर्माण मे पाषाण-प्रयोग स्वाभाविक है और वे बडी, लम्बी, विशाल और गरू होती हैं। भृगुवैखानसागम के अनुसार चल और अचला प्रतिमाओ के पुनः निम्न भेद परिकल्पित किये गये है—

चल प्रतिमाएँ—(टि० "वेर" शब्द का अर्थ प्रतिमा है।)

१–कौतुक-वेर — पूजार्थ

२–उत्सव-वेर — उत्सवार्थ पर्व-विशेष पर बाहर ले जाने के लिए

३–बलि-वेर — दैनिक उपचारात्मक पूजा मे उपहारार्थ

४–स्नपन-वेर — स्नानार्थ

अचला-प्रतिमाएँ—अर्थात् मूल-विग्रह अथवा ध्रुव-वेर प्रासाद-गर्भ-गृह में स्थापित की जाती हैं। ये सदैव यथास्थान स्थापित एव प्रतिष्ठित रहती हैं, इनके निम्न भेद परिकल्पित हैं —

१–स्थानक —खडी हुई ३–शयन – विश्राम करती हुई

२–आसन —बैठी हुई

टि० १–इस वर्गीकरण का आधार देह-मुद्रा है।

टि० २–इस वर्गीकरण की दूसरी विशेषता यह है कि केवल वैष्णव-प्रतिमाएँ ही इन मुद्राओं मे विभाजित की जा सकती हैं, अन्य देवों की नही। शयन-दुहमुद्रा विष्णु को छोड कर अन्य किसी देव के लिए परिकल्प्य नही। अथच, वैष्णव-प्रतिमाओ के इस वर्गीकरण मे निम्नलिखित उपवर्ग भी आपतित होते हैं —

१. योग २ भोग ३. वीर एव ४. अभिचार

प्रथम प्रकार अर्थात् योग-मूर्तियों की उपासना आध्यात्मिक निःश्रेयस के प्राप्त्यर्थ, भोग-मूर्तियों की उपासना ऐहिक अभ्युदय-निष्पादनार्थ, वीर-मूर्तियो की अर्चा राजन्यो, शूरवीर योद्धाओ के लिए प्रभु-शक्ति तथा सैन्य-शक्ति के उपलब्ध्यर्थ एव आभिचारिक-मूर्तियो की उपासना आभिचारिक कृत्यों—जैसे शत्रु-मारण, प्रतिद्वन्द्वादि पराजय, आदि के लिए विहित है। आभिचारिक-मूर्तियो के सम्बन्ध मे शास्त्र का यह भी आदेश है कि इनकी प्रतिष्ठा नगर के अभ्यन्तर नही ठीक है, बाहर पर्वतो, अरण्यो तथा इसी प्रकार के निर्जन प्रदेशों पर इनकी स्थापना विहित है। इस प्रकार अचला प्रतिमाओ की निम्न द्वादश श्रेणियाँ सघटित होती हैं —

१–योग-स्थानक	*५–योगासन*	*९–योग-शयन.*
२–भोग-स्थानक	६–भोगासन	१०–भोग-शयन-
३–वीर-स्थानक	७–वीरासन	११–वीर-शयन
४–आभिचारिक-स्थानक	८–आभिचारिकासन	१२–आभिचारिक-शयन

पूर्णापूर्ण-प्रतिमाएँ—इस वर्ग के भी तीन अवान्तर भेद हैं अर्थात् प्रथम वे मूर्तियाँ आती हैं जिनकी आकृति के पूर्णावयवो की विरचना की गयी है, दूसरे जिनकी अर्ध-कल्पना ही अभीष्ट है, तीसरे जिनका आकार क्या है—इसकी व्यक्ति न हो—प्रतीक-

मात्र। प्रथम को व्यक्त कहते हैं, दूसरी को व्यक्ताव्यक्त कहते हैं। इसके निदर्शन में मुख-लिंग-प्रतिमाओं एवं त्रिमूर्ति-प्रतिमाओ (दे० एलीफेण्टा की त्रिमूर्ति प्रतिमा) का समावेश है। लिंग-मूर्तियाँ—बाण-लिंग, शालग्राम आदि तीसरी कोटि अर्थात् अव्यक्त (प्रतीक-मात्र) प्रतिमाओ के निदर्शन हैं।

इसी वर्ग के सदृश प्रतिमाओं का एक दूसरा वर्ग भी द्रष्टव्य है—

१–चित्र—वे प्रतिमाएँ जो सांगोपांग व्यक्त है

२–चित्रार्ध—वे जो अर्ध-व्यक्त हैं

३–चित्राभास—से तात्पर्य चित्रजा प्रतिमाओ से है।

शान्ताशान्त प्रतिमाएँ—इन प्रतिमाओं का आधार भाव है। कुछ प्रतिमाएँ रौद्र अथवा उग्र चित्रित की जाती हैं और शेष शान्त अथवा सौम्य। शान्तिपूर्ण उद्देश्यो के लिए शान्त प्रतिमाओ की पूजा का विधान है, इसके विपरीत आभिचारिक–मारण, उच्चाटन आदि के लिए उग्र, भयावह तीक्ष्ण नख, दीर्घदन्त, बहुभुज, अस्त्र-शस्त्र-सुसज्जित, मुण्ड-माला-विभूषित, रक्ताभस्फुलिंगोज्ज्वल नेत्र प्रदर्शित किये जाते हैं।

वैष्णव एवं शैव दोनो प्रकार की मूर्तियो के निम्न स्वरूप अशान्त प्रभेद के निदर्शन हैं–

वैष्णव—विश्वरूप, नृसिंह, वटपत्र-शायी, परशुराम आदि।

शैव—कामारि, गजह, त्रिपुरान्तक, यमारि आदि।

अस्तु, यह विभिन्न वर्गीकरण सर्वथा निर्दोष नही है (दे० प्र० वि० पृ० १६६-६७) अतः प्रतिमाओं के वर्गीकरण के कुछ आधारभूत सिद्धान्तो के बिना स्थिर किये कोई भी प्रतिमा वर्गीकरण पूर्ण अथवा अधिकांशपूर्ण नही हो सकता। इस दृष्टि से हमारी तो धारणा है कि प्रतिमा वर्गीकरण के निम्नलिखित आधार सर्वमान्य होने चाहिए जिनका आश्रय लेकर प्रतिमा वर्गीकरण पुष्ट हो सकता है—

१–धर्म, २–देव, ३–द्रव्य, ४–शास्त्र एवं ५–शैली

इस वर्ग पंचक के आधार पर समस्त प्रतिमा वर्गीकरण उपकल्पित हो सकता है।

१. धर्म–के अनुरूप ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन

२. देव–ब्राह्म, वैष्णव, शैव, सौर तथा गाणपत्य

टि०–अन्य देवो की प्रतिमाओ को इन्ही पंच प्रधान देवो मे गतार्थ किया जा सकता है।

३. द्रव्य–१–मृन्मयी २–दारुजा

३–धातुजा या पाकजा (कांचनी, राजती, ताम्री, रैतिका, लोहजा आदि)

४–रत्नोद्भवा ५–लेप्या

६–चित्रजा ७–मिश्रजा

टि०—इस सम्बन्ध मे विशेष चर्चा द्रव्य-प्रकरण (दे० आगे का स्तम्भ) मे है।

४. शास्त्र-प्रतिमा-साहित्य ही नही समस्त वास्तु-साहित्य की दो विशाल धाराओं का हम निर्देश ही नहीं, विवेचन भी कर चुके है। अतः उस दृष्टिकोण से प्रतिमाओ की शास्त्रीय परम्परानुरूप पाँच अवान्तर-वर्ग किये जा सकते है —

१–पौराणिक	३–तान्त्रिक	५–मिश्रित
२–आगमिक	४–शिल्पशास्त्रीय	

५. शैली–प्रतिमा-निर्माण मे प्रासाद-निर्माण के समान दो ही प्रमुख शैलियाँ—द्राविड़ और नागर—नही है। प्रतिमा-स्थापत्य पर विदेशी प्रभाव भी कम नही। बौद्ध-प्रतिमा का जन्म ही गान्धार-कला (जिस पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है) पर आश्रित है। अतः प्रतिमा-निर्माण की परम्परा का शैलियो के अनुरूप स्वरूप-निर्धारण निर्भ्रान्त नही है। इस विषय पर कुछ विशेष सकेत आगे किया जायगा।

४. प्रतिमा-द्रव्य

मानव-सम्यता के उत्तरोत्तर अभ्युदय की कहानी के अनुरूप जिस प्रकार भवन-निर्माण-कला—वास्तु-कला के निर्मापक द्रव्यो मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी, उसी प्रकार जहाँ प्रतिमा-निर्माण के पहले दो द्रव्य थे—दारु तथा मृत्तिका—वहाँ कालान्तर में चौगुने हो गये। विभिन्न ग्रन्थो में इन द्रव्यो की सख्या का जो उल्लेख है वह प्राय. ७–८ से कम नही है।

समरागणसूत्रधार ने अपने प्रतिमा-लक्षण मे निम्नलिखित प्रतिमा-द्रव्यो का उल्लेख किया है —

सख्या	द्रव्य	फल	सख्या	द्रव्य	फल
१.	सुवर्ण	पुष्टिकारक	५.	दारु	आयुष्य
२.	रजत	कीर्तिवर्धक	६.	लेप्य (मृत्तिका)	धनावह
३.	ताम्र	सन्तान-वृद्धि-दायक	७.	चित्र	धनावह
४.	पाषाण	भू-जयावह			

भविष्य आदि पुराणो में भी प्रतिमा के ७ द्रव्य माने गये है। अत समरागण के ये द्रव्य पौराणिक परम्परा के ही अनुसार परिकल्पित है, जो स्वाभाविक ही है। भविष्य-पुराण में जिन सात प्रतिमा-द्रव्यो का सकीर्तन है वे हैं —

१–काचनी	२–राजती	३–ताम्री	४–पार्थिवी (स० सू० लेप्या)
५–शैलजा	६–वार्क्षी (स० सू० दारुजा)	७–आलेख्यका (स० सू० चित्रजा)	

"शुक्र-नीति-सार" में तो मूर्ति-स्थानो—प्रतिमा-निर्माण-द्रव्यो की सख्या सात बढ़कर आठ हो गयी है। तथाहि —

प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृन्मयी ।
वार्क्षी पाषाणधातूत्था स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा ॥

अर्थात् सैकती—सिकता—बालू से विनिर्मिता, पैष्टी—पिष्टा द्रव्य (चावल आदि को पीसकर पीठा आदि) से विनिर्मिता, लेख्या (चित्रजा), लेप्या (दे० आगे की एतद्विषयिणी समीक्षा), मृन्मयी—मृत्तिका से बनायी हुई, वार्क्षी अर्थात् काष्ठजा, पाषाण से निर्मित और धातुओं (सोना, चाँदी, पीतल, ताँबा, लोहा आदि) से बनायी गयी अष्टधा-प्रतिमा द्रव्यानुरूप उत्तरोत्तर स्थिर अर्थात् बहुत दिनों तक टिकाऊ समझनी चाहिए।

गोपालभट्ट (देखिए हरिभक्ति-विलास) ने द्रव्यानुरूप प्रतिमाओं के निम्नलिखित दो प्रकारों का उल्लेख किया है—

प्रथम प्रकार—चतुर्विधा प्रतिमा—

१—चित्रजा, २—लेप्यजा, ३—पाकजा, ४—शस्त्रोत्कीर्णा

द्वितीय प्रकार—सप्तधा प्रतिमा—

१—मृन्मयी, २—दारुघटिता, ३—लोहजा, ४—रत्नजा
५—शैलजा, ६—गन्धजा, ७—कौसुमी

श्री गोपीनाथ राव महाशय ने अपने ग्रन्थ में (दे० एलिमेंट्स आफ हिन्दू आइक्नोग्राफी पृ० ४८) आगम-प्रतिपादित प्रतिमा-द्रव्यों में निम्नलिखित द्रव्यों का उल्लेख किया है—

१—दारु	३—रत्न	५—मृत्तिका
२—शिला	४—धातु	६—मिश्र द्रव्य

यह अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योंकि काचनी, राजती, ताम्री आदि प्रतिमाओं के द्रव्य धातु के अन्तर्गत आ ही जाते हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् द्रव्य के रूप में परिकल्पित करने की अपेक्षा धातु के अन्तर्गत करना चाहिए। रजत, सुवर्ण, लौह, ताम्र आदि एक ही धातु-वर्ग के विभिन्न अवान्तर उपवर्ग हैं। राव ने रत्नों के सम्बन्ध में आगामिक सूची में निम्नलिखित रत्नों का परिगणन किया है—

१—स्फटिक—चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणियाँ

२—पद्मराग	४—वैदूर्य	६—पुष्य
३—वज्र	५—विद्रुम	७—रत्न

उपर्युक्त षड्वर्ग के अतिरिक्त निम्न द्रव्यों का भी राव ने उल्लेख किया है—

१—इष्टका २—कडिशर्करा एवं ३—दन्त (गज)

मानसार में सुवर्ण, रजत, ताम्र, शिला, दारु, सुधा, शर्करा, आभास, मृत्तिका—इन द्रव्यों का जो उल्लेख है वह पीछे की समीक्षा से वैज्ञानिक नहीं परन्तु इस सूची में

सुधा और आभास—ये दो द्रव्य और हस्तगत हुए। सुधा को "कडिशर्करा" के अन्तर्गत निविष्ट किया जा सकता है परन्तु आभास तो द्रव्य न होकर प्रतिमा-वर्ग है जिसकी मीमासा हम पीछे (दे० प्रतिमा-वर्ग) कर आये है।

विस्तार-भय से एव स्थानाभाव के कारण यहाँ पर इन द्रव्यों की अलग-अलग समीक्षा प्रस्तुत करना असम्भव है अत इनके विवरण आदि हमारे 'प्रतिमा-विज्ञान' पृ० २०३–२१६ मे दृष्टव्य है। इन विवरणो मे काष्ठमयी प्रतिमाओ के सम्बन्ध में किस प्रकार से किन-किन वृक्षो से दारु-आहरण करना चाहिए आदि विवेचन पठनीय है। इसी प्रकार मृन्मयी प्रतिमाओ एव शिलामयी प्रतिमाओ की रचना के कौन-कौन से उपकरण है और क्या-क्या विधान है—यह सब वही द्रष्टव्य है। चित्रजा प्रतिमाओं की रचना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन आगे करेगे। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि प्रतिमा-निर्माण मे मृत्तिका, काष्ठ, पाषाण, धातु, रत्न एव चित्र—इन नाना द्रव्यो की सयोजना से भारतीय प्रतिमा-स्थापत्य के विपुल विकास का ही आभास नही प्रतीत होता है वरन् प्रतिमा-पूजा के अत्यन्त व्यापक प्रसार के भी पूर्ण दर्शन होते है, और साथ ही साथ भारत के विभिन्न व्यवसायो मे प्रतिमा-निर्माण के व्यवसाय के महत् विकास का भी यह परिचायक है जिसमे न केवल काष्ठकार (तक्षक), मूर्ति-निर्माता, पाषाण-कार (स्थपति) का ही व्यवसाय दैनदिन विकास को प्राप्त हो रहा था वरन् पात्रकार, कुम्भ-कार एव कांस्यकार तथा लौहकार और स्वर्णकार के साथ-साथ चित्रकार एव दन्त-नवकास और रत्न-कार (जौहरी) के व्यवसायो को भी प्रतिमा-निर्माण की अत्यधिक माँग से अनायास महान् प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। प्रतिमा-निर्माण के इस महाप्रसार के अन्तर्तम मे पौराणिक धर्म मे प्रतिपादित देव-पूजा एव देव-भक्ति के व्यापक अनुगमन का रहस्य छिपा है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायो—वैष्णव, शैव, शाक्त आदि—के विकास से स्वत. यह स्थापत्य-विकास प्रादुर्भूत हुआ। पौराणिक देववाद के मौलिक स्वरूप मे इन सम्प्रदायो की विशिष्ट कल्पनाओं ने नाना नये देवो की रचना की। अत प्रतिमा-निर्माण भी नानारूपोद्भावनाओ से अनुगत प्रभावित हुआ। विभिन्न कला-केन्द्रो मे प्रतिमा-निर्माणशालाओं की इतनी उन्नति हुई कि उनकी अपनी-अपनी नयी-नयी शैलियाँ विकसित हुई। राज्यकुलो की वदान्यता, भक्ति एव धर्माश्रय एव मन्दिर-निर्माण आदि ने भी प्रतिमा-निर्माण के बहुमुखी विजृम्भण मे सबसे अधिक सहायता प्रदान की।

५. प्रतिमा-विधान—(मान-योजना एवं गुण-दोष निरूपण)

भारतीय धारणा के अनुसार कोई भी वास्तु-कृति, वह भवन है या मन्दिर, पुर अथवा ग्राम, सभी को 'मेय' होना अनिवार्य है। समरांगण साफ-साफ कहता है—

यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते ।

अथच देव-प्रतिमा-विरचना मे तो मानाधार अनिवार्य है । शास्त्र मे प्रतिपादित प्रमाणो के अनुसार ही विरचित देव-प्रतिमाएँ पूजा के योग्य बनती है (स० सू० ४०.१३) का प्रवचन है—

'प्रमाणे स्थापिताः देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति हि'

अत निर्विवाद है कि प्रतिमा-विधान बिना प्रतिमा-मान के पगु है ।

प्रतिमा-विधान में मान—योजना के इस अनिवार्य अनुगमन पर इस सामान्य उपोद्घात के अनन्तर दूसरा सामान्य तथ्य यह है कि भारतीय स्थापत्य-कर्म धार्मिक-कार्य—यज्ञाय-कर्म के समान पावन एव दीक्षा और तपस्या की साधना से अनुप्राणित है । अत. प्रतिमा-विधान के लिए उद्यत स्थपति के लिए अपने शरीर एव मन, प्रज्ञा एव शील को प्रतिमा-विरचन के योग्य बनाने के लिए कतिपय साधना-नियमो का पालन विहित है । सयम एव नियम के बिना जब देवाराधन दुष्कर है तो देव-प्रतिमा-विरचना कैसे सम्भव हो सकती है ? शास्त्रज्ञ, प्राज्ञ, शीलवान एव कर्मदक्ष मूर्ति-निर्माता स्थपति के लिए निर्माण-काल मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है । वह पूरा भोजन नही कर सकता, देव-यज्ञ करता हुआ यज्ञीय-शेष हविष्यान्न से ही उसे अपनी शरीर-यात्रा सम्पादन करनी चाहिए । शय्या का शयन वर्ज्य है । धरणी-पृष्ठ पर ही वह सो सकता है—प्रारभेद विधिना प्राज्ञो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय । हविष्यनियताहारो जपहोमपरायण. शयानो धरणीपृष्ठे—स० सू० ७६.३—४ । इस प्रकार की दैहिक शुद्धि, दैवी भावना एव आध्यात्मिक उपासना के द्वारा ही कर्ता स्थपति अपने हस्तो को अपने शुद्ध मन एव निर्मल आत्मा के साथ सयोजित कर अपने हस्त-लाघव का परिचय दे सकता है । प्रतिमा-विधान में स्थपति की बौद्धिक योग्यता (दे० स्थपति एव स्थापत्य) के साथ-साथ नैतिक एव आध्यात्मिक योग्यता भी परमावश्यक है ।

अस्तु, कोई भी कला-कृति हो उसमे सौष्ठव-सम्पादन के लिए किन्ही आधारभूत सिद्धान्तों का सहारा आवश्यक है । काव्य को ही लीजिए । बिना छन्द-बन्ध के काव्य-प्रबन्ध का न तो सुन्दर स्वरूप ही निखरता है और न उससे सहज एवं स्वाभाविक रसनिष्पन्द ही सम्पन्न होता है । लयाभाव से पाठक अथवा श्रोता की हृत्तन्त्री एव रागात्मिका प्रवृत्ति में भी न तो स्फुरण ही उदय होता है और न प्रोल्लास । अत चिरन्तन से प्रत्येक कला की कृति मे कोई न कोई आधारभूत सिद्धान्त कलाकारो के द्वारा अवश्य अपनाया गया है । आदि कवि की प्रथम कविता मे इसी छन्दोमयी वाणी ने भू-तल पर काव्य की सृष्टि की । प्रतिमा-प्रकल्पन मे ये आधारभूत सिद्धान्त मान-सिद्धान्त है । प्रतिमा-कल्पन मे मान-योजना सर्वाधिक महत्त्व रखती है । प्रश्न यह है कि मान का

आधार क्या है ? देव-प्रतिमा की कृति के लिए कर्ता स्वयं आधार है। मूर्ति निर्माता स्थपति के सम्मुख जो आधारभूत भावना सतत जागरूक रही वह यह कि मानव के देव भी मानव के सदृश ही आकार रखते है। ऋग्वेद मे देवों को 'दिवोनर', 'नृपेश' कहा गया है। अत. देवों को मानवाकृति प्रदान करने मे वैदिक ऋषियो ने ही पथ-प्रदर्शन किया। "रसो वै स" की वेद-वाणी ने जिस प्रकार काव्य मे रसास्वाद को "ब्रह्मानन्द-सहोदर" परिकल्पित किया उसी प्रकार 'दिवोनर' आदि वैदिक सकेतों से प्रतिमाकारों ने देव-प्रतिमाकृति को मानवाकृति से विभूषित किया तथा मानव-मान को ही देव-मान के लिए निर्धारण मे आधार माना। वराहमिहिर ने देवप्रतिमा के आभूषण एव वस्त्र आदि के लिए जो 'देशानुरूप' व्यवस्था की अर्थात् प्रतिमा मे देवो एवं देवियो के वस्त्र और आभूषण आदि की सयोजना मे तत्तद्देशीय स्त्री–पुरुषो के वस्त्राभूषण ही नियामक है। उसी व्यवस्था को थोडा सा यदि आगे ले जायँ तो प्रतिमा मे प्रकल्प्य देवो एव देवियो के रूप, आकार एव प्रमाण आदि भी मानवाकार एव मानवप्रमाण से ही निर्धारित होंगे।

देवों की मानवाकृति-कल्पना मे इस बहिरगाधार के अतिरिक्त एक अत्यन्त अन्तरग रहस्य भी अन्तर्हित है। देव, देव तभी बनते है जब वे मानवरूप धारण करते है (अवतारवाद); अन्यथा देव तो निर्गुण एवं निराकार है। इसी दार्शनिक दृष्टि के मर्म को समझने वाले प्राचीनाचार्यो ने देवो की रूप-कल्पना मे उनको मानवो का रूप ही प्रदान नहीं किया, मानवों के भूषा-विन्यास से ही उनको विन्यस्त नही किया वरन् मानवो की मनोभावनाओं एव रागद्वेषो से भी उन्हे आक्रान्त दिखाया। भगवान् विष्णु के प्रमुख अवतार——राम-कृष्ण की मानव-लीला (या देव-लीला) से कौन परिचित नहीं। गोपी-वल्लभ कृष्ण की प्रेम-लीलाओ एव मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के सीता-विलापो मे मानव-मनोभाव के ही तो प्रत्यक्ष दर्शन होते है। लोक-शंकर भगवान् शकर भी तो सती-दाह से विह्वल होकर भगवती की मृत देह को कधे पर रखकर कहाँ-कहाँ नही भटके ? इस प्रकार देव-प्रतिमा का माडेल स्वय मानव है–यह सिद्ध हुआ है।

इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय कलाकारो की जहाँ यह धारणा रही कि देव-मूर्तियो की निर्माण-परम्परा का आविर्भाव 'ध्यान-योग' की ससिद्धि के लिए हुआ– "ध्यानयोगस्य ससिद्धचै प्रतिमा-लक्षणं स्मृतम्" वहाँ प्रतिमा-कारक प्रतिमा-विरचना मे स्वय ध्यान-मग्न होकर ही यह कार्य सम्पादन करे–"प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत्।" अथच परिपूर्ण सौन्दर्य का सन्निवेश बहुत कम कलाकारों के बूते की बात है। उक्ति भी है–"सर्वांगैस्सर्वरम्यो हि कश्चिल्लक्ष्ये प्रजायते।" लक्ष्य का तात्पर्य यहाँ 'प्रतिमा-विरचना' से है। अत कला-विज्ञान के आचार्यों ने शास्त्रप्रतिपादित प्रमाण

को ही प्रतिमा-कला का प्राण माना–"शास्त्र-मानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि ।" भारतेतर प्राचीन देशो मे भी प्रतिमा-मान के शास्त्रीयकरण की पद्धति प्रचलित थी। मिस्रदेश इस पद्धति का प्रथम प्रतिष्ठापक हुआ। कालान्तर पाकर यूनान और रोम आदि देशो ने भी इसी पद्धति को अपनाया।

अस्तु, देवो के प्रतिमा-विधान (प्रतिमा-लक्षण) मे मान-सिद्धान्तों की अनिवार्य योजना पर इस सकेत के उपरान्त हमे सर्वप्रथम यह देखना है कि इस मान-योजना की मानव-रूप-कल्पना के अनुरूप कैसे सगति स्थिर होती है? वराहमिहिर की 'बृहत्सहिता' के अनुसार प्राचीन कलाविदो की यह धारणा सिद्ध होती है कि मान के अनुरूप पुरुषो के पाँच वर्ग है। इनकी सज्ञा है–हस, शश, रुचक, भद्र तथा मालव्य और इन पाचो पुरुषो के मान, आयाम तथा परिणाह के अनुरूप, क्रमश ९६, ९९, १०२, १०५, १०८ अगुल माना गया है। इस वर्गीकरण का आधार जातीय था या अन्य था—निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सम्भवत इस विशाल देश के विशाल भूभाग मे जलवायु, रहन-सहन, आहार-विहार, ऊँचाई-लम्बाई आदि को दृष्टि मे रखकर मनीषियो ने एक सामान्य मान प्रस्तुत किया। वराहमिहिर ने तो इस वर्गीकरण का आधार नक्षत्र-विशेष मे उत्पत्ति प्रकल्पित की है।

प्रतिमा-विधान मे मान-प्रक्रिया को पूर्ण रूप से समझने के लिए कतिपय मान-योजनाओं का हृदयगमन आवश्यक है। मान के दो प्रकार है–अगुल-मान तथा ताल-मान। इसमे भी दो उपवर्ग है–स्वाश्रय तथा सहायक। प्रथम का आधार कतिपय प्राकृतिक पदार्थों की लम्बाई है, और दूसरा मेय प्रतिमा के अग-विशेष अथवा अवयव-विशेष की लम्बाई पर आधारित रहता है। समरागण (दे० 'मानोत्पत्ति' नामक ७५ वाँ अ०) मे स्वाश्रय-मान पद्धति की निम्न तालिका द्रष्टव्य है —

८ परमाणुओ से	१ रज निर्मित होता है।
८ रज से	१ रोम निर्मित होता है।
८ रोमो से	१ लिक्षा ,, ,,
८ लिक्षाओ से	१ यूका ,, ,,
८ यूकाओं से	१ यव ,, ,,
८ यवो से	१ अगुल ,, ,,

दो अंगुल को "मात्रा" की भी संज्ञा दी गयी है–दे० स० सू० अ० ६९वाँ 'हस्तल-लक्षण'। अयच आगमो मे मध्यम और अधम अंगुलो के प्रमाण मे क्रमश ७ और ६ यवो का उल्लेख है।

२ अगुलो से १ गोलक या कला निर्मित होती है,
२ गोलकों (कलाओ) से १ भाग बनता है।

इसे 'मानागुल' कहा जाता है जिसका प्रयोग प्रतिमा-कला में विहित है। स्वाश्रय मान-पद्धति का दूसरा वर्ग भवन-कला, पुरनिवेश एव प्रासाद-विरचना से सम्बन्धित है जिसका पूर्ण उद्‌घाटन लेखक के 'भवन-वास्तु' में किया गया है। हाँ, बड़ी प्रतिमाओं की विरचना में लम्बे मान-प्रकार मे २४ अगुलो का एक किष्कु, २५ का प्राजापत्य, २६ का धनुर्ग्रह, २७ की धनुर्मुष्टि और चार धनुर्मुष्टि का दण्ड आदि (पूरी सूची 'भवन-वास्तु' में प्रतिपादित है) परिकल्पित हैं। यह दण्डमान उपरिनिर्देशित भवन-कला एव पुर-निवेश मे प्रयोज्य होता है।

सहायक मान-पद्धति मे मात्रागुल एव देहागुल की परम्परा प्रचलित है। मात्रांगुल में अगुल का नाप प्रतिमाकार स्थपति अथवा प्रतिमाकारक यजमान की मध्यमा अगुलि का मध्य पर्व है। देहागुल की प्राप्ति मेय प्रतिमा के सम्पूर्ण कलेवर के १२४, १२० अथवा ११६ सम भागो मे विभाजन से होती है। प्रत्येक भाग को देह-लब्ध अगुल अथवा सक्षेप में देहागुल कहा जाता है।

इन देहांगुलो की २४ सज्ञाएं हमारे 'वास्तु-शास्त्र' ग्रन्थ द्वितीय मे द्रष्टव्य है। शिल्प-शास्त्र के विभिन्न ग्रन्थो मे मान-प्रक्रिया की बडी ही सूक्ष्म मीमासा है। प्रतिमा-मान के विभिन्न माप-दण्ड हैं। मानसार इन माप-दण्डो को मान-प्रमाण, उन्मान, परिमाण, उपमान एव लम्बमान के षड्‌वर्ग मे विभाजित करता है। मान का तात्पर्य प्रतिमा-कलेवर की लम्बाई के नाप से है और प्रमाण उसकी चोडाई का निर्देश करता है, उन्मान मोटाई, परिमाण परीणाह, उपमान दो अवयवो (जैसे प्रतिमा के पैरो) के अन्तरावकाश तथा लम्बमान प्रलम्ब-रेखाओं के नापो के क्रमश प्रतिपादक हैं। इन षड्‌वर्गो को विभिन्न संज्ञाओ से सकीर्तित किया गया है जिनका ज्ञान शास्त्रीय प्रतिमा-लक्षण को समझने के लिए आवश्यक है। देहांगुल (जो अपेक्षाकृत लम्बी मान-योजना है) के अतिरिक्त अन्य सहायक बृहत् मान-दण्डो में **प्रादेश**, ताल, **वितस्ति** और गोकर्ण विशेष उल्लेख्य हैं। प्रादेश अगूठे और तर्जनी को खूब फैलाकर जो फासला आता है उसे कहते हैं। उसी प्रकार अँगूठे और मध्यमा के अवकाश को ताल, अँगूठे और अनामिका के अवकाश को वितस्ति तथा अँगूठे और कनिष्ठा के अवकाश को गोकर्ण कहते हैं।

तालमान—आगमो एवं मानसार आदि शिल्प-शास्त्रो में प्रतिमा-मान का तालमान से प्रतिपादन है। अतः विभिन्न देवो एवं देवियो की रचना मे जो तालमान विहित है उसका थोडा सा परिचय यहाँ पर आवश्यक है। श्री गोपीनाथ राव ने आगमो के आधार पर जो देव-देवी-तालमान निकाला है वह सर्वथा एक सा नही है, परन्तु प्रतिमा-

स्थापत्य की हस्तपुस्तक एव निर्देश-शास्त्र आगम ही प्रधान रूप से हैं। अत. आगमों के निम्नलिखित तालमान यहाँ पर उद्धृत किये जाते हैं —

ताल	देव
उत्तम दशताल	ब्रह्मा, विष्णु, शिव की मूर्तियाँ
अधम दशताल	श्रीदेवी, भू-देवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्त-मातृका, उषा
मध्यम दशताल	इन्द्रादि लोकपाल, चन्द्र-सूर्य, द्वादश-आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट-वसुगण, अश्विनौ, भृगु तथा मार्कण्डेय, गरुड. शेष, दुर्गा, गुह (सुब्रह्मण्य), सप्तर्षि, गुरु (बृहस्पति) आर्य, चण्डेश तथा क्षेत्रपाल
नवार्ध ताल	कुबेर तथा नव-ग्रह आदि
उत्तम नवताल	दैत्य, यक्षेश, नागेश, सिद्ध, गन्धर्व, चारण, विद्येश तथा शिव की अष्ट-मूर्तियाँ
मध्यगुल नवताल	पूत महापुरुष (देवकल्प मनुज)
नवताल	राक्षस, असुर, यक्ष, अप्सरा, अस्त्र-मूर्तियाँ और मरुद्गण
अष्टताल	मानव
सप्तताल	वेताल और प्रेत
षट्ताल	प्रेत
पचताल	कुब्ज और विघ्नेश्वर
चतुष्ताल	वामन और बच्चे
त्रिताल	भूत और किन्नर
द्विताल	कृष्माण्ड
एकताल	कबन्ध

तालमान का आधार सशीर्ष मुखमान है। ऊपर हमने देखा कि तालमान के दस वर्ग हैं—१ से लगाकर दस तक। पुन. उनके उत्तम, मध्यम एव अधम प्रभेद से यह पद्धति और दीर्घ हो जाती है। उत्तम दशताल मे सम्पूर्ण प्रतिमा को १२४ सम-भागो मे, मध्यम मे १२० सम-भागो और अधम में ११६ सम-भागो मे विभाजित किया जाता है। दशताल की प्रतिमा का मान उसके मुख-मान का दसगुना, नवताल की प्रतिमा का नौगुना और अष्टताल की प्रतिमा का अठगुना होता है। आगमो की प्रोल्लसित ताल-मान की परम्परा कब से पल्लवित हुई—ठीक तरह से नही कहा जा सकता और न 'ताल' शब्द का प्राचीनतम प्रतिमा-शास्त्रो मे ही उल्लेख है। इस आकूत पर डा० बनर्जी ने भी जिज्ञासा प्रकट की परन्तु समाधान नही हो पाया। ताल-मान सम्भवतः दाक्षि-

णात्य परम्परा है। समरागण आदि उत्तरी ग्रन्थो में ताल-मान का निर्देश बिल्कुल नहीं मिलता। बृहत्संहिता और कतिपय पुराणो में भी ताल-मान के पुष्ट निर्देश हैं, अतः यह मिश्रित परम्परा का परिचायक हो सकता है क्योकि पुराण और बृहत्संहिता तो उत्तरी वास्तु परम्परा के ही प्रतिपादक ग्रन्थ हैं।

अस्तु, यहाँ पर प्रतिमा-विधान में मान-योजना के अनुरूप अंग-प्रत्यग के मान-सिद्धान्तो पर भी थोड़ा सा प्रतिपादन आवश्यक था परन्तु वह स्थानाभाव से यहाँ पर असम्भव है। पाठक इस विषय का परिशीलन हमारे 'प्र० वि०' पत्र २२३–२५ मे करें।

प्रतिमा का दोष-गुण-निरूपण—केवल समरांगण ही ऐसा वास्तु-शास्त्र का ग्रंथ है जिसमे प्रतिमा के दोष-गुण-निरूपण की अवतारणा मे इतना सागोपाग वैज्ञानिक विवेचन है। कितनी ही कोई प्रतिमा सुन्दर क्यो न हो परन्तु यदि वह शास्त्रानुसार निर्मित नही है तो वह अग्राह्य है–अपूज्य है। शास्त्र-सिद्धान्तो का यह अनुगमन भारतीय स्थापत्य का परम रहस्य है जिस पर हम पीछे भी सकेत कर आये हैं। अस्तु, सर्वप्रथम प्रतिमा-दोषो की सूची देखें, उन दोषो का अभाव ही प्रतिमा-गुण है।

प्रतिमा-दोष

दोष	फल	दोष	फल
१–अश्लिष्ट-सन्धि	मरण	११–उद्बद्ध-पिण्डिका	दु ख
२–विभ्रान्ता	स्थान-विभ्रम	१२–अधोमुखी	शिरोरोग
३–वक्रा	कलह	१३–कुक्षिष्ठा ?	दुर्भिक्ष
४–अवनता	वयस क्षय	१४–कुब्जा .	रोग
५–अस्थिता	अर्थक्षय	१५–पार्श्व-हीना	राज्याशुभ
६–उन्नता	हृद्रोग	१६–आसन-हीना	बन्धन और स्थानच्युति
७–काकजघा	देशान्तर-गमन	१७–आलय-हीना	,,
८–प्रत्यंगहीना	अनपत्यता	१८–आयम-पिण्डिता	अनर्थदा
९–विकटाकारा	दारुण भय	१९–नाना-काष्ठ-समायुक्ता	,,
१०–मध्य-ग्रथि-नता	अनर्थका	२०– — — —	,,

टि०–इन दोषो का अभाव ही गुण है, तथापि निम्नतालिका द्रष्टव्य है—

प्रतिमा-गुण

१–सुश्लिष्टसन्धि	३–प्रमाण-सुविभक्ता
२–ताम्र-लोह-सुवर्ण-रजत-बद्धा	४–अक्षता

५–अपदिगा,	१०–यथोत्सेधा
६–अप्रत्यंग-हीना	११–प्रसन्न-वदना
७–प्रमाण-गुण-सयुता	१२–शुभा
८–अविवर्जिता	१३–निगूढ-सन्धि-करणा
९–सुविभक्ता	१४–समायती

१५–ऋजु-स्थिता

६. प्रतिमा-रूप-सयोग––(आसन, वाहन, आयुध, आभूषण एवं वस्त्र)

प्रतिमा-कलेवर की पूर्णता के लिए प्रतिमा मे नाना रूपो एव मुद्राओं का सन्निवेश भी आवश्यक है। प्रतिमा-मुद्रा भारतीय प्रतिमा-निर्माण-विज्ञान का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। वैसे तो मुद्राओ का सम्बन्ध हस्त, पाद एव शरीर से ही है जो कि प्रतिमा की मनोभावना के अनुरूप प्रकल्प्य है, परन्तु मुद्रा-विनियोजन ब्राह्मण देव-प्रतिमाओं की अपेक्षा बौद्ध प्रतिमाओ की विशिष्टता है। शैवी प्रतिमाओ के यद्यपि वरद, ज्ञान, व्याख्यान आदि मुद्राओं के सन्निवेश से ब्राह्मण प्रतिमाओं मे भी मुद्रा-विनियोग है––परन्तु अन्य देवो की प्रतिमाओं मे मुद्राओ की अपेक्षा नाना रूप सयोग ही प्रमुख रूप से प्रकल्प्य है एव स्थापत्य-निदर्शन में उनका समन्वय भी। मुद्राओं की सविस्तार चर्चा हम आगे करेंगे, परन्तु एक विशेष गवेषणा की ओर पाठको का ध्यान यही आकर्षित करना है। मुद्राओ के द्वारा प्राय. मानव एव देव दोनो ही मौन-व्याख्यान अथवा भाव-प्रकाशन करते हैं। अत हस्तादि मुद्राएँ एक प्रकार से भाव-प्रतीक है। इसी प्रकार हिन्दू प्रतिमाओ के रूप-सयोग भी मुद्राओ के सदृश देव-विशेष की जानकारी के लिए खुली पुस्तके है। स-ऐरावत देव-प्रतिमा से तुरन्त देवराज इन्द्र की ओर हमारा ध्यान जाता है। हस-वाहन, कमण्डल-हस्त, ब्रह्मचारि-वेष की प्रतिमा को देखकर ब्रह्मा की झटिति स्मृति आ जाती है। वृषभ-वाहन, यतिवेष, त्रिशूल-धारी, व्याल-माल, त्रिनेत्र से शिव का किसे बोध नही होता है? सिहवाहिनी देवी-मूर्ति से भगवती दुर्गा के चरणो में कौन नतमस्तक नही होता है? इसी प्रकार अन्य देवो की गौरव-गाथा है। अत एक शब्द मे हिन्दू प्रतिमाओ के नाना-रूप-सयोग भी एक प्रकार से भाव-प्रतीक है। जहाँ मुद्राएँ प्रतिमाओ के भाव-प्रतीक है, वहाँ रूप-सयोग भगवान् और भक्त दोनो के ही भाव-प्रतीक है। देवराज इन्द्र का ऐरावत-साहचर्य उनकी राजसत्ता का प्रकाशक है—गजराज राज्यश्री का उपलक्षण है। इसी प्रकार अन्य देवों के अपने-अपने आसन, वाहन, आयुध, आभूषण एव वस्त्र आदि––नाना रूप-सयोगो की कहानी ह। अतः रूप सयोग भी एक प्रकार से मुद्रा के व्यापक अर्थ में

गतार्थ है। परन्तु परम्परानुरूप हमने भी देव-मुद्राओ के इस द्विविध संयोग का दो पृथक्-पृथक् शीर्षकों मे प्रतिपादन करना अभीष्ट समझा। सर्वप्रथम हम रूप-संयोग पर विचार करेंगे। प्रतिमाओ के रूप-सयोग मे पाँच प्रधान सयोग है — आसन, वाहन, आयुध, आभूषण, एव वस्त्र।

आसन — प्रतिमाओ के आसन-विकल्पन मे दो रहस्य छिपे है। प्रथम देवो की मानवाकृति के अनुरूप उनके बैठने की भी तो कोई वस्तु परिकल्प्य है। जैसा देव वैसा आसन और वैसा ही उसका वाहन भी। दूसरे प्रतिमा-पूजा का उदय ध्यान-योग की सिद्धि के लिए हुआ—यह हम पहले ही कह आये है—"ध्यान योगस्य ससिद्धयै प्रतिमाः परिकल्पिता."—अत. उपास्य एव उपासक दोनो मे एकात्मकता स्थापित करने के लिए न केवल उपास्य देव का आसन योगानुकूल हो वरन् उपासक का भी आसन देव-चिन्तन मे एकाग्रता अर्थात् चित्त-वृत्ति का निरोध (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.) लाने के लिए परमोपादेय हो। इस दृष्टि से आसन का अर्थ पाद-मुद्रा एव बैठक दोनो ही है। आसनो के सम्बन्ध मे एक दूसरा तथ्य यह स्मरणीय है कि विभिन्न आसनो का जो उल्लेख शास्त्रो मे मिलता है उसमे बहुसख्यक पशुओं के नाम सकीर्तित किये गये है—उदाहरणार्थ सिहासन, कूर्मासन आदि। इस दृष्टि से आसन न केवल पाद-मुद्रा एवं बैठक ही है वरन् आसन-योग्य वाहन भी। हिन्दू प्रतिमाओ के बहुसख्यक निदर्शनो मे (विशेष कर चित्रजा प्रतिमाओ मे) आसन के स्थान पर वाहन का ही चित्रण है।

ऊपर हमने आसन को पादमुद्रा माना है, उसका सम्बन्ध बैठक अर्थात् आसन, खडे रहना अर्थात् स्थानक तथा पडे रहना अर्थात् शयन से ही है, न कि आगे मुद्राध्याय मे प्रतिपादित नाना पादमुद्राओ से, जिनका सम्बन्ध भौतिक आसनो से न होकर भावात्मक मनोगतियो से है। आसन के 'पीठ' अर्थ मे पशुओ के अतिरिक्त पक्षियो (हंस, गरुड, मयूर आदि), पुष्पो (कमल आदि), आयुधो (वज्र एव चक्र आदि) प्रतीकों (स्वस्तिक एव भद्र आदि) तथा नाना अन्य उपलक्षणो (वीर आदि) की भी प्रकल्पना है, जो 'प्रतिमा मे प्रतीकत्व' के सिद्धान्त की दर्पणवत् प्रकाशिका है। आसनो के उपोद्घात मे एक दूसरा निर्देश यह है कि योगशास्त्र मे बहुसख्यक एव विभिन्न आसनो का जो प्रतिपादन है उससे यद्यपि प्रतिमा-शास्त्र एव प्रतिमा-स्थापत्य भी कम प्रभावित नही हुआ है, और सत्य तो यह है कि आधार योगासन ही है परन्तु स्थापत्य की दृष्टि से उनमे आकारादि-सन्निवेश एवं मानादि-योजना विशुद्ध स्थापत्यात्मक है। अस्तु, आगमो एव शिल्पशास्त्रों के अनुरूप निम्नलिखित आसन प्रतिमा-स्थापत्य में विशेष प्रसिद्ध है—

१—चक्रासन	५—कुक्कुटासन	९—सिंहासन
२—पद्मासन	६—वीरासन	१०—युक्तासन
३—कूर्मासन	७—स्वस्तिकासन	तथा
४—मयूरासन	८—भद्रासन	११—गोमुखासन

इन आसनो में पद्मासन (दे० लक्षण, प्रतिमा-विज्ञान, पृ० २२६) ब्रह्मा के लिए, वीरासन शिव (दे० नागपुरी शैव-प्रतिमा) के लिए, आलीढासन एवं प्रत्यालीढासन क्रमशः (दे० लक्षण वही) बाराही एव महालक्ष्मी तथा महिषमर्दिनी और कात्यायनी क्रमश दुर्गा मूर्तियों के लिए एव वज्रासन आदि बौद्ध प्रतिमाओं के लिए स्थापत्य मे चित्रित है। जहाँ तक शयनासन का सम्बन्ध है प्राचीन स्थापत्य में वैष्णवी मूर्तियो को छोडकर अन्य देवो की प्रतिमा में यह आसन अप्राप्य है। अपेक्षाकृत अर्वाचीन शाक्त प्रतिमाओं मे यद्यपि सहायक देवो में शयन-मुद्रा प्रदर्शित है, जैसे काली अपस्मार-पुरुष आदि, तथापि प्राचीन प्रतिमाओ में विष्णु की शेष-शयन प्रतिमा तथा बुद्ध की महापरिनिर्वाण मूर्ति ही प्रधान निदर्शन है। जल-शायी तथा वट-पत्र-शायी वैष्णव मूर्तियाँ शेष-शयन-मूर्ति के ही सदृश हैं। अनन्तशायी प्रसिद्ध वैष्णवी मूर्ति का अप्रतिम एवं प्राचीन निदर्शन देवगढ, झासी तथा श्रीरंगम् के रंगनाथ मन्दिर मे द्रष्टव्य है।

अस्तु, 'आसन' के उपोद्घात मे हमने आसन को पादमुद्रा के साथ-साथ वाहन एव पीठ के अर्थ मे भी गतार्थ किया है। वाहन पर कुछ संकेत आगे होगा। पीठ के सम्बन्ध मे यहाँ इतना ही सूच्य है कि 'सुप्रभेदागम' मे इस प्रकार के पाँच पीठो का वर्णन है जो आकार (दे० चन्द्रज्ञान की व्याख्या) एवं प्रयोजन के अनुरूप निम्न तालिका से स्पष्ट है —

पीठ	आकार	प्रयोजन
१—अनन्तासन	त्र्यस्र	कौतुक-दर्शनार्थ
२—सिंहासन	आयताकार	स्नानार्थ
३—योगासन	अष्टास्र	प्रार्थनार्थ
४—पद्मासन	वर्तुल	पूजार्थ
५—विमलासन	षडस्र	बल्यर्थ

टि०—इसी प्रकार से द्रव्यीय आसन के उदाहरण में राव महाशय (दे० हिन्दू आइकनोग्राफी, पा० १, पृ० २०) ने चार अन्य पीठो का भी निर्देश किया है, जिनकी निर्माण-प्रक्रिया का भी शास्त्रों मे निर्देश है, यथा भद्रपीठ (भद्रासन), कूर्मासन, प्रेतासन एवं सिंहासन। यह स्मरण रहे, ये पादमुद्रीय आसन नही, द्रव्यीय पीठ हैं।

वाहन एवं यान—आसन एव वाहन (या यान) हिन्दू प्रतिमा-विज्ञान का मित्र-वर्गीय विषय है। पूर्व उपोद्घात मे कतिपय देवो एव देवियो के वाहनो का निर्देश कर चुके है। निम्न तालिका कुछ विशेष निदर्शन प्रस्तुत करेगी—

देव		देवियाँ	
१–हसवाहन	ब्रह्मा	१–सिहवाहिनी	दुर्गा
२–गरुडारूढ	विष्णु	२–हसवाहिनी	सरस्वती
३–वृषभासीन	शिव	३–वृषवाहिनी	गौरी
४–गजारूढ	इन्द्र	४–गर्दभासना	शीतला
५–मयूरासन	कार्तिकेय	५–उलूकवाहिनी	लक्ष्मी
६–मूषकासन	गणेश	६–नक्रवाहिनी	गगा

टि०—यानो मे देवो के विमान ही विशेष प्रसिद्ध है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश के विमानो के क्रमश वैराज, त्रिविष्टप और कैलास नाम है।

आयुध आदि

देवो की मानवाकृति मे आयुधो का सयोग भी 'प्रतीकत्व' का निदर्शक है। देव-प्रतिमाओ की दैहिक पाद-मुद्राओ के समान हस्त में निहित पदार्थ आयुध ही है, अथवा पात्र या वाद्य-यन्त्र या फिर पशु ओर पक्षी सभी एक प्रकार से हस्त-मुद्राएँ ही है। अभय, वरद, ज्ञान, व्याख्यान आदि नाना हस्त-मुद्राओ की चर्चा हम आगे करेगे। प्रथम प्रतिमा-कल्पन मे सागोपाग रूप-सयोग का विवेचन प्राप्त हे। तदनन्तर उसकी भावाभिव्यजना के लिए हस्त-मुद्राओ से बढकर उसका अन्य कौन साधन है?

आयुधादि मे आयुधो के अतिरिक्त पात्रो, वाद्य-यन्त्रो, पशुओ और पक्षियो का भी ऊपर सकेत है। तदनुरूप प्रथम आयुधो की निम्न तालिका निभालनीय है—

आयुध	देव-संयोग	आयुध	देव-संयोग
१–चक्र (सुदर्शन)	विष्णु	१०–पाश	गणेश
२–गदा (कौमोदकी)	,,	११–शक्ति	सुब्रह्मण्य
३–शार्ङ्ग धनुष	,,	१२–वज्र	(इन्द्र भी)
४–त्रिशूल	शिव	१३–टक	,,
५–पिनाक धनुष	,,	१४–मुसल	बलराम
६–खट्वाग	,,	१५–हल	,,
७–अग्नि	,,	१६–शर	कार्तिकेय
८–परशु	,,	१७–खड्ग	,,
९–अकुश	गणेश	१८–भुसुण्डि	,,

१६–मुद्गर	कार्तिकेय	२३–परिघ	दुर्गा
२०–खेट	,,	२४–पट्टिश	,,
२१–धनुष	,,	२५–चर्म	,,
२२–पताका	,,	२६–असि	,,

अपराजितपृच्छा मे ३६ आयुधो का वर्णन है।

पात्र आदि

संज्ञा	देव-संसर्ग	विशेष
१–स्रुचि	ब्रह्मा	यज्ञीय पात्र
२–स्रुव	,,	,, ,,
३–कमण्डलु	,,	जल-पात्र, शिव, पार्वती तथा अन्य देवों से भी सयोग है।
४–पुस्तक	,, (सरस्वती भी)	वाङ्मय-प्रतीक, पिता-पुत्री दोनो ही वाङ्मय के अधिष्ठाता हैं।
५–अक्षमाला या अक्षसूत्र	,,	रुद्राक्ष, कमलाक्ष, वैदूर्यादि-विनिर्मित, सरस्वती और शिव से भी सयोग है।
६–कपाल	शिव	शिव के विभिन्न नामो (कपाली आदि) मे, तान्त्रिक साधना मे मानव-कपाल-की परम्परा है।
७–दण्ड	यम	
८–दर्पण	देवी	
९–पद्म	लक्ष्मी	
१०–श्रीफल	लक्ष्मी	
११–अमृतघट	,,	
१२–मोदक	गणेश	

पशु-पक्षी

प्रतिमा के अन्य हस्त-सयोगों में कतिपय पशुओ एव पक्षियों का भी निवेश देखा गया है, परन्तु यह परम्परा अत्यन्त न्यून है। पशुओ मे छाग, हरिण तथा मेषशिव की अद्भुत प्रतिमा के लाछन हैं और पक्षियो मे कुक्कुट स्कन्द कार्तिकेय का।

वाद्ययन्त्र

संज्ञा	देव-संसर्ग	संज्ञा	देव-संसर्ग
१–वीणा	सरस्वती	५–घण्टा	दुर्गा तथा कार्तिकेय
२–वेणु	कृष्ण	६–मृदग	,,
३–डमरु	शिव	७–करताल	———
४–पांचजन्य	विष्णु		

आभूषण तथा वस्त्र

हिन्दू स्थापत्य मे प्रतिमाओं को विविध आभूषणो एव वस्त्रो से भी सुशोभित करने की परम्परा पल्लवित होकर अत्यन्त विकसित तथा फलित हुई। वराहमिहिर ने बृहत्सहिता (५८.२६) मे लिखा है—

'देशानुरूपभूषणवेशालंकारा मूर्तिषु कार्याः।'
भूषणानां विकल्पं च पुरुषस्त्रीसमाश्रयम्।
नानाविधं प्रवक्ष्यामि देशजातिसमुद्भवम्।। (नाट्य शास्त्र)

अत सिद्ध है कि देशकालानुसार समाज में आभूषणो एव वसनो की जो भूषा-पद्धतियाँ मनुष्यो एव स्त्रियो मे प्रचलित थी उन्ही के अनुरूप देवो की मूर्तियो मे भी उनकी परिकल्पना परिकल्पित की गयी। अथच समाज के विभिन्न स्तर सनातन से चले आये है—कोई राजा है तो कोई योद्धा, कोई यती-सन्यासी है तो कोई ब्रह्मचारी। मानव-समाज की विभाजन-प्रणाली का जो सर्वश्रेष्ठ विभाजन प्राचीन आर्यो ने वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार सम्पादित किया, उसी के आधारभूत सिद्धान्तो ने समस्त हिन्दू-सस्कृति के कलेवर को अनुप्राणित किया। देववाद मे भी तो वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तो के मर्म छिपे है—ब्रह्मा ब्रह्मचारी के रूप मे, शिव यती-सन्यासी के रूप मे, विष्णु राजा के रूप में, स्कन्द सेनानी के रूप मे परिकल्पित किये गये है।

एक शब्द में भूषा, भूष्य के अनुरूप हो। अतएव वैष्णवी प्रतिमाओं (नारायण अथवा वासुदेव) के साथ-साथ इन्द्र, कुबेर आदि देव-प्रतिमाएँ राजसी भूषा मे, शिव, ब्रह्मा, अग्नि आदि देवो की प्रतिमाएँ अपने तपश्चरणानुरूप (त्याग, तपस्या एव तपोवन) यतिभूषा अथवा योगी-रूप मे; सूर्य, स्कन्द आदि अपने सैनिक कार्य-कलापो के अनुरूप सेनानी की वर्दी एव अस्त्र-शस्त्रो की भूषा मे तथा दुर्गा, लक्ष्मी, श्री, काली आदि महादेवियाँ उच्चवर्णीय मान्य महिलाओ की भूषा के अनुरूप बहुविध अलकारो, रत्नो, आदि की भूषा मे विन्यस्त की गयी है।

इसी प्रकार परिधान का वर्ण देव-वर्णानुरूप परिकल्पित हुआ। मेघश्याम विष्णु

पीताम्बर, गौरववर्ण रौहिणेय बलराम नीलाम्बर, सूर्य ब्रह्मा, लक्ष्मी, दुर्गा रक्ताम्बर चित्रित किये गये हैं। परिधान की संघटना परिधाता के वर्ण की मुखापेक्षी है।

स्थापत्य में प्रतिमाओ को अलकृत करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। डा० बनर्जी (दे० डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० ३११) लिखते हैं—"साधारण प्रतिमाओं की तो बात ही क्या, ध्यानयोग वाली देव-प्रतिमाओं मे भी (उदा० शिव की योग-दक्षिणामूर्तियो तथा विष्णु की भी योगासन-मूर्तियों मे—लेखक) भूषण सयोग है। भूषा-विन्यास की परम्परा सिन्धु-सभ्यता तक मे पायी जाती है। शिव-पशुपति की मूर्ति जो तत्कालीन मुद्राओं मे पायी गयी है वह केयूर, ककण, वलय आदि नाना आभूषणो से अलकृत है।"

यद्यपि यह सत्य है कि विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से देखा जाय तो प्रतिमाओ मे अलकार-नियोजन की यह परम्परा स्थापत्य के लिए क्षतिदायक भी सिद्ध हुई है। प्रतिमा के विभिन्न शरीरावयवो पर—नीचे से ऊपर तक—आभूषणों को लादने की जो उत्सुकता सनातन से चली आयी उसने विभिन्न शरीरावयवों की कला मे सुन्दर अभिव्यक्ति अथवा मानव-आकार के सम्यक् रचना-विकास को अवश्य व्याघात पहुँचाया। बहुत से कला समीक्षको की ऐसी ही समीक्षा है। परन्तु यहाँ बिना पक्षपात के हम कह सकते हैं कि भारतीय कलाकारो का ध्येय मानव-आकार रचना के सम्यक् परिपाक की ओर विशेष सीमित नही रहा। यहाँ के कलाकारो की दृष्टि भारतीय धर्म एव दर्शन की प्रतीक भावना से विशेष प्रभावित एव अनुप्राणित होने के कारण उन्होंने "कला कला के लिए" ऐसा सिद्धान्त कभी नही माना। प्रतिमा तो एक प्रकार का प्रतीक है। अत स्थापत्य मे भी वह तदनुरूप प्रस्फुटित हुआ। भारत का 'सुन्दर' भौतिक सौन्दर्य की भित्ति पर नही चित्रित है। यहा 'सुन्दर' मे पारमार्थिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक परम सौन्दर्य का रहस्य छिपा हुआ है। अत एक मात्र भौतिक सौन्दर्य के चश्मे से जो लोग भारतीय प्रतिमाओ को देखेंगे वे मूलत गलती करेंगे।

देव-प्रतिमा के भूषा-विन्यास को हम तीन वर्गो मे विभाजित कर सकते है, परिधान, अलकार एवं शिरोभूषण।

परिधान—इसमे वस्त्र के अतिरिक्त बन्ध भी विशेष उल्लेख्य है। वस्त्रो मे सर्वप्राचीन वस्त्र धोती का, जो उत्तरीय और अधोवसन दोनो का काम देती थी, विशेष निदर्शन है। देव-मूर्तियो एव देवी-मूर्तियो दोनो मे इस वस्त्र का स्थापत्य-चित्रण बडे कौशल से सम्पन्न हुआ है। बन्धादि अन्य परिधानो की गणना यह है—

१—हार	३—ककण	५—कटिबन्ध
२—केयूर	४—उदर-बन्ध,	६—कुचबन्ध

७–भुजवलय	१०–उदीच्यवेष (सूर्य)	१३–शुक्लाम्बर (ब्रह्मा)
८–वनमाला	११–चोलक (सूर्य)	१४–मेखला (श्री)
९–पीताम्बर (विष्णु)	१२–कृत्तिवास	१५–कचुक (लक्ष्मी) (शिव)

टि०–इनमें से प्रथम पाँच सभी देवो एव देवियो के सामान्य परिधान है, कुचबन्ध तथा चोलक स्त्री-परिधान होने के कारण देवी-प्रतिमाओ की विशिष्टता है।

अपराजितपृच्छा मे षोडशाभूषण की परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। हमारे वास्तु-शास्त्र मे वह पठनीय है।

अलंकार-आभूषण––अलंकारो अथवा आभूषणो को अगानुरूप सात-आठ वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है––

(क) कर्णाभूषण–कुण्डल

१–पत्र-कुण्डल (उमा) २–नक्र-कुण्डल (सामान्य) ३–शखपत्र-कुण्डल (उमा)
४–रत्न-कुण्डल (सामान्य) ५–सर्प-कुण्डल (शिव)

कर्णाभूषणो मे कर्णपूर (सरस्वती), कर्णिका (काली), मणि-कुण्डल (लक्ष्मी), कर्णावती (पार्वती) आदि भी उल्लेख्य हैं।

(ख) नासा-भूषण––बेसर (कृष्ण और राधा)

(ग) गल-भूषण––१–निष्क, २–हार, ३–ग्रैवेयक, ४–कौस्तुभ, ५–वैजयन्ती।

कौस्तुभ एव वैजयन्ती वैष्णव-आभूषण है। 'कौस्तुभ' मणि है जो समुद्रमन्थन मे प्राप्त १४ रत्नो मे एक है। इसे भगवान् विष्णु वक्षस्थल पर धारण करते हैं। भागवत-पुराण कौस्तुभ को सहस्र-सूर्यसमप्रभ लाल मणि सकीर्तित करता है। वैजयन्ती के विषय मे यह प्रतिपाद्य है कि इसकी रचना पाच प्रकार के रत्नो से निष्पन्न होती है। विष्णुपुराण मे इन पच-विध रत्नो को पच तत्त्वो का प्रतीक माना गया है। नीलम (नीलमणि) पार्थिव तत्त्व, मौक्तिक जलीय तत्त्व, कौस्तुभ तैजस तत्त्व, वैदूर्य वायव्य तत्त्व एव पुष्पराग आकाशीय तत्त्व के प्रतीक हैं––अतएव वैजयन्ती विराट विष्णु की रूपोद्भावना का वैराज्य समुपस्थित करती है।

(घ) वक्ष-आभूषणो मे श्रीवत्स, चन्नवीर कुचबन्ध (परिधान और अलकार दोनो ही) विशेषोल्लेख्य हैं।

(ङ) कटि-आभूषणो में कटिबन्ध, मेखला तथा काचीदाम विशेष प्रसिद्ध है।

(च) पाद-आभूषणो मे मजीर (नूपुर) विशेष उल्लेख्य है।

(छ) बाहु एव भुज के आभूषणो मे ककण, वलय, केयूर, अगद विशेष विख्यात है।

टि०–'श्रीवत्स' वैष्णव-लाछन है जो विष्णु के वक्षस्थल पर 'कुचित रोमावलि' की संज्ञा है। वैष्णवी प्रतिमाओं मे एव दशावतारो मे भी यह सर्वत्र प्रदर्शित होता है।

शिरोभूषण—मानसार में लगभग द्वादश शिरोभूषण (अलंकार एवं प्रसाधन दोनो ही) वर्णित हैं जिनको हम निम्न तालिका में देव-पुरस्सर देख सकते हैं—

संज्ञा	देव	संज्ञा	देव
जटा	ब्रह्मा, शिव	केशबन्ध	सरस्वती, सावित्री
मौलि	मानोन्मानिनी	धम्मिल्ल	अन्य देवियाँ
किरीट	विष्णु, वासुदेव	चूड	,,
करण्ड	अन्य देव-देवियाँ	मुकुट	ब्रह्मा, विष्णु, शिव
शिरस्त्रक	यक्ष, नाग, विद्याधर	पट्ट	राजा, रानियाँ (क) पत्र-पट्ट,
कुन्तल	लक्ष्मी, सरस्वती सावित्री		(ख) रत्न-पट्ट (ग) पुष्प-पट्ट

'काकपक्ष' भी एक शिरोभूषण संकीर्तित है। यह बाल-कृष्ण का शिरोभूषण अथवा केशबन्ध है—'मस्तकापर्श्वयो केशरचनाविशेष ।'

७. प्रतिमा-मुद्रा (हस्तमुद्रा, मुखमुद्रा, पादमुद्रा एव शरीरमुद्रा)

मुद्रा शब्द का अभिप्राय है विभिन्न अगो, विशेष कर हस्त, पाद तथा मुख की आकृति-विशेष। भावाभिव्यजन मे चिरन्तन काल से मानव ने मुद्राओ का सहारा लिया है। यद्यपि भाव-प्रकाशन का सर्वोत्तम साधन भाषा माना गया है तथापि मानव-मनोविज्ञान-वेत्ताओं से यह अविदित नही कि कभी-कभी उत्कट भावाभिव्यजन मे भाषा असफल हो जाती है, उस समय हस्त अथवा मुख या अन्य शरीरावयव की मुद्राओं से काम लिया जाता है। भाषा पर पूर्ण पाण्डित्य रखने वाला व्याख्याता बिना हस्तादि मुद्राओं के शायद ही कभी अपने उत्कट भावों को प्रकाशित करने मे समर्थ हो पाता हो। इसी प्रकार क्या व्याख्यान मे, क्या आशीर्वाद मे, क्या रक्षा तथा शान्ति मे सनातन से सभ्य मानव मुद्राओं का प्रयोग करता आया है।

आधुनिक मनोविज्ञान मे इस सिद्धान्त को प्राय. सभी मानने लगे है कि मन एव तन का एक प्रकार से ऐसा नैसर्गिक सद्यः सम्बन्ध है, जिससे प्रत्येक भावावेश मे दोनो की समान एवं समकालिक प्रतिक्रिया प्रादुर्भूत होती है, इसी को रिफलेक्स ऐक्शन कहते हैं। अत स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन कलाकारो ने मानव-मनोविज्ञान के अनुरूप ही कला को जीवन की ज्योति से अनुप्राणित किया। अथच जिस प्रकार काव्य मे अभिधेयार्थ निम्न कोटि का अर्थ है, लक्ष्यार्थ उससे बढकर और व्यंग्यार्थ ही काव्य-जीवित माना गया है उसी प्रकार प्रतिमा-कला मे मुद्रा-विनियोग एवं उसके द्वारा भावाभिव्यजन एक प्रकार से काव्य-कला की ध्वनि-प्रतीति के ही समकक्ष है।

अस्तु, मुद्रा के व्यापक अर्थ मे (दे० पीछे रूप-सयोग) न केवल भाव-मुद्राएँ

(जो हस्त-पाद-मुखादिको की स्थिति, गति एवं आकृति के द्वारा अभिव्यक्त होती है) गतार्थ है वरन् नाना रूप-सयोगो को भी हमने मुद्रा ही माना है। परन्तु सीमित अर्थ में मुद्राओं का साहचर्य हिन्दू-प्रतिमाओं मे बहुत ही कम है। शैवी योग-मूर्तियो को छोडकर ब्राह्मण प्रतिमा-लक्षण मे मुद्राओ का विनियोग नगण्य है। बौद्ध प्रतिमाओ में इन मुद्राओ का विपुल विनियोग है। प्रतिमा-स्थापत्य मे मुद्रा देव-विशेष के मनोभावो को ही नही अभिव्यक्त करती है वरन् उसके महान् कार्य, दैवी-कार्य को भी इगित करती है। बुद्ध की 'भूमि-स्पर्श' मुद्रा इस तथ्य का उदाहरण है। इस दृष्टि से मुद्रा एक प्रतीक है जो प्रतिमा और प्रतिमा के स्वरूप का परिचायक है।

प्रश्न यह है कि ब्राह्मण प्रतिमाओ मे मुद्राओ की यह न्यूनता क्यो है जब कि बौद्ध एव जैन प्रतिमाओ की यह सर्वातिशायिनी विशेषता है। हम बार-बार सकेत कर चुके है कि हिन्दू दर्शन, धर्म, विज्ञान एव कला सभी प्रतीकवाद की परा ज्योति से प्रकाशित है। नाना रूप-सयोग से बौद्ध प्रतिमाएँ एक प्रकार से शून्य है। अत. प्रतिमा-कला की इन दो मौलिक प्रेरणाओ में दोनों की अपनी वैयक्तिकता की छाप है। सत्य तो यह है कि ब्राह्मण प्रतिमा की रूपोद्‌भावना मे देव-विशेष के नाना रूप-संयोग नाना मुद्राओ के रूप मे ही परिकल्पित है। तन्त्रसार का निम्न प्रवचन (दे० उद्धरण प्र० वि० पृ० २४०) है कि विष्णु की १६ मुद्राओ मे शख-चक्रादि का परिगणन है। शिव की दस मुद्राओ मे लिग, योनि, त्रिशूल, रुद्राक्ष-माला आदि का समाहार है। सूर्य की केवल पद्म ही एक मुद्रा है। गजदन्त, अकुश, मोदक आदि सात मुद्राएँ विनायक गणेश की है। अग्नि की मुद्रा सप्त ज्वालाओं मे निहित है। सरस्वती की मुद्रा मे अक्षमाला, वीणा, व्याख्या, पुस्तक आदि विशेषोल्लेख्य है। इस प्रकार हिन्दू प्रतिमाओ के रूप-सयोग ही मुद्रा-सयोग है। मुद्राओ की जो नाना विकल्पनाएँ प्रादुर्भूत हुई उनकी पूज्य की अपेक्षा पूजक मे विशेष चरितार्थता हुई। तान्त्रिक मुद्राओ की परम्परा मे हस्तादि मुद्राओ के अतिरिक्त भस्मावलेप, तिलकादि-धारण भी तो मुद्रा ही है।

भारतीय वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में सम्भवत. इसी उपर्युक्त तथ्य के कारण समरांगणसूत्रधार को छोड़कर अन्यत्र किसी ग्रन्थ मे मुद्रा-प्रविवेचन अप्राप्य है। समरागण की इस विशिष्टता का क्या मर्म है—इस आकूत की मीमांसा आवश्यक है। समरांगण के तीन मुद्राध्याय है जिनका हमारी दृष्टि मे प्रतिमा-कला की अपेक्षा चित्र-कला से विशेष सम्बन्ध है। पाषाण आदि द्रव्यो से निर्मित प्रतिमाओ की अपेक्षा चित्रजा प्रतिमाओं मे रसो एवं दृष्टियो की विशेष अभिव्यक्ति प्रदर्शित की जा सकती है। चित्र-कर्म मे वर्ण-विन्यास इनके लिए अत्यन्त सहायक होता है। अथच चित्र-कलाकार बिना नाट्य-कला के सम्यक् ज्ञान का परिपाक अपनी कला मे नहीं प्रस्तुत कर सकता है।

विष्णुधर्मोत्तर का दृढ विश्वास है कि चित्र-कला का आधार नृत्य-कला है। नृत्य-कला का प्राण भावाभिव्यक्ति है। इस भावाभिव्यक्ति (जैसे भाव-नृत्य, ताण्डव-नृत्य आदि) में मुद्राओं का प्रदर्शन अनिवार्य है। अतएव नाट्य-शास्त्र का मुद्रा-निरूपण भी प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। नाट्य-शास्त्र मे हस्तादि मुद्राओ का बडा ही गम्भीर एव सविस्तर विवेचन है। इसी दृष्टि से नाट्य-कला की उपजीव्य अवस्थानुकृति (अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्) चित्र-कला मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। चित्र-कर्म के आवश्यक विभिन्न अगो मे दक्ष होते हुए भी चित्रकार कल्पना और अनुकृति का जब तक सहारा नही लेता तब तक मनोरम एव अभिव्यजक चित्र का निर्माण नही कर सकता।

अस्तु, इस उपोद्घात से यद्यपि मुद्राओं का महत्त्व चित्रजा प्रतिमाओं मे ही विशेष विहित है, तथापि यदि यह मुद्रा-विनियोग अन्य-द्रव्यीय प्रतिमाओ (विशेष कर पाषाण-मूर्तियो) मे भी प्रदर्शित किया जा सके तो प्रतिमा-निर्माण का वह परम कौशल होगा और साथ ही प्रतिमा-विज्ञान का परमोपजीव्य विषय। आगमो, पुराणो, तन्त्रो एव शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थो मे भी कतिपय मुद्राओ के सयोग पर सकेत मिलते है (यद्यपि पृथक् रूप से प्रतिपादन नही है), जैसे वरद हस्त (वरद मुद्रा), अभय हस्त (अभय मुद्रा), ज्ञान-मुद्रा, व्याख्यान-मुद्रा आदि आदि। इनसे हस्त, पाद, मुख एव शरीर की आकृति-विशेष मे प्रतिमा की चेष्टा प्रतीत होती है यही मुद्राओ का मर्म है। इस आधारभूत सिद्धान्त से मुद्राध्ययन को हम तीन भागो मे विभाजित कर सकते है और यह विभाजन समरागणसूत्रधार के तीन मुद्राध्यायो (ऋज्वागतादिस्थानलक्षणाध्याय ७९वाँ, वैष्णवादिस्थानकलक्षण ८०वाँ तथा पताकादिचतुष्पष्टिहस्तलक्षण ८३वाँ) पर अवलम्बित है—

(१) ६४ हस्त-मुद्राएँ (स० सू० पताकादि ८३वाँ अ०)

(२) ६ पाद-मुद्राएँ (वैष्णवादि-स्थानक ८०वाँ अ०)

(३) ९ शरीर-मुद्राएँ (ऋज्वागतादिस्थान ७९वाँ अ०)

हस्त-मुद्राएँ—हस्त और मुद्रा इन दोनो शब्दो के बीच सम्बन्ध-कारक (हस्त की मुद्रा) ही नही समझना चाहिए वरन् दोनो का एक ही अर्थ मे प्रयोग भी पाया जाता है—दण्ड-हस्त, कटि-हस्त, गज-हस्त, वरद-हस्त, अभय-हस्त को वरद-मुद्रा, अभय-मुद्रा आदि के नाम से भी पुकारा गया है। समरागण की ये हस्त-मुद्राएँ भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रतिपादित हस्त-मुद्राओ की ही अवतारणा है और प्रतिमा-शास्त्र मे उनके विनियोग की उद्भावना भी है।

आर० के० पोदुवल (दे० उनका 'मुद्राज इन आर्ट') ने मुद्राओं के तीन बृहत् विभाग किये है —१–वैदिक, २–तान्त्रिक तथा ३–लौकिक। उनका दावा है कि

उन्होंने कला में ६४ मुद्राओं और तन्त्र में १०८ मुद्राओं का अनुसन्धान एवं अभिज्ञा कर ली है। वैदिक मुद्राओं से हम परिचित ही हैं, वेदपाठ में आवश्यक हस्त-मुद्राओं की परम्परा का आज भी प्रचार है। श्री पोदुवल महाशय ने जिन मुद्राओं का कला-प्रदर्शन प्रस्तुत किया है, उनमें बहुसंख्यक मुद्राओं का सम्बन्ध पूज्य की मुद्राओं से तो है ही साथ ही साथ पूजक एवं पूजोपचारों से भी उनका सम्बन्ध है। अतः इनकी सविस्तर समीक्षा यहाँ अभिप्रेत नहीं– डा० बनर्जी का ग्रंथ इसके लिए द्रष्टव्य है।

अस्तु, समरांगण की जिन ६४ हस्त-मुद्राओं की ओर ऊपर संकेत है उनमें पताकादि २४ असंयुत-हस्त, अंजलि आदि १३ संयुत-हस्त तथा चतुरस्रादि २१ नृत्य-हस्त की तालिका प्र० वि० पृ० २४२ में द्रष्टव्य है। अथच जहाँ तक इनके स्थापत्य-चित्रण का प्रश्न है वहाँ ब्राह्मण प्रतिमाओं में दो मुद्रा—अभय-हस्त एवं वरद-हस्त विशेष प्रसिद्ध हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से श्रीयुत वृन्दावन भट्टाचार्य ने केवल इन्हीं दो मुद्राओं का वर्णन किया है। राव महाशय ने कुछ आगे उपर्युक्त दो मुद्राओं के अतिरिक्त कटक, सूची, तर्जनी, कट्यवलम्बित, दण्ड, विस्मय के साथ-साथ चिन्मुद्रा (व्याख्यान-मुद्रा), ज्ञान-मुद्रा और योग-मुद्रा का भी वर्णन किया है। डा० बनर्जी ने इस विषय की विस्तृत विवेचना की है। परन्तु उनका यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं—

"It should be noted here that the fully developed and highly technical mudras, that are described in the Indian works on dramaturgy such as Natyashastra, Abhinaya Darpans etc. have not much application in our present study".

हमने इस उपोद्घात में समरांगण के मुद्राविवेचन को चित्रजा प्रतिमाओं का विशेष विषय बताते हुए स्थापत्य में भी उसके विनियोग की जो मीमांसा की है उससे यह स्पष्ट है कि यह कथन सर्वथा सत्य नहीं। अथच दाक्षिणात्य शिवपीठ चिदम्बरम् में भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में प्रसिद्ध ६४ हस्त-मुद्राओं का स्थापत्य-विन्यास गोपुरद्वार की भित्तियों पर चित्रित है, उससे इन हस्त-मुद्राओं की स्थापत्य-परम्परा भी पल्लवित हो चुकी थी, यह प्रकट है। उसका विशेष विकास इसलिए नहीं हो पाया कि रूप-संयोग से आक्रान्त ब्राह्मण प्रतिमाओं में मुद्रा-विनियोग का अवसर ही कहाँ था? अतएव यह परम्परा बौद्ध प्रतिमाओं की विशिष्टता बन गयी। अथच यह नहीं कहा जा सकता कि इन मुद्राओं का स्थापत्य में अत्यन्त विरल प्रदर्शन है। ऊपर श्री पोडुवल के एतद्विषयक अनुसन्धान की ओर संकेत किया ही जा चुका है। डा० बनर्जी की भी एतद्विषयिणी गवेषणा अध्ययनीय है। उपरिनिर्दिष्ट हस्त-मुद्राओं के अतिरिक्त भी कतिपय अति प्रसिद्ध हस्त-मुद्राएँ हैं जिनका स्थापत्य में अविरल चित्रण द्रष्टव्य है, जैसे—भगवान्

बुद्ध की धर्मचक्र-मुद्रा एव भूमिस्पर्श-मुद्रा, अर्हत जिनों की कायोत्सर्ग-मुद्रा, योगियों की ध्यानयोग-मुद्रा, नटराज शिव की वैनायकी मुद्रा एव अनुग्रह-मुद्रा ।

पाद-मुद्रा—वैष्णव ध्रुव-बेराओ के योग, भोग, वीर एव आभिचारिक वर्गीकरण की चतुर्विधा मे स्थानक, आसन, शयन प्रभेद से द्वादश-वर्ग का ऊपर उल्लेख हो चुका है। तदनुरूप स्थानक आकृति से सम्बन्धित पाद-मुद्राओं के समरागण की दिशा से निम्नलिखित छः प्रभेद परिगणित किये गये हैं —

१—वैष्णवम्	३—वैशाखम्	५—प्रत्यालीढम्
२—समपादम्	४—मण्डलम्	६—आलीढम्

टि०—स० सू० (अ० ८०) स्त्री-स्थानक-मूर्तियो की पाद-मुद्राओ का भी सकेत करता है।

इनकी व्याख्या (दे० प्र० वि० पृ० २४३—४४) न कर यहाँ इतना ही सूच्य है कि जैनो के तीर्थकरो की स्थानक चेष्टा मे समभग-चेष्टा का स्थापत्य-निदर्शन है। स्थानक-चेष्टाओ की निर्दिष्ट संज्ञाओ के अतिरिक्त दूसरी सज्ञाओ मे इनको समभग, आभंग, त्रिभग तथा अतिभग के नाम से भी सकीर्तित किया गया है। आभग-चेष्टा मे मुद्रास्थ प्रतिमाओ के बहुसख्यक निदर्शन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। त्रिभंग-चेष्टा देवियो मे विशेष द्रष्टव्य है। अतिभग का सम्बन्ध शैव एवं शाक्त उग्र-मूर्तियो के अतिरिक्त वज्रयान (बौद्ध-धर्म के तृतीय यान) के क्रोध-देवताओ से भी है।

शरीर-मुद्रा (चेष्टा)—शरीरो के स्थान-विशेष, उनके परावृत्त और उनके व्यन्तरो के त्रिभेद से स० सू० मे इन चेष्टाओ का निम्न वर्गीकरण द्रष्टव्य है —

(क) १—ऋज्वागत, २—अर्धर्ज्वागत, ३—साचीकृत ४—अध्यर्धाक्ष, ५—पार्श्वागत

(ख) ४—चतुर्विध परावृत्त

(ग) २०—विंशति अन्तर (या व्यन्तर)

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार निम्नलिखित नौ प्रधान शरीर-चेष्टाएँ हैं—

१—ऋज्वागत	४—अर्धविलोचन	७—पृष्ठागत
२—अनृजु	५—पार्श्वागत	८—परिवृत्त
३—साचीकृतशरीर	६—परिवित्त	९—समनत

इनके स्थानो का इन सज्ञाओ मे डाक्टर क्रैमरिश ने उल्लेख किया है। कतिपय चेष्टाओं के सज्ञान्तरों के साथ वि० ध० की पूरी सूची है—पृष्ठागत, ऋज्वागत, मध्यार्ध, अर्धार्ध, साचीकृतमुख, नत, गण्डपरावृत्त, पृष्ठागत (?), पार्श्वागत, उल्लेप, चलित, उत्तान और वलित। इन चेष्टाओ में स्थानक-मुद्राओ के सन्निवेश से जो आकृति निर्मित होती है उसका चित्र के अतिरिक्त अन्यत्र (अर्थात् चित्रजा प्रति-

माओं को छोड़कर अन्य-द्रव्यजा प्रतिमाओं मे) प्रदर्शन बड़ा दुष्कर है। क्षय और वृद्धि द्वारा ही यह कौशल सपन्न होता है। तूलिका और वर्णों के विनियोग एव विन्यास से विभिन्न चेष्टाओ का प्रदर्शन चित्रकार के परम पाटव का प्रमाण है।

८. प्रतिमा में रसदृष्टि तथा प्रतिमा एवं प्रासाद

प्रतिमा में रसदृष्टि—प्रतिमा-शास्त्र विज्ञान भी है और कला भी। शास्त्रीय मानादि-योजना के सम्यक् परिपालन से ही सुरम्या प्रतिमा की परिकल्पना मानी गयी है। "शास्त्रमानेन यो रम्य. स रम्यो नान्य एव हि"—यह एक प्रकार से आजकल के युग मे शास्त्रवादियों—रूढिवादियो की परम्परा पुकारी जायगी। अथच प्रतिमा के कलात्मक सौष्ठव एव परिपाक की दृष्टि से उसमे काव्य एव सगीत की भाँति आह्लादकता या या चमत्कारिता अथवा रस की अनुभूति भी तो आवश्यक है। सम्भवत. इसी दृष्टि से समरागणसूत्रधार मे प्रतिमा-शास्त्र के विभिन्न विषयों के वर्णन के साथ-साथ 'रसदृष्टि लक्षण' नामक ८२वे अध्याय मे ११ रसो एव १८ रसदृष्टियो का भी वर्णन किया गया है। यद्यपि यह वर्णन चित्र से सम्बन्धित है, जैसा ग्रथकार स्वय कहता है—

रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनामिह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥

परन्तु यहाँ चित्र का तात्पर्य (दे० प्रतिमा-वर्ग) न केवल चित्रजा प्रतिमाओं से ही है (सत्य तो यह है कि चित्र शब्द का यह एक सकुचित अर्थ है), वरन् वे सभी प्रतिमाएँ, जिनकी निर्मिति मे पूर्णांग-चित्रण हुआ है, गतार्थ है। अत: समरागण के अनुसार प्रतिमा की विरचना मे भावव्यक्ति मूर्ति-निर्माता का परम कौशल है। जहाँ प्रतिमा मे हस्त-पादादिको के मुद्रा-विनियोग से मूर्तिनिर्माता प्रतिमा के मौन व्याख्यान की सृष्टि करता है वहाँ वह उसमे रसो एव रसदृष्टियो के उन्मेष से उसके अस्पष्ट, अव्यक्त एव सकेतित भावों की भी अभिव्यक्ति कर सकता है। रसोन्मेष से प्रतिमा जड नही रहती वह सजीव बन जाती है। रसोन्मेष से देवी-देव और स्त्री-पुरुष के चित्र ही सजीव नही हो उठते हैं वरन् तथाकथिक भाव-शून्य पशु और पक्षी तक ऊपर उठ जाते है और मानव तो देवो के क्रोड में किलोलें करने लगता है—ब्रह्मानन्द-सहोदर रसास्वाद की यह महनीय महिमा एव लोकोत्तर गरिमा है। अत. मूर्ति-निर्माता स्थपति को मूर्ति मे रसोन्मेष के द्वारा भाव-व्यक्ति के लिए अवश्य प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रतिमा एवं प्रासाद—प्रतिमा-विरचना के प्राय सभी नियमों पर निर्देश हो चुका—प्रतिमा के प्रत्येक अवयव की निर्मिति भी हो चुकी, वह सजीव भी हो उठी। अब उसकी प्रतिष्ठा भी तो करनी चाहिए। भारत का स्थापत्य, विशेष कर प्रतिमा-कला अदेवहेतुक

नहीं रही। प्रतिमा की परिकल्पना का एकमात्र प्रयोजन प्रासाद में उसकी प्रतिष्ठा है। यहाँ प्रासाद का तात्पर्य महल नही है। उसका पारिभाषिक अर्थ देवमन्दिर है। इस पर हमने सविस्तृत समीक्षा 'प्रासाद-वास्तु' मे की है। प्रासाद एवं प्रतिमा के निर्मापण की परम्परा में पौराणिक 'पूर्त' पर हम पूर्व ही सकेत कर चुके हैं। अतः हिन्दुओ के इस देव-कार्य में 'प्रासाद मूर्ति' अदृश्य 'देव' की प्रत्यक्ष मूर्ति है। प्रासाद-वास्तु की उद्-भावना मे मूर्ति के ही सदृश नाना रचनाओ के दर्शन होते हैं। अतः जिस प्रकार शरीर और प्राण का सम्बन्ध है उसी प्रकार प्रासाद और प्रतिमा का। प्रासाद-वास्तु की नाना ऊपरी भूषाओं, विच्छित्तियों एवं रचनाओ को एक मात्र प्रासाद-मन्दिर के बाह्य कलेवर तक ही सीमित रखना और गर्भगृह को बिल्कुल इनसे शून्य रखना—इन दोनो का यही मर्म है ('स्कन्दोपनिषद्' का प्रवचन है—"देहो देवालय· प्रोक्तो जीवो देव. सनातनः")। इसी प्रकार हयशीर्षपंचरात्र, अग्निपुराण, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, शिल्परत्न आदि ग्रन्थो में प्रासाद एव प्रतिमा की इस मौलिक भावना पर निर्देश है। इन सबकी विस्तृत रूप से समीक्षा पूर्वोक्त 'प्रासाद-वास्तु' में द्रष्टव्य है।

२

प्रतिमा-लक्षण

प्रतिमा-विज्ञान के नाना सिद्धान्तो की इस अति सक्षिप्त मीमांसा के उपरान्त अब क्रमप्राप्त प्रतिमा-लक्षण एव प्रतिमा-स्थापत्य--इन दो अवशेष विषयो पर कुछ प्रतिपादन आवश्यक है। वैसे तो विगत स्तम्भो मे जिन-जिन विषयो की अवतारणा की गयी है वे प्रतिमा-लक्षण के अन्तर्गत ही हैं। परन्तु 'प्रतिमा-लक्षण' इस शब्द का प्रयोग यहाँ एक सकुचित अर्थ मे किया गया है, अर्थात् भारतीय स्थापत्य मे प्राप्त अनेक प्रतिमाओ के कौन-कौन से वर्ग हैं और उनकी किस-किस रूप मे मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं --यह यहाँ पर प्रतिपाद्य है। यही संकेत 'प्रतिमा-स्थापत्य' मे भी समझना चाहिए। स्थापत्य वैसे तो शास्त्र और कला दोनो का ही बोधक है परन्तु यहाँ स्थापत्य से कलाकृतियो के अर्थ का बोध होता है। प्रतिमा-स्थापत्य आगे अर्थात् इस पटल के अन्तिम अध्याय का विषय है।

ब्राह्मग प्रतिमा-लक्षण

त्रिमूर्ति आदि ब्राह्मण-प्रतिमा--त्रिमूर्ति की कल्पना मे हिन्दू सस्कृति, धर्म एव दर्शन का सर्वस्व अर्न्तांहित है। सत्य तो यह है कि विश्व की सत्ता, उसका व्यापकत्व एव पूर्ण तत्त्व भी इसी मे निहित है। त्रिमूर्ति का तात्पर्य ब्रह्मा, विष्णु और महेश से है। पौराणिक देवो की त्रिमूर्ति की यह कल्पना वैदिक त्रिमूर्ति--अग्नि, सूर्य और वायु के विकसित स्वरूप पर आधारित है। वैसे तो त्रिमूर्ति प्रतिमा के अत्यन्त विरल निदर्शन प्राप्त होते है, परन्तु पेशावर म्यूजियममे यह प्रतिमा द्रष्टव्य है। इसमे ब्रह्मा, विष्णु और महेश--इन तीनो की मूर्तियो का एक ही पाषाग मे निर्माण है। एलीफेण्टा और चित्तौड़गढ़ (उदयपुर) की जो त्रिमूर्ति प्रतिमाएँ पहले विद्वानो के द्वारा त्रिमूर्ति प्रतिमा के निदर्शन मानी जाती थी वे वास्तव मे महेश-मूर्तियाँ है। परम्परा में त्रिमूर्ति का तात्पर्य ब्रह्मा, विष्णु, महेश से ही है, परन्तु 'अपराजितपृच्छा' मे चन्द्र, सूर्य तथा ब्रह्मा के साथ-साथ सूर्य, शिव तथा ब्रह्मा--इन दो त्रिमूर्तियो का और सकेत मिलता है तथा इनका स्थापत्य मे चित्रण भी प्राप्त होता है। बुन्देलखण्ड के मघिया स्थान पर जो षडवाहु मूर्ति मिली है उससे सूर्य, शिव, ब्रह्मा का स्थापत्य-चित्रण भी प्रसिद्ध है। इसी प्रकार त्रिशीर्ष अष्टबाहु चिदम्बरम् को सूर्य प्रतिमा भी त्रिमूर्ति का ही निदर्शन है। खजुराहोके दूलादेव

मन्दिर में इसी प्रकार की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है। त्रिमूर्ति के अतिरिक्त भारतीय स्थापत्य शास्त्र मे तथा कला-निदर्शनो मे पंचमूर्ति, चतुर्मूर्ति तथा द्विमूर्ति के लक्षण एव स्थापत्य-चित्रण भी प्राप्त होते हैं।

चतुर्मूर्ति—प्राप्त शिल्पीय ग्रन्थों में 'अपराजितपृच्छा' की यह देन है कि उसमे "हरि-हरि (सूर्य)-हर-हिरण्यगर्भ" की चतुर्मूर्ति का लक्षण-वर्णन है। अथच उत्तरीय गुजरात मे डेलमाल नामक स्थान पर स्थित लिम्बोजी माता के मन्दिर में प्राप्त प्रतिमा मे यह लक्षण भी प्रदर्शित हुआ है।

पंचमूर्ति—यद्यपि पचमूर्ति का लक्षण उपलब्ध किसी शिल्पग्रन्थ मे नही प्राप्त होता है परन्तु स्थापत्य-चित्रण मे यह परम्परा प्रदर्शित हुई है। मनुआदि-स्मृतिकारो की सबसे बडी देन देवपूजा मे पचायतन-परम्परा है। तदनुरूप पंचमूर्ति की उद्भावना पूर्ण स्वाभाविक है। इडियन म्यूजियम मे सुरक्षित पचायतन-शिवलिग में गणपति, विष्णु, पार्वती (शक्ति अथवा देवी) तथा सूर्य—इन चार देवो के रूप चित्रित हैं तथा लिग शिव का बोधक है। इसमे अतः पचायतन-परम्परा एवं पचमूर्ति दोनो प्रदर्शित हैं। पचायतन-परम्परा के अनुरूप एक-दूसरा चित्रण भी पूजा-परम्परा मे प्रसिद्ध है। पाँच पाषाण-खण्डो की पूजा से हम परिचित हैं—कृष्णवर्ण खण्ड से विष्णु, धवल से शिव, रक्त से गणेश, ताम्रपत्र से शक्ति अथवा देवी तथा स्फटिक से सूर्य—इन पाँचो देवप्रतीको की पूजा की परम्परा मे पचायतन का यह दूसरा स्वरूप प्रकट हुआ है।

द्विमूर्ति—भारतीय स्थापत्य-शास्त्र एव कलानिदर्शन दोनो मे द्विमूर्ति के नाना चित्रण प्राप्त होते है। इनमे सर्वाधिक रूप से हर्यर्धमूर्ति अथवा हरिहरमूर्ति विशेष प्रसिद्ध हैं। वैसे तो हर-गौरी, उमा-महेश्वर तथा अर्धनारीश्वर आदि शैवी मूर्तियाँ भी द्विमूर्ति के ही निदर्शन है परन्तु उनको हम द्विमूर्ति के स्वतन्त्र प्रदर्शन नही मानते। उनका शैवी मूर्तियो के साथ वर्गीकरण विशेष उपयुक्त है। 'अपराजितपृच्छा' में कृष्ण और शकर की द्विमूर्ति पर भी लक्षण मिलता है। साथ-ही-साथ स्थापत्य में (अर्थात् कला-निदर्शनो मे) मार्तण्ड-भैरव तथा सूर्य-ब्रह्मा के भी चित्रण प्राप्त होते है, यद्यपि उनके लक्षण शास्त्र मे नही प्राप्त होते हैं। मार्तण्ड-भैरव का स्थापत्य-चित्रण वरेन्द्र राजशाही म्यूजियम मे द्रष्टव्य है। ब्रह्मा-सूर्य दीनाजपुर, बंगाल में महेन्द्र नामक स्थान पर प्राप्त प्रतिमा (जो कि राजसाही म्यूजियम में सुरक्षित है) में उदाहरण है। नर-नारायण की भी द्विमूर्ति शास्त्र और कला दोनो में द्रष्टव्य है। हमने बड़े ही सक्षेप मे स्थानाभाव के कारण त्रिमूर्ति आदि इन प्रतिमाओ के लक्षण एव कलानिदर्शनों की समीक्षा की। हमारे ग्रन्थ 'वास्तुशास्त्र ग्रन्थ द्वितीय' (अग्रेज़ी ग्रन्थ) मे इन मूर्तियो की सविस्तार समीक्षा पठनीय है। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि प्रतिमाओ के अन्तर्तम में भारतीय धर्म के

नाना विकास रूपो की सुन्दर कहानी छिपी है। यह एक प्रकार की भारतीय धर्मों की (विशेष कर अवान्तर धर्मों तथा भक्तिसम्प्रदायो की) उस मनोवृत्ति की सूचक है जब पारस्परिक सद्भावना और सहज तथा नैसर्गिक सहिष्णुता की भावना सर्वत्र प्रकट थी। वैसे तो शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को तथा शाक्त देवी को और सूर्य को ही परम अधिदैवत मानते थे परन्तु कालान्तर पाकर लोगो की उदार मनोवृत्ति ने सभी देवो के प्रति समान श्रद्धा एव भक्ति की परम्परा पल्लवित हुई।

ब्रह्मा—वास्तुशास्त्रीय सभी ग्रन्थो मे ब्राह्म लक्षण पर सामान्य प्रवचन प्राप्त होते है परन्तु स्थापत्य-निदर्शनो मे ब्राह्म मन्दिर यत अत्यन्त विरल है अतएव ब्रह्मा का प्रधान प्रतिमा के रूप मे चित्रण भी अत्यन्त विरल है। ब्रह्मा वास्तव मे भारतीय धर्म एवं दर्शन के उस अंग का प्रतिनिधित्व करते है जो ब्रह्मचर्य, इज्या तथा तपस्या से सम्बन्ध रखता है। अतएव समाज मे ऐसे तपोधन वूढे ब्रह्मा की यदि पूजा-परम्परा नही पल्लवित हुई तो स्वाभाविक ही है। विष्णु राजाओ के अधिदैवत प्रकल्पित हुए। शिव की मनोरम गाथा से सभी आकृष्ट हुए, परन्तु बेचारे ब्रह्मा को ब्रह्मज्ञानी तथा प्रतिमा-पूजा को हेय समझने वाले ब्राह्मणो ने भी नही अपनाया और बेचारे पर इल्जाम यह लगाया कि पुत्री के शाप से पितामह ब्रह्मा की पूजा विलुप्त हो गयी। अस्तु, समरागण मे ब्राह्म मूर्ति लक्षण के अनुसार ब्रह्मा की मूर्तिप्रोज्ज्वल अनल-सकाश विनिर्मित होनी चाहिए। अत्यन्त तेजस्वी, स्थूलाग, श्वेत पुष्प (कमलादि) लिये हुए तथा कमल पर ही विराजमान, श्वेत वस्त्र धारण किये हुए अर्थात् (अधोवस्त्र कोपीन भी श्वेत ही होना चाहिए), कृष्ण मृगचर्म के उत्तरीय से आच्छादित, चार मुखो से सुशोभित ब्रह्मा की मूर्ति बनानी चाहिए। ब्रह्मा के दोनो बाये हाथों मे से एक मे दण्ड तथा दूसरे मे कमण्डल, दाहिने हाथों मे से एक मे अक्ष-माला तथा दूसरे मे वरद-मुद्रा दिखानी चाहिए। मूंज की मेखला भी धारण किये हुए होने चाहिए। मत्स्यपुराण मे ब्रह्मा को हस-वाहन एव पद्मासन कहा गया है और उनके दोनो दक्षिण हाथो मे समरागण की अक्षमाला ओर वर्धमान-मुद्रा के स्थान पर स्रुवा और स्रुक (दो यज्ञीय पात्रो) का निर्देश है। इसके अतिरिक्त म० पु० के अनुसार ब्रह्मा के दोनो पार्श्वो पर चारो वेद और आज्य-स्थाली का प्रदर्शन विहित है और 'दक्षिणे सावित्री' ओर 'वामे सरस्वती' का भी चित्रण आवश्यक है।

अग्निपुराण का ब्राह्म-चित्रण समरागण से विशेष सानुगत्य रखता है। केवल दक्षिण हाथ से स्रुवा का विशेष निर्देश है। समरागण, मत्स्य एव अग्नि की इस ब्राह्मी मूर्ति-विरचना मे जो एक लक्षण और शेष रह जाता है वह विष्णुपुराण पूरा करता है—'सप्तहसरथस्थित' सात हसो से वाहित रथ पर आरूढ। 'अपराजितपृच्छा'

मे ब्रह्मा की चतुर्विधा मूर्तियो का निर्दिष्ट लांछनों के स्थितिप्रभेद से युगानुरूप वर्णन है—कमलासन (कलि), विरंचि (द्वापर), पितामह (त्रेता), ब्रह्मा (सत्य)। 'अपराजित' के लक्षण (२१४ ८–९) में एक विशेषता यह है कि इसमे ब्रह्मा को आभूषणो से भी आभूषित कर दिया गया। हमने अपने अंग्रेज़ी ग्रथ मे सभी प्रमुख देवो के आयतन परिवार देवताओं तथा लाछन-रहस्यो का भी प्रतिपादन किया है—वह वही पठनीय है।

ब्रह्मा के कला-निदर्शन दो प्रकार के प्राप्त होते है—स्वतन्त्र मूर्तिया तथा सहायक देव के रूप मे—ये दोनो निदर्शन वही पठनीय है।

विष्णु—वैष्णवमूर्तियो को हम सात वर्गों मे विभाजित कर सकते है—१—साधारण मूर्तियाँ, २—विशिष्ट मूर्तियाँ, ३—ध्रुवबेर, ४—दशावतार मूर्तियाँ, ५—चतुर्विशति मूर्तियाँ, ६—क्षुद्र मूर्तियाँ तथा ७—गारुड एव आयुध-पुरुष मूर्तियाँ।

साधारण मूर्तियाँ—इनमे शख, चक्र, गदा, पद्म के लाछनो से युक्त चतुर्भुज, मेघश्याम श्रीवत्साकित वक्ष, कौस्तुभ-मणिविभूषितोरस्क, कुण्डल-किरीटधारी, सौम्येन्दुवदन विष्णुमूर्ति साधारण कोटि का निदर्शन है। इसमे देवी-साहचर्य नही। वाराणसेय वैष्णव-विम्ब (दे० वृन्दावन, पृ० ८) इसका परम निदर्शन है।

असाधारण विशिष्ट मूर्तियाँ—इनमे अनन्तशायी नारायण, वासुदेव, त्रैलोक्य-मोहन आदि की गणना है। इनमे विष्णु के वैराज्य का ही निदर्शन नही है, उनकी महाविभुता एव परम सत्ता की भी खुली व्याख्या है।

अनन्तशायी नारायण—विष्णु के अनेक नामों मे अनन्त तथा नारायण (भी) दो नाम है। अनन्तशायी नारायण मिश्रित प्रतिमा है। इसमे विष्णु नागराज अनन्त (शेष) की शय्या पर शयन-मुद्रा मे चित्रित है तथा अनन्त (नाग) के सप्त भोग ऊपर से छतरी ताने हैं। नारायण का एक पैर लक्ष्मी-उत्सगगत, दूसरा शेषभागाकगत, एक हाथ अपने जानु पर प्रसारित, दूसरा मूर्ध-देशस्थ चित्रित है। नाभिसभूत कमल पर सुखासीन पितामह और कमलनाल पर लग्न मधु और कैटभ दो असुरो के साथ शंख, चक्र आदि लाछन पार्श्व मे प्रदर्शित है। इस प्रतिमा की तीन दृष्टियो से व्याख्या की गयी है। पहली का सम्बन्ध आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक ससार से, दूसरी का आधिभौतिक ससार मे तथा तीसरी का आधिदैविक-पौराणिक ससार से है। पहली दृष्टि से प्रतिमा की अनन्तशय्या को हम सृष्टि का प्रतीक मान सकते है। अनन्त अथवा शेष संसार का मूल तत्त्व है (अनन्त, व्योम, आकाश, विष्णुपद)। विष्णु बुद्धि-तत्त्व तथा ब्रह्मा पुरुष अथवा जीव है। साख्य दर्शन की भाषा मे अनन्त प्रकृति, विष्णु महत्त्व और ब्रह्मा अहंकार है। सृष्टि के आदि में सर्वत्र तमोमयी सत्ता, पुन. उससे चिन्मय का प्रादुर्भाव, तत्पश्चात् *उससे ससार तथा मनुष्य की उत्पत्ति।*

दूसरी दृष्टि से (अर्थात् भौतिक दृष्टि से) यह सम्पूर्ण सृष्टि एक प्रकार का शनैः शनैः विकास है जो सूर्य के आदिम परमाणुओं से प्रादुर्भूत हुआ और पुनः जिसने सौरमण्डल की रचना की। इस 'प्रोटो ऐटोमिक मैटर' का प्रतीक है अनन्त, सूर्य का विष्णु, संसार का ब्रह्मा (कमलासन—कमलम्)।

पौराणिक अथवा आधिदैविक दृष्टिकोण से नारायण, जो जलनिवासी हैं (दे० महा० तथा० मनु०) —

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।
तान्येवायनं यस्य तेन नारायणः स्मृतः॥ महा०
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु०

उनको सृष्टि के आदि में अनन्त सर्प पर शायी बताया गया है। उनकी नाभि से एक विशाल कमल उत्पन्न हुआ—सप्तद्वीपा पृथ्वी, वन तथा सागर। इसी कमल के बीच से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई (दे० वराह, वामन तथा मत्स्य पुराण)। विष्णु के शस्त्रास्त्र आदि लाछनों का अर्थ तथा प्रयोजन वराह-पुराण में स्पष्ट प्रतिपादित है। शंख का प्रयोजन अज्ञान तथा अविद्या के नाशार्थ, खड्ग भी अज्ञान के विनाशार्थ, चक्र काल-चक्र का प्रतीक, गदा दुष्टों के दमनार्थ। मधुकैटभ का चित्रण उस पौराणिक आख्यान का संकेत करता है जिसमें सृष्टि के बाद ब्रह्मा पर जब इनका आक्रमण हुआ तो विष्णु ने इन्हें मारकर मधुसूदन उपाधि प्राप्त की। अथच विष्णु दैत्य-दमन के लिए ही तो संसार में अवतार लेते हैं। क्षीराब्धिशायिनी—वैष्णवी मुद्रा उनके सृष्टि-कार्य पर भी इंगित करती है —

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः।
स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः॥

स्थापत्य-निदर्शन—इस प्रतिमा की प्राप्ति देवगढ़ (झांसी) तथा दाक्षिणात्य वैष्णव-पीठ श्रीरंगम् में रंगनाथ-मन्दिर में तो है ही, कनिंघम ने और बहुत सी बड़ी प्रतिमाओं का भी निर्देश किया है। वासुदेव (दैविक तथा मानुष) आदि विशिष्ट मूर्तियों के लक्षणों पर यहाँ प्रतिपादन स्थानाभाव के कारण नहीं हो सका।

वैष्णव-ध्रुव-बेर—ध्रुवबेराओं का सम्बन्ध; विष्णु की स्थानक, आसन एवं शयन तीन मुद्राओं के अनुरूप अथच उपासक के प्रयोजनानुरूप अर्थात् योगार्थ, भोगार्थ, वीर्यार्थ तथा अभिचारार्थयोग-स्थानक, भोगस्थानक, वीरस्थानक, आभिचारिकस्थानक, योगासन, भोगासन, वीरासन, आभिचारिकासन; योगशयन, भोगशयन, वीरशयन तथा *आभिचारिकशयन—ये बारह प्रतिमाएँ प्रसिद्ध हैं। ये प्रतिमाएँ दाक्षिणात्य मन्दिरों की*

विशिष्टता हैं। बहुसंख्यक मन्दिर त्रिभौमिक विमान हैं अतः स्थानक, आसन एवं शयन मूर्तियाँ क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय भूमियों में स्थापत्य स्थाप्य हैं।

वैष्णव दशावतार

विष्णु के अवतारों के तीन प्रमुख भेद है--पूर्णावतार, आवेशावतार एव अंशावतार। प्रथम कोटि के अवतार--पूर्णावतार का प्रतिनिधित्व राम और कृष्ण करते है जिनका सम्पूर्ण ऐहिक जीवन भगवल्लीला ही रही। दूसरी कोटि का अवतार आवेशावतार है जिसके निदर्शन परशुराम है जो अपनी भागवती शक्ति राम के अवतीर्ण होने पर उन्हे समर्पित कर तत्कालीन महेन्द्र पर्वत पर तपश्चरणार्थ चले गये। उनका कार्य भी थोडा ही था--मदोन्मत्त क्षत्रियो के मद का विनाश। अत. सिद्ध है, परशुराम के अवतार मे दैवी शक्ति परिमितकालिक थी और परिमितकार्मिक भी। तीसरी कोटि के अवतारों मे शख, चक्र आदि आयुध-पुरुषो का निदर्शन है, जो विष्णु के लांछनो मे परिगणित है; परन्तु वे भगवान् के आदेश से मानुष-जन्म लेकर सन्त-साधु के रूप मे अपने दैविक कार्य को पूरा करते है। विष्णु के निम्नलिखित दशावतार प्रायः सर्वमान्य है। इनमे बहुसख्यक अवतारो के प्राचीनतम निर्देश शतपथ-ब्राह्मण (दे० प्रजापति का कूर्मरूप-धारण) तथा तैत्तरीय आरण्यक (दे० शतबाहु कृष्ण वराह के द्वारा जल से ऊपर पृथ्वी का उठाया जाना) मे आये है--

१--मत्स्य	३--वराह	५--वामन	७--राम	९--बुद्ध
२--कूर्म	४--नृसिंह	६--परशुराम	८--कृष्ण	१०--कल्की

भागवत-पुराण मे दशावतारो के स्थान पर निम्नलिखित २१ अवतारो का उल्लेख है--पुरुष, वराह, नारद, नर-नारयण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ (दे० यज्ञनारायण), ऋषभ्, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, नृसिह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्की। विष्णुधर्मोत्तर मे इनके अतिरिक्त दो नाम और है--हंस और त्रिविक्रम। आगे हम देखेगे (दे० विष्णु की क्षुद्र मूर्तियाँ) कि भावगत पुराण की इस लम्बी सूची के बहुसख्यक नाम विष्णु की क्षुद्र मूर्तियो मे परिसख्यात है। राव महाशय का कथन है कि बहुत प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थो मे विष्णु के दशावतारो मे बुद्ध की गणना नही और उनके स्थान पर बलराम का विनियोग है। बलराम, जैसा हम सभी जानते है, कृष्ण के बडे भाई थे और उन्हे शेषावतार (राम के छोटे भाई लक्ष्मण की भी तो शेषावतार-कल्पना है) माना गया है। अवतारों की यह सख्या पुराणो की परम्परा के अनुसार हुई, परन्तु वैष्णव-धर्म के विकास में पचरात्रो ने बडा भारी योग दिया और इस धर्म को दर्शन की ज्योति से और भी जागृत किया। पचरात्र की

नाना संहिताएँ है, उनमे सात्वत तथा अहिर्बुध्न्य इन दो संहिताओ के अनुसार विष्णु के ३९ अवतार हैं।

पञ्चरात्र दर्शन के अनुसार विष्णु के पाँच रूप है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा। प्रतिमा-लक्षण की दृष्टि से यहाँ पर इनमे से व्यूह और विभव के रूपो को देखना है। विभव के ३९ भेदो पर हमने ऊपर सकेत किया है। व्यूह के २४ रूपो पर आगे वर्णन करेगे। यहाँ पर विष्णु के इन दशावतारो की महामहिमा की इसी एकमात्र तथ्य से सूचना मिलती है कि इनमे बहुसख्यक अवतारो के इतिहास पर अलग-अलग विशालकाय महापुराणो एव उप-पुराणो की रचना की गयी। अत प्रत्येक की लीला एव दैविक कार्यो के सम्बन्ध में यहाँ पर विवरण प्रस्तुत करना अभिप्रेत नही। *परन्तु पौराणिक आख्यानो का महामर्म यह है कि व्यापक विष्णु की सर्वव्यापिनी सत्ता* का यह गुणगान है। म्योर ने ठीक लिखा है कि विष्णु के अवतार अगाध सागर की क्षुद्र धाराएँ है—ऋषि, मनु, देव और मानव, प्रजापति आदि सभी विष्णु के अश है। अवतारवाद की दार्शनिक व्याख्या मे भगवद्गीता के इस परम प्रसिद्ध श्लोक—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्॥ परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥'—मे हम परिचित ही है।

इन अवतारो की वैज्ञानिक व्याख्या मे इतना ही स्मरणीय है कि इन मे विश्व के विकास का रहस्य छिपा हुआ है। पुराण शब्द का अर्थ ही पुराणमाख्यानम्—पुराना इतिहास है। अतः इन पुराण-प्रतिपादित अवतारो मे विकासवाद का क्रम व्याख्यात है। इन दशावतारो में प्रथम चार मे जगद्-रचना की सूचना मिलती है। अतएव इनको 'कौसमोजेनिक इन कैरेक्टर' कह सकते है। मनुस्मृति के इस प्रवचन से हम परिचित ही हैं—"अप एव ससर्जादौ०।" अत. सृष्टि के प्रारम्भ मे सर्वत्र जल ही जल था। अत जगत् के विकास मे मत्स्य ही प्रथम जीव (या जन्तु) था जिसने प्राणियों की रचना का प्रतिनिधित्व किया। मत्स्यावतार सृष्टि के इसी विकास का प्रतीक है। जल के बाद पर्वतो का उदय प्रारम्भ हुआ। इसका प्रतीक कूर्म है। पार्वत्य प्रदेश की कूर्म-स्थान की सज्ञा से हम परिचित ही है। अत सृष्टि के विकास का यह द्वितीय सोपान कूर्मावतार में निहित है। समुद्र-मन्थन का पौराणिक आख्यान जगत् के उस विकास का सूचक है जब जल से भूमि का उदय हो रहा था। जल से भूमि के इस उदय मे सृष्टि के विकास के तृतीय सोपान का मर्म छिपा है, जो वराहावतार ने सम्पन्न किया। नृसिंहावतार मे मानव एव पशु—दोनो के विकास के इतिहास की कहानी छिपी है।

जहाँ तक इन अवतारो के अलग-अलग लक्षण एवं स्थापत्य-चित्रण का प्रश्न है वह

यहाँ पर असम्भव है। यहाँ इतना ही सूच्य है कि किन्ही-किन्ही अवतारो के नाना भेद-प्रभेद हैं एवं तदनुरूप चित्रण भी। वराहावतार की वाराही विष्णु-मूर्तियो की तीन कोटियाँ है—१–भू-वराह (आदिवराह अथवा नृवराह), २–यज्ञवराह तथा ३–प्रलय-वराह। इनके स्थापत्य-निदर्शनो मे महाबलिपुरम् की वराह-पाषाण-पट्टिका, बादामी की भू-वराह-मूर्ति तथा मद्रास सग्रहालय की वाराही ताम्र-प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है। नृसिहा-वतार की नारसिही वैष्णव-प्रतिमाओ की प्रधान दो कोटियाँ है—१–गिरिज नृसिह तथा २–स्थाणु नृसिह। बादामी और हल्लेबीडू की केवल-नृसिह पाषाण-प्रतिमाओ से एव आगमो के सन्दर्भों से स्थापत्य मे इन दो प्रधान कोटियो के अतिरिक्त कतिपय अन्य-वर्गीय नारसिही प्रतिमाओ की सूचना मिलती है जिनमे यानक-नृसिह (जिनमे नृसिह गरुड के कधो अथवा आदिशेष के भोगो पर प्रतिष्ठित प्रदर्श्य हैं), केवल-नृसिह (योग-नृसिह) तथा लक्ष्मी-नृसिह विशेष उल्लेख्य है, जिनका उपलब्ध शास्त्रो मे तो वर्णन नही मिलता परन्तु स्थापत्य-निदर्शन प्राप्त है। स्थाणु नरसिह की सर्वप्रसिद्ध प्रतिमा एलोरा के पाषाणपट्टो पर चित्रित है। मद्रास सग्रहालय की इनकी ताम्रजा प्रतिमा भी अति प्रसिद्ध है।

त्रिविक्रमावतार (वामनावतार) की वैष्णवी प्रतिमाओ के स्थापत्य में विपुल चित्रण है—बादामी, एलोरा, महाबलिपुरम् के स्मारक-पीठो पर इनके ओजस्वी चित्र द्रष्टव्य है। मध्यभारत के रायपुर जिले मे रजिमस्थ त्रैविक्रमी पाषाण-प्रतिमा भी बडी प्रख्यात है। कृष्णावतार की कृष्ण मूर्तियो मे नवनीत-नृत्य-मूर्ति, गण-गोपाल (या वेणुगोपाल), पार्थसारथि, कालियमर्दन, गोवर्धनधर विशेष उल्लेख्य है और इनके दाक्षिणात्य स्थापत्य मे विपुल चित्रण है।

बुद्धावतार विष्णु की बौद्ध प्रतिमा का निम्न लक्षण बृहत्संहिता, अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार अति सक्षेप मे इसलिए आवश्यक है जिससे आगे वज्रयान की पृष्ठभूमि पर पल्लवित बौद्धप्रतिमाओ के लक्षणो से इसकी तुलनात्मक समीक्षा पाठक कर सकें। बौद्धप्रतिमा के हस्त एव पाद पद्मांकित होने चाहिए। प्रसन्न-मूर्ति, सुनीचकेश, पद्मासनोपविष्ट भगवान् बुद्ध जगत् के पिता के सदृश सन्दर्श्य है। अथच (अग्नि० के अनुसार) वे लम्बकर्ण एव वरदाभयदायक भी चित्र्य है। वि० ध० ध्यानी बुद्ध को कषाय वस्त्रसवीन, स्कन्ध- ससक्तचीवर चित्रित करता है। अन्य लक्षणो मे वे रक्तवर्ण, त्यक्ताभरण-मूर्धज, कषायवस्त्र एव ध्यानस्थ प्रतिपादित है।

विभज अर्थात् चतुर्विंशति विष्णु-मूर्तियाँ—इन मूर्तियो मे केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर, सङ्कर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, नृसिह, अच्युत, जनार्दन, उपेन्द्र,

हरि, श्रीकृष्ण—की परिगणना है। विष्णु के सहस्र नाम (दे० महा० अनु० प०) हैं। इनमें ये २४ नाम विशेष पावन हैं जिनका विष्णु-पूजा मे दैनिक सकीर्तन होता है। अतएव स्थापत्य मे भी इन २४ विष्णु-रूपो का चित्रण हुआ है। इन स्थापत्य-निदर्शनो का सर्व-प्रसिद्ध पीठ होयसिल-क्षेत्र है। इन चौबीसो की प्रतिमाएँ प्रायः समान चित्रित हैं—केवल वैष्णव-लाछनों के हेर-फेर से इनकी अभिज्ञा होती है।

विष्णु के अंशावतार एवं अन्य स्वरूप-मूर्तियाँ—इनमे पुरुष, कपिल, व्यास, धर्म, मन्मथ आदि की गणना की जाती है। विस्तार अभिप्रेत नही।

गारुड एवं आयुध-पौरुषी वैष्णव-मूर्तियाँ—इनमे इतना ही निर्देश आवश्यक है कि गरुड की मूर्ति (दे० बादामी) मे अमृत-घट तथा सर्प-लाछन आवश्यक है। आयुध-पुरुपो के विभिन्न वैष्णव आयुधो मे कुछ तो पुरुष-प्रतिमा तथा अन्य स्त्री-प्रतिमा मे चित्र्य हैं। शक्ति और गदा का चित्रण स्त्री-प्रतिमा मे विहित है। अकुश, पाश, शूल, वज्र, खड्ग तथा दण्ड पुरुष-प्रतिमा मे। चक्रावतार विष्णु की ताम्र प्रतिमा (दे० सुदर्शन चक्र) दाडीक्कुम्ब् के स्थापत्य मे प्रसिद्ध है। सुदर्शन चक्र की वैष्णवी प्रतिमा उग्र मूर्ति का निदर्शन है जिसमे षोडश हस्त प्रदर्श्य है और जिनमे चक्र, शख धनु, परशु, असि, बाण, शूल, पाश, अकुश, अग्नि, खड्ग, खेटक, हल, मुसल, गदा और कुन्त—ये १६ आयुध चित्रणीय है। सुदर्शन की पुराणो मे बडी महिमा गायी गयी है, वह 'रिपु-जन-प्राण-सहार-चक्र' की सज्ञा से सकीर्तित किया गया है। इसी प्रकार अन्य आयुध भी विभिन्न दर्शन-दृष्टियो के प्रतीक हैं। विष्णुपुराण मे गदा साख्य-दर्शन की बुद्धि, शंख अहकार एव बाण कर्मेन्द्रियो एव ज्ञानेन्द्रियो, असि विद्या तथा असि आवरण-अविद्या के प्रतीक हैं और इन्द्रियो के पति महाप्रभु हृषीकेश। इन्ही प्रतीको के उपलक्षण प्राणियों के कल्याणार्थ निराकार होते हुए भी भूतल पर अवतार लेते हैं।

शैव-प्रतिमा-लक्षण—शैव धर्म एव दर्शन तथा शिव-पूजा के नाना सम्प्रदाय—पाशुपत, कालमुख, वीर आदि पर न तो यहाँ प्रतिपादन का अवसर है और न स्थान। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से और प्रतिमा-स्थापत्य की दृष्टि से भी शिव-प्रतिमा के दो रूप पाये जाते है—लिंग-प्रतिमा तथा रूप-प्रतिमा। इनमे प्रथम अर्थात् लिंग ही शिव की प्रधान प्रतिमा है और शिवरहस्य भी। अतएव सभी शिव-मन्दिरो मे प्रधान प्रतिमा के रूप मे शिवलिंग की ही स्थापना प्रचलित है।

लिंग-प्रतिमा—लिंग शब्द मे समस्त शिवतत्त्व अन्तर्हित है—"लय गच्छन्ति भूतानि" अथवा 'त्रिजगल्ल-यनाद् यतः।' लिंगो के नाना प्रकार हैं उनमें दो प्रभेद प्रधान है—चल लिंग तथा अचल लिंग। चल लिगो की परम्परा मे शिवार्चा को सुगम एव सरल बनाने का रहस्य छिपा हुआ है। मृत्तिका एवं सिकता से भी उपासक तत्क्षण लिंग रचना

करके अपनी पूजा सम्पादन कर सकता है। कालान्तर पाकर रत्न, धातु, शिला (दे० प्रतिमा-द्रव्य) आदि द्रव्यो के अनुरूप नानाद्रव्यीय लिंग परिकल्पित हुए। अचल लिंगों के नाना प्रकारों पर भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न सख्या दी गयी है। सुप्रभेदागम में अचल लिंगो की सख्या ६ है—१–स्वायम्भुव, २–पूर्व (पुराण), ३–दैवत, ४–गाणपत्य, ५–असुर, ६–सुर, ७–आर्ष, ८–राक्षस तथा ६–मानुष। इनमे प्रथम ८ यथानाम अपने आप अथवा अति प्राचीन या देवताओ के द्वारा स्थापित अथवा गणो, असुरो, सुरो, ऋषियों, राक्षसो के द्वारा स्थापित लिंगो का संकेत करते है। उनकी विशेष मीमांसा यहाँ नही हो सकती। मानुष लिंगो पर थोडा सा विशेष विचार आवश्यक है।

मानुष-लिंग—यथानाम ये मनुष्यो द्वारा प्रतिष्ठापित लिग है। अचल लिगों मे इन्ही की सख्या सर्वविदित है। मानुष लिगो के मान एव विभिन्न भागो का सकेत ऊपर किया जा चुका है। यहाँ पर इतना ही विशेष ज्ञातव्य है कि मानुष लिगो की ऊँचाई आदि के विनियोग-व्यवस्थानुरूप निम्नलिखित उपवर्ग भी है—

(१) सार्वदेशिक, (२) सर्वतोभद्र (सर्वसम), (३) वर्धमान (सुरेड्य), (४) शैवाधिक, (५) स्वस्तिक (अनाढ्य), (६) त्रैराशिक (त्रैभागिक) तथा (७) आढ्यलिग। अथच प्रासाद-निर्माण-शैली के अनुरूप मानुप लिग (अचल) नागर, द्राविड तथा वेसर के नाम से विख्यात है तथा अपने विस्तारानुरूप पुन तीन कोटियो मे विभाजित है—जयद, पौष्टिक तथा सार्वकामिक। इनके ऊर्ध्व भाग की पाँच कोटियाँ है जो आकारानुरूप सज्ञापित की गयी है—छत्राकार, त्रिपुषाकार, कुक्कुटाण्डाकार, अर्ध-चन्द्राकार तथा बुद्बुदसदृश। मानुष लिंगो के कतिपय अन्य प्रभेद भी है जिनको अष्टोत्तर शत-लिंग, सहस्र-लिंग, धार-लिंग, शैवेष्ट-लिंग तथा मुखलिंग के नाम से पुकारा गया है। इनका रूप लिंग-कलेवर (पूजा भाग) पर क्षुद्र लिगो की रचना है, जैसे अष्ट० पर १०८ तथा सहस्र पर १०००। धार लिंग मे ५ से ६४ लम्बी रेखाएँ बनायी जाती है। मुख–लिंग (यथानाम) पर मानव-मुख-विरचना आवश्यक है। सर्व-सम लिंग-प्रभेद के पूजा भाग पर पचानन शिव के प्रसिद्ध पच रूपो—वामदेव, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात तथा ईशान मे एक या दो या तीन या पाँच भी विकल्प्य है।

लिंग-पीठ—लिंग एव पीठ का स्थापत्य मे आधार-आधेय भाव है। लिंग है आधेय तथा आधार है पीठिका। इसको पिण्डिका भी कहते है। इनकी विभिन्न आकृति शास्त्रों मे प्रतिपादित है—चतुरस्रा, आयत, वर्तुल, अष्ट-कोण, षोडश-कोण आदि सभी प्रसिद्ध एव अनुमेय आकृतियो मे पीठ प्रकल्प है।

बाण-लिंग—अन्त मे लिंग-प्रतिमा के सम्बन्ध मे बाण-लिंगों को भी नही भुलाया जा सकता। जिस प्रकार विष्णु-पूजा मे शालग्राम तथा देवी-पूजा मे श्रीचक्र की परम्परा

है उमी प्रकार शिव-पूजा मे बाण-लिगो की। ये छोटे-छोटे शिलामय खण्ड बडे ही सुन्दर, मनोरम एव प्रशस्त रूप में महेन्द्र पर्वत पर अमरेश्वर मे तथा कन्यातीर्थ और वहाँ के आश्रम के चारो ओर विशेष रूप से पाये जाते हैं और नर्मदा मे भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं अतएव नर्मदेश्वर के नाम से पुकारे जाते हैं।

शिव की रूप-प्रतिमा

इसके तीन वर्ग हैं—शान्त, अशान्त तथा विशिष्ट। निम्न तालिका देखिए—

शान्त	अशान्त	विशिष्ट
१–साधारण-असाधारण	१–सहार	१–विद्येश्वर
२–सौम्य-शान्त	२–भैरव	२–मूर्त्यष्टक
३–अनुग्रह-मूर्ति	३–ककाल तथा भिक्षाटन	३–ईशानादि पचमूर्तियाँ
४–नृत्त-मूर्ति	४–अघोर	४–महादेव
५–दक्षिणा-मूर्ति	५–एकादश रुद्र	५–शिवगण तथा शिवभक्त

यहाँ पर यह सूच्य है कि शास्त्रों के अनुसार रूप-प्रतिमा लिगोद्भव ही है। शिल्परत्न मे लिगोद्भव के १८ प्रकारो मे यह ऊपर का वर्ग सम्मिलित है। अत उसकी अवतारणा व्यर्थ है।

साधारण—इसका तात्पर्य सर्वप्रसिद्ध प्रतिमा से है। इस प्रतिमा-प्रकल्पन मे शिव को श्रीमान्, चन्द्राकितजूट, नीलकण्ठ, सयमी, विचित्र-मुकुट (जटा-मुकुट), निशाकर (चन्द्रमा) के सदृश कातिमान् प्रदर्शित करना चाहिए। पन्नगो तथा मृगचर्म को धारण किये हुए होने चाहिए। इस मूर्ति के नाना निदर्शन इधर-उधर सभी जगह प्राप्य है।

असाधारण—इसका तात्पर्य उन विशिष्ट मूर्तियों मे है जिनके निदर्शन सदाशिव, महासदाशिव, पाशुपत आदि हैं। इन विशिष्ट मूर्तियो मे अपराजितपृच्छा मे द्वादश-कला-सम्पूर्ण सदाशिव का भी उल्लेख हुआ है। अस्तु, इन मूर्तियो मे शाम्भव-दर्शन की ज्योति के महाप्रकाश का हमे आभास मिलता है। सदाशिव के परादि शक्ति-पचक से ही सभी आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक कार्य-कलापो की सृष्टि हुई है। सदाशिव एव महासदाशिव की मूर्तियो मे शुद्ध शैव-दर्शन का अविकल अकन निहित है। सदाशिव की पचानन प्रतिमा विहित है। महासदाशिव की मूर्ति पचविंशति मुख एव पचाशत हस्तो मे चित्र्य है। महासदाशिव के ये २५ मुख साख्य के २५ तत्त्वो के उपलक्षण है। सदाशिव की पूजा बगाल मे विशेष प्रचलित रही है। बगाल के सेन वशी राजा सदाशिव के भक्त कहे जाते हैं। अतएव बगाल के पाषाण-चित्रणो में सदा-

शिव प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं । महासदाशिव प्रतिमा का एक सुन्दर निदर्शन तंजौर के वैतिश्वरनकोइल नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है ।

सौम्य-शान्त—मूर्तियों में अर्धनारीश्वर, गंगाधर, कल्याणसुन्दर, वृषवाहन, विषाप-हरण, चन्द्रशेखर (केवल, उमासहित तथा आलिंगन, तीन कोटियों) के साथ-साथ सुखासन, उमामहेश्वर, सोमास्कन्द आदि परिगणित किये गये हैं । इनमें अर्धनारीश्वर का चित्रण बड़ा ही प्रसिद्ध है और यह रूप भी बड़ा रहस्यमय है । इसमें सृष्टि, शाम्भव दर्शन तथा धर्मसहिष्णुता सभी अन्तर्हित हैं । बादामी, कुम्भकोणम्, महाबलिपुरम् आदि वास्तु-पीठों पर इसके सुन्दर प्रदर्शन प्राप्त होते हैं । गंगाधर मूर्ति एलीफेंटा में अत्यन्त सुन्दर रूप में पायी जाती है । कल्याणसुन्दर-मूर्ति का तात्पर्य शिव-पार्वती विवाह है और एलीफेंटा की पाषाणी में यह चित्रण बड़ा ही सुन्दर उतरा है । इसी प्रकार अन्य रूपों के चित्रण भी प्राप्त होते हैं ।

अनुग्रह-मूर्ति—शिव रुद्र ही नहीं शंकर भी हैं । अतएव आशुतोष शंकर की (वरदान-दायिनी) कतिपय अनुग्रह-मूर्तियों का स्थापत्य-चित्रण देखने को मिलता है । तदनुरूप विष्णु-अनुग्रह-मूर्ति, नन्दीशानुग्रह-मूर्ति, किरातार्जुन-मूर्ति, विघ्नेश्वरानुग्रह-मूर्ति, रावणा-नुग्रह-मूर्ति तथा चण्डेशानुग्रह-मूर्ति—ये छः अनुग्रह-मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं । प्रथम में शिव के अनुग्रह से विष्णु ने चक्र (जो पहले शिव की निधि थी) प्राप्त किया । कथा है; इस चक्र-प्राप्ति के लिए विष्णु प्रति दिन एक सहस्र कमलों से शिव-प्रीत्यर्थ पूजा करने लगे । विष्णु की भक्ति के परीक्षार्थ शिव ने एक दिन एक फूल चुरा लिया, तो उस फूल की कमी विष्णु ने अपने कमल-लोचन से की । अत्यन्त प्रीत शिव ने विष्णु को चक्र प्रदान किया । इस प्रतिमा का निदर्शन काजीवरम् और मदुरा में प्राप्य है । द्वितीय में नन्दीश पर शिव के अनुग्रह का संकेत है । बूढ़े नन्दी ने अपने जीवन-विस्तार के लिए शिव-स्तुति की और अनुगृहीत हो शिव के गणों का चिरंतन नायकत्व एवं भगवती का पुत्र-वात्सल्य प्राप्त किया । तृतीय में किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथा से कौन अपरिचित है ? अर्जुन ने पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिए जो उत्कट तपस्या की तथा किरातवेष शिव को प्रसन्न किया उसी की यह अनुग्रह-मूर्ति है । इस प्रतिमा के दक्षिण में तिरुच्चेंगाट्टगुडी और श्रीशैल—इन दो स्थानों पर निदर्शन है । चतुर्थ में सर्वविदित गणेशानुग्रह है । पंचम की कथा है—कुबेर-विजय से प्रसन्न रावण जब लंका लौट रहा था तो रास्ते में उसका विमान-रथ शरवण (कार्तिकेय-जन्मस्थान) के पास जब पहुँचा तो उसके सर्वोन्नत शिखर पर उसने एक बड़ा मनोज्ञ उद्यान देखा । वह वहाँ पर विहार करने के लिए ललचा उठा, परन्तु ज्यों ही निकट पहुँचा तो उसका विमान टस से मस न हुआ—वहीं रुक गया । यहाँ पर रावण को मर्कटानन वामन नन्दिकेश्वर मिले । विमानावरोध-

कारण-पृच्छा पर नन्दिकेश्वर ने बताया कि इस समय महादेव और उमा पर्वत पर विहार कर रहे है और किसी को भी वहाँ से निकलने की इजाजत नही। यह सुन रावण स्वय हँसा और महादेव की भी हँसी उडायी। इस पर नन्दिकेश्वर ने शाप दिया कि उसका ऐसी ही आकृति एवं शक्ति वाले मर्कटो से नाश होगा। अब रावण ने अपनी दसो भुजाएँ फैलाकर पूरे के पूरे पर्वत को ही उखाड फेकना सोचा। उसने उसे उठा ही तो लिया। उस पर सभी लडखडाने लगे, भगवती उमा अनायास एव अननुनय भगवान् से लिपट गयी (दे० शि० व० स० १ ५०)। शिव ने सब हाल जान लिया और अपने पादागुष्ठ से उसे दबाकर स्थिर ही नही कर दिया, रावण को उसके नीचे दबा डाला। रावण की आँखे खुली—शिवाराधना की १००० वर्ष रोकर। अतएव उसकी सज्ञा रावण (रोने-वाला) हुई। शिव ने अन्त मे अनुग्रह किया और लका लौटने की अनुमति दी। इस स्वरूप के बडे ही सुन्दर चित्रण एलोरा मे तथा वेलूर मे भी द्रष्टव्य है। षष्ठ का सम्बन्ध चण्डेश नामक भक्त के अर्वाचीन अनुग्रह से है।

नृत्त-मूर्तियाँ—शिव की एक महा-उपाधि नटराज है। नटराज शिव के ताण्डव नृत्य की कथा कौन नही जानता? शिव नाट्य-शास्त्र (नृत्यकला एव नृत्त-कौशल जिसका अभिन्न अग है) के प्रथम प्रतिष्ठापक एव मूलाचार्य है। नाट्य-कला सगीत-कला की सखापेक्षिणी है अथवा नाट्य और सगीत एक दूसरे के पूरक है। अतः शिव का ससगीत चिता-स्थलो पर नर्तन प्रसिद्ध है। ताण्डव नृत्य सामान्य नृत्य नही वह तो प्रलयकर है। भरत-नाट्य शास्त्र मे १०८ प्रकार के नृत्यो का वर्णन है। आगमो का कथन है कि नटराज शिव इन सभी नृत्यो के अद्वितीय नट है। नाट्य-शास्त्र मे प्रतिपादित १०८ नृत्य आगम-शास्त्र के १०८ नृत्य ही है। शिव की नृत्त-मूर्तियो के स्थापत्य मे तो थोडे ही रूप है परन्तु यह कम विस्मय की बात नही। चिदम्बरम् (दाक्षिणात्य प्रसिद्ध शिव-पीठ) के नटराज-मन्दिर के एक गोपुर की दोनो भित्तियो पर नाट्य-शास्त्र मे प्रतिपादित लक्षणो सहित १०८ प्रकार के नृत्यो का स्थापत्य-चित्रण दर्शनीय है। शिव के नृत्य मे सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा एव सहार—सभी निहित है। यह घोर आध्यात्मिक तत्त्व-निष्यन्द है जिसका ज्ञान इने-गिने लोगो को है, दिव्य-नृत्य, ताण्डव-नृत्य, नादान्त-नृत्य आदि में यही अध्यात्म भरा है। चिदम्बरम् के नटराज के अतिरिक्त अन्य स्थापत्य निदर्शनो मे मद्रास संग्रहालय की और कोट्टपाडी तथा रामेश्वरम् तथा पट्टीश्वरम् की ताम्रजा, त्रिवेन्द्रम् की गजदन्तमयी और तेन्काशी, तिरुच्चेन्गाट्टगुडी की पाषाणी प्रतिमाएँ प्रख्यात हैं। उपर्युक्त नृत्त-मूर्ति-भेद-चतुष्टय मे एलौरा का ललित-सम, कांजीवरम् का ललाट-तिलक, नाल्लूर (तंजौर) का चतुरम् आदि भी दर्शनीय हैं। इस प्रकार सामान्य तथा विशिष्ट दोनो प्रकार की नृत्त-मूर्तियाँ दक्षिण भारत में भरी पड़ी हैं।

दक्षिणा-मूर्तियाँ—योग, संगीत तथा अन्य ज्ञान-विज्ञान और कलाओं के उपदेशक के रूप में शिव को दक्षिणा-मूर्ति के स्वरूप में विभावित किया गया है। शब्दार्थतः यह संज्ञा (दक्षिण की ओर मुख किये हुए) उस समय का स्मरण दिलाती है जब शिव ने ऋषियों को योग और ज्ञान की प्रथम शिक्षा दी थी। ज्ञान-विज्ञान और कला के जिज्ञासुओं के लिए, शिवोपासना में यही मूर्ति विहित है। श्रीराव का कथन है कि परमशैव माहेश्वर शिवावतार शंकराचार्य भी इसी रूप के समुपासक थे। दक्षिणा-मूर्ति के व्याख्यान-दक्षिणा-मूर्ति, ज्ञान-दक्षिणा-मूर्ति, योग-दक्षिणा-मूर्ति तथा वीणाधर दक्षिणा-मूर्ति आदि प्रभेद उल्लेख्य हैं। व्याख्यान और ज्ञान का तात्पर्य शास्त्रोपदेश है। इसी मूर्ति में प्राय: दक्षिणा-मूर्तियों की शिवमंदिरों में चित्रणा देखी जाती है। इस मूर्ति के लाछनों में हिमाद्रि का वातावरण, वट-वृक्ष-तल शार्दूल-चर्म, अक्षमाला, वीरासन आदि के साथ जिज्ञासु ऋषियों का चित्रण भी अभीष्ट है। देवगढ़ और तिरुवोर्रीयूर, आवूर (तंजौर), सुचीन्द्रम्, कावेरी पाक्कम् आदि स्थानों की ज्ञान-दक्षिणा-मूर्तियाँ दर्शनीय हैं। कांजीवरम् की योग-दक्षिणा-मूर्तियाँ तथा वडरगम् और मद्रास संग्रहालय की वीणाधर मूर्तियाँ भी अवलोक्य हैं।

अशान्त-मूर्तियाँ

संहार-मूर्तियाँ तथा भैरव-मूर्तियाँ—हिन्दू-त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश में शिव का वास्तविक कार्य संहार है। शिव की संहार-मूर्तियों में—कामान्तक-मूर्ति, गजासुर संहार-मूर्ति, कालारि-मूर्ति, त्रिपुरान्तक-मूर्ति, शरभेश-मूर्ति, ब्रह्म-शिरश्छेदक-मूर्ति तथा भैरव-मूर्तियाँ-प्रसिद्ध हैं। भैरव-मूर्तियों के चार वर्ग हैं—सामान्य, वटुक, स्वर्णाकर्षण तथा चतुष्षष्टि। भैरव के आठ प्रधान स्वरूप हैं—असितांग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कापाल, भीषण तथा संहार। इन आठों के आठ भेद हैं अतः सब मिलकर ६४ हुए। इनके अतिरिक्त वीरभद्र-मूर्ति, जलन्धर-हर-मूर्ति तथा अन्धकासुरवध-मूर्ति भी संहार मूर्तियों में परिगणनीय हैं। इन मूर्तियों के अपने-अपने पृथुल आख्यान तथा मनोरम व्याख्यान हैं (दे० प्रतिमा-विज्ञान)। इन सभी मूर्तियों के स्थापत्य-प्रदर्शन प्रचुर संख्या में पाये जाते हैं। अमृतेश्वर अमृतपुर मैसूर में, वलयूर में गजासुर-संहार, एलोरा का त्रिपुरान्तक, तंजौर का शरभेश आदि विशेष उल्लेख्य हैं। इसी प्रकार अन्धकासुरवध मूर्ति का सुन्दर स्थापत्य-निदर्शन एलीफेण्टा और एलोरा के गुहामन्दिरों में द्रष्टव्य है।

कंकाल तथा भिक्षाटन—इन मूर्तियों के उदय में कूर्मपुराण की कथा है—ऋषि लोग विश्व के सच्चे विधाता की जिज्ञासा के लिए जगद्विधाता ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने अपने

को विश्व का विधाता बताया। तुरन्त शिव आविर्भूत हुए और उन्होंने अपने को विश्व का सच्चा विधाता उद्घोषित किया। वेदों ने भी समर्थन किया परन्तु ब्रह्मा नहीं माने। अन्त में शिव की इच्छा-मात्र से एक ज्वाल-स्तम्भ प्रादुर्भूत हुआ। उसने भी शिव की प्रतिष्ठा समर्थित की तब भी ब्रह्मा न माने। तब क्रुद्ध शिव ने भैरव को ब्रह्मा के शिर-च्छेद करने की आज्ञा दी। ब्रह्मा के अब होश ठिकाने आये और उन्होंने शिव की महत्ता स्वीकार कर ली। परन्तु शिवरूप भैरव की हत्या कैसे मिटे? अतः भैरव ने ब्रह्मा से ही इस हत्या के मोक्ष की जिज्ञासा की। तब ब्रह्मा ने आदेश दिया कि इसी शिर कपाल में भिक्षा माँगते फिरिए, विष्णु से भेंट होने पर वे पाप-मोचन का उपाय बतायेंगे। जब तक विष्णु नहीं मिलते तब तक यह हत्या स्त्रीरूप में पीछे-पीछे चलेगी। भैरव ने वैसा ही किया, वे विष्णु के पास पहुँचे तो वहाँ दूसरी हत्या लगी—द्वारपालिका विष्वक्सेना का वध कर डाला। विष्वक्सेना के कपाल को त्रिशूल पर रखकर विष्णु से भिक्षा माँगी तो उन्होंने भैरव के मस्तक की एक नस चीरकर कहा—यह रुधिर ही तुम्हारी सर्वोत्तम भिक्षा है। विष्णु ने ब्रह्महत्या को समझाया कि अब भैरव को छोड दो, परन्तु उसने नहीं माना। तब विष्णु को एक सूझ आयी और भैरव से कहा कि शिवधाम वाराणसी जाओ। वहीं पर यह हत्या छूटेगी। भैरव ने वैसा ही किया और हत्या से छुटकारा पाया। विष्वक्सेना भी जी उठी। ब्रह्मा का सिर भी जुड गया। कंकाल-मूर्ति और भिक्षाटन-मूर्ति दोनों के ही सुन्दर एवं प्रचुर स्थापत्य-निदर्शन मिलते हैं। दक्षिण भारत ही इन सभी प्रकार की शैवी मूर्तियों का केन्द्र है। दारासुरम्, तेन्काशी, सुचीन्द्रम्, कुम्भकोणम् की कंकाल-मूर्तियाँ एवं पन्दणल्लूर, बलवूर और काञ्जीवरम् की भिक्षाटन मूर्तियाँ निदर्शन हैं।

अघोर एवं रुद्र—अघोर-मूर्तियों का सम्बन्ध तान्त्रिक उपासना तथा वामाचार से है। आभिचारिक कृत्यों, जैसे शत्रु-विजय आदि में अघोर मूर्ति की उपासना विहित है। इस मूर्ति के तीन रूप पाये जाते हैं—अष्टभुजा-अघोर, दशभुजा-अघोर तथा द्वात्रिंशद्-भुजा-अघोर। रुद्र-मूर्तियों का सम्बन्ध एकादश मूर्तियों से है, एकादश रुद्रों के नाम समान नहीं हैं। अपराजित में सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान, मृत्युंजय, विजय, किरणाक्ष, अघोरास्त्र, श्रीकण्ठ तथा महादेव—ये ११ रुद्र माने गये हैं। परन्तु अंशुमद्भेदागम, विश्वकर्मप्रकाश में यह तालिका दूसरे ही नामों से निर्दिष्ट है (दे० प्र० वि० २७३)।

अन्य विशिष्ट-मूर्तियाँ—विद्येश्वरों की आठ संज्ञाएँ हैं—अनन्तेश, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शितिकण्ठ। अष्टमूर्तियों अथवा मूर्त्यष्टक के नाम हैं—भव, शर्व, ईशान, पशुपति, उग्र, रुद्र, भीम और महादेव। ईशानादि पंचमूर्तियों का तात्पर्य पंच-ब्रह्म अर्थात् निष्कल शिव के पंच स्वरूप—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम-

देव तथा सद्योजात से है। एक अद्भुत महादेव-मूर्ति एलीफेण्टा की तथाकथित त्रिमूर्ति है जिसमे दक्षिण मूर्ति वास्तव मे भगवती की मूर्ति है। महादेव बिना देवी के कैसे महादेव हो सकते है।

शिवगण तथा शिवभक्तो के सम्बन्ध में नन्दी, चण्डेश अथवा चण्डनाथ तथा क्षेत्रपाल एव आर्य अथवा शास्ता आदि के विवरण हमारे अगरेजी ग्रन्थ मे पठनीय है। इसी प्रकार शैव लाछन-रहस्य, शिवायतन एव शिवपरिवार आदि पर भी प्रवचन वही पठनीय है। इस पर इतना ही सकेत पर्याप्त है कि शिव का सच्चा लांछन नादिया बैल है जिसको ऋषियों ने—"वृषो हि भगवान् धर्मश्चतुष्पाद प्रकीर्तित ।" कहा है। उनकी १० भुजाएँ दसो दिशाएँ है जिनमे आकाश और पाताल भी सम्मिलित है। यह है शिवमहिमा और यह है शिव की अधीश्वरता।

गणपति प्रतिमा-लक्षण

गणपति-गणेश—गणेश के विभिन्न नामो मे ही उनके प्रतिमा-लक्षण विद्यमान है। गणपति, एकदन्त, लम्बोदर, शूर्पकर्ण आदि इस तथ्य के उद्भावक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे इन नामो की दर्शनपरक व्याख्या है—गणपति मे "ग" ज्ञान, "ण" मोक्ष, "पति" परब्रह्म, एकदन्त मे "एक" एक ब्रह्म, "दन्त" शक्ति—इत्यादि के बोधक है। अतएव गणेश की जितनी प्रतिमाएं प्राप्त है अथवा शास्त्र मे जो उनके लक्षण उल्लिखित है उनके अनुसार विनायक की प्रतिमाएँ गजानन, लम्बोदर, समोदक तथा पाशसर्प-सनाथ प्रतिपादित है। तन्त्रो की परम्परा मे गणेश के आठ अथवा अष्टाधिक हस्तों का उल्लेख है। पुराणो मे गणेश का वाहन मूषक है। शारदातिलक तथा मेरुतन्त्र के अनुसार गणेश के दस स्वरूप है—विघ्नराज, लक्ष्मीगणपति, शक्ति-गणेश, क्षिति-प्रसादन-गणेश, वक्र-तुण्ड, पीतगणेश, उच्छिष्ट-गणपति, हेरम्ब, महागणपति, विरंचि-गणपति। इनमे प्रथम ७ चतुर्हस्त, आठवे अष्टहस्त, नवे द्वादशहस्त तथा दसवें दशहस्त प्रकल्प्य है। राव महाशय ने गणेश-प्रतिमाओ के वर्गीकरण मे वक्ष्यमाण १६ भेदो का उपश्लोकन किया है—बाल गणपति, तरुण गणपति, भक्ति-विघ्नेश्वर, वीर-विघ्नेश्वर, शक्ति-गणेश (लक्ष्मी-गणपति, उच्छिष्ट-गणपति, महागणपति, ऊर्ध्व-गणपति, पिंगल-गणपति भी), हेरम्ब (पचगजानन), प्रसन्न-गणपति, ध्वज-गणपति, उन्मत्त-उच्छिष्ट-गणपति, विघ्नराज-गणपति, भुवनेश गणपति, नृत्त-गणपति, हरिद्रा-गणपति (रात्रि-गणपति), भालचन्द्र, शूर्पकर्ण तथा एकदन्त। स्थापत्य-निदर्शनो मे कालडी के शारदादेवी वाले उच्छिष्ट-गणपति, तेन्काशी के विश्वनाथस्वामि-मन्दिर में लक्ष्मी-गणपति, कुम्भकोणम् के नागेश्वरस्वामि-मन्दिर मे उच्छिष्ट-गणपति, नेगापटम्

के नीलायताक्षियमम् में हेरम्बरगणपति (ताम्रज), त्रिवेंद्रम के (गजदन्तमय) और पट्टीश्वरम् के प्रसन्न-गणपति और हलेविडू तथा होयसिलेश्वर के नृत्त-गणपति की प्रतिमाएँ विशेष प्रख्यात हैं।

सेनापति कार्तिकेय—महाराज भोज ने जिस प्रकार भगवान् शकर का सुन्दर प्रवचन किया है उसी प्रकार कार्तिकेय का भी स्पष्ट एव सुन्दर तथा पूर्ण वर्णन किया है। इस वर्णन के बीच-बीच प्रतिमादि-निवेशोचित स्थानों—नगरो, ग्रामो तथा खेटो के निर्देश से ऐसा पता चलता है कि उस समय सम्भवतः प्रत्येक पुर-निवेश मे स्कन्द की प्रतिमा के निवेश की परम्परा सर्वसामान्य रूप से प्रचलित थी। परन्तु यह परम्परा पौराणिक नही, किन्तु आगमिक है। आगमो का भी ऐसा निर्देश है। अत. आगमो की छाया इस प्रवचन पर परिलक्षित होती है। यद्यपि यह सत्य है कि रोहतक आदि उत्तर के स्थानों मे स्कन्द कार्तिकेय की पूजा एव पूजानुरूप प्रतिमाओ का प्रचुर प्रचार था और पुरातत्त्वान्वेषण इस तथ्य का समर्थक भी है, तथापि स्कन्दोपासना का इस प्रदेश में प्रचार विरल ही था। स्कन्द कार्तिकेय के दो प्रमुख लक्षणो मे सभी शास्त्रो का मतैक्य है—षडानन और शक्तिघर। स्कन्द का एक नाम कुमार है, अत उनकी प्रतिमा की कुमाराकृति विहित है। स्कन्द शिखिवाहन है। कुक्कुट की सनाथता भी स्वामिकार्तिकेय के साथ उल्लिखित है। कुमार के विभिन्न नाम है, उन नामो मे उनके विभिन्न उत्पत्ति-आख्यान के रहस्य निहित है। अथच जिन नामो के अनुरूप स्थापत्य मे इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना हुई है उनमे मुख्य है—

कार्तिकेय, षण्मुख—षडानन, शरवणभव (शरजन्म), सेनानी, तारकजित, क्रौच-भेत्ता, गगापुत्र, गुह, अनलभू, स्कन्द तथा स्वामिनाथ। गोपीनाथ राव महाशय ने अपने ग्रन्थ में इन्ही नामो के आनुषगिक जिन प्रतिमाओं का उल्लेख किया उनका आधार उन्होंने 'कुमार-तन्त्र' बताया है। ये प्रतिमाएं है—शक्ति-घर, स्कन्द, सेनापति, सुब्रह्मण्य, गजवाहन, शरवणभव, कार्तिकेय, कुमार, षण्मुख, तारकारि, सेनानी, ब्रह्मशास्त, वल्लि-कल्याण-सुन्दरमूर्ति, बालस्वामी, क्रौंचभेत्ता तथा शिखिवाहन। श्रीतत्व-निधि के अनुसार इन कुमार तन्त्री प्रतिमाओ के अतिरिक्त भी कुछ प्रतिमाएँ चित्र्य है, जैसे १७—अग्निजात, १८—सौरमेय, १९—गांगेय, २०—गुह, २१—ब्रह्मचारि तथा २२—देशिक। कार्तिकेय का सुब्रह्मण्य रूप जैसा ऊपर सकेत है दक्षिणात्य पूजा एव स्थापत्य की विशिष्टता है, तदनुरूप सुब्रह्मण्य-प्रतिमाओ की प्राप्ति भी वही प्रचुर है। कुम्भकोणम की देवसेना और वल्लीसहिता सुब्रह्मण्य-पाषाणी तथा शिखि-वाहना विशेष दर्शनीया है। इलौरा की पाषाणी तथा पट्टीश्वरम् की षण्मुखी भी प्रसिद्ध हैं।

देवी-प्रतिमा-लक्षण

प्रतिमा-लक्षण एव प्रतिमा-स्थापत्य मे शिव परिवार का ही बोलबाला है। पिता-पुत्रो के अनन्तर शिव-पत्नी भगवती पार्वती का ही सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य प्रतिमा-स्थापत्य मे देखने को मिलता है। प्रत्येक महादेव—त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तीन शक्तियो या देवियो के अनुरूप सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती, दुर्गा या काली—ये ही तीन प्रधान देवियाँ है। त्रिदेवो के बाद इन्द्रादि लोकपालो का नम्बर आता है अतः उनकी शक्तियो या देवियो के अनुरूप सात देवियाँ सप्तमातृकाओ या सप्तशक्तियों के रूप मे विकल्पित है। शाम्भवदर्शन अथवा शाक्त दर्शन के अनुसार शाक्तो की अधीश्वरा-देवी महालक्ष्मी है। अत महालक्ष्मी मे ही सब देवियो का आविर्भाव प्रतिपादित किया गया है। लक्ष्मी वैष्णवी देवी है परन्तु महालक्ष्मी को वैष्णवी देवी समझना भूल होगी।[1]

लक्ष्मी—इनके चार प्रधान रूप मिलते हैं—महालक्ष्मी (दे० कोल्हापुर), सिंहवाहिनी लक्ष्मी, (दे० खजुराहो की कलाकृति), लक्ष्मी (सामान्या) तथा गजलक्ष्मी (लक्ष्मी यत वैष्णवी देवी है अत अन्य वैष्णवी देवियो मे भू देवी, सीतादेवी आदि की प्रतिमाएँ भी प्राप्त होती है।

दुर्गा—शैवी देवी है अत शैवी देवियो मे महाकाली, काली, भद्रकाली, कौशिकी, दुर्गा, नवदुर्गा, महिषासुरमर्दिनी, कात्यायनी, चण्डिका, गौरी, विशेष प्रसिद्ध है तथा स्थापत्य मे चित्रित भी। ये सभी उग्र मूर्तियाँ है परन्तु इनमे पार्वती और कौशिकी शान्त मूर्तियो के रूप में परिकल्प्य है। गौरी की द्वादश-मूर्तियाँ भी प्रसिद्ध है और अपरा-

१ तथापि हम देवानुरूप देवियो के वर्णन मे सर्वप्रथम ब्राह्मी देवी, विद्या और कला की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी के वर्णन से ही इस स्तम्भ की अवतारणा करेंगे। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार तो सरस्वती पद्मस्थान चित्र्य है और बाये हाथ में पुण्डरीक के स्थान पर कमण्डलु तथा दक्षिण की व्याख्यान मुद्रा के स्थान पर वीणा की संयोजना विहित है। उत्तर भारत के स्थापत्य चित्रण मे सरस्वती के ये ही लांछन विशेष प्रसिद्ध है। सरस्वती विद्या, ज्ञान और शास्त्रो को तथा कलाओ की भी अधिष्ठात्री है तथा इसी के उपलक्षण मे उनके हाथ में पुस्तक (शास्त्र-प्रतीक) और वीणा (कला-संगीत-प्रतीक) चित्र्य है। अथच सरस्वती की प्रतिमा मे अक्षमाला और कमण्डलु इस महा सत्य के प्रतीक है कि विद्याधिगमन, शास्त्रज्ञान एवं कला-विज्ञान बिना साधना, तपश्चर्या एव चिन्तन के सम्भाव्य नहीं।

जितपृच्छा में तो गौरी की पंचललीया मूर्तियाँ भी वर्णित हैं। नव दुर्गा के नामों मे शास्त्रों मे (दे० हमारा अगरेजी ग्रन्थ पृ० ३१६) विषमता है। अन्य शैवी मूर्तियो मे लगभग ५० मूर्तियाँ (दे० हमारा ग्रथ पृ० ३२४) हैं। इन सभी पर वहाँ विपुल विवेचन पठनीय है।

सप्तमातृकाएँ—विभिन्न देवो की शक्तियो के रूप मे इनकी उद्भावना की गयी है। वराहपुराण मे सप्त के स्थान पर अष्टमातृकाओं का उल्लेख है। वहाँ पर इनकी उद्भावना मे इनके दुर्गुणाधिराज्य पर भी सकेत है। इनके नाम हैं—योगेश्वरी, माहेश्वरी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, कौमारी, इन्द्राणी, यमी (चामुण्डा) तथा वाराही। अन्य देवियो मे मनसादेवी तुलसादेवी के नाम से हम परिचित ही है। ६४ योगिनियो की भी मूर्तियाँ स्थापत्य मे चित्रित है और मयदीपिका में इनके लक्षण भी मिलते हैं। इन्हे दुर्गा या काली का, शिव के भैरवों की भाँति, परिवार समझना चाहिए। अन्त मे दक्षिण भारत की अतिप्रसिद्ध देवी ज्येष्ठादेवी को भी नही भुलाना चाहिए। शैवी मूर्तियो के समान देवी-मूर्तियों (शाम्भवी एव वैष्णवी दोनों) के भी स्थापत्य-निदर्शन दक्षिण मे ही प्रचुर संख्या मे प्राप्त होते है। सरस्वती की प्रतिमाएँ बागली और हलेबिड् मे विशेष सुन्दर है। वैष्णवी देवियो मे श्री के महाबलिपुरम्, एलौरा, मादेयूर, त्रिवेन्द्रम (गजदन्तमयी) मे तथा महालक्ष्मी की कोल्हापुर मे सुन्दर निदर्शन हैं। दुर्गा के नाना रूपो मे दुर्गा की मूर्ति महाबलिपुरम् (पाषाण चित्रण भी) तथा काजीवरम् मे, कात्यायनी (महिषासुर-मर्दिनी) मद्रा० सग्र०, गगैकोण्डशोलपुरम्, एलौरा और महाबलिपुरम् मे, भद्रकाली की ताम्रजा तिरूप्यालत्तुराई मे; महाकाली की मादेयूर मे; पार्वती की एलौरा मे सुन्दर प्रतिमाएँ प्रेक्ष्य हैं। सप्तमातृकाओ के पुज का पाषाण चित्रण एलौरा और वेलूर मे अत्यन्त सुन्दर एव प्रसिद्ध है। कुम्भकोणम् का भी यह सामूहिक चित्रण प्रख्यात है। ज्येष्ठादेवी तो दक्षिणी देवी हैं। उत्तर भारत मे इनकी पूजा की परम्परा नही पनपी। मयपुर (मद्रास) मद्रा० स० तथा कुम्भकोणम् की प्रतिमाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं।

सौर-प्रतिमा-लक्षण

सौर-प्रतिमाओं मे द्वादशादित्य, नवग्रह तथा अष्टदिग्पाल—इन तीन वर्गो पर विवेचन यहाँ प्राप्त है। सूर्य वैदिक देव हैं। हिन्दू पचायतन मे सूर्य का भी स्थान है, यह हम देख ही चुके हैं। सविता, मित्र, विष्णु आदि वैदिक देवो से हम परिचित ही है। आदित्य नाम के देवो का भी वेद मे वर्णन मिलता है। ज्योतिषशास्त्र मे आदित्यो तथा नवग्रहो के सम्बन्ध मे जो विवेचन है उससे ये १२ आदित्य वर्ष के १२ महीनो से सम्बन्धित हैं। पुराणो मे भी आदित्यों को सौर देवो के रूप मे परिकल्पित किया गया है।

सूर्य—इनकी तीन प्रकार की प्रतिमाएँ प्राप्त होती है—पहली कोटि में वैष्णवी मूर्ति ही विकसित सूर्य-मूर्ति है। प्रतिमा-चित्रण में सूर्य-प्रतिमा वासुदेव विष्णु के बहुत सन्निकट है। सत्य तो यह है कि जिस प्रकार व्यापक विष्णु की सात्विकी प्रतिमा वासुदेव मे और तामसी अनन्तशायी और शेषावतार बलराम में निदर्शित है, उसी प्रकार उनकी राजसी प्रतिमा सूर्य मे निहित है। गतिमान रथ, सैनिक भूषा, रश्मि-जाल-स्फुरण आदि इसी राजस के परिचायक हैं। इसी प्रतिमा मे ईरानी प्रभाव के कारण बृहत्संहिता आदि में प्रतिपादित अव्यगादि (कवचवर्म तथा बूट आदि) के सन्निवेश से यह प्रतिमा उत्तर भारत की एक विशिष्ट परम्परा की परिचायिका है। सूर्य के इस वेष को उदीच्य वेष कहा गया है। सूर्य-प्रतिमा का तीसरा प्रभेद दक्षिण भारत की विशेषता है। इस प्रतिमा मे सूर्य पद्मधर, चतुर्हस्त (द्विहस्तो वा), सप्ताश्व रथ संस्थित (सामान्य लाछन) अरुण-सारथि, क्रमश· दक्षिण एव वाम पार्श्व मे निक्षुभा (छाया) और राज्ञी (प्रभा या सुवर्चसा) नामक अपनी दोनो रानियो की प्रतिमाओ से सनाथ एव उसी क्रम से खड्गधर अथवा मसीभाजन-लेखनीधर पिंगल (कुण्डी) और शूलधर दण्ड नामक दो द्वारपालो की पुरुष प्रतिमाओ से युक्त दर्शाया गया है। स्थापत्य में मथुरा सग्रहालय की सूर्य-प्रतिमा तथा कोणार्क के सूर्य-मन्दिर की प्रतिमा एवं गढ़वाल की महापाषाणी के निदर्शन है जिनमे इन लक्षणो की अनुगति है। हमने सूर्य के प्रतिमा-स्थापत्य की अपने अंगरेजी ग्रन्थ में पाँच कोटियो पर प्रकाश डाला है—दे० पृ० ३३२–३३३।

द्वादशादित्य—धाता, मित्र, अर्यमा, रुद्र, वरुण, सूर्य, भग, विवस्वान्, पूषन, सविता, त्वष्टा तथा विष्णु आदि द्वादश आदित्य है। इनके स्वतन्त्र निदर्शन एक प्रकार से अत्यन्त विरल हैं। इनका चित्रण सूर्य पाषाणी पर विशेष प्रदर्शित किये गये हैं।

नवग्रह—नवग्रहो का सौर-प्रतिमा के स्तम्भ मे वर्णन ठीक ही है। शास्त्रों का निर्देश है कि सूर्य-मन्दिर मे नवग्रहो की प्रतिमाओं की भी प्रतिष्ठा आवश्यक है। नवग्रहों के नाम हैं—सूर्य, सोम, भौम, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु। ये सभी नवग्रह देवता किरीट एव रत्न-कुण्डलो से भूष्य हैं। स्थापत्य मे तंजौर के सूर्य-मन्दिर में नवग्रहों की ताम्रजा प्रतिमाएँ दर्शनीय है। मौलिक दृष्टि से इन नवग्रहों के प्रतिमा-विकास की परम्परा मे प्रधान देवों (जो इनके अधिदेवता भी है) की रूपोद्भावना ही परिलक्षित होती है। सूर्य मे वैष्णवी रूपोद्भावना पर हम इंगित कर ही चुके है। उसी प्रकार चन्द्र मे वरुण, मगल में कार्तिकेय, बुध में विष्णु, बृहस्पति मे ब्रह्मा, शुक्र में शक्र, शनि में यम, राहु में सर्प, और केतु मे मगल—इन देवो की अधिदेवता मानी गयी है।

अष्टदिग्पाल—दिग्पाल और लोकपाल एक ही है। इन की संख्या आठ है जो विश्व की अष्टसंख्यक दिशाओ के संरक्षक है—

१—इन्द्र	पूर्व	४—निर्ऋति	दक्षिण-पश्चिम	७—कुबेर	उत्तर
२—अग्नि	दक्षिण-पूर्व	५—वरुण	पश्चिम,	८—ईशान	उत्तर-पूर्व
३—यम,	दक्षिण	६—वायु	उत्तर-पश्चिम,		

इन्द्रादि-देवो की जो पुरातन प्रभुता (अर्थात् वैदिक युग में) थी वह दिग्पालो की क्षुद्र मर्यादा मे परिणत हुई। देवों के उत्थान-पतन की यह रोचक कहानी है।

अन्य प्रतिमाएँ

[यक्ष, विद्याधर, वसु, मरुद्गण, पितृगण, मुनिगण (ऋषि) तथा भक्तगण आदि]

इस स्तम्भ मे क्षुद्र देवो एव दानवो की अवतारणा करनी है। राव ने 'डेमी गाड्स' शीर्षक से वसु, नाग, साध्य, असुर, अप्सराओ, पिशाच, वैताल, पितृ, ऋषि-मुनि, गन्धर्व तथा मरुद्गणो की अवतारणा की है परन्तु इनका सभी को डेमी गाड्स या क्षुद्र देव मानना ठीक नही। इनमे असुर, पिशाच तथा बैताल वास्तव मे देव न होकर दानव हैं। ये तो सनातन से सुर-द्रोही हैं।

यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व तथा अप्सराएँ—कोई भी भारतीय वास्तु कृति बिना इनके चित्रण के अद्रष्टव्य है। वास्तु शास्त्रो मे इनके चित्रण पर विपुल सकेत है। प्रतिमा-विज्ञान की शास्त्रीय परम्परा मे यक्ष, गन्धर्व, किन्नर एव विद्याधर पर हमने एक नया प्रकाश डाला है जिससे पीछे की धारणाएँ भ्रान्त साबित होती है। स्थानाभाव से यह उन्मेष हमारे अगरेजी ग्रन्थ में द्रष्टव्य है (पृ० ३४३–४७)। इनके साथ नागो के चित्रण की भी अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि दिग्पाल तथा यक्ष भारतवर्ष की प्रतिमा-कला के अनिवार्य सहचर हैं। बौद्ध प्रतिमाओ, तथा जैन प्रतिमाओ में भी इनके चित्रणो की एक अनिवार्य परम्परा है। किन्नरो के सम्बन्ध मे इतना निर्देश्य है कि उनका आधा शरीर मानवाकृति तथा मुख अश्वाकृति होती है। मानसार मे यक्षो को देवानुचर, विद्याधरो को भारवाही और गन्धर्वों को गायक तथा, वीणा आदि का वादक माना गया है।

वसु, मरुद्गण तथा पितृगण—वसुओ की सख्या ८ है—धर, ध्रुव, सोम, अनिल, अनल, प्रत्युष तथा प्रभास। ऋग्वेद के ३३ देवो मे ८ वसुओ का ११ रुद्रो, १२ आदित्यो तथा द्यावा-पृथ्वी के साथ सकीर्तन है। मरुद्देवों का ऋग्वेद मे भी बडा सुन्दर गान है। उनकी सख्या भिन्न-भिन्न स्थलो पर भिन्न-भिन्न बतायी गयी है। पितृगणो मे सोमसद, अग्निष्वात्त, वर्हिषद, सोमप, हविर्भुज, आज्यप, शुकिल उल्लेख्य है।

साध्यमुनि एवं ऋषिगण—साध्यो की सख्या आदित्यो के समान १२ है—मान, मन्त, प्राण, नर, अपान, वीर्यवान, विनिर्मय, नय, दश, नारायण, वृष तथा प्रभि।

ऋषियो मे व्यासादि महर्षि, भेलादि परमर्षि, कण्वादि देवर्षि, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि, सुश्रुतादि श्रुतर्षि, ऋतुपर्णादि राजर्षि और जैमिन्यादि काण्डर्षि––७ ऋषिवर्ग हैं। आगमो (दे० अशु० तथा सुप्र०) मे सप्तर्षियो की नामावली कुछ भिन्न ही है। मनु, अगस्त्य, वशिष्ठ, गौतम, अगिरस, विश्वामित्र और भरद्वाज––अशु० के सप्तर्षि। भृगु, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, काश्यप, कौशिक और अगिरस––सुप्रभे० के ऋषि। पूर्वकर्णागममे अगस्त्य, पुलस्त्य, विश्वामित्र, पराशर, जमदग्नि, वाल्मीकि और सनत्कुमार का सकीर्तन है। भक्तो (दे० मानसार) के चार प्रकार वर्णित हैं––सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, तथा सायुज्य। ये चारो भेद श्रीमद्भागवत् के भक्तिसिद्धान्त एव तदनुरूप भक्ति की चार कोटियो पर आश्रित है। क्षुद्र देवो के इस अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन के उपरान्त अब दैत्यो को भी दूर से नमस्कार करना है।

दैत्य आदि––आकार की घटती के अनुरूप दैत्यो का आकार दानवो से छोटा, उनमे छोटा यक्षो का, फिर गन्धर्वो का, पुन पन्नगो का और सबसे छोटा राक्षसो का। विद्याधर यक्षो से छोटे चित्र्य हैं। भूतसघ पिशाचो से सब प्रकार प्रवरतर, मोटे भी ज्यादा और क्रूर भी अधिक प्रदर्श्य हैं। इनकी प्रतिमा-प्रकल्पना मे वेश-भूषा पर समरागणीय लक्षण यह है कि भूत और पिचाश रोहितवर्ण, विकृतवदन रक्तलोचन, बहुरूपी निर्देश्य हैं। केशो मे नागो का प्रदर्शन उचित है। आभरण और अम्बर एक दूसरे से बेमेल (विरागाभरणाम्बरा)। आकार वामन, नाना आयुधो से सपन्न। शरीर पर यज्ञोपवीत और चित्र-विचित्र शाटिकाएं भी प्रदर्श्य है। अन्त मे विष्णुधर्मोत्तर मे वर्णित कुछ ऐसी भी प्रतिमाएं हैं जिनका सम्बन्ध धर्म, अर्थ, काम, दिशाएँ, ज्वर, वेद, शास्त्र, ज्ञान, वैराग्य, व्योम तथा ऐडुक आदि से है। अत उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आगे चलकर इस देश मे प्रत्येक सम्भाव्य धर्म एव विद्या, व्याधि एव वातावरण पर भी प्रतिमा की विभावना प्रारम्भ हो चली। इनमे व्योमन और ऐडुक तान्त्रिक पूजा-प्रणाली के ही विस्तार है।

जैन-प्रतिमा-लक्षण

जैनधर्म वास्तव मे हिन्दूधर्म का ही एक अवान्तरधर्म है। परन्तु जैनधर्म बौद्धधर्म से भी प्राचीन है––यह हम जानते ही हैं। जैनियो की अर्चा पर हम पिछले अध्याय मे सकेत कर चुके हैं। विशेष विवरण हमारे "प्रतिमा-विज्ञान"––पूर्वपीठिका अ० ८ मे द्रष्टव्य है। जैनियो की पूजा-परम्परा मे विशेष उल्लेख्य यह है कि जैन तीर्थकरो को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। तीर्थकर-प्रतिमा-निदर्शनो मे इस तथ्य का पोषण पाया जाता है। जैन-प्रतिमाओ की दूसरी विशेषता यह है कि जिनो के चित्रण मे तीर्थकरो का सर्व-

श्रेष्ठ पद प्रकल्पित होता है। ब्रह्मादि देव भी गौण पद के ही अधिकारी है। इसी दृष्टि से हेमचन्द्र के "अभिधान-चिन्तामणि" मे जैन देवो का 'देवादिदेव' और 'देव' इन दो श्रेणियों में जो विभाजन है, वह समझ मे आ सकता है। देवादिदेव तीर्थकर तथा देव अन्य सहायक देव। जैन मन्दिरो की मूर्तिप्रतिष्ठा मे 'मूलनायक' अर्थात् प्रमुख जिन प्रधान-पद का अधिकारी होता है और अन्य तीर्थकरो का अपेक्षाकृत गौण पद होता है। इस परम्परा मे स्थान विशेष का महत्त्व अन्तर्हित है। तीर्थकर-विशेष से सम्बन्धित स्थान के मन्दिर में उसी की प्रधानता देखी गयी है। उदाहरणार्थ सारनाथ के जैन मन्दिर मे जो तीर्थकर मूलनायक के पद पर प्रतिष्ठित है वह (अर्थात् श्रेयासनाथ) सारनाथ में उत्पन्न हुआ था—ऐसा माना जाता है। तीर्थकर राग-द्वेष से रहित है। जैन तपस्विता के अनुरूप जिनों की मूर्तियाँ योगि रूप मे चित्रित की जाती है। प्रतिमा-निदर्शना मे प्राप्त जैन मूर्तियाँ इस तथ्य की निदर्शन है। पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग मुद्रा में नग्न जिन-मूर्तियाँ सर्वत्र प्रसिद्ध है। तीर्थकरों की प्रतिमा योगिराज दक्षिणामूर्ति शिव के समान विभाव्य है। शाक्य मुनि गौतम बुद्ध की प्रतिमाओ एव जिन-मूर्तियो मे इतना अत्यधिक सादृश्य है कि साधारण जनों के लिए कभी-कभी उनकी पारस्परिक अभिज्ञा दुष्कर हो जाती है। कतिपय लाछनों—श्रीवत्स आदि—से दोनो का पारस्परिक पार्थक्य प्रकट होता है। कुशानकाल की जिन-मूर्तियो मे प्रतीक-सयोजना के अतिरिक्त यक्ष-यक्षिणी अनुगामित्व नहीं प्राप्त होता है। यह विशिष्टता गुप्तकाल से प्रारम्भ होती है, जब से तीर्थकरों की प्रतिमाओं मे यक्ष-यक्षिणियो का अनिवार्य साहचर्य बन गया। जैन प्रतिमा की तीसरी विशेषता गन्धर्व-साहचर्य है। यद्यपि प्राचीनतम प्रतिमाओं (मथुरा, गान्धार) मे यक्षों का निवेश नही परन्तु गन्धर्वों के उनमे दर्शन अवश्य होते है। मथुरा की जैन मूर्तियों की एक प्रमुख विशिष्टता उनकी नग्नता है। गुप्तकालीन जैन प्रतिमाएँ एक नवीन परम्परा की उन्नायिका है। यक्षो के अतिरिक्त शासन देवताओं का भी उनमे समावेश किया गया। धर्म-चक्र और मुद्रा का भी यही से श्रीगणेश हुआ। जैन प्रतिमाओं के विकास मे भी सर्वप्रथम प्रतीक-परम्परा ही मूलाधार है। आयाग-पट्टों पर चित्रित जिन-प्रतिमा इसका प्रबल निदर्शन है। आयाग-पट्ट एक प्रकार के प्रशस्ति-पत्र अथवा गुणानुकीर्तन-पत्र है, इनमे जिन-प्रतिमा लाछन शून्य है। कुशानकालीन जैन प्रतिमाएँ प्राचीनतम निदर्शन है। इनके तीन वर्ग है—स्तूपादि मध्य प्रतिमा, पूज्य प्रतिमा तथा आयागपट्टीय प्रतिमा। हिन्दू त्रिमूर्ति के सदृश 'चौमुखी' या सर्वतोभद्र प्रतिमा मे चारो कोणो पर चार 'जिन' चित्रित किये जाते है। प्रत्येक तीर्थकर का पृथक्-पृथक् चिह्न है जिससे तीर्थकर विशेष की अभिज्ञा (पहिचान) सम्पन्न होती है। आपाततः जिन-प्रतिमा भी बौद्ध प्रतिमा के सदृश ही प्रतीत होती है परन्तु जिन-प्रतिमा की पहिचान

आभरणालंकरण के वैशिष्ट्य से बुद्ध-प्रतिमा से पृथक् की जा सकती है। इन आभरणा-लंकरणों के प्रतीकों में स्वस्तिक, दर्पण, स्तूप, वेतसासन, दो मत्स्य, पुष्पमाला और पुस्तक विशेष उल्लेख्य हैं। सभी तीर्थंकरों की समान मुद्रा नहीं है। ऋषभ, नेमिनाथ और महावीर—इन तीनो की आसन-मुद्रा कमलासन है जो इनके इसी आसन-मुद्रा में कैवल्य-प्राप्ति की सूचक है, अत. इन तीनो की प्रतिमा-अभिज्ञा मे यह तथ्य सदैव स्मरणीय है। अन्य शेष तीर्थकरो की प्रतिमा का कायोत्सर्ग-मुद्रा में प्रदर्शन आवश्यक है क्योकि उन्हें इसी मुद्रा में निर्वाण प्राप्त हुआ था। प्रतिमा-स्थापत्य मे २४ तीर्थकरो के अतिरिक्त २४ यक्षों एव यक्षिणियो के रूप, १६ श्रुतदेवियों (विद्या-देवियो), १० दिग्पालो, ९ ग्रहों तथा क्षेत्रपाल, सरस्वती, गणेश, श्री (लक्ष्मी) तथा शान्तीदेवी के भी रूप प्राप्त है। अत. इन सबकी संक्षेप में निम्न अवतारणा देखिए—लक्षण प्र० मे देखिए।

२४ तीर्थंकर—आदिनाथ (ऋषभ), अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासु-पूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर (वर्धमान)।

२४ यक्ष—वृषवक्त्र, महायक्ष, त्रिमुख, चतुरानन, तुम्बुरु, कुसुम, मातग, विजय, जय, ब्रह्मा, यक्षेश, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्नर, गरुड, गन्धर्व, यक्षेश, कुबेर, वरुण, भृकुटी, गोमेघ, पार्श्व तथा मातग।

२४ यक्षिणी—चक्रेश्वरी, रोहिणी, प्रज्ञावती, वज्रशृंखला, नरदत्ता, मनोवेगा, कालिका, ज्वालामालिनी, महाकाली, मानवी, गौरी, गान्धारी, विराटा, अनन्तमति, मानसी, महामानसी, जया, विजया, अपराजिता, बहुरूपा, चामुण्डा, अम्बिका, पद्मावती तथा सिद्धायिका। यह तालिका अपराजित की है। अन्य ग्रन्थों मे दूसरी ही तालिकाएँ है।

१० दिग्पाल—इन्द्र आदि ८ दिग्पालो के अतिरिक्त पातालाधीश्वर नागदेव तथा ऊर्ध्वलोकाधीश ब्रह्मदेव से १० हुए।

९ ग्रह—सूर्यादि हिन्दुओ के नवग्रह जैनियो के भी नवग्रह हैं।

क्षेत्रपाल—एक प्रकार का भैरव है जो योगिनियो का अधिपति है।

१६ श्रुतदेवियाँ—विद्यादेवियाँ—रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्राकुशी, अप्रति-चक्रा, पुरुषदत्ता, कालीदेवी, महाकाली, गौरी, गान्धारी, महाज्वाला, मानवी, वैरोट्या, अच्छुता, मानसी तथा महामानसी।

शान्तीदेवी—यह देवी जैनियो की एक उद्भावना कही जा सकती है। श्री (लक्ष्मी), सरस्वती और गणेश का भी जैनियो में प्रचार है। जैनियों की ६४ योगिनियो मे ब्राह्मणो

से वैलक्षण्य है। अहिंसक एवं परम वैष्णव जैनियो मे योगिनियो का आविर्भाव उनपर तान्त्रिक आचार एवं तान्त्रिकी पूजा का प्रभाव है।

स्थापत्य-निदर्शनो मे महेत (गोडा) की ऋषभनाथ-मूर्ति, देवगढ की अजितनाथ-मूर्ति और चन्द्रप्रभा-प्रतिमा, फैजाबाद सग्रहालय की शान्तिनाथ-मूर्ति, ग्वालियर राज्य की नेमिनाथ-मूर्ति, जोगिन का मठ (रोहतक) मे प्राप्त पार्श्वनाथीय मूर्ति—जिन-मूर्तियो मे उल्लेख्य है। महावीर की मूर्ति भारतीय सग्रहालयो में प्रायः सर्वत्र द्रष्टव्य है। ग्वालियर राज्य मे प्राप्त कुबेर, चक्रेश्वरी और गोमुख की प्रतिमाएँ दर्शनीय हैं। देवगढ की चक्रेश्वरी-मूर्ति बडी सुन्दर है। उसी राज्य (गंडवल) मे प्राप्त क्षेत्रपाल, देवगढ की महामानसी अम्बिका और श्रुतदेवी, झांसी की रोहिणी, लखनऊ सग्रहालय की सरस्वती, बीकानेर की श्रुतदेवी आदि प्रतिमाएँ भी उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध प्रतिमा-लक्षण

प्रतीक-प्रतिमा—स्तूपो का निर्माण एवं स्तूप-पूजा बौद्धधर्म की प्रतीकोपासना है। बौद्धधर्म के तीन रत्न धर्म, बुद्ध, सघ की जो स्थापत्य मे मानवाकृति प्रदान की गयी है वह भी प्रतीकोपासना है। बोधगया, साँची, बरहुत एव अमरावती के स्मारकों (ईसवीय पूर्व-तृतीय प्रथम शतक कालीन) मे रेलिंग्स का विन्यास इस तथ्य का साक्षी है कि भगवान् बुद्ध के पावन स्पर्श से प्रत्येक पदार्थ पूज्य बन गया था। इसे भी प्रतीकोपासना में गतार्थ करना चाहिए। इसी प्रकार बोधि वृक्ष, बुद्ध-धर्म-चक्र, बुद्ध का उष्णीष, बुद्ध-पाद-चिह्न आदि भी बौद्ध प्रतीकोपासना के निदर्शन हैं।

बुद्ध-प्रतिमा—ऐतिहासिक बुद्ध की प्रतिमा का कब और किसके द्वारा उदय हुआ यह विषय अब भी विद्वानों के बीच विवादपूर्ण विषय है। यह कहा जाता है कि बुद्ध की तिमा-निर्माण-परम्परा को प्रारम्भ करने का श्रेय भारतीयो को नही है। गान्धार के स्थापत्य मे बुद्ध-प्रतिमा के प्रथम दर्शन होते हैं। गांधार-कला पर विदेशी—यूनानी—प्रभाव सभी को स्वीकार्य है। भारतीयो एव यूनानियो के संसर्ग से प्रादुर्भूता हिन्दी-यूनानी अथवा बौद्धी-यूनानी कला को गाधार-कला कहते हैं। गांधार के स्थापत्य की मूल-प्रेरणा बुद्ध और बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओ एव कार्यों के साथ-साथ जातक कथाओं के बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं से भी ली गयी है। तक्षसिला, पेशावर, सहरीवलहाल आदि अखण्ड भारत के उत्तर-पश्चिम के अनेक स्थानो पर जो अगणित पाषाण-पुंज प्राप्त हुए हैं उनपर विभिन्न आसनो पर आसीन, विभिन्न मुद्राओ से मुद्रित बुद्ध की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमाओ मे बुद्ध के अतिरिक्त, जम्भाल, मैत्रेय, हारीती आदि बोधिसत्व-प्रतिमाएं भी उपलब्ध हुई हैं। गाधार-कला का उदय काल

यूनानी शासक मेनन्दर का राज्यकाल (ईसवीय पूर्व ९० वर्ष) निर्धारित किया गया है। अतः इससे प्राचीन बुद्ध-प्रतिमा अप्राप्य है अथवा अनिर्मित है।

बौद्ध प्रतिमा के स्थापत्य केन्द्र—गांधार के अतिरिक्त मथुरा, सारनाथ तथा ओदन्त-पुरी, नालन्दा और विक्रमशिला प्राचीन केन्द्रों में परिगणित किये जाते हैं। अजन्ता, एलौरा, बगाल और कलिंग के साथ-साथ भारतीय बौद्ध प्रतिमा-पीठों में तिब्बत का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। बृहत्तर भारत में पावा भी बौद्ध प्रतिमा-पीठ का एक प्रख्यात केन्द्र है। मथुरा में वज्रयान के देववृन्द का प्रथम स्थापत्य-निदर्शन प्राप्त होता है, जहाँ पर षडाक्षरी लोकेश्वर, उच्छुष्म जम्भाल, मंजुश्री, तारा, वसुधारा, मारीची और पंचध्यानी बुद्धों के प्रतिमा-निदर्शन उल्लेख्य हैं। यहाँ पर यह स्मरणीय रहे कि वज्रयान के सम्पुट-योग देव एवं देवी का सम्मोहन-मिथुनीभाव—महाचीनी यब-यूम—का प्रदर्शन नहीं हुआ। वज्रयान के इस प्रभाव का सर्वप्रस्थान एवं समृद्ध पीठ तिब्बत है। मुसलमानों के आक्रमण से आक्रान्त वज्रयानी बौद्ध भिक्षुओं के लिए उस समय तिब्बत ही गिरि-दुर्ग के समान उनका परम शरण्य हुआ। अतएव तिब्बत के स्थानीय प्रभावों से प्रभावित होना वज्रयान के लिए स्वाभाविक ही था जहाँ पर एक प्रकार से निष्णात एवं विशुद्ध बौद्ध कला महा भ्रष्टता को प्राप्त हुई। महाचीनी प्रभावों से प्रभावित बौद्ध प्रतिमा-कला भारतीय स्थापत्य की एक अनुपम निधि है। ब्राह्मण प्रतिमा-लक्षण के सदृश बौद्ध प्रतिमा-लक्षण भी विशाल है। स्थानाभाव से यहाँ पर हम तालिका ही प्रस्तुत कर सकते हैं। विशेष विवरण हमारे "प्र० वि०" हिन्दी ग्रन्थ तथा 'वास्तु-शास्त्र" ग्रन्थ द्वितीय अंगरेजी ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। बौद्ध प्रतिमाओं के निम्नलिखित १२ वर्ग हैं—

१. **दिव्य बुद्ध, बुद्ध-शक्तियाँ एवं बोधिसत्व**—दिव्य बुद्ध अर्थात् ध्यानी बुद्धों में वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा वज्रसत्व की गणना है। बुद्ध-शक्तियों में इन ध्यानी बुद्धों की क्रमश वज्रधात्वीश्वरी, लोचना, मामकी, पाण्डरा, आर्यतारा तथा वज्रसत्वात्मिका की कल्पना है। बोधिसत्वों में सामन्तभद्र, वज्रपाणि, रत्नपाणि, पद्मपाणि, विश्वपाणि तथा घण्टापाणि की उद्भावना है।

२. **मानुष बुद्ध**—गौतम बुद्ध के प्रतिमा-लक्षण पर हम वैष्णव दशावतारों में कुछ संकेत कर चुके हैं परन्तु वज्रयान बौद्ध परम्परा में ७ मानुष बुद्ध, ७ उनकी शक्तियाँ एवं ७ बोधिसत्व की भी परम्परा है। विपश्यिन, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, कश्यप, तथा शाक्यसिंह—७ मानुष बुद्ध। विपश्यन्ती, शिखिमालिनी, विश्वधरा, ककुद्वती, कण्ठमालिनी, महीधरा तथा यशोधरा क्रमश – ७ बुद्ध-शक्तियाँ हैं। महामति, रत्नधर, आकाशगंज, शकमंगल, कनकराज, धर्मधर तथा आनन्द क्रमश ७ बोधिसत्व हैं।

३ **मंजुश्री तथा उनके चतुर्दश रूप**—वाक्, धर्मधातु, मंजुघोष, सिद्धैकवीर,

वज्रानंग, नामसंगीति, वागीश्वर, मजुवर, मंजुवज्र, मजुकुमार, अरपचन, स्थिरचक्र, वादिराट् तथा मजुनाथ माने गये हैं। इनके सविस्तर लक्षण प्र० वि० एव वा० शा० ग्रन्थ द्वि० मे देखिए।

४. अवलोकितेश्वर—बौद्ध देवो मे सर्वाधिक प्रिय देव है। इनके १०८ रूप (दे० प्र० वि० पृ० ३१२) हैं। परन्तु उनके विशेष प्रसिद्ध रूप १५ हैं—षडक्षरी, सिहनाद, खसर्पण, लोकनाथ, हालाहल, पद्मनतेश्वर, हरिहरिवाहनोद्भव, त्रैलोक्यवशकर, रक्तलोकेश्वर, मायाजालाक्रम, नीलकठ, सुगतिसन्दर्शन, प्रेतसतर्पित,सुखावती–लोकेश्वर, वज्रधर्म-लोकेश्वर।

५ ध्यानी बुद्धों के आविर्भाव—अमिताभ के आविर्भावों में महाबल तथा सप्तशतिक-हयग्रीव देव तथा कुरुकुल्ला, भृकुटी तथा महासितवती देवियाँ हैं। अक्षोभ्य के आविर्भावों मे चण्डरोषण, हेरुक, बुद्धकपाल, वज्रडाक, हयग्रीव, यमारि तथा जम्भाल विशेष उल्लेख्य देववृन्द है तथा देवीवृन्द में महाचीनतारा, जागुली, एकजटा, पर्णशवरी, प्रज्ञा-पारमिता वज्रचर्चिका, महामन्त्रानुसारिणी, महाप्रत्यगिरा, ध्वजाग्रकेयूरा, वसुधारा तथा नैरात्म्या प्रकल्पित है। वैरोचन के आविर्भाव केवल देवियाँ है—अशोककान्ता, मारीची आदि, उष्णीषविजया, सितातपत्रा, अपराजिता, महासाहस्रप्रमर्दिनी तथा वज्रवाराही। अमोघसिद्धि के आविर्भाव भी देवियाँ ही हैं—खदिरवनी तारा, वश्यतारा, षड्भुजा, सिततारा, धनदतारा, पर्णशवरी, महामायूरी तथा वज्रशृखला। रत्नसभव के आविर्भावो मे दो देव और दो देवियाँ हैं—जम्भाल तथा उच्छुष्मजम्भल—देव। महाप्रतिसरा तथा वसुधारा—देवियाँ। ऊपर यद्यपि ६ ध्यानी बुद्धों का निर्देश है परन्तु वास्तव मे ध्यानी बुद्ध पाँच ही विशेष प्रख्यात है। उपर्युक्त ये आविर्भाव पचध्यानी बुद्धों के अपने-अपने अलग-अलग आविर्भाव है परतु पचध्यानी बुद्धो के समष्टि आविर्भाव भी है—जम्भाल और महाकाल—देव। वज्रतारा, प्रज्ञापारमिता, मायाजालक्रमकुरुकुल्ला तथा सिततारा—देवियाँ। छठे ध्यानीबुद्ध वज्रसत्व के आविर्भाव केवल दो ही देवता—जम्भाल तथा चुण्डा है।

६. पंचाक्षरमण्डलीय देवता—इनको महापचाक्षर देवताओं के नाम से पुकारा जाता है और उनकी सख्या पाँच है—महाप्रतिसरा, महासाहस्रप्रमर्दनी, महामन्त्रानु-सारिणी, महामायूरी और महासितवती। बौद्ध प्रतिमाओं मे ताराओं का भी बडा विस्तृत साम्राज्य है। सात ताराओं की परम्परा प्रचलित है। वर्गीकरण का आधार वर्ण है—हरित, शुक्ल, पीत, कृष्ण, रक्त आदि।

७. स्वतन्त्र देवता—बौद्ध परम्परा का सभी देववृन्द ध्यानी बुद्धो से आविर्भूत है। परन्तु सा० मा० के ६ देवता ऐसे है जो स्वतन्त्र रूप से परिकल्पित हैं। परमाश्व तथा

नामसंगीत भी स्वाधीन माने गये हैं अतः ८ हुए; ७ देवियाँ भी हैं। गणेश, विघ्नान्तक, वज्रहुंकार, भूतडामर, वज्रज्वालानलार्क, त्रैलोक्यविजय, परमाश्व तथा नामसंगीत—देव हैं। सरस्वती, अपराजिता, वज्रगान्धारी, वज्रयोगिनी, गृहमातृका, गणपतिहृदया तथा वज्रविदारणी—७ देवियाँ है। शून्यवादी, अदेववादी, अनीश्वरवादी बौद्धो मे भी इस विपुल देववृन्द एव देवीवृन्द का विकास बडा ही रोचक विषय है। हिन्दुओ की पौराणिक कल्पना ने भी बौद्धो के लिए देववृन्द-कल्पना की ऊर्वरा भूमि प्रस्तुत कर दी। तन्त्रो ने तो जितना प्रभाव बौद्धो पर डाला उतना अन्यत्र अप्राप्य है।

अथच बौद्धधर्म यत. एक प्रकार से ब्राह्मण धर्म का प्रतिद्वन्द्वी ही नही कालान्तर पाकर प्रतिस्पर्धी एव प्रतिद्वेषी भी हो गया अतः ब्राह्मणों के परमपूज्य महादेव (गणेश, ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, आदि) बौद्धो की देवप्रतिमाओ के पैरो से कुचले हुए प्रदर्शित है—इससे बढकर द्वेष और क्या हो सकता है ?

४

भारतीय मूर्तिकला पर एक विहंगम दृष्टि

इस ग्रन्थ के परिशीलन से अब पूर्ण रूप से प्रकट है कि भारतीय स्थापत्य अथवा किसी देश का स्थापत्य उस देश की संस्कृति एव सभ्यता का एक अभिन्न अग है। अतएव जब से सभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ तभी से कला भी प्रारम्भ हुई। भारतीय मूर्तिकला के सुन्दर निदर्शन प्रागैतिहासिक काल मे भी पाए जाते है। प्रागैतिहासिक काल के विद्वानो ने प्रारभिक प्रस्तर-युग, विकसित प्रस्तर-युग, ताम्र-युग, कास्य-युग तथा लौह-युग निर्धारित किये है। जो पुरातत्वीय अन्वेषण हुए है उनसे यह भी सिद्ध है कि चित्र रचना और मूर्त्ति बनाना तो मानव-सभ्यता का एक अभिन्न अग रहा है। प्रागैतिहासिक भारतीय भूमि पर भी इस प्रकार के कतिपय प्राचीन निदर्शन प्राप्त होते है, जैसे हाथी के दाँत पर हाथी अथवा घोड़े के चित्र। यहाँ पर यह निर्देश आवश्यक है कि मनुष्य ने मूर्तिकला अथवा चित्रकला सम्भवत: दो उद्देश्यो से अपनायी— अतीत सरक्षण तथा अव्यक्ताभिव्यक्ति अर्थात् अतीत को जीवित बनाये रखना तथा अमूर्त को मूर्त रूप देना। भारतवर्ष की मूर्तिकला मे प्रधानता अव्यक्ताभिव्यक्ति है। हम पीछे कह चुके है कि भारतीय कला अध्यात्म के उन्मेष से सदैव उन्मीषित रही। अत: यहाँ पर कलाओ के द्वारा मनोरजन अथवा इतिहास के सरक्षण मे कम मदद मिलती है। तथापि अतीत के सरक्षण के लिए विनिर्मित चित्रो एव प्रतिमाओ का भी इस देश के सास्कृतिक इतिहास मे वैरल्य नही है।

मोहेन्जोदड़ो—हडप्पा की खुदाई से जहाँ इस देश के प्राचीन भवन एव नगरो के निवेश एव निर्माण पर बडा सुन्दर प्रकाश पड़ा है वही इन प्राचीन नगरो के ध्वसावशेषो मे जो अनेक चित्रपुज प्राप्त हुए है उनसे तत्कालीन मूर्तिकला का सुन्दर आभास प्राप्त होता है। पकाई मिट्टी के रगे हुए बर्तन के साथ-साथ मिट्टी, पत्थर, ताँबे की अनेकानेक मूर्तियाँ इन अवशेषो मे प्राप्त हुई है। टिकरे भी बहुसख्यक प्राप्त हुए है। ये टिकरे हाथीदाँत के तथा नीले या उजले रग के एक प्रकार के काँच के है और आकार मे चौखुटे है। इनपर डील (ककुद्) वाले और बेडील वाले बैल, हाथी (जिस पर झूल के कारण जान पडता है कि सवारी के काम मे आता था), बाघ और गैडे की तथा पीपल के पत्तो की एव अनेक प्रकार की अन्य आकृतियाँ

मिलती है और चित्रलिपि के, एक पक्ति से तीन पक्ति तक के, उभरे हुए लेख भी हैं। मोहेन्जोदडो के भग्नावशेषो में मूर्तिकला के स्मारको की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जो मूर्ति मिली है वह भूमिस्पर्श मुद्रा मे पद्मासन लगाए हुए एक साधक की मूर्ति है जो बुद्ध की मूर्ति का पूर्व रूप कहा जा सकता है। यह एक प्रकार से योगी-प्रतिमा है। योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है यह हम जानते ही है।

वैदिक काल—वैदिक काल मे भी प्रतिमा-पूजा थी अतएव प्रतिमाएँ अवश्य बनती थी। इस सम्बन्ध मे हम पीछे विचार कर चुके हैं। अत यहाँ पर उस विषय का पिष्टपेषण आवश्यक नही।

शैशुनाक तथा नन्द-काल—यह समय ईसवीय पूर्व ७२७ से ३२५ तक जाता है और इसे मूर्तिकला के इतिहास की दृष्टि मे ऐतिहासिक काल कहा जा सकता है। इस काल के मूर्तिस्थापत्य मे राजा और रानियो की मूर्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन मूर्तियो मे सबसे पुरानी अजातशत्रु की है जो बुद्ध का समकालीन था। देव-मूर्तियो के अतिरिक्त दिवगत राजाओं की भी मूर्तियो की परम्परा थी—यह तथ्य भास के 'प्रतिमा नाटक' मे पुष्ट होता है। अजातशत्रु की यह मूर्ति ऊँचाई मे लगभग ६ फीट है और मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है। इस काल की प्रतिमाओ मे दो स्त्री मूर्ति और एक पुरुष मूर्ति भी उल्लेख्य है परन्तु ये सभी मूर्तियाँ राजा-रानियां की प्रतिमाएँ है। कुछ विद्वानो के मत मे ये सभी मूर्तियाँ शैशुनाक-काल की न होकर मौर्य-काल अथवा शुग काल की है पर यह मत ठीक नही क्योकि जो मूर्तियाँ मिली है उन सब पर पालिश लगी है और ओपदार अर्थात् पालिशवाली मूर्तियो का मौर्य और शुग-काल मे अभाव होने के कारण इन मूर्तियो को उन कालो मे घसीटना उचित नही। अथच इतने ऊँचे डील-डौल की मूर्तियाँ भी उन कालो मे नही प्राप्त होती है। इसी काल मे जैन तीर्थकरो की मूर्तियाँ भी बनने लगी थी।

मौर्यकाल—यह कलाओ के विकास का एक प्रकार से स्वर्ण युग था। उस समय कलाकारो के नाना वर्ग थे जिनकी सज्ञा श्रेणियाँ थी। बौद्ध ग्रन्थो मे इन श्रेणियो की सख्या १८ है जिनमे बढई, कर्मकार, चित्रकार आदि सभी सम्मिलित थे। प्राचीन वास्तु-ग्रन्थो मे जो नगर निवेश-पद्धति वर्णित है उसके अनुसार इन पृथक्-पृथक् श्रेणियो के पृथक-पृथक् मुहल्ले अथवा गाँव होते थे। कर्मकार शब्द सस्कृत का कर्मकार है। कर्म एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ शिल्प अथवा दस्तकारी है। इन्ही कर्मकारो मे रूपकार तथा दतकार ऊँचे दर्जे के शिल्पी होते थे। कर्मकार शब्द आगे बिगड कर कहार हो गया और सगतराश के नाम से विख्यात है। मौर्य-काल में वास्तुकला तथा मूर्तिकला दोनो ही अत्यन्त विकसित थे। चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक इस काल

का सबसे बडा उन्नायक कहा जाता हे। राजर्षि अशोक के जीवन वृत्तान्त एवं कार्य-कलापो से हम परिचित ही है। उसने पर्वतो, शिलाफलकों तथा लाटो पर जो नाना शिक्षा-लेख खुदवाये उनसे हम परिचित ही है। यहाँ पर हमे यह विचारणीय है कि अशोक की कलाकृतियो मे मूर्तिकला का कैसा विकास हुआ? वास्तव मे अशोक एक लोकोत्तरचेता महामानव था। अतएव ऐसे युगपुरुष की कृतियाँ भी लोकोत्तर होनी चाहिए। अशोक के स्तम्भ एक प्रकार से उस काल की मूर्तिकला के सार है और ससार के उच्चातिउच्च कलाकृतियों मे उनका स्थान है। प्राचीन अन्वेषण मे अशोक के लगभग १३ स्तम्भ प्राप्त हुए हैं, जैसे दिल्ली, कौशाम्बी, इलाहाबाद, सारनाथ, मुजफ्फरपुर, लौरियानन्दगढ, रामपुरवा (चम्पारण), रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) तथा सांची। इन सभी स्तम्भो को अशोक की लाटो के नाम से पुकारा जाता है। इनके दो भाग होते थे——लाट तथा परगहा। इनपर इतनी सुन्दर और चिकनी पालिश है कि आँख बडी मुश्किल से टिकती है। अत वास्तुकला की दृष्टि से यह ओप-स्थापत्य उस काल की एक महती कला-प्रक्रिया है जो एक प्रकार से बाद के निदर्शनो मे लुप्तप्राय है। इन स्तम्भो के लाट गोल ओर नीचे मे ऊपर तक चढाव उतारदार है। इनकी ऊँचाई ३०-३०, ४०-४० फुट है ओर वजन मे १०००-१०००, १२००-१२०० मन के बैठते है। इनमे लौरियानन्दगढ का स्तम्भ सबसे सुन्दर है। इन लाटो पर के परगहे, जो लाटो की ही भाँति एक पत्थर के है, अशोक और उसके पूर्व की उभार कर एव कोर कर बनायी गयी मूर्ति कला के बडे सुन्दर नमूने है। प्रत्येक परगहे के पाँच अश होते है——(१) एकहरी वा दोहरी पतली मेखला जो लाट के ठीक ऊपर आती है, (२) उसके ऊपर लौटी हुई कमल-पखडियो की आलकारिक आकृतिवाली बैठकी जिसे अनेक विद्वान् घटाकृति मानते है, (३) उसपर कठा, (४) सबके ऊपर गोल वा चोखुटी चौकी और (५) उसके भी सिरे पर एक वा एकाधिक पशु आसीन होते है। परगहे के सिरे पर जिन पशु-चित्रों का निर्देश है उनमे सिह, हाथी, बैल अथवा घोडा होते थे और पशु-मूर्ति अथवा वाहन-मूर्ति का इनमे बडा सुन्दर प्राचीन निदर्शन प्राप्त होता है। इन पशुओ के मूर्ति-स्थापत्य मे तत्कालीन कलाकारो ने कमाल कर दिखाया है, विशेषकर सिह-प्रतिमा तो इतनी सजीव एव सुन्दर है कि उसकी तुलना संभवत. अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी काल की, इन कलाकृतियो के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई है जिनमें पटने के पास दीदरगंज मे मिली और अब पटना सग्रहालय मे प्रदर्शित चामरग्राहिणी की ओपदार मूर्ति है जो अशोककालीन मूर्तिकला का अपने ढग का अद्वितीय निदर्शन है। पीछे मौर्यकाल की प्रवृद्ध वास्तु-वैभव पर संकेत किया जा चुका

है, तदनुसार इस काल के बने हुए स्तूपो पर थोड़ा-सा सकेत आवश्यक है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अशोक ने चौरासी हज़ार स्तूप बनवाये थे। अशोक का पाटलिपुत्र का महल प्रसिद्ध ही है। तत्कालीन वास्तु मे स्तम्भ-निवेश एक महत्त्वपूर्ण रचना थी। राजप्रासाद तथा सभाभवन अशोककालीन वास्तु के प्रौढ विकास है। अशोक के द्वारा विनिर्मित स्तूपो मे साँची का स्तूप मुख्य है। बरार की पहाडियो मे अशोक ने कई गुफाएँ भी बनवायी थी इनमें आजीवक साधु रहते थे। इन गुफाओ मे भी मूर्तिस्थापत्य के दर्शन होते हैं। अशोक के बाद उसके पौत्रो ने भी गुफाएँ बनवायी। इनमें से दशरथ की कटवायी हुई एक गुफा बरार पर्वत मे है, इसे लोमस ऋषि की गुफा कहते हैं। इसके द्वार के महराब में हाथियो की एक सुन्दर अवली बनी है और भीतर की भीतो पर ओप है। इस काल की इन मूर्तियो के अतिरिक्त मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाबी, मसोन, पटना आदि मे असख्य तृणमूर्तियाँ भी मिली हैं जो कला की दृष्टि से बडी उत्कृष्ट है। अस्तु, स्वल्प मे इतना ही यहाँ पर प्रतिपाद्य है कि मौर्य-काल मे भारतीय मूर्तिकला का एक लोकोत्तर विकास हुआ और इस कला मे कुछ ऐसी परम्पराएँ भी पल्लवित हुईं जो भारतीय मूर्ति-स्थापत्य मे सदा के लिए अमर ही नही हो गयी वरन् एक प्रकार से आदर्श भी बन गयी। अशोक के स्तम्भो की कारीगरी मे जन अभिप्रायो के दर्शन होते है, जैसे पखदार सिह, पखदार वृषभ, नर मकर, नर अश्व, मेष मकर, गज मकर, वृष मकर, सिंह-नारी, गरुड-सिंह तथा मनुष्य के धडवाले पक्षी आदि आदि के साथ-साथ घट से निकला सनाल कमल। यह अन्तिम अभिप्राय भारतीय मूर्ति-स्थापत्य का एक सनातन अग है जो गुप्त-काल मे घट-पल्लव मे परिवर्तित होकर तत्कालीन वास्तु एव पूर्ति की सजीव प्रतिमा बन गया था।

शुंग-काल—यह काल १२८ ई० पूर्व से ३० ई० पूर्व तक जाता है। अन्तिम मौर्य बृहद्रथ के सेनापति पुष्यमित्र ने शुग वश की स्थापना की परन्तु यह राज्य अपेक्षा-कृत सीमित था। दक्षिण तथा पश्चिम मे अन्य बहुत से राज्य भी उदय हुए जिनके अपने-अपने वैभव के अनुसार अपने-अपने कला-केन्द्र विकसित हुए। आगे हम उनका उल्लेख करेगे। यहाँ पर शुग-युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध कलापीठ साँची का प्रथम स्मरण आवश्यक है।

साँची—साँची का स्तूप तो अशोक ने ही बनवाया था परन्तु इस बडे स्तूप की चारो दिशाओ पर जिन तोरणो तथा परिक्रमा की वेदिका बनी है वह प्रस्तरकला अथवा मूर्तिकला का एक अत्यन्त प्रौढ विकास है। उक्त तोरणो मे चौपहल खभे है जो चौदह फुट ऊँचे है। उनपर तेहरी बडेरियाँ हैं जो बीच मे से तनिक तनिक कमानीदार है। बड़ेरियो के ऊपर सिंह, हाथी, धर्मचक्र, यक्ष और त्रिरत्न (=बुद्ध, संघ, धर्म, बौद्ध

सम्प्रदाय का चिह्न) आदि बने हैं। समूचे तोरण की ऊँचाई चौतीस फीट है। इसी से इनकी भव्यता का अनुमान किया जा सकता है। तोरणो पर चारो ओर बुद्ध की जीवनी के और उनके पूर्वजन्मो के अनेक दृश्य बडी सजीवता से उभार कर अंकित हैं। बडेरियो में इधर-उधर हाथी, मोर, पक्षवाले सिंह, बैल, ऊँट और हिरन के जोडे—जिनके मुँह विरुद्ध दिशाओ मे है—बड़ी सफाई और वास्तविकता से बने है। खभे के निचले अश मे अगल-बगल ऊँचे पूरे द्वाररक्षक यक्ष बने है। जहाँ खभा पूरा होता है वहाँ ऊपर की बडेरियो का बोझ झेलने के लिए चौमुखे हाथी वा बौने इत्यादि बने है तथा इनके बाहरी ओर मानो और सहारा देने के लिए वृक्ष पर रहनेवाली यक्षिणियाँ (वृक्षिकाएँ) बनी है। इनकी भावभगी बड़ी सुन्दर है। ये तोरण उस युग की सस्कृति एवं जीवन के ब्यौरो के विश्वकोश है। साँची के तोरणो पर कही बोधि वृक्ष का अभिवादन करने के लिए सारा जगल-जगत्—सिह, हाथी, महिष, मृग, नाग आदि—उलट पडा है। कही बुद्ध-स्तूप की अर्चा के लिए गजदल कमल-पुष्प लिये चला आ रहा है। कही बुद्ध के एक पूर्वजन्म का दृश्य है—जब वे छ दाँतवाले हाथी थे। अपनी हथिनियो के साथ वे कमल-सरोवर मे नहा रहे है। एक हाथी उनपर गजपतित्व-सूचक छत्र लगाये है। दूर ओट से व्याध उनपर बाण सधान रहा है। कही बुद्ध के घर से निकलने का दृश्य है। कही बोधि वृक्ष पर (जो अशोक के बनवाये मडप से घिरा है) पखवाले आकाशचारी मालाएँ चढा रहे है। कही मुनियो के आश्रम के दृश्य हैं। स्तूप की भ्रमणी मे स्थान-स्थान पर फुल्ले (कमलाकृति गोल अलकरण) बने है जिनमे गज-लक्ष्मी, कमल-कलश एव खिले हुए कमल आदि है। स्थान-स्थान पर गोमूत्रिका (बैल-मूतनी; बरद-मुतान अर्थात् इस आकृति की बेल) की दौड़ है। साँची (तथा भरहुत मे भी) के इस मूर्ति-स्थापत्य मे कही भी बुद्ध की मूर्ति नही मिलती। बुद्ध का स्थान स्वस्तिक, कमल अथवा चरण आदि के सकेत से सूचित है। तथागत ने अपने अनुयायियों को चित्रकला में प्रवृत्त होने के लिए मना कर रखा था।

भरहुत—इस काल की मूर्तिकला का दूसरा कलापीठ भरहुत है। यह स्थान इलाहाबाद और जबलपुर के बीच में नागोद राज्य मे है। यहाँ पर १८७३ ई० में जेनरल कनिंघम ने एक बहुत बड़े बौद्ध स्तूप का पता लगाया था। इस स्तूप की प्रदक्षिणा अथवा बाड़ बड़ी विराट् थी जो अद्भुत मूर्ति-शिल्प से अलंकृत थी। इस बाड़ के प्रत्येक अंश पर बौद्ध कलाओ के चित्र, अलकरण, गोमूत्रिका, फुल्ले और यक्षिणी तथा देवयोनि आदि बने हैं। वहाँ के पूर्वीय तोरण पर के एक लेख से यह कृति शुग-कालीन मानी जाती है। भरहुत की मूर्तियों के नाना विषय हैं तथा वे परस्पर विभिन्न भी। इनमे जातको के दृश्यो की संख्या लगभग दो कोड़ी है। आधा दर्जन बुद्ध के

जीवन से सबधित ऐतिहासिक दृश्य हैं। जिनमे चौकडी जुते हुए रथ पर बुद्ध के दर्शनों को जाते हुए कोसल के महाराज प्रसेनजित् की सवारी तथा उसी निमित्त हाथी पर जाते हुए मगधाधिप अजातशत्रु की सवारी विशेष आकर्षक है। इसी प्रकार एक मूर्ति मे जेतवन के क्रय और दान का आकर्षक दृश्य है। चालीस के लगभग यक्ष-यक्षिणी, देवता और नागराज की मूर्तियाँ हैं। जानवरों की भी अनेक मूर्तियाँ हैं जिनमे से कुछ मे काफी सजीवता और स्वभाविकता है। यही हाल वृक्षों की मूर्तियों का है। उनमे भी सौंदर्य और निजस्व है। अथच जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक वस्तुओं की प्रतिकृतियाँ भी यहाँ विद्यमान है, जैसे आभूषण, परिधान, भाण्ड, पात्र, वाद्य, शस्त्रास्त्र, नाव, रथ, पताका आदि राजचिह्न। अलकरणो मे कटहल, माला, कमल आदि की गोमूत्रिका बेलें बडी आकर्षक है, गोलमडल मे गजलक्ष्मी बनी है, फुल्लो मे कही-कहीं स्त्री वा पुरुष के मुख बने है। जातक दृश्यो मे हास्यरस के चित्र भी कम नही है। एक स्थान पर बदरो का एक दल एक हाथी को गाजे-बाजे से लिये जा रहा है। एक वह दृश्य भी बडी हँसी का है जिसमे एक मनुष्य का दाँत एक बडे भारी सडसे से उखाडा जा रहा है, जिसे एक हाथी खीच रहा है।

भरहुत के मूर्ति-स्थापत्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह वास्तव मे लोक-कला है। यहाँ की कला में अशोकीय स्तम्भों का कौशल अथवा साँची तोरणों का प्रागल्भ्य नही मिलेगा। भरहुत कलापीठ की यह विशेषता तत्कालीन मथुरा, बेसनगर, भीटा, बुद्ध गया, काशी (सारनाथ), कौशाबी तथा सुदूर दक्षिण जगय्यापेटा आदि स्थानों में भी प्राप्त होती है।

शुंगकालीन इन कलाकृतियो के अतिरिक्त कतिपय अन्य विकास भी अवलोक्य हैं जिनमे ग्रीक, वैष्णव हेलिउदोर (१४० ई० पूर्व) के द्वारा बेसनगर (मालवा, ग्वालियर राज्य) मे भगवान् वासुदेव के पूजार्थ बनवाया गया एक गरुड़ध्वज बडा महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। अथच इसी काल मे पश्चिमी घाट (सह्याद्रि) के पर्वतो मे आन्ध्रो ने अनेक गुहा-मन्दिर (लयनप्रासाद) बनवाये, इनमे भाजा, वेदसा (पूना), पीथलखोरा (खानदेश) और कौडिण्य (कोलाबा) की गुफाएँ मुख्य है। भाजा मे भीतो पर सूर्य और इन्द्र की भारी और दल-बल-सहित मूर्तियाँ चिपटे उभार मे बनी है जो लोककला की विशाल उदाहरण है। उडीसा के उदयगिरि और खडगिरि मे इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएँ है जिनमे मूर्ति-शिल्प भी है। इनमे से एक का नाम रानी-गुफा है। यह दोम-जिली है और उसके द्वार पर मूर्तियो का एक लबा पट्टा है जिसकी मूर्तिकला अपने ढग की निराली है। उसे देखकर यह भान होता है कि वह पत्थर की मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काठ पर की नक्काशी है। उडीसा मे आज भी काठ पर ऐसा काम होता है।

शुग ब्राह्मण थे, ब्राह्मण धर्म का उनके समय मे विशेष उत्कर्ष हुआ। वे अश्वमेध-याजी थे। शुगो के समय मे ही मनुस्मृति, महाभाष्य आदि उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे गये—ऐसा विद्वानो का कथन है। ब्राह्मण सम्प्रदाय मे मूर्ति-पूजा उस समय पूर्णरूप से प्रचलित हो चुकी थी। महाभाष्य मे शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियो की और उनकी बिक्री की हम पीछे समीक्षा कर चुके है। इस काल का एक पचमुख शिवलिंग भीटा में पाया गया है। सुदूर दक्षिण के गुडिमल्लम नामक स्थान मे शिवलिंग की बडी कीर्ति है। पाँच फुट लम्बे लिंग के सहारे प्रकाड शिव डटकर खडे है। शुग-काल की असख्य मृण्मूर्तियाँ भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पायी जाती है। अपने चिपटे डोल के कारण, जो उस काल के मूर्ति-शिल्प की विशेषता है, ये तुरत पहचान ली जाती है। इनमे पकायी मिट्टी का एक टिकरा है जो कौशाबी मे मिला था। इस टिकरे पर चलने को तैयार एक हथिनी बनी है, जिसे एक स्त्री चला रही है। उसके पीछे एक युवक सुरमडल नाम का बाजा लिये बैठा है। उसके बाद एक आदमी और है जो पीछे मुँह किये एक थैली से गोल और चौकोर सिक्के बिखेर रहा है जिन्हे पीछे लगे दो आदमी बटोर रहे है। यह विषय ऐतिहासिक है। उदयन एव वासवदत्ता की कहानी मे हम परिचित ही है।

कुषाण-सातवाहन-काल—यह काल ५० से ३०० ई० तक जाता है। अन्तिम शुग से उनके काण्ववशीय ब्राह्मण सचिव ने राज्य छीन लिया था परन्तु इससे पहले ही शको के आक्रमण आरम्भ हो गये थे जिनका साम्राज्य अधिक दिन तक न टिक सका। आन्ध्र के राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि, जो आगे सातवाहनो के नाम से प्रसिद्ध हुए, ने शको को हराकर शकारि की उपाधि धारण की। उनके पुत्र वाशिष्टीपुत्र पुलमावि ने काण्वो से मगध भी जीत लिया। परन्तु ५० ई० पूर्व के लगभग शको का दूसरा प्रवाह आया। उनमे से कुषाण नामक एक सरदार बडा शक्तिशाली था जिसने कुषाण राज्य की स्थापना की और अन्य चार शक रियासतो को अपने राज्य मे मिला लिया एवं समूचा अफगानिस्तान, कपिश तथा पश्चिम-पूर्वीय गाधार तक्षशिला भी जीत लिया। कुषाण ने लम्बा शासन किया। पुन उसके उत्तराधिकारियो मे महाराजा कनिष्क के राज्य मे हम परिचित ही है। उसकी राजधानी पुष्करावती के पास पुरुषपुर (पेशावर) थी। इन दोनो राजवशो के आश्रय मे पल्लवित इस काल की कला भारतीय मूर्ति-स्थापत्य की एक अमर निधि है। कनिष्क के समय मे बौद्ध सम्प्रदाय का रूप ही बदल गया। मूर्ति-पूजा ने जड पकडी। बुद्ध, अलौकिक, बोधिसत्व तथा अन्य देवताओ की मूर्तियाँ बनने लगी। बुद्ध धर्म के इस विकास को महायान के नाम से पुकारा जाता है। इसी कुषाणकाल मे भारतीय स्थापत्य मे अतिप्रसिद्ध गाधार शैली का विकास हुआ।

गांधार-शैली—इस शैली पर (जो इस काल की सर्वप्रमुख शैली है) विद्वानो में

बडा विवाद रहा। गाधार तथा उससे मिले हुए पश्चिमी पचनद प्रदेश में एक अद्भुत मूर्ति-शैली का विकास हुआ जो विषय की दृष्टि से सर्वथा बौद्ध है परन्तु विद्वानो ने इसकी कला-शैली को सर्वथा यूनानी बताया है। इस शैली में हजारो मूर्तियाँ मिली हैं। वे प्राय: अधिकांश मे काले स्लेट पत्थर की बनी हैं। इनका समय ५० ई० पूर्व से ३०० ई० तक का निर्धारित किया गया है। यहाँ पर एक विलक्षण बात यह बताने की है कि इस शैली में जो निदर्शन प्राप्त हुए हैं उनका न तो कोई पूर्व विकास है और न उत्तर प्रभाव। अथच इस शैली की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें बुद्ध-प्रतिमा के बहुल निदर्शन एककालिक तथा एकस्थानिक प्रकट हो गये हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कला क्रमिक विकास-ह्रास का अपवाद है। वह एक प्रकार से एक घटना के रूप मे सहसा परिपक्वा अवस्था मे आरम्भ होती है और उसी अवस्था में सहसा समाप्त भी हो जाती है। अस्तु, प्रश्न यह है कि यह शैली कैसे उत्पन्न हुई और इस पर पूर्ववर्ती भारतीय मूर्तिकला का क्या प्रभाव है तथा बुद्ध-मूर्ति की कल्पना तथा उसकी कलाकृति का श्रेय सर्वप्रथम क्या गाधार को ही है और इस शैली ने आगे के मूर्ति-स्थापत्य को किस प्रकार से प्रभावित किया? भारतीय कला के निष्णात अर्वाचीन समीक्षकों ने जो कुछ इस शैली के सम्बन्ध मे लिखा है वह परस्पर विरोधी है। फुशे, विसेंट स्मिथ तथा सर जान मारशल आदि विद्वानो का कथन है कि इस शैली पर भारतीय मूर्ति-कला का कोई प्रभाव नही है और सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्ति की कल्पना गान्धार मे हुई और गाधार शैली का प्रभाव आगे की भारतीय मूर्तिकला पर पूर्णरूप से प्रतिबिम्बित है। इसके विपरीत हैवेल, जायसवाल तथा मुख्यत. डा० कुमारस्वामी इस पूर्व मत का प्रतिषेध करते हैं और सिद्धान्त पक्ष में जो तर्क उपस्थित करते हैं उनका जो साराश है— उसको पाठक रायकृष्णदास की मूर्तिकला मे पढ़े—पृ० ८७-९१। हमारा अपना मत यह है जैसा पहले ही सूचित किया गया है कि इस कला के विकास और ह्रास का कोई क्रम नही है। अत ऐसा जान पड़ता है कि गान्धार मण्डल मे जो इस काल मे कलाकार थे वे यूनान के कलाकारो से अवश्य सम्बन्ध रखते थे परन्तु कला के विकास के लिए राजाश्रय तथा धर्माश्रय दोनो ही आवश्यक है। बिना धर्म के कला मे प्रेरणा नही मिल सकती और बिना राजाश्रय के उसका अकन असभव है। यत. यह प्रदेश विदेशी आक्रमणों एव प्रभावों के लिए सर्वथा अनुकूल है अतः यह मण्डल जब कुषाणो ने हस्तगत किया, और कुषाण कट्टर बौद्ध थे, तो उन्होंने अलक्सांदर के समय में आये हुए रूपकारों अथवा मूर्तिकारों को बौद्ध प्रतिमाएँ बनाने के लिए लगा दिया हो। यत कुषाणकाल मे बौद्ध धर्म मे महायान का विकास हो चुका था और महायान मे बौद्धदेववृन्द का भी प्रबल विकास प्रारम्भ हो चुका था अत. महायान की इस धार्मिक प्रेरणा मे बौद्ध मूर्ति-स्थापत्य

को इतने उत्साह से विकसित करने के लिए कुषाणों का राजाश्रय पूर्ण पर्याप्त था। गांधार-शैली के जो कला-निदर्शन प्राप्त होते हैं वे सभी एक से ही नहीं हैं। इस मण्डल के नाना प्रदेशों में बिखरे मूर्ति स्थापत्य को यदि हम गहरी दृष्टि से देखे तो पता चलेगा कि इनमें परस्पर कुछ विभेद भी है जो समय के अनुरूप स्वाभाविक भी है। तृतीय शतक से जो निर्मितियां इस शैली मे प्रारम्भ हुई उनमे पहले की सी यान्त्रिकता, अभावुकता तथा प्रेरणा की विहीनता के स्थान पर ओजस्विता, भावुकता तथा समय की गतिमत्ता का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रतिलक्षित होता है। अतएव प्रोफेसर स्टेला क्रैमरिश ने कुमार-स्वामी तथा जायसवाल आदि विद्वानो के सिद्धान्तो को पूर्ण रूप से स्वीकार नही किया और न पूर्ण रूप से बहिष्कार। (सूत्ररूप मे उनका यह वाक्य दे० इण्डियन स्कल्पचर): अर्थात् गान्धार की कला यूनानी दृष्टि से भारतीय तथा औपनिवेशिक है परन्तु भारतीय दृष्टि से वह यूनानी तथा औपनिवेशिक है। यह मत कुछ जटिल सा प्रतीत होगा परन्तु बात सच्ची है। कलाकार अवश्य यूनानी थे परन्तु विषय तो भारतीय ही था। यह अवश्य है कि इस कला मे भारतीय अध्यात्म का न तो उन्मेष प्रतिफलित हुआ और न उसकी व्यजना ही। और इससे यह पता चलता है कि कलाकार अवश्य विदेशी थे। यूनान सदैव कला मे वास्तविकता और उसके आदर्श का पुजारी रहा है। भारत सदैव आध्यात्मिक अभिव्यंजना का साधक रहा है। दोनो के दृष्टिकोण में विभेद है परन्तु जब एक दूसरे का चित्रण करेगा तो मौलिक अभाव को बिना प्रकट किये नही रह सकेगा। गाधार शैली मे भरहुत की लोक-कला के न तो अभिप्राय अपनाये गये और न सांची के अलकरण। परिधान एव मुद्रा तथा आसन वास्तव मे भारतीय हैं परन्तु बिना अभिप्रायो के भारतीय कला अपने निजस्व को नही प्रस्फुटित कर सकती। यह अभाव इस कला की सर्वप्रमुख विशेषता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्ध की प्रथम प्रतिमा बनाने का श्रेय किसको है? बुद्ध की जो प्रतिमा भारतीय स्थापत्य मे प्रकल्पित की गयी है वह एक प्रकार से ध्यानप्रतिमा, योगिप्रतिमा अथवा शान्त, धीर एव गभीर महापुरुष-प्रतिमा है। इस प्रकार की प्रतिमोद्भावना भारतीय स्थापत्य के इतिहास मे न तो कला की दृष्टि से और न भावना की दृष्टि से सर्वथा अभाव मे परिगणित की जा सकती है। हमारे देश में योग-संस्कृति अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। वह मोहेन्जोदडो और हड़प्पा के ध्वसावशेषो में भी हम देख चुके हैं। सभी पुराण ईसवीय शतक के नही माने जा सकते। ईसा से पूर्व भी कुछ पुराण बन चुके थे। पुराणो मे बुद्ध-प्रतिमा के जो निर्देश है अथवा देव-प्रतिमा के जो सिद्धान्त हैं उन सिद्धान्तों से यहाँ के स्थपति अथवा मूर्तिकार अनभिज्ञ न थे। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने अपनी प्रतिमा का निर्माण निषिद्ध कर रखा था और

हीनयानी या थेरवादी इसका बहुत दिनों तक पालन भी करते रहे तथापि गाधार कला के प्रथम भी बहुत से शिल्पी बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण के लिए अवश्य उत्सुक रहे होंगे। महायान ने उन लोगों के लिए वह अवकाश प्रदान किया। फिर क्या था, बुद्ध-मूर्ति को गढ़ने में उन लोगों को कितनी देर लगी होगी। तथापि यह निर्विवाद है कि बुद्ध-प्रतिमा-निर्माण की भारतीय उद्भावना होते हुए भी कलाकृति का श्रेय यूनानियों को ही है। तभी प्रोफेसर क्रैमरिश का मत मगन होता है। अस्तु, इस समीक्षा के उपरान्त अब हमें यह बताना है कि इस शैली मे जो प्रतिमा-स्थापत्य प्राप्त हुआ है उनमे अगणित बुद्धों एवं बोधिसत्वों की ही मूर्तियाँ प्रमुख हैं।

मथुराशैली—गाधार की भाँति मथुरा भी कुषाण-काल मे एक बहुत बड़ा मूर्ति केन्द्र था। मथुरा एक प्रकार से भरहुत एवं साँची का सम्मिश्रण है। भरहुत की ग्रामीणता के स्थान पर इस कला मे नागरिकता स्पष्ट है। कुषाणों के आश्रय से इसे हम राजकला भी कह सकते हैं। प्राय सभी मूर्तियाँ सफेद चित्तीवाले लाल रवादार पत्थर की है जो सीकरी, भरतपुर आदि की खदानों से निकलता था। मथुरा मूर्तिकला मे भरहुत तथा साँची के चित्रणीय दृश्य तो थे ही, बुद्ध प्रतिमा के भी नाना निदर्शन प्राप्त है। इस प्रकार मथुरा की कला का विषय भरहुत और साँची आदि कलापीठों की अपेक्षा विस्तृत हो गया। यक्ष-यक्षिणी, वृक्षिका, अमरयुग, क्रीडादृश्य, मदिरो, विहारो एवं स्तूपों के और उनकी वेष्टनियों के विभिन्न अवयवों के चित्रण तो परम्परागत है परन्तु बुद्ध-प्रतिमाओं के सम्बन्ध मे कुछ विचार आवश्यक है। बुद्ध की प्रतिमाएँ दो रूप मे विशेष पायी जाती हैं—स्थानक एवं पद्मासन। बुद्ध की खड़ी मूर्तियां मे शैशुनाग जैन मूर्तियों की परम्परा प्रतीत होती है। अथच पद्मासनासीन बुद्ध-प्रतिमा मे इस देश की अत्यन्त प्राचीन प्रतिमा अर्थात् मोहेन्जोदडो का योगिराज विभाव्य है। इन प्रतिमाओ के अतिरिक्त शृगार-रस प्रधान मूर्तियों का भी चित्रण इस कला मे विद्यमान् है। एक दूसरी कोटि जो प्रतिमाओं की मिलती है वह प्राचीन देवकुल की परम्परा का प्रभाव है। दिवगत राजाओं की मूर्तियों का सग्रहालय देवकुल की परम्परा है जिसमे मूर्तिकला का अतीत सरक्षणतत्व अभिव्यजित है। मथुरा शैली मे जो अगणित मूर्तियाँ प्राप्त हुई है उन सबकी समीक्षा का यहाँ न तो अवसर है और न स्थान। कुषाण-कालीन मथुरा मूर्ति-शैली के नाना उत्तम निदर्शनो मे प्रसाधिका की मूर्ति निर्विवाद सुन्दरतम है।

अमरावती तथा नागार्जुनकोंडा—जिस समय उत्तरी भारत मे गाधार शैली की गौरव-गाथा का निर्माण हो रहा था और कुषाणकालीन मथुरा-शैली का पूर्ण अभ्युदय हो चुका था उसी समय दक्षिण भारत मे भी कला की यह प्रगति उद्दाम गति से क्रीडा कर रही थी। प्राचीन कलापीठो मे अमरावती का बडे गौरव के साथ बखान किया जाता है।

मद्रास के गुटूर जिले में जो आन्ध्रो का मूल प्रदेश था कृष्णा नदी के किनारे अमरावती की आभा का दर्शन हुआ। अमरावती भी बौद्ध कलापीठ है। ईसा से २०० वर्ष पूर्व यहाँ एक बौद्ध स्तूप विनिर्मित हुआ। इसी स्तूप के चारो ओर आंध्र सात-वाहनों ने ईसा की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से २५० ई० तक बाड बनवायी तथा ईटों के बने हुए स्तूप के अधोभाग को, जिसका व्यास एक सौ आठ फुट था, शिलाफलकों की दोहरी पक्ति से ढकवाया। इन सारे कामो के लिए सगमरमर बरता गया है। जिस पर बडे रियाज के साथ तथा बहुतायत से आश्चर्यजनक मूर्तियाँ और अलकरण बने हुए है। शिलाफलकों मे से कुछ पर स्तूप का ही अलकृत दृश्य अकित है जैसा कि वह अपनी समृद्धि के दिनो में रहा होगा और कुछ पर बुद्धपूजा के तथा उनकी जीवनी के दृश्य है। इनमे से कुछ मे प्राचीन शैली के अनुसार केवल बुद्ध के सकेत बने है और कुछ मे उनके रूप भी। अमरावती की सबसे बडी विशेषता यह है कि कोई १७ हजार वर्गफुट सगमरमर पर जो मूर्तियाँ एव अलकरण चित्रित है वे भारतीय मूर्ति शिल्प के अनूठे तथा अद्भुत निदर्शन थे। इनमे भरहुत और साँची के से अलकरण (फुल्ले) पूर्ण रूप से प्रदर्शित है। फूलों और गजरो की शोभा तो बड़ी ही आकर्षक है। अमरावती की दूसरी विशेषता यह है कि इस कला में भक्ति का उद्रेक बडा सुन्दर अभिव्यक्त हुआ है। बुद्ध के दोनो प्रकार के प्रतीक प्राप्त होते है—चरणचिह्न आदि तथा प्रतिमाएँ।

गुटूर जिले मे ही नागार्जुनकोडा मे एक स्तूप के अवशेष मिले है। यहाँ की मूर्ति-कला अमरावती के समान अभी तक उत्कृष्ट रूप मे नही प्राप्त हो सकी है। इसी काल मे कार्ली, कन्हेरी और नासिक की गुफाएँ भी बनी परन्तु कला की दृष्टि से उनका महत्त्व नगण्य है। हाँ, कार्ली गुफाओ मे देवकुल की परम्परा अवश्य विद्यमान है। इसी काल मे ब्राह्मण धर्म की सरक्षता मे ब्राह्मण मूर्तियो जैसे गणेश, स्कन्द, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णु की मूर्तियाँ बनने लगी। भाजा तथा बुद्धगया मे शुगकाल मे ही सूर्य-प्रतिमाओ का विकास हो चुका था। इस काल मे ईरान से मग ब्राह्मणो ने भारत मे आकर सूर्य की एक विशेष पूजा-पद्धति का प्रचार किया। अतएव सूर्य की कवचादि वीर वेष की स्थानक मूर्तियाँ इस काल की विशेषता है। दुर्भाग्य यह है कि इस काल की ब्राह्मण प्रतिमाओ की प्राप्ति बहुत कम हुई है। जायसवाल (दे० अन्धकारयुगीन भारत) के मत मे कुषाण काल के पहले की ब्राह्मण कला को कुषाणो ने नष्ट कर डाला था।

नाग-कला—१८५ से-३२० ई० के समय मे भारशिव वाकाटको का काल आता है जिसके आश्रय मे नागकला तथा नागरकला दोनो का सुन्दर विकास प्रारम्भ हुआ। नाग-शैली के मन्दिरो का हम पीछे वर्णन कर चुके है। नागकला की प्रमुख विशेषताओ मे मुखमण्डल के आकार-परिवर्तन अर्थात् वर्तुलता के स्थान पर अण्डाकृति (लम्बोतरे

चेहरे) की निर्माण-पद्धति के साथ-साथ गंगा-यमुना के नदी चित्रों की रचना विशेष उल्लेख्य है। नदी देवताओं की प्रतिमाओं का चित्रण, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, मन्दिर-द्वारों के चौखटों पर चित्रित होते थे। इस काल की मूर्तियों में शिवलिंग तथा शिवायतन विशेष प्रसिद्ध है। ये लोग शिवलिंग को धारण भी करते थे। अतएव इनका नाम भारशिव पड़ा।

गुप्तकाल—इसे साहित्य और कला का स्वर्णिम युग कहा जाता है। अतः इसकी विशद् व्याख्या यहाँ पर अभीष्ट नहीं। गुप्तकला की सर्वप्रमुख विशेषता सौन्दर्याभि-व्यक्ति है। यत जीवन सुखद था, ऐश्वर्य की कमी न थी, उल्लास की गति भी उद्दाम थी, वैभव का पूर्ण विस्तार था। अत. जीवन मे गतिमत्ता, भावुकता और रसिकता भी स्वाभाविक थी। गुप्तकालीन काव्यकृतियों में जैसा सुन्दर रस-परिपाक—ओजस्वी, मधुर, प्रासाद एवं विशद्—परिनिष्ठित हुआ उसी प्रकार कला में भी सौष्ठव का पदार्पण हुआ। यद्यपि गुप्त राजा ब्राह्मणधर्मानुयायी थे तथापि बुद्धकला दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रही थी। बुद्ध मूर्तियों में सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति सर्वप्रथम गुणगान के योग्य है। यह प्रतिमा पद्मासन पर आसीन है। हस्तमुद्रा धर्मचक्र प्रवर्तन का संकेत करती है। मुखमण्डल उत्फुल्ल है जिस पर अपूर्व शान्ति, कान्ति, कोमलता और गंभीरता का राज्य है। इस काल की दूसरी बुद्ध-मूर्ति मथुरा का स्थानक बुद्ध है। इस मूर्ति के मुख-मण्डल पर करुणा, शान्ति तथा प्रज्ञा का पूर्ण आधिराज्य है। तथागत निष्कम्प प्रदीप की भाँति खड़े हैं। इस काल की तीसरी बुद्ध मूर्ति भागलपुर जिला के सुल्तानगंज में प्राप्त हुई थी। यह बड़ी ही दिव्य मूर्ति है। लोकोत्तर बुद्ध की पूर्ण प्रतिष्ठा इसमें प्रदर्शित है। मुद्रा अभय, मुखमण्डल जैसा पहले की मूर्तियों में। संभवत. गुप्तकाल की इन तीन बुद्ध-मूर्तियों से बढ़कर अन्य बुद्ध-मूर्ति नहीं बनी।

ब्राह्मण मूर्तियों का अभ्युदय तथा प्रकर्ष और भी ऊँचा उठा। ब्राह्मण मूर्तियों में वपुष्मान् वाराह की मूर्ति का प्रथम कीर्तन है। भेलसा के पास उदयगिरि में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के द्वारा विनिर्मित गुप्तमन्दिरों के बाहर पृथ्वी का उद्धार करते हुए इस वैष्णवी मूर्ति का चित्रण है। कहा जाता है कि यह मूर्ति उस काल के इतिहास की ध्वनि है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपनी भौजाई ध्रुवस्वामिनी का शकों से उद्धार किया था। इस मूर्ति में उद्धारक का तेज और पराक्रम दोनों स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। अन्य मूर्तियों में गोवर्धनधारी कृष्ण तथा कार्तिकेय और सूर्य की मूर्तियों के अतिरिक्त जो मूर्ति भारतीय कला और पुराण की सर्वप्रमुख तत्कालीन अभिव्यंजना है वह देवगढ (ललितपुर, जिला झाँसी) में एक गुप्त मन्दिर के एक अवशेष में विराजमान है। शेषशायी नारायण की सुन्दर मूर्ति यहाँ देखने को मिलेगी। यह चित्रण मन्दिर की बाह्य भित्ति पर

अंकित है। इस चित्रण में शेषशायी नारायण जिनके नाभि कमल पर ब्रह्मा जी विराजमान हैं, लक्ष्मी से चरण दबवा रहे है, ऊपर आकाश से कार्तिकेय, इन्द्र, शिव, पार्वती इत्यादि दर्शन कर रहे है। लक्ष्मी के पास ही एक ओर योगी के रूप मे भगवान् शिव एक दूसरे रूप मे खडे हैं और भक्ति में विह्वल है। नीचे आयुध पुरुषो का साहचर्य वैष्णव वैभव के निदर्शक है। इस मन्दिर की दीवार पर इस अद्भुत चित्रण के अतिरिक्त दो और चित्रण उल्लेख्य हैं। एक है नर-नारायण की तपस्या तथा गजेन्द्र-मोक्ष। इस काल की दूसरी देवप्रतिमा जो अपने प्रकर्ष के लिए प्रसिद्ध है वह कार्तिकेय प्रतिमा है। यह प्रतिमा अपने मयूर वाहन पर स्थित है। कृष्ण-मूर्तियो मे गोवर्धनधर के अतिरिक्त कृष्ण की लीला-मूर्तियाँ भी, जैसे राधाकृष्ण का प्रेमालाप तथा धेनुकवध विशेष उल्लेख्य हैं। भरतपुर राज्य के रूपवास नामक स्थान मे चार बृहत्काय मूर्तियाँ है जिनमें एक बलदेव की है जो ऊँचाई में सत्ताईस फुट से भी अधिक है। इसके मस्तक पर नाग के फण बने हुए हैं। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है जो नौ फुट से ऊपर है। शेष दो मूर्तियाँ बलदेव की पत्नी रेवती ठकुरानी तथा युधिष्ठिर के मस्तक पर खडे हुए नारायण की है। अपनी ऊँचाई के कारण तो ये अपूर्व है ही, इनमे गुप्तकला की सब श्रेष्टताएँ भी विद्यमान है। सारनाथ के सग्रहालय मे लोकेश्वर शिव का एक मस्तक है जिसके जटाजूट का बध बिलकुल उस प्रकार का है जैसा चीन और जापान की—भारत से प्रभावित—मूर्तियो पर पाया जाता है। इसकी नासाग्रदृष्टि तथा प्रसन्न-वदन दर्शनीय है। गुप्तकाल के कला-इतिहास मे मौर्यकालीन लाट निर्माण ने पुनः पदार्पण किया। स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय के बाद एक विशालकाय लाट-स्तम्भ का निर्माण कराया जो काशी के निकट-भिनरी गाँव मे खडा है। परन्तु गुप्तकालीन लौहस्तम्भ अर्थात् लोहे की लाट जो आजकल दिल्ली से कुछ मील दूर कुतुबमीनार के पास महरौली ग्राम मे खडा है वह कैसे ढलवाया गया होगा, इसपर आजकल के अति विकसित वैज्ञानिक युग मे भी लोगो को बडा आश्चर्य हो रहा है। इसकी कला मे परगहो की विशेष साजदारी है। अशोकीय सिंह, वृष, अश्व एव गज की चतुष्टयी के स्थान पर इस स्तम्भ पर गरुड जी विराज रहे थे जो परम भागवत गुप्तो के लिए ठीक ही था। गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ भी कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनमे नागिनी मूर्ति विशेष उल्लेख्य है। गुप्तो के स्वर्ण सिक्के भी मूर्ति-कला के उत्कृष्ट निदर्शन है। इन सिक्कों पर समुद्रगुप्त का वीणावादन एव उसका आश्वमेधिक रूप, चन्द्रगुप्त का आखेट और कुमारगुप्त के घोडे पर सवार तथा स्वामिकार्तिक वाले सिक्को पर की आकृतियाँ बहुत ही सजीव एव कलापूर्ण है।

मध्यकाल—भारतीय मूर्ति-स्थापत्य की प्राचीन गौरव-गाथा यहाँ पर समाप्त होती है और यहाँ से हम मध्यकाल में पदार्पण करते है। मध्यकाल को हम पूर्वमध्य-

काल तथा उत्तर-मध्यकाल के रूप मे विभाजित कर सकते है। मध्यकाल का पूर्वार्ध ६००-६०० ई० तक जाता है। यद्यपि इस पूर्वार्ध मे गुप्तकला के अनेक घटक विद्यमान है किन्तु कला की दृष्टि से कुछ नए परिवर्तन भी इस काल की विशेषताओं में परिगणनीय है। वैयक्तिक प्रतिमाओ के अतिरिक्त पौराणिक घटना-चित्रण इस काल की मूर्ति-स्थापत्य के बडे ही परिपुष्ट निदर्शन है। गंगावतरण के लिए भगीरथ की तपस्या, दुर्गा-महिषासुर युद्ध, रावण का कैलास उत्तोलन, शिव का त्रिपुरदाह इत्यादि नाना पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यान इतने सजीव चित्रित किये गये है कि इस काल को हम मूर्तिकला के चरमोत्कर्ष का श्रेय दे सकते है। इस काल की मूर्तिकला के तीन प्रमुख केन्द्र है——एलौरा, एलीफेंटा तथा मामल्लपुरम्। एलौरा का स्थापत्य वास्तव मे मूर्ति-स्थापत्य ही कहा जा सकता है क्योकि यहाँ पहाड काट कर जो मन्दिर बनाये गये है वे मन्दिर नहीं मूर्तियो के रूप मे भी विभाव्य है। एलौरा भारतीय स्थापत्य का आश्चर्य है। पूरी-की-पूरी पहाडी काट कर मन्दिरो मे बदल देना वास्तव मे संसार का आश्चर्य है। एलौरा का कैलास मन्दिर भारतीय प्रासादो का मूर्धन्य महीपति है। कैलास मन्दिर के ही निकट तीन प्रतिमामण्डप है जिनमे लगभग चारदर्जन पौराणिक दृश्य उत्कीर्ण है। रावण कैलास को उठा रहा है। भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदड का अवलब ले रही है। उनकी सखियां भाग रही है किन्तु भगवान् शिव अटल-अचल है और अपने चरण से कैलास को दबाकर रावण का श्रम निरर्थक कर रहे है। मंदिर के बाहरी अंश के एक कोने मे त्रिपुर-दाह का बड़ा जोरदार अकन है। यहाँ अन्य मन्दिरो मे नृसिंहावतार का दृश्य, भैरव की ओजपूर्ण मूर्ति, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ, शिव-पार्वती का विवाह तथा मार्कण्डेय का उद्धार आदि बडी सुन्दर, विशाल, भावपूर्ण और सजीव कृतियाँ है। इस काल का दूसरा प्रमुख मूर्ति-केन्द्र एलिफेंटा है। एलिफेंटा के गुहामन्दिर एलौरा के समान ही प्रसिद्ध है। एलिफेंटा (प्राचीन घारापुरी) नामक टापू मे, जो बम्बई मे प्राय छः मील की दूरी पर है भारतीय स्थापत्य के अद्भुत निदर्शन है। इन मन्दिरो मे शैव दर्शन एवं धर्म की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति साक्षात् मूर्तिमान् खडी है। इसकी सर्वप्रसिद्ध मूर्ति महेश मूर्ति है जिसको भ्रमवश कुछ विद्वान् त्रिमूर्ति के नाम से बखानते है। दूसरा मूर्ति-चित्रण शिवताण्डव है। नृत्य-प्रतिमा का यह ओजस्वी निदर्शन है। तीसरी मूर्ति योगिराज शिव की है जिसमे वे अपना 'स्थाणु' नाम सार्थक कर रहे है। यह बडी ही भव्य और गम्भीर प्रतिमा है। निवातस्थ दीप के समान यह प्रतिमा अलौकिक स्थापत्य का निदर्शन है। चौथी प्रतिमा शिव-पार्वती विवाह की है जो एलौरा के एतद्विषयक चित्रण से सुन्दरतर है। इस काल का तीसरा केन्द्र दक्षिण मे काची के सम्मुख समुद्रवेला पर विराजमान् मामल्लपुरम् है जहाँ के जगद्विश्रुत विमान रथो की वरेण्य विरुदावली से

कौन अपरिचित है। यहाँ के महिष मण्डपम् की शेषशायी विष्णु की मूर्ति तथा दुर्गा की महिषासुर मर्दिनी मूर्ति विशेष द्रष्टव्य है। परन्तु इन मूर्तियो से भी अधिक आश्चर्य-जनक प्रतिमा भगीरथ की तपस्या का चित्रण है। यह मूर्ति एक विशाल खडी चट्टान पर, जो अट्ठानबे फुट लम्बी और तैतालीस फुट चौड़ी है, काटी गयी है। अस्थिमात्र अवशिष्ट भगीरथ गगा को भूतल पर ले आने के लिए तपस्या मे निमग्न हैं। उनके साथ सारा दिव्य और पार्थिव जगत्, यहाँ तक कि पशु भी उसी तपस्या मे निमग्न है। कितना प्रभावोत्पादक दृश्य है। इसके एक एक अश इतने असली और भावपूर्ण बनाये गये हैं कि देखने से तृप्ति नही होती। इस काल की फुटकर मूर्तियो में बम्बई के परेल नामक प्रदेश मे एक विलक्षण शिवमूर्ति मिली है जो १२ फुट ऊँची और ६ फुट चौडी है, इसमे सात शिव-मूर्तियो के समूह का अंकन है। इस काल के बृहत्तर भारत अथवा द्वीपान्तर भारत के मूर्ति-स्थापत्य मे भी एक दो शब्द अनुचित न होगे। सुवर्ण द्वीप अथवा यवभूमि (सुमात्रा-जावा) के बोरोबुदर नामक स्थान के अनोखे मन्दिरो मे मूर्ति-स्थापत्य के अनुपम निदर्शन प्राप्त होते हैं। कला मर्मज्ञो ने इन्हे पत्थर मे तराशे हुए महाकाव्य की उपाधि दी है। इनमे जातको और तथागत बुद्ध की जीवनी के अनेक दृश्य अकित है।

मध्यकाल का पूर्वार्द्ध समाप्त हो गया, उत्तरार्द्ध (९००-१३०० ई०) के स्थापत्य में राजवशो की बदान्य कला-सरक्षण बखानने के योग्य है। चदेल, परमार, राठौर (राष्ट्र-कूट) आदि राजवशो के सरक्षण मे भारतीय स्थापत्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। यह समय प्रासादो के उदय का समय था। अत. प्रासाद-वास्तु अथवा मन्दिर स्थापत्य की ही प्रमुख गरिमा है। मूर्ति-स्थापत्य इस काल मे एक प्रकार से प्रासाद का अलकरण मात्र रह गया है। उसका स्वाधीन विकास अब अवरुद्ध हो गया है और वह प्रासाद की विशाल क्रोड मे केलि करने लगा। इस समय के स्थापत्य की दूसरी विशेषता शास्त्रीयता है। वैसे तो कला के सिद्धान्त वर्णन करने वाले भारतीय शिल्पशास्त्र या वास्तुशास्त्र की इस देश मे एक अत्यन्त पुरातन परम्परा है, परन्तु अभी तक के स्थापत्य के सम्बन्ध मे पर्सीब्राउन का यह कथन (दे० इण्डियन आर्कीटेक्चर, पृ०—२) कि भारतीय कलाकार की प्रतिभा (प्रज्ञा) भारतीय परम्पराओ के सदैव ऊपर रही। उसने कला को सदैव जानदार बनाये रखा—शिल्पों के सहारे नहीं उनके बिना भी—कुछ हद तक सगत कहा जा सकता है परन्तु अब आगे की कला पर शास्त्र की पूर्ण प्रभुता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वास्तव मे भारतवर्ष के इस काल की कला शास्त्र और कला दोनों का एक अनुपम समन्वय समुपस्थापित करती है। यही समन्वय भारतीय कला की समीक्षा का नवीन प्रवर्तन है जिसके लिए लेखक ने अपना यह वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान ठाना है। अत: जिन लोगो के मत में इस कला मे सजीवता और गतिमत्ता का अभाव दिखायी

पडता है वे लोग एक प्रकार से भ्रान्त है। इस काल की सबसे बडी विशेषता कला में अध्यात्म की अभिव्यजना है। यह अवश्य है कि अध्यात्म की अभिव्यंजना में कहीं-कही अश्लीलता ने भी आ घेरा है परन्तु वह एक प्रवाह मात्र है और उसके लिए तांत्रिक जिम्मेदार है अन्यथा प्रासाद-स्थापत्य एव मूर्ति-स्थापत्य दोनो ही इस काल में प्रवृद्ध प्रकर्ष को प्राप्त हुए और भारतीय कला को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। इस काल की सर्वप्रमुख विशेषता अलकृत शैली है। काव्यकला के समान मूतिकला में भी अतिरजित शैली ने पदार्पण किया। इस काल की दूसरी विशेषता पूर्वकालीन अभिप्रायो के स्थान पर अलकरणों का प्राधान्य है। परन्तु इन अलकरणो की विशेषता यह है कि ये स्वय अभिप्रायों के रूप मे चित्रित हुए हैं। कला की इससे बढकर और क्या अभिव्यक्ति हो सकती है जहाँ भूषण ही भूष्य बन जाता है। प्रासाद की पुरुषाकृति उत्पत्ति प्रसूनि का यही मर्म है। इस काल के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य यह है कि जैसा ऊपर निर्दिष्ट है मूर्ति-स्थापत्य मन्दिर-स्थापत्य का अग था। अत. मूर्ति-स्थापत्य की समीक्षा मे प्रासाद-वास्तु को अलग नही कर सकते। इस काल के मन्दिर स्थापत्य के छ मण्डलों पर—उडीसा-मडल, बगाल-बिहार-मडल, बुन्देलखण्ड-मण्डल, मध्यभारत का मण्डल, गुजरात-राजस्थान-मण्डल तथा तामिल मण्डल—हम पहले ही लिख चुके है (दे० प्रासाद स्थापत्य पर एक विहगम दृष्टि)। इन मन्दिरो मे असख्य मूर्ति-चित्रण तथा देव-प्रतिमाएँ देखने को मिलेगी। उन सबका यहाँ पर वर्णन असभव है। अत इस काल की कतिपय मूर्तियों के उल्लेख से तथा इस काल की मूर्तिकला की कुछ नवीन व्यवस्थाओ पर थोडा-सा प्रतिपादन अवशेष रह जाता है।

प्रतिमा-विज्ञान के पर्यालोचन मे हम देख चुके है शास्त्रीयमान् तथा रूपसयोग (आयुध, वाहन, आभूषण आदि निवेश) की पूर्ण पद्धति प्रश्रय को प्राप्त हो चुकी थी अतएव यह पद्धति इस काल की प्रतिमा-कला की विशेषता है। दूसरी विशेषता धातुजा प्रतिमाएँ हैं। उत्तर भारत की उत्तर-मध्यकालीन प्रस्तर मूर्तियाँ दो बडे भागो मे विभाजित की जा सकती हैं—एक चुनार के रवादार पत्थरो की तथा दूसरे काले पत्थरो की। इन पत्थरो से बनी हुई वैष्णव, शैव, शाक्त आदि ब्राह्मण सम्प्रदायो तथा महायानी बौद्ध सम्प्रदायो की मूर्तियाँ बनी है। साधारण पत्थरो की बनी, महोबे से प्राप्त, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर तथा सिहनाद अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ, जो इस समय लखनऊ सग्रहालय मे है, दर्शनीय है। इस काल के शिव-पार्वती के वैवाहिक दृश्य भी मिलते है और नाचते हुए गणपति की मूर्ति इस काल की प्रमुख विशेषता है। गणेश हूबहू मुदमगलदाता के रूप में अंकित हैं। पाल राजाओ के समय मे धातु-मूर्तियों के सुन्दर निदर्शन भी पाये गये हैं। इन्हीं राजाओ के आश्रय मे काले पत्थर की कला भी खूब विकसित हुई। विष्णु की एक काली

मूर्ति इसी शैली का उदाहरण है। सुदूर श्रीविजय मे शिव क्षेत्र की स्थापना हुई। वहाँ पर इस काल की मूर्तिकला अपने में बेजोड़ है। वहाँ के शिव-मदिरों पर राम और कृष्ण की लीलाएँ बड़ी ही भव्य अकित हुई हैं। प्रांबनन में शिव की दो प्रकार की आकृतियाँ मिलती है—देवता तथा ऋषि। जावा मे तेरहवी सदी तक मूर्तिकला के अनुपम नमूने मिलते हैं जिनमे प्रज्ञा-पारमिता की प्रतिमा विशेष उल्लेख्य है।

चौदहवी शताब्दी के बाद से मूर्तिकला एक प्रकार से पंगु बन गयी और ठीक भी था। यह मुसलमानी युग था। इस समय मे महाराजा कुम्भा के काल मे कीर्तिस्तम्भ बने तथा कुछ मूर्तियाँ भी बनी परन्तु उत्तर भारत इस काल में एक प्रकार से मूर्तिस्थापत्य के लिए दरिद्र ही कहा जायगा। दक्षिण मे इसके विपरीत मूर्तिकला बराबर अभ्युदय को प्राप्त होती रही। पूर्व मध्यकाल मे ही नटराज शिव का निर्माण हो चला था। यह परम्परा उत्तर-मध्यकाल तथा आगे की शताब्दियो मे भी चलती रही। नटराज शिव की प्रतिमा भारतीय स्थापत्य की एक महनीय निष्ठा है जहाँ कला धर्माश्रिता न रहकर दर्शन के दिव्यालोक से प्रद्योतित हो उठी। नटराज की मूर्तियाँ प्राय. कास्यमयी धातु-प्रतिमाएँ है। दक्षिण की अन्य कास्य-मूर्तियो मे शिव के अनेक रूपो की, शिव-भक्तो की, दुर्गा, लक्ष्मी, विष्णु, गणेश, आदि देवी-देवताओ की, तथा नृसिंह, राम, नृत्यगोपाल, वेणुगोपाल, आदि अवतार सबधिनी एव हनुमान आदि की मूर्तियाँ प्रमुख है। इन सबमे अपना-अपना निजस्व और विशेषता पायी जाती है। इनके सिवा इस काल मे दक्षिण ने धातु की उत्कृष्ट व्यक्ति-मूर्तियाँ भी बनायी। ऐसी मूर्तियो का एक बडा अच्छा उदाहरण विजयनगर के सबसे प्रतापी और सुसस्कृत राजा कृष्णदेव राय और उसकी दोनो रानियों की प्रतिमाएँ है। विजयनगर के विष्णु के बिट्ठलस्वामी नामक तथा राम के हजारा रामास्वामी नामक दो प्रमुख मदिर दाक्षिणात्य शैली के सुन्दर निदर्शन है। इन मन्दिरों मे मूर्तियो पर समस्त रामायण उत्कीर्ण है। अस्तु, दक्षिण के तत्कालीन प्रतिमा-स्थापत्य का यह स्वल्प समीक्षण है। दक्षिणी भारत मे आज भी मूर्तिकला तथा मूर्तिकार विद्यमान है। उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण की भारतीयता—रहन-सहन,आचार-विचार, परिधान-भूषा, कला एव रसास्वाद, अर्चा एवं योगाभ्यास सभी प्राचीन समय के समान अद्यापि सुरक्षित है। उत्तर भारत मे ये सभी आर्य-परम्पराएँ विशेषकर व्यक्तिगत रूप मे रह गयी है। बात यह है कि उत्तर भारत ही विशेषकर आक्रमणों एव प्रभावों का केन्द्र रहा। अतएव यहाँ का यह अभाव स्वाभाविक ही है। अस्तु, मूर्तिकला का जो हमने विहंगावलोकन किया उससे हमारे भारतीय स्थापत्य के गुणगान मे अवश्य सहायता मिली होगी, ऐसी आशा है।

षष्ठ-पटल

(चित्रकला)

विषय-प्रवेश

चित्रकला के स्मारक निदर्शनो से हम परिचित है। अजन्ता की चित्रकला विश्व के स्थापत्य मे बडे ही गौरव एवं विभूति के रूप मे मानी गयी है। प्राचीन बौद्ध परम्परा मे तो यह मानवीय कृतियाँ नही वरन् दैवी कृतियाँ हैं। अत. इनकी गौरव-गाथा का यह सुमधुर गान समीचीन ही है। भारतीय स्थापत्य के प्रमुख निदर्शनो में अजन्ता की चित्रकला एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसके स्थापत्य-पक्ष पर (अर्थात् चित्रण-प्रदर्शन के पक्ष पर) विद्वानों ने अवश्य लिखा है, परन्तु उसके शास्त्र पर —सिद्धान्तो पर उतना विस्तार नही। सत्य तो यह है कि चित्रकला का शास्त्रीय अध्ययन भारतीय विज्ञान (इन्डालोजी) मे एक प्रकार से अधूरा ही रहा। इस दृष्टिकोण से प्रथम पथप्रदर्शन डा० कुमारी स्टेला क्रैमरिश की कृति मे मिलता है। उन्होने चित्र-शास्त्र के एक अधिकृत ग्रन्थ—'विष्णुधर्मोत्तरम्', भाग तृतीय के अनुवाद से तथा अपनी भूमिका से इस पक्ष पर प्रथम पथप्रदर्शन किया, परन्तु अनुवाद होने से चित्र-शास्त्र का वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक अध्ययन अधूरा ही रहा। अथच चित्र-शास्त्र पर विष्णु-धर्मोत्तरम् के अतिरिक्त अन्य कतिपय विशिष्ट ग्रन्थों की देन का भी सुसम्बद्ध मूल्याकन तो होना ही चाहिए था। अत. इस कमी को देखकर हमने डी० लिट० थिसिस के लिए—'फाउण्डेशन्स ऐंड कैनस आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी—बोथ स्कल्पचरल ऐंड पिक्टोरियल' अर्थात् हिन्दू प्रतिमा-विज्ञान (प्रस्तरमयी प्रतिमाओ तथा चित्रमयी प्रतिमाओं के निर्माण-शास्त्र) के पृष्ठभूमियो एव शास्त्रीय सिद्धान्तो की समीक्षा नामक प्रवन्ध को लेकर इस अनुसधान एवं अध्ययन की ओर कदम बढाया। उसके फलस्वरूप 'हिन्दू कैनस आफ पेंटिंग' नामक एक ग्रन्थ अलग से प्रकाशित भी किया, यद्यपि वह हमारे 'वास्तु-शास्त्र' ग्रन्थ द्वितीय का भी कलेवर निर्माण करता है। अथच इस अनुसन्धान का एकमात्र सम्बन्ध इस डिग्री से ही न था। पाठको से अपरिचित नही कि हमने 'भारतीय-वास्तु-शास्त्र' के पूर्ण अध्ययन के लिए बहुत पहले ही एक अनुष्ठान ठाना था और उस सम्बन्ध मे हमने चार पुस्तकें यू० पी० गवर्नमेंट की सहायता से प्रकाशित की थी। यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि वास्तु-शास्त्र केवल भवन-निर्माण-कला की ही समीक्षा नही करता है, वरन् प्रतिमाओं के निर्माण पर भी प्रौढ़ प्रतिपादन करता है। प्रतिमाओ के वर्गीकरण मे हमने देखा कि द्रव्यानुरूप चित्र-प्रतिमा भारतवर्ष की अति प्राचीन स्थापत्य-परम्परा है। आगे हम देखेंगे कि चित्र-प्रतिमा देवो को विशेषकर जनार्दन विष्णु को सर्वाधिक

प्रिय है यद्यपि आगे हम यह भी देखेगे कि चित्रकला का जन्म धार्मिक न होकर लौकिक था (उषा-अनिरुद्ध-वृत्तान्त) तथापि चित्र-शास्त्र का निर्माण जो पुराणो की (विशेषकर विष्णुमहापुराण दे० परिशिष्ट खड तृतीय) देन है। अत चित्रकला का सम्बन्ध हिन्दू स्थापत्य मे अर्चाओं में से है जो कालान्तर पाकर लौकिक रूप मे भी खूब निखरी। सत्य तो यह है कि भारतीय वास्तु-शास्त्र स्थापत्य की दृष्टि से पाँच प्रमुख विषयो का वर्णन करता है—भवन-कला, प्रतिमा-कला, चित्र-कला, नगर-कला तथा यन्त्र-कला। तदनुरूप हमने अनुसन्धान को पाँच प्रमुख भागों में बाँट रखा है और यह विभाजन प्राचीन वास्तु-शास्त्रो के अनुकूल भी है, क्योकि विभिन्न वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ प्राय. इन सभी प्रमुख विषयो का वर्णन करते हैं। मानसार मे नगर-कला, भवन-कला तथा मूर्ति-कला का ही वर्णन मिलता है, परन्तु समरागणसूत्रधार मे इन उपर्युक्त पाँचों विषयो का वर्णन है। यत· समरागण के अध्ययन पर ही लेखक का समस्त वास्तु-शास्त्रीय अनुसन्धान प्रतिष्ठित हुआ। अतः इन सभी विषयो की पूर्ण मीमासा करने के लिए हमने यह अति कठिन विषय चुना जिससे भारतीय विज्ञान की कुछ नवीन सेवा करने का अवसर मिले। हम जानते ही है कि वास्तु-शास्त्र के ग्रन्थ सस्कृत के पारिभाषिक प्रबन्ध से वास्तु-शास्त्र (नगर-रचना एव भवन-रचना), शिल्प-शास्त्र (मूर्ति-रचना) तथा चित्र-शास्त्र (यथानाम चित्र-रचना) के सिद्धान्तो का विवेचन करते है। अत· यह चित्र-स्थापत्य चित्र-शास्त्र का विषय है।

चित्र-शास्त्र पर विष्णुधर्मोत्तरम् के अतिरिक्त और भी कतिपय ग्रन्थ हैं जिनमे समरागणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, अभिलषितार्थचिन्तामणि (अथवा मानसोल्लास) तथा शिल्परत्न विशेष प्रमुख है। इनके अतिरिक्त चित्र-शास्त्र का एक अति प्राचीन एव अधिकृत ग्रन्थ नग्नजित का 'चित्र-लक्षण' भी है, जो अप्राप्य है, उसका केवल तिब्बती भाषा मे अनुवाद बताया जाता है और उसी से उस ग्रन्थ का अनुमान लगाया गया है। वासवराज का 'शिवतत्त्वरत्नाकर' एक अर्वाचीन ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है और प्राचीन ग्रन्थो में नारदशिल्प (दे० चित्रशाला लक्षण-कथन अ० ६६) तथा सारस्वत चित्रकर्म-शास्त्र (दे० तन्जौर लाइब्रेरी की पाण्डुलिपियाँ) भी चित्र-शास्त्र के सिद्धान्तों का उद्घाटन करते है। अतः चित्रकला के साथ-साथ चित्र-शास्त्रों की भी परम्परा हमारे देश मे पल्लवित हुई जिनमें चित्रकला के शास्त्रीय सिद्धान्तो का विश्लेषण एव उद्घाटन पाया जाता है और इसका पूर्ण प्रभाव हमारे प्राचीन कवियों के काव्यों मे भी (दे० कालिदास, बाणभट्ट, श्रीहर्ष आदि महाकवियों की रचनाएँ) प्रतिबिम्बित होता है। अत· चित्र-शास्त्र की समीक्षा अथवा मीमांसा कितनी महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है यह समझ सकते हैं।

चित्र-शास्त्र की मीमांसा अथवा उसके वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक ढंग से समीक्षण के पूर्व हमने इन विभिन्न चित्र-ग्रन्थों का अध्ययन कर एक नवीन चित्र-लक्षण का निर्माण किया और उसी के आधार पर अपना वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जो 'हिन्दू कैनंस आफ पेंटिंग' तथा सस्कृत के 'चित्र-लक्षणों' में द्रष्टव्य है। चित्र-शास्त्र और चित्रकला (शास्त्रीय सिद्धान्त एव कर्मकौशल) दोनों के समन्वयार्थ हमने भारतीय स्थापत्य मे तथा वाङ्मय में (विशेषकर कालिदास आदि के काव्यो मे) प्रत्यक्ष चित्रकला-विभूति के इतिहास पर भी एक प्रयत्न किया है जो हमारे अग्रेजी के ग्रन्थ मे द्रष्टव्य है। अस्तु, भारतीय स्थापत्य नामक इस ग्रन्थ मे स्थापत्य की पूर्णता के लिए चित्र-शास्त्र एव चित्रकला का अध्ययन भी एक अनिवार्य अग है। इसी दृष्टि से हम इस पटल मे चित्र-स्थापत्य की समीक्षा करने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। हम इस अध्ययन मे पूर्वोक्त मौलिक ग्रन्थो के आधार पर अपना अध्ययन-निर्माण करेंगे। इसी अध्ययन का नाम चित्र-लक्षण है। भारतीय चित्र-शास्त्रीय परम्परा के अनुसार चित्र-शास्त्र को हम निम्न विषयतालिका मे अवतीर्ण कर सकते है —

१—चित्रप्रशसा
२—चित्रोत्पत्ति
३—चित्र नृत्य, गीत च
४—षडग चित्रम्
५—चित्रप्रकाराणि
६—चित्रोद्देशा चित्रविषया. वा
७—चित्रागानि
८—भूमिबन्धन चित्रभित्तिर्वा
९—लेप्यकर्म
१०—अण्डकवर्तनम्
११—चित्रकर्मणि देवादीनां शरीरप्रमाणादि—

अ—शरीरप्रमाणम्
ब—हसादि-पचपुरुष-स्त्रीलक्षणम्
स—चित्रकर्मणि मूर्त्यवयव-प्रमाणम्
य—चित्रकर्मण्यगप्रत्यगमानेन स्त्रीणा निर्माणम्
र—तेनैव सामान्यमानवर्णनम्
ल—चित्रकर्मणि देवतानेत्राद्यगवर्णनम्

१२–नानावर्णानुगता शुभाकारविहाराः ऋज्वागतसाचीकृताद्यनेकभेदोपसहिताश्चित्रकर्मणो नवभेदाः

१३–चित्रे देवनृपर्षिगन्धर्वदैत्यदानवादीनां सपरिच्छदानां निर्माणदेशविशेषानुरूपासनशयनयानवेशसरित्सागरवाहनशैलशिखरसद्वीपभूमण्डलशखपद्मनिधिचन्द्रनक्षत्ररात्रिसन्ध्यादिनिर्माणम्

१४–विलेखा-लक्षणम्

१५–वर्तिका

१६–चित्रलेखन-विधिः

१७–अ–वर्तनाविधाः ब–पट्टपत्रवर्तनादिप्रकारश्च

१८–चित्रपत्रोत्पत्तिः

१९–कण्टकलक्षणम्

२०–चित्रकर्मणि वर्णभेद.—शुद्धवर्णमिश्रवर्णादयश्च स्वर्णप्रयोगोऽपि

२१–चित्रेषु रसोन्मेष.—रस–चित्राणि

२२–चित्रदोषा.

२३–चित्रगुणा

२४–चित्रकार·

अस्तु, चित्र-लक्षण के इन्ही विषयो को लेकर आगे हम इस पटल का निर्माण करेगे। प्रथम अध्याय मे चित्र-शास्त्र के ग्रन्थो के साथ-साथ चित्र के औपोद्घातिक प्रवचन जैसे उद्देश्य, उदय, विस्तार, गुण एव प्रकार का वर्णन करेगे। पुन· दूसरे अध्याय मे चित्रोपकरण एव चित्र की मान-व्यवस्था पर भी प्रतिपादन करेगे। तीसरे अध्याय मे चित्र-विन्यास एव चित्र-रचना की प्रक्रिया पर विवेचन करेगे। चौथे मे चित्रकला तथा रसपरिपाक की अन्वीक्षा के साथ-साथ चित्र की विभिन्न शैलियो एव चित्रकार पर भी कुछ निर्देश करेगे। अन्त में भारतीय चित्रकला का पुरातत्वीय एव काव्यों के परिशीलन से एक समन्वयात्मक इतिहास प्रस्तुत करेगे। पुनः परिशिष्ट में अवशेष का गुफन करेगे।

१

चित्र-ग्रन्थ तथा चित्र पर औपोद्घातिक प्रवचन

(उद्देश्य, उदय, विस्तार, गुण एवं प्रकार)

चित्र-ग्रन्थ—विषय-प्रवेश मे हमने चित्र-शास्त्रो के प्राप्त ग्रन्थो का कुछ सकेत किया, तदनुरूप यहाँ पर चित्र-शास्त्र के सिद्धान्तो की मीमासा करने के प्रथम हम उन ग्रन्थो की अवतारणा करना चाहते हैं। तदनुरूप सर्वप्रथम विष्णुधर्मोत्तरम् की महती देन का मूल्याकन करना है।

विष्णुधर्मोत्तरम्—चित्र-शास्त्र का यह सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। प्रोफेसर क्रैमरिश ने इसे सातवी शताब्दी की कृति माना है, परन्तु यह मत निर्भ्रान्त नही है। विष्णुधर्मोत्तरम् विष्णुपुराण का ही अग होने के कारण अर्वाचीन कृति नही मानी जा सकती। किसी भी पुराण के लिए ईसवी शताब्दी से बहुत दूर जाना चाहिए तभी तो वह पुराण है। यद्यपि पुराणो का सम्पादन बहुत लोग गुप्तकालीन मानते है, परन्तु विष्णुपुराण की प्राचीन तिथि मे सन्देह नही। १८ पुराणो मे यह एक अति महत्त्वपूर्ण पुराण है और इस पुराण की नाना परम्पराओ का हमारे देश की सामाजिक, सास्कृतिक एव लोकधर्मिणी सस्थाओ मे पूर्ण प्रभाव है और ये सस्थाएँ ईसवीय शतक से काफी प्राचीन है। अत. यह पुराण इतना अर्वाचीन नही माना जा सकता। यत: इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय चित्र-शास्त्र है अतः इन ग्रन्थो के ऐतिहासिक क्रम (क्रनालाजी) पर हमारा विशेष अभिनिवेश नही। हमारा इतना ही प्रतिपाद्य है कि यह ग्रन्थ चित्र-शास्त्र का सर्वप्रतिष्ठित एव एक प्रकार से सर्वप्राचीन ग्रन्थ है। इसमे चित्र-शास्त्र के जिन नाना विषयो का वर्णन किया गया है उसकी तालिका हमारे ग्रन्थ 'हिन्दू कैनस आफ हिन्दू पेटिंग' पृ० ११-१२ मे पठनीय है। इस तालिका के परिशीलन से जिन प्रमुख चित्र-विषयो का इस ग्रन्थ मे समुद्घाटन हुआ है उसे देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि इस ग्रन्थ मे चित्र-शास्त्र के प्राय. सभी विषयो का प्रतिपादन है। चित्रकला के प्रधानतया दो पक्ष हैं—एक टेकनीक तथा दूसरे कन्वेशन्स अर्थात् कला-पक्ष और चित्रण-पक्ष। इन दोनो पर ही प्रौढ़ प्रवचन है। भारतीय स्थापत्य में मान, एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त माना गया है, तदनुरूप चित्र-स्थापत्य मे भी नाना मानो, मानवर्गों—स्थानो, आसनो, मुद्राओ आदि—की कल्पना की गयी है। इन सभी विषयो का पूर्ण वर्णन

हमे इस ग्रन्थ मे प्राप्त होता है। चित्र के चित्रण पक्ष पर कौन-कौन से कन्वेन्शन्स अथवा चित्र-परम्पराएँ अनुकार्य है अर्थात् आकाश-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, ऋतु-चित्रण, यक्ष-चित्रण, विद्याधर-चित्रण अथवा देव-चित्रण या मानव-चित्रण कैसे करना चाहिए इन सभी विषयो पर सामग्री प्राप्त होती है। चित्रो के कौन-कौन प्रकार थे तथा चित्रों के कौन-कौन से उपकरण थे, चित्र का नृत्य तथा नाट्य से अथवा गीत से कैसा सम्बन्ध था यह विषय भी इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित है।

समरांगणसूत्रधार—प्राप्त वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो मे समरांगण की चित्र-मीमासा सर्वाधिक पारिभाषिक, पूर्ण वैज्ञानिक एव परिष्कृत है। इस ग्रन्थ के विभिन्न चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तो की मीमांसा का विस्तार न कर केवल निम्नलिखित विषय-सूची से उनका आभास मिल सकता है। आगे विभिन्न स्तम्भो में हम इन विषयों की विशेष विस्तारमयी मीमासा करेंगे ही, अतः पुनरावृत्ति अथवा पिष्टपेषण अनुचित है—

विषयाः	अध्यायाः	विषयाः	अध्यायाः
१—चित्रोद्देश.	७१	६—दोषगुणनिरूपणम्	७८
२—भूमिबन्धनम्	७२	७—ऋज्वागतादिस्थानलक्षणम्	७९
३—लेप्यकर्मादिकम्	७३	८—वैष्णवादिस्थानलक्षणम्	८०
४—अण्डकप्रमाणम्	७४	९—पंचपुरुषस्त्रीलक्षणम्	८१
५—मानोत्पत्ति.	७५	१०—रसदृष्टिलक्षणम्	८१
		११—पताकादिचतुष्षष्टिहस्तलक्षणम्	८३

अपराजितपृच्छा—यह ग्रन्थ चित्र-शास्त्र के प्रतिपादन मे कुछ नयी देन भी देता है। इसमे मध्यकालीन चित्र-स्थापत्य का भी पूर्ण प्रभाव प्रतिबिम्बित है। पत्रजाति, पशु एव पक्षी चित्रण के सनातन से प्रमुख विषय रहे यह नही कहा जा सकता। प्रकृति, पशु, एव पक्षियो का यह लौकिक चित्रण मध्यकालीन परम्परा है। समरागण के समान यह भी मध्यकालीन कृति है, यद्यपि यह समरागण का परवर्ती है। इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता पत्र एवं कटक के अनुरूप नागर, द्राविड, बेसर, कलिग, यामुन तथा व्यन्तर—इन छ. चित्र-शैलियो का प्रतिपादन है। विशेष समीक्षा न कर उसकी निम्न विषय-सूची से हम इस ग्रन्थ की देन का मूल्यांकन कर सकते हैं —

सूत्रांकाः	विषयाः	सूत्रांकाः	विषयाः
२२४.	चित्रसद्भावनिर्णयः		एकतालादिषोडशतालान्ताः
२२५.	परमाण्वादिकल्पितं रूपमानम्		प्रतिमाः
	तालमानम्		अष्टधातुमयादिप्रतिमा-लक्षणम्

२२६.	स्वच्छन्दभैरवावतारः	२३०.	सरस्वत्यर्चन गुरुशिष्यसंबन्ध-
	स्वच्छन्दभैरवस्यायुधाना		लक्षण च
	क्रमवर्णनम्	२३१.	पट्टपत्रवर्तनानिर्णयः
	तस्य स्वरूपवर्णनम्	२३२.	लेपकर्मविधिः
	एकविंशतितालमानायास्तस्याः	२३३.	रूपालङ्कारसंयुत
	मूर्तेरूर्ध्वमानम्		चित्रकर्मकथनम्
	तत्तिर्यङ् मानकथनम्		षोडशव्यालानि-सिंह-गज-
	तत्पूजामन्त्रविधानम्		अश्व-नरादिक-वृषभ-मेष-शुक-
२२७.	चित्रपत्रोत्पत्तिनिर्णय		सूकर-महिष-मूषक-कीट-
२२८.	पत्रजातिकण्टकभेदजीवसूत्रनिर्णयः		वानर-हंस-कुक्कुट-मयूर-
	जातिक्रमच्छन्दतोऽष्टकण्टका.		त्रिपल्ली-सर्पव्यालानीति
	कलि-कलिक-व्यामिश्र-चित्र-	२३४.	स्त्रीपुरुषलक्षणम्
	कौशल-व्यावर्त-व्यावृत्त-सुभग-	२३७.	तालवादित्रलक्षणम्
	भगचित्रका इति		ताल
	अष्टविधकण्टकानामाकृतयो		वाद्यप्रकारलक्षणम्
	जातयश्च	२३८.	सप्तस्वरा.
	जीवसूत्रम्		रागरागिण्य.
	पत्राकारादिविशेषलक्षणम्		चतुर्दशगीतदोषा.
२२९.	देशजातिकुलस्थानवर्णभेदवर्णनम्	२३९.	ताण्डवादिनत्यलक्षणम्

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा मानसोल्लास—इन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि चालुक्य नरेश राजा सोमेश्वरदेव ने इनका संकलन किया था। यह राजा १२वी शताब्दी मे उत्पन्न हुआ था। ये दोनो ग्रन्थ वास्तव मे एक ही है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन चित्र-रचना की पराकाष्ठा का प्रतिबिम्बक है। इसमे चित्रकला के अंगों एवं उपांगो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन है। चित्र-लेप तथा चित्र-लेप की लेखनियों पर इसका प्रतिपादन बडा ही प्रौढ़ है। चित्र-सूत्रो तथा चित्र-रेखाओ के पारिभाषिक प्रतिपादन से यह कला अपनी शास्त्रीय पृष्ठभूमि पर कितनी वृद्धिगत हो चुकी थी यह इस ग्रन्थ से अविकल प्रत्यक्ष है। इसकी चित्र-मान-योजना इसका सर्वाधिक वैशिष्ट्य है। इन ग्रन्थों का कर्ता महाराज सोमेश्वरदेव स्वयं एक उद्भट चित्रकार थे। उन्होंने अपने को चित्र-विद्या-विरंचि कहा है। निम्न विषय-तालिका से इस ग्रन्थ की मौलिक देन का हम मूल्यांकन कर सकते है --

अभिलषितार्थचिन्तामणिः		प्रसंगादालेख्यकर्म
लेपद्रव्यम्	तिर्यक्सूत्रम्	ओष्ठौ
वर्तिका	शीर्ष	सृक्किणी
लेखनी	केशा.	ग्रीवा
आकारलेखनम्	ललाटम्	जत्रुणी
शुद्धवर्णा	भ्रूलेखा	वक्षस्थलम्
मिश्रवर्णा	नासामूलम्	मध्यभाग.
सर्वचित्र-	नेत्रे	नाभि
सामान्यविधि	कपोलौ	श्रोणि.
ऋज्वादि	कण्टौ	कटि.
स्थाननिरूपणम्	नासाग्रम्	वरित्रम्
ब्रह्मसूत्रम्	गोजी	जठरम्
मुष्कौ	कृकाटिका,	वश.
दन्ता ,,	कक्षामूलम्	पृष्ठभाग
हनुमण्डलम्	भुजौ	ऋजुवृत्ति
कर्णम् ,,	हस्तलेख-आयुलेखादि-	अर्धर्जुकवृत्ति.
कुकुन्दरे	विन्यास	साचिवृत्ति
स्फिचा	हस्तांगुलि-	द्वयर्धाक्षिवृत्ति
ऊरु	परिमाणम्	केशवादिचतुर्विंशति-
जानुनी	अगुलिपर्वाणि	मूर्तिलक्षणम् (विस्तारादलम्)
जंघान्तरम्	हस्तनखा	हयचित्रलक्षणम्
गुल्फा	ऋजुस्थानलक्षणम्	गजचित्रलक्षणम्
पादौ	साचिस्थानलक्षणम्	
पादाङ्गुलयः	भित्तिस्थानलक्षणम्	विद्धादयश्चित्रभेदा ।
पादनखा	प्रकोष्ठा	
	मणिबन्ध	

इस तालिका के परिशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ग्रन्थ मे मानव तथा देव की शरीर रचना के ऊपर जो सूक्ष्मानिसूक्ष्म उद्‌घाटन हुआ है वह अन्यत्र अप्राप्य है ।

मानसोल्लास—यद्यपि मानसोल्लास तथा अभिलपितार्थचिन्तामणि दोनो एक प्रकार से एक ही है तथापि कुछ हेर-फेर भी है । इसमे चित्रकार-स्वरूप चित्रभित्ति, [illegible], मिश्रवर्ण, चित्रवर्ण, पक्षसूत्रलक्षण, ताललक्षण, तिर्यङ्मानलक्षण तथा

सामान्यचित्रप्रक्रिया आदि पर विशेष ध्यान दिया गया है। मानसोल्लास की चित्र-मान-योजना बडी प्रशस्त एव प्रौढ है यह हम पहले ही लिख चुके हैं।

शिल्प-रत्न—शिल्प-रत्न मे चित्रकला का साहचर्य मानव-वास्तु अथवा भवन-वास्तु (जिसमे देव-वास्तु भी सम्मिलित किया जा सकता है) से विशेष है। शिल्प-रत्न के दो भाग हैं—प्रथम मे भवन-स्थापत्य का वर्णन है, तथा दूसरे भाग में प्रतिमा-स्थापत्य का वर्णन है। चित्र-शास्त्र पर अन्तिम अध्याय में (दे० ४६ वाँ) विवेचन है। इस अध्याय मे चित्र-शास्त्र एव चित्रकला के प्राय सभी सिद्धान्तो एव कौशल पर प्रतिपादन है। मध्यभारत की चित्रकला मे अतिरंजना और अलकृति का पूर्ण उदय हो चुका था। चित्रो को अधिक आकर्षक एव मनोरम बनाने के लिए स्वर्णलेखा-विधि भी अपनायी जाने लगी थी। यह ग्रन्थ १६वी शताब्दी की कृति है। अत चित्रकला के उन मध्यकालीन उत्थानो का इस ग्रन्थ मे पूर्ण आभास प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ मे चित्र के क्षेत्र (स्कोप) अथवा विषय तथा अविषय दोनो पर ही सकेत है। चित्र के प्रकार, चित्र के आधार, चित्रवर्ण, चित्र-लेखनविधि तथा लेखनी, मानादि एव मुद्रादि के साथ-साथ वर्णो एव विन्यासो, सभी पर सुन्दर प्रविवेचन है।

अन्य ग्रन्थ—इन पाँच ग्रन्थो को हम प्राचीन चित्र-शास्त्र के प्रतिष्ठापक ग्रन्थो के रूप मे प्रकल्पित कर सकते हैं। ओर भी बहुत से चित्र-ग्रन्थो की परम्परा मात्र शेष रह गयी है। वे या तो अनुपलब्ध है या अर्धलब्ध। पीछे सारस्वत-चित्र-कर्मशास्त्र का सकेत किया जा चुका है। इसकी साधारण समीक्षा मे इतना ही प्रतिपाद्य है कि इसमे चित्र से तात्पर्य केवल पेंटिंग से नही है। प्रतिमा-वर्गीकरण मे हमने देखा है कि चित्र का पूर्ण प्रतिमा कहते हैं। अर्ध-चित्र को यथानाम अर्धाकृति, भित्ति आदि आधारो पर चित्रण तथा चित्राभास पेंटिंग माना गया है। यह वर्गीकरण इस ग्रन्थ को भी स्वीकार है। अतः इस ग्रन्थ में मूर्तिकला और चित्रकला दोनो पर प्रतिपादन है। इसके चालीसवें अध्याय मे वर्णसस्कार पर विशद् विवेचन है। **नारद-शिल्प** मे चित्र-शास्त्र पर कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ के ६६ वे अध्याय—'*चित्रशाला-लक्षण कथन*'—मे चित्रशाला का इतना सुन्दर वर्णन है कि वह अन्यत्र अप्राप्य है। इस ग्रन्थ के परिशीलन से यह भी सूचित होता है कि चित्र-विद्या के आचार्यो की इस देश मे एक बहुत लम्बी परम्परा थी। उशीनर नामक एक प्राचीन आचार्य के मत का उद्धरण देकर नारद ने चित्रशाला का न्यास नगर के केन्द्र मे बताया है। प्राचीन भारत के नगर-विकास मे हमने कलाओ के विकास का आनुषगिक क्रम देखा। इन कलाओ मे चित्रकला प्रधान थी। अच्छे-अच्छे महानगरो के केन्द्र मे चित्रशालाओ के निवेश की परम्परा थी। चित्रशाला का भवन माण्डलिक अथवा दाण्डिकाकृति निर्मेय है। यह भवन बड़ा

विशाल होता था और उसमें एक ही हाल नही होता था। इसमें नाना उपशालाओं का न्यास आवश्यक था। यह भवन मण्डप की आकृति मे बनता था जिसके ऊपर वितान (डोम) तथा कलश के स्थापन से वह भवन बडा ही भव्य प्रतीत होता था। चित्र-शाला मे बडे-बड़े शीशो का विन्यास भी आवश्यक था। चित्रशाला के सम्मुख एक गोपुर के समान भव्याकृति के द्वारा उसकी भूषा को सम्पन्न किया जाता था। देवों, गन्धर्वों, किन्नरो, महापुरुषो आदि सभी के चित्रो से यह शाला भूतल पर स्वर्ग की सृष्टि करती थी। इसके भित्ति-चित्रण, भूमि-चित्रण तथा अन्यान्य उपकरण एव सम्भार विशेष निवेश्य होते थे। इस ग्रन्थ के ७१वे अध्याय 'चित्रालंकृतिरचनाविधिकथन' मे चित्रो के उद्देश्य मे उशीनर का मत देकर नारद ने सौदर्य को भी स्थान दिया है। नारद ने, चित्रो के जो प्रकार अथवा प्रभेद हम अन्य ग्रन्थो से प्राप्त करते है, उनसे विलक्षण दिये है। नारद के अनुसार चित्रो के तीन प्रभेद हैं—भौम, कुड्यक तथा उर्ध्वक। पुनः इनको शाश्वतक तथा तात्कालिक इन दो प्रधान विभाजनो मे विभाजित किया है। इसके अतिरिक्त नारद ने रेखाओ पर भी बडा सुन्दर विवेचन किया है—अविषम रेखा तथा अविरुद्धसूत्रपात। नारद का यह प्रथम आदेश है कि चित्र प्रारम्भ करने के प्रथम भित्तियो पर सुधालेप आवश्यक है तथा पटों पर अथवा पट्टो पर भी ओषधि लेप उचित है।

उद्देश्य—चित्र-शास्त्र के ग्रन्थो की इस अत्यल्प समीक्षा के उपरान्त अब हमें चित्रकला के नाना सिद्धान्तो एव अन्यान्य प्रक्रियाओ एव परम्पराओ (टेकनीक ऐंड कन्वेंशंस) पर ध्यान देना है, परन्तु सर्वप्रथम हमे यह देखना है कि चित्र से हम यहाँ पर क्या समझते है ? भारतीय स्थापत्य-शास्त्र के अनुसार चित्र, जैसा हमने देखा, पूर्ण प्रतिमा है जिसका निर्माण किसी सुदृढ द्रव्य, जैसे पाषाण, धातु अथवा काष्ठ या लौह मे सम्पन्न हुआ हो। और पेंटिंग वास्तव मे चित्र न होकर चित्राभास है। भारतीयो के चित्र और चित्राभास के इस विभाजन मे विश्व का वास्तव मे रहस्य अन्तर्हित है। चित्र ब्रह्म है तथा चित्राभास ससार है। वैसे तो ब्रह्म निर्गुण तथा निर्विकार है, वह सच्चिदानन्दमय है और निराकार भी। परन्तु विश्व की सृष्टि में मानव ने रूप और वर्ण के द्वारा नाना कल्पनाएँ की और निर्मितियां भी। अतएव चित्र और चित्राभास की इस महिमा का हम भारतीय अध्यात्म के उन्मेष से अवश्य मूल्याकन कर सकते है। अपराजितपृच्छा में इस सम्बन्ध मे कुछ निर्देश है। उसका उद्घाटन हम आगे करेंगे। यहाँ पर हमारा निष्कर्ष यह है कि इस चित्र शब्द मे प्रचलन के अनुरूप हमारा यहाँ अभिप्राय पेंटिंग से है जिसे हम आलेख्य के नाम से भी सदैव पुकारते रहे है। अत वर्ण-विन्यास के द्वारा एव मूर्ति-निर्माणकला अथवा प्रतिमा-विधान के **आधार-भौतिक** सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए पट, पट्ट

अथवा कुड्य को आधार मानकर जिस कला का हम चित्रण करते है उसकी यहाँ पर संज्ञा चित्र अथवा आलेख्य है। चित्र को इस परिभाषा के अनन्तर हमें यह देखना है कि चित्र का उद्देश्य क्या है ? भूतल पर इस कला का क्यों जन्म हुआ ? हमने विष्णु-धर्मोत्तर को चित्र-शास्त्र का प्रथम अधिकृत ग्रन्थ माना है, उसमे तो लिखा है—

कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम् ।
मङ्गल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥

अत चित्र न केवल कलाओ मे प्रवर ही है बल्कि धर्म, काम, अर्थ एवं मोक्ष—इन चारो पुरुषार्थों का भी दाता है। अतः चित्र का इससे बडा और कौन उद्देश्य हो सकता है और चित्र की इससे बडी प्रशसा कौन हो सकती है। समरागणसूत्रधार मे चित्र की इसी महत्ता का प्रख्यापन है—'चित्र हि सर्वशिल्पाना मुख लोकस्य च प्रियम्'—स० सू० ७१। चित्र का यह सामान्य उद्देश्य कहा जा सकता है परन्तु चित्र का विशिष्ट उद्देश्य प्रतिमा-पूजा है। हमने पीछे सकेत किया है कि जनार्दन विष्णु को चित्रजा प्रतिमा सर्वाधिक प्रिय है। अतएव हमने भी अपनी भक्ति की तुच्छ भेंट मे अपने चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ को विष्णु के चरणो मे समर्पण किया है (दे० पृ० ३ हि० कै० आ० पे०) यह परम्परा हयशीर्ष पचरात्र के परिशीलन से विशेष बोधगम्य बन सकती है। उनका प्रवचन है—

'यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेप्ये चित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन लेप्यचित्रगतं यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रे यस्मात् स्फुटं स्थितः ।
अतः सन्निधिमायाति चित्रजासु जनार्दनः ॥
तस्माच्चित्रार्चने पुण्यं स्मृतं शतगुणं बुधैः ।
चित्रस्थं पुण्डरीकाक्षं सविलासं सविभ्रमम् ॥
दृष्ट्वा विमुच्यते पापैर्जन्मकोटिसुसञ्चितैः ।
तस्माच्छुभार्थिभिर्धीरैः महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थः पूजनीयस्तु देवो नारायणो प्रभुः ॥

अत. इसके परिशीलन से चित्रजा प्रतिमाओ की एक प्रतिष्ठित परम्परा का प्रौढ़ प्रामाण्य प्राप्त होता है। हम जानते ही है कि पुरी का जगन्नाथ मन्दिर हिन्दू मन्दिरों में बडा प्राचीन है। वहाँ जनार्दन भगवान् विष्णु की चित्र-प्रतिमाओ का सनातन से बड़ा महत्त्व-पूर्ण प्रचार है। जगन्नाथ के चित्रपटो को हम वहाँ का सर्वप्रशस्त प्रसाद मानते है

और यात्री उनको अपने साथ लाते हैं। हमने चित्र शब्द के निर्वचन पर चित्र की उस महान् भारतीय कल्पना पर कुछ संकेत किया है। तदनुरूप विष्णुधर्मोत्तर में स्पष्ट प्रतिपादन है कि (दे० 'वज्र और मार्कण्डेय संवाद'—चित्र-सूत्र) ब्रह्म अरूप है अतः उसको रूप किस प्रकार से प्रदान करना चाहिए। चित्र के द्वारा यह सम्भव है। अरूप से अर्थात् प्रकृति से रूपोद्भावना अर्थात् विकृति प्रकल्पन चित्र का मर्म है। ब्रह्म प्रकृति है और यह सम्पूर्ण विश्व उसकी विकृति। कलाकार मानव सदैव से इस प्रयास में सचेष्ट है। भारतीय कला का (जिसमें चित्रकला एक प्रमुख कला है) यह सर्वप्रधान एवं सर्वप्रशस्त उद्देश्य है। 'अपराजितपृच्छा' में (दे० २२४ वाँ सूत्र) इसी मर्म का बड़ा ही सुन्दर उद्घाटन है। वास्तव में यह ग्रन्थ शाम्भव दर्शन से विशेष प्रभावित है। इसका कथन है कि यह सम्पूर्ण चराचर त्रैलोक्य चित्रमूलोद्भव है। चित्र और विश्व वास्तव में एक-दूसरे के बिम्बए व प्रतिबिम्ब हैं। जिस प्रकार से कूप में जल और जल में कूप विद्यमान है उसी प्रकार यह विश्व चित्रमय है और विश्व में यह सब चित्र है। निम्न प्रवचन को स्थानाभाव होने पर भी बिना उद्धृत किये नहीं रहा जाता—

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्य - स्वेदजाण्डजरायुजाः।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागराः॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवाः सर्वे संसारद्वीपसागराः॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा वै चित्ररूपकाः।
तनौ च नखकेशादिचित्ररूपमिवाम्भसात्॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीदं परात्परम्।
आत्मवद्वै सर्वमिदं ब्रह्मतेजो नु पश्यताम्॥
पश्यन्ति भावरूपश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः॥
विश्वं विश्वावतारश्च त्वनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदिचित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा॥
शिवशक्तेर्यथारूपं संसारे सृष्टिकोद्भवः।
चित्ररूपमिदं सर्वं दिनं रात्रिस्तथैव च॥

निमिषश्च पलं घट्यो यामः पक्षक एव च ।
मासाश्च ऋतवश्चैव कालः संवत्सरादिकः ।।
चित्ररूपमिदं सर्वं संवत्स रयुगादिकम् ।
कल्पादिकोद्भवं सर्वं सृष्ट्याद्यं सर्वकर्मणाम् ।।
ब्रह्माण्डादि समुत्पत्तौ रचितारचिता तथा ।
तेषां चित्रमिदं ज्ञेयं नानात्वं चित्रकर्मणाम् ।।
ब्रह्माण्डादिगणाः सर्वे तद्रूपाः पिण्डमध्यगाः ।
आत्मा चात्मस्वरूपेण चित्रवत् सृष्टिकर्मणि ।।
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम् ।
चित्रावतारे भावं च विधातुर्भाववर्णतः ।।
आत्मानं च शिवं पश्येद् यद्वयग्जलचन्द्रमाः ।
तद्वच्चित्रमयं सर्वं शिवशक्तिमयं परम् ।।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षं चित्रमय तथा ।
शिवशक्त्यालयं चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ।।
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममार्गतः ।
लीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ।।
चित्रावताररूपं तु कथितं च परात्परम् ।
यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्थावरजंगमम् ।।
देवो देवी शिवः शक्तिः व्याप्तं यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीवमध्ये च जीवकम् ।।
कूपो जले जलं कूपे विधिपर्य्यायतस्तथा ।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ।।

चित्रोदय—पीछे चित्र के जन्म के सम्बन्ध मे हमने उषा-अनिरुद्ध के वृतान्त पर निर्देश के द्वारा यह सकेत किया था कि चित्र का प्रथम उदय अथवा जन्म लौकिक था। उसकी नग्नजित के 'चित्र-लक्षण', के एक कथानक से भी पुष्टि होती है। भयजित नामक एक धर्मात्मा राजा था। उसके राज्य मे सभी प्रसन्न थे। एक दिन एक ब्राह्मण राजदरबार मे आया और उसने कहा—'राजन्, आपके राज्य मे सत्य मे पापाचार है अन्यथा मेरा पुत्र अकाल मृत्यु से कैसे मरता। कृपया मेरा पुत्र उस लोक से लौटा लाइए'। राजा ने यम से उस पुत्र को लौटा देने की प्रार्थना की। यम की अस्वीकृति से दोनो में युद्ध हुआ और यम की हार हुई। इतने मे ब्रह्माजी आ गये और उन्होंने राजा से कहा—'राजन्, जीवन एव मृत्यु तो कर्मवश है। यम का उनसे

क्या सम्बन्ध ? तुम यदि इस लडके को पुनरुज्जीवित ही करना चाहते हो तो इसका एक चित्र खीचो और मैं उसमे जान डाल देता हूँ। राजा ने वैसा ही किया और पुत्र जी उठा। पुन: ब्रह्मा ने राजा से कहा—'राजन्, यत तुमने इन नग्न प्रेतो को जीता है अतः तुम आज से 'नग्नजित' के नाम से विश्रुत होगे और तुम मेरी कृपा से इस ब्राह्मण बालक का चित्र बना सकोगे। यह वास्तव मे संसार की प्रथम चित्र-रचना है। अब तुम देवस्थपति विश्वकर्मा महाराज के पास जाओ और चित्रविद्या की शिक्षा लो।

विष्णुधर्मोत्तरम् का चित्रोत्पत्ति के विषय में दूसरा ही आख्यान है जिसके अनुसार इसी भौतिक किंवा लौकिक आवश्यकता के अनुरूप इस कला का आविष्कार हुआ। मार्कण्डेय का कथन है कि चित्र-शास्त्र का निर्माण स्वय नारायण ने किया। कथा है कि नर तथा नारायण नाम के दो ऋषि बदरिकाश्रम मे तपश्चर्या कर रहे थे। अप्सराओ ने आकर उनके तपभंग का बीडा उठाया। कामातुरा वे अप्सराएँ आश्रमाजिर मे विचरण कर रही थी। नारायण ऋषि को उनके मनोगत भावो को ताडने मे देर न लगी। सहकार (आम, जो बडा कामोद्दीपक माना जाता है) का रस लेकर उन्होने एक बडी ही सुन्दर अप्सरा की रचना कर डाली। नारायण ने चित्र के द्वारा (चित्रेण) यह रचना की थी। वह अप्सरा बडी ही मोहक निकली। उस मोहिनी माया को देखकर सारी की सारी अप्सराएँ अपने सौन्दर्य पर व्रीडित हो गयी और स्वर्ग लौट गयी। नारायण के द्वारा रची गयी इस अप्सरा का नाम ऊर्वशी पडा जो सब अप्सराओ मे सुन्दरी प्रसिद्ध हो गयी। नारायण ऋषि ने चित्र का जो यह अद्भुत कार्य कर दिखाया वह यही नही समाप्त होता, उन्होने इस विद्या को विश्वकर्मा को सौंपा जिससे वह इस विद्या को आगे बढावे—'ग्राहयामास स तदा विश्वकर्माणमच्युतम्'।

इन दोनो वृत्तान्तो से चित्रोत्पत्ति में पूर्व सकेतित लौकिक आवश्यकता ही विद्यमान है परन्तु इन वृत्तान्तों से चित्रकला के उदय पर भी क्या कोई आभास मिला? दोनो वृत्तान्तो से यह प्रकट है कि मानव आकार का खीचना चित्र का परम रहस्य है। मानव, देव (अथवा दानव एव अन्य देवयोनि-विशेष) तथा पशु, पक्षी एव अन्य चित्र-विचित्र ससार का केन्द्र-बिन्दु है। मानव के चित्रण में ये सभी जगत् उपकारक है अतः उनका भी चित्रण चित्रकला का विषय बना। अथच इस चित्रण मे कलाकार की कल्पना एव उसका अनुभव दोनों ने ही उसका साथ दिया। ये दोनो घटक सभी कलाओ के आवश्यक अग है। काव्य का जन्म बिना प्रतिभा अथवा शक्ति के नही हो सकता तो उसकी बहन चित्रकला का जन्म भी बिना कल्पना एवं अनुभव के कैसे हो सकता है ?

चित्र-जन्म के सम्बन्ध मे 'विष्णुधर्मोत्तर' मे एक बडा ही विलक्षण प्रवचन है। चित्रोत्पत्ति में नृत्य-शास्त्र ने बडी सहायता प्रदान की। मार्कण्डेय वज्र से कहते हैं—

'राजन् ! बिना नृत्य-शास्त्र के चित्र-सूत्र समझना बडा कठिन है' । बात यह है नृत्य तथा चित्र दोनों मे ही त्रैलोक्य की अनुकृति है । चित्र के विषय-विवेचन मे हम आगे देखेंगे कि वास्तव मे तीनों भुवनो के जगम तथा स्थावर सभी चित्र के विषय हैं। चित्र मे ब्रह्मा और नारायण के समान हम मानव वास्तविकता नही उत्पन्न कर सकते परन्तु अनुकृति अवश्य ला सकते हैं । वह अनुकृति ऐसी भी हो सकती है कि वास्तव के पूर्ण निकट हो । विधाता ने चित्र को चित्र ही रखा परन्तु मानव चित्राभास से आगे नही बढ़ा । अत. पेंटिंग का नाम चित्राभास है और प्रतिमा चित्र है क्योकि प्रतिमा-प्रतिष्ठाप्य है । चित्र तो एकमात्र नृत्य अथवा नाट्य के समान दृश्य है । अथच चित्र-कला और नृत्यकला के इस पारस्परिक घनिष्ठ जन्यजनक भाव की कथा मे वास्तविक रहस्य यह है कि जिस प्रकार नृत्यकला मे हस्त-मुद्राओ से हम अपने समस्त भावो को प्रकाशित करते हैं उसी प्रकार चित्रकार अपने हस्तकौशल से चित्र मे समस्त भावो को पुराण पढ देता है । कुशल चित्रकारो के चित्रों को देखकर चित्र की चेतना प्रत्यक्ष रूप धारण कर लेती है । अतः इन कथानकों से यह निष्कर्ष निकलता है कि चित्रकला भी कविता के समान एक मनोरम कला है जिसमें कलाकार की कल्पना, उसका अनुभव एव उसकी भावप्रकाशन-क्षमता अर्थात् कौशल ये तीनो मिलकर चित्र के जन्म मे सहायक हुए जो सनातन से उसके अनिवार्य अग अथवा गुण बने रहे ।

चित्रकला का विकास—चित्रकला के विकास के इतिहास पर हम आगे एक अध्याय की अवतारणा करेंगे । यहाँ पर चित्रोत्पत्ति के आनुषगिक तीन दृष्टिकोणो से हमें चित्रोदय की कहानी कहना है, अर्थात् चित्रकला, चित्र-शास्त्र और चित्र-सेवन की प्राचीनता । जहाँ तक चित्रकला के जन्म का प्रश्न है वह ऊपर के विवेचन से थोड़ा सा अवश्य स्पष्ट हो गया होगा । चित्र-शास्त्र के जन्म का भी हम कुछ न कुछ उद्घाटन कर चुके है और यह भी संकेत कर चुके हैं कि चित्र-शास्त्र के आचार्यो की बहुत लम्बी परम्परा है जिनमें उशीनर, नारद आदि ऋषि-मुनि भी आपतित होते है । अब रही चित्र-सेवन की परम्परा । प्राचीन भारत के सास्कृतिक इतिहास से इस दृष्टिकोण पर भी विकास का पुष्ट प्रमाण प्राप्त होता है । मौर्यकालीन एव बौद्धभारतके नाना सन्दर्भो से यह इतिहास प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है कि इस देश के नागरिको के जीवन मे चित्र का सेवन एक महत्त्व-पूर्ण अग था । वास्तव में नगरो के उदय मे कलाओ का उदय भी आनुषंगिक रहा । चित्रकला किसी भी नगर की शोभा कही गयी है । वह नागरिकों का मनोरजन तो थी ही साथ ही साथ नागरिकता की भी वह पोषिका रही । वात्स्यायन के कामसूत्र के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक नागरिक के घर मे चित्रलेखा और चित्रवर्णों का करण्डक विद्यमान था । बौद्धभारत (दे० पालि जातक) मे भी चित्रकला के विकास पर पूर्ण

आभास प्राप्त होता है। महाउम्मग जातक के संदर्भों से चित्ररचना के एवं चित्रशालाओं के नाना निर्देश एवं निदर्शन प्राप्त होते हैं। कोशल नरेश राजा प्रसेनजित के चित्रागार की कहानी से हम परिचित ही है। उदयन की चित्र-कथा से भी हम अपरिचित नही। संस्कृत के प्राचीन काव्यो एव नाटको के परिशीलन से भी हमारा यह निष्कर्ष पूर्णरूप से प्रतिष्ठित होता है। आगे हम इसकी विशेष समीक्षा करेगे (दे० 'भारतीय चित्रकला के विकास पर एक विहगम दृष्टि')।

चित्र-विषय—चित्र-विषय अथवा चित्रोद्देश्य से हमारा तात्पर्य पेंटिंग के स्कोप से है। अपराजितपृच्छा के अवतरण से हमने चित्र के विषय मे धरती और आकाश दोनो के सम्पूर्ण वस्तुजात को देखा। समरागणसूत्रधार के अनुसार चित्र का विषय चित्र के आधार पर आधारित है। साथ ही साथ चित्र का विषय चित्ररचना की योग्यता पर भी आश्रित है। अतएव इस ग्रन्थ के ७१वे अध्याय मे चित्र का सम्भव पट, पट्ट तथा कुड्य पर प्रतिपादित है, साथ ही साथ वर्तियाँ, कृतबन्ध, लेखामान, वर्णव्यतिक्रम, वर्तनाक्रम, मानोन्मानविधि, ऋज्वागतादिनवस्थानविधि, हस्त-मुद्राएँ, दिव्य-मानुष की आकृतियाँ एव रूपसस्थान वृक्ष, गुल्म, लता, बल्ली एवं वीरुधो के चित्रण, शूर, वीर, राजा, धनी, ब्राह्मण, शूद्र, क्रूरकर्मा, मानी, रगोपजीवी आदि का भी चित्रण, अथच रानियो, सतियो के रूपलक्षणनैपत्थ्य आदि चित्रण; पशुओ एव पक्षियो (जैसे मकर, व्याल, सिंह) आदि के चित्रण; दिन ओर रात्रि, ऋतु, देव, पचभूत, जलचर, नभचर, भूचर सभी के चित्रण चित्रोद्देश्य है अथवा चित्र के विषय है। इसी महा-दृष्टि से अपराजितपृच्छा ने भी (दे० २३३वाँ सूत्र) चित्र के विषय का चित्रण किया है। शिल्परत्न ने तो चित्र के विषय मे जो लिखा वह निम्न श्लोक से पूर्ण स्पष्ट है —

जंगमा स्थावरा वा सन्त भुवनत्रये।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते॥

इस ग्रन्थ की एक दूसरी विशेषता यह है कि इसमे चित्राविषय पर भी सकेत किया है। चित्राविषयो मे सग्राम, मरण, दुःख, देवासुर काथाएँ, नग्न-तपस्विलीला (केवल मानपालय मे) आदि चित्राविषय हैं। आगम, वेद, पुराण आदि के द्वारा सम्मत, रम्य एव शुभफलप्रद विषयो का ही चित्रण उचित है।

चित्रांग एवं चित्र-गुण—चित्रागो पर निम्नोद्धृत कारिका से बढकर अन्य दूसरा प्रवचन अप्राप्य है। यह कामसूत्र के लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार यशोधर का उद्धरण है —

रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्यं भावयोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंग इति चित्रं षडंगकम्॥

परन्तु चित्र के इस षगड को हम चित्रदर्शक अथवा चित्रप्रशसक एक शब्द मे द्रष्टा की दृष्टि से ले सकते हैं परन्तु चित्रकार की दृष्टि से समरागण ने चित्र के अगो मे वर्तिका, भूमिबन्धन, लेख्य, रेखाकर्म, वर्णकर्म, वर्तनाक्रम (आगे के दो भ्रष्ट है)—इस अष्टांग का निर्देश किया है।

यतः इन अगों पर ही हम चित्रशास्त्र के नाना सिद्धान्तो की समीक्षा करेंगे अतः इन पर यहाँ पर विशेष मीमासा अप्रासगिक है। अब अन्त मे इस अध्याय मे चित्र-प्रकारों की पर्यालोचना करना है।

चित्र-प्रकार—विष्णुधर्मोत्तर में सत्य, वैणिक, नागर, तथा मिश्र—चतुर्विध चित्र के प्रकार बताये गये है। सत्य-चित्र की परिभाषा मे "यत्किचिल्लोकसादृश्य" प्रवचन किया गया है अर्थात् ससार के अथवा विश्व के जिन नाना पदार्थों को अथवा वस्तुओ को हम जैसा देखते हैं वैसा ही अकन कर देते हैं तो ऐसे चित्र को सत्यचित्र कहा जायेगा। आजकल की पश्चिमी परिभाषा मे सत्यचित्र को अब्लाग फ्रेम की सज्ञा दे सकते है। वैणिक शब्द किन्ही-किन्ही के मत मे वीणा से बना है परन्तु डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की मीमासा से सहमत नही। वैणिक को विष्णुधर्मोत्तर ने दीर्घांग, सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरस्र सुसम्पूर्ण आदि विशेषणों से व्याख्या की। ये विशेषण किसी भी चित्र की विशेषताएँ हो सकते है। अतः वैणिक शब्द विष्णुधर्मोत्तर मे अव्याख्यात रहा और डा० राघवन की समीक्षा में भी अस्पष्ट रहा (दे० हि० कै० आ० पे० पृ० ३१-३३)। यहाँ पर विद्वानो के विवादो से प्रयोजन नही, यहाँ तो प्राचीन चित्र-शास्त्र के नाना सिद्धान्तो का दिग्दर्शन मात्र अभिप्रेत है। चूँकि यह अध्ययन चित्र-शास्त्र का एक प्रारम्भिक अध्ययन है अतः यहाँ पर मतो और मतान्तरो की सम्यक समीक्षा स्थानाभाव से नही की जा सकती। वि० ध० के अनुसार वैणिक को हम स्क्वायर फ्रेम चित्र मानकर आगे चलते है। नागर यथानाम अलकृति प्रधान नागरिक चित्रण है और ऐसे चित्र राउड फ्रेम्स मे ही विशेष आकर्षक होते हैं। मिश्र यथार्थतः मिश्र है।

मानसोल्लास तथा अभिलषितार्थचिन्तामणि मे चित्र प्रकारो का विभाजन एवं उनकी व्याख्या विशेष प्रशस्त एवं पारिभाषिक है। इन ग्रन्थो में पचविध चित्र का उल्लेख है—विद्ध, अविद्ध, भाव, रस तथा धूली। विद्ध विष्णुधर्मोत्तर का सत्य है। वि० ध० में सत्य में लोक-सादृश्य तथा यहाँ पर दर्पण-सादृश्य इस चित्र का गुण माना गया है। अविद्ध विद्ध का बिलकुल उल्टा नही है। अविद्ध से तात्पर्य रेखा-चित्रो से है। भाव-चित्रो से रस-चित्रों का बोध होता है जो शिल्परत्न की भाषा में रस-चित्र की सज्ञा से पुकारा गया है। इस चित्र मे शृगारादि भावो का प्रदर्शन होता है। मानसोल्लास का रस-चित्र वास्तव में द्रव-चित्र है तथा धूली से तात्पर्य उन चित्रो से है जिनमे वर्णों

की तीक्ष्णता अभिप्रेत है। शिल्परत्न में चित्र के प्रकारो को तीन प्रकारो मे ही सीमित रखा है —रसचित्र, धूलीचित्र तथा चित्र। जैसा पूर्व संकेत किया गया है यह चित्र मानसोल्लास का भाव-चित्र है और जहाँ पर शृंगार आदि रसो की अभिव्यक्ति आवश्यक है। धूली-चित्र मानसोल्लास से मिलता-जुलता है तथा शिल्परत्न का चित्र मानसोल्लास का विद्ध तथा वि० ध० का सत्य है।

समरागणसूत्रधार मे चित्र-प्रकारों (जैसा हमने पहले ही सकेत किया) को चित्राधारो तक ही सीमित रखा। यतः चित्राधार तीन हैं —पटबन्धन, पट्टबन्धन तथा कुड्यबन्धन। अतः चित्र के प्रकार भी तीन हैं, पटचित्र, पट्टचित्र तथा कुड्यचित्र। समरागण की इस प्रकार की विधा पर सुप्रभेदागम का प्रभाव प्रतीत होता है। इस आगम के निम्न निर्वचन से यह आकूत बोधगम्य है —

"पटे, पटे, कुड्ये वा चित्र-सम्भवः'

अस्तु, प्राचीन शिल्पशास्त्रो के निम्न उद्धरणों से प्राचीन चित्र-प्रकारो का सहज एव सुबोधगम्य इतिहास आँख के सामने नाचने लगता है (ऊपर इन्ही शास्त्रो के आधार पर हम व्याख्या कर ही चुके है) —

'सत्यं च वैणिकं चैव नागरं मिश्रमेव च।
चित्रं चतुर्विधं प्रोक्तं तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्॥
यत्किञ्चल्लोकसादृश्यं चित्र तत्सत्यमुच्यते।
दीर्घांगसप्रमाणं च सुकुमारं सुभूमिकम्॥
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं न दीर्घं नोल्वणाकृतिम्।
प्रमाणं स्थानलम्भाढ्यं वैणिकं सन्निगद्यते॥
दृढोपचितसर्वांगे वर्तुलं नघनोल्वणम्।
चित्रं तं नागरं ज्ञेयं स्वल्पमाल्यविभूषणम्॥
चित्रमिश्रं समाख्यातं सामान्यं मनुजोत्तम।
असंख्यातानि सत्वावि शक्यन्ते नैव भाषितुम्।
तत्तद्रूपानुसारेण लेखनीयानि कोविदैः॥
सादृश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत्।
तच्चित्रं विद्धमित्याहुर्विश्वकर्मादयो बुधाः॥
आकस्मिके लिखामीति यदा तूदृश्य लिख्यते।
आकारमात्रसंपत्त्वे तदविद्धमिति स्मृतम्॥
शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते।
भावचित्रं तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम्॥

सप्रधैर्वर्णकैर्लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः ।
चूर्णितैर्वर्णकैर्लेख्यं धूलिचित्रं विदुर्बुधाः ।।
सुप्रमाणं तथा विद्धमविद्धं भावचित्रकम् ।
रसधूलिगतं प्रोक्तं मानसोल्लासपुस्तके ।।
निर्मितं चित्रलक्ष्येदं चित्रं लोचनहारकम् ।
भूलोकमल्लदेवेन चित्रविद्याविरिञ्चिना ।।मा० उ०
चित्रं लक्षणसंयुक्तं लेखयित्वा महीपतिः ।
तच्चित्रं तु त्रिधा ज्ञेयं तस्य भेदो धुनोच्यते ।
सर्वांगदृश्यकरणं चित्रमित्यभिधीयते ।।
भित्त्यादौ लग्नभावेनाप्यर्धं यत्र प्रदृश्यते ।
तदर्धचित्रमित्युक्तं यत्तत तेषां विलेखनम् ।।
चित्राभासमिति ख्यातं पूर्वैः शिल्पविशारदैः ।
रसचित्रं तथा धूलिचित्रं चित्रमिति त्रिधा ।
एतान्यनलवर्णानि चूर्णयित्वा पृथक् पृथक् ।।
एतैश्चूर्णैः स्थण्डिले रम्ये क्षणिकानि विलेपयेत् ।
धूलीचित्रमिदं ख्यातं चित्रकारैः पुरातनैः ।।
सादृश्यं दृश्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ।
तच्चित्रमिति विख्यातं नालमाकारमात्रकम् ।।
श्रृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।।

२

चित्रोपकरण

(वार्तिका, भूमिबन्ध, लेप्य एवं मान)

समरागण के चित्रोपकरण की अष्टाग सूची पर हमने पीछे संकेत किया है। तदनुसार उनमे से कतिपय अगो की यहाँ पर समीक्षा करनी है। सर्वप्रथम चित्रकर्म की परमोपयोगिनी लेखनी तथा वर्तिका की मीमासा आवश्यक है।

वर्तिका—वर्तिका लेखनी से समरागण मे निराली है। वर्तिका पेंटिग का ब्रश नही समझना चाहिए। ब्रश विलेखा है। उसकी दूसरी सज्ञा लेखनी है। जहाँ वर्तिका का सम्बन्ध भूमिबन्ध अर्थात् चित्राधार (बैकग्राउड) से है वहाँ विलेखा या लेखनी का सम्बन्ध वर्ण (कलर) से है। अतः वर्तिका को हम चित्रोपकरण मानते है और विलेखा अथवा लेखनी को वर्णोपकरण। आगे के अध्याय 'चित्र-रचना' मे हम लेखनी अथवा विलेखा के लक्षण पर विशेष ध्यान देगे। यहाँ पर चित्र-रचना के प्रथम अग वर्तिका एव भूमिबन्धन एव तदानुषगिक चित्रमान की भी समीक्षा करेगे।

ऊपर की मीमासा से यद्यपि वर्तिका और विलेखा मे भेद बताया गया है परन्तु मोटी दृष्टि से वर्तिका भी एक प्रकार का मोटा ब्रश है। किन्ही-किन्ही विद्वानो ने वर्तिका को वर्तना समझा है (दे० डा० मोतीचन्द—'दि टेकनीक आफ मुगल पेंटिग' पृ०४५)। वर्तना वास्तव मे क्रिया है जिसका सम्बन्ध रेखा-विन्यास से है जो वर्णो के द्वारा सम्पन्न होती है। वर्तिका को हम शलाका के रूप में समझ सकते हैं। सयुत्तनिकाय (द्वितीय ५), दशकुमार चरित तथा प्रसन्न राघव मे वर्तिका का निर्देश हुआ है। मुगल चित्रकार अपने भव्य चित्रो के निर्माण मे चित्राधार (अर्थात् भूमिबन्धन) के निर्माण में इमली के कोयले का प्रयोग करते थे यह मध्यकालीन परम्परा इसी वर्तिका पर सम्भवत आधारित है। भूमिबन्धनोपयोगिनी शलाका का नाम प्राचीन स्थापत्य मे वर्तिका की सज्ञा में पुकारा गया है। समरागण इसी तथ्य का उद्घाटन करता है तथा मानसोल्लास मे भी इसका पोषण प्राप्त होता है—

कज्जलं भक्तसिक्थेन मृदित्वा कणिकाकृतिम् ।
वर्ति कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत् ।।

वर्तिका का यह लक्षण समरागण के लक्षण से मिलता-जुलता है (दे० स० सू० अ० ७२)

अर्थात् 'अब मैं वर्तिका का लक्षण तथा भूमिबन्धन की क्रिया कहता हूँ। जहाँ तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसके लिए गुल्मान्तर, शुभक्षेत्र, पद्मिनी, सरितानट, पार्वत्य-कक्ष, वापिका, काननान्तर आदि प्रशस्त स्थानों से अथवा ऐसे वृक्षों की मूलों से जहाँ पर भौम-लवणपिण्ड प्राप्त हो सकें वर्तिकोपयोगिनी मृत्तिका संग्रह करना चाहिए। इन मिट्टियों की विशेषता यह है कि उनमे कटुशर्करा (छोटे छोटे सिकता अथवा पाषाण-कण) होती है अतः ऐसी ही मृत्तिका वर्तिकाबन्धन मे शुभ कही गयी है। उसको पीस कर अर्थात् कूटछानकर कल्क करना चाहिए। कल्क से तात्पर्य लेवीगेटेड पाउडर है। पुन. विभिन्न ऋतुओ के अनुसार इसमे भात (शालिभक्त) का माण मिलाना चाहिए—ग्रीष्म ऋतु मे मृत्तिका का १,७; शीत में, १,५; शरद मे, १,६; वर्षा मे १,४, भाग विहित है। शालिभक्त के इस भाग से वर्तिकाबन्धन मे दार्ढ्य प्राप्त होता है। पुनः इस वर्तिका के प्रमाण के सम्बन्ध में यह निर्देश है कि शिक्षा काल मे (एपरेंटिशशिप) इसका निर्माण दो अगुल मे होना चाहिए परन्तु पट अथवा पट्ट के भूमिबन्धन मे तत्रोचित वर्णो एवं रेखाओ के लिए इसका प्रमाण चार अगुल एव कुथ रेखाओ के लिए केवल ३ अगुल विहित है'।

अस्तु, इस प्रवचन से यह निष्कर्ष निकला कि चित्र-रचना मे तीन प्रकार की लेखनियाँ आवश्यक होती है—वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी। वर्तिका चित्र के आधार अर्थात् भूमिबन्धन (बैकग्राउड) की रचना करते हैं एव तूलिका तथा लेखनी चित्रोचित वर्णों एव रेखाओ का विन्यास करती है। इस दृष्टि से वर्तिका आउटलाइन का उपकरण है तथा तूलिका एवं लेखनी चित्र की अभिव्यक्ति के साधन। तूलिका और लेखनी पर यथाप्रतिज्ञात आगे हम चित्र-रचना (दे० वर्णविन्यास) मे यथावसर प्रतिपादन करेंगे। अब यहाँ पर भूमिबन्धन के सम्बन्ध मे विशेष वक्तव्य है।

भूमिबन्धन—भूमिबन्धन चित्रकार की प्रथम योग्यता है। जिस प्रकार स्थापत्य के अष्टांग मे वास्तु-पद-विन्यास स्थपति की प्रथम योग्यता मानी गयी है उसी प्रकार चित्ररचना में चित्राधार भूमिबन्धन चित्रकार का प्रथम हस्त-विन्यास है। चित्र का आधार चित्र के प्रकार पर आश्रित है। समरांगण तथा सुप्रभेदागम की दिशा मे हमने देखा कि चित्र के कलानुरूप तीन ही व्यावहारिक प्रकार हैं—पटचित्र, पट्टचित्र तथा कुड्यचित्र। अतएव समरागण में कुड्यभूमिबन्धन, पट्टभूमिबन्धन एव पटभूमिबन्धन—इन तीन प्रकार के भूमिबन्धनो पर वर्णन है। प्रथम से तात्पर्य उस चित्राधार से है जो दीवालो पर चित्रविन्यास के लिए बनाया जाता था। दूसरे का सम्बन्ध बोर्ड के चित्रण से है, तीसरे से कपड़ों पर निर्माप्य अथवा निर्मेय चित्रो के आधार का अर्थ समझना चाहिए।

समरागण के चित्राध्यायो के परिशीलन से यह आभास मिलता है कि यह ग्रन्थ स्थापत्य का एक प्रकार का हैंडबुक अथवा मैनुवल था क्योकि यह ग्रन्थ स्थापत्य के परिष्कृत एव परम्परा में प्रमाणित एव दृढ़ीकृत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन नही करता परन्तु यत्र-तत्र कलाभिलाषी नवसिखियो अर्थात् नवीन जिज्ञासु कलाशिष्यों के लिए सहायक आदेशो एवं शिक्षाओ पर प्रवचन करता है। अतएव इन तीन प्रधान चित्राधारो की निर्माण-प्रक्रिया के उद्‌घाटन के साथ-साथ शिक्षिका-भूमिबन्धन पर भी प्रवचन करता है। यह आभास निम्नलिखित निर्देश से प्रकट है —

कथवा शिक्षकाभूमौ खरबन्धनमाचरेत् ।

अर्थात् जो भूमिबन्धन कुशल चित्रकार के लिए वाछित है उसको थोडा-सा और तीक्ष्ण अथवा दृढ करके जिज्ञासु कलाशिष्य के लिए प्रतिपादित है। अस्तु, अब हम देखें कि यह भूमिबन्धन किस प्रकार से प्रारम्भ करना चाहिए ? प्रतिमा-निर्माण के समान चित्र-रचना भी एक नैष्ठिक क्रिया थी। केवल निष्ठावान् चित्रकारो को चित्रकर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार हमने देखा वास्तु-निर्माण मे (विशेषकर प्रासाद-निर्माण मे) यजमान, पुरोहित एव स्थपति तीनो की सयुक्त दीक्षा एव निष्ठा से स्थापत्यकर्म निष्पन्न होता था उसी प्रकार चित्र-रचना के लिए भी किसी भर्ता (अर्थात् पैट्रन—सरक्षक) की आवश्यकता अनिवार्य मानी गयी है। बिना संरक्षक के चित्रकर्म भला कब पनपा। भूखा रहकर चितेरा केवल प्रेमी ही हो सकता है अथवा योगी। परन्तु चित्रकला तो भौतिक ऐश्वर्य एव वृद्धि तथा विलास का उल्लास माना गया है। अतः सरक्षक भर्ता के बिना चित्रकर्म का विकास असम्भाव्य है। अतएव इसी उदार दृष्टि से समरागण का आदेश है कि किसी शुभ मुहूर्त मे कर्ता (अर्थात् चित्रकार), भर्ता (संरक्षक स्वामी या यजमान) तथा शिक्षक (आचार्य, गुरु) इन तीनो को पहले उपवास का व्रत करना चाहिए और वर्तिका की (जो भूमिबन्धन की लेखनी है) पूजा करनी चाहिए। पुन व्रीही आदि के सदृश बीजो का चूर्ण (कल्क) निर्माण करना चाहिए। पुनः इसका पिण्ड बनाकर धूप मे सुखाना चाहिए। फिर इसको आग पर रखकर उबालना चाहिए और इसकी भूसी आदि के प्रक्षालन के उपरान्त पूरे सात दिन तक रगड़ना चाहिए। इसी को खरबन्धन का नाम दिया गया है। वर्तिका पर इसके पाउडर के द्वारा रोमकूर्चक अर्थात् बालो के ब्रश से प्लास्टर करना चाहिए तभी यह वर्तिका भूमिबन्धन का उपकरण बन पाती है।

कुड्य-भूमिबन्धन—कुड्य-भूमिबन्धन से तात्पर्य, जैसा पीछे निर्देश किया जा चुका है, कुड्य चित्रों के लिए आवश्यक आधार के निर्माण से है। अर्थात् दीवालो पर पहले किस प्रकार से पलस्तर करना चाहिए जिससे वह चित्र के लिए उचित बन सके। सर्वप्रथम

दीवाल को सम बनाना चाहिए अर्थात् इधर-उधर की टेढ़-मेढ अथवा धब्बों आदि को मिटाकर उसे पूर्णरूप से लेविल मे ला देना चाहिए। पुनः एक ऐसा लेप बनाना चाहिए जिससे उसका पलस्तर कर उसको श्लक्ष्ण बना देना चाहिए। इस लेप के निर्माण मे स्नुही-वास्तुक, कूष्माड, कुद्दाली अपामार्ग अथवा इक्षु का क्षीर अथवा रस लगाकर सात दिन तक ऐसे ही रखना चाहिए। पुनः शिशपा, आसन, निम्ब, त्रिफला, व्याधिघात अथवा कुटज आदि किसी वृक्ष से रस निकाल कर लाना चाहिए तथा पूर्वोक्त रस मे मिलाकर इस मिश्रण से दीवाल पर लेप करना चाहिए। यह एक प्रकार का दीवाल का छिडकाव है। वास्तविक लेप तो चिकनी मिट्टी, बालू तथा ककुभ, माष, शाल्मली तथा श्रीफल के रस से निर्मित होता है। इन तीनो के मिश्रित लेप से गजचर्म की गहराई में दीवाल का प्लास्टर करना चाहिए। पुन इन दो प्रक्रियाओ के बाद तीसरी प्रक्रिया में कडिशर्करा (पत्थर के चूर्ण) से इसे एक तीसरा लेप देना चाहिए जिससे चित्र के नाना अग एव विन्यास तथा वर्ण ऊपर निखर उठे।

भारतीय स्थापत्य में अजन्ता और बाघ पर जिस चित्रकारी के हम दर्शन करते हैं उनकी यदि हम सूक्ष्मेक्षिका से समीक्षा करे तो पता लगेगा कि इन स्थानों के कुड्य-चित्रणों मे जिस भूमिबन्धन का निर्माण किया गया है उसमे मृत्तिका, गोवर, तथा कडिशर्करा के मिश्रण का प्रमाण प्राप्त होता है। इसी प्रकार तजौर के भुवनविख्यात बृहदीश्वर महादेव के मन्दिर पर जिन चित्रणों को हम देखते है उनमे भी सिकता एव सुधा के मिश्रण से भूमिबन्धन बनाया गया होगा। यह कृति मध्यकालीन है और अजन्ता तथा बाघ की कृतियाँ कितनी प्राचीन है हम जानते ही है। आगे चलकर मुगल दरबार तथा जयपुर आदि कलाकेन्द्रो में जिस चित्रकला का विकास हुआ उसमे भी इसी प्रकार के भूमिबन्धन की परम्परा अपनायी गयी प्रतीत होती है। हाँ, देशकाल की मर्यादा से इसमें परिवर्तन, सस्करण एव परिवर्धन भी किया गया है। हैवेल ने अपने इडियन स्कल्पचर एड पेटिग में इस तथ्य का उद्घाटन किया है। विशेष विवरणो के लिए डा० मोतीचन्द का मुगल पेटिग द्रष्टव्य है।

पट्टभूमिबन्धन—इस भूमिबन्धन के सम्बन्ध में समरांगण का निर्देश है कि विम्बा-बीजो को लाकर और उनका मल निकाल कर रखे अथवा शालितडुलो को लाकर रखे। इन दोनो में से एक को पीस कर बर्तन मे पकाये और इस पाकलेप से पट अर्थात् काष्ठ-पटिका पर लेपन करे तो पट्टभूमिबन्धन पट्टचित्रो के लायक बन जाता है। इस लेप के बाद कडिशर्करा आदि की सामान्य व्यवस्था यहाँ पर भी प्रयोज्य है।

पटभूमिबन्धन—समरागण का प्रवचन है —

'यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिबन्धः पटे पि सः।'

तथापि पटभूमिबन्धन के सम्बन्ध में थोडी सी समीक्षा आवश्यक है। प्राचीन भारत में पट-चित्रों की सुदीर्घ परम्परा में इस देश की जन-आस्था एव धार्मिक तृप्ति के भी दर्शन होते है। यह वैष्णव परम्परा है। वह मध्यकालीन कही जा सकती है। परन्तु वैष्णवपरम्परा से भी प्राचीन बौद्धो की परम्परा है जिसमे चित्रकला के जो निर्देश मिलते है (दे० सयुक्त निकाय द्वि० १०१-१०२; तृ० १५२; विशुद्धिमग्ग ५३५); महावंश (२७वाँ, १८); मञ्जुश्रीभूलकल्प आदि) उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि भवन-निर्माण-कला के समान उस सुदूर अतीत मे चित्रकला भी चरमोत्कर्ष को प्राप्त थी। चित्रो के नाना प्रकारों पर तो इन ग्रन्थो मे निर्देश है ही परन्तु पट-चित्रो का सर्वाधिक प्रचार था—ऐसा निष्कर्ष निकलता है। वात्स्यायन के कामसूत्र मे भी पटचित्रो का निर्देश है (दे० आख्यानपट) उससे तो पटचित्रो के द्वारा पूरी की पूरी कहानी कहने का एक मनो-रजक आविष्कार देखने को मिलता है। कैनवास पेटिंग का एक सुदृढप्रमाण भास के दूतवाक्य मे मिलता है जहाँ पर दुर्योधन एक पटचित्र का वर्णन करता है जिसमे द्रौपदी के केशाकर्षण का प्रदर्शन किया गया था। माधवाचार्य की पचदशी के परिशीलन से तो पटचित्रो के भूमिबन्धन पर बडा ही वैज्ञानिक प्रकाश पडता है। धौत घट्टित, लाछित तथा रजित इन चार पदो मे पदचित्रो को और उसके भूमिबन्धन की पराकाष्ठा देखने को मिलती है।

प्रश्न यह है कि इन पटचित्रों मे उनका भूमिबन्धन कैसे निर्मापित होता था। बगाल और उडीसा के पटचित्रो के अर्वाचीन निदर्शन जो देखने को मिलते है उनमे अवश्य प्राचीन परम्परा ही निहित है। उन चित्रो के भूमिबन्धन से ऐसा प्रतीत होता है कि पटचित्रो के पटा-धारो को गोमय मिश्रित मृत्तिका से लेप किया जाता था। मृत्तिका सूखने पर उसका घर्षण होता था जिससे वह चिकना हो जाय। पटचित्र-विधान मे यह एक प्रकार की सामान्य प्रक्रिया अथवा टेकनीक समझ पडती है। वैष्णव धर्म एव दर्शन मे वल्लभाचार्य की देन एव प्रेरणाओं से हम परिचित ही है। राजस्थान (उदयपुर) मे श्रीनाथद्वार वैष्णवो का प्रधान तीर्थ है जहाँ पर हजारो तीर्थयात्री आते-जाते रहते है। इस देश में कला के विकास मे धर्म ने बडा सहयोग दिया। श्रीनाथद्वार वैष्णव चित्रकला का एक प्रकार से प्रमुख केन्द्र रहा है। कृष्ण के पटचित्रो का वहाँ बहुत प्राचीन समय से प्रचार रहा। भक्तगण इन चित्रो को अवश्य खरीदते थे और ले जाते थे। वैष्णव मन्दिरो मे कृष्णलीला के नाना पटचित्रो का प्रदर्शन एक सामान्य प्रचार था। इन चित्रो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि बगाल और उडीसा के भूमिबन्धन से यहाँ परिपाटी कुछ विलक्षण है। गोमय मिश्रित मृत्तिका लेप के स्थान पर सफेदा की पुताई से सम्भवतः इन पटचित्रो के कैनवास का निर्माण होता था। वैष्णवो की पिछवई (अर्थात् कृष्णलीला के पटीय

चित्रण) का अनुकरण गुजरात में भी देखा गया जहाँ पर जैन तीर्थंकरो के जीवन-वृत्तान्तो के ये पटचित्रण बड़े रोचक एव उद्भावक बने।

भूमिबन्धन की यह व्याख्या तथा उसके नाना निदर्शनों की अवतारणा से इस विषय का हमे कुछ-न-कुछ अवश्य ज्ञान हो गया परन्तु इस विषय पर थोडी-सी और मीमासा आवश्यक है। अभी तक हमने जिस भूमिबन्धन की प्रक्रिया अथवा टेकनीक की मीमासा की उसका आधार समरांगणसूत्रधार वास्तुशास्त्र था परन्तु अभिलषितार्थचिन्तामणि अथवा मानसोल्लास एव शिल्परत्न में इस पद्धति का जो समुद्घाटन हुआ है उसपर भी कुछ दृष्टिपात आवश्यक है। मानसोल्लास मे जिस चित्रभित्ति के निर्माण के लिए लेप वर्णित है वह एक प्रकार से वज्रलेप की सज्ञा से सकीर्तित किया गया है। भित्तिचित्रो (म्यूरलपेंटिग्स) के लेखन के पूर्व हमे दीवाल को सफेदी से अच्छी तरह से पोत देना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि अब उसमे कोई क्षत तो नही रह गया। पुन: इसकी पालिश करने के लिए एक लेप का निर्माण बताया गया है। इस लेप की विधि यह है : भैंस का चर्म लाकर उसे पानी भिगो देना चाहिए और जब वह मक्खन के समान चिकनी हो जाय तो उसके शलाकाओ के समान टुकडे करना चाहिए। पुन उनको सुखाकर वज्रलेप के साथ दीवाल के लेप मे उपयोग करना चाहिए। इस वज्रलेप के निर्माण मे मृत्तिका, सिकता, शखचूर्ण, नीलपर्वतोद्भव धातु विशेष आदि के आनुषगिक योग एव मिश्रण विहित हैं। वज्रलेप के सम्बन्ध मे दूसरा निर्देश इस ग्रन्थ मे यह है कि इसको एक पात्र मे रखकर आग पर इतना गरम करना चाहिए कि यह एक प्रकार से द्रव्य बन जाय। पुन: इसमें शुक्लामृत्तिका पुट देकर दीवाल के लेप मे प्रयोग करना चाहिए। पहले लेप के बाद जब वह सूख जाय तो दूसरा करना चाहिए। पुन. इसी प्रकार तीसरा। भित्तिचित्रो के भूमिबन्धन की यह प्रक्रिया कितनी वैज्ञानिक एव सुदृढ है यह हम समझ सकते हैं।

शिल्परत्न का प्रवचन इससे नही मिलता। भित्तिचित्रों के भूमिबन्धन के निर्माण मे इसकी प्रक्रिया की मुख्य विशेषता यह है कि शखक्षार से प्राप्त एक प्रकार की 'सुधा' को गुल-तोय तथा मुद्गक्वाथ के साथ मिलाकर सिकता का मिश्रण करना चाहिए। पुन सूखे केलो का चूर्ण भी मिलाना चाहिए और कालाग्नि मे इन सबको तपाकर द्रव कर लेना चाहिए। ऐसी दशा मे इसको एक द्रोणीपात्र मे रखकर सूखने के लिए तीन महीने तक रखे रहना चाहिए। सूख जाने पर शिला पर शिला के द्वारा पीसना चाहिए और ऊपर से गुलजल डालते रहना चाहिए। जबतक नवनीत के समान चिकना न हो जाय तबतक ऐसा ही करते रहना चाहिए। तब कही नारिकेल निर्मित ब्रश से इस लेप का भित्ति पर लेप करना चाहिए। शिल्परत्न की भाषा मे इस लेप की सज्ञा 'सुधालेप' है। शिल्परत्न का एक महत्त्व-पूर्ण निर्देश यह है कि इस सुधालेप का फलक-चित्रो मे प्रयोग कदापि नही करना चाहिए।

ऊपर की मीमांसा से चित्रभित्तियों (पेंटिंग बैकग्राउंड) अथवा चित्राधारों के तीन ही प्रकार प्राप्त हुए परन्तु कालान्तर पाकर इन प्रकारो का विपुल विकास हो गया। जब चित्र का विषय भुवन के सभी पदार्थजात हो सकते हैं तो चित्राधार की यह अति-सीमित संख्या कैसे रह सकती थी। मानव शरीर (अग एव उपांग सहित), पात्र, भाजन, भाण्ड, आयुध, वस्त्र, पुस्तक, नौका, यान, पोत आदि अगणित चित्राधारो के अगणित सदर्भों से यह कथन असगत नही।

लेप तथा लेपद्रव्य—जिस प्रकार से हमने आलेख्य में नानाविध लेखनियों—वर्तिका, तूलिका, लेखनी, विलेखा आदि की परम्परा देखी और यह भी देखा कि इनका उपयोग चित्र-रचना के विभिन्न सोपानो में होता था। उसी प्रकार चित्रकर्म के लिए लेपो और रगो की भी कहानी है। जिस प्रकार वर्तिका भूमिबन्धन की सहायिका है उसी प्रकार लेप भी भूमिबन्धन के सहायक हैं। वर्तिका और लेप चित्र की प्रथम स्तर के निर्मापक है तथा लेखनी और वर्ण उसके आगे के स्तर के।

कला न केवल प्रकृति का ही चित्रण करती है वरन् प्रकृति के विशाल भाण्डार से नाना वस्तुजातो को भी लेकर उनको कलामय बनाती है और कला के उपकरणो का रूप देती है। प्रकृति की नाना वस्तुओ को जब कलाकार अपने कौशल से एक नया रूप देता है तो वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि अनेक उपयोगी एवं मनोरम कलाओ का जन्म होता है। चित्रकला न केवल प्रकृति से प्रेरणा ही प्राप्त करती है वरन् प्रकृति के पदार्थों से ही जीवित रहती है। नग्न भित्तियाँ, खुर्दरे काष्ठ, धूमिल वस्त्र जब तक लेप की प्रथम प्रक्रिया से सम, सन्तुलित, चिक्कण, स्निग्ध एव दृढ़ नही बनते तबतक उनपर चित्ररचना का प्रश्न नही उपस्थित होता। अतएव लेप्य और वर्ण दोनो ही चित्रकला के आधारभौतिक अग हैं। इस ग्रन्थ मे हम प्राचीन हिंदू चित्रशास्त्र और चित्रकला का वर्णन कर रहे हैं। अतएव किसी भी शास्त्र अथवा कला के सिद्धान्तों की समीक्षा मे तत्कालीन एवं तद्देशीय सम्कृति एव सभ्यता के साथ-साथ जनपद एवं जलवायु का सदैव ध्यान रखना होता है। प्राचीन काल मे आजकल के समान चित्रोपकरण सुलभ नही थे। किसी भी कला के लिए निष्ठा, नियम एव प्रतिबन्ध सनातन से इस देश में दृढ रहे। यहाँ का कलाकार बड़े मनोयोग एवं निष्ठा से अपनी निर्मिति का निर्माण करता था। अतएव उसे पग-पग पर बडे अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी। वर्तिकाबन्धन एवं भूमिबन्धन की समीक्षा मे हमने देखा कि साधारण मृत्तिका प्राप्ति मे ही उसे कितना अध्यवसाय करना पडता था। जैसे जिस किसी भी स्थान से वह मिट्टी नही ला सकता था उसी प्रकार लेप और लेपद्रव्यो के चयन एव उसके परीक्षण की भी गाथा है।

प्राचीन स्थापत्य-शास्त्रो में लेपो के नाना प्रकारों का उद्घाटन हुआ है, जैसे मृत्तिका-

बन्धन, सुधाबन्धन, इष्टकाबन्धन अथवा इष्टकाचूर्ण आदि। विष्णुधर्मोत्तर मे इस लेप को इष्टकाचूर्ण सज्ञा दी गयी है। तदनुरूप इसको हम ब्रिकप्लास्टर के नाम से आजकल की भाषा मे पुकार सकते है। समरागण एव अपराजित मे जिस लेप का वर्णन है वह वास्तव मे मृत्तिकालेप है। अपराजित मे मृत्तिकालेप अथवा मृत्तिकाबन्धन के अतिरिक्त सुधाबन्धन अथवा सुधालेप पर भी प्रवचन है। जहाँ तक मानसोल्लास तथा शिल्परत्न के आदेशो का सम्बन्ध है उनका हम पीछे प्रतिपादन कर चुके है (दे० मानस० वज्रलेप तथा शिल्प० सुधालेप)। अत. यहाँ पर इष्टकाचूर्ण तथा मृत्तिकालेप पर ही विशेष अभिनिवेश अभिप्रेत है।

ऐष्टिक लेप अथवा चूर्ण (ब्रिकप्लास्टर)—विष्णुधर्मोत्तर की प्रक्रिया है कि तीन प्रकार के ऐष्टिचूर्ण को सगृहीत कर उसमे इस चूर्ण के एक तिहाई भाग मे मृत्तिका मिश्रण करना चाहिए। पुन तैल सयुक्त कुसुम्भ (पुष्पविशेष) मिलाकर मोम, गुग्गुल, मूंग तथा गुड इन सबको समभागो मे मिलाना चाहिए। पुन अग्निदग्ध सुधा का चूर्ण उसमे एक तिहाई भाग के प्रमाण से मिलाना चाहिए। अन्त में बिल्ववृक्ष से रस लेकर एक दो के भाग से मिश्रित कर और उसमें सिकता का पुट देकर कुशल चित्रकार को इस लेप का निर्माण करना चाहिए। अभी यह लेप लेपने योग्य नही बना। इसका शकलनीय मे सिचन आवश्यक है। जब खूब घुल जावे तो एक मास तक रखे रहना चाहिए। फूल जाने पर यह बड़ा चिकना हो जावेगा तब कही इसका दीवाल पर लेप उचित है। यहाँ यह ध्यान रहे कि लेप न तो अति घना हो न अति विरल। सम के लिए पूर्ण दत्तावधान रहे। पुन इसको चिकना करने के लिए मृत्तिकालेप भी वाछित है। इस सूनिका लेप मे सर्जरस एवं स्नेह का मिश्रण भी आवश्यक है। अन्त मे लेप-जलो के बार-बार छिडकाव से इसकी पूरी पालिश करनी चाहिए जिसमे क्षीर का सयत्न मिश्रण आवश्यक है। ऐसा यह ऐष्टिकलेप बडा दृढ कहा गया है। सौ वर्ष का भी लम्बा समय इसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता—

'अपि वर्षशतस्यान्ते न प्रणश्येत् कर्हिचित्'

मृत्तिकालेप—समरागण मे जिस भूमिबन्धनोचित लेप का वर्णन किया गया है उसकी हमने ऊपर सज्ञा मृत्तिकालेप दे रखी है। तदनुसार समरागण के इस लेप मे मृत्तिका ही प्रधान है जिसका चयन वर्तिकोचित मृत्तिका के समान एक शुभ एव समुचित स्थान-विशेष से ही ग्रहण उचित है। अथच प्रशस्त स्थानो से मृत्तिका-सग्रह के उपरान्त यह निर्देश है कि मृत्तिका अनेकवर्णा होती है अत वर्णोचित मृत्तिका मे मृत्तिका के वर्ण का ध्यान आवश्यक है। ब्राह्मण के लिए शुक्ला, क्षत्रियो के लिए रक्ता, वैश्यो के लिए पीता तथा शूद्रो के लिए कृष्णमृत्तिका की इस देश मे एक सनातन परम्परा है। दूसरा निर्देश यह

है कि इस मृत्तिका की पूर्ण परीक्षा करनी चाहिए। कंकड़ आदि निकाल डालना चाहिए पुनः शाल्मली, माष, ककुभ, मधूक, त्रिफला आदि वृक्षों का रस लाकर सिकता के साथ इसमें मिश्रित करना चाहिए। इस मिश्रण में अश्वकूर्च, वृषकूर्च, धान्यतुषा, नारिकेल-त्वचा आदि का भी योग होना चाहिए। सिकता एवं मृत्तिका का भाग सम होना चाहिए। पुनः सबका चूर्ण करना चाहिए और कपडछान कर उसे उबाल भी लेना चाहिए जिससे यह तेजी पकड़ ले। यह मृत्तिकालेप एक प्रकार से प्राचीन भारत का सामान्य लेप था। मृत्तिका के मौलिक द्रव्य में नाना वनस्पतियों के द्रव के साथ-साथ अन्य उपकारक मिश्रण से यह लेप निर्मित होता था। इन्हीं के एक विशिष्ट भेद को वज्रलेप की संज्ञा दी गयी है। मार्तिक वज्रलेप की प्रक्रिया का एक अति विस्तृत विवरण अपराजितपृच्छा (दे० हि० कै० आ० पे० चित्रलक्षणम् पृ०—१३–१४) में द्रष्टव्य है। अपराजितपृच्छा में इस लेप की द्विविधा संज्ञा दी गयी है—मृत्तिकाबन्धन तथा सुधाबन्धन। इन दोनों की प्रक्रिया का संक्षेप में कुछ उद्घाटन आवश्यक है।

मृत्तिकाबन्धन—श्वेत, रक्ता तथा पीता मृत्तिका के अतिरिक्त अन्य उपकरणों में पुष्प, यव तथा गोधूम के चूर्ण, क्षीरद्रुमों के वल्कल तथा गुडसयुत वल्कल तथा इन्द्र-वृक्ष आदि वानस्पत्य द्रव आदि का विशेष विधान है। इन सबका चूर्ण बनाकर पाषाण-गर्भचूर्ण से मिश्रित कर सबको कूटकर कपडछान कर लेना चाहिए। पुन अलसी का तेल तथा कुछ पानी के साथ इसको खूब घोटना चाहिए तो यह लेप कज्जल के समान चिकना बन जाता है। पुन मुष्टिमान पिण्डों को लेकर धूप में सुखाना चाहिए। सूखने पर यह लेप वज्र बन जाता है।

सुधाबन्धन—के निर्माण मे सफेद पत्थर के धात्रीफलोपम टुकड़े करके उन्हे दस दिन आग में जलाना चाहिए पुन उनके चूर्ण में बिल्वादि वृक्षों के रस में मिश्रण एक मास अथवा कम-से-कम एक पक्ष तक उसे रखे रहना चाहिए। अन्त में वह एक बड़ा सुन्दर लेप बन जाता है। ऐसे लेप को हम आजकल की भाषा में 'स्टुको' नाम से पुकार सकते है।

सुधालेप—मानसोल्लास तथा शिल्परत्न की एतद्विषयक सामग्री का भी कुछ परिशीलन आवश्यक है। प्राचीन भारत की चित्रकला में (विशेषकर भैत्तिक चित्रों में) दीवालों पर कलई की पुताई प्रथम विधान था तदनन्तर लेप (प्लास्टर)। मानसोल्लास इसी तथ्य का पोषण करता है—

'सुधया निर्मितां भित्तिं श्लक्ष्णां क्षतविवर्जिताम्'

पुन. श्वेत मृत्तिका (सफेद मिट्टी) तथा (जिसका पीछे सकीर्तन हो चुका) उसके द्वारा यह भित्तिचित्रोचितकर्म के लिए सम्पन्न की जाती थी।

वर्णलेप—भित्ति अथवा अन्य आधारों का धवलीकरण शिल्परत्न की भी प्रथम विधि है—

'एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमाचरेत ॥

शिल्परत्न की इस धवलीकरण प्रक्रिया को वर्णलेप के नाम से पुकारा गया है। इसमें भी मृत्तिका में शंख, शुक्ति आदि द्रव्यों एवं वृक्षोद्भव द्रव्यों के मिश्रण का विधान है तथा यह भी प्रतिपादित है कि इस वर्णलेप को दो-तीन बार देना चाहिए तथा इस वर्णलेप के तीन भेदों का भी उल्लेख है जिनकी पृथक्-पृथक् विशेष योजनीय अथवा मिश्रणीय द्रव्यों की विलक्षणता है। वनस्पति समार तथा ओषधिवर्ग का पूर्ण उपयोग प्राचीन भारत की सभी विद्याओं में, चाहे वह चित्र-विद्या है अथवा चिकित्सा, सभी में वाछित था। प्रकृति एवं जनपदानुरूप सुलभ सामग्री का सम्यक् उपयोग ही कला है—इस तथ्य के पारखी आचार्यों ने ऐसे ही सब विधान एवं विधियों की शिक्षा दी है।

चित्र की मानयोजना—पीछे भवन-स्थापत्य तथा प्रतिमा-स्थापत्य के दोनों पटलों में हमने तत्तदानुषंगिक मानयोजना का निरूपण किया है। चित्र की मानयोजना कुछ विलक्षण है—चित्रकला भी तो प्रतिमाकला से विलक्षण है। चित्रकला मनोरम कलाओं में एक प्रशस्त स्थान की अधिकारिणी है क्योंकि इसकी द्रव्यमयता इसके आधार तक ही सीमित है जो अन्य कलाओं के रूप-निर्माण में आधायिक है। अतः ज्यों-ज्यों पार्थिव उपकरण कम होते जाते हैं त्यों-त्यों कला मनोरमता की ओर उठती चली जाती है और इस दृष्टि से काव्यकला सर्वाधिक मनोरम कला मानी गयी है क्योंकि इसका पार्थिव आधार नगण्य है—कल्पना के मनोराज्य में विचरण करने वाला क्रान्तिदर्शी मनीषी कवि अपनी प्रतिभा के सहारे लोकोत्तरानन्द (जो ब्रह्मानन्द का सहोदर बताया गया है), अलौकिक चमत्कारकारी रसास्वाद की अनुभूति में रसब्रह्म की ही सृष्टि कर देता है। यही सत्य किसी हद तक संगीतकला में भी चरितार्थ होता है जो स्वरों एवं लयों के द्वारा नाद के उस परिपाक की सृष्टि करती है जिसमें नादब्रह्म के विलास का आभास मिलने लगता है। अद्वैतवाद (दे० काव्यकला) का यह आभासवाद परिणति विश्वप्रतिकृति, ब्रह्म-मूर्ति प्रासाद का स्मरण करा देता है तो वास्तु-कला ऐसे पार्थ्व द्रव्यमयी कला में भी वास्तु-ब्रह्म की सृष्टि हो जाती है। जड एवं चेतन दोनों ही ब्रह्ममय हैं—'सर्वं ब्रह्ममयंजगत्'—के सनातन सत्य का यही तो रहस्य है और यही दर्शन है जो जीवन-दर्शन के रूप में भारतीय जीवन में निखर उठा। अथच भारतीय कला की मनोरमता का रहस्य शरीरावयव-व्यक्ति (एनैटोमिकल परफेक्शन) नहीं उसका मर्म उपलक्षणों (सिम्बल्स) में अन्तर्हित है। अतएव मुद्राओं का साहचर्य मानयोजना भी उपलक्षणा-

त्मक ही है—महापुरुषो को आजानुबाहु, देवो को प्रभामण्डलमण्डित तथा इसी प्रकार के नाना निर्देश इसी तथ्य का समर्थन करते हैं। पुनः 'शास्त्रमानेन यो रम्य. स रम्यो नान्य एवहि' की सुदृढ मान-सस्था से भी हम परिचित हैं। पुन विविधद्रव्यमयी प्रतिमाओ के समान चित्रजा प्रतिमाएँ भी पूज्य देवो के लिए बनती थी—यह हम लिख ही चुके हैं। अत इसी व्यापक दृष्टि से चित्रकला के कुछ आधारभौतिक मान अलग से प्रतिपादित किये गये हैं। कला की सामान्य मानयोजना तथा प्रतिमोचित मानाधारो का हम वर्णन कर चुके है। यहाँ पर चित्रोचित मान-प्रक्रिया पर कुछ विवेचन प्राप्त है। इस मान-प्रक्रिया से हमारा अभिप्राय यह है कि चित्रोन्मेष मे किस प्रकार की भावभगिमा प्रस्फोट्य है, किस प्रकार की मुद्राएँ उद्घाट्य है, अथच चित्ररचना के प्राथमिक स्तर पर किस प्रकार का आकृति-विन्यास प्रोल्लास्य है, कौन-कौन से चित्र किस-किस आकार में विरच्य हैं आदि नाना प्रश्नो के समाधान मे प्राय. चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो मे आदेश और निर्देश भरे पड़े हैं। विस्तारभय से इस मान-प्रक्रिया का यहाँ पर सकोच के साथ ही उद्घाटन अभिप्रेत है। सक्षेप मे हम इस स्तम्भ मे चित्र के प्रथम विन्यास मे सहायक अण्डक प्रमाण के साथ-साथ काय प्रमाण एव रूप-निर्माण पर कुछ प्रस्तावना करेगे।

अण्डक प्रमाण—समरागण की यह विशेषता है। अण्डक प्रमाण जहाँ चित्रकला में आउटलाइन की रचना का माध्यम प्रस्तुत करता है वहाँ एक प्रकार से चित्रकला के विषय पर भी अपरोक्ष रूप से बडी सुन्दर सामग्री प्रस्तुत करता है। चित्रकला की मान-योजना के तीन अग है—अण्डक प्रमाण, काय प्रमाण तथा सामान्य मान। इसके प्रथम कि हम अण्डक प्रमाण का विवेचन करे अण्डक शब्द से हमारा अथवा इन चित्रशास्त्रों का (विशेषकर समरागणसूत्रधार का) क्या अभिप्राय है—यह समीक्षा आवश्यक है। प्रासाद-स्थापत्य की मीमासा मे हमने देखा कि अण्डक शब्द प्रासाद-शृग (टेम्पिल कपोला) का बोधक है। परन्तु प्रतिमा-निर्माण (चित्र भी प्रतिमा है और उसका विशेप उदय भारतीय स्थापत्य के अनुसार प्रतिमाकला के साथ हुआ) मे अण्डक का अर्थ शृग तो नही हो सकता। अत. हमारा अनुमान है कि जिस प्रकार अण्डको—शृगों—के द्वारा हम मन्दिरो की पहिचान करते है अर्थात् अण्डक उसके व्यक्तित्व का, उसकी आकृति का एक शब्द मे उसके रूप का परिचय देते है जो किसी भवन का एक अनिवार्य अग है, उसी प्रकार अण्डक चित्रकला मे आउटलाइन, माडेल आदि के लिए सम्भवत. प्रयुक्त किया गया है। आजकल की भाषा मे हम अण्डक का अर्थ बादामा ले सकते हैं।

स० सू० मे अण्डक प्रमाण के नाना प्रकारो का निर्देश है—मुखाण्डक, वृत्ताण्डक, अलसाण्डक आदि। निम्न तालिका से हम नाना अण्डको के प्रमाण का बोध कर सकते हैं —

अण्डक प्रमाण

जाति	विस्तार	आयत	वर्णन
मानुष	६	५	—
वनिता	—	—	नारिकेल फलोपम
शिशु	५	४	—
राक्षस	७	६	चन्द्रमण्डलसन्निभ
देवगण	८	६	—
दिव्य मानुष	६½	५½	मानुष मान से गोलकार्धाधिक
प्रमथगण	५	४	शिशुकाण्डक मानेन
यातुधान	७	६	(दे० राक्षस)
दानव	८	६	(दे० देवगण)
गन्धर्व	८	६	,,
नाग	८	६	,,
यक्ष	८	६	,,
विद्याधर	६½	५½	(दे० दिव्यमानुष)

प्राचीन भारत के चित्रस्थापत्य मे प्राय इन्ही प्रमुख विषयों का चित्रण देखा गया है परन्तु जहाँ तक पशु एव पक्षी तथा वनस्पति ससार के चित्रणो के प्रमाण का सम्बन्ध है वह प्रमाणो में न वर्णन कर रूपो मे वर्णन किया गया है जिसका उद्घाटन हम आगे करेंगे। यहाँ पर अण्डक प्रमाण के सम्बन्ध मे इतना और सूच्य है कि अण्डक नानाविध हो सकते है—मुखाण्डक, वृत्ताण्डका, अलसाण्डक आदि। यत समरांगणसूत्रधार मे ही इस विषय की यह पारिभाषिक मीमासा देखने को मिलती है और वह भी पाण्डुलिपि के इस अश की भ्रष्टता के कारण उसका पूर्णरूप से न तो उद्धार साधारणतया किया जा सकता है और न इन अण्डको की पूरी सामग्री ही प्राप्त है। इस स्थल निर्देश मे आगे के एतद्विषयक अनुसन्धान के पथ प्रदर्शन मे प्रेरणा अवश्य मिलेगी।

काय प्रमाण—पीछे मानयोजना के काय प्रमाणो की सामग्री पठनीय है। प्रतिमा पटल में हमने प्रतिमा के मानाधार की मीमासा की है (दे० ताल-मान आदि)। चित्रकला से सम्बन्धित काय प्रमाण की निम्न तालिका विशेष पठनीय है जिससे यह आभास मिल सकता है कि जो प्रमाण प्रतिमा-कला-निर्माण मे विहित है उनसे चित्रकला में काम नही चल सकता —

काय प्रमाण	मान	
	विस्तारायान	
देव	३०	८
असुर	२६	७½
राक्षस	२७	७
दिव्यमानुष	—	—
मानव	—	—
(अ) पुरुषोत्तम	२४½	६
(ब) मध्यम	२३	५½
(स) कनीय	२२	५
कुब्ज	१४	५
वामन	७½	५
किन्नर	,,	,,
प्रमथ	६	४

जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है कि इस प्रौढ़ ग्रन्थ मे अण्डक प्रमाणों के अतिरिक्त काय प्रमाणो के साथ-साथ रूप प्रमाणो पर भी निर्देश है। तदनुसार—

विभिन्न रूप			
जाति		रूपभेद	विशेष
देव	३	सुरज कुम्भक	एक भ्रष्ट
दिव्यमानुष	१	दिव्यमानुष	
असुर	३	चक्र, मुत, तीर्षक	
राक्षस	३	दुर्दर, शकट, कूर्म	
मनुष्य	५	हंस, शश, रुचक, भद्र तथा मालव्य	
	२	मेष, वृत्ताकार	
वामन	३	पिण्ड, स्थान, पद्मक	
प्रमथ	३	कूष्माण्डक, कर्वट, तिर्यक	
किन्नर	३	मयूर, कुर्वट, काश	
स्त्री	५	बलाका, पौरुषी, वृत्ता, दण्डा	
गज (अ) सामान्य	४	भद्र, मन्द, मृग तथा मिश्र	
(ब) जन्मत	३	पार्वत, नाद्य, औषर	
अश्व (रथ्या)	२	पारस तथा उत्तर	

सिंह	४	शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय तथा तृणाश्रय
व्याल	१६	हरिण, गृध्रक, शुक, कुक्कुट, सिंह, शार्दूल, वृक, अजा, गण्डक, गज, क्रोड, अश्व, महिष, श्वान, मर्कट, तथा खर

अभी तक मानयोजना पर समरांगण की दिशा में अण्डकादि प्रमाणो पर दृष्टिपात किया परन्तु इस विषय के उपोद्‌घात मे जैसा हमने संकेत किया है कि भारतीय कला एक अत्यन्त विकसित, प्रौढ एवं पारिभाषिक मानयोजना पर आश्रित है उसी दृष्टिकोण के अनुसार अब हम चित्रकला में आवश्यक मान-पद्धति को समझने का प्रयत्न करेंगे। चित्र की इस मान-पद्धति का जैसा विशद् एवं सुन्दर वर्णन मानसोल्लास में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु हमने चित्र के नाना प्रकारों में देखा कि प्राचीन भारत में विशेषकर पटचित्र तथा भित्तिचित्र ही विशेष प्रचलित है। यह एक प्रकार का कला के धर्माश्रय के विकास का आभास है। वैष्णव मन्दिरो के पटचित्रो अथवा अजन्ता की गुफाओ के भित्तिचित्रो के निदर्शन इसी तथ्य का पोषण करते है। कालान्तर पाकर जब चित्रकला को राजदरबार में विशेष संरक्षण प्राप्त हुआ और राजदरबार में चित्रकारो की मर्यादा तथा उनके प्रोत्साहन एवं रक्षा प्रदान के लिए पर्याप्त प्रश्रय मिला तो चित्र के विकास मे एक अनायास योग प्राप्त हुआ। राजकीय चित्रशालाओ मे जहाँ भित्तिचित्रों की कमी नही थी वहाँ पर अब फलक-चित्रो को विशेष प्रोत्साहन मिला। प्रायः राजकीय चित्र-शालाओ में दिवंगत राजपुरुषो एवं उनसे सम्बन्धित अन्य महापुरुषो की स्मृति के लिए फलक-चित्र बडे सफल सिद्ध हुए। मानसोल्लास का कर्ता एक महीपति था। अतः उस ग्रन्थ में इन फलक-चित्रो की रचना के लिए नियामक सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ विशेष अभिनिवेश देखा जाता है। अतः मानसोल्लास की यह मानयोजना वास्तव मे सत्य या विद्ध चित्रों विशेषकर फलक-चित्रों अर्थात् पोर्ट्रेट पेंटिंग से सम्बन्धित है।

मानसोल्लास की मान-पद्धति—इस पद्धति के अनुसार विद्धचित्रो की रचना के लिए तीन रेखासूत्र मौलिक मानाधारो के रूप में प्रकल्पित किये गये है—एक ब्रह्मसूत्र तथा दो पक्षसूत्र। ब्रह्मसूत्र वह रेखा है जो केशान्त से प्रारम्भ होकर भ्रूमध्य नासापुट, हनु, वक्ष, तथा नाभि से गुजरती हुई दोनों पैरो के मध्य तक पहुँचती है। इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा सिर से पैर तक का शरीर का केन्द्र निर्धारण होता है। अथच दो पक्षसूत्र प्रायः ब्रह्मसूत्र से दोनो तरफ छः अंगुल की दूरी पर रहते है और ये दोनो कर्णान्त से आरम्भ होकर हनु, जानुमध्य तथा पादांगुष्ठ से गुजरते हुए भूमि तक पहुँचते हैं। इस प्रकार केन्द्रसूत्र तथा पार्श्वसूत्रो के नियमन से और अवकाशो के परिवर्तन से निम्नलिखित पाँच प्रकार की शरीर-मुद्राएँ निष्पन्न होती है—

पंचविध शरीर-मुद्रा—ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्षिक तथा भित्तिक। ऋजुस्थान वह सम्मुखीन स्थानक मुद्रा है जिसमें ब्रह्मसूत्र और दोनो पक्षसूत्र अर्थात् पार्श्वसूत्रों का मध्यावकाश दोनो ओर छ अगुल होता है। अर्धकस्थान में यह अवकाश एक ओर ८ अगुल तथा दूसरी ओर ४ अगुल होता है। साचीस्थान मे ब्रह्मसूत्र से एकपक्ष-सूत्र तक का मध्यावकाश एक तरफ १० अगुल तथा दूसरी तरफ दो अंगुल का माना गया है। अर्धाक्षिक-स्थान मे ब्रह्मसूत्र से एकपक्षसूत्र तक का मध्यावकाश एक ओर एकादशांगुल तथा दूसरी ओर केवल एकागुल। अब रहा भित्तिकस्थान उसमें केवल पक्षसूत्र ही दिखायी देते हैं और ब्रह्मसूत्र बिलकुल विलीन हो जाता है।

परमाण्वादि के मान पीछे मानयोजना मे देखिए—परन्तु उनमे मानसोल्लास की इस मानयोजना मे कुछ वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अत निम्नतालिका पठनीय है —

८ परमाणु	= १ त्रसरेणु	८ यव	= १ अंगुल या मात्रा
८ त्रसरेणु	= १ बालाग्र	२ मात्रा	= १ गोलक या कला
८ बालाग्र	= १ लिक्षा	३ मात्रा	= १ अध्यर्धकला
८ लिक्षा	= १ यूका	४ मात्रा	= १ भाग
८ यूका	= १ यव	३ भाग	= १ वितस्ति या ताल

पूरा शरीर सर से लेकर पैर तक नौ तालो की उँचाई में होता है। मुख केशांत से हनु तक एक ताल, ग्रीवा ४ अगुल, ग्रीवा से हृदय तक एक ताल, हृदय से नाभि एक ताल, नाभि से मेढ् एक ताल, उरु दो ताल, जाँघ ४ अगुल, जघा दो ताल, चरण २ अगुल—सब बराबर नव ताल। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार सम्पूर्ण आलेख्यचित्र का शरीर नव ताल का होता है। परन्तु मौलि केशान्त से ऊपर तक ४ अगुल मे निष्पाद्य है। अतः वास्तविक ऊँचाई ९⅓ ताल की हुई।

अन्त में मानसोल्लास की मानपद्धति पर थोड़ा सा और विवेचन आवश्यक है। मानसोल्लास मे जैसा पीछे सकेत किया गया है चित्रोचित विशेषकर आकार-चित्रो (पोर्ट्रेट-पेंटिग) का बडा विशद् उद्घाटन है। तदनुरूप चित्रोचित मानप्रक्रिया में तिर्यङ्-मान-लक्षण तथा सामान्य-चित्र-प्रक्रिया पर थोडा सा इस ग्रन्थ की दिशा मे प्रस्तावन प्रासगिक है।

तिर्यङ-मान-लक्षण—इसमे प्रथम मस्तक-सूत्र का विनियोग होना चाहिए। पुन उसके चार अगुल नीचे केशान्त-सूत्र का विधान है जो कर्णाग्र के ऊपर मस्तक से तीन अगुल ऊँचे रहता है। पुन. उसके दो अगुल नीचे तपनोद्देश-सूत्र का विधान है जो शंखमध्य से गुजरता हुआ कर्णाग्र से ऊपर एक अगुल तथा शीर्षकूर्म के नीचे एक अगुल रहता है। तदनन्तर एक अगुल नीचे कचोत्सग-सूत्र का विधान है जो नेत्रभ्रुओ के निकट से कर्ण के अग्र भाग से

गुजरता हुआ शीर्षकूर्म तक जाता है। पुन उसके नीचे एक अगुल कनीनिका-सूत्र का नम्बर आता है जो अपाग से निकलता हुआ पिप्पली तथा शिर से ऊपर लाना चाहिए। तदनन्तर दो अगुल नीचे नासामध्य-सूत्र विहित है जो कपाल के उच्च प्रदेश से कर्ण के मध्य मे उतरता है। अब दो अगुल नीचे नानामग्र-सूत्र का विधान है। यह कपोल, कर्णमूल, केशोपपत्ति प्रदेश तथा पृष्ठ से गुजरता है। इसके बाद आधा अगुल नीचे वक्त्रमध्य-सूत्र कृकाटिका के पास होता है। पुन आधे अगुल नीचे अधरोष्ठ-सूत्र का नम्बर आता है जो हनुसन्धि से गुजरता हुआ पश्चिम कन्धर जाता है। पुन. दो अगुल नीचे हन्वग्र-सूत्र का निर्माण विहित है जो ग्रीवा से स्कन्धसन्धि पहुँचता है। चार अगुल नीचे हिक्का-सूत्र का विनियोग होता है जो कन्धो के नीचे और भुज के शीर्ष से गुजरता है। इसके सात अगुल नीचे वक्षस्थल-सूत्र का विनियोग आता है जो स्तन के रोहित मार्ग से कक्षासन्धि मे निविष्ट होता है। पुन उसके पाँच अगुल नीचे विभ्रमसग-सूत्र का विधान है जो स्तनो के नीचे छाती के बीच से पृष्ठमध्य पहुँचता है। अथानन्तर छ अगुल नीचे जठरमध्य-सूत्र बाहुपी-नातक नेय है। पुन उसके छ अगुल नीचे नाभी-सूत्र का विधान है जो श्रोणीमार्ग से ककुदर-शिर पर पहुँचता है। पुन चार अगुल नीचे पक्वाशय-सूत्र का विधान है जो नितम्ब के मध्य स्फिका के ऊपर जाता है। अथानन्तर चार अगुल नीचे काञ्चीपद-सूत्र नितम्बो के मामल के मध्य मे गुजरता है। अत. चार अगुल नीचे लिगशीर्षसूत्र का विधान है जो उरुमूल से जघनाभोग पहुँचता है। पुन आठ अगुल नीचे उरु-सूत्र का विनियोग है। पुन चार अगुल नीचे मान-सूत्र अर्थात् उरुमध्य-सूत्र का विधान है। तदनन्तर चार अगुल नीचे जानुमूर्ध-सूत्र का नियम है जो जानुओ के चारो ओर से गुजरता है। पुन बारह अगुल नीचे (एक ताल) शुक्रवस्ति-सूत्र का नियामन है। अथानन्तर दस अगुल नीचे नलकान्तग-सूत्र का विधान है जो गुल्फमस्तक के ऊपर से पार्ष्णिमस्तक आता है। इसके बाद दो अंगुल नीचे गुल्फान्त-सूत्र और उसके चार अगुल नीचे भूमि-सूत्र का विधान है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र १०८ अगुल मे परिणत होता है।

मानसोल्लास की चित्रोचित मानप्रक्रिया मे आयुर्लेखा, शक्तिरेखा, तथा पुरेखा पर भी संकेत है जो किसी भी चित्र-ग्रन्थ मे नही देखे जाते। इस ग्रन्थ मे यह भी निर्धारित है कि भित्ति-चित्रो मे केवल चार ही स्थानो का विधान है—भित्तिकस्थान का अनुगम उचित नही।

३

चित्ररचना

(वर्ण, वर्तना एवं रस)

पीछे के अध्याय में हमने चित्रोपकरणो पर प्रवचन किया। अब क्रमप्राप्त चित्ररचना के उन मौलिक सिद्धान्तो की समीक्षा करनी है जिनके द्वारा चित्र चित्र बनता है। चित्र-रचना के इन मौलिक सिद्धान्तो में वर्णविन्यास एव वर्तना के साथ-साथ चित्रणीय पदार्थों का किस प्रकार चित्रण करना चाहिए—इन तीनो का चित्रकला में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आजकल की भाषा में इसको पेंटिग की टेकनिक तथा उसके सब्जेक्टस के नाम से हम समझ सकते है।

वर्ण—विष्णुधर्मोत्तर मे वर्णो को दो वर्गों मे विभाजित किया गया है। प्रथम मूल रग—श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण तथा हरित तथा दूसरा श्वेत, पीत, श्याम, नील तथा पालाश। भरत के नाट्यशास्त्र मे वर्णों का विभाजन विष्णुधर्मोत्तर के ही सदृश है। शिल्परत्न मे मूल रगो का विभाजन रक्त, पीत, कृष्ण (धूमिल) तथा श्याम मे किया गया है। अभिलषितार्थचिन्तामणि में शुद्ध वर्णों मे शंख निर्मित श्वेत, लाक्षा निर्मित रक्त अथवा गैरिक, हरिताल तथा कज्जल का निर्देश है। प्राचीन भारतीय शिल्प-ग्रन्थो के चित्रवर्णों का यह विभाजन एकमात्र वर्णविन्यास का उपोद्घात समझना चाहिए। आगे हम इस विषय की विस्तृत विवेचना करेंगे। यहाँ पर उस विवेचना के लिए एतद्विषयकी भूमिका आवश्यक है। प्राचीन चित्रकारों के कौशल की सफलता का मूल्याकन उनकी वर्णमिश्रणयोग्यता पर आश्रित रहती थी। आजकल मूल रंग और उनके मिश्रण रसायन-शालाओं मे निर्मित होते है परन्तु प्राचीन चित्रकारो के निवास-स्थान ही रसायनशालाएँ थी। अत उनके अध्यवसाय और उनकी निष्ठा का हम मूल्यांकन कर सकते हैं।

रंगद्रव्य—वर्णों के निर्माण में जिन द्रव्यो अथवा वस्तुओं या धातुओं के योग की आवश्यकता होती थी उन रंग द्रव्यो की नामावली में विष्णुधर्मोत्तर में कनक, रजत, ताम्र, अभ्रक, राजावन्त (लजावल या लाजवर्दी अर्थात् नीली) सिन्दूर, त्रपु (शीशा), हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील आदि नाना द्रव्यो का उल्लेख है।

रंगनिर्माण प्रक्रिया—शिल्परत्न में इस प्रक्रिया का सुन्दर वर्णन द्रष्टव्य है (दे० लेखक का चित्र-लक्षण पृ० ३८) उदाहरण के लिए गैरिक रक्त को पहले शिला पर पीसना

चाहिए, पुनः एक दिन तक पानी में भिगोकर रखना चाहिए। यह बन्धन सिन्दूर रक्त में नहीं उसे पीसकर आधे दिन तक ही रखना चाहिए। इसके विपरीत मनःशिला रक्त को तो केवल पीसना ही उचित है। उसे पानी में रखना उचित नहीं। पुन इन सबको एक साथ पीसना चाहिए और पानी मे मिलाकर पाँच दिन तक रखना चाहिए। अन्त में निम्बनिर्यासतोय के साथ मिश्रण करना चाहिए तभी वे चित्र मे प्रयोज्य है।

अस्तु, वर्णों एव वर्ण-प्रक्रिया का हमने कुछ दर्शन किया। अब हम मूल रग अथवा शुद्ध वर्ण, मिश्र वर्ण अथवा अन्तरित तथा रग द्रव्य–इन तीन प्रधान विषयों के साथ इनकी प्राण वर्तना पर पहले क्रमशः प्रवचन करेंगे। पुन. यथाप्रतिज्ञात चित्रकला के पारम्पर्य की अवतारणा करेंगे। यहाँ पर यह पहले ही निर्देश्य है कि प्राचीन तथा मध्यकालीन चित्रकला मे वर्णों मे स्वर्ण का भी प्रयोग होता था। स्वर्ण के प्रयोग मे दो प्रकार की प्रक्रियाएँ शिल्प-ग्रन्थो मे उद्घाटित हुई है—पत्र विन्यास तथा रसक्रिया। अत इस स्वर्णयोगविधि पर भी इसी स्तम्भ में हमारे लिए विवेच्य होगा।

मूल रंग—पीछे के उपोद्घात मे भिन्न-भिन्न ग्रन्थो के मूल रगो पर हमने निर्देश किया परन्तु अभिलषितार्थचिन्तामणि मे चार ही मूल रग है—श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण। प्राचीन शिल्पशास्त्रो मे नीले रग के साथ-साथ काले रंग का भी निर्देश है। काला कज्जल के समान होता है और नीला इदीवर की प्रभा के समान नीली से आया है। यह नीला रंग मिश्र रगो तथा अन्तरितो के निर्माण मे बड़ा सहायक होता है। ग्रन्थो का आदेश है कि इन पाँचो (या चारो) मूल रगो को अलग-अलग पात्रो में रखना चाहिए जिससे उनकी शुद्धता नष्ट न हो और उनकी अपनी पृथक्-पृथक् लेखनियाँ भी होनी चाहिए। यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण वर्ण विषयक् तथ्य यह है कि हमने प्राय सभी ग्रन्थो के वर्ण-प्रभेदो पर दृष्टिपात किया परन्तु अपराजित एव समरांगण की इस विषय मे क्या स्थिति है यह नहीं बताया। बात यह है कि समरागण में वर्ण के विभाजन पर निर्देश नही प्राप्त है और अपराजित में यद्यपि चार ही मूल रगो का विभाजन है परन्तु वह विभाजन चित्रकला की शैली के अनुरूप है। अत आगे के अध्याय में हम उस सामग्री का उपयोग करेंगे। मूल रंगो की इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे मिश्रितो की ओर आना है। मिश्र वर्णों पर अभिलषितार्थचिन्तामणि तथा शिल्परत्न मे विशेष सामग्री प्राप्त होती है। उस दिशा मे निम्नलिखित कतिपय मिश्र वर्ण विवरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

मिश्र वर्ण—शिल्परत्न मे रक्त की तीन कोटियाँ प्रतिपादित है—सिन्दूर (हलका लाल), गैरिक अर्थात् गेरुआ लाल जो मध्यम लाल के रूप मे विभाव्य है, अथच लाक्षा जो गहरा लाल के रूप मे परिकल्प्य है। अभिलषितार्थचिन्तामणि मे दरद को शख मे मिलाने से कोकनद की छवि देता है, अलक्तक को शंख मे मिलाने से वह सौराश्व सदृश हो

जाता है। इसी प्रकार गेरू को शंख मे मिलाने से धूमच्छाय बताया गया है। काजल को भी शख मे मिलाने से धूमच्छाय होता है, नीले रंग को शंख मे मिलाने पर कपोत का रंग मिलता है। नीले रंग को हरिताल मे मिलाने से हरा रग बन जाता है। गेरू को हरिताल में मिलाने पर सफेद हो जाता है। काजल को गेरू से मिलाने से श्यामवर्ण बन जाता है। अलक्तक को काजल मे मिलाने से पाटला का रग बनता है। इसी प्रकार अलक्तक को नीले से मिलाने से कर्बु वर्ण हो जाता है।

रंग द्रव्य—रग द्रव्यों की सूची हम पीछे दे चुके है। यहाँ पर चित्रकर्मोचित वर्ण-विन्यास में विशेष उपयोगी कतिपय रग द्रव्यो की समीक्षा करनी है।

सुधा—वि० ध० के अनुसार श्वेत के निर्माण में सुधा का प्रयोग किया जा सकता है।

सिन्दूर—रक्त वर्ण की निर्मिति मे जैसा हमने पीछे देखा नाना रंग द्रव्यो की सहायता मे नाना रक्त-प्रकार उत्पन्न होते हैं। मनशिला, रक्तामृत्तिका गेरू, हिरौंजी आदि के साथ-साथ सिन्दूर भी रक्त के निर्माण मे बडा ही सहायक माना गया है।

हिंगुल—सिन्दूर के साथ जाता है। इसको हिन्दी मे ईंगुर कहते हैं। प्राय चित्रकार चित्र की आउटलाइन इसी से निर्माण करते हैं।

नील—नील तथा राजावर्त (राजवन्त या राजावन्त जिसे लाजवर या उर्दू मे लाजवर्दी भी कहते है) नीले रगो मे सर्वप्रमुख द्रव्य है। इन दोनो मे नील के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि प्राचीन भारत मे इस रंग के बनाने का बहुत अधिक प्रचार था जिसने व्यावसाय का रूप ले लिया था और ग्रीस तथा रूम तक इसकी खपत थी। विष्णुधर्मोत्तर मे इसके निर्माण पर पुष्ट प्रवचन प्राप्त होता है। पहले लोग नील को कपड़े रगने के काम मे लाते थे परन्तु बाद मे इसका चित्रकला मे भी बडा प्रचार हो गया। नीले रंग का दूसरा द्रव्य-प्रकार राजावन्त या राजावर्त है। यह वास्तव में प्राचीन भारत के स्थापत्य चित्रण का मूलाधार था। अजन्ता की चित्रकला में यही रंग मूर्धास्थानता वहन करता है। डा० मोतीचन्द का अनुमान है कि यह लाजवर्दी सम्भवत परशिया से आया था परन्तु यह अनुमान समीचीन नही प्रतीत होता। बहुत सम्भव है नील के समान यह भेद भी देश-विदेश मे पहुँचा तो फिर परशिया से इसे लाने की कौन सी बड़ी भारी बात है। ग्रन्थ चित्रणों (दे० प्रज्ञापारमिता, कल्पसूत्र, कालकाचार्य कथा आदि प्राचीन पाण्डुलिपियाँ) भी इस रग का बडा विपुल प्रचार था।

हरिताल—हरिताल और रामरज पीले रंग के जनप्रिय द्रव्य हैं। डा० मोतीचंद का कथन है कि पालकालीन बौद्धों की तालपत्र पाण्डुलिपयो के चित्रणों में हरिताल का प्रयोग किया गया है। रग द्रव्यो की एक लम्बी सूची है इनमें से केवल उदाहरणार्थ हमने

उपर्युक्त कतिपय द्रव्यों का निदर्शन पुरस्सर विवेचन किया । अब वर्णों में स्वर्ण प्रयोग पर विवक्षा है ।

स्वर्ण आदि धातुओं का वर्णों में प्रयोग—प्रतिमा-निर्माण-कला एवं चित्र-निर्माण-कला दोनो मे ही धातुओ का विपुल प्रयोग प्राचीनों की सुसम्बद्ध परम्परा थी । धातुराज स्वर्ण के योग की चित्रकारो विशेषकर विख्यात मध्यकालीन चित्रविद्याविरंचियों के हस्त-कौशल के अद्भुत् निदर्शनो एवं प्रदर्शनो मे कमी नही । चित्रविन्यास में स्वर्ण का योग न केवल चित्र-सरक्षकों की स्वर्णप्रियता तथा विभवशालिता की ही देन है वरन् स्वर्णयोग से वर्णविन्यास में चारचांद लग जाते हैं । वह अधिक निखर उठता है और अधिक आकर्षक भी बन जाता है । चित्रो मे स्वर्ण के प्रयोग के द्वारा तद्गत भूषाविन्यास मे तथा परिधान-निवेश मे बडी सहायता मिलती है । स्वर्ण-प्रयोग से चित्र की जिन्दगी भी बढ जाती है । चित्रों मे स्वर्ण-प्रयोग के इतिहास पर डा० मोतीचद का यह मत उल्लेख्य है—'यह विदित नही कि स्वर्णपत्रो का प्रतिमाओ और चित्रों के भूषा-विधान मे कब से प्रयोग प्रारम्भ हुआ, परन्तु यह निश्चित है कि ईसवीय स० के प्रारम्भिक शतको मे गान्धार में बुद्ध की स्टुको प्रतिमाओ के चित्रण मे उनके भूषा-विधान मे स्वर्णपत्रो का प्रयोग हुआ है । विष्णुधर्मोत्तर पुराण मे रंग द्रव्यो मे कनक अर्थात् स्वर्ण का परिगणन हुआ है परन्तु अजन्ता, एलौरा, बाघ या बादामी की चित्रकला मे हमे स्वर्ण के दर्शन नही होते । पन्द्रहवी शताब्दी के जैन पाण्डुलिपि ग्रन्थों मे स्वर्ण का विपुल प्रयोग देखा जाता है । इससे यह प्रतीत होता है कि स्वर्ण का रंग द्रव्य के रूप मे तथा ग्रन्थो की पार्श्वभूषाविन्यास मे जो परम्परा चली वह भारत में परशिया से आयी, जहाँ पर स्वर्ण के द्वारा चित्रभूषा सबसे पहले पद्रहवीं शताब्दी मे तिमूरियो ने प्रारम्भ की थी । सोलहवीं शताब्दी मे यह भूषा-पद्धति बोखारा से अन्य फारसी केन्द्रो में फैल गयी । परशिया से ही हिन्दुस्तान मे यह परम्परा पहुँची । स्वर्ण का योग पाण्डुलिपियो की अलकृति मे ही सीमित नही रहा वरन् अल्बम की बाइडिंग मे तथा हस्तलेख-फलको के चित्रण मे भी इसका विधान फैल गया'' ।

डा० मोतीचद की यह समीक्षा तथा भारतवर्ष में चित्रकला मे स्वर्णयोग की प्राचीनता विषयक मीमासा वास्तव में विवाद का विषय बन सकता है । डा० मोतीचंद पुरातत्वीय साक्ष्य अर्थात् अजन्ता, एलौरा, बाघ और बादामी की चित्रकला मे स्वर्णयोगाभाव को देखकर स्वर्ण प्रयोग की परम्परा को फारस से ले आये । यह वास्तव में उसी प्रकार की दलील है कि चूँकि हम उस परम प्रख्यात उज्जयनी के विक्रमादित्य का पता लगाने में असमर्थ है तो कालिदास को विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तनरेश चन्द्रगुप्त का दरबारी कवि कहने लगे हैं । हम जानते ही हैं भाषा के प्रचार के उपरान्त ही उसका व्याकरण बनता है । विष्णुधर्मोत्तर के कला-सिद्धान्तों के परिशीलन से उस कला की

रचनाएँ ही आधार हो सकती है जो वास्तु शास्त्र में निर्दिष्ट है, उसका कला में अवश्य अभ्यास था। यह दूसरी बात है कि उस कला के तत्कालीन निदर्शनों का हमारे पास अभाव है। अथच अजन्ता, एलौरा आदि चित्रकला निदर्शन धर्म की प्रेरणा से पनपे परन्तु चित्रकला के धर्माश्रय के अतिरिक्त राजाश्रय की प्राप्ति से उसमें बड़ा विकास आया। अतः राज-दरबार की चित्रकला तथा चैत्यों एवं विहारों की चित्रकला में अवश्य विभेद होना चाहिए। पहली अतिरंजिता दूसरी सामान्या। अत. विष्णुधर्मोत्तर (जो कि एक प्राचीन कृति है) के अनुसार यह स्वर्णयोग-परम्परा भारतीय परंपरा है इसे फारसी परम्परा मानना उचित नहीं। विष्णुधर्मोत्तर के बाद के जितने भी ग्रन्थ लिखे गये उन सबमें इसी पुरानी परम्परा का अनुकीर्तन है।

स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य जिन धातुओं का रंग द्रव्यों में उल्लेख किया गया है जैसे रजत, ताम्र, त्रापुष (टीन), अभ्रक तथा लोहा आदि उनके सम्बन्ध में विशेष विस्तार करना अभीप्सित नहीं केवल इतना ही सूच्य है कि ये धातुएँ चूर्ण के रूप में उपयोग में लायी जाती थी। अस्तु, अब स्वर्ण-प्रयोगविधि पर कुछ वर्णन आवश्यक है।

स्वर्ण-प्रयोग-प्रक्रिया—इस पर विष्णुधर्मोत्तर में दो प्रक्रियाओं का निर्देश है—पत्र-विन्यास तथा रसक्रिया। यद्यपि यहाँ पर—'लौहानां पत्रविन्यासं भवेद्वापि रसक्रिया'—स्वर्ण का साक्षात्सकीर्तन नहीं हुआ है तथापि 'लोहानाम' यह पद उपलक्षणमात्र है। इसमें सभी धातुएँ गतार्थ हैं।

पत्रविन्यास—यथानाम सोने के पत्रों को बनाकर उनको चित्रों में लगाया जाता था। अभिलषितार्थचिन्तामणि में तथा शिल्परत्न में इस प्रक्रिया का विशेष उद्‌घाटन हुआ है। पहले हम अभिलषितार्थचिन्तामणि को लेते हैं—शुद्ध सुवर्ण को लेकर उसके छोटे-छोटे पत्र काट लेना चाहिए, पुनः उन्हें एक चिकनी शिला पर परिपोषित करना चाहिए। पुनः उसमें पानी और थोड़ी-सी बालू का मिश्रण करना चाहिए। इस मिश्रण का पुनः घर्षण आवश्यक है और फिर जल से धोकर इसे साफ कर लेना चाहिए। इस स्वर्णलेप को फिर पीसना चाहिए और उसमें थोड़ा-सा वज्रलेप मिला कर लेखनी से लिखना चाहिए। हम जानते ही हैं कि लेखनी के प्राचीन चित्रकला-कौशल में नाना प्रकार थे जैसे वाराहदंष्ट्रा आदि। अत. यह स्वर्णलेप जब सूख जाय तो उसे इसी शूकरदंती लेखनी से धीरे-धीरे रगड़ना चाहिए जिससे यह लेप चमक उठे। पुन: चित्रकार को इस लेप पर सोने के बारीक पत्तों को रखकर कठोर कारपास से रगड़ कर इसको उजला कर लेना चाहिए। इस प्रकार का स्वर्णलेप (जिसमें पत्रविन्यास वांछित है) विद्युच्चकितविग्रह काति को प्राप्त करता है। शिल्परत्न का भी इसी प्रकार का उद्‌घाटन है (दे० स्वर्णलेप विधि प्रथमा तथा द्वितीया—चित्रलक्षण, पृ० ३८)।

रस-क्रिया—इससे तात्पर्य यह है कि सोने का अग्निताप से द्रव बनाया जाता था और उसमें अभ्रक आदि का मिश्रण भी उचित था। चम्पाक्वाथ तथा बकुलनिर्यास के मिश्रण पर भी विधान है। विशेष विस्तार यहाँ पर अभीप्सित नही। वर्णों की और उनके विन्यासो की इस संक्षिप्त समीक्षा के बाद वर्णरंजिता लेखनी पर भी कुछ विवेचन आवश्यक है।

वर्ण-लेखनी—अथवा विलेखा के पंचविध प्रकारो पर समरागण मे निदश है जिसकी तालिका निम्न प्रकार से उद्धृत की जाती है —

प्रकार	आकार
कूर्चक	बटांकुराकार·
हस्तकूर्चक	अश्वत्थांकुराकार
भासकूर्चक	प्लक्ष-सूचीनिभ
चल्लकूर्चक	उदुम्बराकार
वर्तनी	—

के० पी० जायसवाल ने (दे० 'ए हिन्दू टेक्स्ट आन पेंटिंग', माडर्न रिव्यू ३३वाँ, पृ० ७३४) प्राचीन पेंट ब्रशो के ९ प्रकारो पर संकेत किया है और वे भी प्रत्येक रग के ९–९ ब्रश होते थे ऐसा भी निर्देश किया है। अभिलषितार्थचिन्तामणि मे लेखनी के निर्माण पर यह निर्देश है कि तूलिका की नोक पर लाक्षा के सहारे धेनुवत्स के कर्ण के रोमो को बाँधना चाहिए तो वह वर्णोचित लेखनी बन जाती है। उसके तीन प्रकार हैं—स्थूला, मध्या तथा सूक्ष्मा। स्थूल से तिर्छे चित्र मे वर्णलेप विहित है, पार्श्वनिविष्टा मध्यमा से चित्र में अंकन अभिप्रेत है। अथच सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा का निर्माण अभीप्सित है। अर्थात् पहली से चित्रभित्ति पर वर्णलेप, दूसरी से आउटलाइन की रचना तथा तीसरी से रेखाओ का विन्यास। शिल्परत्न मे अभिलषितार्थचिन्तामणि का ही अनुसरण हुआ है। विशेषता यह है कि प्रत्येक तीन मूल रगो के लिए तीन-तीन लेखनी-विधा विहित है। इस प्रकार शिल्परत्न के अनुसार प्रत्येक वर्ण की ९–९ लेखनी निर्मित की जाती थी। इस ग्रन्थ में आकृत्यनुरूप लेखनी के तीन भेद हैं—स्थूला, मध्या तथा सूक्ष्मा। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से इन तीनों के त्रिविध से प्रत्येक वर्ण के ९–९ ब्रश तैयार हो जाते है। पुन., जैसा हमने देखा लेखनी—सामान्य—के निर्माण में वत्सरोम का विधान है। परन्तु शिल्परत्न के अनुसार वत्सरोम का विधान केवल स्थूला में विहित है परन्तु मध्या मे उनके स्थान पर अजोदरभव (बकरी के पेट में उत्पन्न होने वाले) रोम तथा सूक्ष्मा मे क्रोडपुच्छज (अर्थात् सुअर की पूँछ के) रोम उचित हैं। मानसोल्लास मे चित्रलेखनी की एक दूसरी विधा वर्तिका मानी गयी है। तूलिका पर हम पीछे निर्देश कर ही चुके है। वर्तिका की निर्मिति मे ठोस

बाँस की नलिका की आवश्यकता होती है और उसपर यव के प्रमाण में ताम्रमय शकु अर्थात् नोक का निष्पादन विहित है। अस्तु, वर्ण एव वर्णोचित लेखनी---इन दो विषयों की इस मीमांसा के उपरान्त अब वर्तना एव रेखा की विवेचना करनी है और अन्त में रसोन्मेष की परम्परा की व्याख्या के द्वारा चित्ररचना को सजीव करना आवश्यक है। जिस प्रकार काव्य मे रीति, अलंकार, गुण आदि अवश्य सहायक है, परन्तु काव्य की अभिव्यक्ति रसाश्रिता है उसी प्रकार चित्रकला में भी यह रसोन्मेष विष्णुधर्मोत्तर तथा समरागण की महती देन है। आगे हम इसकी सविस्तार समीक्षा करेगे। यहाँ चित्रकला के श्वासोच्छ्वास वर्तना-विधान पर क्रमप्राप्त प्रथम वर्णन प्राप्त है।

वर्तना---चित्र-कर्म मे वर्तना-निर्वाह चित्रकार का परम कौशल है। वास्तव मे हमने पीछे चित्र के जिस षडग---रूपभेद, प्रमाण, लावण्य, भावयोजन, सादृश्य तथा वर्णिका भग---का निर्देश किया था वह तभी सम्भव है जब वर्तना का सिद्धान्त पूर्णरूप मे बरता जाय। वर्तना चित्रशास्त्र के तीन मौलिक सिद्धान्तों मे एक है, वर्तना वातावरण की विधायिका है तथा रेखा रूप की निर्मात्री है। परन्तु इन दोनो का चित्र मे पूर्ण विजृम्भण के लिए तीन अन्य मौलिक चित्ररचनासिद्धान्तो की आवश्यकता होती है। इनकी पारिभाषिक सज्ञाएँ है---क्षय, वृद्धि तथा प्रमाण। बिना क्षयवृद्धि रेखाओ का विन्यास रूपनिर्माण मे पगु है। क्षयवृद्धि से तात्पर्य घटाव-बढ़ाव से है और प्रमाण की मीमासा हम पीछे कर ही चुके है। इन तीनो सिद्धान्तो मे चित्रकला का पारम्पर्य एव चित्रजगत् का पर्यवेक्षण मौलिक आधार है। क्षय और वृद्धि के द्वारा ही चित्र के वातावरण की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अस्तु, वर्तना विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार तीन प्रकार की मानी गयी है---पत्रज, गैरिक तथा बिन्दुज। प्रथम पत्राकृति रेखाओ से सम्बन्ध रखती है, दूसरी सूक्ष्म रेखाओ से तथा तीसरी स्तम्भनो से युक्त रेखाओ से। चित्र-रचना में चित्रकार पहले पीत तथा लाल वर्णों से एक आउटलाइन तैयार करता है अर्थात् चित्रकार को पहले चित्रणीय वस्तु-पदार्थ अथवा व्यक्ति का मानसचित्र प्रकल्पित कर लेना चाहिए। पुन. चित्रोचित मानानुसार उसका चित्रभित्ति पर रेखाचित्र उतारना चाहिए और इस रेखाचित्र मे प्रमुख स्थानो पर तीक्ष्ण रंग तथा संकुचितो पर धूमिल रंग लगाना चाहिए। पुन. नाना वर्णोचित रगो के मिश्रणो के द्वारा चित्र के अखिल अवयवो की निर्मिति करनी चाहिए। इस निर्मिति मे उसके हस्तकौशल की महती अपेक्षा है। बिना हस्तलाघव तूलिकाविन्यास, रेखाचित्रण एव वर्णसन्निवेश पूर्ण परिपाक को प्राप्त नही कर सकता।

वर्तना का सम्बन्ध वर्णों से है। वर्णों एव वर्ण के मिश्रणो पर हम पीछे निर्देश कर आये है। भले ही मौलिक वर्ण अथवा शुद्ध रंग थोड़े ही हो परन्तु मिश्रणो की सख्या तो संख्यातीत है। वह चित्रकार की कल्पना का विषय है। यह कल्पना जब प्रकृति के नाना

रंगों को देखती है तो सजग हो उठती है। नयी-नयी स्फूर्तियाँ प्राप्त होती है और एक ही रंग के नाना भेद अनायास दृष्टिगोचर होने लगते हैं। अस्तु, चित्रकला में वर्तना के द्वारा विन्यास वर्णराग वर्णनात्मक भी है और व्यगात्मक भी। उदाहरण के लिए आकाश-चित्रण का हम वर्णनात्मक एवं ध्वन्यात्मक अथवा व्यंगात्मक दोनो प्रकार के वर्णविन्यासो से चित्र प्रस्तुत कर सकते है। पहले में आकाश को नील कमल के नील रंग में नीले वस्त्र पहने हुए चित्रण करना उचित होगा और उसकी मूर्ति में सूर्य और चन्द्रमा का उसके हाथों में प्रदर्शन आवश्यक होगा। परन्तु दूसरे प्रकार में आकाश को विवर्ण तथा खगाकुल मात्र चित्र्य है। अस्तु, निष्कर्ष यह है कि चित्र में कहाँ पर प्रकाश तथा कहाँ पर छाया दिखानी चाहिए, किस स्थान पर रंग को तीक्ष्ण करना चाहिए और कहाँ पर धूमिल करना चाहिए, इन्ही सबका ध्यान वर्तना का विषय है। प्रकाश-छाया चित्रण-चित्रणीय वस्तु के अवयव प्रकाशन में सहायक वनचित्रण अथवा उर्ध्वचित्रण भी पूर्णरूप से आश्रित है। कालिदास की निम्न उत्प्रेक्षा में सम्पूर्ण चित्रशास्त्र की आत्मा निखर उठी है —

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं वपुर्विभक्तं नवयौवनेन'।

यहाँ पर तूलिका उन्मीलित तो सभी के लिए बोधगम्य है परन्तु विभक्तता जैसा हम आगे देखेंगे चित्र के मौलिक गुणों में एक गुण है। ऊपर हमने वर्तना-विधान में तथा रेखा-विन्यास में क्षयवृद्धि के सिद्धान्त का संकेत किया था। विष्णुधर्मोत्तर में इस सिद्धान्त का अनुसरण मानयोजना में सूचित शरीर मुद्राओं के साथ रखा गया है। तदनुरूप क्षयवृद्धि के त्रयोदश प्रकार निम्नरूप से वर्णित किये गये है —

क्षयवृद्धि के त्रयोदश भेद

अतः परं प्रवक्ष्यामि क्षयवृद्धिविधिं क्रमात्॥
चित्रविद्भिरसंज्ञेयं समासेननेतरेण च।
त्रयोदश विधैवात्र क्षयवृद्धिरुदाहृता॥
स्थानानां बहुसंस्थत्वादंगावयवसम्भवा।
स्थानं पृष्ठगतं पूर्वमवर्जुगतमेव च॥
मध्यार्ध तथार्धार्धं साचीकृतमुखं तथा।
नतं गण्डपरावृत्तं पृष्ठागतमथापि च॥
पार्श्वगतं च विज्ञेयमुल्लेपं वलितं तथा।
उत्तानं वलितं चेति स्थानानि तु त्रयोदश॥
कार्याण्येतानि सर्वाणि नामसंस्थानतो नृप।
मण्डलानीह वैशाख प्रत्यालीढक्रियाक्रमः॥

समाश्चार्द्धसमाः पादाः सुस्थितानि चलानि च ।
समासमपदस्थं च द्विविधं स्थानकं भवेत् ॥
तद्गत्वा पदभूयिष्ठं स्थानं समपदं स्मृतम् ।
मण्डलं च द्वितीयं स्यात्स्थानान्यन्यानि यानि च ॥
तान्येकसमपादानि विचित्राणि चलानि च ।
तत्र वैशाखमालीढं प्रत्यालीढं च धन्विनाम् ॥
चित्रगोमूत्रकगतं विषमं खड्गचर्मिणाम् ।
चलितं चलितायस्तमालीढैकपदक्रमम् ॥
शक्तितोमरपाषाणभिन्दिपालाभिधारिणाम् ।
सवल्गितं चक्रशूलगदाकुणपधारिणाम् ॥
एकपादसमस्थानं द्वितीयेन तु विद्गलम् ।
शरीरं च सलीलं स्यात्सावष्टंभैः क्वचिदुद्धृतम् ॥
लीलाविलासविभ्रान्तं विशालजघनस्थलम् ।
स्थिरैकपादविन्यासं स्त्रीरूपं विलिखेद्बुधः ॥
प्रमाणहीनस्तु जनो नुभूयात्कालस्य भावस्यवलात्पृथिव्याम् ।
इति प्रचिन्त्यात्मधिया बुधेन कार्यं प्रमाणंक्षयवृद्धियोगे ॥

क्षयवृद्धि अनुसरण यथानिर्दिष्ट अगावयव प्रभेदो पर आश्रित है । अंगावयवसम्भव इन त्रयोदश स्थानो (मुद्राओं) की सज्ञाएँ—पृष्ठगत, अर्जवगत, मध्यार्घ्य, अर्घार्घ, साची-कृतमुख, नत, गण्डपरावृत्त, पृष्ठागत, पार्श्वगत, उल्लेप चलित, उत्तान तथा वलित—है । इन मुद्राओ की आकृति एव तदनुरूप चित्र-विन्यास तो विदित है । पुन जिन वैशाख मण्ड-लादि मुद्राओ का प्रदर्शन विहित है वह धानु आदि आयुधारी चित्रणों मे विहित है । इन स्थानो पर हम पीछे (दे० प्रतिमा-स्थापत्य) कुछ सकेत कर आये हैं ।

अस्तु, वर्तना के तीन मौलिक आधारों, क्षयवृद्धि तथा तद्गत प्रमाणों की अभी तक हम विवेचना करते रहे तथा विष्णुधर्मोत्तर की सामग्री का ही प्रयोग किया गया । अपरा-जितपृच्छा मे वर्तना के कुछ विशिष्ट सिद्धान्तो का उद्घाटन हुआ अत. उसकी भी मीमांसा आवश्यक है ।

अपराजित की पत्रादि वर्तना देन—अभी तक हमने वर्तना की मीमासा में वर्ण-विन्यास की ही सहायता ली परन्तु प्राचीन चित्र-स्थापत्य पत्रलतालेख्य बड़ा ही प्रौढ़ एव लोकप्रिय चित्रण था । बाण आदि महाकवियों की रचनाओं से इसपर पुष्ट प्रमाण हस्तगत होता है । अपराजितपृच्छा मे पत्र-रचना की वर्तना में चित्र-शैलियो का भी पूर्ण निर्देश है । इसका रहस्य सम्भवतः यह है कि चित्रण की पत्रविच्छित्ति अथवा कण्टक-

विच्छित्ति वनस्पति ससार की विविधता पर आश्रित थी अतएव पत्रो के प्रकारो के उद्घाटन मे तत्तज्जनपदानुरूप विच्छित्ति विरचना को नागर आदि शैलियो के नामोल्लेख मे उल्लेख किया गया ।

पत्र-रचना—वर्तना के विष्णुधर्मोत्तरीय पत्रज मे पत्र-रचना को हम उदाहृत कर सकते है । पत्र-रचना वास्तव मे वातावरण विन्यास (प्रकृति, वनस्पति, जनपद तथा जलवायु) की वर्तना है । यह जनपदानुरूप वनस्पति विशिष्ट होता है अत. तत्तद्देशीय पत्र-रचना के तत्तद्देशोद्भव शैलियो मे परिगणित किया गया । चित्ररचना आकारिक (पोर्ट्रेट) ही नही प्राकृतिक लैंडस्केप भी है । अत प्राकृतिक चित्रण (लैंडस्केप पेंटिंग) के लिए पत्र-पद्धति कितनी विशुद्ध एव पारिभाषिक है—यह समझ सकते है । अपराजित की पत्र-रचना जिज्ञासा मे ही जिन पत्रो पर सकेत है उन्ही की एक सुदीर्घसूत्री है—दिन-पत्र, जल-पत्र, स्थल-पत्र, नग-पत्र, मेघ-पत्र, नागर-पत्र, द्राविड-पत्र, व्यन्तर-पत्र, वेसर-पत्र, कलिंग-पत्र, यामुन-पत्र, शिशु-पत्र, स्वस्तिक-पत्र, वर्धमान-पत्र, सर्वतोभद्र-पत्र आदि । अत: अब रह क्या गया ? इस जिज्ञासा के समाधान मे भुवनदेव जी ने पौराणिक आख्यान बाँधा तथा पत्र-जन्म की कहानी कहने लगे और साथ ही साथ नागर, द्राविड, व्यन्तर, वेसर, कलिग, तथा यामुन इन चित्र-शैलियो का भी पत्रोद्भव पुरस्सर उद्घाटन कर बैठे । कथा है क्षीरार्णव के मन्थन मे सुरतरु भी तो प्राप्त हुआ । देव तथा देवागनाएँ उसके नीचे विहार एव भोग ही कर सके । चित्रकला के प्रथम आचार्य विश्वकर्मा को उससे नाना जातिक चित्रोचित पत्रो की भी प्राप्ति हो गयी । इसी महा-सुरतरु के पूर्वाभिमुखीन शाखाओ से नागर, दक्षिणा से द्राविड, उत्तरा से वेसर—इन तीन शैलियो का निर्गम माना ।

अथच नागर, द्राविड, वेसर पत्रो के रूप क्रमश तरल कण्डकोद्भव तथा आकुचित माने गये है । इन तीनो शैलियो के अपने-अपने कण्टक है जिनका पारस्परिक वैलक्षण्य इन तीनो शैलियो की अलग-अलग विलक्षणता बताते है । इनके कण्टको के क्रमश. नाम है—व्यावर्त (जो व्याघ्रनख के सदृश होता है), भगचित्रक (जो केतकी और बदरी के कांटो से मिलते-जुलते है) तथा कलि (जो अगस्त्य पादप के पुष्प के सदृश होता है) ।

इन नाना जातिक अथवा शैलिक पत्रावलियो ने पुन. इस ग्रन्थ के अनुसार अन्य नाना वर्गीय एवं उपवर्गीय पत्रो का उद्भव प्रदान किया । उदाहरणार्थ दिन-पत्र के ही पन्द्रह प्रभेद है । इसी प्रकार अन्य पत्रो की भी गाथा है । यत. इन पत्रो का प्रादुर्भाव उस विख्यात दिव्य महातरु (सुरतरु) से सम्बन्धित किया गया है अत उसी रूपक से जो अन्य पत्र के प्रकार है उनमे दशशाखोद्भव पत्रो तथा षोडसकन्दज पत्रो के साथ-साथ ऋजुपत्रो के भी भेद-प्रभेद प्रदर्शित किये गये है ।

कण्टक—कण्टकों की अष्टविध जातियाँ अपनी-अपनी आकृतियों के साथ अपराजित की दिशा मे निम्न प्रकार से उल्लेख्य है —

कण्टक	आकृति
१–कलि	अगस्त्यपुष्पकाकार
२–कलिक	वराहदष्ट्राकृतिक
३–व्यामिश्र	बद्धपुष्पोद्भव (मध्यकेशर)
४–चित्रकौशल	उकाराकारसदृशः
५– व्यावर्त्त	व्याघ्रनदवत्
६–व्यावृत्त	कलशाकृति
७–भगचित्र	बदरवत्
८–सुभग	कृतिकाकृति

पत्रो और कण्टको के सम्बन्ध मे यहाँ पर यह सूच्य है कि पत्रो और कटकों को दृष्टि मे रखकर चित्रशास्त्र मे शैली-विभाजन भले ही एक सुसम्बद्ध ऐतिहासिक परम्परा न हो परन्तु यह निश्चित है कि भारतवर्ष की प्राचीन चित्र-विद्या में पत्र-रचना का बडा प्रचार था। विशेषकर कुलीना स्त्रियो मे पत्रलता लेखन नाना मनोरंजनो मे एक अत्यन्त प्रशस्त मनोरंजन था। सस्कृत के कवियो ने (विशेषकर महाकवि बाण ने) इस प्रथा के विपुल प्रसार पर अपने काव्यो मे पूर्ण एव प्रपुष्ट निदर्शन प्रस्तुत किया है। निम्न एक-मात्र उदाहरण मे पाठक इस तथ्य का मूल्यांकन कर सकते है —

चित्रकला मे रसोन्मेष

चित्रशास्त्र को व्यापक एव मनोरम वर्तनाधिराज्य के इस 'अति' संकुचित एवं विरल दिग्दर्शन के उपरान्त इसके दो प्रमुख प्रदेशों पर बिना विचरण किये इस मनोरम आधिराज्य का हम मूल्यांकन नही कर सकते। ये है चित्र के रूपनिर्माण तथा चित्रकला में रसोन्मेष। प्रथम की विवेचना हम एक स्वतन्त्र अध्याय मे करेंगे (दे० आगे का अध्याय)। दूसरे की इसी अध्याय मे विवेचन अधिक प्रासंगिक होगा। वर्तना को एकमात्र वर्णविन्यासाश्रित रखना वर्तना को बड़ी ही सकुचित दृष्टि से देखना है। भारतीय विचारधारा के अनुसार मनोरमकला का एकमात्र अध्यवसाय रसास्वाद है। यही रसास्वाद लोकोत्तर चमत्कार का तो विधायक है ही इसे ब्रह्मानन्द-सहोदर भी बताया गया है। चित्रकला एव मूर्तिकला में रसोन्मेष की परिपाटी आधुनिक दृष्टिकोण से एक प्रकार नवीन सी वस्तु प्रतीत होती है परन्तु इस ग्रन्थ के कई स्थलो पर हमने हिन्दू कला के इस महान् आधारभौतिक तत्त्व की ओर

बार-बार ध्यान आकर्षित किया जिसको हम उपलक्षणात्मक अभिव्यजना का नाम दे सकते है। अंग्रेजी मे इसको सेम्बालिक इटरप्रेटेशन के नाम से पुकार सकते है। अतएव प्रतिमाकला में मुद्रा-विनियोग तथा चित्रकला मे रूपनिर्माण एव प्रमाण की नाना योजनाएँ इसी तत्त्व की व्याख्या करते है। अतएव चित्रकला मे रसोन्मेष एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। चित्र के नाना प्रकारों की प्रस्तावना में हमने देखा कि चित्र का एक प्रकार भाव-चित्र अथवा रस-चित्र भी है। यह एक प्रकार की सकुचित परम्परा है। वास्तव मे रस का उन्मेष हम सर्वत्र समान रूप से कर सकते है। चित्रकला में नृत्यकला एव संगीतकला के जिस साहचर्य का हमने पीछे उल्लेख किया उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है। नाट्य का परम अध्यवसाय रस-निष्पत्ति है। जिस प्रकार से हस्तमुद्राओ से एव दृष्टियो के नाना उन्मेष से अभिनय सजीव हो उठता है उसी प्रकार चित्र मे रसोन्मेष से चित्र हम से वार्तालाप करने लगता है। एक शब्द मे भावप्रकाशन अथवा भावाभिव्यक्ति चित्रकला का परम प्रयोजन है। चित्रकला को वर्णाभिव्यक्ति तक ही सीमित रखना चित्रकला को मार डालना है। अत. कुशल चित्रकारों ने सदैव इस ओर चेष्टा की और सफल हुए। विश्व के महान् चित्रकारो की विश्वविश्रुत रचनाओं का यही एकमात्र मूल तत्त्व है। अतएव समरांगणसूत्रधार मे चित्रकला के नाना सिद्धान्तों—चित्रोपकरण, चित्ररचना, चित्रप्रकार, वर्णविन्यास, भूमिबन्धन, मानयोजना आदि के साथ-साथ चित्र में रसोन्मेष की प्रतिष्ठा के लिए रसदृष्टि-लक्षण नामक ८२ वे अध्याय मे रसो एव रसदृष्टियो का वर्णन किया है। रसो और रसदृष्टियों की समीक्षा करने के उपरान्त पहले हमें चित्रकला और रसकला के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर थोडा सा और ध्यान देना है।

यद्यपि रेखा (आकारोद्घाटन प्रक्रिया) तथा वर्तना (क्षयवृद्धि एवं प्रमाण के द्वारा प्रकाश एव छाया का प्रकाशन) दोनो का एकमात्र प्रयोजन चित्र-निर्मिति का सौष्ठव है तथापि जबतक चित्र मे वर्णविन्यास पूर्णरूप से तथा प्रौढ दृष्टि से नही सम्पन्न होता तबतक चित्रप्रतिमाओ की रचना अधूरी रहती है। चित्रों के वर्ण-विन्यास में चित्रकार का मनोयोग बडा महत्त्वपूर्ण है। इस मनोयोग में नाना भावो का उदय होता है। उन्हीं भावों पर जब यह वर्णविन्यास अथवा वर्तना आश्रित रहती है तब चित्रणीय चित्र खिल उठता है। यद्यपि सादृश्य मात्र प्रकाशन करने वाले सत्य अथवा विद्ध चित्रो मे रसोन्मेष की आवश्यकता नही बतायी गयी है परन्तु वह एक प्रकार का संकुचित दृष्टिकोण ही है। अतएव चित्रकला में रसोन्मेष की परिपाटी न चलकर रसचित्रो की परिपाटी चल पडी और प्राचीन ग्रन्थों में हमें इस परिपाटी के पोषण मे प्रचुर प्रवचन भी प्राप्त होते हैं। भरत के अनुसार (दे० नाट्यशास्त्र) प्रत्येक रस का अपना-अपना वर्ण होता है—शृंगार—

श्याम, हास्य—धवल, करुण—हरित, रौद्र—रक्त, वीर—पीताभ, भयानक—कृष्ण, अद्‌भुत—पीत, वीभत्स—नील। मानसोल्लास तथा शिल्परत्न आदि मध्यकालीन कृतियों में चित्र मे रसो को एक प्रकार से सकुचित कर दिया गया है परन्तु समरागण रस-कला को (ऐस्थेटिक्स) चित्रकला का सहचर मानता है। दोनो ही परम मित्र है। इन दोनो का उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध है। विष्णुधर्मोत्तर तो जन्य-जनक-भाव मानता है—चित्र का जन्म नाट्य से। विष्णुधर्मोत्तर मे भी यही प्रतिपादन है। इस प्रकार समरागण और विष्णुधर्मोत्तर दोनो ही उस परम्परा के प्रतिष्ठापक एव उन्नायक है (विष्णुधर्मोत्तर प्रतिष्ठापक, समरागण उन्नायक) जिसमे चित्र-सिद्धान्तो मे रस-सिद्धान्त एक सामान्य अनिवार्य सिद्धान्त माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर के तथा समरागण के निम्न प्रवचनो के परिशीलन से यह तथ्य अवश्य बोधगम्य बन सकता है —

(विष्णुधर्मोत्तर)

चित्र के नवरस— शृंगारहासकरुणवीररौद्रभयानकाः ।
बीभत्साद्‌भुतशान्ताश्च नवचित्ररसाः स्मृताः ॥
तत्र यत्कान्तिलावण्यलेखामाधुर्यसुन्दरम् ।
विदग्धवेशाभरणं शृंगारे तु रसे भवेत् ॥
यत्कुब्जवामनप्रायमीषद्विकटदर्शनम् ।
तथा च हस्तं संकोच्य तत्स्याद्धास्यकरं रसे ॥
याञ्चाविरहसंत्यागविक्रयव्यसनादिषु ।
अनुकम्पितकं यत्स्यात्तल्लिखेत्करुणारसे ॥
पारुष्यविकृतिक्रोधविषस्त्यर्था न भूषणम् ।
दीप्रशस्त्राभरणवत्कृतं रौद्ररसे भवेत् ॥
प्रतिज्ञागर्भशौर्यादिव्यवर्ण्यौदार्यदर्शनम् ।
सस्मयं सभ्रुकुटिवद्वीरं वीररसेद्‌भुतम् ॥
दुष्टदुर्दर्शनोन्मत्तहिंस्रव्यापादकादि यत् ।
तत्स्याद्‌भयानकरसे प्रयोगे चित्रकर्मणः ॥
श्मशानगर्हितं घातकरणं स्थानदारुणम् ।
यच्चित्रं चित्रकच्छेष्ठं तद्बीभत्सरसे भवेत् ॥
यदा विनीतरोमाञ्चचिन्तां तार्क्ष्यमुखाननम् ।
प्रदर्शयति चान्योऽन्यं तदद्‌भुतरसाश्रयम् ॥
यत्तत्सौम्याकृतिध्यानधारणासनबन्धनम् ।
तपस्विजनभूयिष्ठं तत्तु शान्ते रसे भवेत् ॥

(समरांगणसूत्रधार)

शृंगारादि एकादश-

चित्ररस—रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीनां चेह लक्षणम् ।
तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥
शृंगारहास्यकरुणा रौद्रप्रेयोभयानकाः ।
वीर (प्रत्ययाख्यौ ?) च बीभत्सश्चाद्भुतस्तथा ॥
शान्तश्चैकादशोत्युक्ता रसाश्चित्रविशारदैः ।
निगद्यते क्रमेणैषां सर्वेषामपि लक्षणम् ॥
सभ्रूकम्प (कटीक्षपेन ?) तथा प्रेमगुणान्वितः ।
यत्रेष्टललिता चेष्टा स शृंगारो रसः स्मृतः ॥
विकासिललिताषाङ्गो मृदु च स्फुरिताधरः ।
लीलया सहितो यश्च स हास्यो रस उच्यते ॥
अश्रुक्लिन्नकपोलान्तः शोकसङ्कुचितेक्षणः ।
चित्तसन्तापसंयुक्तः प्रोच्यते करुणो रसः ।
निर्भीजितललाटान्तः संरक्तोद्वृत्तलोचनः ।
दन्तदष्टाधरोष्ठो यः स रौद्रो रस उच्यते ॥
अर्थलाभसुतोत्पत्तिप्रियदर्शनहर्षजः ।
स जातपुलकोद्भेदो रसः प्रेमा स उच्यते ॥
वैरिदर्शनवित्रासंसंभ्रमोद्भ्रान्तलोचनः ।
हृदि संक्षोभयोगाच्च रसो ज्ञेयो भयानकः ॥
(द्रष्टावष्टम्भसमेर्षा ?) सुत्रसद् कुचितान्ततः ।
धैर्यवीर्यबलोत्पन्नः स वीरस्तु रसः स्मृतः ॥
(इदुप्तसिसत्र कसत्स्य ?) स्तिमिततारकः ।
टि०—इह वीरादनन्तरयोर्द्वयोरसयोर्लक्षणं लुप्तम्
असम्भाव्यं विलोक्यार्थमद्भुतो जायते रसः ॥
अविकारैः प्रसन्नैश्च भ्रूनेत्रवदनादिभिः ।
अरागाद् विषयेषु स्याद् यः स शान्तो रसःस्मतः ॥
इत्येते चित्रसंयोगे रसाः प्रोक्ताः सलक्षणाः ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्त्वेषु योजयेत् ॥

विष्णुधर्मोत्तर एव समरांगण के इन अवतरणो की तुलनात्मक समीक्षा मे यह निर्देश्य है कि जहाँ विष्णुधर्मोत्तर मे काव्य एवं नाट्य मे प्रसिद्ध नवरसो की ही अवतारणा है

वहाँ समरांगण में चित्रोचित उनमें परिवर्तन, संस्करण एवं परिवर्द्धन भी द्रष्टव्य है। समरांगण में काव्य एवं नाट्य में प्रसिद्ध रसों के विपरीत प्रेम तथा एक अज्ञात (दे० ऊपर की टि०) रस की उद्भावना है। अतएव चित्र-रसों की संख्या ९ से ११ हो गयी। इसके अतिरिक्त समरांगण में एकादश रसों की संयोजिका चित्रोचित निम्नलिखित अठारह रस-दृष्टियों का भी वर्णन हुआ है —

रसदृष्टि	रस	रसदृष्टि	रस
१—ललिता	शृंगार	१०—योगिनी	शान्त
२—हृष्टा	प्रेमा	११—दीना	करुणा
३—विकासिता	हास्य	१२—दृप्टा	वीर
४—विकृता	भयानक	१३—विह्वला	भयानक तथा करुण
५—भ्रकुटी	?	१४—शंकिता	,, ,,
६—विभ्रमा	शृंगार	१५—कुंचिता	भयानक
७—संकुचिता	,,	१६—जिह्मा	?
८— ?	?	१७—मध्यस्था	शान्त
९—ऊर्ध्वगता	?	१८—स्थिरा	?

अस्तु, इन रसों तथा रसदृष्टियों के लक्षणों की व्याख्या न कर यहाँ पर इस सिद्धान्त की कुछ विशेष मीमांसा करनी है। समरांगण मध्यकालीन कृति है। मध्यकाल में विशेषकर पूर्वमध्यकाल में सभी शिल्प-कलाओं में एक अच्छी प्रौढ़ता आ गयी थी। प्रासाद-कला, मूर्तिकला तथा चित्रकला—इन तीनों का एक प्रकार से चरम विकास हो गया था। अतः समरांगण का चित्र-रस-विवेचन काव्य-शास्त्र की एकमात्र अनुकृति नहीं है। चित्रोचित अभिव्यंजना के लिए इन रसों के लक्षणों का मौलिक रूप से यहाँ पर निर्माण किया गया है। समरांगण के प्रथम प्रवचन-'तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्ति प्रजायते'—में ही चित्रों में रसोन्मेष के मर्म की व्याख्या है। हम जानते ही हैं कि काव्य में रस-निष्पत्ति सर्वप्रधान उद्देश्य होता है परन्तु चित्र में भाव प्रकाशन ही परम पुरुषार्थ है। यह भावप्रकाशन रसों के द्वारा जब होता है तो लोकोत्तर चित्र का जन्म होता है। चित्र में रसोन्मेष का यह महा मर्म है। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में दो प्रमुख मीमांसाएँ और आवश्यक हैं। समरांगण में उपर्युद्धृत अवतरण की अन्तिम पंक्ति—'मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत्'—बड़ी ही मार्मिक है। रसानुभूति अभी तक हमने मानवों और देवों में ही देखी थी परन्तु समरांगण तो सभी प्राणियों को उसका अधिकारी बनाता है। यह प्रवचन कला के अन्तर्तम में निहित परम तथ्य का उद्भावक है अर्थात् यदि पशु और पक्षी चित्र में भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ पाये जाते हैं तो यह वास्तव में कलाकार का

चरम पाटव है। चित्रकार की यह कृति विधाता से भी विलक्षण कृति बन जाती है। प्रतिमाकला में हमने देखा कि मुद्राओं के द्वारा गूंगे देवता हमसे बातें करते हैं। उसी प्रकार यदि पशु-पक्षी भी अपने भावप्रकाशन मे चित्रकार के कौशल से समर्थ हो सकें तो कला का यह आश्चर्य नही यह उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस प्रकार रसायत्ता काव्य-कला तथा भावायत्ता चित्र-कला दोनों ही सहोदर बहनें हैं।

दूसरे पीछे हमने चित्रजन्म के सम्बन्ध में नृत्य-शास्त्र पर निर्देश किया था। चित्र और नृत्य का यह जन्य-जनक भाव सम्बन्ध भी चित्रकला में रसोन्मेष की महत्ता पर ही प्रवचन करता है। विष्णुधर्मोत्तर एवं समरांगण के निम्न प्रवचनों को देखिए —

(विष्णुधर्मोत्तर)

चित्र एवं नाट्य—यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।
दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः॥
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम्॥

(समरांगणसूत्रधार)

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात्॥
आङ्गिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते।
(भवेदत्रायतं ?) स्तस्मादनयोश्चित्रमाश्रितम्॥

इन दोनों अवतरणों के परिशीलन से यह पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि चित्रकला नाट्यकला पर आधारित है और उस आधार का प्रमुख प्रयोजन रसायत्ता भावाभिव्यक्ति जो समरांगण के प्रवचन में पूर्णरूप से स्पष्ट है। वास्तव मे चित्र भी नाट्य है। नाट्य चित्रों की माला है। चित्र, नृत्य दोनों मे अनुकरण समान है। नाट्य के हस्त ही चित्र की मुद्राएँ हैं। इस प्रकार चित्ररचना में रसोन्मेष के द्वारा जो चैतन्य प्रस्फुटित होता है, जो वर्तना विकसित होती है तथा जो भाव प्रकाशन सुगम बनता है उसी का नाम रसोन्मेष है। अन्त में चित्रशास्त्र और रसशास्त्र के कतिपय अन्य सिद्धान्तों का भी उद्घाटन यहाँ पर अभिप्रेत है जिससे चित्रकला में रसोन्मेष—इस सिद्धान्त का और अधिक पोषण हो सके।

चित्र में रससिद्धान्त—चन्द्रालोककार जयदेव और उनके टीकाकार पयगुण्ड वैद्यनाथ रससिद्धान्त को चित्र मे भी व्यवहृत करते हैं। निम्न कारिका निर्दिष्ट है —

काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनुः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

टि०—यहाँ पर कार्य का अर्थ टीकाकार ने चित्रादि रचना लिया है ।

चित्र में काव्यसिद्धान्त—काव्याचार्यों के निम्नलिखित प्रवचनों को पढ़िए और चित्र तथा काव्य इन दोनों को सहोदर भाई के रूप में देखिए —

वामन की काव्य परिभाषा तथा काव्य सिद्धान्त—"रीतिरात्मा काव्यस्य"—काव्यालंकार सूत्र । "एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्र काव्य प्रतिष्ठितम्"—वृत्ति

टि०—वामन की इस वृत्ति को देखकर विष्णुधर्मोत्तर¹ का निम्न प्रवचन किसे नहीं स्मरण आयेगा—"रेखा प्रशंसति आचार्या" ।

वामन अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में पुन चित्रो पर उतरते है —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः ।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥

जो हमें विष्णुधर्मोत्तर के—'वर्णाढ्यमितरे जनाः' की याद दिलाता है । वामन ने कान्ति नामक गुण की परिभाषा मे 'औज्ज्वल्य कान्तिः' लिखा है । पुनः 'वृत्ति' मे लिखते है—'बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छाये त्युच्यते'—पुन सूत्रो मे आकर लिखते है ²—

'औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः ।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन वन्ध्यं कवेर्वचः ॥'

राजशेखर के काव्य सिद्धान्तों में चित्र—दे० बालभारत अथवा प्रचण्डपाण्डव 'किञ्च स्तोकतम' कलापकलनश्यामायमानं मनाक् धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूपं जगज्जायते' यहाँ पर गोधूलि के समय के वातावरण की उपमा पुराने चित्र से दी गयी है जो धूम से धूमिल हो गया है ।

भट्टतौत—अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के मत प्रदर्शन पुरस्सर अभिनय की जो परिभाषा की है वह चित्रानुरूप रूप का अर्थ चित्र मे पर्यवसित किया है और नाट्य-

१. **वामन के इसी सूत्र की व्याख्या में रत्नेश्वर—(दे० उनकी सरस्वती कण्ठाभरण की टीका) में लिखते हैं : यथा चित्रस्य लेखा अङ्गप्रत्यङ्ग लावण्योन्मीलनक्षमा तथा रीतिरिति द्वितीय विस्तरः ।**

२. **वामन ने नाटक के चित्र के साथ कैसी सुन्दर तुलना की है—दे० काव्यालंकार-सूत्रः—'सन्दर्भेषु दशरूपकं नाटकादि श्रेयः तद्धि चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात्'**

शास्त्रों की जो परम्परा है उससे हम परिचित ही है, जैसे 'अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूप दृश्य-तयोच्यते'—'रूपकं तद् भवेद् रूप दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्' ।

राजानक कुन्तक की निम्न कारिका तथा उसकी वृत्ति द्रष्टव्य है —

मनोज्ञफलकोल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येवमनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ।।

फलकमालेख्याधारभूता भित्तिः, उल्लेख चित्रसूत्रप्रमाणोपपन्न रेखाविन्यासमात्र वर्णा रञ्जकद्रव्यविशेषाः, छाया कान्ति । तदिदमत्र तात्पर्य—यथा चित्रस्य किमपि फलकाद्युपकरणकलाप व्यतिरेकि सकलप्रकृतपदार्थ जीवितायमान चित्रकारकौशल पृथक्त्वेन मुख्यतयोद्भासते' । कुन्तक यहाँ पर चित्र-शास्त्रों में जिन सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है उन सबकी एक साथ अवतारणा करते हुए दिखाई पडते हैं—चित्राधार, फलक तथा भित्ति आदि । वर्तना-सिद्धान्त रेखादि तथा वर्णविन्यास के छाया, कान्ति, औज्ज्वल्य आदि गुण ।

चित्र तथा ध्वनिसिद्धान्त—पीछे हमने चित्र में भावाभिव्यक्ति के सिद्धान्त को मान लिया है। तदनुसार रसों की अभिव्यक्ति के लिए नाना भाव-योजनाएँ आवश्यक हैं—भावविषय, भावानुभव, भावपरिणाम आदि भावों के बिना रस-विशेष की न तो अभिव्यक्ति हो सकती है और न प्रधान भाव का प्रकाशन । अतः इन भाव-योजनाओं के द्वारा हम ध्वनिसिद्धान्त का स्पष्ट रूप से अनुगमन करते है । हम पहले ही कह चुके हैं कि भारतीय कला का प्राण उपलक्षणात्मकता है जिसको हम सिम्बोलिजम के नाम से पुकार सकते है । आगे हम देखेंगे (दे० रूप-निर्माण—लैंडस्केप पेंटिंग) कि बहुत से चित्रणीय पदार्थ चित्रित नही किये जाते अर्थात् अभिधेय नही रहते सवरन् व्यंग रहते है । जैसे मार्ग का चित्रण ऊँटों के काफिले से, रात्रि का चित्रण चोरों से । वास्तव में यदि गम्भीरता से देखा जाय तो चित्ररचना चातुरी में काव्यकला पाटव से भी अधिक ध्वनि का अनुगमन है । काव्य में स्वशब्दवाच्यत्व दोष माना गया है । उसी प्रकार चित्र का शीर्षक चित्र का दूषण है । चित्र को देखकर चित्रणीय पदार्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति चित्रकार का परम कौशल है ।

४

रूप-निर्माण (पारम्पर्य आदि)

इस अध्याय का विषय चित्ररचना के उस अग पर विवक्षा प्राप्त है जिसको आधुनिक भाषा मे 'कन्वेशन्स इन पेंटिंग' कहा जाता है । हमने देखा तीनो भुवनो के समस्त पदार्थ—वे स्थावर हों अथवा जगम सभी चित्र के विषय हैं । अत बडे-बड़े विषयों को चित्र के छोटे आकार मे अथवा उसके छोटे ढाँचे मे कैसे ढाला जाय । आजकल कला-सिद्धान्तो के निरूपण मे यथार्थवाद तथा आदर्शवाद चल पडे है परन्तु भारतवर्ष की कलाओ मे विशेषकर मनोरम कलाओ मे—काव्य, नाट्य, सगीत, चित्र आदि सभी कलाओं में जो मूलभूत चेतना है उसे हम उच्चातिउच्च आदर्शवाद तथा महनीयतम सस्कृति के व्यापक कलेवर में अनुप्राणित पाते हैं । भारत का यही मगलमय पारम्पर्य है परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इसमे यथार्थवाद का अभाव है । भारतीय पारम्पर्य मे यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों ही विद्यमान हैं । काव्य और चित्र, नाट्य तथा सगीत में बिना पारम्पर्य के कलाकार पगु है । पारम्पर्य कला का जीवन है और रूप-निर्माण का विधायक है । कविता मे जो नाना प्रकार के अलकार हम देखते है वह भी एक प्रकार का पारम्पर्य है । मुख की शोभा के लिए कमल और चन्द्र की ओर हम जाते है परन्तु पारम्पर्य मे यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों का किस प्रकार निर्वाह हो सके इसके लिए तत्तत शास्त्रो मे कुछ निर्धारण हैं, वे ही पारम्पर्य के मानाधार है । परन्तु कलाकार अपने निजी अनुभव तथा अपनी निज की प्रतिभा के द्वारा उसमे नये-नये उन्मेषों का भी यथास्थान प्रयोग करता है । इस प्रकार यथार्थवाद को हम फोटोग्राफी की तरह यथावत चित्रण नही मान सकते । काव्य के स्वभावोक्ति अलकार मे भी यथावत चित्रण होने पर भी कवि के उन्मेष का अभाव नही होता अन्यथा उसका चमत्कार ही जाता रहे । यही सत्य चित्रकला में भी लागू होता है । आगे हम देखेंगे कि निशा, आकाश, भूमि, पर्वत, समुद्र, जल आदि के चित्रण मे और उन चित्रणो मे चमत्कार लाने के लिए किसी न किसी पारम्पर्य अथवा कन्वेन्शन की सहायता अपेक्षित होती है । इस दृष्टि से यथार्थवाद काव्य का भी विषय है और वह चित्रकला तथा मूर्तिकला का तो प्राण है । शिशुपालवध (दे० ३.५१) में जीवित मार्जार को भी कृत्रिम मार्जार प्रेक्षक मान रहे है और रघुवश (दे० १६.१६) चित्रगत सिह का गजो पर आक्रमण प्रेक्षक लोग सच्चा मान रहे हैं । इसी प्रकार के नाना निदर्शनो की उपस्थापना से चित्रकला और मूर्तिकला मे यथार्थवाद

का प्रदर्शन दिखाया जा सकता है। इसी यथार्थवाद को समझाने के लिए प्राचीन चित्राचार्यों ने चित्र के नाना प्रकारो मे विद्ध अथवा सत्य चित्र भी एक प्रकार माना है। अथच पीछे हमने वर्तना-विन्यास के सहायक जिस मौलिक सिद्धान्त की ओर सकेत किया है वह प्रकाश तथा छाया के अंकन के लिए क्षयवृद्धि सिद्धान्त है। इसमे भी चित्रकार का यथार्थ चित्रण ही परम प्रयोजन है और उसी के परिणामस्वरूप इन सिद्धान्तों का आविर्भाव है। वर्णविन्यास के द्वारा चित्र की वर्तना मे उपकारक क्षयवृद्धि का सिद्धान्त भारतीय चित्रकला का एक अत्यन्त उपकारक सिद्धान्त है। यह परम्परा मध्यकालीन चित्राचार्यों की ही नही है वरन् महाभारत मे भगवान् व्यास ने भी इस तथ्य की बडी सुन्दर अभिव्यजना की है—

'अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः ।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः ॥'

आगे के कवियो मे भी तथा काव्याचार्यों मे भी क्षयवृद्धि का यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त था। अत चित्रकला का यह क्षयवृद्धि सिद्धान्त हमारे देश में सदैव अपनाया गया। जो लोग इसे आधुनिको की चीज कहते हैं वे बिलकुल अज्ञ हैं। चित्रकला के ग्रन्थों तथा कवियो के काव्यों मे भी इस सिद्धान्त पर सकेत है वरन् भारत के सभी चित्र-पीठो पर जो चित्रण प्राप्त होते हैं उनमें भी यह सिद्धान्त पूर्णरूप से जागरूक है। अजन्ता, बाघ की चित्रकलाओ में इस सिद्धान्त का सर्वाधिक दर्शन होता है। इस सिद्धान्त मे भारतीय चित्रकला का सर्वातिशायी आदर्श यथार्थवाद ही माना जायगा परन्तु हम पीछे कई बार सकेत कर चुके है कि चित्र का विषय बडा व्यापक और विशाल है अत सभी विषयो का चित्र के छोटे दायरे मे यथावत चित्रण असम्भव है। अथच प्राचीन चित्रकला के परमोपजीव्य विषय देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर रहे हैं। इन अमर्त्यों को किस मर्त्य ने देखा है। अतः बहुत से काल्पनिक चित्रणो मे तथा अदृश्य विषयों के चित्रण में यथार्थवाद के परिपालन के लिए कतिपय पारम्पर्यों का अनुगमन आवश्यक है। चित्रकला में पारम्पर्य के मौलिक विकास मे इसी तथ्य की विकास—कहानी है।

जहाँ तक क्षयवृद्धि के पारम्पर्य की बात है वह एक प्रकार से सीमित है। अतः असीमित चित्रकला के लिए यह सीमित सिद्धान्त सर्वत्र उपकारक नही हो सकता। अत प्राचीनो ने हमारे लिये रूपनिर्माण के नाना पारम्पर्यों की उद्‌भावना की है। इसके अतिरिक्त हमने पीछे 'चित्रो में रसोन्मेष' के प्रकरण मे देखा कि चित्रकला को एकमात्र वाच्य रखना उसको गिराना है। जिस प्रकार वाच्यमय काव्य अधम काव्य माना जाता है उसी प्रकार दर्पणसादृश्य-विधायक चित्र भी एक प्रकार से अधम चित्र है। चित्र को काव्य मे ध्वनि की प्रतिष्ठा से प्रतिष्ठित करने के लिए चित्र मे पारम्पर्यों की

सहायता ली गयी है। अत व्यग्य काव्य का ही गुण नही चित्र का भी वह परम गुण है। इस दृष्टि से काव्य के समान चित्र भी व्यक्ताव्यक्तकामिनीकुचकलशवतमनोरम तथा व्यजक दोनो ही बन जाता है। नाट्य की हस्त मुद्राओं से हम परिचित हैं। प्रतिमा के नाना स्थानो से भी हम परिचित है। सगीत के लयो के मर्म को भी हम जानते है तो फिर चित्र को भी किन्ही ध्वन्यात्मक उपादानो से विभूषित करना है कि नही ? अन्यथा विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का क्या अर्थ ?—

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः ।
कराश्च ये महा (यथाः?) नृत्ते पूर्वोक्तानृपसत्तम ।
त एव चित्रेया नृत्तं चित्रं परंमतम् ॥

अस्तु, पारम्पर्य के आनुषगिक आदर्शवाद तथा यथार्थवाद की अवतारणा से यहाँ अभिप्राय एकमात्र प्राचीनो की उस पद्धति की ओर सकेत था जिसे हम रूप-निर्माण कहते है और जो इस अध्याय का विषय है। चित्र-विषय के प्रतिपादन मे शिल्परत्न के उस महान् उद्घोष का पुन. स्मरण कराते हैं—'जङ्गमा स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवन-त्रये। तत्तत्स्वभावतस्तेषां करण चित्रमुच्यते''—अत इन्ही अदृश्य अनुद्भाव्य विषयो को भी दृश्य एवं प्रोदभाव्य बनाने के लिए रूप-निर्माण मे पारम्पर्य (कन्वेन्शन्स) की सहायता आवश्यक है। सर मे अगणित बाल है। भूविक्षेप भी भाव प्रकाशन में बडे सहायक है। मुख की आकृति भी चित्र का कम व्यजका नही। बडे-बडे पर्वत, अगाध समुद्र, निरवधि आकाश—इनका कैसे चित्रण किया जाय ? देवो की कितनी योनियाँ है ? मानव की योनियो मे कितनी कोटियाँ है ? जल, जनपद, वायु के विश्व मे कितने प्रकार है ? भू-मण्डल के नाना आवर्तो को किसने देखा ? नक्षत्र-मण्डल के नक्षत्रो को किसने गिना ? कहाँ तक कहा जाय ? इस चित्रमय विशाल विश्व के विचित्र विषयो की कैसे उद्भावना हो ? उनका किस प्रकार से चित्रण हो—इन्ही प्रश्नो का उत्तर तथा इसी समस्या का समाधान चित्रसूत्र के लेखक ने रूप-निर्माण की पद्धति मे आवश्यक पारम्पर्य पद्धति की प्रस्तावना की है। यहाँ पर यह भी सूच्य है कि इस दृष्टि से चित्र एव प्रतिमा के जो नाना मानाधार प्रकल्पित किये गये है वे पारम्पर्य के ही बोधक है तथा अनुगामी भी। मानवो, दैत्यो, यक्षो, किन्नरो, देवो, दानवो, गन्धर्वों, ऋषियो, राजाओ, ब्राह्मणो आदि के प्रमाण एक से नही हो सकते। अतएव चित्रशास्त्र मे जिन पच प्रमुख मानाधारो— हस, शश, रुचक, भद्र तथा मालव्य—की अवतारणा की गयी है वे भी इसी मौलिक सिद्धान्त के उद्भावक है। अस्तु, विस्तार से विराम लेकर अब रूप-निर्माण को देखे।

रूप-निर्माण

विषय	विशेषताएँ
नृप तथा चक्रवर्ती	महापुरुष लक्षण, जानु-पाद-कर
देवगण	यथारूप, षोडशवर्षीय
ऋषिगण	जटाजूटोपशोभित, कृष्णाजिनोत्तरासंग, दुर्बल, तेजस्वी
गन्धर्व	शेखरमुकुटोपशोभित
ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी, शुक्लाम्बरधारी
मन्त्री, पुरोहित तथा सांवत्सरिक	सर्वालंकारसंयुक्त तथा सोष्णीश अर्थात् साफा बाँधे हुए
दैत्य तथा दानव	भृकुटीमुख, वर्तुलाक्ष, भीमवक्त्र तथा उद्धतवेष
विद्याधर	सपत्नीक, माल्यालंकारधारी, खड्गहस्त तथा गगनस्थित
पिशाच, बामन	दे० मान
कुब्ज तथा प्रमथ	,,
किन्नर	दो प्रकार के—नृमुख तथा हयविग्रह (एक रूप), अश्वमुख तथा नृदेह (दूसरा रूप) अथच अश्वमुख सर्वालंकारधारी गीत-वाद्य-समायुक्त एवं द्युतिमान्
राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष तथा भीषण
नाग	देवाकार एवं फणविराजित
यक्ष	सालंकार
देवताओं के गण	नानावेश, नानायुधधारी आदि
वेश्यागण	शृंगारसम्मत वेश
कुलस्त्रियाँ	लज्जावती, सालंकार परन्तु भड़कीले नहीं
विधवाएँ	पलितकेश, शुक्लवस्त्र धारण किये हुए तथा अलंकारवर्जित
कञ्चुकी	वृद्ध
सेनापति	पीनस्कन्धभुजग्रीव, परिमाणोच्छ्रत, त्रितरंगललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि तथा दृप्त
योद्धा	भृकुटीमुख, उद्धृतवेश, उद्धतदर्शन
आयुधीयपदातिगण	खड्गचर्मधर, कर्णाटकवपुर्धर,
धनुर्धर	वारबाणधर, नंगी जाँघवाले, अनुद्धतवेश तथा पैरों में चप्पल पहने हुए

विषय	विशेषताएँ
हस्त्यारोही	श्यामवर्ण, जूटकेश तथा सालकार
अश्वारोही	उद्दीप्तवेश
बन्दी	उद्धतवेश, सिरार्दाशतकण्ठ तथा उन्मुख दृष्टि
आह्वानक (हेराल्ड्स)	कपिल तथा केकरेक्षण
दण्डपाणि योद्धा	दानवो के समान
प्रतीहार	पार्श्वबद्ध खड्ग, दण्ड धारण किये हुए
वणिक •	ऊँचे-ऊँचे साफा बाँधे हुए
गायक, नर्तक आदि	उद्धतवेश तथा आसन्नपलित एव स्वर्णभूषणविभूषित
पौरजानपद	शुभ्रवस्त्रविभूषण, विनम्र स्वभाव, प्रियदर्शी
पहलवान (मल्ल)	लम्बे, भयानक, पीनगात्र, पीनग्रीवशिरोधर तथा नीचकेश
वृषभ तथा सिह	प्रकृति की गोद में—चरागाह तथा जगल
नदियाँ	शरीरधारी, अपने वाहनो पर (जैसे गगा मकर पर), हाथ में पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटने टेके हुए
पर्वत	शिखरमनाथ
भूमण्डल	देवी के रूप में हाथ मे द्वीपों को लिये हुए
समुद्र	शिखरपाणि तथा रत्नपात्रकर एव प्रभा के स्थान पर सलिल प्रदर्शन
निधियाँ	पात्र अर्थात् कुम्भ रूप मे, शखनिधि शख के आकार में, पद्मनिधि पद्म के आकार में
आकाश	विवर्ण तथा खगाकुल, तारकामण्डित दिव
भूमि	जागल, अनूप तथा मिश्र अपने-अपने गुणो के साथ
पर्वत	शिलाजालो, शिखरों, धातुओं, पेडो, निर्झरों से तथा भुजंगो से युक्त
वन	नानाविध वृक्षो, विहंगो एव श्वापदो से सनाथ
जल	अनन्त मत्स्य एव कच्छपों से युक्त। कमल अथवा अन्य जलीय जन्तु प्रदर्श्य हैं
नगर	मन्दिरों, राजप्रासादों, बाज़ारों, मार्गों, राजमार्गों से सूच्य
ग्राम	रास्तों के साथ-साथ दोनों तरफ बगीचे और झाडियाँ
दुर्ग	अपने उचित स्थान पर वप्र एव अट्टालको सहित
आपणभूमि	पण्ययुक्त अर्थात् दुकानों सहित
आपानभूमि	पियक्कड लोगो से आकुल

जुआरी	द्यूतासक्त तथा उत्तरीयविहीन हारे हुए शोकसमायुक्त तथा जीते हुए हृष्ट
रणभूमि	चतुरंगबलोपेत तथा प्रहार करते हुए नरो से युक्त और मृत शरीरो के रक्त से प्रपूर्ण
श्मशान	चिता एव शवों से सूच्य
मार्ग	ऊँटो के काफिलो से सूच्य
रात्रि	(अ) नक्षत्रादि चन्द्र एव तारो से (ब) उल्लू बोलते हुए तथा (स) आमग्न तस्कर अर्थात् चोरो के द्वारा
उष काल	सारुण, म्लानदीप तथा रुतकुक्कुट
दिन	कर्मव्यग्र जनप्राय
सन्ध्या	सन्ध्यावन्दन के लिए उत्थित ब्राह्मणो के द्वारा
अंधेरा	अपने घर के लिए दौडते हुए लोगो के द्वारा
चाँदनी	कुमुदविकास तथा कमल-सकोच
सूर्य	थके हुए प्राणियो के द्वारा
वसन्त	फुल्ल वृक्ष, कोकिलालाप, मधुर गुजन तथा प्रहृष्टनरनारीक
ग्रीष्म	क्लान्त नरो एव मृगो का वृक्षो की छाया के नीचे आना, भैसों का कीचड मे नहाना, जलाशयो का सूखना, पक्षियो का वृक्षो मे लीन रहना, सिह—व्याघ्रो का गुहाओ से न निकलना
वर्षा	पानी से भरे हुए बादल, इन्द्रधनुष, बिजली की चमक आदि
शरद्	फलो से लदे पेड, सस्य से भरे क्षेत्र, जलाशयो मे हंसो का विहार
हेमन्त	कुहरे का वातावरण, लून वसुन्धरा
शिशिर	सम्पूर्ण दिग्मण्डल हिमाच्छादित, ठड से पीडित मानव परन्तु वायस और मातग हृष्ट

अस्तु, विष्णुधर्मोत्तर कथित इस सक्षिप्त रूपनिर्माण-तालिका की अवतारणा के उपरान्त अब अन्त मे एतद्विषयक कतिपय अन्य निर्देशो की प्रस्तावना भी आवश्यक है, जो चित्र-प्रतिमा के शरीरावयवो के निर्माण मे ही अत्यन्त उपकारक नही वरन् उन अवयवो की रचना मे प्रकृति के इस विशाल वानस्पत्य तथा पशु-समार से कौन-कौन आधार हम ले सकते है अथच जनपद विशेष की वेश-भूषा के अनुरूप कौन-कौन से अग किस प्रकार से चित्र्य है—इन सभी समस्याओ तथा उपकरणो के समाधान और साधन मे आवश्यक इस अत्यन्त प्रतिष्ठित ग्रन्थ के निम्नलिखित कतिपय अन्य प्रवचन भी अवतारणीय है।

किसी भी जिज्ञासु कलाकार के लिए ये प्रवचन पूर्णरूप से ज्ञातव्य ही नहीं है वरन् कण्ठस्थ कर लेने चाहिए —

केश (सभेद-प्रभेद)—तरङ्गभंगिनः सूक्ष्मा निजस्नेहाम्बुवर्लकृताः।
घनेन्द्रनीलसदृशाः केशाः कार्यास्तथा शुभाः॥ १ ॥
कुन्तला दक्षिणावर्तास्तरङ्गाः सिंहकेसराः।
वर्धरा जूटप्रसरा इत्येताः केशजातयः॥ २ ॥

नेत्र—चापाकारं भवेन्नेत्रं मत्स्योदरमथापि वा।
नेत्रमुत्पलपत्राभं पद्मपत्रनिभं तथा॥ ३ ॥
शशाकृति महाराज पञ्चमं परिकीर्तितम्।
चापाकारं भवेन्नेत्रं प्रमाणेन यथा स्त्रियः॥ ४ ॥
मत्स्योदराख्यं कथितं तथा यवचतुष्टयम्।
नेत्रमुत्पलपत्राख्यं प्रमाणात् षड्यवं स्मृतम्॥ ५ ॥
पद्मपत्रनिभं नेत्रं प्रमाणेन यवा नव।
शशाकृति च विज्ञेयं तथैव च यवा दश॥ ६ ॥
स्वमानांगुलमानस्य यवमानं प्रकल्पयेत्।
चापाकारं भवेन्नेत्रं योगभूमिनिरीक्षणात्॥ ७ ॥
मत्स्योदराकृति कार्यं नारीणां कामिनां तथा।
नेत्रमुत्पलपत्राभं निर्विकारस्य शस्यते॥ ८ ॥
त्रस्तस्य रुदतश्चैव पद्मपत्रनिभं भवेत्।
क्रुद्धस्य वेदनार्तस्य नेत्रं शशाकृतिर्भवेत्॥ ९ ॥

ऋषि आदि—ऋषयः पितरश्चैव देवताश्च नराधिप।
स्वप्रभाभरणाः कार्या द्युतिमन्तस्तथैव च॥ १० ॥
मुष्णन्तस्तेजसा तेजः परेषां नृपसत्तम।
सम्यग्विचार्य नृपते स्वधिया यथोक्तं ह्येतत्प्रमाणमनुरूपमनिन्दितं च।
स्थानैरनेककिरणैः स्थिरभूमिकर्मैः कार्यं तदेव सुकुमारमजिह्मरेखम्॥ ११ ॥

पुनः नेत्र—नेत्रमुत्पलपत्राभं रक्तान्तं कृष्णतारकम्॥ १२ ॥
प्रसन्नं दीर्घपक्ष्मान्तं मनोज्ञं मृदु सत्तम।
देवतानां करं राजन् प्रजाहितकरं भवेत्॥ १३ ॥
समे गोक्षीरवर्णाभे स्निग्धे जिह्माग्रपक्ष्मले।
प्रसन्ने पद्मनेत्रान्ते मनोज्ञे प्रियदर्शने॥ १४ ॥

कृष्णतारे विशाले च नयने श्रीसुखप्रदे।
चतुरस्रं सुसम्पूर्णं प्रसन्नं शुभलक्षणम् ॥ १५ ॥
अत्रिकोणमवक्रं च अविकारमुखं भवेत्।
दीर्घमण्डलवक्त्राणि त्रिकोणादीनि यानि च ॥ १६ ॥
वर्ज्यानि तानि देवानां प्रजासु शिवमिच्छता।
कार्या हंसप्रमाणेन देवा यदुकुलोद्वह ॥ १७ ॥
तेषां च लोम कर्तव्यमक्षिपक्ष्मसु च भ्रुवोः।
अतः शेषेषु गात्रेषु देवा यदुकुलोद्वह ॥ १८ ॥
द्विरष्टवर्षाकाराश्च तथा कार्या दिवौकसः।
प्रसन्नवदना नित्यं तथा च स्मितदृष्टयः ॥ १९ ॥
मुकुटैः कुण्डलैर्हारैः केयूरैरङ्गदैस्तथा।
भूषितास्तेऽथ कर्तव्याः शुभलग्दामधारिणः ॥ २० ॥
श्रोणीसूत्रेण महता पादाभरणधारिणः।
यज्ञोपवीतवन्तश्च सावतंसास्तथैव च ॥ २१ ॥
जान्वधोलम्बिना कार्याः शोभिना कटिवाससा।
वामे मनुजशार्दूल दक्षिणं जानु दर्शयेत् ॥ २२ ॥
अंशुकं च तथा कार्यं देवतानां मनोहरम्।
प्रभा च तेषां कर्तव्या मूर्ध्नि मूर्ध्नः प्रमाणतः ॥ २३ ॥
मण्डलाभा महाराज, देवतातोऽनुकारिणी।
देव-दृष्टि—ऊर्ध्वा दृष्टिरधो दृष्टिस्तिर्यक् तेषां विवर्जयेत् ॥ २४ ॥
हीनाधिका वा दीना वा क्रुद्धा रूक्षा तथैव च।
ऊर्ध्वा तु मरणायोक्ता शोकायाधः प्रकीर्तिता ॥ २५ ॥
तिर्यग्धनविनाशाय हीना भवति मृत्यवे।
अधिका शोकजननी दीना च तुमसत्तम ॥ २६ ॥
रूक्षा धनक्षयाय स्यात् क्रुद्धा भयविवर्धिनी।
शातोदरी न कर्त्तव्या न कार्या चाधिकोदरी ॥ २७ ॥
सक्षता च न कर्तव्या तथा यदुकुलोद्वह।
हीनाधिकप्रमाणा च रूक्षवर्णा तथैव च ॥ २८ ॥
विवृतेन च वक्त्रेण नता च यदुनन्दन।
प्रमाणहीनैरङ्गैश्च त्वधिकैरपि पार्थिव ॥ २९ ॥

शातोदरी क्षुद्भयदा मरणायाधिकोदरी ।
सक्षता मरणायोक्ता हीना · । धनविनाशिनी ॥ ३० ॥
अधिका शोकजननी रूक्षवर्णा भयप्रदा ।
विवृतेन च वक्त्रेण कुलनाशकरी भवेत् ॥ ३१ ॥
प्राच्याभा धननाशाय दक्षिणेन च मृत्यवे ।
पश्चिमेन सुतघ्नी च शोकभयविवृद्धये ॥ ३२ ॥
प्रमाणहीना नाशाय अधिका देशनाशिनी ।
अवलक्ष्या · मरणायोक्ता कुब्जा रूपविनाशिनी ॥ ३३ ॥
प्रमाणहीनां प्रतिमां तथा लक्षणवर्जिताम् ।
आवाहिता च विप्रेन्द्रैर्नाविशन्ति दिवौकसः ॥ ३४ ॥
आविशन्ति तु तां नित्यं पिशाचा दैत्यदानवाः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मानहीना विवर्जयेत् ॥ ३५ ॥
आयुष्यं च यशस्यं च धनधान्यविवर्धनम् ।
तदेव लक्षणापेतं धनधान्यविनाशनम् ॥ ३६ ॥
देवा नरेन्द्र कर्तव्याः शोभावन्तः सर्वदा तु ।
मृगेन्द्रवृषनागानां हंसानां गतिभिः समाः ॥ ३७ ॥
सलक्षणं चित्रमुशन्ति धन्यं देशस्य कर्तुर्वसुधाधिपस्य ।
तस्मात् प्रयत्नेन सलक्षणं तत् कार्यं नरैर्यत्नपरैर्यथावत् ॥ ३८ ॥

अर्थात् राजाओ के चित्रो मे तीन सुन्दर रेखाएँ चित्रित करनी चाहिए। उनके केश स्नेहाभिलकृत, घनेन्द्रनील सदृश होने चाहिए। यहाँ पर चार प्रकार के केशो का वर्णन देखिए (श्लोक स० २)। नेत्र पाँच प्रकार के देखिए (श्लोक स० ३, ४)। इनके प्रमाण एव विनियोग पर प्रवचन (श्लोक स० ५—६) पढ़िए। १०वे श्लोक मे ऋषियो का वर्णन पढ़िए। ११वे मे चित्र-विन्यासोचित भित्ति की विशिष्टताओ को देखिए। पुन १२ से १६वे मे देवो के नेत्र किस प्रकार चित्र्य है—वर्णन पढ़िए। १७वे मे देवो का आकार चित्र-शास्त्र मे प्रतिपादित पचविध-मानदण्ड—हस, शश, रुचक, भद्र तथा मालव्य—में से हस के प्रमाण मे रचनीय है—यह प्रतिपादित है। १८वे मे देवो को लोमवर्जित चित्र्य बनाया गया है और उन्हे सदैव षोडश वर्षीय दिखाने का सकेत है। अथच आगे (१६-२३) देवताओ के चित्रो मे उनकी प्रसन्नमुखता, हसमुख दृष्टि, मुकुटादि परिधान तथा यज्ञोपवीत तथा मेखला आदि के सन्निवेश पर निर्देश है, साथ-ही-साथ किसी भी देवचित्र मे प्रभा-मण्डल अवश्य दर्शनीय है। चित्रकार को देवो की दृष्टि पर विशेष अभिनिवेश रखना चाहिए। उनकी दृष्टि न ऊपर को उठी हो न नीचे की ओर हो और न तिरछी हो, अन्यथा

चित्रकार के लिए बड़ा अशुभ (२४-२८) होता है। शास्त्र का पूर्ण आदेश है कि प्रमाणहीन कोई भी अंग न रखा जाय और न अंगों में किसी प्रकार का दोष दिखाया जाय (२६-३४)। चित्र के सभी लक्षणों से संयुक्त प्रतिमा सदैव प्रशंसनीय होती है, वह आयु, यश और धन-धान्य को बढ़ाती है। अथच वही यदि लक्षणों में हीन हो तो धन-धान्य का विनाश करती है। सलक्षण चित्र धन्य है। वह देश, समाज, राजा, कर्त्ता, चित्रकार सभी के लिए शुभदायक है (३५-३७)।

विष्णुधर्मोत्तर का आदेश है कि चित्र की प्रतिमाओं की रचना जाति-अनुसार करनी चाहिए। चित्र के नाना प्रकारों में सत्य (विद्ध) चित्र में सादृश्यकरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है, वह अनिवार्य है। अथच चित्रकार को शास्त्रों के आदेशों का पूर्ण पालन करते हुए भी अपनी बुद्धि से चित्रणीय व्यक्ति अथवा वस्तु के रूप, वेश तथा रंग का अनुपात ठीक-ठीक करना चाहिए। जिस देश में जो मनुष्य उत्पन्न हुआ हो उसका चित्र उसी के सदृश बनाना चाहिए। देश, नियोग, स्थान, कर्म, आसन, शयन, यान, वेश—सभी पर पूर्ण ध्यान देना आवश्यक है। जो चित्रकार सोते हुए को चेतनायुक्त और मृत को चैतन्य-रहित दिखा सकता है तथा चित्र में भी नीचे-ऊँचे का विभाग प्रदर्शित कर सकता है वही वास्तव में चित्रकार है। चित्र को देखने से चित्र हँसता हुआ, डरता हुआ, मुस्कराता हुआ, श्वास लेता हुआ, एक शब्द में सजीव-सा जब दिखाई पड़ता है तभी चित्रकार का परम कौशल है। विष्णुधर्मोत्तर में चित्र के इन्हीं मर्मों का निम्न श्लोकों में उद्घाटन हुआ है जो किसी भी जिज्ञासु कलाकार के लिए कंठस्थ करने योग्य है—

यथाजात्यनुरूपेण वेषेण मनुजेश्वर॥

वृष्टं सुसदृशं कार्यं सर्वेषामविशेषतः।
चित्रे सादृश्यकरणं प्रधानं परिकीर्तितम्॥

बुद्ध्या रूपं यथावेशं वर्ण च मनुजोत्तमाः।
देशे देशे नराः कार्या यथावत्तत्समुद्भवाः॥
देशं नियोगं स्थानं च कर्म बुद्ध्वा च यत्नतः।
आसनं शयनं यानं वेशं कार्यं नराधिप॥

सुप्तं च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्॥

लसतीव च भूलम्बो विभ्यतीव तथा नृप।
हसतीव च माधुर्यं सजीव इव दृश्यते।
सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्॥

उपसंहार

(चित्रकला तथा चित्रकलाकार)

भारतीय चित्रकला के शास्त्रीय सिद्धान्तो की समीक्षा हमने पीछे के चार अध्यायों मे की। उससे प्रकट है कि यह कला भी काव्य और संगीत के समान ऊँची और मनोरम है। चित्र का और नृत्य का पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध ही चित्र की इस प्रशस्त पृष्ठ-भूमि का निर्माण करता है। संगीत और काव्य के अपने-अपने दर्शन भी उद्भावित किये गये है। अत उनकी सहोदर चित्रकला भी दर्शन की दिव्य ज्योति से अननुप्राणित नही रह सकती। चित्र का दर्शन चित्रकार की निष्ठा एवं मनोयोग मे अन्तर्हित है। चित्रकार की साधना ही चित्र का दर्शन है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य के कारण में शक्ति को प्रथम स्थान दिया है। आजकल के लोग शक्ति का अर्थ कवि की कल्पना के रूप में करते है। यह वास्तव मे एक अति सकुचित बुद्धिवाद का विपरिणाम है। शक्ति की कारणता के लिए हमको शैव दर्शन समझने की आवश्यकता है। कश्मीर के काव्याचार्य, जो संस्कृत काव्यशास्त्र के सर्वाधिक प्रख्यात काव्याचार्य है वे सभी शैव थे और शैव दर्शन विशेष कर शाम्भवदर्शन (जिसमें शिव तथा शक्ति दोनो तत्त्वो को संयुक्त सत्ता को परम सत्ता माना गया है) के विशेषज्ञ थे। अत क्रान्तदर्शी मनीषी-प्रजापति कवि के लिए शक्ति की आराधना एक प्रकार से अनिवार्य मानी गयी है। यह शक्ति ही काव्य का परम दर्शन है। जिस प्रकार ब्रह्म की मायाशक्ति का विलास यह संसार है उसी प्रकार कवि की शक्ति का मंगलमय विलास काव्यजगत् है। काव्य मे रस-ब्रह्म, संगीत मे नाद-ब्रह्म की कल्पना का आखिरकार आधार क्या है? जब तक शक्ति के इस महामर्म को हम नहीं समझते, तब तक इस आधार के महत्त्व को नही समझ सकते। सम्भवत इसी व्यापक दृष्टि से 'अपराजितपृच्छा' मे (दे० चित्रविषय) चित्र मे ब्रह्म की और ब्रह्म मे चित्र की, कूप मे जल और जल में कूप के समान उद्भावना हुई है। चित्र में रसोन्मेष की परम्परा की भी यही अभिव्यंजना है। अतः एक शब्द मे सभी भारतीय कलाओ का प्रयोजन भौतिक एव व्यावहारिक मात्र नही, उसमे अध्यात्म का उन्मेष सदैव पाया गया है। वास्तव मे बात यह है कि अपनी-अपनी संस्कृति और सभ्यता के अनुरूप लोगो ने अपने-अपने सिद्धान्त स्थिर किये हैं। यूनान और रोम की कलाओ का जो आदर्श था, वही आदर्श भारत का कभी भी न बन सका, यहाँ मनोरंजन मात्र कला का कभी उद्देश्य नही रहा। कला स्वय उद्देश्य

कभी न बनी। वह सदैव विधेय रही। भारतीय कला की यह सर्वप्रमुख विशेषता है। चित्रकला इसका अपवाद कैसे रह सकती है? भारतीय चित्रकला के मुकुटमणि स्थापत्य-निदर्शन अजन्ता की गुफाओ के चित्रण मे कौन-सा मनोरंजन निहित है? मनोरंजन तो राजदरबार, नगर तथा अन्यान्य जनसकुल बस्तियों की व्यवस्था है। घने कान्तारों तथा पर्वत के गह्वरों मे रहनेवाले योगियों अथवा जिज्ञासुओ की इन कृतियों मे मनोरंजन नही; धर्म की शरण है, अध्यात्म का चिन्तन है तथा पुराणो का पारायण है। महामानव बुद्ध के जीवन और मृत्यु के नाना वृत्तान्तो का चित्रण, विशेष कर महाभिनिष्क्रमण आदि अजन्ता-चित्रणो मे कौन-सा मनोरंजन है? प्रेरणा अवश्य है। धर्म और जीवन का मर्म अवश्य है। अतएव चित्रकला की महनीय विभूति माने जाते है तथा देश और काल की क्षुद्र सीमाओ को लाँघकर विश्व की एक परम निधि माने जाते है। यही सच्ची चित्रकला है।

हमने पीछे सकेत किया कि भारत की चित्रकला अन्य प्राचीन देशों की चित्रकला के समान नही है। इसके आदर्श भी भिन्न है और इसके उपभोग भी भिन्न है, अतएव इसके विन्यास भी विभिन्न है। पश्चिम की चित्रकला मे घनत्व विशेष अभीप्सित है। अतएव वहाँ उसे घनत्व की कला (आर्ट आफ मास्स) कहा गया है, परन्तु पूर्व अर्थात् भारत की कला मे रेखा का प्राधान्य है। इस प्रकार पश्चिम की कला सामाजिक है तथा भारत की कला वैयक्तिक है। अतएव दोनो कलाओ के प्रयोजन भी भिन्न है। पश्चिम मनोरंजन को प्रथम स्थान देता है, भारत उसे गौणातिगौण। अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब अन्त मे पीछे के उपसहारस्वरूप चित्रकला के गुण-दोषों की विवेचना के साथ-साथ चित्रकला के मास्टर चित्रकार की भी अवतारणा करनी है। पीछे हमने चित्र के नाना उपकरणो तथा चित्ररचना के नाना सिद्धान्तो की विवेचना की, अत अब हम चित्र के गुण-दोष परीक्षण मे अवश्य समर्थ है। पहले हम दोषो को लेते है। दोषाभाव ही गुण है। विष्णुधर्मोत्तर मे चित्र-दोषो का निम्न प्रकार से कथन किया गया है —

चित्र-दोष

दौर्बल्यबिन्दुरेखत्वमविभक्तत्वमेव च।
बृहद्गण्डौष्ठनेत्रत्वमविरुद्धत्वमेव च॥
मानवाकारता चेति चित्रदोषाः प्रकीर्त्तिताः।
दुरासनं दुरानीतं पिपासा चान्यचित्तता।
एते चित्रविनाशस्य हेतवः परिकीर्त्तिताः॥

अर्थात् जिस चित्र मे बिन्दुरेखा (दे० वर्तना प्रभेद—बिन्दुज, पत्रज आदि) दुर्बल हो, अग परस्पर सटे हो, चित्रणीय व्यक्ति के गण्ड, ओष्ठ तथा नेत्र बड़े-बड़े विकराल

मालूम पड़े, सभी अग एक से दिखाई पड़ें तथा देवों के आकार मानव के समान हो तो वह चित्र दूषित माना जाता है। इसी प्रकार दुरासन (अर्थात् उचित आसन न देकर अनुचित आसन पर बैठाना), लापरवाही, पिपासा, अन्यचित्तता भी चित्र विनाश के हेतु परिकीर्तित किये गये है।

चित्र-गुण

स्थानप्रमाणभूलम्बो मधुरत्वं विभक्तता ।
सादृश्यं क्षयवृद्धिश्च गुणाश्चित्रस्य कीर्तिताः ॥
रेखा च वर्तना चैव भूषणं वर्णमेव च ।
विज्ञेयं मनुजश्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥
रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः ।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ॥
इति मत्वा तथा यत्नः कर्तव्यश्चित्रकर्मणि ॥
सर्वस्य चित्तग्रहणं यथा स्यान्मनुजोत्तम ॥
स्वानुलिप्तावकाशा च निर्देशं मधुका शुभा ।
सुप्रसन्नाभिगुप्ता च भूमिः स्याच्चित्रकर्मणि ॥
सुस्निग्धविस्पष्टसुवर्णरेखं विद्वाञ्यथादेशविशेषवेशम् ।
प्रमाणशोभाभिरहीयमानं कृतं भवेच्चित्रमतीव चित्रम् ॥

अर्थात स्थान का तात्पर्य विस्तार मे है, प्रमाण का चित्र के मानाधार, भूलम्ब से। चित्राधार अथवा चित्रभित्ति एव मधुरत्व से चित्र की मनोज्ञता बोधित है, परन्तु चित्र का सबसे बड़ा गुण विभक्तता है। सादृश्य (दे० विद्धचित्र) यथार्थवादी चित्रो का परम गुण है, क्षयवृद्धि का अर्थ हम पीछे कह ही चुके है। अत चित्र के नाना सिद्धान्तों की परिपालना ही चित्र का परम गुण है। वैसे तो ऊपर कथित चित्र के चार प्रसिद्ध गुण हैं— रेखा, वर्तना, भूषण तथा वर्ण। आचार्य रेखा की प्रशसा करते है, चित्र के विचक्षण वर्तना को ही चित्र का परम गुण मानते है, स्त्रियाँ चित्र की भूषा पर ही लट्टू रहती है तथा साधारण जन चित्र के रगो मे ही रग जाते है। अत. ऐसे चित्र का निर्माण करना चाहिए जो सभी को आकर्षक हो। अथच चित्र के अन्य गुणो मे अच्छी तरह लेप्यादि सयोजित चित्रभित्ति, वर्ण एव वर्तना से विन्यस्त चित्रण, सुवर्ण रेखाओं से आकर्षक विन्यास, प्रमाणादि सिद्धान्तों मे निर्मित चित्र की भी कम उल्लेख्य विशेषताएँ नही। अस्तु, चित्रो के गुणो और दोषो की इस स्वल्प समीक्षा के उपरान्त चित्र के विधाता चित्रकार पर भी कुछ निर्देश आवश्यक है।

चित्रकार

जिस प्रकार से राजशेखर ने कवियों की नाना श्रेणियों का निर्माण किया है—महाकवि, कविराज आदि—उसी प्रकार चित्रशास्त्रीय ग्रन्थों में चित्रकारों की श्रेणियाँ अनुपलब्ध हैं। मानसोल्लास (जिसका लेखक स्वयं बड़ा चित्रकार था) में चित्रकार पर निम्न प्रवचन द्रष्टव्य है—

> **प्रगल्भैर्मविकैस्तज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः ।**
> **विधिनिर्माणकुशलैः पत्र-लेखन-कोविदैः ॥**
> **वर्णपूरणदक्षैश्च वीरणे च कृतश्रमैः ।**
> **चित्रकैर्लेखयेच्चित्रं नानारसमुद्भवम् ॥**

इस प्रवचन में चित्रकार की सभी योग्यताओं एवं दक्षताओं पर संकेत है। अतः उनकी विशेष छान-बीन न कर (वह तो पीछे के अध्यायों में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हो चुकी है) अब थोड़ा-सा भारतीय चित्रकारों के सम्बन्ध में विचार अभीप्सित है। संस्कृत काव्यों के परिशीलन में (विशेष कर नाटकों के) चित्राचार्यों पर भी संकेत प्राप्त होते हैं, परन्तु वे संकेत न तो इतने प्रचुर हैं और न प्रबल, जिससे उनके इतिहास पर कुछ प्रकाश डाला जा सके। हम इतना ही जानते हैं कि भारतीय चित्रकला का प्रथम चित्रकार एक स्त्री थी जिसका नाम चित्रलेखा था और जिसने उषा के प्रियतम अनिरुद्ध का चित्र बनाया था। नारायण ऋषि तथा राजा नग्नजित को चित्रकार के रूप में हम पहले ही देख चुके हैं, परन्तु यह निर्विवाद है कि भारतीय चित्रकला अनामिका कला है। जिस प्रकार से हम दूसरे देशों के प्रसिद्ध चित्रकारों से परिचित हैं उस प्रकार से अपने चित्रकारों से नहीं। अजन्ता के चित्रकार व्यावसायिक नहीं थे, वे वास्तव में बौद्धसंघ के आचार्य अथवा उपाध्याय थे। हाँ, बाद के चित्रकारों की जो संस्था थी वह एक प्रकार से पुश्तैनी संस्था थी, जैसे राजपूती चित्रकला के चित्रकार। मुगल चित्रकार राजदरबारी थे और उनके विषय में हम थोड़ा-सा जानते भी हैं, परन्तु वे हमारे विषय नहीं।

चित्र-शैलियाँ

चित्रकार और उसकी कला (गुण-दोष आदि) की इस शास्त्रविषयिणी उपसंहारात्मक अवतारणा में भारतीय चित्रकला की शैलियों पर भी कुछ संकेत आवश्यक है। पीछे वर्तना की विवेचना में हम पत्रजात्यनुरूप नागर, द्राविड, व्यन्तर, वेसर, कलिंग तथा यामुन इस शैली-षट्क पर दृष्टिपात कर चुके हैं, परन्तु उनका विस्तार यहाँ पर वांछित नहीं। यहाँ पर आधुनिक कला-समीक्षा में प्रसिद्ध चित्र-शैलियों की ही कुछ समीक्षा अभीप्सित है। इस देश में चित्रकला में तीन प्रमुख शैलियाँ उदय हुईं—बौद्ध, हिन्दू तथा मुसलमानी। हिन्दू का अभिप्राय पूर्व-मध्यकालीन तथा उत्तर-मध्यकालीन

दोनो से है। पूर्व-मध्यकालीन हिन्दू चित्रकला का स्थापत्य निदर्शन न के बराबर है। उसका अनुमान कवियों के काव्यों से किया जा सकता है, परन्तु उत्तर-मध्यकालीन हिन्दू कला का नाम राजपूत-कला रखा गया है। मुसलमानी शैली से हमारा तात्पर्य मुगल चित्र-कला से है। यहाँ पर यह सूच्य है कि प्राचीन चित्रकला को हम शैलियों में वास्तव में विभाजित नही कर सकते, परन्तु सौविध्य की दृष्टि से हम प्राचीन भारत की कला-शैलियो का वृत्तान्त तारानाथ नामक इतिहासज्ञ विद्वान् की समीक्षा से दे सकते है।

बौद्ध शैली—तारानाथ के अनुसार बौद्ध चित्रकला की तीन प्रमुख शैलियाँ थी—देव-शैली, यक्ष-शैली तथा नाग-शैली। प्रथम शैली का प्रसार प्राचीन मगध (अर्थात् आधुनिक बिहार) मे था और इसका तिथिक्रम ईसा से छ सौ वर्ष पूर्व से लगाकर तीन सौ वर्ष पूर्व (अर्थात् ३०० वर्ष) माना गया है। विनय-आगम आदि ग्रन्थो के परि-शीलन से इस तथ्य मे विशेष अतिरजना नही प्रतीत होती। दूसरी शैली अर्थात् यक्ष-शैली का विकास अशोक से सम्बन्धित है। अत इसका प्रारभ ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व माना गया है। तीसरी शैली (अर्थात् नाग-शैली) ईसवीय तृतीय शतक कालीन नागार्जुन नामक बौद्ध दार्शनिक के काल मे प्रारम्भ हुई। नागो के कलापाटव पर हम पीछे (दे० प्रासाद पटल, प्रासाद-शैलियाँ) सकेत कर चुके है। नाग बडे तक्षक थे। उनकी पाषाणकला तो प्रसिद्ध थी ही। उनके राजा नग्नजित के चित्र-लक्षण को कौन नही जानता। तारानाथ के मत मे ईसवीय तृतीय शतक के उपरान्त चित्रकला का ह्रास प्रारभ हो गया परन्तु कालान्तर पाकर इस कला मे पुन नवजागरण प्रारम्भ हुआ। यह भी बौद्ध प्रेरणाओ का ही फल था। अतः बौद्ध चित्रकला मे पुन नाना शैलियाँ पल्लवित हुई। उनमे देश के भूगोलानुरूप मध्यदेश, पश्चिम तथा पूर्व विशेष उल्लेख्य है। मध्यदेश अर्थात् आधुनिक उत्तर प्रदेश की चित्रशैली का प्रतिष्ठापन बिम्बसार नामक एक प्रख्यात चित्रकार एवं तक्षक के द्वारा हुआ था। यह बिम्बसार राजा बुद्धपक्ष के काल मे ईसवीय सन् ५०० अथवा ६०० में मगध में उत्पन्न हुआ था। तारानाथ के मत मे यह शैली प्राचीन देव-शैली के अनुरूप ही विकसित हुई। चित्रकला का तत्कालीन पश्चिमी केन्द्र आधुनिक राजपूताना माना जा सकता है। उसका प्रमुख चित्रकार शृंग-धर राजा शील के काल मे मालवा में पैदा हुआ था। यह राजा शील सम्भवतः उदयपुर का राजा शिलादित्य गुहिल था जो ७वी शताब्दी में पैदा हुआ था। इस केन्द्र की चित्र-शैली पूर्वोक्त यक्ष-शैली के समान ही थी। अब रहा पूर्वी केन्द्र, जो वरेन्द्र (बगाल) का विलास था। वहाँ की चित्रकला नवी शताब्दी में राजा धनपाल और देव-पाल के राज्य में विकसित हुई और इस केन्द्र में जिस शैली का अनुकरण किया गया वह वास्तव में प्राचीनकालीन नाग-शैली थी। उस समय के प्रख्यात कलाकारों में

धीमन और उसका पुत्र वित्पल था । पुन अवान्तर केन्द्र और उनकी शैलियाँ ६ठी शताब्दी से लेकर १०वी शताब्दी तक विकास एव प्रसार को प्राप्त करती रही । उनके केन्द्रो मे कश्मीर, नेपाल, बरमा तथा द्रविड़-देश विशेष उल्लेख्य है, परन्तु इन सभी केन्द्रो मे उपर्युक्त शैलियो का ही अनुगमन होता रहा । इन केन्द्रो की अपनी कोई निजी शैली नही पनप सकी ।

हिन्दू शैली तथा मुसलमान शैली—वास्तव मे भारतीय चित्रकला को बौद्ध, हिन्दू और मुसलमानी मे वर्गीकृत करना अनुचित है । जाति और भूगोल यहाँ पर विशेष सहायक नही । अत भारतीय चित्रकला का प्राचीन शैली अथवा परम्परा, मध्यकालीन शैली अथवा परम्परा तथा आधुनिक शैली अथवा परम्परा मे वर्गीकरण विशेष वैज्ञानिक एव प्रशस्त है । मध्यकाल की जो कला-कृतियाँ प्राप्त है उनमे मुगल तथा राजपूत ही विशेष प्रसिद्ध है । इनकी चित्र-शैलियो को विद्वानो ने कलम के नाम से पुकारा है । आगे हम भारतीय चित्रकला के इतिहास मे इन दोनो शैलियो की भी कृतियो का इतिहास प्रस्तुत करेंगे । यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि क़लम का अर्थ वैसे तो लेखनी (ब्रश) है परन्तु उसका व्यापक अर्थ शाखा है । अत शैली का तात्पर्य भी सगत हो सकता है । मध्यकालीन चित्रकला की जो विभिन्न कलमे प्रसिद्ध है उनमे देहली, दक्खिनी, काँगडा आदि विशेष उल्लेख्य है । इन शैलियो के चित्रो की पारस्परिक विशेषता केवल एक चित्रकला-विद्याविशारद ही जान सकता है । सक्षेप मे राजपूत चित्र-शैली की दो कलमे प्रसिद्ध थी—जयपुर तथा काँगड़ा । परन्तु मुगल चित्रशैली के नाना भेद केन्द्रानुरूप है, जैसे देहली क़लम, लखनऊ कलम । दक्खिनी, ईरानी, काश्मीरी, पटना आदि भी कम प्रसिद्ध मुगल क़लमे नही थी । जयपुर मे भी मुगल कलम का अपना अलग ही प्रसार था ।

५

भारतीय चित्रकला पर एक विहंगम दृष्टि

इस ग्रन्थ का लेखक विशेष कर कला शास्त्र का ही जिज्ञासु है, इस कारण कला-कृतियो की समीक्षा उसके विषय के बाहर है और बूते की बात नही है। तथापि किसी भी शिल्प-ग्रन्थ का अध्ययन बिना तुदनुगामी कलाकृतियो के अध्ययन के एक प्रकार से अपूर्ण है। अतएव कला-शास्त्रो की स्थापना करने के उपरान्त हमने तत्तत् पटलो में तत्तत् कलाओं का इतिहास प्रस्तुत किया है और उस इतिहास मे यथाशक्ति समन्वयात्मक प्रतिपादन (सेथेटिक ट्रीटमेंट) अपनाया गया है। अत इस अध्याय मे चित्रकला के इतिहास पर जो विहगावलोकन हम करने जा रहे है उसके दो मौलिक दृष्टिकोण है, एक पुरातत्त्वीय तथा दूसरा साहित्यिक। पीछे के शैली-स्तम्भ मे हमने देखा कि भारतीय चित्रकला के विशेष निदर्शन बौद्ध हैं अथवा मुगल या उत्तर-मध्यकालीन राजपूत। हिन्दू चित्रकला-कृतियो से शून्य थे—यह कहना बडा अनुचित है। हिन्दुओ मे चित्रकला का बडा प्रचार था। सस्कृत के महाकवियो, विशेष कर कालिदास, बाण तथा श्रीहर्ष आदि के काव्यो के परिशीलन मे यह निस्सदिग्ध निष्कर्ष निकलता है कि चित्र-रचना अच्छे घरानो की एक सामान्य कला थी। अत इस इतिहास को पूर्ण बनाने के लिए हम इस अवतारणा मे इन कवियो के काव्यों की भी चर्चा करेंगे जिससे भारतीय चित्रकला का इतिहास चित्रवत् चमकने लगे। भारतीय चित्रकला के इतिहास की समीक्षा में इन काव्य ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य जो बहुत से प्राचीन ग्रन्थ सहायक होते है उनका भी सकेत आवश्यक होगा। जहाँ तक पुरातत्त्वीय दृष्टिकोण की बात है वह तो एक प्रकार का जनसाधारण ज्ञान है। पुरातत्त्वीय चित्र-निदर्शनो मे अजन्ता, बाघ आदि कलापीठों के चित्रण ही हमारी विख्यात निधि है।

भारतीय चित्रकला की प्राचीनता

बौद्ध कला चित्रण ही इतने प्राचीन हैं कि भारत की चित्रकला की प्राचीनता में किसी को सदेह नही रह जाता। परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि बौद्ध भारत ही भारत नही है, उससे पहले के और बाद के भारत बृहत्तर भारत अथवा विशाल भारत का भी तो बडा भारी इतिहास है। अत. उसमें चित्रकला की क्या स्थिति थी? पीछे चित्रकला के सिद्धान्तों के विवेचन में हमने एक-दो निर्देश किये हैं जिनसे इस

कला की प्राचीनता अवश्य द्योतित होती है परन्तु उसके सुसम्बद्ध इतिहास की अवतारणा मे यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत की सस्कृति एव सभ्यता में चित्रानुराग एवं चित्ररचना सस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अग था। महाकाव्यों तथा पुराणो के समय मे प्रसिद्ध नाना आख्यानो एव वृत्तान्तो से चित्रकला की प्राचीनता असदिग्ध है। चित्र-शास्त्र पर परम प्रतिष्ठित ग्रन्थ पुराणो की देन है। चित्राचार्यों मे प्राचीन काल मे ऋषि-मुनियों का भी सकीर्तन है। ये ऋषि वैदिक कालीन भी हो सकते हैं। ईसा से कई शताब्दियां पूर्व उत्पन्न होनेवाले वात्स्यायन के कामसूत्र मे तो चित्रकला का एक प्रौढ विकास प्राप्त होता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के परिशीलन से भी यही तथ्य उद्घाटित होता है। कवियो की परम्परा तो एक प्रकार से अर्वाचीन मानी जायेगी। पीछे हमने चित्रपटो (दे० यमपट आदि) की परम्परा पर दृष्टिपात किया है। इन पटो के द्वारा प्राचीन काल मे कथा कही जाती थी और शिक्षा भी दी जाती थी। साथ ही साथ मनोरजन भी प्रदान किया जाता था। नख नाम के ब्राह्मण प्राचीन भारत मे चित्रपटो का दर्शन कराते थे और लोगो का भाग्य बताते थे। हम जानते है कि किसी एक कला की पूर्ण अभिव्यक्ति बिना दूसरी कला की सहायता के नही हो सकती। प्राचीन काल का स्थापत्य सरल नही था, वह अत्यन्त अतिरजित था क्योकि उसे उपलाक्षणिक बनाना था और उपलक्षणो के द्वारा परमार्थ की ओर ले जाना था। अत. क्या भवन-रचना, क्या वेदी-रचना और क्या पात्र-रचना या मूर्ति-रचना, सभी मे चित्रण प्राधान्य था। राजा लोग अपनी मुद्राओ (सील) तथा सिक्कों को भी किसी न किसी चित्र से अवश्य अंकित करते थे, यह एक प्रकार से ऐतिहासिक काल की वार्ता है। पूर्वैतिहासिक काल की गाथा मे मोहन्जोदडो तथा हडप्पा आदि स्थानो की खुदाई मे जो मुद्राएँ प्राप्त हुई है, जो भूषण तथा पात्र आदि प्राप्त हुए हैं, उन पर भी कोई न कोई चित्र अवश्य अकित है। अत एक शब्द मे चित्रकला मानव सभ्यता की अत्यन्त प्राचीन सहचरी है। उसकी प्राचीनता उतनी ही सनातन है जितनी वह स्वयम्। अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर हम भारतीय चित्रकला का दोनो प्रतिज्ञात दृष्टिकोणो से इतिहास प्रस्तुत करेंगे। पहले हम पुरातत्त्वीय सामग्री का निरूपण करेंगे।

पुरातत्त्वीय साक्ष्य पर चित्रकला का इतिहास

आधुनिक विद्वानो ने (दे० पर्सी ब्राउन आदि) चित्रकला के इतिहास की समीक्षा में दो भाग किये हैं—ईसवीय पूर्व तथा ईसवीय उत्तर। पुन ईसवीय पूर्व को प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक, दो कालो में विभाजित किया है। ईसवीय पूर्व प्रागैतिहासिक काल की चित्रकला के निदर्शनो मे निम्नलिखित चार कृतियाँ विशेष उल्लेख्य है —

१. मध्यभारत की कैमूर पर्वतश्रेणियों की कतिपय गुफाओं में मृगया-चित्रण प्राप्त हुए हैं। इन गुफाओं की भित्तियों में ये चित्रण विभाव्य है।

२. विन्ध्यपर्वत शृंखलाओ मे जो खुदाइयाँ हुई हैं उनमें जो चित्रकला के चित्रण मिले हैं उनमें चित्रकला के ही निदर्शन नही निहित है वरन् चित्ररचना के उपकारी चित्रोपकरणों की सामग्री भी द्रष्टव्य है।

३. रायगढ के सिहनपुर नामक ग्राम के निकट बाहिनी मन्द सरिता के पूर्वोपकूल पर जो पर्वतश्रेणी बिखरी हुई है उसमें प्राचीन चित्रकौशल की सुन्दर छटा देखने को मिलती है। यहाँ की नाना गुफाओं में जो चित्रण प्राप्त होते हैं उनसे पता चलता है कि ये चित्रण कलाकृतियों से कम न थे। यद्यपि ये सभी मृगया-प्रधान चित्रण हैं परन्तु उनसे यह प्रतीत होता है कि प्रकृति, वातावरण तथा पशुओ के चित्रण मे उन्हें कितनी दक्षता प्राप्त थी।

४. उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के गिरिगह्वरो मे जो चित्रण प्राप्त हुए हैं उनमे भी यद्यपि मृगया-चित्रण प्रधान है तब भी उनका विन्यास बड़ा आकर्षक तथा उदीयमान है।

ईसवीय पूर्व ऐतिहासिक काल की चित्रकला का इतिहास जोगीमारा गुहा-भित्तियो मे द्रष्टव्य है। सरगुजा के रामगढ़ पर्वत मे इन गुहाओ का यह कलानिदर्शन अजन्ता की गुफाओ में स्थित चित्रकला की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। इनमे पशुजगत् का प्राधान्य तो था ही (दे० मत्स्य मकर आदि जलीय जन्तुओं के चित्रण) चित्रकला की अतिरंजना का भी प्रथम दर्शन इन्ही गुहाओ मे देखा गया। ये चित्रण विद्वानो के मत में ईसा से लगभग १०० वर्ष पूर्व के हैं।

ईसवीय-उत्तर चित्रकला का इतिहास धर्मानुरूप बौद्ध, हिन्दू तथा मुसलमानी इन तीन वर्गों मे वर्गीकृत किया जा सकता है। इन तीनो कालो एव वर्गों की चित्रकला का अलग-अलग इतिहास प्रस्तुत करने के पूर्व इन तीनों की तुलनात्मक समीक्षा का उपोद्घात आवश्यक है। बौद्ध कला के अन्तर्तम में बौद्ध धर्म की व्याख्या निहित है। बौद्ध चित्रकार का परम उद्देश्य सघ के आदर्शों की स्थापना था। बौद्ध जातकों का यह चित्रण बौद्ध धर्म की ही व्याख्या थी। इन कला-कृतियो को देखकर भिक्षु और भिक्षुणी न केवल मनोरम प्रेरणा ही प्राप्त करते थे वरन् अपने सकुचित व्यक्तित्व को भूलकर धर्म, सघ तथा बुद्ध की शरण में चले जाते थे। अतः बौद्ध कला का एकमात्र उद्देश्य धार्मिक तृप्ति थी। हिन्दू चित्रकला राजपूत कला के नाम से ही संकीर्तित रह गयी। बौद्ध कला के समान राजपूत कला भी उपलाक्षणिक थी जिसमे भारत के अध्यात्म की व्याख्या थी और उसका प्रमुख गुण यहाँ का मायावाद अथवा रहस्यवाद

था। संस्कृत के प्राचीन नाटकों के कथानकों का चित्रण राजपूत कला का विशेष अभिनिवेश था। इस कला में राधा कृष्ण तथा अन्य देवो और देवियो के चित्रण से पौराणिक धर्म के विकास को प्रश्रय तो मिला ही साथ ही साथ जनता की भक्तितृप्ति का भी एक अच्छा साधन हस्तगत हुआ। मुसलमानी कला को मुगल कला कहते है। यह कला राजपूत कला के बिल्कुल विपरीत थी। इसे स्पष्ट भौतिक कला कह सकते हैं। यद्यपि चित्ररचना के पारिभाषिक सिद्धान्तो का अनुगमन राजपूत तथा मुगल दोनो कलाओ मे समान था परन्तु दोनो का अध्यवसाय एक दूसरे से पृथक् था। मुगल चित्रकला की विशेषता उसके आकार-चित्र है। अस्तु, इस उपोद्घान के अनन्तर अब इन तीनो वर्गों की पृथक्-पृथक् परीक्षा करेंगे।

बौद्ध कला—इस कला के इतिहास का विस्तार ईसा की प्रथम शताब्दी से (५०वाँ वर्ष) लेकर ७ वी शताब्दी तक चलता है। यह वह समय था जब महात्मा बुद्ध के धर्म-चक्र के विशाल क्रोड मे भारत ही नही भारतेतर नाना देश—चीन, जापान, लंका, जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत सभी पूर्वी देश— कवलित हो चुके थे। अत. चित्रकला का यह समय एकमात्र भारतीय नही उपश्लोकित होना चाहिए। इस कला मे समस्त पूर्वीय एशिया की चेतना निहित थी। जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया वहाँ-वहाँ धर्माचार्यों के साथ कला-विशारद पुरोहित भी पहुँचे। पीछे हम कह आये हैं कि चित्रकला ने शिक्षा, आख्यान तथा धर्मप्रचार मे बडा योग दिया है। तदनुसार धर्म के सरक्षण मे ही प्राचीन कलाओं (जिनमें चित्रकला भी सम्मिलित थी) का विकास देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म अपने मौलिक रूप में अधिक आकारिक (ग्रैफिक) है। इसी हेतु धर्मसंघ का इतिहास लेखनी की अपेक्षा तूलिका से अधिक रंजित हुआ। तिब्बत और नेपाल के आयतनध्वज अथवा मन्दिर-पताकाएँ (तगक) इसी तथ्य का उद्घाटन करती है। अस्तु, यहाँ पर समस्त पूर्वीय देशो के चित्र-वैभव पर प्रकाश नही डाला जा सकता। हमे इस विषय को सीमित कर भारतीय बौद्ध कला का ही इतिहास प्रस्तुत करना है। इस कला के प्रमुख केन्द्रो में अजन्ता, सिहल द्वीपीय सिगिरिया तथा बाघ विशेष उल्लेख्य है। इनमे अजन्ता ही बौद्ध चित्रकला का प्रमुख एवं मूर्धन्य केन्द्र है।

अजन्ता

अजन्ता की चित्रकला भूतल का आश्चर्य है तथा भारत का गर्व। इस कला में जो प्रौढ परिणति तथा अत्यन्त उदात्त अभिव्यक्ति प्रकट हुई है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह एक दिव्य एवं अलौकिक कृति है और तारानाथ की यह विभावना कि बौद्ध कला के

चित्रकार देव, यक्ष एव नाग थे—वास्तव मे ठीक जँचती है। भले ही इस आकन का ऐतिहासिक आधार नही है तथापि इस विभावना मे यह मर्म अवश्य अन्तर्हित है कि कभी-कभी मानव कवि अथवा चित्रकार अपनी अलौकिक प्रतिभा के द्वारा देवलोक का निवासी किवा मानव की क्षुद्र कोटि से उठकर देवत्व की प्रतिष्ठा मे प्रतिष्ठित हो जाता है। अजन्ता की स्थिति भी इस प्रकार की अलौकिक एव दिव्य कृति के लिए अनुकूल थी, वातावरण शान्त, कलस्विनी का कूल, मण्डलाकार पार्वत्य प्रदेश, एकान्त एव निर्जन स्थान। अत ऐसे अनुकूल स्थान में जब धर्म की प्रेरणा से एकत्रित भिक्षु (जिनमे सघ के धर्माचार्य तो थे ही सघ के कलाकारो की भी कमी न थी) धर्म, सघ और बुद्ध के त्रिरत्नात्मक शरण जाने की सौच रहे हो तो कला ही उनकी अनन्य साथी और पाथेय थी। यह कला प्रेरित कला है जिसमे सत्य, शिव एव सुन्दर तीनो का पुंजीभूत समन्वय है। अजन्ता की चित्रकला देवलोक की गाथा मर्त्यलोक के उपकरणो मे गाती है। कला की सेवा के लिए और उसके सेवन के लिए भी इससे अधिक प्रशस्त और कौन सा उद्देश्य हो सकता था? भारतवर्ष मे कला मे जो ज्योति दिखाई पडती है उसका कारण 'त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' की भावना निहित है। क्या प्रासाद, क्या चित्र सभी इसी प्रेरणा एव स्फूर्ति के जाज्वल्यमान चित्रण हैं।

स्थिति—केन्द्रीय रैलवे (जो बम्बई जाती है) के जलगॉव नामक स्टेशन से पैंतीस मील दूर फरदपुर ग्राम के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग चार मील की दूरी पर अजन्ता के गुहा-मन्दिर स्थित है। इन गुहाओं की सख्या २९ है और यहाँ पहुँचने के लिए एक आरण्यक जघापथ ही अवलम्ब है। इन लयन-प्रासादो (जिनमे चैत्य तथा विशाल विहार सम्मिलित हैं) में स्थापत्य-कला के निदर्शन—सुन्दर-सुन्दर स्तम्भ, प्रतिमाएँ, तोरण तथा अन्यान्य निर्माण तो आकर्षक हैं ही परन्तु इनका सर्वाधिक आकर्षण चित्रकला है।

वर्ग एवं काल—यद्यपि सभी गुहाएँ चित्रित थी परन्तु इस समय इन २९ गुहामन्दिरो में केवल न० १, २, ९, १०, १६, १७ गुहाओ के चित्रण अवशेष रह गये हैं। अथच अजन्ता की चित्रकला एककालीन नही कही जा सकती। अत उनको कालानुरूप निम्न-लिखित चार वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

गुहाओं के वर्ग	समय	
१—नवी तथा दसवी गुहाएँ	ईसवीय सन्	१००
२—दसवीं गुहा के स्तम्भ	,, ,,	३५०
३—सोलहवी तथा सत्रहवी गुहाएँ	,, ,,	५००
४—पहली तथा दूसरी गुहा	,, ,,	६२६—२८

विषय—बौद्ध धर्म की विशेषता में हमने उसकी लोकप्रियता का कारण उसके आकारिक (ग्रैफिक) स्वरूप को बताया है। धर्म का प्रचार कला के चित्रणों में तभी सुकर, सहज एवं बोधगम्य हो सकता है जब चित्रणों के आधार आख्यान हों, कहानियाँ हों। बौद्ध धर्म का अति मनोरंजक साहित्य जातक मालाएँ हैं जिन्हे हम बौद्ध धर्म के लोकपुराण के रूप में विभावित कर सकते हैं। भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म के रोचक लोकप्रिय आख्यानों का इनमें संग्रह है। बुद्ध का धर्म लोकधर्म था अतएव लोकोचित एवं लोक-मनोरंजक कहानियों के द्वारा ही इस धर्म का सर्वत्र (विशेष कर बौद्ध देशों में) प्रचार हुआ है। अजन्ता के चित्रणों के निम्न विषय इसी तथ्य के उदाहरण हैं। गुहा-क्रमों के अनुसार निम्न अवतारणा द्रष्टव्य है—

गुहा नं० १

१—शिविजातक
२—राजमहल का एक दृश्य (शय्या पर बैठी हुई एक महिला)
३—राजमहल के द्वार पर एक भिक्षु
४—राजमहल का ही दृश्य (३)
५— ,, ,, (अस्पष्ट)
६—शंखपाल जातक (नागकथा)
७—राजमहल का दृश्य, नर्तकी बालाएँ (महाजनक जातक ?)
८—राजा का मुनि-उपदेश-श्रवणार्थ प्रस्थान (महाजनक जातक ?)
९—राजमहल का दृश्य, अश्वारूढ राजा का प्रस्थान (महाजनक० ?)
१०—पोतनाश, (महाजनक जातक)
११—अभिषेक तथा प्रव्रज्या (महाजनकजातक)
१२—भोजनपात्र पर चार शिर, अमरादेवी की कहानी ?
१३—बोधिसत्व (पद्मपाणि)
१४—बुद्ध के लिए मोहजाल
१५—एक बोधिसत्व
१६—बुद्ध विभिन्न मुद्राओं में, श्रावस्तीका अद्भुत दृश्य
१७—बोधिसत्व के लिए कमल पुष्पों का उपहार, वज्रपाणि
१८—नागराज की कथा, चाम्पेय जातक
१९-२०—अस्पष्ट चित्र
२१—राजदरबार, फारस का दूतावास ?
२२—एक बच्छनेलियन वृक्ष, खुमरू तथा शीरीन एवं अन्य भषा-प्रतीक
२३—वृषयुद्ध

गुहा नं० २

१—अर्हत, किन्नर तथा अन्य देवयोनियों की बुद्ध-भक्ति
२—बुद्ध-भक्तों द्वारा बुद्ध के लिए बलि तथा अभिनन्दन
३—इन्द्र तथा चार यक्ष
४—उड्डीयमान अप्सराओं के चित्र, पुष्प-चित्रण तथा अन्य कलातिरंजन
५—एक महिला का एकान्तवास

६–महाहंसजातक
७–यक्ष तथा यक्षिणियाँ
८–बुद्ध-जन्म
९–१०–भक्तो के बलि-उपहार
११–सर्प, हस तथा अन्य अलकृति-चित्रण
१२–नाना मुद्राओ मे बुद्ध
१३–बोधिसत्व मैत्रेय
१४–बुद्ध—नाना मुद्राओं मे
१५–देवयोनियाँ—पुष्पचित्रण तथा अन्य भूषाएँ
१६–बोधिसत्व अवलोकितेश्वर
१७–भक्तो के बलि-उपहार
१८–बोधिसत्व (पद्मपाणि) के लिए भक्तों का बलि-समर्पण
१९–हारीती तथा पांचिका
२०–विधुरपण्डित जातक
२१–पूर्ण अवदान, समुद्रयात्रा
२२– ,, (पूर्ण का बलि-उपहार)
२३–राजमहल का एक दृश्य
२४– ,, ,, (एक महिला क्रोधमुद्रा में राजा के चरणो पर)
२५–बोधिसत्व व्याख्यान-मुद्रा मे
२६–भूषाएँ
२७–नाग, गण तथा अन्य देवयोनियाँ

गुहा नं० ६

१–बुद्ध व्याख्यान-मुद्रा मे (पहला सरमन)
२–द्वारपाल तथा एक भिक्षु
३–बुद्ध के लिए मोहजाल
४–एक भिक्षु
५–द्वारपाल तथा मानव एव स्त्री चित्रो के मिथुन
६–श्रावस्ती का अद्भुत दृश्य

गुहा नं० ७

१–बुद्ध व्याख्यान-मुद्रा मे (पहला सरमन ?)
२–बुद्ध-जन्म

गुहा नं० ९

१–नाग राजा अपने अनुचरो के साथ—जातक ?
२–भक्तो का एक दल स्तूप की ओर (अस्पष्ट)
३–एक विहार
४–बुद्ध-जीवन के दो दृश्य
५–पशु-भूषा-चित्र, पौराणिक पशुपाल (अस्पष्ट)
६–बुद्ध—नाना मुद्राओं में

गुहा नं० १०

१–सपरिच्छद राजा का बोधिवृक्ष के पूजार्थ आगमन
२–राजपरिवार स्तूप की पूजा में
३–राजपरिवार का द्वारतोरण के नीचे से गुजरना
४–शाम (श्याम) जातक

५–षड्दन्तजातक (षड्दन्ती गज की कथा)

६–बुद्ध के प्रतिमा-चित्रण

गुहा नं० ११

१–बोधिसत्व पद्मपाणि

२–कुछ प्रतिमाएँ तथा अवलोकितेश्वर

गुहा नं० १६

१–तुषित स्वर्ग का चित्रण

२–सुतसोम जातक (सिंहिनी की प्रेमकथा)

३–विहार के सम्मुख दैत्यगण

४–महाउम्मग जातक—शिशु-हत्या आदि

५–मरणासन्न राजकुमारी—नन्द की परित्यक्ता पत्नी ?

६–नन्द का बौद्ध धर्म-स्वीकार

७–मंजुश्री बुद्ध

८–अप्सराएँ तथा बुद्ध व्याख्यान-मुद्रा में

९–बुद्ध व्याख्यान-मुद्रा में

१०–हाथियों का जुलूस

११–बुद्ध का संघोपदेश

१२–बुद्ध-जीवन, बुद्ध-पूजा, मगध के राजा का बुद्धदर्शन, राजगृह में बुद्ध

१३–बुद्धजीवन—पहली तपस्या, चार चिह्न

१४–राजमहल का दृश्य

१५–गर्भ

१६–बुद्ध का शैशव

गुहा नं० १७

१–राजा का दान-वितरण

२–राजमहल का दृश्य

३–इन्द्र तथा अप्सराएँ

४–मानुष बुद्ध तथा यक्ष-यक्षिणी-मिथुन

५–अप्सराओं तथा गन्धर्वों का बुद्धाभिनन्दन

६–नीलगिरि-गज की कथा

७–बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा बौद्ध प्रार्थना

८–अनुचरी के साथ एक यक्ष

९–राज-मृगया-चित्रण

१०–संसार-चक्र

११–माता तथा शिशु बुद्ध तथा अन्य बुद्धदेवों के पास

१२–बुद्ध का संघोपदेश (प्रथमोपदेश अथवा महा-अद्भुत ?)

१३–पुष्प-भूषा-चित्रण

१४–महाकपि जातक

१५–हस्ति जातक अथवा दानवीर गज-कथा

१६–राजखड्ग का दान

१७–राजमहल का चित्र

१८–हंसजातक

१९–शार्दूल, अप्सराएँ तथा बुद्ध व्याख्यान-मुद्रा में

२०–विश्वन्तर अथवा राजकुमार की दान-कथा

२१–यक्ष, यक्षिणी तथा अप्सराएँ

२२–महाकपि जातक—नं० २ (दानवीर मर्कट की कथा)

२३–सुतसोम जातक अथवा इन्द्रप्रस्थ के धार्मिक राजा का सुदास को मानव-भक्षण-विरति-उपदेश

२४—बुद्ध का तुषित-स्वर्ग मे व्याख्यान (दो और दृश्य)
२५—बुद्ध के सम्मुख माता तथा शिशु
२६—श्रावस्ती का महा-अद्भुत
२७—शरभ जातक—दयावीर हरिण
२८—मातृपोषक जातक (अन्धी माता तथा अंधे पिता के साथ हाथी)
२९—मत्स्य जातक
३०—श्याम जातक (युवा मुनि तथा उसके अन्धे माता-पिता)
३१—महिष जातक (धर्मात्मा महिष तथा दुरात्मा मर्कट)
३२—एक यक्ष
३३—सिहल-अवदान
३४—स्नान-दृश्य
३५—शिबि जातक (राजा का दान मे नेत्र-त्याग)
३६—मृग जातक (हेम मृग की कथा)
३७—दानवीर भालू
३८—न्यग्रोधमृग जातक
३९—दो बौने, वाद्यों के साथ
४०—पुष्पचित्रण आदि

गुहा नं० २१—कमल-बेलियाँ तथा अन्य भूषाएँ
गुहा नं० २२—बुद्ध का मधोपदेश ।

राज्य सरक्षण

पीछे हमने अजन्ता की चित्रकला के कालानुरूप वर्गों का निर्देश किया है, तदनुसार यहाँ पर यह भी विचार्य है कि इस प्रकार की सुदीर्घ कला-साधना को संरक्षण कहाँ से मिला। वैसे तो मघ का ही सरक्षण था परन्तु बिना राजसरक्षण के इस प्रकार की सुदीर्घकालीन रचनाओं का आविर्भाव एक प्रकार से असम्भव है। अथच इस प्रकार के बहुकालापेक्ष व्यवसाय से यह भी प्रतीत होता है कि उस समय देश मे पूर्ण शान्ति थी और किसी प्रकार का राज्य अथवा धर्म-विप्लव नही था। बौद्ध चित्रकला मे देवो, यक्षों एव नागो के सरक्षण पर हम पहले ही सकेत कर चुके है और उस दृष्टिकोण से अजन्ता के भित्ति-चित्रो का निर्माण देवो के द्वारा हुआ था जिसको आगे पुण्यजनो (यक्षो) ने और अधिक बढाया। यह समय प्रियदर्शी अशोक का था। तदनन्तर अर्धमानुष नागो ने इस कार्य को हाथ मे लिया। पुन इस साधना मे एक प्रकार का विराम आ गया और कालान्तर पाकर राजा बुद्धपक्ष (पाँचवी अथवा छठी शताब्दी) के समय में मध्यदेश की कला के प्रतिष्ठापक बिम्बसार नामक कलाकार ने जिस कला का निर्माण किया वह देवो की कला से किसी प्रकार कम न थी। यह कथन आजकल की दृष्टि में पौराणिक कहा जायगा। ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से अजन्ता की चित्रकला का प्रथम वर्ग (गुहा—९—१०) द्राविड नरेश आन्ध्रो (२७ ईसवीय पूर्व से २३६ ई०) के काल में आपतित होता है। अजन्ता के गुहामन्दिर बौद्ध भिक्षुओ के विहार थे। अत बहुत सम्भव है कि धर्मसंघ तथा राजदरबार दोनों में

अवश्य महयोग रहा होगा। परन्तु यह निर्विवाद है कि इन कलाओं के निर्माण में सघ का ही प्रधान प्रभुत्व एव संरक्षण था। दूसरा चित्र-समुदाय (अर्थात् न० १६ तथा १७) गुप्तकालीन (३२० ई०) है और गुप्त-नरेशों के स्वर्णिम एव समृद्ध काल ने इन कला-कृतियों की रचना मे भी अवश्य स्फूर्ति एव प्रेरणा दी होगी। आन्ध्रों के बाद वाकाटको का समय आता है, अत सामीप्य की दृष्टि से इन चित्र-पीठों पर तत्कालीन प्रभुता एव सरक्षण इस राजवंश ने अवश्य दिया होगा। जहाँ तक तीसरे चित्र-समुदाय का इतिहास है उसमें फारस के राजा खुसरू परवीस के दूत का चित्रण भी हुआ है (दे० कला-विषय) और यह घटना भारतीय राजा पुल्केशी द्वितीय के काल से सम्बन्ध रखती है। अतः तीसरे-चौथे दोनो चित्र-समुदाय भी गुप्तकाल के ही इधर-उधर के माने जाते है।

चित्रद्रव्य एव चित्रप्रक्रिया

पीछे हमने चित्रभित्तियों अर्थात् चित्राधारों के निर्माण की जिस शास्त्रीय प्रक्रिया का अवलोकन किया है वह अजन्ता के गुहा-मन्दिरो मे प्रत्यक्ष उतरती है। गोमय, सिकता आदि अथवा कडिशर्करा आदि के मिश्रण से मृत्तिका लेप के द्वारा ही चित्राधारों का निर्माण किया जाता था। परन्तु अजन्ता की चित्ररचना मे एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि यरोप की चित्रकला मे अवस्थित एव प्रचलित फ्रेस्कोबोनो पद्धति का अनुसरण इसमे किया गया है कि टेम्परापेटिंग (फ्रेस्कोसेसो) का ही। पर्सी ब्राउन आदि विद्वानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि इन चित्र-निर्मितियों में फ्रेस्कोसेसो अर्थात् टेम्परा पेंटिंग का ही प्राधान्य है। यूरोप मे, विशेष कर मेसोपोटेमिया तथा मिस्र मे इसके विपरीत फ्रेस्कोबोनो पेटिंग का ही प्राधान्य था। इस पद्धति में चित्राधार पर प्लास्टर पोतने के बाद बिना पूरी तरह सूखे कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता था और जहाँ तक रचना हो चुकी होती थी उसके अतिरिक्त स्थान का प्लास्टर काट दिया जाता था। पुन दूसरे दिन फिर लेप और थोडा सूखने के बाद चित्रारम्भ। इन देशों की चित्रकलाओं में लेप की जुडाई के चिह्न पूर्णरूप से दिखाई पडते हैं। अजन्ता की कला मे इस प्रकार की कोई चीज नही है। विद्वानो का यह वितण्डावाद वास्तव मे इसलिए खडा हुआ कि यत वे लोग प्राचीन चित्रशास्त्र से अपरिचित थे। यहाँ के चित्र-ग्रन्थो मे जिस प्रकार के लेप-निर्माण और उसकी प्रक्रिया आदि का वर्णन है उसी के अनुरूप यहाँ की चित्रकला में चित्रकारो ने काम किया है।

वर्णविन्यास एवं वर्तना

चित्राधारों के निर्माण के उपरान्त चित्र की आउट लाइन का प्रश्न है। यहाँ के चित्रकार एक स्पष्ट रक्त रेखा में चित्र रचते थे। चित्रभित्ति मृत्तिका लेप के कारण

धवल होती थी ('एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे'—) । अत. उस पर यह रक्त-वर्णी रेखा कुशल चित्रकार की प्रथम निष्ठा होती थी । पुन. देशी रंगों—लाल, पीले, भूरे, काले अथवा धूसर की सहायता से वर्णविन्यास सम्पन्न किया जाता था । पुनः क्षय-वृद्धि के शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुरूप वर्तना की निष्पत्ति की जाती थी । इन प्रधान वर्णों के अतिरिक्त अन्य नाना रंगों का भी प्रयोग किया जाता था जिनमें नीली का विशेष संकेत अभीप्सित है । अजन्ता की कलाओं का यह नील वर्ण विष्णुधर्मोत्तर का राजावर्त्त है । अजन्ता के चित्रकार साधारण चित्रकार नही थे, वे पूरे आचार्य थे । अत—'रेखां प्रशसन्त्याचार्या'— के प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार अजन्ता की कला मे रेखा सर्वाधिक प्रमुख गुण था । पुन क्षय और वृद्धि के द्वारा तो यह रेखा-विन्यास और भी निखर उठता था । अजन्ता की चित्रकला की यह विशेषता सर्वत्र दृश्यमान है । इसका सुन्दरतम उदाहरण महाहंस जातक चित्रण है (दे० चित्र-विषय) । यहाँ पर चैत्य की बायी ओर बोधिसत्व अवलोकितेश्वर अथवा स्वयंसिद्धार्थ का ही एक चित्र है जहाँ पर उनका महाभिनिष्क्रमण चित्रित है । यह चित्र काफी बडा है और कुछ झुका हुआ है और दक्षिण हाथ मे नील कमल लिये हुए है । यहाँ पर चित्रकार का जो मनोयोग दिखाई पड़ता है वह यह है कि वह बुद्ध के 'सर्व दुख' के सिद्धान्त का चित्रण करना चाहता है परन्तु साथ ही साथ मानव कमजोरी का यथार्थ चित्रण भी नही दबाना चाहता है । अतएव बुद्ध भार से दबे हुए चित्रित है परन्तु त्यागजन्य जिस अमोघ ज्ञान तथा शान्ति की स्वर्णिम आशा बुद्ध को थी वह भी पूर्णरूप से चित्रित है । कलाकार न तो वाणी का प्रयोग कर रहा है और न लेखनी का । केवल रेखाओ के विन्यास से तथा वर्ण-विन्यास मे आवश्यक वर्तना के घटाव-बढ़ाव से वह कथा कह रहा है जो वाणी से भी नही कही जा सकती और लेखनी से भी नही लिखी जा सकती । यहाँ पर चित्रकार न केवल आचार्य ही है, वह विचक्षण भी है—"रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणाः ।" वर्तना का प्रमुख अग प्रकाश और छाया का निरूपण है । यह प्राचीन चित्रशास्त्र का मौलिक सिद्धान्त है । इसका अनुगमन अजन्ता की चित्रकला मे सर्वत्र दिखाई पडता है । महाहंस जातक का वर्ण-विन्यास एव वर्तना दोनो ही बड़े उदात्त एव आकर्षक है । भारत की कला मे, विशेष कर नाट्य, मूर्ति तथा चित्र में मुद्राओं का विनियोग एक सामान्य सिद्धान्त है । तदनुरूप गुहा नं० १ के राजमहल के एक दृश्य मे हस्त-मुद्रा का चित्रण बडा ही व्यंग्यात्मक है । अथच बुद्ध एव बोधिसत्व के नाना चित्रो मे अन्य चित्रप्रसिद्ध नाना मुद्राओ का भी पूर्णरूप से विनियोग हुआ है । अतः यह निष्कर्ष ठीक ही है कि चित्र-सिद्धान्तों की जो प्रौढता हमने प्राचीन शिल्प-ग्रन्थो में देखी उसके कलात्मक निदर्शनों में अजन्ता की चित्रकारी वास्तव में एक बड़े अभाव की पूर्ति करती

है। स्थापत्य-कौशल शास्त्र एवं कर्म दोनो की सयुक्त बुनियाद पर प्रतिष्ठित हुआ है। वह सयुक्त सत्ता इस महनीय चित्रकला-पीठ पर पूर्णरूप से विराजमान है। भारतीय स्थपतियों की तीसरी और चौथी विशेषता शील और प्रज्ञा है। शील जिसे आचरण कहते हैं उसके सम्बन्ध मे तो यह पहले ही कहा जा चुका है कि ये लोग मानव नही थे, देव थे। पुन प्रज्ञा के नवनवोन्मेष विकास के लिए इससे बढ़कर और कौन-सा सुन्दर एव मनोरम वातावरण हो सकता था।

सिगरिया

अजन्ता के अतिरिक्त बौद्ध कला का दूसरा चित्रपीठ सिहलद्वीपीय सिगरिया है। यहाँ के भित्तिचित्र बाघ से भी पहले निर्मित हुए हैं। कश्यप के समय (४७९–४९७ ई०) मे इन कलाओं का निर्माण हुआ। अत. यह कला-निदर्शन अजन्ता की गुहाओ के तृतीय वर्गीय चित्रणो (दे० १९वी १७वी गुहा) के समकालिक थे। इन चित्रो मे न तो विषय का विस्तार है और न व्यापकता। यहाँ की गुहाशालाओं मे जो २० के लगभग स्त्री-चित्र मिलते है उनको, लोगो का कहना है, राजा कश्यप की रानियाँ मानना चाहिए। इन कलाकृतियो मे भी हिन्दू चित्र-शास्त्र मे प्रतिपादित वर्ण-विन्यास, वर्तना और रेखा का पूर्ण पालन दिखाई पडता है।

बाघ—अजन्ता से केवल यह १५० मील की दूरी पर स्थित है। यद्यपि दोनो पीठों को नर्मदा अलग कर रही है तथापि यह निश्चित है कि अजन्ता के उत्तरवर्ती चित्रणो का इन चित्रणो पर अवश्य प्रभाव पडा। बाघ की चित्रकला के इतिहास की कोई भी सामग्री प्राप्त नही है। केवल उपर्युक्त अनुमान से इसके समय का निर्धारण किया गया है। बाघ की चित्रकला की सर्वप्रमुख विशेषता लोक-चित्रण है। अजन्ता की प्रमुख विशेषता धर्मचित्रण है। भारतीय सस्कृति के अनुसार चित्रकला का सेवन देवताराधन में ही विहित है, अतएव अजन्ता की कला धर्माश्रया है। परन्तु ५वी-६ठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का 'विनय अंग' ढीला पड चुका था। अत. ऐसे समय लोक-मनोवृत्ति का प्रतिबिम्बन सहज था। यह यहाँ के चित्रणो से ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए यहाँ का एक चित्रण हल्लीशक (गीत प्रधान अभिनय) इसी तथ्य का पोषक है।

हिन्दू कला

हिन्दू चित्रकला पर हम इस अध्याय के उपोद्घात में कुछ कह आये हैं अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं है। आगे इस अध्याय के दूसरे खड में हम हिन्दू चित्रकला की विशेष समीक्षा करेंगे। यहाँ पर हम हिन्दू चित्रकला के उस वैभव पर दृष्टिपात करेंगे जिसका श्रीगणेश ८वी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ था और १९वीं शताब्दी

तक पूर्णरूप से अपने प्रकर्ष को द्योतित करता रहा। अथच इस वैभव का प्रारम्भ यद्यपि ८वी शताब्दी से है परन्तु इस काल की कृतियों के निदर्शन के चार-पाँच उदाहरण विशेष उल्लेख्य है—बगाल की ११वी शताब्दी के तालपत्र-चित्रण, १५वी शताब्दी के जैन पाण्डुलिपि ग्रन्थचित्रण, १२वी शताब्दी के एलोरा भित्ति-चित्रण के साथ-साथ उत्तर-मध्यकाल की राजपूत कला।

(अ) **जैन पाण्डुलिपि-चित्रण**—इस शैली की चित्रकला का विकास पाण्डु-लिपि-ग्रन्थो के चित्रण मे ही सीमित रहा। पाटन के जैन-भण्डार मे निशीन गुर्णी के चित्रण सिद्धराज जयसिह (११वी शती) के काल के है और यह चित्रण १४वीं शताब्दी तक चलता रहा। इनके विशेष निदर्शन अगसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, श्रीनेमिनाथ चरित, श्रावकप्रतिक्रमणचूर्णी आदि आदि है। जैन-शैली का दूसरा प्रसार १४वी से १५वी शताब्दी तक फैलता रहा जिसके उदाहरण कल्पसूत्र तथा कालका-चार्य कथा और सिद्धहेम है।

(ब) **हिन्दू पाण्डुलिपि-चित्रण**—मध्यकाल मे कागज़ के आविष्कार ने पाण्डु-लिपि के चित्रो के विकास मे और भी अधिक सहायता प्रदान की। परिणामत कल्पसूत्र तथा कालकाचार्य-कथा के चित्रण ही अगणित सख्या मे नही रचे गये वरन् हिन्दुओ के शृगार-काव्य—वसन्तविलास, रतिरहस्य आदि शृगारिक चित्रो के अतिरिक्त बाल-गोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-शप्तशती के भी ग्रन्थ-चित्रणो की परम्परा प्रस्फुटित हुई। इन चित्रणो मे चित्रकला के सामान्य सिद्धान्तो का अनुगमन हुआ। वर्ण-विन्यास तथा वर्तना इनकी प्रमुख विशेषता रही है।

अस्तु, आगे की भारतीय चित्रकला भारतवर्ष मे दिखाई नही पडती, अत यह नही कहा जा सकता कि चित्रकला का पूर्णरूप से विराम हो गया। बात यह है कि सभी कलाएँ एक कालावच्छेदेन नही पनप सकती। चित्रकला के प्रातिभासिक ह्रास की पृष्ठभूमि पर भारत की प्रासाद-कला पनपी। प्रासाद-कला तथा मूर्ति-निर्माण-कला का यह स्वर्णिम युग था, अत. चित्रकला के अभाव का कारण हम समझ सकते है, परन्तु यह कला मरी नही वह पूर्वी तुर्किस्तान, तिब्बत और खोतान के सीमान्त प्रदेशो मे विहार करने लगी। तिब्बत के चित्र-ध्वजो का हम पीछे सकेत कर ही चुके है। इन सीमान्त प्रदेशो की चित्रकला का पैटर्न अथवा प्रक्रिया अजन्ता ही थी। स्टीन और काग के पर्य-वेक्षण से ससार परिचित है। उन्होने इन सीमान्त प्रदेशो की इस विमुग्धकारिणी अद्‌भुत कला का दर्शन कराकर विश्व को चकित कर दिया है। खोतान और तिब्बत की इस कलाधारा मे भारत की कला की अजस्र धारा बहती रही और आगे चलकर इसी ने हमारे देश के मरुस्थलो का सिचन करने के लिए राजपूत चित्रकला को प्रवाहित किया।

राजपूत कला

मध्यकाल की भारतीय चित्रकला की दो धाराएँ प्रस्फुटित हुई--मुगल कला तथा राजपूत कला--और ये दोनों ही समानान्तर बहती रहीं, परन्तु जहाँ राजपूत कला १६वीं सदी तक चलती रही, मुगल कला १८वीं शताब्दी में पहले ही सूख गयी। राजपूत कला वास्तव में पूर्णरूप में हिन्दू कला है। बौद्धों के विनाश के लिए पौराणिक धर्म ने पीठिका प्रदान की--यह हम जानते ही हैं। अतः अजन्ता की बौद्ध कला के विलोप के अनन्तर राजपूत कला को पूर्णरूप में उदय होने का एक अच्छा अवसर मिला। यद्यपि यह अवसर बहुत दिनों के बाद मिला। राजपूत-कला का केन्द्र राजस्थान की प्रख्यात नगरी जयपुर था और जयपुर से ही यह कला राजस्थान के अन्य नगरों में ही नहीं विकसित हुई वरन् मुगल दरबार और उसके निकटवर्ती नगरों में भी पहुँची। राजपूत कला का अत्यन्त उदीयमान केन्द्र एवं उसकी शैली का विकास कांगड़ा में हुआ, जिसको कांगडा-कलम या पहाड़ी स्कूल के नाम से हम पुकारते हैं। इस कला में न तो कोई विशेष धार्मिक उपचेतना है न अध्यात्म का उन्मेष। पहाड़ी कला की सर्वप्रमुख विशेषता अतिरंजन है। रेखाओं का चित्रण, वर्णों की तीक्ष्णता तथा विदग्धता के साथ-साथ चित्र्य वस्तु के भूषा-विन्यास का विस्तार इसमें विशेष उल्लेख्य है। यतः इस केन्द्र की चित्रकला का आश्रय धर्म न होकर राजाश्रय था अतः पहाड़ी राजपूतों के वैयक्तिक चित्रणों का ही विशेष विस्तार एवं प्रोल्लास पाया जाता है। राजा-रानियों के चित्रण यहाँ के अनुपम चित्र हैं।

जयपुर आदि केन्द्रों की चित्रकला में यह बात नहीं है। उस कला में हमको द्विमुखी विजृम्भणा देखने को मिलती है--एक में अजन्ता की चित्रकला के समान धार्मिक प्रबल प्रेरणा के उद्दाम दर्शन होते हैं एवं दूसरी में लोकजीवन के स्थावर चित्र देखने को मिलते हैं। जहाँ तक पहले चित्रों की गाथा है उसमें यथानिर्दिष्ट पौराणिक धर्म की ही अभिव्यंजना है। पौराणिक देववाद में विष्णु की पूजा विशेष विकसित हुई--इसे हम वैष्णव धर्म कहते हैं। वैष्णव धर्म में कृष्णभक्ति और कृष्णलीला का सर्वाधिक प्रसार एवं प्रचार पाया जाता है। अतः राजपूत कला के चित्रणों में राधा-कृष्ण चित्रण विशेष विख्यात है। रामायण और महाभारत की कथाओं के चित्रण भी इस धर्मप्रधान राजपूत कला के सुन्दर निदर्शन हैं। पुनः तत्कालीन समाज, आचार, पूजा समारोह, उत्सव, मनोरंजन एवं धर्म के अनुरूप और भी बहुत से चित्रण के विषय हैं जिन्होंने राजपूत कला को बहु-मुखता प्रदान की। राजपूत कला में शिवभक्ति भी नहीं भुलायी गयी, इसका एक सुन्दरतम निदर्शन 'सन्ध्या-गायत्री' शिव-नृत्य के चित्रण में प्राप्त होता है।

राजपूती चित्रकला के दूसरे वर्ग का सम्बन्ध यथानिर्दिष्ट लोकजीवन से है। इस वर्ग मे ग्रामीण चित्रण विशेष उल्लेख्य है। पथिक एव पथ, विश्रामशाला, जुलाहा, रगरेज, लोहार, बाज़ार आदि दृश्य विशेष चित्रित किये गये है। इस दृष्टि से यह कला लोक-कला के रूप मे भी कम नही विकसित हुई।

मुगल कला

राजपूत और मुगल कलाओं की तुलनात्मक समीक्षा मे यह कहना अनुचित न होगा कि राजपूत कला जनतान्त्रिक एव रहस्यप्रधान है। इसके विपरीत मुगल कला राजप्रधान और यथार्थमय है। मुगल कला का श्रीगणेश अकबर के काल से होता है। अबुलफजल ने अपनी आइने अकबरी मे सम्राट् अकबर की कला-प्रियता एव राजसरक्षण की ओर सकेत किया है। परिणामत. राजदरबार में बहुसख्यक चित्रकारो को भी सरक्षण प्राप्त हुआ और रचनाओ के लिए प्रोत्साहन भी। अबुलफज़ल ने बहुत से कलाकारों के नाम भी दिये है। मुगल दरबार मे ईरानी कलाकारो को भी सरक्षण मिला। विशेष कर जहाँगीर ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। मुगल दरबार मे हिन्दू कलाकारों को भी राजाश्रय प्राप्त था और इसका कारण अकबर की उदार नीति थी। बसवान, दस-वन्त, केशवदास आदि प्रसिद्ध चित्रकार अकबर के दरबारी कलाकार थे। आइने अकबरी मे कलाकारो की जो सूची दी गयी है उसकी सख्या ४० है, इससे यह अन्दाज जरूर लगाया जा सकता है कि उस काल मे चित्रकला के विकास के लिए कितना प्रोत्साहन था। शाहजहाँ के समय चित्रकला ह्रास की ओर झुकी क्योंकि पूर्व थिसिस के अनुसार सभी कलाएँ एक काल मे विकास को नही प्राप्त कर सकती। शाहजहाँ का समय वास्तु-कला का स्वर्णयुग था जब ताजमहल–जैसी विश्वविश्रुत भवन-कलाकृति प्रतिष्ठित हुई। और औरगज़ेब के समय तो प्राय. सभी कलाएँ मर गयी। मुगल कला को हम दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है— क्षुद्राकृति चित्रण (मिनियेचर्स) तथा पूर्णाकार चित्रण (पोर्टरेचर्स)। इन चित्रणो मे प्रथम कला की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। इनमें व्यावहारिक जीवन—मृगया, युद्ध, आक्रमण, ऐतिहासिक वृत्तान्त, दरबार, पौराणिक आख्यान एवं पक्षि-ससार तथा वनस्पति-ससार सभी विषय थे, यद्यपि मुग़ल कला की मूलाधार उपचेतना फारस से आयी थी। अत. यह नही कहा जा सकता है कि इस कला मे देशी विकास नही प्राप्त हुआ। देहली, लखनऊ, पटना, कश्मीर आदि कलमों के प्रसार मे यह विकास अन्तर्हित है।

मुगल कला का पूर्णाकार चित्रण एकमात्र मुगलकालीन नही, इसके इतिहास का आदिम स्रोत उषा के स्वप्न की चित्रकला है जिसको आदिचित्रकार चित्रलेखा ने

अनिरुद्ध की पूरी तसवीर बनाकर इस परम्परा का श्रीगणेश किया था। बौद्धो की एक कहानी है कि महात्मा बुद्ध के जीवन काल मे ही अजातशत्रु ने भगवान् के चित्र की कामना की और भगवान् ने अपनी छाया वस्त्र पर पड़ने के लिए आज्ञा दे दी और वह छाया वर्तना और वर्ण-विन्यास के द्वारा बुद्ध के पोर्टरेचर मे परिणत हो गयी। इन दोनों कथाओ में पोर्टरेचर के विकास का प्राचीन इतिहास छिपा हुआ है। अजन्ता की चित्रकला में हमने जो अनेक विषय देखे उनमे गुहा न० १ मे राजदूत वास्तव मे खुसरू परवीस और राजा पुलकेशी के पोर्टरेचर का ही चित्रण है। अथच सिगरिया मे कश्यप की रानियो के जो चित्रण है वे भी प्राचीन भारतीय पोर्टरेचर्स है। अत हम यही कह सकते हैं कि मुगल कला मे सादृश्य चित्रो को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। मुगलों के राजदरबार की शान-शौकत और उनके अहभाव ने भी इस प्रकार के सादृश्य-चित्रणो के लिए अनुकूल उर्वरा भूमि प्रस्तुत की। इन चित्रो मे विशेष सख्यक मुगलवश के राजाओ के चित्र है। इनमे राजसी वेश-भूषा, वस्त्रो के बार्डर के कलामय प्रस्तार तथा स्वर्णिम परिधान चित्र की सजधज मे विशेष सहायक हुए। अस्तु, मध्यकालीन चित्रकला के इस अति सक्षिप्त परिचय के उपरान्त मुगल कला के चित्रणों मे इतना और सकेत आवश्यक है कि राजाओं के साथ राजदरबारी विदूषकों, दरबारियों, अश्वारोहियों, रानियो, नर्तकियो, राजकुमारो एव राजकुमारियो, साधुओ एव धर्माचार्यों तथा सिपाहियो आदि सभी के चित्रण प्राप्त होते हैं, जिससे मुगलो की यह चित्रकला भारतवर्ष की मध्यकालीन राष्ट्रीय चित्रशाला के रूप मे देखी जा सकती है।

अन्त में आधुनिक काल की चित्रकला पर भी एक-दो शब्द लिखना आवश्यक है। १८वी शताब्दी मे मुगल कला के ह्रास के बाद भी इस कला को देश के इतस्तत. फैले हुए क्षुद्र केन्द्रो मे शरण मिली। उत्तर मे देहली, लखनऊ, पजाब के पर्वत-प्रदेश, लाहौर, अमृतसर, पटना तथा बगाल और दक्षिण मे औरगाबाद, दौलताबाद, हैदराबाद, कलोडा से भी दूर तजौर तथा मैसूर। तारानाथ ने दक्षिण के तीन चित्रकारो के नाम—जय, प्रजय तथा विजय भी दिये हैं और उनके बहुत से अनुयायी भी थे। परन्तु इस कला का ह्रास अवश्यम्भाव्य था क्योकि जो कला धर्म की मौलिक भित्ति पर नही खडी है वह सनातन नही बन सकती। अत मुगल कला का पूर्ण विलोप सम्पन्न हो गया और इस विलोप में नयी सृष्टि के बीज प्रस्फुटित हुए। १९वी शताब्दी के अन्तिम भाग में बगाल मे चित्रकला के नवप्रभात मे एक अरुण रश्मिजाल देखने को मिला। इस रश्मिजाल के सारथि प्रख्यात ठाकुर परिवार के प्रतिभाशाली चित्रकार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर थे जिनके नेतृत्व मे कतिपय युवा कलाकारो ने भी काम किया। ठाकुर साहब स्वयं एक उद्‌भट एव प्रतिभाशाली चित्रकार थे, अत उन्होंने आधुनिक काल

मे चित्रकला के पुनर्जागरण को जो स्फूर्ति प्रदान की वह प्राचीन स्फूर्ति ही थी। देश में बहुत काल से देशी आधार एक प्रकार से सभी कलाओ से विलुप्त हो गया था। परतन्त्र देश के लिए यह स्वाभाविक ही था। मुगल यद्यपि विदेशी थे तथापि उस काल में भी, जैसा हमने राजपूत आदि कलाओ के आलोचन मे देखा, देशी प्रेरणाओं का सर्वथा अभाव नही था। इधर १८वी और १९वी शताब्दी मे जब इस देश का यूरोप से विशेष सम्पर्क प्रोत्थित हुआ तो नयी रोशनी की चकाचौंध ने यहाँ के कलाकारों की दृष्टि को अपनी प्राचीन प्रेरणा से ओझल कर दिया। अत इस काल की रचनाओ मे यूरोप का प्रभाव स्पष्ट था। बगाल के इन कलाकारो का सर्वप्रमुख कदम नकारात्मक था। देशभक्ति, राष्ट्रीयता एव अपनी संस्कृति के प्रति गर्व ये कलाकार के मूलाधार हैं। इन्ही की पृष्ठभूमि पर पल्लवित ठाकुर की चित्रकला ने भारतवर्ष मे पुन चित्रकला का सास्कृतिक नव-जागरण प्रारम्भ किया और यूरोप के प्रभाव से बचाने के लिए पूर्णरूप से प्रेरणा प्रदान की। अजन्ता और सिगरया, मुगल और राजपूत सभी की देनों को इन्होने स्वीकार किया और उस पुजीभूत परम्परा पर उन्होने एक नवीन परम्परा पल्लवित की। भारतीय दर्शन, पुराण, धर्म, काव्य के नाना सदेशो को लेकर ये लोग अपनी तूलिका को काम मे लाने लगे। फलतः कालिदास के काव्यों, रामायण, महाभारत, गीता तथा अन्यान्य प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक सामग्री से इन्होने अपने चित्र के विषय चुने। अस्तु, जहाँ तक नाना अवान्तर चेतनाओं के स्फुरण का इतिहास है वह अभी पूर्णरूप से परिपक्व नही है, अत इस विषय की इतनी ही मीमांसा यहाँ पर पर्याप्त है।

साहित्यिक साक्ष्य पर भारतीय चित्रकला का इतिहास

इस अध्याय के उपोद्घात में हमने चित्रकला के साहित्यिक साक्ष्य पर कुछ इंगित किया है। यहाँ पर उस विषय मे थोडा सा प्रतिपादन अवशेष है। भगवती सरस्वती ने, जिन्हे हम सभी कलाओ की अधिष्ठात्री मानते है, जहाँ इस देश मे काव्य और सगीत, नाट्य एव नृत्य को अपना वरदान दिया, तो क्या बेचारी चित्रकला ही इससे क्यो वचित रहती। अथच कला का विकास सस्कृति का विकास है। सस्कृति मे नाना कलाओं का एक साथ उदय अवश्य नही हुआ यह दूसरी बात है। देश एव काल की मर्यादा मे उनका विकास एव उत्थान एककालिक नही तथापि यह निःसदिग्ध है कि कविता, नाट्य, नृत्य तथा सगीत के सदृश चित्रकला की भी प्राचीनता मे कोई विवाद करने की आवश्यकता नही। वैदिक साहित्य मे भी कुछ ऐसे प्रवचन प्राप्त होते है जिनसे यह अनुमान असगत नही कि उस समय भी चित्रकला का पारिभाषिक एव वैज्ञानिक ज्ञान लोगों को था। उपनिषदो मे चित्रोपयोगिनी लेखनी के रूपक अथवा उपमा या उत्प्रेक्षा मे बहुत से वर्ण-

विषयों का उद्घाटन हुआ है। उपनिषदों ने अपनी रहस्यमयी भाषा में वर्णों के पारिभाषिक ज्ञान पर संकेत किया है (दे० छान्दोग्य चतु० ४)। पाली बौद्धग्रन्थों में तो चित्रकला के ऐसे दर्शन होते हैं कि मानो उस समय चित्रसेवन जनजीवन का एक प्रतिष्ठित अंग था। विनय-पिटक के संदर्भ से राजा प्रसेनजित की चित्रशाला का इतिहास हम जानते ही हैं। यह समय ईसा से चतुर्थ शताब्दी पूर्व था। संयुत्तनिकाय में तो विद्ध चित्रों की चित्रभित्तियों—फलक, भित्ति, पट्ट आदि के परिशीलन से चित्रशास्त्र के प्रसिद्ध त्रिविध चित्राधारों—पट, पट्ट एवं कुड्य—का उस समय पूर्ण ज्ञान था यह निष्कर्ष अनुचित नहीं। इसी प्रकार चित्र-संदर्भों के नाना साक्ष्य प्राप्त होते हैं। कुमारस्वामी ने इन प्राचीन सन्दर्भों की तालिका बनाकर अपने ग्रन्थ की रचना की है। पाठकों को इसके लिए उस ग्रन्थ का परिशीलन करना आवश्यक है। रामायण का कोई भी प्रासाद-वर्णन बिना उसके कलात्मक चित्रणों के कहीं पर पूरा नहीं हुआ। विमान, सौध अथवा प्रासाद सभी चित्रित दिखाई पड़ते हैं। राजप्रासाद में चित्रशाला एक महत्त्वपूर्ण निवेश माना गया है। महाभारत की भी यही गाथा है। पुराणों में तो चित्रविद्या के सन्दर्भों की बात ही क्या चित्रशास्त्र की भी प्रतिष्ठा हो गयी। विष्णुपुराण के विष्णुधर्मोत्तर परिशिष्ट में चित्रसूत्र की महिमा हम पहले ही बखान चुके हैं। भारतीय शिल्पशास्त्रों की परम्परा भी अति प्राचीन है। शिल्प गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद के समान ही एक उपवेद है। स्थापत्य की इस वैदिक पृष्ठभूमि पर हम पीछे प्रवचन कर चुके हैं। शिल्पशास्त्रों के प्रणेता वैदिक ऋषि थे। उनमें से बहुसंख्यक चित्र-विद्या के आचार्य भी थे। अस्तु, एक शब्द में भारतीय चित्रकला की एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है परन्तु इस सुदीर्घ परम्परा का सम्यक् विवेचन सम्भव नहीं। अतः चयन आवश्यक है तथा प्रतिपादन का दृष्टिकोण भी सीमित करना है। पीछे के अध्यायों में हमने चित्रशास्त्र के सिद्धान्तों की समीक्षा की। इस अध्याय में हमको चित्रकला का इतिहास प्रस्तुत करना है। अतः शिल्पशास्त्र हमें चित्रशास्त्र देते हैं, पुराण भी वही कहते हैं तथा अन्य साहित्यधाराएँ भी वैसा ही करती हैं। इससे हमें केवल चित्रकला की प्राचीनता ही मालूम हो सकती है परन्तु इतिहास तो एक सुसम्बद्ध तिथिक्रम है, उसके लिए हमें संस्कृत के काव्यों की शरण में जाना है। संस्कृत के काव्यों की भी एक बड़ी सूची है। प्रायः सभी काव्य-ग्रन्थों में (जिनमें नाटक, चम्पू, कथा, आख्यायिका, ऐतिहासिक काव्य) चित्र-रचना के सम्बन्ध में संदर्भ भरे पड़े हैं। अतः उन सबका उल्लेख यहाँ नहीं हो सकता। अतः प्राचीन, पूर्व-मध्यकालीन एवं उत्तर-मध्यकालीन इन तीनों कालों के अनुसार यदि हम तीन प्रतिनिधि कवि चुन सकें तो प्राचीन भारत की हिन्दू चित्रकला का एक सुन्दर इतिहास हमको हस्तगत हो सकता है—कालिदास (ईसवी पूर्व से पाँचवीं शताब्दी), बाणभट्ट (६ठी ईसवी से १०वीं शताब्दी)

तथा श्रीहर्ष (११वीं से लेकर १६वीं शताब्दी तक) के काव्य हमारे लिए आदर्श ग्रन्थ हैं जिनकी समीक्षा से हम यह इतिहास प्रस्तुत कर सकते हैं।

कालिदास

कालिदास के तीनों नाटकों—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल में हमें तीन कलाओं के विकास का अथवा चरमोन्नति का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। मालविका में नृत्य, विक्रमोर्वशीय मे संगीत तथा शाकुन्तल मे चित्रकला। यहाँ पर हमें चित्रकला देखनी है। अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश एवं कुमारसम्भव के परि-शीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय की शिक्षा में कला और उसमें विशेष कर चित्रकला का ज्ञान एक अनिवार्य अंग था। उस समय विद्ध चित्रों (पोर्टरेट पेंटिंग) की लोकप्रियता असंदिग्ध थी। प्राय: प्रेमिकाएँ और प्रेमी अपने प्रियतम और प्रेमिका के चित्रों को बड़े ही मनोयोग से लिखते थे। भावगम्य चित्र की (जिसमे चित्रभित्ति सुलभ नहीं है) कालिदास ने एक अनोखी कल्पना की, जो बडी ही मार्मिक है और एकमात्र कवि ही इस प्रकार का आविष्कार कर सकता है—"मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती।" कालिदास के इन ग्रन्थों के परिशीलन से उस समय की उदात्त चित्रकला पर ही प्रकाश नहीं पड़ता है वरन् यह प्रमाण भी पूर्णरूप से हस्तगत होता है कि कालि-दास चित्रशास्त्र के सभी सिद्धान्तों के पूर्ण पंडित थे। चित्रशालाओं पर तो उन्होंने संकेत किये ही हैं, चित्राचार्यों पर भी उन्होंने संकेत किये है यह साधारण बात है, परन्तु चित्रो-चित उपकरण—वर्तिका, वर्ण, वर्णकरण्डक, चित्रभित्ति, वर्तनाविन्यास, (विशेष कर पत्र-रचना) के साथ-साथ रूपनिर्माण की प्राचीन पद्धति क्षयवृद्धि के सिद्धान्त, चित्र-निष्पन्नता मे चित्र-उन्मीलन एवं चित्र-दर्शन (फिलासोफी आफ पेंटिंग)—इन पारिभाषिक चित्रशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी पूर्णरूप से प्रकाश डाला गया है। नीचे के उदाहरणों से इस कथन की सत्यता आँकी जा सकती है यथा—

चित्रशालाएँ—"चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति।" —मालविका, १

"विद्युद्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलम्०।" —उत्तर मेघ

इन सन्दर्भों से उस काल मे राज-चित्रशालाओं तथा जन-चित्रशालाओं—दोनों की परम्परा पर संकेत मिलता है।

चित्राचार्य—"चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति"— से पूर्ण स्पष्ट है। भवभूति के उत्तररामचरित, धनपाल की तिलकमंजरी आदि ग्रन्थों से भी प्राचीन चित्राचार्यों की वैसी ही परम्परा प्राप्त होती है, जैसी नाट्याचार्यों की है।

चित्रप्रकार—(अ) "तेनाष्टौ परिगमिता समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥"

(आ) "वाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।"

—रघु० ८.९२, रघु० १४.१५

(इ) "सखि ! प्रणम भर्तारं, यः पार्श्वतः पृष्ठतो दृश्यते ।"—माल० ४.

इन सन्दर्भों में आकारिक विद्ध चित्रण के चित्रप्रकार का संकेत निहित है। भावगम्य चित्र का हमने ऊपर संकेत किया है। इसका उदाहरण कालिदास की निम्न कृति में देखिए। यहाँ दुष्यन्त के मुख के द्वारा जो चित्र उन्होंने प्रस्तुत किया है उसमें इस प्रकार (टाइप) पर ही पोषण नहीं प्राप्त होता है वरन् चित्र के प्राण प्राकृतिक वातावरण (पर्सपेक्टिव एंड लैंडस्केप) का भी कितना सुन्दर उद्घाटन हुआ है —

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥

कालिदास की इस सरस्वती में जिस काव्य-गंगा और चित्र-यमुना के संगम का प्रोत्थान हुआ है वह बड़ा ही मनोरम है—अन्यत्र दुर्लभ है।

वर्तिका तथा भूमिबन्धन—(अ) "अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता ! जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति ।" अभि० चतु०

(आ) त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैश्शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ मेघ०

(इ) चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥

रघु० १४.१६

(अ) में कलाकार राजा के लेखनी-चातुर्य पर संकेत है। (आ) और (इ) में चित्रभित्ति के प्रामाण्य पर पोषण होता है। धातुरागों से शिला पर चित्रकारी आजकल की पेस्टल ड्राइंग है। 'चित्रद्विपाः' में भित्तिचित्रों की परम्परा प्राप्त होती है साथ ही साथ पट्ट तथा कन्वास पर चित्रों की रचना की परम्परा पर इन्दुमती, दशरथ, शकुन्तला, मालविका, अग्निमित्र, इरावती, उर्वशी, अग्निवर्ण की नृत्य-कन्याओं आदि के चित्र-वर्णनों से इन दोनों चित्राधारों पर भी पूर्ण प्रमाण प्राप्त होता है। हम पहले ही कह चुके

है कि उस समय का पत्रालेखन (मानव एवं पशु के अंगों पर लतावेलियों का चित्रण) बड़ा लोकप्रिय आलेख्य था। निम्न अवतरणों से स्पष्ट है —

पत्रालेखन—(अ) रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम्।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥—मेघदूत

(आ) हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकांकिते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम्॥
रघु० ३.५५

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः॥
रघु० ६ ७२

(इ) तत प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघु० ३ ५९

चित्रवर्ण एवं वर्तना-विन्यास—निम्न श्लोक में चित्र के चार मूल रंगों—रक्त, पीत, कृष्ण एवं धवल का संकीर्तन हुआ है —

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम्।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः॥ कु० १४.३१

मिश्रित वर्णों की चित्रशास्त्रीय परिपाटी कालिदास को मालूम थी। शिवराम मूर्ति का कथन है कि कालिदास के समय टेम्परा टाइप का वाटर कलर बड़ा लोकप्रिय था। निम्नलिखित सदर्भों में यह विभाव्य है —

(अ) **नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-**
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ मेघ०

(आ) **स्विन्नांगुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः।**
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्"॥

इसी चित्र-सिद्धान्त का महाकवि बाणभट्ट ने भी प्रतिपादन किया है —

"अगु लीगलितस्वेदपरामर्शभीतेव चिन्तया लिलेख, न वित्ततूलिकया।" पुनश्च इन प्राचीन कवियों ने 'वर्तिकोच्छ्वास' का संकेत किया है, वह तभी बोधगम्य है जब हम चित्र की इस परम्परा को स्वीकार कर ले।

जहाँ तक वर्तना की प्रक्रिया एवं विन्यास का सम्बन्ध है निम्न श्लोक पठनीय है —

(अ) चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥
शा. द्वि. ९

(आ) उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

(इ) स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु । शा० ६

(अ) मे 'मनसा कृता' से चित्रो के निर्माण मे प्रथम कृति मानसी सृष्टि है— यह वर्तना का अत्यन्त आवश्यक अग है। पुनश्च वर्तनाविन्यास के परम उद्देश्य 'चित्रोन्मीलन' के मर्म मे चित्रकला का पूर्ण मर्म छिपा है। यह प्रतिमा-निर्माण का 'नयनोन्मीलन' (दे० मानसार) है। अथच वर्तना-विन्यास का परम सहायक कला-सिद्धान्त क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त है। इस पर भी कवि ने (इ) मे पूर्ण प्रकाश डाला है।

शरीर-मुद्राएँ एवं भूषाएँ—चित्रकला के सिद्धान्तो मे रूप-निर्माणोचित मुद्रा-विनियोग पर हमने पीछे प्रतिपादन किया है। कालिदास ने चित्रशास्त्र के इस सिद्धान्त पर भी पूर्णरूप से प्रत्यभिज्ञा प्रदर्शित की है। प्रसिद्ध शरीर-मुद्राओ के प्रदर्शन के साथ-साथ कालिदास ने कतिपय नवीन मुद्राओ की भी उद्भावना की है। जैसे कण्ठ-सूत्र अथवा कण्ठश्लेष-मुद्रा—दे० रघुवश १६-३२। जहाँ तक शरीरावयवो के पूर्ण ज्ञान का प्रश्न है वह भी कवि ने दिलीप, पार्वती तथा मालविका के वर्णन में प्रदर्शित किया है—रघुवश १.१३; ३.३४ कुमार १. ३५; मालविका २.३। मुनि-कन्य-कोचित परिधान एव आभूषण, अभिसारिका एवं विरहिणी के योग्य वेष, युवा वर अतिथि के आभरण आदि के वर्णनो से चित्रशास्त्र मे रूप-निर्माण के लिए उचित नेपथ्य-विधान पर कवि का पूर्ण ज्ञान था। अथच चित्र-सूत्र मे निर्दिष्ट ऐरावत, यक्ष, सिद्ध, किन्नर आदि के रूपो की भी कवि ने भी उद्भावना की है। अन्त मे निम्नलिखित दो श्लोको की अवतारणा से कवि की चित्र-साधना बडी मार्मिक प्रतीत होती है —

चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
संप्रति शिथिलसमाधि मन्ये येनेयमालिखिता ॥ माल० द्वि०
पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥ माल० प्र०

बाणभट्ट—बाण के वर्णज्ञान पर हम पीछे, विशेष कर मिश्र वर्णों के परिज्ञान पर, कुछ निर्देश कर चुके है। हर्षचरित और कादम्बरी के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि अपने काव्यो से चित्र-शास्त्र की पूर्ण शिक्षा प्रदान कर रहा है। महाकवि बाणभट्ट के अनेक मित्रों एवं सहायको मे चित्रकृत् वीरवर्मा भी था —यह हम जानते ही

है। बाण के प्रत्येक प्रासाद वर्णन में चित्रशाला का अनिवार्य साहचर्य है। बाण का प्रत्येक नगर चित्रशालाओ से भरा है। बाण के वर्णनो से चित्र-प्रकार, चित्र-भित्ति, चित्र-भूमि-बन्धन, चित्र-द्रव्य, चित्र-निर्माण की प्रक्रिया, चित्र-वर्ण—मूल रग तथा मिश्र वर्ण आदि सभी चित्रशास्त्रीय सिद्धान्तो का उद्घाटन प्राप्त होगा। निम्न अवतरणो से इस कथन की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी। स्थानाभाव से विशेष समीक्षा-विस्तार असम्भव है। वह लेखक के अग्रेजी ग्रन्थ में पठनीय है। यहाँ पर सस्कृतज्ञो के लिए यह सामग्री विशेष पठनीय है।

चित्रशाला, चित्रकार एवं चित्र-प्रभेद—१—सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिता-भिश्चित्रशालाभिर्दिव्यविमानावलि भिरिवालङ्कृतां। का० ६६

२—	(अ)	सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागमनम्	हर्ष० १४२
	(ब)	सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैः सूत्रधारैः	
३—	(अ)	चित्रलेखादर्शितविचित्रसकलत्रिभुवनाकाराम्	का० १७६
	(ब)	आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसशोभितैः	का० २४१
४—	(अ)	प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि	का० १३६
	(ब)	चतुरचित्रकरचक्रवाललिख्यमानमाङ्गल्यालेख्यम्	हर्ष० १४२
५—		चित्रावशेषाकृतौ काव्यशेषनाम्नि नरनाथे	हर्ष० १७५
६—	(अ)	प्रविशन्नेव—चित्रवति पटे—कथयन्तं यमपट्टिकं ददर्श	हर्ष० १५३
	(ब)	यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतका	हर्ष० १३८
७—		वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः	का० ५३६
८—		प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिप्रीतिदैवतम्	हर्ष० १४८
९—		सुप्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्या पि चामराणि चालयां चक्रुः	हर्ष० १२७

१०— आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रणमद्भिः सत-
प्यमानचरणौ हर्ष० १३६

११— दिवसावसानेषु—चित्रभित्तिविलिखितानि
चक्रवाकमिथुनानि का० ४४६

प्रथम एवं द्वितीय मे चित्रशाला एव चित्रकार के निर्देश स्पष्ट है। शिल्परत्न के चित्रोद्देश (स्कोप आफ पेंटिंग) के अनुरूप बाण ने तीसरे मे समस्त लोको—त्रिभुवन की ओर कैसा सुन्दर सकेत किया है। प्राय विशेष उत्सवो पर (विवाह आदि—जैसे राजश्री का विवाह) चित्रकार बुलाये जाते थे। चौथे अवतरण से यह स्पष्ट है। चित्र के त्रिविध प्रभेद मे भित्ति-चित्रो का ज्ञान पाँचवे से स्पष्ट है। दिवगत पूर्वपुरुषो (प्रभाकर-वर्धन आदि) के चित्रो के सकेत से यह विभाव्य है। प्राचीन चित्रो मे यमपटो तथा कामदेवपटो आदि की परम्परा पर ६ठे, ७वे और ८वे अवतरण निदर्शन है। राजभवनो की दीवारो पर चामरग्राहिणी तथा राजकुमारो (विशेष कर विजित एव प्रख्यात नरेशो) के चित्र चित्रित रहते थे। यह ६वे और १०वे से पूर्ण बोधगम्य है। चक्रवाक मिथुनो के आलेख्य पर ११वाँ अवतरण निदर्शन है।

चित्र-भित्ति— अत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि—त्र्यम्बकप्रतिविम्बकानि
वन्दमाना का० २६२

कालिदास के 'त्वामालिख्य—मेघ०' में हमने चित्राधारो मे शिला की प्राचीन परम्परा देख चुके है। बाण भी यहाँ पर उसी परम्परा को और आगे पल्लवित कर रहे है। प्रेमी-प्रेमिका जब पट, पट्ट अथवा भित्ति नही प्राप्त कर पाते तो शिलाखण्डो पर आलेख्य निर्माण करके अपना सन्तोष करते है।

चित्र-द्रव्य तथा लेखनी— १३—(अ) रूपालेखयोन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका का० ४५५

(ब) वर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशा-
मुखे चन्द्रमसि का० ५२७

(स) इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् का० २४६

१४— अवलम्बमानतूलिकालाबुकाश्च हर्ष० २१७

इन दोनो अवतरणो से बाण का चित्रोचित अनेकविध लेखनियो का पूर्ण ज्ञान प्रकट है। वर्तिका, कालाजनवर्तिका तथा कूर्चक, श्यामवर्ण के लिए वर्णकूर्चक, धवल वर्ण के लिए तथा तूलिका रेखोन्मीलन के लिए काम मे लायी जाती थी। बाण के समय वर्णकरण्डक काम मे लाया जाता था।

आलेख्यकर्मोचित उपकरण— १५ (अ) उत्थापिताभिनवभित्तिपात्यमानवहलवालुका-
कण्ठकालेपाकुलालेपकलोकम् हर्ष० १४२

(ब) उत्कूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणी-
समारूढैर्धवैर्धवलीक्रियमाणप्रासाद—
प्रतोलीप्राकारशिखरम् हर्ष

१६— वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातरेखा का० ४६६

१७—(अ) रूपालेख्योन्मीलनकाला जनवर्तिका का० ४५५

(ब) प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव चन्द्रापीड-
शरीरमवलोक्ये का० ५४८

१८— आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रति-
बिम्बम् का० १७२

१९— उभयतश्च—पुरन्धिवर्गेण समधिष्ठितम् का० १४३

२०— बहुविधवर्णकादिग्धाङ्गुलीभिर्ग्रीवा-
सूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिनीमिर्व्या-
प्तम् हर्ष० १४३

इन अवतरणो से चित्रशास्त्र-प्रतिपादित चित्र-भूमिबन्धन की कैसी सुन्दर प्रक्रिया प्रस्फुटित हो रही है। चित्रकार के लिए संकल्पलेख चित्र की प्रथम प्रक्रिया है जिसको कालिदास 'भावगम्य' के नाम से पुकारते है। महाकवि बाण उसे सकल्पलेख के नाम से पुकारते है। पुनः सूत्रपात-लेख का अवसर आता है। सूत्रपात-लेख के आवश्यक ब्रह्म-सूत्र, पक्षसूत्र तथा बहिस्सूत्र आदि का पारिभाषिक ज्ञान भी हमारे महाकवि को पूर्ण-रूप से था। चित्र का उन्मीलन, चित्रकारों का सनातन कौशल बाण के इन अवतरणो मे भी विभाव्य है। चित्र के नाना भूमिबन्धनों-फलको आदि तथा चित्रोचित नाना वर्णों के विन्यास कौशल की कैसी सुन्दर व्याख्या महाकवि ने की है—(२०)।

वर्ण-विन्यास—२१–(अ) हरितालशैलावदातदेहः हर्ष० १४३

(ब) (क) हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्स्ना का० ६६

(ख) हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते वही

(स) अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डरैः वही

(य) कर्णिकारगौरेण वीध्रकवुकच्छन्नवपुषा वही

(र) वकुलसुरभिनिःश्वसितया चम्पकावदातया हर्ष० ३३

(ल) दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव हर्ष० ७०

(व) (क) पीयूषफेनपटलपाण्डुरम् हर्ष० १०

(ख) शङ्खक्षीरफेनपटलपाण्डरेण हर्ष० २१

(श) विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डरं रजःसङ्घातम् हर्ष० २०

२२–(अ) तस्य चाघरदीर्घतया विकसितबन्धूकबन-राजयः	हर्ष० २६
(ब) कुङ्कुमपि जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य	हर्ष० ३१
(स) कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम्	वही ३२
(य) रुधिरकुतूहलिकेसरिकिशोरकलिहमान-कठोरघातकीस्तवके	हर्ष० ४७
(र) लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि	वही
(ल) मांजिष्ठरागलोहिते किरणजाले	का० ५३
(व) बालातपपिंजरा इव रजन्यः	का० १०५
(श) पारावतपादपाटलरागः	का० ९४
२३–(अ) (क) शुकहरितैः कदलीवनैः	का० ४२
(ख) हारीहरिता	हर्ष० २२
(ब) मरकतहरितानां कदलीवनानाम्	का० ३७९
(स) तरुणतरतमालश्यामले	हर्ष० २८
२४–(अ) कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा–धूमपटलेनेव	का० ७२
(ब) रासभरोमधूसरासु	का० ५२
(स) वनदेवताप्रासादाना तरूणां तपोवनाग्नि-होत्रधूमलेखासु	का० ५२
(य) कपोतकण्ठकर्बुरे तिमिरे	हर्ष० १४५
(र) शफरोदरधूसरे रजसि	हर्ष० २१
२५–(अ) गोरोचनाकपिलद्युतिः	का० १२६
(ब) हरितालकपिलवक्ववेणुविटपरचितवृतिभिः	का० ३६३
(स) सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमेदुरे	हर्ष० १५
(य) धूसरीचक्रुः क्रमेलककचकपिलाः पांसु-वृष्टयः	हर्ष० १६२
(र) गोधूमधामाभिः स्थलीपुष्ठैरधिष्ठिता	हर्ष० ९४
२६–(अ) जरन्महिषमषीमलीमसि तमसि	हर्ष० ८१
(ब) गोलांगूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धु-वारवर्णे वाजिनि	हर्ष० २३
(स) चाषपक्षत्विषि तमस्युदिते	हर्ष० १६

२७–(अ) आचमनशुचिशचीमुच्यमानार्चनकुसुम-
निकरशारम् हर्ष० १६

(ब) आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनुः
सहस्राणि हर्ष० ७१

(स) पाकविशरारुराजमाषनिकरकिर्मीरितैश्च हर्ष० ९४

(य) शबलशार्दूलचर्मपटपीडितेन हर्ष० २३२

(र) तिर्यङ्नीलधवलाशुकशाराम् हर्ष० ७६

२८–(अ) (क) स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन
नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्त-
र्निपतता धूमपटलेनेव परीतमूर्तिः का० ७२

(ख) सरस्वत्यपि शप्ता किंचिदधोमुखी
धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पात-
यन्ती हर्ष० १३

(ब) आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाका-
निर्मितमप्यन्तर्गतशुकप्रभाश्यामायमान
मरकतमयमिव पंजरमुद्वहता चाण्डाल-
दारकेणानुगम्यमानम् का० २१

(स) आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः
कषायमधुर. प्रकाममापीतो जम्बूफलरस का० ३६

शरीर-रचना—२९– चक्षु कुरङ्कैर्घोणावशवराहैः स्कन्धपीठ
महिषैः प्रकोष्ठबन्ध व्याघ्रैः पराक्रम केसरि-
भिर्नमनं—माधवगुप्तम् हर्ष० १४०

३०– सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी
केयूरी मेखली मुद्‌गरी खड्‌गी च भूत्वावाप
विद्याधरत्वम् हर्ष० ११५

३१– देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर का० ३३५

३२– वलनान्योन्यघटिततोत्तानकरवेणिकाभिः का० ७५

बाण के इन अवतरणों में वर्णों का विशद ज्ञान चित्रशास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रंथ से प्राप्त नही हो सकता और सम्भवत किसी कुशल चित्रकार को भी इतना विशद ज्ञान न हो। मूल रंगो में धवल के ही ११ भेद हैं—हरिताल, हंस, कमल, सिन्दुबार, कर्णिकार, चम्पक, गजदन्तमय, फेनमय, क्षीरमय, शंखधवल, केतकी-गर्भपत्रपाण्डर। इसी प्रकार रक्त वर्ण

के बन्धूक, कुकुम, धातकी, सिन्दूर, मन्दार, पिजर आदि से विभाव्य है। हरित के शुक-हरित, कदलीहरित, हारीहरित, तमालहरित कितने ही भेद प्रकल्पित हैं। इसी प्रकार भूरे रंग को देखिए—धूमपटल, रासभ, रोमधूसर, अग्निहोत्र-धूमरेखा आदि आदि। श्याम वर्ण बूढ़े भैसे, काली स्याही, लंगूर का गाल, नीलसिन्दुबार, चाषपक्ष आदि आदि। इसी प्रकार शर, शबल आदि के नाना प्रकार (दे० २७)। जहाँ तक मिश्र वर्णो की बात है वह २८वें अवतरण में द्रष्टव्य है। २६–३२ मे महाकवि बाणभट्ट का शरीर-रचना-ज्ञान कितना विशद एवं परिष्कृत है—यह देखते ही बनता है।

श्रीहर्ष—महाकवि श्रीहर्ष के उद्भट पाण्डित्य एव उनकी अप्रतिम कवित्वशक्ति तथा प्रौढ काव्यविलास से सभी परिचित हैं परन्तु उनके चित्रशास्त्रीय ज्ञान से लोग कम परिचित है। श्रीहर्ष मध्यकालीन कवि थे। मध्यकाल मे आकर प्रायः सभी शिल्प अपने प्रौढ विकास को प्राप्त कर चुके थे। श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित के परिशीलन से यह पूर्णरूप से बोद्धव्य है। मध्यकाल मे पत्र-भगि-रचना तो प्रसिद्ध ही थी परन्तु श्रीहर्ष के काव्य के परिशीलन से अक्षरालेख्य (लेटरपेंटिंग तथा फ्लोरपेंटिग) भी पूर्णरूप से प्रचलित था यह भी समर्थित होता है (दे० नीचे के अवतरण प्र० तथा द्वि०)। यहाँ पर दमयन्ती के रूप-वर्णन में उसकी भौंहो, तिलक तथा वीणाकोंण की उपमा मे 'ऊ' (दो दल, बिन्दु तथा अर्धचन्द्र) समुत्थापित किया गया है। बालिका दमयन्ती के कुचों की उपमा विसर्गों से दी गयी है, विसर्ग की परिभाषा परम्परा मे निम्न रूप से प्रस्तुत की गयी है—

'शृङ्गवद्वालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत्। नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य स विसर्ग इति स्मृत.॥'

१–(अ) भ्रुवो दलाभ्यां प्रणवस्य यस्यास्तानि भालतमालपत्रम्।
तदर्धचन्द्रेण विधिर्विपंचीनिक्वाणनाकोणधनुः प्रणिन्ये॥ १०.८५

(ब) द्विकुण्डली वृत्तसमाप्तलिप्या करांगुलीकांचनलेखनीनाम्।
कैश्य मषीणां स्मितभा कठिन्याः काये तदीये निरमायि सारैः॥ १०.८६

२–ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवसं निशा च तत्स्वप्नसभोगकलाविलासैः॥ १०.३५

३–पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववा छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः॥ १०.३१

४–प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयित्री लिखाधिलीलागृहभित्तिकावपि
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते॥ १.३८

५–(अ) चित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दनसुतारिरंसुतामन्दसाहसहसन्मनोभुवः॥ १८.२०

(ब) पुष्पकाण्डजयडिण्डिमायितं यत्र गौतमकलत्रकामिनः ।
पारदारिकविलाससाहसं देवभर्तुरुदटंकि भित्तिषु ।। १८.२१
(स) नीतमेव करलम्भ्यपारतामप्रतीर्य भुनयस्तपोर्णवम् ।
अप्सरःकुचघटावलम्बनात्स्थायिना क्वचन यत्र चित्रिताः ।। १८.२६

६–(अ) गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्तेयमप्यर्धतनूसमस्याम् ।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ।। ७.८३
(ब) अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिता जनेन या ।
अपाति सूत्र तदिव द्वितीयया वयःश्रिया वर्धयितुं विलोचने ।। १५.३४

७–(अ) पुराकृतिः स्त्रैणमिमं विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः ।
येयं भवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयज प्रदातुम् ।। ७.१५
(ब) अस्यैव सर्गस्य भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः ।
इत्याह धाता हरिणेक्षणाया किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ।। ७ ७२

(स) हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम् ।
राम राममधरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ।। २१.६६

८–(अ) विरहपाण्डिम, राग, तमोमषीशितिम, तन्निजपीतिम वर्णकैः ।
दश दिशः खलुतत्तदुदकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ।। ४.१५

(ब) पीतावदातारुणनीलभासां देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुंकुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ।। १० ६७

९–न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादाराध मदनंप्रियासखः ।
नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हेमभूमिभृति सौधभूधरे ।। ८.३

१०–स्थितिशालिसमस्तवर्णतां न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुदारवा न वा ।। २ ६८

११–कुत्रचित् कनकनिर्मिताखिलः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।
कुत्रचिद्रचितचित्रशालिकः क्वापि चास्थिरविधैन्द्रजालिकः ।। १८.११

१२–स्तनद्वये तन्वि परतथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रावलीना बलना समाप्तिम् ।। ३.११८

१३–दलोदरे काचन केतकस्य क्षणान्मसीभावुकवर्णलेखम् ।
तसईव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमीनखलेखिनीभिः ।। ६.६३

१४–क्रमोद्गता पीवरताधिजङ्घे वृक्षाविरूढं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ।। ७.६७

१५–चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाध्यायनेकविधरूपरूपकम् ।
वीक्ष्य य बहु ध्रुव शरो जरावातकी विधिरकल्पि शिल्पिराट् ॥ १८.१२

महाकवि श्रीहर्ष के 'नैषधीय-चरित' से उद्धृत इन अवतरणों में न केवल चित्र-शास्त्र के परम्परागत सिद्धान्तों, जैसे—सूत्रायत-लेखा (आउट लाइन), वर्णविन्यास एवं रचना-विच्छित्तियो—पर ही विशेष सामग्री हस्तगत होती है वरन् मध्यकालीन भारतीय आलेख्य में विभाजित अथच भवन-रचना से प्रभावित कतिपय नये उन्मेष भी दिखाई पडते हैं। ओंकार, विसर्ग आदि के आलेख्य की नूतन उद्भावना चित्रकला की एक विशेष देन है जो प्रथम अवतरण से स्पष्ट है। दूसरे अवतरण में चित्र के प्रकारो का—विशेष कर भैत्तिक चित्रो का सकेत है। दमयन्ती के महल मे विष्णुधर्मोत्तर की दिशा में प्रसिद्ध आलेख्य केवल एक प्रयोजनवश कारुवर अर्थात् चित्रधर के द्वारा प्रेमी और प्रेमिका के चित्रणो पर सकेत है—यह तीसरे तथा चौथे अवतरण से स्पष्ट है। आलेख्य में प्रथम आउटलाइन की रचना है, वह रफ और फ़ेयर दोनो प्रकार से की जानी चाहिए—इस मर्म का उद्घाटन ६ठे, ७वे अवतरणो में हुआ है। ८वें और ९वे उद्धरणो से चित्र के मूल रगो पर ही प्रकाश नही पड़ता वरन् मोज़ेकफ्लोर की सुन्दर उद्भावना दर्शनीय है। चित्र-रचना मे वर्तना का रहस्य १०वाँ श्लोक उद्घाटित करता है। शरीरावयवों की सुन्दर अभिव्यक्ति पर चित्र-कौशल के निदर्शन नैषधीय-चरित के ७वे सर्ग (दे० २१, ३३, ३६, ३७, ५१, ६२, ६६, ६७, ७०, ७६, ८८, १०२, १०५ तथा १०६ श्लोक) मे भरे पड़े हैं जिनमे मुख एवं मुखाग—ओष्ठ, नासिका, चिबुक, कर्ण, अक्षि, ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ आदि नाना शरीरावयवो के विवरण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार नैषधीय-चरित के १८वे सर्ग को देखिए और महाराज नल के राजप्रासाद का वर्णन पढ़िए। मोज़ेइकफ्लोर तो है ही, चित्रशालाओ की भी कमी नही। साथ-ही-साथ मकर-पत्रभंग, अक्षरालेख्य आदि के भी सुन्दर सकेत मिलते है। ऊपर के ११वे, १३वे, १४वे अवतरण का यही मर्म है। जिस प्रकार महाकवि कालिदास ने शरीर-मुद्राओ की आलेख्योचित कई नयी उद्भावनाएँ की, उसी प्रकार श्रीहर्ष का वृक्षाधिरूढ तथा लतावेष्टितक (दे० कामसूत्र के आलिंगन प्रभेद) १४वे मे द्रष्टव्य है। अन्त मे १५वें अवतरण से शिल्पिराट् अर्थात् चित्रकार के महनीय गौरव एवं लोकोत्तर कौशल पर प्रवचन उद्धृत हुआ है।

अन्य कवि—अन्य कवियो में भवभूति, श्रीहर्षदेव, दण्डी, माघ, राजशेखर, धनपाल, सोमेश्वर सूरि आदि कविपुंगवो की भी एतद्विषयक सामग्री कम महत्त्वपूर्ण नही है परन्तु स्थानाभाव से इन सब कवियों की चित्र-देन पर हम यहाँ विस्तार नही कर सकते। पाठक हमारे अंग्रेजी ग्रन्थों में इस विषय का अध्ययन करे।

भारतीय चित्रकला के इतिहास की इस द्विविधा समीक्षा से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि भारतीय जीवन में चित्रकला का एक अनिवार्य साहचर्य सर्वदा रहा। अथच किसी भी देश अथवा जाति का कलात्मक जीवन उस देश एवं उस जाति की सभ्यता एवं संस्कृति का परिचायक है। भारतीय जीवन यद्यपि अध्यात्म से ही अधिक अनुप्राणित रहा परन्तु भारतीयों ने अध्यात्म की ज्योति से कलाओं को भी सदैव अनुप्राणित रखा—यह हम पीछे देख चुके है। कवियो की कृतियो में चित्रोन्मेष की इस मीमासा से यह भी प्रकट है कि प्राचीनकाल एव मध्यकाल के कवि सर्वशास्त्र-विशारद तथा सर्वकलापटु एव सर्वज्ञान-निष्णात होते थे तभी वे सच्चे संस्कृति के उन्नायक तथा प्रतिनिधि कहे जाते थे। काव्य के मूल कारण में शक्ति के साथ-साथ लोक एवं शास्त्र का नैपुण्य इसी मर्म का उद्घाटक है। अस्तु, भारतीय चित्रकला के इस अति सूक्ष्म द्विविध परिचय अर्थात् पुरातत्वीय एव साहित्यिक प्रामाण्य के आधार पर जिस चित्रकला का यह इतिहास हमने प्रस्तुत किया उसमे एक तीसरी धारा भी देखने को मिलती है और वह है ग्रन्थ-चित्रण। पीछे के अध्यायो मे हमने इस पर कुछ सकेत अवश्य किया है परन्तु इसका स्रोत एक प्रकार से विशिष्ट है। अतएव इस पर थोडा सा सकेत आवश्यक है। हीरानन्द शास्त्रीजी के 'इडियन पिक्टोरियल आर्ट ऐज डेवेलप्ड इन बुक इलस्ट्रेशस' के परिशीलन से पाठक चित्रकला के विकास की इस तीसरी धारा में अवगाहन कर सकते है।

सप्तम पटल

(यन्त्रशास्त्र)

यन्त्रविद्या वास्तव में धनुर्विद्या की सहचरी थी। अतएव कौटिल्य ने भी यन्त्र-वर्णन सैन्य-प्रयोजनानुरूप किया है क्योंकि नाना प्रकार के आयुधों मे कुछ आयुध बिना यन्त्र के नही चलाये जा सकते। शस्त्रो की चतुर्विधा को हम जानते ही है—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा यन्त्र-मुक्त। चाप, शतघ्नी, उष्ट्रग्रीवा आदि आयुध यन्त्रमुक्त की कोटि मे आते है। इसके अतिरिक्त नलीक तथा बृहन्नलीक आदि बाणों का चलाना भी बिना यन्त्र दु:साध्य था। ये बाण आजकल की बन्दूको के समान थे। प्राचीन भारत की धनुर्विद्या बडी विस्तृत थी। आयुर्वेद, स्थापत्यवेद तथा ज्योतिर्वेद के समान धनुर्वेद भी उपवेदो मे प्रकल्पित है। अत. धनुर्विद्या और उसकी अनुचरी यन्त्रविद्या अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत मे धनुर्विद्या का बड़ा विपुल वर्णन है। आग्नेयास्त्र, इन्द्रास्त्र, वरुणास्त्र आदि नाना अस्त्रो के नाम भरे पड़े हैं। इसके अतिरिक्त भुशुडी, शतघ्नी, सहस्रघ्नी (आजकल के मशीनगन, स्टेनगन तथा टैंक) आदि अस्त्रो के साथ-साथ चन्द्रमणि आदि यन्त्र (जिनके द्वारा मरुभूमि पर जलवृष्टि की जा सकती थी) भी प्रसिद्ध है। ये सब यन्त्र सग्रामार्थ यन्त्र है। यान तथा उदक यन्त्रो की बड़ी लम्बी सूची है। इन वर्गों के यन्त्रो पर हम आगे वर्णन करेंगे परन्तु भारतवर्ष की संस्कृति एव सभ्यता मे बहुत से ऐसे भी यन्त्र निर्दिष्ट है जिनमे जीवन के नाना कार्यकलाप सिद्ध होते थे, जैसे तैलयन्त्र, इक्षुयन्त्र, चन्द्रकयन्त्र, इन्द्रध्वजयन्त्र, अश्मयन्त्र, उपलयन्त्र, मायावेतालयन्त्र, जलयन्त्र आदि। अत यह नही कहा जा सकता कि भारतवर्ष मे विज्ञान तथा परिभाषा (साइस एड टेकोनालोजी) नही पनपी और यह केवल अध्यात्मप्रधान देश रहा। दुर्भाग्य का विलास है कि हमारा प्राचीनतम साहित्य पूर्णरूप मे प्राप्त नही होता। इतिहास मे ऐसे अनेक अवसर आये जब नर-पिशाचो ने इस अनुपम ज्ञाननिधि का बारम्बार नाश किया। बहुत सम्भव है कि इस ज्वाला मे यह वैज्ञानिक साहित्य ध्वंसावशेष हो गया, अस्तु।

समरागणसूत्रधार ११वी शताब्दी की कृति है। इसका रचयिता राजा था। अतएव यद्यपि इस ग्रन्थ मे जिन यन्त्रो का निर्देश है उनमें बहुतो को हम राजप्रासादोचित क्रीडोपकरण एवं मनोरजन के साधन मान सकते है। अथच कुछ ऐसे भी यन्त्र मिलेंगे जिनकी उपयोगिता भी सिद्ध होती है। यद्यपि इस ग्रन्थ मे जिन यन्त्रों का निर्देश है उनकी रचना-प्रक्रिया वैज्ञानिक ढग से नही बतायी गयी है। यन्त्र-रचना पारम्पर्य-कौशल माना गया है और यह कौशल गुरु-शिष्य परम्परा का अभ्यास है जो सबके लिए न बोधगम्य है और न बताये जाने लायक। अतएव उसे गुप्त रखना ही उचित है। निम्न श्लोक में यह तथ्य निर्दिष्ट हुआ है—

पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धीः।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिंश्चित्राण्येवं वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम्॥

१

विषय-प्रवेश

इस ग्रन्थ के उपोद्घात में भारतीय स्थापत्य के व्यापक विषय की ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। तदनुरूप यन्त्र भी स्थापत्य का एक अंग है। वैसे न तो अष्टाग स्थापत्य मे यन्त्र-रचना का निर्देश है और न समरांगणसूत्रधार वास्तुशास्त्र से इतर शिल्पशास्त्रों अथवा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थो मे ही यन्त्ररचना पर कोई अध्याय है; परन्तु जैसा अभी सकेत किया गया कि समरागणसूत्रधार मे वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र एव चित्रशास्त्र के साथ-साथ यन्त्रशास्त्र पर भी एक बड़ा अध्याय लिखा गया है। समरागण की वास्तव मे यह बड़ी भारी देन है। प्राप्त सस्कृत साहित्य में दो ही ग्रन्थ हैं जिनमे यन्त्रशास्त्र पर कुछ सामग्री प्राप्त होती है—कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा समरागण-सूत्रधार। अथच यन्त्र शब्द का प्रयोग तथा यन्त्र परम्परा पर संकेत तो अनेक ग्रन्थों में हुआ है। इन सन्दर्भों का परिशीलन हमारे अंग्रेजी ग्रन्थ मे कीजिए। यहाँ पर स्थानाभाव से नाना यन्त्रों के निर्देशो का तथा संन्दर्भ-ग्रन्थो का पूर्ण सकलन नही किया जा सकता। अथच कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे भी जो यन्त्र-सामग्री पढने को मिलती है उसका सम्बन्ध विशेषकर सैन्य-यन्त्रों से है। अतः यन्त्रशास्त्र अथवा यन्त्रविद्या पर यदि किसी ग्रन्थ में प्रवचन है तो वह समरागणसूत्रधार है। अत. समरागण की ही एतद्विषयक सामग्री का इस पटल मे प्रयोग किया जायगा।

सस्कृत भाषा में तन्त्र और यन्त्र दोनों साथ-साथ चलते हैं। तन्त्र विज्ञान है अतएव दर्शन भी, परन्तु यन्त्र कला है। दोनों की ही प्राचीन परम्परा है। यद्यपि बहुत से तन्त्र आज भी प्राप्त हैं परन्तु यन्त्र विलुप्तप्राय हैं। यन्त्र-रचना एक प्रकार से तन्त्रानुरूप गुह्य कला थी जो साधारण जनो में विशेष प्रचलित नहीं थी। यन्त्र एक कला है इसका परिपोष भारत की परम्परागत ६४ कलाओं की सूची से होता है। यशोधर ने अपनी वात्स्यायन के कामसूत्र की टीका मे जिन ६४ कलाओ का संकीर्तन किया है उनमें 'यन्त्रमात्रिका' नाम की एक कला का उल्लेख किया है और उसकी व्याख्या में—"सजीवानां निर्जीवानां यन्त्राणां यानोदकसंग्रामार्थं घटनाशास्त्र विश्वकर्मप्रोक्तम्"—लिखा है। इस व्याख्या में तीन प्रकार के यन्त्रों का संकेत है—यान-यन्त्र (विमान तथा रथ आदि), उदक-यन्त्र (धारा-यन्त्र अथवा वारि-यन्त्र आदि) तथा संग्रामार्थ-यन्त्र (युद्ध-यन्त्र)। आगे हम देखेंगे कि यन्त्रों का यह विभाजन समरागणसूत्रधार को भी स्वीकार्य है।

यन्त्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात् ।
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

अस्तु, आगे हम अब समरागण मे प्रतिपादित यन्त्र-रचना-शास्त्र के वक्ष्यमाण सिद्धान्तो की समीक्षा करेगे—यन्त्रलक्षण तथा यन्त्रबीज, यन्त्रगुण यन्त्रप्रकार एव प्रभेद तथा विमानयन्त्र।

यन्त्रलक्षण एवं यन्त्रबीज—यन्त्रलक्षण यन्त्रबीजों पर आश्रित है। यन्त्र के प्रमुख चार बीज हैं। ये चारों बीज चार महाभूत हैं—क्षिति, जल, अग्नि तथा वायु। यत: आकाश भी इन चारो महाभूतो के अतिरिक्त एक महाभूत है परन्तु वह आश्रयभूत होने के कारण उसकी गणना बीजभूतो मे नही की जा सकती अत यन्त्रलक्षण इस ग्रन्थ के अनुसार यह है कि इन स्वतन्त्र अर्थात् यदृच्छया प्रवृत्त भूतो का जिसके द्वारा नियमन हो उसे यन्त्र कहेंगे। यन्त्र की यह परिभाषा यन्त्रप्रधान है परन्तु यन्त्रकर्ता तक्षक के प्राधान्य से दूसरा लक्षण भी हो सकता है अर्थात् स्वरस-प्रवृत्त महाभृतो को जब यन्त्रकार अपनी मनीषा से जिस उपकरण के द्वारा यमन करता है तो उसकी सज्ञा यन्त्र हो जाती है। निम्न श्लोको मे यन्त्र के निर्वचन को देखिए —

यदृच्छया प्रवृत्तानि भूतानि स्वेन वर्त्मना ।
नियम्यास्मिन् नयति यत् तद् यन्त्रमिति कीर्तितम् ॥
स्वरसेन प्रवृत्तानि भूतानि स्वमनीषया ।
कृतं यस्माद् यमयति तद्वा यन्त्रमिति स्मृतम् ॥
तस्य बीजं चतुर्धास्यात् क्षितिरापोऽनलोऽनिलः ।
आश्रयत्वेन चैतेषां वियदप्युपयुज्यते ॥

आश्रयभूत एव आश्रितभूतो को मिलाकर यन्त्र के पाँच मूल बीज माने गये हैं। परन्तु भू, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये बीज एक-दूसरे के अन्योन्याश्रित भी हैं। इनमे पृथ्वी तत्त्व सर्वप्रधान है। जहाँ आकाश मौलिक आधार है वहाँ पृथ्वी रचना-आधार है। अतः यन्त्र में पृथ्वीतत्त्व सर्वातिशायी है। यहाँ पर यन्त्रबीजो के सम्बन्ध मे एक प्रश्न यह है कि सूत (मर्करी—पारा) जो विमान आदि यन्त्रो का एक अनिवार्य घटक है वह भी मूल बीजो में उपश्लोक्य है कि नही ? ऐसा प्रतीत होता है कि समरागण से पूर्व के कतिपय आचार्यों की धारणा थी कि यन्त्रबीजो मे पारा को भी मूल बीज मानना चाहिए परन्तु समरागण को यह स्वीकार नही। पारा प्रकृति से पार्थिव है और तभी उसमे क्रिया होती है। अतः उसको पार्थिव बीज मे ही परिगणित करना चाहिए।

मूल बीजों के अतिरिक्त सहायक बीजो की संख्या अनिर्धारणीय है क्योकि बीजो के पारस्परिक सम्मिश्रण से नाना बीजो की निष्पत्ति होती है परन्तु वह यन्त्र सर्वोत्तम है

जिसमे एक ही बीज का प्राधान्य हो। अथच यन्त्र-बीजो के सम्बन्ध मे दूसरा सिद्धान्त यह है कि जिन मौलिक बीजो की अभी तक हमने विभाजना की वे वास्तव में यन्त्र की किस कारणता मे आते है ? वे निमित्त और उपादान दोनों के रूप में परिकल्प्य है न ? अतएव यन्त्र-बीज के आधार पर निम्नलिखित चार यन्त्र कोटियाँ हैं —

१. **स्वयंवाहक**—अर्थात् ऑटोमैटिक ।

२. **सकृत्प्रेर्य**—अर्थात् वह यन्त्र जिसमें एक ही बार प्रोपेलिंग की जाती है। ऐसा यन्त्र तो आजकल का राकेट है जिसको एक बार प्रोपेल करके जो भेजा गया तो सौरमण्डल की पूरी परिक्रमा कर ही लौटेगा।

३. **अन्तरिक्षवाह्य**—अर्थात् ऐसा यन्त्र जिसमे क्रिया का सिद्धान्त और चालक मशीन दोनों ही जन-दृष्टि से छिपे रहते हैं। ऐसे यन्त्र को आधुनिक भाषा में पैराशूट कहा जा सकता है।

४. **दूरवाह्य**—ऐसे यन्त्र का चालक उपकरण यन्त्र से दूर रखा जाता है।

प्राचीनो की परिपाटी में अलक्षिता और विस्मयकारिता यन्त्र की प्रधान विशिष्टताएँ है। हमने पीछे गौण बीजो का सकेत किया था क्योकि कोई भी यन्त्र बिना अपने बीजो एवं उपबीजो के अतिरिक्त दूसरे बीजो की सहायता से सिद्ध नही होते। अत. पार्थिव बीज में ही पार्थिवेतर आप्य, आनल एव आनिल बीजो की विभाजना की गयी है। यही क्रम जल, अग्नि और वायु के बीजों में भी है। 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के न्याय से जिस बीज का प्राधान्य होता है उसी की गणना होती है। उदाहरण के लिए निम्न तालिका देखिए —

पार्थिव—पार्थिव यन्त्र में (अ) पार्थिव बीज—धातु जैसे अयस् (लौह), ताम्र, तार, त्रपु आदि; काष्ठ, चर्म तथा वस्त्र आदि अन्य द्रव्य के साथ-साथ चक्र तथा भ्रमरक एव लम्बन, लम्बकार आदि उसके अंग एवं प्रक्रिया-सिद्धान्त एवं संमित (नापना), प्रमर्दन आदि कार्य; (ब) अग्नि बीज—ताप एव उत्तेजन आदि; (स) जल बीज—धारा, जलभार, जलभ्रमण आदि; (य) आकाशीय बीज—उच्छ्राय, आधिक्य, नीरन्ध्रता, ऊर्ध्वगामिता आदि; तथा (र) वायु बीज—दृति, बीजन तथा गजकर्ण आदि। इसी प्रकार से अन्य मूल बीजो के उपबीजो की गाथा है, जैसे जलयन्त्र में काष्ठ, कृति, लौह आदि पार्थिव बीज; दूसरे जल और अपना जल जल बीज; पातन आदि अग्नि बीज तथा सग्रहीत दत्तपूरित एवं प्रतिनोदित आदि वायु बीज बनते है। विस्तार अभीप्सित नही। वह हमारे अग्रेजी ग्रन्थ मे पठनीय है। यहाँ पर एक मौलिक यन्त्र-तत्त्व यह है कि यन्त्र के बीजो एव उपबीजो का वैज्ञानिक वर्गीकरण असाध्य है क्योकि वास्तव मे यन्त्र के आकार या रूप तो पृथ्वीतत्त्व से आता है और पीछे हमने देखा कि पृथ्वी बीज ही मूर्धन्य मूल बीज

है। अथच पृथ्वी के मूल बीज में क्रिया (आपरेशन) असंभाव्य है। क्रिया तो अन्य तीनो के द्वारा उत्पन्न की जाती है। (दे० ऊपर की तालिका) इस दृष्टि से पृथ्वी बीज और अन्य बीजों (आकाश को छोडकर) में एक प्रकारसे जन्यजनक सम्बन्ध है। निम्न प्रवचन इस तथ्य का समर्थन करता है—

निष्क्रिया भूः क्रिया त्वंशे शेषेषु सहजा त्रिषु।
अतः प्रायेण सा जन्या क्षितावेव प्रयत्नतः॥
साध्यस्य रूपवशतः सन्निवेशो यतो भवेत्।
यन्त्रनामाकृतिस्तेन निर्णेतुं नैव शक्यते॥

यन्त्र के गुण तथा कर्म—

१—यथावद्बीजसयोग	१२—यथाभीष्टार्थकारित्व
२—सौश्लिष्ट—अर्थात् रचना की परस्पर युक्तता	१३—लयतालानुगामिता—अर्थात् मनोरजन यत्रो मे
३—श्लक्षणता—अर्थात् आकृति की मनोरमता	१४—इष्टकालार्थदर्शित्व—अर्थात् आवश्यकता पर काम आनेवाला
४—अलक्षता	
५—निर्वहणता—अर्थात् क्रियालाघव	१५—पुन सम्यक्त्वसवृत्रि—अर्थात् काम करके अपनी शान्त अवस्था धारण कर ले
६—लघुत्व (लाइटनेस)	
७—शब्दहीनता	१६—अनुल्वणत्व—अर्थात् मनोरमता
८—शब्दसाध्य मे तदाधिक्य	१७—ताद्रूप्य—अर्थात् पक्षियत्रो मे
९—अशैथिल्य	१८—दाढ्य
१०—अगाढ़ता	१९—मसृणता—अर्थात् कोमलता एव
११—वहनी-सौश्लिष्ट्य तथा अस्खलद्गतित्व	२०—चिरकालसहत्व

यन्त्र-कर्म—यन्त्र के कर्म, क्रिया, काल, शब्द, उच्छ्राय, रूप, स्पर्श के अनुसार निम्नलिखित रूप मे विभाव्य है—

(अ) **क्रिया**—कार्यवश क्रियाएँ अनन्त है तथापि तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे, सामने, दायी और, बायी ओर जो गमन, सरण तथा पात होते है वे क्रियोद्भव यन्त्र-कर्म कहे जाते हैं। इस प्रकार गमन, सरण तथा पात यन्त्र के मुख्य कार्य हैं।

(ब) **काल**—के अनुसार घड़ी आदि यन्त्रों में इसकी विभावना होती है।

(स) **शब्द**—के अनुकूल यन्त्र के द्वारा चार प्रकार के शब्द उत्पाद्य हैं—विचित्र, सुखद, रतिकृति तथा भीषण। शब्द-कर्मों में समरांगण ने गीत, नृत्य, वाद्य, पटह, वंश, वीणा, कांस्यताल, तृमिला, करटा आदि गायन, वादन एवं नर्तन (वादित्र) मे उचित

समस्त यन्त्रों की उत्पत्ति बताता है। नृत्य में नाटक, लास्य, चोष्य, ताण्डव, देशी तथा राजमार्ग आदि भेद परिकल्प्य हैं। इससे तो ऐसा यन्त्र आजकल के रेडियो यन्त्र से भी ऊपर उठ जाता है।

(य) **उच्छ्राय**—के अनुरूप हम आगे वारियन्त्रों अथवा धारायन्त्रों में विशेष वर्णन करेंगे।

(र) **रूप एवं स्पर्श**—के अनुरूप रूप के प्रकारों में उन यन्त्रों का आकलन होगा जिनसे भचर आकाश में जाते है और आकाशचर भूमि पर पधारते हैं (अर्थात् विमान-यन्त्र)। देवो और असुरों के संग्राम, समुद्र मंथन, नृसिंह के द्वारा हिरण्यकशिपु का वध, हस्तयुद्ध, गजबन्ध, बनावटी सेना, दोलागृह, रतिगृह, धारागृह, स्वयवाहक सेवक, सत्यामायाविविधाकारा सभाएँ आदि नाना वर्ग प्रकल्पित किये जा सकते है।

यन्त्र-प्रभेद

ऊपर हमने यानयन्त्र, उदकयन्त्र तथा संग्रामयन्त्र—यन्त्रों की इस त्रिविधा पर संकेत किया है। समरांगण के यन्त्राध्याय (३१वाँ) के परिशीलन से इस त्रिविधा को पंचविधा मे परिकल्पित करना आवश्यक है—मनोरंजनयन्त्र तथा परिवारयन्त्र। यद्यपि ग्रन्थ में यन्त्र-प्रभेदों का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नही प्रस्तुत किया गया है परन्तु अपने अध्ययन से मैंने अपना यह विभाजन उपकल्पित किया है। इन मनोरंजनयन्त्रों की सख्या सर्वाधिक है।

१. मनोरंजनयन्त्र—इस वर्ग मे भूमिका-शैय्या-प्रसर्पण, क्षीराब्धिशयन, पुत्रिकानाडी-प्रबोधन, सूर्यादिग्रहगतिप्रदर्शनपरक गोलभ्रमण यन्त्र, नर्तकीपुत्रिकायन्त्र, दारव पुरुष का एकनाडिका मे एक योजनगमन, यन्त्रहस्ती का भूरिजलपान, यन्त्रशुकों का तालगति से गान एवं नर्तन आदि, कृत्रिम गज, अश्व आदि का यथेच्छ निर्गमन, धावन, युद्धकरण आदि यन्त्र, स्वनोद्गारियन्त्र, पटहमुरजादिस्वनोद्गारियन्त्र आदि विशेष उल्लेख्य है। इन यन्त्रों को देखकर हमारा यह आकूत पाठकों की समझ मे आ सकता है कि यह सब मनोरंजनयन्त्र थे। उस काल में दरबारी जीवन इस प्रकार के मनोरंजन के लिए सर्वथा उपयुक्त भी था।

२. पारिवारिक एवं रक्षायन्त्र—इन यन्त्रों में उन यन्त्रों का समावेश है जिनको हम दास आदि परिजन वर्गों के बिना उनके सभी कृत्यों के निर्वहण के लिए स्त्री-पुरुष-प्रतिमा-यन्त्रों की घटना के द्वारा कर सकते हैं और द्वारपाल अथवा दुर्गरक्षक या प्रासाद-रक्षक सिपाही के बिना भी यन्त्र विशेष के द्वारा कार्यसम्पादन किया जाता था। इस दृष्टि से समरांगण मे काष्ठमय स्त्री-पुरुषों के प्रतिमायन्त्र, द्वारपालयन्त्र तथा योधियन्त्र-

इन तीन उपयोगी यन्त्रो के साथ सिंह-गर्जन-यन्त्र का भी निर्देश है जिसके द्वारा दुष्ट गजो को भगाया जाना अभीप्सित था।

३. **संग्रामार्थ यन्त्रों**—मे केवल चापादि शतघ्नी आदि उष्ट्रग्रीवा आदि सैन्य यन्त्रो का किले की रखवाली के लिए एकमात्र संकेत करके छोड दिया गया है।

४. **यान-यन्त्र**—इन यन्त्रो मे अम्बरचारि विमानो तथा व्योमचारि विहगम यन्त्रो पर हम आगे के एक स्वतन्त्र स्तम्भ मे वर्णन करेगे।

५ **वारि-यन्त्र**—के चार भेद हैं।

(अ) पात-यन्त्र—इस यन्त्र के द्वारा बगीचो की सिंचाई हुआ करती थी। इसमें यथानाम जल का नीचे की ओर ऊपरी जलाशय से ले जाना होता था।

(ब) उच्छ्रायसपात-यन्त्र—इस यन्त्र के द्वारा ऊपर स्थित जल से ऊँचाई के बराबर पानी ऊँचे लाया जाता था।

(स) पातसमोच्छ्राय-यन्त्र—इस यन्त्र के द्वारा स्तम्भ-नलो से पानी छोडा जाता था।

(य) उच्छ्राय-यन्त्र—यह आजकल की पाइप लाइने हैं अथवा बोरिंग मशीने हैं। बारि-यन्त्र के इन चार प्रभेदो के अतिरिक्त दो और यन्त्र इसी वर्ग के इस ग्रन्थ मे वर्णित हैं, जैसे—दाम्मयगजयन्त्र तथा काष्ठप्रणाली। इनके अतिरिक्त बारियन्त्रो मे नाना प्रकार के धारायन्त्रो की भी गतार्थता है, यद्यपि ये एक प्रकार से विशिष्ट बारियन्त्र हैं।

धारागृहयन्त्र—धारागृह के पाँच प्रभेद हैं—धारागृह, प्रवर्षण, प्रणाल, जलमग्न तथा नन्द्यावर्त।

धारागृह—यह एक प्रकार का राजोद्यानस्थित शावर बाथ है। मध्यकालीन पूर्वी एव पश्चिमी दोनो देशो मे इस प्रकार के धारागृह बहुत प्रचलित थे और राजप्रासाद के एक अनिवार्य उपकरण थे। इनकी रचना मे यह ध्यान रखना होता था कि किसी विशाल एवं गम्भीर जलाशय के निकट उनका निवेश होता था। दूसरे इनका चतुर्दिक वातावरण बडा मनोरम होता था तथा यन्त्र की ऊँचाई से दुगुनी या तिगुनी नाडिकाएँ (पाइप लाइन्स) बनायी जाती थी। ग्रन्थ के परिशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि ये धारागृह एक अति विशाल निवेश थे, जिनमे भूमिकाएँ आवश्यक थी तथा रत्नोज्ज्वल हिरण्यघटित अथवा रजतघटित प्रशस्त पादपो के काष्ठ से निर्मित नाना चित्र-विचित्र (१६ से लगाकर १०० तक की सख्या मे) स्तम्भो का निवेश भी इनकी मनोरमता और भी दुगुनी कर देता था। अथच अन्यान्य भूषोपकरण चित्र-विचित्र प्राग्रीव, विविध जाल, वेदिकाएँ, कपोतपालियाँ, सालभंजिकाएँ, यन्त्रशुक, वानरमिथुन, विद्याधर, सिद्ध, भुजग, किन्नर, चारण, नाचते हुए मयूर, कल्पतरु, चित्र-विचित्र लतावल्लियाँ, गुल्म एव कोकिलाएँ आदि रचनाओ से सभी से जलनिर्गम सतत दृष्टिगोचर हो रहा है। इससे

बढ़कर मनोरम धारागृह और क्या हो सकते हैं। मध्यकालीन कवियों ने अपने काव्यों के विषय में जलक्रीडा सर्वत्र वर्णन की है। समरांगण में भी यह परम्परा पुष्ट होती है। ये धारागृह प्राकृत जनों के लिए नहीं बनते थे, केवल राजा लोग ही इनका उपभोग करते थे। यह धारागृह एक प्रकार का सामान्य निवेश था और इसके अन्य प्रभेद विशेष निवेश थे।

प्रवर्षण—प्रवर्षण यथानाम ऊपर से पानी की वर्षा करता है। तीन, चार अथवा सात पुरुषाकार जलनाडीयुक्त प्रतिमाओं की विरचना से नाना प्रकार से पानी गिराया जाता था। समरांगण में इसे 'जलदकुलाष्टकयुक्त', 'अनुकरणमेकंजलमुचाम्' कहा गया है (जिसे सोमदेव सूर्य ने मेघमन्दिर के नाम से सकीर्तित किया है)। कालिदास ने भी इस धारागृह की सूचना अपने मेघदूत में दी है—'नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यन्त्रधारा-गृहत्वम्' मेघ० १.६१।

प्रणाल—एक द्विभौमिक रचना है जिसकी पुष्पकविमान के सदृश अलंकृतिप्रधान रचना की जाती थी। यह रचना कभी एक ही केन्द्रस्तम्भ पर अथवा चार, आठ, सोलह स्तम्भों पर निविष्ट होती थी। इस रचना में स्त्री-प्रतिमाएँ पानी निकालती थी और बीच मे एक विशाल कमलदल पर राजासन बनाया जाता था, जहाँ पर बैठ वह जलक्रीडा विहार करता था।

जलमग्न—यथानाम जलाशय के अभ्यन्तर प्रदेश में इसकी रचना की जाती थी।

नन्द्यावर्त—भी एक पुष्पाकार पुष्पभूषाओं से स्वस्तिक रचना में जलमध्य निविष्ट किया जाता था। इसमें जलक्रीडावसर लुकने-छिपने की सुविधा पूर्णरूप से रहती थी।

दोलायन्त्र—यह एक प्रकार का आधुनिक रहट है, परन्तु ग्रन्थ के परिशीलन से इसकी रचना और निवेश बड़े भूषित एवं प्रवृद्ध प्रतीत होते है। यह भी एक प्रकार का राजोचित मनोरंजन था। मध्यकालीन कवियों की कविताओं में वर्षा-विलास अथवा वसन्त-विलास में झूला झूलने की अत्यन्त प्रिय परम्परा पर सर्वत्र संकेत है। तदनुसार इस ग्रन्थ में भी पाँच प्रकार के दोलागृहों का वर्णन है।

(१) **वसन्तदोलागृह**—यद्यपि यह एक प्रकार का आजकल के रहट का ही नमूना है परन्तु इसके वर्णन से धारागृह के सदृश नाना रचनाओं एवं भूषाओं का भी विधान है परन्तु माडेल वही जैसा कि रहट में लोग अपनी-अपनी सवारियों पर बैठकर मशीन के द्वारा घूमते हैं।

(२) **मदनोत्सव**—यह एक प्रकार का विशिष्ट दोला है जिसमें केवल चार ही आदमी बैठ सकते है।

(३) **वसन्ततिलक**—यह एक प्रकार की द्विभौमिक रचना है। दूसरी भूमिका में

मूषाओं का चित्रण आवश्यक है। यन्त्र-निवेश प्रथम भूमिका में किया जाता है जिसके द्वारा यह यन्त्र घूमता है।

(४) **विभ्रमक**—में बैठने का स्थान विस्तृत होता है जिसमें एक के ऊपर एक आसन परिकल्पित है अतएव इसका नाम विभ्रमक संगत होता है।

(५) **त्रिपुर**—यथानाम यह रहट हवा में तीन महल अथवा तीन नगर बसाता है। इसकी रचना में यह आवश्यक है कि नीची भूमि से ऊपर की भूमि लघु हो।

४. विमानयन्त्र

पीछे हमने यन्त्र के वर्गीकरण मे यानयन्त्रो में विमानयन्त्र का भी उल्लेख किया था, तदनुसार विमानयन्त्र के इस स्तम्भ मे इस यन्त्राध्याय की सामग्री पर कुछ विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। विमान-रचना भी यहाँ के स्थापत्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग था यह निर्विवाद है। प्राचीन ग्रन्थो में समरागण को छोडकर अन्यत्र विमानयन्त्र की रचना तो दूर है, सकेत भी नहीं है। हाल मे महर्षि भरद्वाज के नाम से एक यन्त्र-शास्त्र की उपलब्धि हुई है—वह वास्तविक है अथवा मनगढन्त—इसपर विद्वानो मे विवाद चल रहे हैं। दक्षिण में वेंकटेश्वर विद्यापीठ मे इसका अनुसधान हो रहा है। इसके ४०वें अध्याय मे वैमानिक-शास्त्र का वर्णन है। इसमे नारायण की विमान-चन्द्रिका, शौनक का व्योयानतन्त्र, गर्ग की यन्त्रकला, वाचस्पति का यन्त्रबिन्दु, चक्रायणी-खेतयानप्रदीपिका तथा धुन्धिनाथ का व्योमयानार्कप्रकाश आदि ग्रन्थो का भी सकेत है तथा विमानयन्त्र के वाहक विमानोचित उपकरण विमानपथ एवं विमानावरोहण-स्थल, विमानमध्यभय आदि पर पूर्ण सामग्री है। विमानपथो के—रेखापथ, मण्डल-पथ, कक्षापथ, शक्तिपथ, तथा केन्द्रपथ तथा विमानभयो में शक्त्यावर्त, वातावर्त, किरणावर्त, शत्यावर्त, घर्षणावर्त आदि का भी बड़ा ही वैज्ञानिक एव पारिभाषिक वर्णन है। अथच इस शास्त्र में आधुनिक अद्भुत रेडियो, वायरलेस, टेलीविजन, टेलीपैथी के सदृश यन्त्रों का भी वर्णन है, जिससे विद्वानो ने इसे आधुनिक कृति के रूप में प्रकल्पित किया है। अतः जब तक इस कृति का निर्णय नही होता, तब तक इसकी विस्तृत मीमांसा इस जनोचित ग्रन्थ मे अभीप्सित नही। यहाँ पर हमे समरागण की सूची-सामग्री का परिशीलन करना है।

समरांगण में विमानयन्त्रों के दो प्रकार वर्णित हैं—व्योमचारि-विहगमयन्त्र तथा विमान-यन्त्र। निम्न अवतरण को पढिए—

लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चा (ति? ग्नि) पूर्णम्॥

तत्रारूढः पुरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालप्रोज्झितेनानिलेन ।
सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं तच्चलत्यलघु दारुविमानम् ।
आदधीत विधिना चतुरोन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
अयः कपालाहितमन्दवह्नि प्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन ।
व्योम्नो झगित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥

इन अवतरणो के पढने से एक यन्त्र की रचना महाविहगाकार प्रतिपादित है, दूसरे की सुरमन्दिरतुल्य तथा दोनो मे पारा और अग्नि को छोड़कर अन्य किसी प्रक्रिया का उद्घाटन नही प्राप्त होता। पारा और अग्नि किसी भी विमान के अनिवार्य अंग है, परन्तु उदर मे रसयन्त्र (अर्थात् पारा) और उसके नीचे अग्निपूर्णकुम्भ के अतिरिक्त और कुछ नही मिलता। अत यहाँ पर इस ग्रन्थ के उस प्रवचन का पुनः स्मरण होता है कि यन्त्रो की घटना गोप्य रखना ही पारम्पर्य था। नही तो यदि घटना की प्रक्रिया व्यक्त हो जावे तो ये यन्त्र फलप्रद नही होते। वास्तव मे यह कथन आजकल की दृष्टि मे एक प्रकार का उपहासास्पद कथन है।

उपसंहार

इस ग्रन्थरत्न मे इस यन्त्राध्याय की प्राप्ति से प्राचीन भारत की शिल्पकला का व्यापक विस्तार सामने खडा हो जाता है, परन्तु दुर्भाग्य का विषय यह है कि हमारे देश की सभ्यता मे यन्त्रकला जनजीवन को नही छू सकी। विमानादि यान केवल राजोचित अथवा देवोचित यान थे। धारागृह ऐसे मनोरम यन्त्रो का भी प्रयोग प्राकृत जनो के लिए वर्जित था। अत. यन्त्रविद्या एक प्रकार से गोप्यविद्या अथवा गुह्यविद्या ही रही। यन्त्रविद्या का यह अविकास भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के ही अनुरूप समझना चाहिए, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस विद्या का प्राचीन भारतीयो को ज्ञान नही था। महाभूतो का उन्हे पूर्ण ज्ञान तो था ही, आकाश के नाना मण्डलों का भी उन्हे पूर्ण ज्ञान था, नक्षत्र-लोक से वे अपरिचित नही थे, भूगोल तो उनकी उँगली पर नाचता था, अतः यदि यन्त्रो अर्थात मशीनों और उससे सम्बन्धित पारिभाषिकता (टेक्नोलोजी) का विकास यहाँ नही हो पाया तो उसके अन्तर्तम में मन्त्रों एवं अध्यात्मयन्त्रो का विकास बडे पैमाने पर हो सका। यन्त्रो की उपमा हमारे वाङमय में फैली हुई है। यह विश्व सबसे बड़ा यन्त्र है और इस विश्व का निर्माता सबसे बडा यन्त्रकार—यही भारत की सबसे बड़ी यन्त्रविद्या थी जिसका सकेत महाराज भोज (दे० समरांगणसूत्रधार ३१.१) सोमदेवसूर्य तथा भगवान् कृष्ण की गीता मे भी क्रमशः देखिए

भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्त-
मेतज्जगत्त्रितययन्त्रमलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिलान्यपि संप्रकल्प्य
यः सन्ततं भ्रमयति स्मरजित् स वोऽव्यात् ॥

\+ \+ \+

जडानां स्पन्दने हेतुं तेषां चेतनमेककम् ।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम् ॥

\+ \+ \+

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(परिशिष्ट)

१—स्थापत्य-शास्त्रीय ग्रन्थराशि

टि०—वैसे तो स्थापत्य-शास्त्र के प्राचीन निर्देश प्राचीन वाङ्मय के सभी कोटियों के ग्रन्थों, जैसे सूत्र-ग्रन्थ (विशेषकर शूल्बसूत्र), इतिहास-ग्रन्थ (रामायण तथा महाभारत) जैन तथा बौद्ध ग्रन्थ सर्वत्र पाये जाते हैं—यह हम देख ही चुके है। परन्तु स्थापत्य-शास्त्र का पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक विवेचन करनेवाले ग्रन्थों को हम छः प्रमुख कोटियो मे विभाजित कर सकते हैं—पुराण, आगम, तन्त्र, प्रतिष्ठा-ग्रन्थ, नीति-ग्रन्थ तथा वास्तु अथवा शिल्प-ग्रन्थ। तदनुरूप हम आकारादि क्रम से इन पाँचो कोटियो के ग्रन्थो की निम्न तालिका प्रस्तुत करते हैं—

(अ) **पुराण** १—अग्निपुराण दे० अ० ४२–४६, ४६, ५०–५५, ६०, ६२ तथा १०४–६
२—गरुडपुराण दे० अ० ४५ से ४८
३—नारदपुराण दे० ख० प्र० अ० १३
४—ब्रह्माण्डपुराण दे० अ० ७
५—भविष्यपुराण दे० अ० १२, १३०, १३१ तथा १३२
६—मत्स्यपुराण दे० अ० २५२, २५५, २५७, २५८, २६२, २६३, २६६ तथा २७०
७—लिंगपुराण ख० द्वि० अ० ४८
८—वायुपुराण ख० प्र० अ० ३६
९—स्कन्दपुराण दे० अ० २४ तथा २५

टि०—स्थापत्य-शास्त्र का इन पुराणो मे प्रधान रूप से प्रविवेचन है। ब्रह्म-वैवर्त-पुराण, बृहद्धर्मपुराण, देवीपुराण, हरिवंश, कालिकापुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर (दे० चित्रसूत्र–चित्रशास्त्र) में भी स्थापत्य-शास्त्र की सुन्दर सामग्री प्राप्त होती है।

ब—आगम १—अंशुमद्भेदागम—दे० पटल २८।
२—कामिकागम—दे० ७५ में ६० प० स्थापत्य पर।
३—कारणागम—खण्ड प्र० दे० प० ३–१४, १६, १६, २०, ४१, ५६ ५६–६२, ६६, ७०, ८८ तथा १३८।
खण्ड द्वि० दे० प० ४–१५, १८, १६, २१ तथा ६८
४—वैखानसागम—दे० प० २८ तथा ४३।
५—सुप्रभेदागम—दे० प० २२, २३, २६–४०।

टि०—पुराणों की तो संख्या १८ ही है, परन्तु आगमों की संख्या २८ है। स्थापत्य-शास्त्रीय अत्यन्त पारिभाषिक से पारिभाषिक विषयो की समुद्घाटना करने वाले इन पाँच प्रमुख आगमो के अतिरिक्त **किरणागम, कालोत्तरआगम तथा शैवागम निबन्धन** आदि आगमीय ग्रन्थो मे भी स्थापत्यविद्या की सुन्दर परिभाषाएँ पठनीय हैं।

(स) तन्त्र १—गन्धर्व-तन्त्र दे० तन्त्रसार

२—हयशीर्षपंचरात्र (अग्निपुराण के सदृश)

३—ज्ञानार्णवतन्त्र

४—कौलावलीतन्त्र दे० त० सा०

५—कुलार्णव-तन्त्र

६—महाकपिल-पंचरात्र दे० शारदातिलक

७—महानिर्वाण-तन्त्र

८—मेरु-तन्त्र

९—प्राणतोषिणी-तन्त्र दे० त० सा०

१०—पुरुश्चर्यार्णव

११—तन्त्रालोक

१२—तन्त्रराजतन्त्र

१३—तन्त्रसमुच्चय

१४—तन्त्रसार

१५—विष्णुसंहिता.

टि०—तन्त्रो का बड़ा विपुल साहित्य है। पंचरात्र तथा सप्तरात्र के २५ तन्त्रों की प्राचीन परम्परा है—दे० भा० वा० शा० पृ० २२। तदनुसार बहुत-से तन्त्र (जैसे आत्रेय, वाशिष्ठ, गार्ग्य, नारदीय आदि) तो परम्परा में प्रख्यात वास्तु-आचार्य के नाम से उपश्लोकित हुए हैं अतः तन्त्र एवं स्थापत्य के पुरातन सम्बन्ध पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। वास्तव मे बात यह है कि अर्चापद्धति के विकास में अर्च्य देवों के आयतन एव मूर्तियों के निर्माण का रहस्योद्घाटन स्वाभाविक हो गया था।

(य) प्रतिष्ठाग्रन्थ

१—आरामादिप्रतिष्ठापद्धति	७—प्रतिष्ठातन्त्र
२—ईशानशिवगुरुदेवपद्धति	८—मठप्रतिष्ठातत्त्व
३—कूपादिजलस्थानलक्षण	९—रघुनन्दन मठप्रतिष्ठा
४—क्षीरार्णव	१०—शारदातिलक
५—देवालय-लक्षण	११—समूर्तार्चनाधिकरण (अत्रिसंहिता)
६—प्रतिष्ठातत्त्व	१२—हेमाद्रिचतुर्वर्ग-चिन्तामणि आदि आदि

(र) **ज्योतिष तथा नीतिग्रन्थ**
१—बृहत्संहिता (वाराही)
२—चाणक्य (कौटिल्य) का अर्थशास्त्र दे० अ० २२-२५ तथा ६५, ६७
३—शुक्र-नीतिसार दे० अ० ४

(ल) **शिल्पशास्त्र अथवा वास्तु-शास्त्र**

१—अगस्त्य-सकलाधिकार	१३—रूपमण्डन
२—अपराजितपृच्छा	१४—समरांगणसूत्रधार
३—भुवनप्रदीप	१५—शिल्परत्न
४—बृहच्छिल्पशास्त्र	१६—शिल्पशास्त्र (नारद)
५—काश्यपशिल्प	१७—वास्तुमुक्तावली
६—मानसार	१८—वास्तुपुरुषविधान (नारद)
७—मानसोल्लास	१९—वास्तुराजवल्लभ
८—मनुष्यालय-चन्द्रिका	२०—वास्तुसग्रह
९—मयमत	२१—वास्तु-शास्त्र (विश्वकर्मा)
१०—पौराणिक वास्तुशान्तिप्रयोग	२२— „ („)
११—प्रयोगमंजरी	२३—वास्तुविद्या
१२—प्रयोगपारिजात	२४—विश्वकर्मविद्याप्रकाश

टि०—ये चौबीस ग्रन्थ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से ग्रन्थ है। उनमे बहुतो का अभी न तो सम्पादन एव प्रकाशन ही हुआ है और न विशेष अध्ययन। जिज्ञासार्थ ऐसे ग्रन्थो की निम्न तालिका निभालनीय है (दे० डा० आचार्य का वास्तु-कोष) —

१—अकशास्त्र	१४—गृह-निर्माण-विधि
२—अपराजित वास्तु-शास्त्र	१५—गृह-पीठिका
३—अशुमत (काश्यपीय)	१६—गृह-वास्तु-प्रदीप
४—अंशुमान-कल्प	१७—गोपुर-विमानादि-लक्षण
५—आगार-विनोद	१८—ग्राम-निर्णय
६—आय-तत्त्व	१९—घटोत्सर्ग-सूचनिका
७—आयादि-लक्षण	२०—चक्र-शास्त्र
८—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि	२१—चित्रकर्म-शिल्पशास्त्र
९—कौतुक-लक्षण	२२—चित्र-लक्षण
१०—क्रिया-संग्रह-पंचिका	२३—चित्र-सूत्र
११—क्षीरार्णव	२४—जयमाधव-मानसोल्लास
१२—गार्ग्य-संहिता	२५—जालार्गल
१३—गृह-निरूपण-संक्षेप	२६—जलार्गल-यन्त्र

२७—ज्ञानरत्न-कोष
२८—तच्छु-शास्त्र
२९—तारा-लक्षण
३०—दश-ताल-न्यग्रोष-परिमण्डल-बुद्ध-प्रतिमा-लक्षण
३१—दशा-प्रकार
३२—दिक्-साधन
३३—दीर्घ-विस्तार-प्रकार
३४—देवता-शिल्प
३५—द्वार-लक्षण-पटल
३६—नारद-संहिता
३७—नावा-शास्त्र
३८—पक्षि-मनुष्यालय-लक्षण
३९—पचरात्र-प्रदीपिका.
४०—पिण्ड-प्रकार
४१—पीठ-लक्षण
४२—प्रतिमा-द्रव्यादिवचन
४३—प्रतिमा-मान-लक्षण
४४—प्रासाद-कल्प
४५—प्रासाद-कीर्तन
४६—प्रासाद-दीपिका
४७—प्रासाद-मण्डन-वास्तु-शास्त्र
४८—प्रासाद-लक्षण
४९—प्रासाद-लक्षण
५०—प्रासादालकार-लक्षण
५१—बिम्ब-मान
५२—बुद्ध-प्रतिमा-लक्षण
५३—मजुश्री-मूलकल्प
५४—मन्त्र-दीपिका
५५—मान-कथन
५६—मानव-वास्तु-लक्षण
५७—मानसोल्लास-वृत्तान्त-प्रकाश
५८—मूर्ति-ध्यान
५९—मूर्ति-लक्षण
६०—मूलस्तम्भ निर्णय
६१—रत्न दीपिका
६२—रत्नमाला
६३—राजगृह-निर्माण
६४—राजवल्लभ-टीका
६५—राशिप्रकार
६६—लक्षणसमुच्चय
६७—लघुशिल्प-ज्योतिष
६८—बलि-पीठ-लक्षण
६९—वास्तु-चक्र
७०—वास्तु-तत्त्व
७१—वास्तु-निर्णय
७२—वास्तु-पुरुष-लक्षण
७३—वास्तु-प्रकाश
७४—वास्तु-प्रदीप
७५—वास्तु-मजरी
७६—वास्तु-मण्डन
७७—वास्तु-योग-तत्त्व
७८—वास्तु-रत्न-प्रदीप
७९—वास्तु-रत्नावली.
८०—वास्तु-राजवल्लभ
८१—वास्तु-लक्षण
८२—वास्तु-विचार
८३—वास्तु-विद्या
८४—वास्तु-विधि
८५—वास्तु-शास्त्र
८६—वास्तु-शिरोमणि
८७—वास्तु-समुच्चय

८८—वास्तु-संख्या
८९—वास्तु-सग्रह (तामिल)
९०—वास्तु-सर्वस्व
९१—वास्तु-सार
९२—वास्तु-सरणी
९३—वास्तु-सार-सर्वस्व-सग्रह
९४—विमान-लक्षण
९५—विश्वकर्मीय-शिल्पं
९६—विश्वकर्म-मत
९७—विश्वकर्म-ज्ञान
९८—विश्वकर्मा-पुराण
९९—विश्वकर्मा-सम्प्रदाय
१००—विश्वविद्याभरण
१०१—वेदान्तसार
१०२—वैखानस
१०३—शास्त्र-जलधि-रत्न
१०४—शिल्पकला-दीपिका
१०५—शिल्प-निघण्टु
१०६—शिल्प-लेख
१०७—शिल्प-शास्त्र
१०८—शिल्प-शास्त्र-सार-सग्रह
१०९—शिल्प-सर्वस्व-सग्रह
११०—शिल्प-सार
१११—शिल्पार्थ-शास्त्र
११२—शिल्प-शास्त्र
११३—षड्विदिक-सन्धान
११४—सर्वविहारीय यन्त्र
११५—सग्रह-शिरोमणि
११६—सारस्वतीय-शिल्प-शास्त्र
११७—स्थल-शुभाशुभ-कथन

२. हमारे प्राचीन स्थपति

टि०—विश्वकर्मा तथा मय हमारे सनातन स्थपति है। विश्वकर्मा के मानस पुत्रों मे जय, विजय, सिद्धार्थ तथा अपराजित की चतुष्टयी मे सम्भवत स्थपति-चतुष्टय कोटि (वर्धकि, तक्षक आदि) की परम्परा छिपी है। अस्तु, यह प्राचीन इतिहास की वार्ता है। अर्वाचीन इतिहास में जिन प्राचीन स्थपतियो के निर्देश शिलालेखो, दानपत्रो, प्रशस्तियो आदि मे मिले है उनके अनुसार निम्न तालिका द्रष्टव्य है (विशेष विवरण आचार्य के वि० को० मे देखिए)

यहाँ पर यह निर्देश्य है कि ये स्थपति क्षुद्र कृतियो—वापी, कूप, तडाग, आयतन (मढियों) के निर्माता प्रतीत होते हैं। बेलूर के मन्दिर को छोडकर अन्य किसी प्रधान मन्दिर के निर्माता स्थपति का इतिहास नही मिलता। कवियो की भाँति कलाकारो के इतिहास से हम अपरिचित हैं—यह बडे दुर्भाग्य की बात है। भारतीय स्थापत्य मे कितनी बड़ी प्रासादराशि है, परन्तु प्रासादकर्ताओ से हम अपरिचित हैं—हाँ, प्रासादकारको के नामो पर हम प्रकाश डाल चुके है। यह वृत्तान्त इतना धूमिल नही, अतएव इन स्थपतियों के हम विशेष विवरण नही दे सके।

१–अच्युत (६वी श०)
२–अनकोज (भाईकलोज) (१४वी)
३–आसल १३वी
४–आहुक ६वी
५–इन्द्रमयूराचार्य
६–इन्द्रार्क (भीमेश्वर)
७–ओडेयप्प १४ वीं श०
८–कल्लय्य १६ वीं श०
९–कमौ
१०–कामदेव (सिलावटजाति)
११–कालीदास १२ वी श०
१२–कालकोज
१३–केंचमल्लिवण्ण (वेलूर)
१४–केतग्नि
१५–केदारोज (होयसलेश नरसिंहदेव के समय)
१६–देकरोज
१७–कुमारम-आचारी (बेलूर)
१८–गगाचारी १० वी श०
१९–गण्टेमदन-बसवन १४वी
२०–गुन्दन (विरूपाक्ष)
२१–चण्डि शिव (हर्ष मन्दिर)
२२–चावन मूर्तिवार १२ वी
२३–चिकहम्प (बेलूर)
२४–चैगम्म मू०
२५–चौग
२६–चौदेव
२७–छिच्छ (प्रथम नाथमन्दिर)
२८–जनकाचार्य (हलेबिदी)
२९–जंगमय १६ वी श०
३०–जाहड (सिलावट १३वीं श०)
३१–ठोढुक
३२–नटक (चित्र-तक्षक)
३३–णण्णक ८ वी श०
३४–तुरवाशारि-कलियुग नेय्यन १४बी श०
३५–थालू १३ वीं श०
३६–दासोज (बेलूर)
३७–दिवाकर (अगरवट) –प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर का स्थपति
३८–देमोज १३वी श०
३९–देवनाग
४०–देवादित्य
४१–देवोज
४२–धर्मवनन (कुतुबमीनार)
४३–नग्जय
४४–ननसल्ह (कुतुबमीनार)
४५–नरशोभ ८वी श०
४६–नन्दिक
४७–नागीदेव
४८–नागोज (वेलूर)
४९–नायक (आसिक्-सुत) ९वी श०
५०–पटुमन
५१–पदरीमल्लोज
५२–पदुमण्ण
५३–पदुमय
५४–पदुभवी
५५–पाक
५६–पाहिणी
५७–पीथे
५८–पैसणनरवीर
५९–बमय
६०–बलुग

६१–बलेय	७६–मुलण
६२–बल्लण्ण	७७–मोघकिम
दे० बेलता० शि०—निम्बजा	७८–यय्य
मन्दिर के तक्षकगण—बल्लण,	७९–यलमसव
बोचन, चौग-देवोज, हरिष,	८०–राघव
हरिष, कालीदास, केदारोज के	८१–रामदेव.
तीन, मावलकि, मणिबालकि, मस	८२–रवदि-ओवज्ज
तथा रेवोज	८३–रेवोज
६३–बिक्खप्पा	८४–सत्यदेव
६४–बीरनव	८५–सादेव
६५–बोचन	८६–सामिण
६६–भूतपाल	८७–सामिल
६७–भोजुक	८८–साम्पुल
६८–मणिबलकी	८९–सिम्गोज
६९–मदन	९०–सिगणहे बालव
७०–मन	९१–सिगायभटट
७१–मन्मुक	९२–सिलिकर्गी
७२–मयीन	९३–सुबुजग
७३–मलया	९४–स्कन्दसाव
७४–मली	९५–हरिदास
७५–मल्लितम्म १२ वी, दे० अमृतपुर का	९६–हरिष
अमृतेश्वर मन्दिर—१५ स्थपतियो	९७–हरोज
के नाम—मल्लितम्म, मलि, पदुमण्ण,	९८–हला (सिलावट)
बलुग, मजय, सुबुजग, पदुमय, मूहर्ण आदि।	

३. सहायक ग्रन्थ

प्राचीन ग्रन्थ—दे० स्थापत्य-शास्त्र के प्रमुख पचीस ग्रन्थ तथा उनमे सर्वाधिक उपादेय धाराधिप भोजराजकृत समरांगण सूत्रधार वास्तु-शास्त्र।

अर्वाचीन ग्रन्थ—

टि०—हैवेल, स्मिथ, कुमारस्वामी, डुबरिल, लांगहर्स्ट, मार्शल, मैके, चान्दा, वत्स आदि वरेण्य पुरातत्त्वीय विद्वानो की कृतियों के आधारभूत साहाय्य के अतिरिक्त निम्न-लिखित विद्वानो के ग्रन्थ विशेष सहायक है—

१–गोपीनाथ —एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी (चारों ग्रन्थ)
२–जितेन्द्रनाथ बनर्जी—डेवलेपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी
३–तारापद भट्टाचार्य—ए स्टडी आफ वास्तु-विद्या आर कैनन्स आफ आर्कीटेक्चर
४–द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल—१–भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२—प्रतिमा-विज्ञान—ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन—प्र० वि० की पृष्ठभूमि, पूजा-परम्परा की दशाध्यायी के साथ।
३—प्रतिमा-लक्षण (वैज्ञानिक ढग से लगभग ६४ ग्रन्थो से संकलन)
४—हिन्दू प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठभूमि, वैदिकी, पौराणिकी, लोकधर्मिणी आदि।
५—हिन्दू कैनन्स आफ पेंटिंग—विद ऐन आउटलाइन हिस्ट्री आफ इण्डियन पेंटिंग बोथ आर्कोलाजिकल एण्ड लिटरेरी (चित्रलक्षणम्—चित्र-शास्त्रीय प्रमुख ६ ग्रन्थो की सामग्री के लगभग दो दर्जन शीर्षको के साथ)
६—वास्तु-शास्त्र वाल्यूम सेकेंड (लेखक की डी० लिट थीसिस) हिन्दू कैनन्स आफ आइकोनोग्राफी एण्ड पेंटिंग (६०० पन्ने) (प्रतिमा-लक्षणम के साथ)
७—वास्तु-शास्त्र वाल्यूम फर्स्ट (,,)
५–पर्सी ब्राउन—१—इंडियन आर्कीटेक्चर
२—इंडियन पेंटिंग
६–पी० बी० काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र (प्राय सभी खण्ड)
७–प्रसन्नकुमार आचार्य—१–मानसार (सम्पादित संस्करण)
२—मानसार (अनुवाद)
३—मानसारीय विश्वकोश—इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू आर्कीटेक्चर
४—हिन्दू आर्कीटेक्चर—इंडियन एण्ड एब्राड
५—मानसारीय चित्रण
८–भाण्डारकर—वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स।
९–मल्लाया—स्टडीज इन संस्कृत टेक्सट्स आन टेम्पुल आर्कीटेक्चर विथ स्पेशल रिफरेंस टु तन्त्रसमुच्चय
१०–मोतीचन्द—मुगल पेंटिंग
११–राघवन—मेकेनिकल कन्ट्राइवेसेज इन एन्सियेंट इंडिया

१२–रामराज—ऐन एसे आन हिन्दू आर्कीटेक्चर—समरी आफ मानसार
१३–राय कृष्णदास—भारतीय मूर्तिकला
१४–विनयतोष भट्टाचार्य—इंडियन बुद्धिष्ट आइकोनोग्राफी
१५–विनोदविहारी दत्त—टाउन प्लैनिंग इन एन्सियेंट इंडिया
१६–वृन्दावन भट्टाचार्य—१—इंडियन इमेजेज़
२—जैन आइकोनोग्राफी
१७–शिवराम मूर्ति—(लेख)
१८–स्टैला क्रैमरिश—१—हिन्दू टेम्पुल (दोनो ग्रन्थ)
२—इंडियन स्कल्पचर
३—ट्रान्सलेशन आफ विष्णुधर्मोत्तरम्
१९–सरस्वती—इंडियन स्कल्पचर

४. वास्तु-पद-विन्यास

एकाशीति पद-वास्तु परमशायिका

वायव्य | उत्तर | ईशान

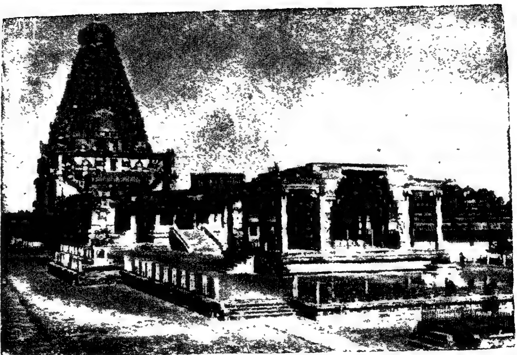
पश्चिम | पूर्व

पापराक्षसी रोग	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	अदिति	दिति	(चरकी) अग्नि
पापयक्ष्मा	रुद्र			पृथ्वीधर			आपवत्स	पर्जन्य
शोष		राज यक्ष्मा		षट्पदिक		आप		जयन्त
असुर								इन्द्र
वरुण	मित्र (षटपदिक)		ब्रह्मा नवपदिक			अर्यमा (षट् पदिक)		रवि
पुष्पदन्त								सत्य
सुग्रीव		जय		विवस्वान्		सवित्र		भृश
दौवारिक	इन्द्र			षट्पदिक			सावित्री	न
पितृगण (पूतना)	मृग	भृग राज	गंधर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	पूषा	अनिल (विदारी)

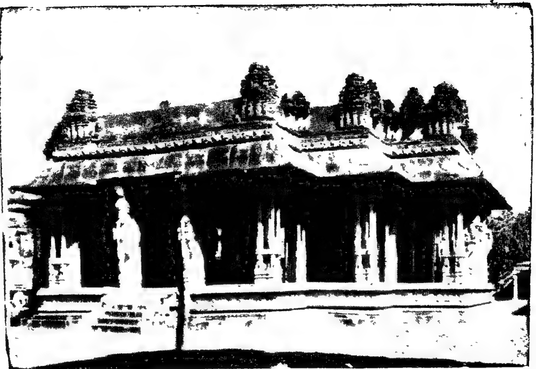
नैऋत्य | दक्षिण | आग्नेय



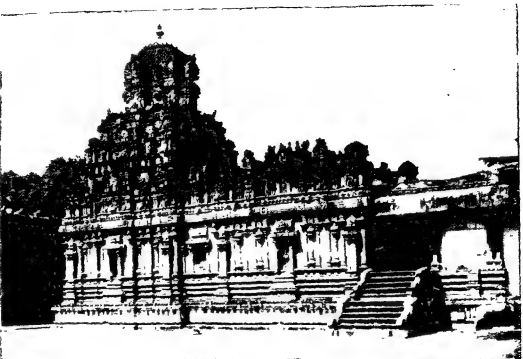
मीनाक्षी सुन्दरम्, मदुराई



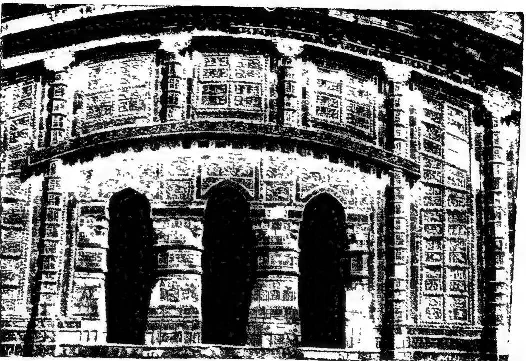
बृहदीश्वर मन्दिर, तंजौर



विट्ठल मन्दिर, हम्पी



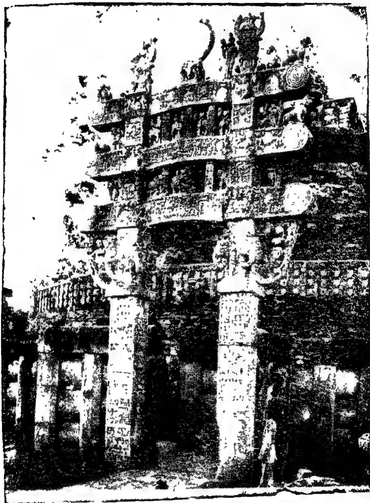
सुब्रह्मण्यम् मन्दिर, तंजौर



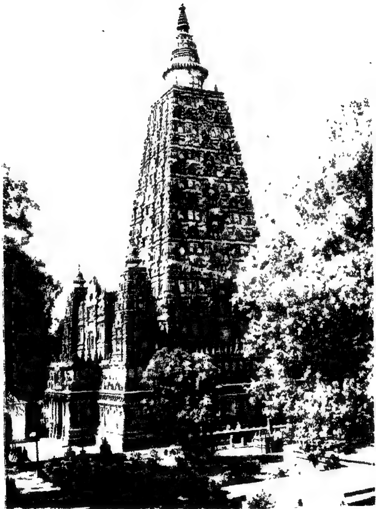
जोर बँगला, विष्णुपुर (बंगाल)



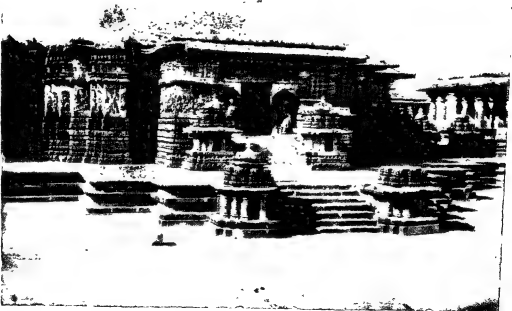
अजन्ता के एक चैत्य का दृश्य



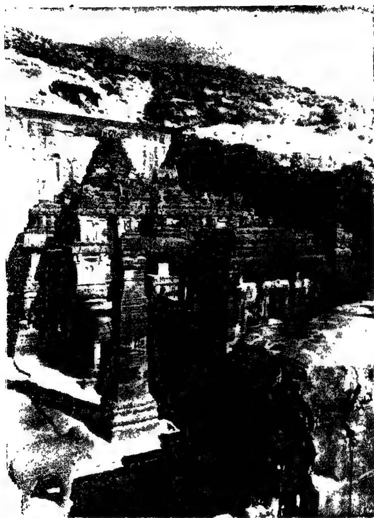
सांची का उत्तरी तोरण द्वार



बुद्ध गया का मन्दिर



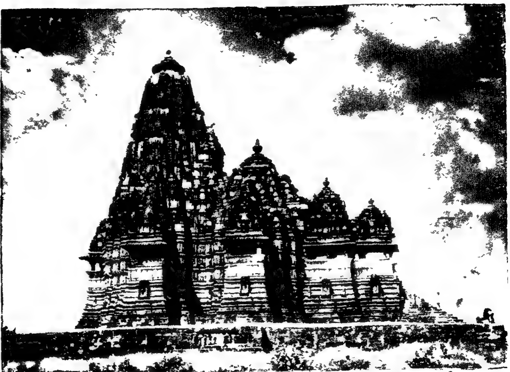
होयसलेश्वर मन्दिर (बादामी, मैसूर)



कैलास मन्दिर, एलोरा



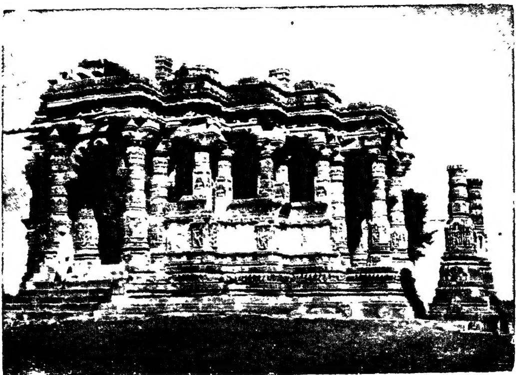
लिंगराज मन्दिर, भुवनेश्वर



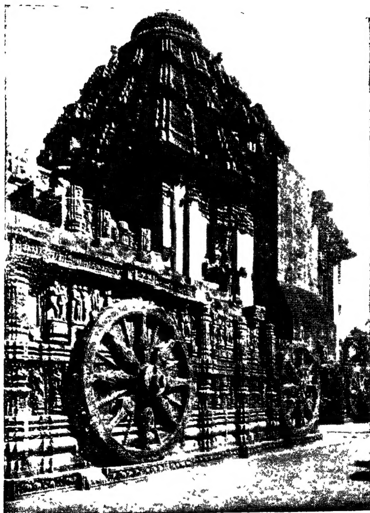
कन्दरिय महादेव मन्दिर, खजुराहो



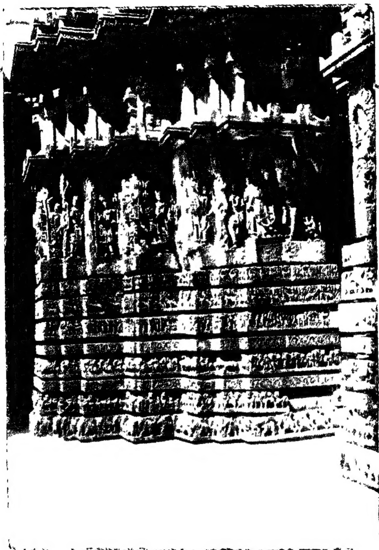
सूर्य मन्दिर, मोढेरा के नृत्य मण्डप के स्तंभ



सूर्य मन्दिर का नृत्य मण्डप, मोढेरा



सूर्य मन्दिर, कोणार्क



होयसलेश्वर मन्दिर के एक पार्श्व का दृश्य